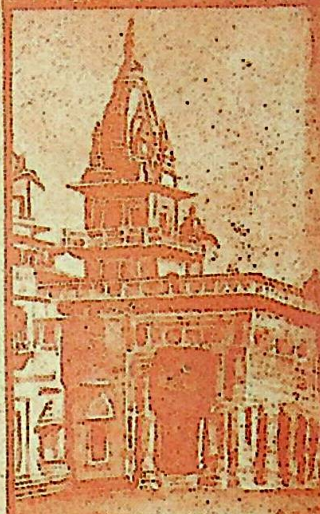












प्रज्ञा

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक २१ (भाग २) २२ (भाग १-२) एवं २३ (भाग १) वर्ष—१९७६-७७

हीरक जयंती विशेषांक

नियम

(१) 'प्रज्ञा', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी : प्रथम अंक दीपावली के तुरन्त बाद और दूसरा अंक होली के पूर्व।

(२) सभी प्रकार का शुल्क सह-संपादक, 'प्रज्ञा' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी–२२१००५ के नाम भेजें।

(३) पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों एवं अध्यापकों के लेख प्रथम अंक के लिए २० जुलाई तक और द्वितीय अंक के लिए २० नवम्बर तक संकाय सम्पादकों के पास तथा सम्पादक-मंडल के पास क्रम से ३० जुलाई और ३० नवम्बर तक पहुंच जाना चाहिए।

(४) लेख फुलस्केप कागज पर एक तरफ टंकित होना चाहिए और सामान्यतः १० पृष्ठों से अधिक नहीं होना चाहिए। लेखकों को उनके लेख की रिप्रिन्ट्स की ५० प्रतियाँ दी जायेंगी।

(1) The 'Prajñā', shall, so far as possible, be published twice a year: one issue immediately after the Dipawali, the other immediately before the Holi.

(2) All subscriptions should be sent to the Assistant Editor, "Prjñā", B. H. U. Journal, Varanasi–221005.

intended for publication in this Journal by should be submitted to the Faculty 20 for the first issue and November sue and should reach the Editorial and Nov. 30 respectively.

rdinarily be type-written on foolscape de only and should not ordinarily an 10 pages. Authors contributing to the Journal are entitled to receive tis.

का मूल्य—पचीस रुपए

———

अंक २१ (भाग २) २२ (भाग १-२) एवं २३ भाग १
वर्ष १९७६-७७

नियम

(१) 'प्रज्ञा', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी : प्रथम अंक दीपावली के तुरन्त बाद और दूसरा अंक होली के पूर्व।

(२) सभी प्रकार का शुल्क सह-संपादक, 'प्रज्ञा' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी–२२१००५ के नाम भेजें।

(३) पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों एवं अध्यापकों के लेख प्रथम अंक के लिए २० जुलाई तक और द्वितीय अंक के लिए २० नवम्बर तक संकाय सम्पादकों के पास तथा सम्पादक-मंडल के पास क्रम से ३० जुलाई और ३० नवम्बर तक पहुंच जाना चाहिए।

(४) लेख फुलस्केप कागज पर एक तरफ टंकित होना चाहिए और सामान्यतः १० पृष्ठों से अधिक नहीं होना चाहिए। लेखकों को उनके लेख की रिप्रिन्ट्स की ५० प्रतियाँ दी जायेंगी।

(1) The 'Prajñā', shall, so far as possible, be published twice a year: one issue immediately after the Dipawali, the other immediately before the Holi.

(2) All subscriptions should be sent to the Assistant Editor, "Prjñā", B. H. U. Journal, Varanasi–221005.

...intended for publication in this Journal by
should be submitted to the Faculty
20 for the first issue and November
sue and should reach the Editorial
and Nov. 30 respectively.

...dinarily be type-written on foolscape
de only and should not ordinarily
an 10 pages. Authors contributing
to the Journal are entitled to receive
tis.

...का मूल्य—पचीस रुपए

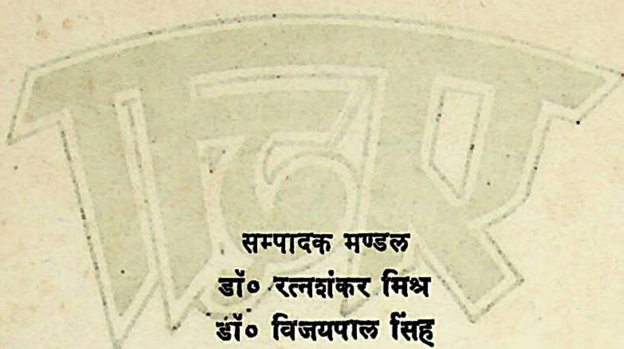
प्रज्ञा

हीरक जयंती विशेषांक



काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक २१ (भाग २) २२ (भाग १-२) एवं २३ भाग १
वर्ष १९७६-७७







विश्वविद्यालय के संस्थापक पूज्य 'महामना'

कुल-गीत

डॉ० एस० एस० भटनागर

मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी।
यह तीन लोकों से न्यारी काशी।
सुज्ञान धर्म और सत्यराशी।।
बसी है गंगा के रम्य तट पर, यह सर्वविद्या की राजधानी।।
मधुर०.........।।

नये नहीं हैं यह ईंट पत्थर।
है विश्वकर्मा का कार्य सुन्दर।।
रचे हैं विद्या के भव्य मन्दिर, यह सर्वसृष्टी की राजधानी।।
मधुर०.........।।

यहाँ की है यह पवित्र शिक्षा।
कि सत्य पहले फिर आत्म-रक्षा।।
बिके हरिश्चन्द्र थे यहीं पर, यह सत्यशिक्षा की राजधानी।।
मधुर०.........।।

वह वेद ईश्वर की सत्यवानी।
बनें जिन्हें पढ़ के ब्रह्मज्ञानी।।
थे व्यास जी ने रचे यहीं पर, यह ब्रह्म-विद्या की राजधानी।
मधुर०.........।।

वह मुक्तिपद को दिलाने वाले।
सुधर्म पथ पर चलाने वाले।।
यहीं फले-फूले बुद्ध शंकर, यह राज-ऋषियों की राजधानी।।
मधुर०.........।।

सुरम्य धाराएं वरुणा अस्सी।
नहाये जिनमें कबीर तुलसी।।
भला हो कविता का क्यों न आकर, यह वाग्विद्या की राजधानी।
मधुर०.........।।

विविध कला अर्थशास्त्र गायन।
गणित खनिज औषधि रसायन।।
प्रतीचि-प्राची का मेल सुन्दर, यह विश्वविद्या की राजधानी।।
मधुर०.........।।

यह मालवीय जी की देशभक्ति।
यह उनका साहस यह उनकी शक्ति।।
प्रगट हुई है नवीन होकर, यह कर्मवीरों की राजधानी।
मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी।।

प्रख्यात वैज्ञानिक स्वर्गीय डा० एस० एस० भटनागर यहाँ रसायन विभाग में प्रोफेसर थे। १९२४ तक आपने विश्वविद्यालय की सेवा की। आपकी स्मृति में प्रतिवर्ष विशिष्ट वैज्ञानिकों को १० हजार रूपये का पुरस्कार दिया जाता है।

महामना की मूर्त साधना का हीरक जयन्ती-पर्व

काशी सनातन काल से भारतीय विद्या की राजधानी रही है। वैदुष्य की निकष-स्थली के रूप में सारे विश्व में इसकी ख्याति रही है। विविध साधना-सरणियों के परिव्राजकों ने काशी के विद्या-उत्कर्ष के सामने नत होकर अपनी साधना उन्नत की है। साधना-मार्ग और विचार-जगत से जुड़े प्रत्येक वर्ग के लोगों को काशी सदा से आकृष्ट करती रही है। 'विश्व-प्रकाशी' काशी की महिमा इतिहास के पुरातन पृष्ठों पर मुखर है। जहाँ से भारत की कथा शुरु होती है वहीं से काशी की महिमा-महत्ता का इतिहास शुरू होता है। वस्तुतः काशी समग्र भारत की सांस्कृतिक चेतना का समुच्चय है। यह नगरी पूरी भारतीय संस्कृति का पूर्ण कुम्भ एवं जीवंत संगम है। यही कारण है कि भारतीय लोक मानस में काशी की अप्रतिम प्रतिष्ठा है। प्राच्यविद्या के क्षेत्र में काशी का सम्मान आज भी मेधा प्रदेश के रूप में है।

प्राच्यविद्या के अप्रतिम संरक्षक एवं महान उन्नायक महामना पं० मदनमोहन मालवीय ने काशी को ही अपनी अनेकमुखी सांस्कृतिक साधना का केन्द्र बनाया। ऐतिहासिक सचाई है कि पूर्व स्वतंत्रता-काल के विद्या-विशिष्ट भारतीय महापुरुषों ने राजनीति को आपद् धर्म के रूप मे स्वीकार किया था। इसलिए राजनीति की उदग्र सक्रियता ने भी उन्हें एक क्षण के लिए विद्या-विमुख नहीं बनाया। मालवीय जी तो लोकमान्य तिलक और श्री अरविन्द की भांति दैवी विद्या की सजीव मूर्ति थे। उनकी मूर्त साधना काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के हीरक जयन्ती पर्व पर उनके देवोपम व्यक्तित्व का अनायास स्मरण हो आना स्वाभाविक है। जिन भाग्य-समृद्ध लोगों को उनका नैकटच मिला था उनको प्रतीति है कि विधाता ने करुणा और मेधा से ही महामना के व्यक्तित्व की रचना की थी। मालवीय जी की साधना ने मानव कल्याण की अनेकशः संभावनाओं को न केवल प्रांजल स्वरूप प्रदान किया अपितु उसे जीवंतता भी प्रदान की, किन्तु शिक्षा और राजनीति ही उनकी मुख्य साधना-यात्रा की सहज सरणियां थीं। दोनों की दूरी के प्रति मालवीय जी पूर्णतः सचेत थे। उक्त सजग धारणा के कारण उन्हें अपने समय के सर्वाधिक लोकप्रिय राजनेता, अनुज-प्रतिम प्रिय महात्मागांधी के विचारों के प्रति असहमति प्रकट करनी पड़ी थी। शिक्षा राजनीति की अनुगामिनी नहीं है, यह महामना की दृढ़ धारणा थी। भारतीय विचार धारा इसी धारणा का समर्थन करती है। इसी परम्परा-पुष्ट आधुनिक चेतना द्वारा अपने स्वकीय वैशिष्ट्य को उद्घाटित और जागृत करने के उद्देश्य से साठ वर्ष पूर्व 'विद्या की राजधानी' काशी में उन्होंने हिन्दूविश्वविद्यालय की स्थापना की थी।

हिन्दूविश्वविद्यालय-सम्बन्धी मालवीय जी के उदात्त आदर्श ने कल्पना-प्रवण विचारकों तक को विस्मित कर दिया था,वह प्रख्यात शिक्षाविदों को भावुक मन की एक सहज महत्वाकांक्षा प्रतीत हुई थी, किन्तु महामना ने अपनी विराट् कल्पना को यथार्थ की धरती पर रूपायित कर दिया। अपने विद्यामंदिर में मालवीयजी ने प्रत्येक क्षेत्र के

विशिष्ट विद्या-देवता का अपनी अचूक मंत्र-शक्ति से आवाहन किया, उन्हें विधिवत प्रतिष्ठित कर अपनी कृति को जागृत, स्फूर्त और समृद्ध बनाया।

पिछले साठ वर्षों की हिन्दूविश्वविद्यालय की सारस्वत उपलब्धि आधुनिक भारतीय विद्या की समृद्धि का उल्लेख्य आधार है। नमनीयता और उदारता भारतीय विद्या की प्रमुख पहिचान है। यह पहिचान महामना के व्यक्तित्व में दीप्त थी। उनके व्यक्तित्व-आलोक से सहज ही अभिभूत होकर विद्या के विभिन्न क्षेत्रों के शीर्षस्थ मनीषियों ने अपनी विद्या-सेवा द्वारा हिन्दूविश्वविद्यालय के अनाविल वातावरण में प्राण-प्रतिष्ठा की। महामना की लोकयात्रा के शेष होने के पूर्व-पश्चात् विश्वविद्यालय से स्नातकों की वे पीढ़ियाँ पैदा हुयीं जिनकी विद्या-ख्याति देश की भौगोलिक सीमा का अतिक्रमण कर गयी।

हिन्दूविश्वविद्यालय की उपलब्धि-महत्ता का एक संकेत 'प्रज्ञा' का प्रस्तुत अंक देता है, जिसमें हमने विश्वविद्यालय से आत्मीय रूप से जुड़े ऐसे लोगों की श्रद्धा-स्मृति संकलित की है जो अपने क्षेत्र में अग्रणी पंक्ति में प्रतिष्ठित हैं। 'प्रज्ञा' के इस विशेषांक द्वारा काशी की महनीय परम्परा के अप्रतिम उन्नायक, हिन्दूविश्वविद्यालय के प्रतिष्ठाता महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी को उनकी मूर्त साधना की साठवीं वर्षगांठ पर अपनी हार्दिक प्रणति निवेदित करते हुए उनके शिक्षा-आदर्शों को स्मरण करने एवं साम्प्रतिक संदर्भ में उन पर पुनर्विचार करने के लिए देश के मूर्द्धन्य शिक्षाशास्त्रियों और मनीषियों को सादर आमंत्रित करते हैं।

विश्वविद्यालय की ओर से मैंने यथासंभव जिन विशिष्ट जनों एवं मनीषियों से इस महोत्सव में योगदान की प्रार्थना की और जिस तत्परता एवं आत्मीयता से उन्होंने अपनी अपार स्नेहयुक्त भावना का परिचय दिया, प्रस्तुत अंक उसी का प्रतिफल है। विश्वविद्यालय प्रेस के असहयोग के चलते यह समय से प्रकाशित नहीं हो सका, जिससे स्नेही सहयोगियों की भावना का समुचित समादर नहीं हो सका। कुछ लोगों ने इसके प्रति अपना असंतोष भी प्रकट किया है जो न केवल उनकी आलोचनात्मक दृष्टि का बल्कि 'प्रज्ञा' के प्रति उनकी गहरी रुचि का भी परिचायक है।

इन समस्त प्रेमियों के सहयोग के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए विलम्बजन्य त्रुटि के लिए क्षमा प्रार्थी हूं।

रामसोहन पाण्डेय

राष्ट्रपति भवन नई दिल्ली ११०००४

दिनांक १७ अप्रैल, १९७७

प्रिय महोदय,

आपका पत्र प्राप्त हुआ, धन्यवाद।

मुझे प्रसन्नता है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की हीरक जयन्ती के पुण्य पर्व के उपलक्ष में एक विशेषांक प्रकाशित कर रहे हैं। विश्वविद्यालय का इतिहास गौरवपूर्ण है। बौद्धिक चेतना के प्रसार तथा भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में इसका योगदान सराहनीय रहा है। आप यह विशेषांक मालवीय जी को समर्पित कर रहे हैं, उनका जीवन, उनका त्याग और उनकी सेवायें सबके लिये सदा प्रेरणा का स्रोत रहेगा।

आपका यह प्रयास सफल हो, इसके लिये मेरी हार्दिक शुभ कामनायें।

आपका

ब० दा० जती

डा० प्रताप चन्द्र चन्द्र

संख्या एफ ८-१।७७-य-१
शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्री
भारत सरकार
नई दिल्ली
७ मई १९७७

सन्देश

मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय अपनी हीरक जयंती के अवसर पर "प्रज्ञा" पत्रिका का एक विशेषांक निकाल रहा है।

इसके लिए मैं अपनी शुभकामनाएं भेजता हूँ।

प्रताप चन्द्र चन्द्र

मुख्य मंत्री

भोपाल
दिनांक ८ अगस्त, ७६

मुझे अपनी मातृ-संस्था काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हीरक जयन्ती समारोह की सूचना से बहुत प्रसन्नता हुई।

महामना पंडित मदनमोहन जी मालवीय ने इस विश्वविद्यालय की स्थापना महान आदर्शों से प्रेरित होकर की थी। स्वाधीनता के पूर्व विश्वविद्यालय के गुरुजनों ने राष्ट्रीय जीवनधारा में जिस ओजस्विता और त्याग का संचार किया था, उसीसे कालान्तर में हमने विदेशी सत्ता को पराजित किया। इन्हीं गुरुजनों के मार्गदर्शन से हमने अपने शाश्वत आदर्शों के प्रति एक नई आधुनिक दृष्टि प्राप्त की थी जो आज हमारी सबसे मूल्यवान धरोहर है।

काशी विश्वविद्यालय का पुराना छात्रसमाज सारे देश में फैला हुआ है और राष्ट्र निर्माण की विभिन्न दिशाओं में अपना योग दे रहा है। मुझे पूरा विश्वास है कि विश्वविद्यालय की वर्तमान पीढ़ी भी अपने संस्थापकों के आदर्शों को कृतज्ञतापूर्वक स्मरण रखेगी और राष्ट्र निर्माण के कार्यों की शृंखला में अपना रचनात्मक सहयोग देगी।

शुभकामनाओं सहित,

श्यामाचरण शुक्ल



GOVERNOR
JAMMU & KASHMIR

काशी विश्वविद्यालय की हीरक जयन्ती न केवल मुझ जैसे पुराने छात्रों के लिये बल्कि सारे देश के लिये एक गौरवपूर्ण समारोह है। इस अवसर पर "प्रज्ञा" के विशेषांक के लिये मैं अपनी शुभकामनाएं भेजता हूं।

लक्ष्मी कान्त झा

राज भवन
श्रीनगर



नं० ३६४ । आर एम । ७७
रक्षा मंत्री, भारत
नई दिल्ली ।

दिनांक २७।२९ अप्रैल, १९७७

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की हीरक जयन्ती के अवसर पर विश्वविद्यालय की शोध पत्रिका 'प्रज्ञा' का एक हीरक जयन्ती विशेषांक प्रकाशित हो रहा है, यह जानकर प्रसन्नता है।

विशेषांक में महामना मालवीय जी के संस्मरण और विश्वविद्यालय के गौरवमय अतीत व वर्तमान को प्रतिविम्बित किया जायेगा—इससे जनता को लाभप्रद सामग्री मिलेगी।

विशेषांक उपयोगी सिद्ध हो :

जगजीवन राम

विषयानुक्रमणिका

स्मृति खण्ड (हिन्दी)

स्मृति खण्ड (अंग्रेजी)

योग खण्ड

उद्‌बोधन खण्ड

ऐतिहासिक विवरण एवं उपलब्धि खण्ड

अन्य महत्वपूर्ण विभाग

विश्वविद्यालय के अंगीभूत विद्यालय

विश्वविद्यालय से सम्बद्ध महाविद्यालय

आवरण सज्जा—श्री सुधीन्द्रनाथ लाहिड़ी

स्मृति खण्ड (हिन्दी)

श्री राम

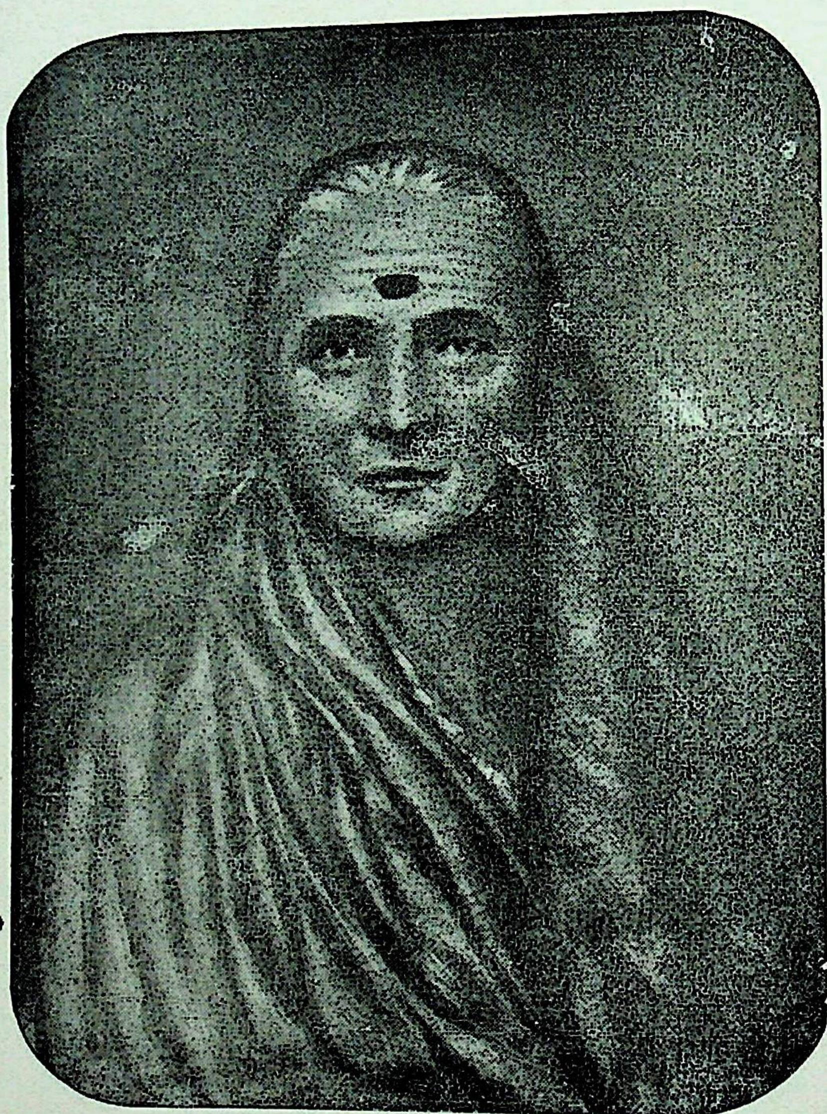
पूज्य मालवीय जी के प्रति

भारत को अभिमान तुम्हारा, तुम भारत के अभिमानी ।
पूज्य पुरोहित थे हम सबके, रहे सदैव समाधानी ।
तुम्हें कुशल याचक कहते हैं किन्तु कौन तुम-सा दानी ।
अक्षय शिक्षा-सत्र तुम्हारा है ब्राह्मण-ब्रह्मज्ञानी ।
स्वयं मदनमोहन की तुममें तन्मयता है समा गई ।
कल्याणी वाणी जन जन के हित में धूनी रमा गई ।

मैथिलीशरण



पं० व्रजनाथ व्यास-पूज्य म० मो० मालवीय जी के पिता



श्रीमती मूनादेवी-पूज्य मालवीय जी की माता

प्रशस्ति-पञ्चाशिका

रतिनाथ-झा :

भाले चन्दनबिन्दुमिन्दुसदृशं कामं समुत्कण्ठितां
कण्ठे शुभ्रतमोत्तरीयकपटेनाश्लिष्य कीर्ति सिताम् ।
अङ्गे कञ्चुकमुज्ज्वलं शिरसि चोष्णीषं किरीटोपमं
ध्यायाम्यद्भुतधाम गौरमुदितं श्रेयस्करं प्राणिनाम् ॥ १ ॥

किं धर्मो धृतविग्रहः, किमुदितो निर्लाञ्छनश्चन्द्रमाः
सामोदो मलयानिलः सुमनसां किं वा गृहीताकृतिः ?
भारत्या यशसां चयः किममलः किं वाग्मितायाः स्मित-
स्पन्दः किं कविरेव नीतिविषये श्रीमालवीयोऽभवत् ? ॥ २ ॥

तातो नो जलधिर्नचापि विषमश्रीः कालकूटोऽग्रजः,
सामोदा न सुरा स्वसा न कमला, नो बान्धवः सिन्धुरः ।
नच्छाया मलिना दिने, न रजनीसुङ्गो, न बन्धुः स्मरो,
भीतिर्नापि विधुन्तुदात्तदपि सुप्रीतो द्विजो राजते ॥ ३ ॥

आस्ये यस्य सरस्वती रसवती, बुद्धौ सदा नर्मदा,
कालिन्दी प्रणयामृतेव हृदये; गङ्गा पवित्राशये, ।
पादान्ते प्रपतन् समुद्रनिवहो, गोदाथ मोदावहा
स्वान्ते, प्रीतिमयी चिराय रमते शिप्रा सिते मानसे ॥ ४ ॥

धर्मे धन्यसनातने निरुपमां भक्ति दधानोऽन्वहं
पुण्यां भारतमातरं परवशक्लेशाद् विमोक्तुं रतः ।
नित्यं नूतनकल्पनाविलसितोऽप्यास्थावतामग्रणीः
किं किं नाचरति स्म भारतभुवः स्वाधीनताप्राप्तये ॥ ५ ॥

गङ्गायां स्नपयन् प्रभोरुपदिशन्मन्त्रं पवित्राशयः
सर्वानन्त्यजजातिसम्भवजनानुन्नेतुमौदार्यतः ।
धर्माचार्यविरुद्धदुस्सहवचोबाणापविद्धोऽप्यलं
कल्याणाद् विरराम नैव दलितव्रातस्य सामाजिकात् ॥ ६ ॥

पाश्चात्त्यैः प्रतिपूजितं बहुविधैः सेवाव्रतैर्दीपितं
क्राइष्टाभिधधर्ममत्र दलिते दीने जडे मानवे ।
व्याख्यातुं ननु दीक्षितुं च विधिवद्धर्मप्रचारोद्यतान्
उद्वीक्ष्यातितरां विषण्णहृदयः कोऽन्योऽभवत्त्वादृशः ? ॥ ७ ॥

श्रीमत्तीर्थपतिस्मितैर्धवलिते पुण्ये त्रिवेणीतटे
माघे माधवपूजया परिसरे प्राशस्त्यमापादिते ।

आयाते प्रचुरे जने सुकृतिभिर्धर्मप्रचारव्रतैः
साकं वैदिकधर्मतत्त्वविशदव्याख्यां त्वमारब्धवान् ॥ ८ ॥

साम्रेडं परिमर्दितोऽपि विपदां पङ्क्तिर्न यो म्लायति
श्लाघामेति स एव वीरपुरुषः पुंभिः समभ्यर्चितः ।
हेम्नः कान्तिरुदेति तीव्रदहनज्वालासु दाहात् परं
चण्डे चण्डकरे तपत्यपि मरौ वन्द्यं प्रसूनस्मितम् ॥ ९ ॥

अर्थं नाधिकरोति योऽत्र विपुलं तस्याखिला कामना
स्वान्तं कृन्तति, सन्तनोति नयने ध्वान्तं दिनेऽप्यद्भुतम् ।
एषाऽलीयत किन्तु लोकसरणिस्त्वय्युद्यते कर्मणे
सङ्कल्पं सफलीविधातुमिव ते लक्ष्मीः स्वयं नृत्यति ॥ १० ॥

वर्णो यस्य सुवर्णदर्पदलने लेभे प्रतिष्ठां परा-
मास्यं दास्यमुरीचकार शरदो राकेश्वरेणार्पितम् ।
भ्रान्त्वा दिक्षु चिरेण वासभवनं यत्प्राप सा वाग्मिता
वन्दे विश्रुतमालवीयकुलजं तं विश्वसम्मोहनम् ॥ ११ ॥

धर्मे यस्य परानुरक्तिरतुला भक्ती रमावल्लभे
शक्तिर्व्याप्ततमो निहन्तुमुदयद्विद्यासमुद्वर्धने ।
आसक्तिर्निजमातृभूम्यसुलभस्वातन्त्र्यलक्ष्म्यागमे
स श्रीमान् प्रसरत्प्रभूतमहिमा रेजे चिरं भारते ॥ १२ ॥

नेतारो निजमातृभूमिचरणे न्यस्तां दृढां शृंखलां
छेत्तुं स्वार्थमपास्य दास्यभवनेर्हर्तुं हृदा दीक्षिताः ।
किन्त्वेषूत्तमनायकेष्वपि भृशं प्रातिस्विकीमर्हतां
बिभ्रत् पूज्यमहामनाः प्रतिदिशं वन्द्योऽभिनन्द्योऽभवत् ॥ १३ ॥

बुद्ध्या देवगुरुं, नयेन दितिजाचार्यं, सुधामाधुरीं-
वाचा, पावनकर्मणा द्विजवरं, धैर्येण शैलेश्वरम् ।
गाम्भीर्येण महोदधिं, निरूपमोत्साहश्रिया मारुतं
भास्वन्तं सततोदयेन, वपुषा कामं जिगायान्वहम् ॥ १४ ॥

ब्रह्मर्षेर्भवतः सतां मतिमतामग्रेसरात् पावनीं
श्रीमद्भागवतीं कथां मधुमतीं पीत्वा तुतोषामितम् ।
भक्तिं चेतसि, वक्षसि प्रगुणितां शक्तिं, विरक्तिं परां
पापात्, सर्वजनेऽनुरक्तिमुदितां गाँधी महात्मान्वभूत् ॥ १५ ॥

कालिन्दीपुलिने वसन्नपि पिबन् गाङ्गं जलं निर्मलं
संलीनेऽपि सरस्वतीरसमये मज्जन्नलं स्रोतसि ।
अङ्के तीर्थपतेर्गृहीतजननः क्रीडन् भृशं कौतुकाद्
वव्रे दिव्यतमप्रकाशजननीं काशीं स्वकर्मस्थलीम् ॥ १६ ॥

जाड्यध्वान्तसमावृतं हृतधनं दीनं विलीनप्रभं
राष्ट्रं भारतवर्षमेतदतुलं भायात् पुनर्भूतले ।
इत्यन्तः परिभावयन्निरुपमं ज्ञानप्रकाशाञ्चितं
सम्यक् स्थापितवानलभ्यमहिमा श्रीविश्वविद्यालयम् ॥ १७ ॥

वासन्ती प्रियपञ्चमी भरतभूभाग्यस्य वाग्देवता-
प्रादुर्भावमहोत्सवाऽपहरते जाड्यं प्रकृत्यञ्चलात् ।
इत्यालोच्य सरस्वतीसमुदयानन्दप्रकर्षोज्ज्वले
संस्थाया निदधे शिलामनुदिनं प्राप्तप्रभूतोदयाम् ॥ १८ ॥

हस्ते नैकपणोऽपियस्य स महारम्भेषु संरम्भवान्
व्याकर्तुं स्वसमीहितं दिशि दिशि प्रातिष्ठतोत्कण्ठया ।
श्रुत्वा तत्परिकल्पनां धनवतां धुर्या वदान्या मुदा
राजानोऽर्पितवैभवाः सफलतामीयुः स्वकोषश्रियः ॥ १९ ॥

देशप्रेममहाध्वरे समुदिताः सर्वेऽपि सन्दीक्षिता
आचार्यं परिकल्प्य यं सफलतां स्वाधीनतां लेभिरे ।
सर्वस्वं हविरत्र मन्त्रविधिना हुत्वाऽखिलान् याज्ञिकान्
सिद्धानारचयाञ्चकार स सितां कीर्तिं व्यतानीद्द्विजः ॥ २० ॥

साम्राज्ये शिशिरस्य यत्र विपिने दैन्यं समुज्जृम्भितं
प्रातर्हन्त ! हिमाश्रुपातविधिना भूमीरुहो रोदिति ।
तत्रैवागमनाद् वसन्तनृपतेर्वल्लीं समानर्तयन्
आमोदं मलयानिलो वितरति प्रीतः पिको गायति ॥ २१ ॥

भृङ्गो गुञ्जति मौनमुज्झतितरां कूजन् कलं कोकिलो
वल्ली नृत्यति जीर्णशाखिनिवहोऽप्युद्भासते पल्लवैः ।
पुष्पाण्यातनुते लतासहचरो भूमीरुहो निर्भरं
सामोदा विपिनस्थली विजयते संप्राप्य सङ्गं मधोः ॥ २२ ॥

राजन्ते जितहीरका द्युतिभृतस्ताराः शरद्यामिनी
श्यामाङ्गावरणाय शुभ्रकुसुमाकारास्तु नीलाम्बरे ।
ज्योत्स्ना किन्तु दिवं भुवं च युगपत् संक्षालयन्ती सुधा
पूर्णेन्दोः प्रथते महोर्मिरिव सा क्षीराम्बुधेर्द्योतते ॥ २३ ॥

त्यक्त्वा सप्तवितस्तिकायमविशद् यो विश्वविद्यालयं
स्वप्राणैः प्रगुणीकरोत्यनुदिनं प्रोत्कर्षयन् वैभवम् ।
आचार्याननधिकारिणो मतिमतो मान्यांश्च विद्यार्थिनः
सेवासद्व्रतशालिनोऽपि स निजाचोरऽभिषिञ्चत्यलम् ॥ २४ ॥

ध्वान्तध्वंसपटुः प्रसुप्तनयनान्निद्रां तु विद्रावयन्
आमोदं जनमानसाम्बुजवने प्रोल्लासयन् निर्भरम् ।

सर्वत्र प्रसरत्सुवर्णकिरणान् विस्तारयन्नोजसा
नव्यः कोऽपि सहस्रदीधितिरयं प्रादुर्बभूवावनौ ॥ २५ ॥

आकर्षतीव पुरुषोत्तमचारुचित्तं
पुण्यात्मनां मनसि कौतुकमातनोति ।
नेत्रेऽञ्जतीव जगतोऽञ्जनमञ्जुरेखां
लोकार्चिता मदनमोहनकीर्तिलक्ष्मीः ॥ २६ ॥

सारं समुन्नयति सान्द्रतमोऽपहन्तृ
सारस्वतं किमपि धाम वसुन्धरायाम् ।
अङ्गश्रियापि सुषमामसमां सृजन्ती
मोहं हृदो हरति यत् प्रसभं जनानाम् ॥ २७ ॥

क्षीराम्बुधेरपि तरङ्गविलासभङ्गीं
ज्योत्स्नां शरद्युपचितामपि शीतरश्मेः ।
कान्ति मरालवपुषोऽप्यमलां जयन्ती
जागर्त्यहो ! मदनमोहनकीर्तिलक्ष्मीः ॥ २८ ॥

अस्मिन् प्रिये परिसरे मदनात्मना त्वं
व्याप्नोसि दर्शकमनो मदयन्नितान्तम् ।
मोहं भृशं सुमनसामापि सन्दधान-
स्त्वं मोहनेन वपुषापि विभासि शश्वत् ॥ २९ ॥

धामाद्भुतं जयति वागधिदेवतायाः
शृङ्गारकल्पमिव शिल्पकलाङ्गलक्ष्म्याः ।
यत्सेवने सुमनसो मनसोऽप्यगम्या-
मासादयन्ति मुदितामुदितां स्वचित्ते ॥ ३० ॥

धन्यं त्वया कुलमिदं निरमायि वाचो-
देव्या विलासभवनं भुवनाभिरामम् ।
यत् सेवितुं ग्रहगणोऽपि नवाभियोगैः
किं किं न कल्पयति कौशलमात्मशक्तेः ? ॥ ३१ ॥

कार्त्तस्वरांशुकमुपाहरते दिनेशः
सर्वाः कलाः कलयतीव कलाधरोऽपि ।
अङ्गारकोऽप्युपनयत्यतुलं प्रताप-
मङ्गारकल्पमिह विस्मयहेतुभूतम् ॥ ३२ ॥

सर्वत्र सञ्चरति किं न बुधो धुरीणो ?
वाचस्पतिर्न किमुदञ्चति मञ्जुलीलः ?
गायत्यजस्रमिह सत्कविरस्य गीतं
मन्दोऽप्यमन्दमुदमर्पयतीव शश्वत् ॥ ३३ ॥

आरामरम्यकमलां तरुवल्लरीणां
श्यामत्विषोपचरतीव विधुन्तुदोऽपि ।
केतुस्तु नृत्यतितरामनिशं पुरस्ताद्
वाग्देवताललितमन्दिरगोपुरस्य ॥ ३४ ॥

कस्तूरिकातिलक एष मनुष्यतायाः
सौभाग्यमङ्गलमणिर्गुणिनां सुकीर्त्तेः ।
कर्मण्यताहृदयवल्लभरत्नहारः
सारः परः सुमनसां जयतीह धन्यः ॥ ३५ ॥

ज्योत्स्नाङ्कुरो विजयते द्विजराजतायाः
स्तन्यत्रपाकवच एव च मातृभूमेः ।
वाग्वीरुधः सलिलसम्भृतमालवालं
कल्याणकल्पतरुरेव महाविभूतिः ॥ ३६ ॥

सारस्वते महिमशालिनि मन्दिरेऽस्मिन्
उद्दामशक्तिनिलये त्वयि चास्त्यभेदः ।
इत्याकलय्य विनतोऽन्यतरस्य पूजां
कुर्वन् द्वयोरपचितिं मनुते मनीषी ॥ ३७ ॥

हित्वा भवान् भुवनमोहनमद्वितीयं
स्वर्णप्रभं स्फुरितसप्तवितस्तिकायम् ।
एवं ततोऽपि रमणीयतरं स्वविश्व-
विद्यालयाख्यवपुरुद्वहते विशालम् ॥ ३८ ॥

किं ब्रह्मलोक इह भूतल आगतोऽस्ति ?
किं वा विधेर्निपुणतैव दधार देहम् ?
वाचस्पतेः किममला कमलाऽवतीर्णा ?
पूर्णावनेः सुकृतराशिफलं किमेतत् ? ॥ ३९ ॥

ज्योतिश्चिरन्तनमपास्तरजोविकारं
रत्नद्युतिप्रतिममुज्झितवातभीति ।
सान्द्रान्धकारहरणे जितभानुदीप्ति
सारस्वतं जयति धाम मनोऽभिरामम् ॥ ४० ॥

गाढं तमो हरति, नित्यमुदेति, सर्वान्
सुप्तान् प्रबोधयति, नन्दयति द्विजाब्जम् ।
रात्रावपि स्फुरति, निर्जितराहुकेतु-
राभासतेऽयमिह कोऽपि रविर्नवीनः ॥ ४१ ॥

स तीर्थराजो जननेन पूतः सूतो द्वितीयोऽप्यथ तीर्थराजः ।
यत्र स्फुरज्ज्ञान-कला-क्रियाणां निःष्यन्दते कापि नवा त्रिवेणी ॥ ४२ ॥

एषा नवीना प्रतिभाति संवित् तरङ्गमालोल्लसितेव गङ्गा।
हंसावलिर्यत्पुलिने स्वनन्ती सन्तिष्ठते मानसमुक्तरागा ॥ ४३ ॥

परस्परस्नेहसुधां स्रवन्ती कलिन्दकन्येह कलाविलासा।
स्रोतो यदीयं विबुधान्तरङ्गे प्रसादभङ्गीं जनयत्यजस्रम् ॥ ४४ ॥

सरस्वती यत्र परःसहस्र- धाराभिरङ्गीकृतदृश्यरूपा।
निःष्यन्दते सद्द्विजसेव्यकूला लसद्दुकूला ललनेव रम्या ॥ ४५ ॥

यस्याकृतिर्ह्रेपयतीव लक्ष्मीं धृतावलेपां त्रिदशालयस्य।
प्रवर्तते यत्र सदा प्रकृत्या ज्ञान-क्रिया-सन्ततिसप्ततन्तुः ॥ ४६ ॥

अन्विष्य लोकोत्तरकान्तिभाजः सुधीन्द्रमौलेर्मुकुटान्मणीशान्।
विन्यस्य चैतस्य कुलस्यशोभा त्वया समृद्धि गमिताऽद्वितीयाम् ॥ ४७ ॥

विना स्वधर्माचरणेन विद्या हृद्यापि नाविष्कुरुते चरित्रम्।
इत्येतयोः सङ्गमपुण्यभूमिः परिष्कृतेयं भवताऽवता शम् ॥ ४८ ॥

येनाद्वितीयेन कुलेन देश-भक्त्योन्नतो नायकरत्नराशिः।
समर्प्यते राष्ट्रसमृद्धिहेतुः केतुः स्फुरन् नृत्यतु तस्य शश्वत् ॥ ४९ ॥

विद्वज्जनार्घ्याचितकीर्तिरेखा 'प्रज्ञा' कुलोत्कर्षमुपाहरन्ती।
प्राच्यप्रतीच्योभयतत्त्वसारं कवीन्द्रवाचं च पुरस्करोतु ॥ ५० ॥

सद्वृत्तबोधकिरणं नररत्नजात-
मुत्पादयन् सुचरिताकर एष दिव्यः।
आचन्द्रतारकमुदित्वरकीर्तिलक्ष्म्या
संसेवितो ऽवतु जगन्निजवैभवेन ॥ ५१ ॥

प्रवक्ता, प्राच्य-विद्या-धर्म-विज्ञान-सङ्कायः, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

———

महर्षि मदनमोहनजी मालवीय

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

वेद के मंत्र शब्दों में ही हैं, पर कहा जाता है कि उन शब्दों का निर्माण नहीं हुआ है। प्रत्येक मंत्र का ऋषि होता है। उस ऋषि की ही वाणी से मंत्र ने शब्दरूप पाया है। पर वह ऋषि उस शब्दरूप का कर्ता नहीं है। कवि जैसे कविता का सर्जक है वैसे ऋषि उस मंत्र का सर्जक नहीं है। मंत्र ऋषि की सृष्टि या कविता नहीं है। कवि और ऋषि में समानता इतनी ही कह सकते हैं कि समाधि की स्थिति में कवि निर्माण करता है और ऋषि भी समाधि की स्थिति में ही मंत्र पाता है। कवि भी कुछ देख लेता है, द्रष्टा होता है और ऋषि भी द्रष्टा होता है। पर कवि के दर्शन में जो सत्य या सत्ता आती है वह उसकी मानसिक भूमि में पड़ी सामग्री का संयोजन होती है। किंतु ऋषि जिस सत्य का साक्षात्कार करता है वह उसकी मानसिक भूमि की सामग्री का संकलन नहीं होता। उसका मानसिक धरातल केवल माध्यम होता है उसका सत्य विश्वात्मा का सत्य होता है, उस धरातल के द्वारा वह प्रकट भर होता है। ऋषि के सत्य के साथ एक ऋत शब्द भी आता है। इस शब्द से उसके सत्यग्रहण को स्पष्ट समझा जा सकता है। कवि का सत्य सापेक्ष होता है। असत्य की अपेक्षा में वह सत्य होता है। ऋत का सत्य निरपेक्ष सत्य होता है, वह सत्य-असत्य से परे होता है। इसी से ऋषि का पर्याय कोशों में 'सत्यवच' होता है—'ऋषयः सत्यवचसः।' उसकी वाणी केवल सत्य होती है। ऋषि में महत् लगने से 'महर्षि' शब्द बनता है। 'महत्' जब 'महा' रूप धारण कर किसी शब्द के विशेषण का काम करता है तब 'महा' का अर्थ केवल 'बड़ा' नहीं होता। जिस विशेषता को 'महा' बढ़ाता है वह अपने (उस विशेषता के) लिए समर्पण में होती है। 'दानी' वह होता है जो अपने से पृथक् पदार्थों का दान करता है, पर महादानी वह होता है जो अपने को भी दूसरे के हितसंपादन के लिए समर्पित कर दे। 'वीर' वह होता है जो दूसरों के प्रति संघर्ष में अपने शौर्य का अति मात्रा में प्रदर्शन करे। पर महावीर वह होता है जो दूसरे के हित के लिए अपने को ही समर्पित कर दे। इसी प्रकार महर्षि वह होता है जो सत्य के लिए, समाज के सत्य के लिए, सबकी सत्ता के लिए, सारी सत्ता के हितसंपादन के लिए अपने को ही समर्पित कर दे। महामना मालवीयजी ऐसे ही महर्षि थे। उन्होंने विद्या के सत्य का साक्षात्कार समाज को कराने के लिए अपने को समर्पित कर दिया था।

भारत में विद्या का दान सबसे बड़ा दान माना जाता है। विद्या का दान देने वाला गुरु कहलाता था। वह केवल शिक्षा नहीं, दीक्षा भी दिया करता था। गुरु दीक्षा देकर शिष्य में अपने को ही उतार देता है। शिक्षा तो अपने से पृथक् ज्ञान की दी जाती है। ज्ञान के साथ अपने को ही दे देना दीक्षा है। इसीलिए मालवीयजी प्राचीन गुरु-कुल का दृश्य इस युग में देखना-दिखाना चाहते थे। प्राचीन गुरुओं के अनुरूप ही उनके शिष्य हों, जिस स्तर तक गुरु ने विद्या के आकाश में अपने को पहुँचाया है उसके शिष्य

उसकी परंपरा को, उसके 'प्रदाय' को, उतना ही ऊपर ले जाएँ। उसका 'संप्रदाय' होता था। 'गुरुणा शिष्येभ्य: सम्यक्तया प्रदीयते' संप्रदाय होता था। आज इस पवित्र शब्द की जैसी दुर्गति हो गई है वह अनिर्वचनीय है। शिष्य गुरु के निकट रहता था, उसका अंतेवासी होता था और धीरे धीरे वह गढ़ा जाता था। उसकी गढंत रातदिन प्रतिक्षण होती थी। मनुष्य जन्म लेते ही 'मानव' नहीं हो जाता, उसमें मानवता केवल वाग्विसर्ग के श्रवण मात्र से नहीं आ जाती। समग्रता में उसके मानव बनने के लिए 'अर्थ' (द्रव्य-संपत्ति) समर्थ नहीं है। पैसे का समुद्र उलीच देने से भी कोई जातक मनुष्य नहीं बनाया जा सकता। संपत्ति लगा देने से ही यदि कोई मनुष्य बने तो किसी परिवार, राज्य, राष्ट्र की सारी संपत्ति भी मनुष्य बना देने में लग जाए तो थोड़ी है। क्योंकि मनुष्य बन जाने पर तो वह फिर संपत्ति इकट्ठी कर लेगा। पर सारी संपत्ति लग जाने से कोई मनुष्य बन ही जाएगा यह निश्चित नहीं है। मनुष्य बनाने में कुछ धर्मों का पालन अपेक्षित होता है। इन धर्मों का पालन अब शिक्षक या अध्यापक न करता है न कराता है। परिस्थितिवश वह कर-करा भी नहीं सकता। युग आर्थिक होता जा रहा है, धार्मिक या कर्तव्यपरायण नहीं। अर्थ अनर्थ की ओर ले जाता है, धर्म अधर्म से रोकता है। इसी धर्म के अंतर्गत सदाचार या सुचरित भी आता है। समावर्तन के साथ आचार्य शिष्य को अपने गुरुकुल से विसर्जित करते हुए कहता है—

यानि मया सुचरितानि तानि त्वया उपास्यानि नो इतराणि।

आचार्य कितना यथार्थवादी और साथ ही आदर्शवादी होता था। वह यह जानता था कि मुझसे जाने अनजाने कुछ ऐसे आचरण हो सकते हैं जो शिष्य के लिए अनुकरणीय नहीं हो सकते। सामान्यतया ऐसा होता नहीं था। आचार्य बिना आचार-सदाचार या सुचरित के होता ही नहीं था। क्या इतना स्पष्टवाद आज संभव है। शिक्षक या अध्यापक समुचित आचार का पालन नहीं करते। फिर भी कभी भूलकर उसको समाज के सामने स्वीकृत नहीं करते। या इसके विपरीत भी देखा जाता है। अपने अनाचार को भली-भाँति निर्लज्जतासहित उजागर होने देते हैं।

वास्तव में सदाचार का महत्त्व पांडित्य से ऊपर है। भगवान् बुद्ध स्वयम् भगवान् या परमात्मा तथा आत्मा में विश्वास नहीं करते थे। फिर भी वे भगवान् माने गए। क्यों? सदाचार के कारण। जातकों में एक कथा आती है जिससे यह सिद्ध किया गया कि सदाचार पांडित्य या विद्वत्ता से भी ऊपर माना जाता है। किसी राजा के गुरु थे। उनके मन में यह निर्णीत करने का अभिलाष हुआ कि शुद्ध पांडित्य के कारण मुझे सम्मान मिलता है या समाज की मान्यता कुछ और है। इसकी परीक्षा के लिए वे राज-जौहरी की दुकान पर गए। बहुत से रत्नों को देखने के अनंतर जब वे चलने लगे तो जौहरी की आँख बचाकर चुपचाप कुछ रत्न अपनी टेंट में खोंस लिए। फिर भी सावधान जौहरी ने देख लिया। किन्तु बोला नहीं। राजगुरु होने के कारण वह यह अकृत्य देखकर भी अनदेखा कर गया। राजगुरु ने पहली बार तो आँख बचाकर काम किया था। इसलिए दूसरी बार उन्होंने कुछ खुलकर रत्न अपने पास रख लिए। फिर भी जौहरी कुछ नहीं बोला। इस पर राजगुरु को तीसरी बार यही अकृत्य करना पड़ा। इस बार जौहरी से

रहा नहीं गया। उसने गुरु का हाथ पकड़ ही तो लिया। उसने जिज्ञासा की कि ऐसा आपके ऐसा पंडित क्यों करता है। राजगुरु ने कहा कि चलो तुम्हारा उत्तर मैं राजदरबार में दूँगा। दरबार में राजा को संवाद मिला तो उसको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने राजगुरु से राजसभा में प्रकट रूप से पूछा कि आप ऐसा क्यों करते हैं। कहाँ आपका पांडित्य और कहाँ यह अकर्म। तब राजगुरु ने बताया कि मैं देखना चाहता था कि शुद्ध पांडित्य मान्य होता है या सदाचारयुक्त पांडित्य। अब प्रमाणित हो गया कि सदाचार पांडित्य से ऊपर है।

महामना मालवीयजी भारतीय जीवन में सदाचार का ही यह पाठ पढ़वाना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि काशी विश्वविद्यालय के शिक्षक और शिक्षार्थी भारत के इस पारंपरिक सदाचार का विकास करें और उसका पालन करें। वे स्वयम् सदाचार का पालन करते थे और गुरुकुल में यह मर्यादा बनाए रखना चाहते थे। वे जिस पद पर थे उस पर रहते उन्होंने न जाने कितनी ही पार्टियों में योग भर दिया, खाना-पीना कभी किया ही नहीं! उनके सदाचार-विग्रह से सुचरित की वर्षा सी होती रहती थी। उनके संपर्क से न जाने कितने आचारसंपन्न हो गए। विश्वविद्यालय में एक अध्यापिका महिला ने एक बार उनसे कहलवाया कि मैं व्याख्यान देने के लिए आहूत हूँ। मोटर से ही सभाभवन जाऊँगी, ताँगे से नहीं। उनके लिए भेजे गए ताँगे पर मालवीयजी सभाभवन गए और अपनी मोटर उनको भेज दी। उनके इस व्यवहार से वे पानी पानी हो गईं। फिर ऐसा आग्रह उन्होंने कभी नहीं किया।

मालवीयजी सनातनधर्मी थे। जितने धर्मिष्ठ थे उतने ही देशभक्त-देशसेवक भी। वे विद्या के क्षेत्र में विद्यार्थियों के बीच राजनीति का प्रवेश ठीक नहीं मानते थे। महात्मा गांधी का असहयोग आंदोलन जब छिड़ा तब उन्होंने विश्वविद्यालय बंद करना अस्वीकार कर दिया। विद्या या सरस्वती का उपासक ब्रह्मचारी होता है, वह ब्रह्म अर्थात् ज्ञान की उपासना करता है। उसमें सात्त्विक वृत्ति की प्रमुखता होती है, उस प्रमुखता को बनाए रखना भी वांछित होता है। यदि ऐसा न हो, वह राजनीति में आ जाए, रजोगुणी हो जाए तो अपने ऊँचे पद से अपभ्रष्ट हो जाता है। ब्रह्मचारियों या विद्यार्थियों का युद्ध में नियोजन करना ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करना होता है। ब्रह्मास्त्र अंतिम अस्त्र होता है। उसके प्रयुक्त होने पर विजय तो निश्चित होती है, पर प्रयुक्त ब्रह्मास्त्र लौटाया नहीं जा सकता। विद्यार्थियों का या ब्रह्मास्त्र का विनियोग बहुत समझ-बूझकर करने योग्य होता है। विद्यार्थियों ने जिस क्षेत्र में कार्य किया उसमें उन्हें सफलता अवश्य मिली। पर विद्या या ब्रह्माचरण से वे पराङ्मुख हो गए। देश का उनके संयोजन से चाहे जो हित हुआ हो, किंतु विद्यार्थि-समुदाय का जैसा अहित हुआ वह किसी से छिपा नहीं है।

वे सामाजिक मर्यादा को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहते थे। एक बार जब मैं विद्यार्थी था तब मेरे मित्र पंडित सीताराम चतुर्वेदी ने आर्ट्स कालेज में तुलसीजयंती के अवसर पर तुलसीदास पर विनोदपूर्ण निबंध पढ़ने का मुझसे आग्रह किया। मैं विद्यार्थी ही तो था। संयोग की बात उस सभा में मालवीयजी भी योगदान करने आ गए। नियत कार्यक्रम के अनुसार मैंने उस विनोदपूर्ण निबंध का पाठ किया। श्रोता उससे गद्गद् हो गए। पर

मालवीयजी ने अपने भाषण में उस निबंध की कड़ी भर्त्सना की। मुझे अपने अपराध का ज्ञान उस उद्‌गार से ऐसा हुआ कि मैंने विनोदपूर्ण निबंध लिखना ही परित्यक्त कर दिया। कान पकड़े कि अब महात्मा तुलसीदास के संबध में या किसी अन्य के संबंध में कभी ऐसा न करूँगा। उस अपराध के मार्जन के लिए मैंने तुलसीदास के वाङ्मय के गंभीर अध्ययन का संकल्प किया। अपराध का परिमार्जन हुआ या नहीं पर तुलसीदास के ग्रंथों का मनन-चिंतन करने से जीवन की सर्वोपरि उपलब्धि की प्रतीति अवश्य हो गई। महामना सदाचार के पारस थे। लोहे का कुवर्ण भी सुवर्ण में परिणत कर दिया करते थे।

भगवान् शंकराचार्य ने कहा है कि यदि किसी को बड़े-बड़े महापुरुषों का सांनिध्य और आशीर्वाद प्राप्त होता है तो उसे समझना चाहिए कि उस पर भगवत्कृपा है। मुझे भगवत्कृपा का अपने जीवन में अन्य किसी कारण तो भान नहीं हुआ, पर मालवीयजी महाराज का सांनिध्य मुझे कई वर्षों तक निकटता से प्राप्त रहा है। मेरे जीवन में यदि कुछ भी अभिलषित आ सका है तो उसका कारण महापुरुषों का सांनिध्य और आशीर्वचन ही है, जिसमें महर्षि मालवीयजी का संपर्क सर्वोपरि है।

'वाणी वितान' ब्रह्मनाल, वाराणसी

मेरी मातृ संस्था

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मेरी मातृ संस्था रही है। संस्कृत में प्रवेशिका से आचार्य तक और कला संकायान्तर्गत 'एडमिशन' से 'पी-एच०डी०' तक की समस्त शिक्षा-दीक्षा मैंने यहीं से प्राप्त की। डी० लिट्० की भी सारी भूमिका यहीं बंध चुकी थी, सामग्री यहीं से ले गया था, वैसे सम्पन्नता उज्जयिनी में हुई। इतना ही नहीं, संस्कृत महाविद्यालय तथा आर्ट्स कालेज में शोध सहायक तथा व्याख्याता के पदों पर नियुक्त होकर अध्यापन कार्य का भी शुभारम्भ यहीं किया। अपेक्षित परिणति और प्रौढ़ि लाभ करने के अनन्तर ही सागर तथा उज्जैन के विश्वविद्यालयों में वर्षों से सेवा कार्य करता आ रहा हूँ। पर इन समस्त साम्प्रतिक परिणतियों के संस्कार बीज इसी मातृ संस्था में पड़े थे। काशी में 'सारस्वत शिखर' भी थे और 'आदर्श शिखर' भी—अतः इन शिखरों के प्रत्यन्त भाग में पड़ा रहकर उनकी ऊँचाई को निरन्तर देखा करता था—फलतः लघुताबोध बराबर बना रहता था। ये 'शिखर' स्नेह की अंगुली के सहारे उठाने का प्रयत्न करते थे फलतः जो कुछ उठ सका—उन्हीं की कृपा का फल है।

उन दिनों युवामानस में यह अहसास जमा हुआ था कि आगे बढ़ने का एक मात्र रास्ता कड़ी मिहनत है, फलतः शास्त्रीय परिवेश निरन्तर घना ही बना रहा। ज्ञानार्जन में प्रतिस्पर्द्धा की भावना थी। हमें स्मरण है कि जब कभी हम सब गंगा स्नान को भी निकलते थे, तब सारे साथियों के हाथ में पुस्तकें रहती थीं और रहती ही नहीं थी उसे पढ़ते हुए हम सब सड़क पर किसी की भी चिन्ता न कर गन्तव्य तक पहुँचा करते थे। जिज्ञासा की शान्ति के लिए प्रत्येक द्वार निरन्तर खुले थे। इन सब बातों ने इस संस्था के प्रति एक आत्मीयता का भाव पैदा कर दिया था।

पं० गोविन्द मालवीय जी के कुलपतित्व का काल था। संस्था के समुत्थान के निमित्त हर संभव प्रयास उनका निष्ठाप्रेरित कर्त्तव्य-सा था। एक बार की बात है, ठीक परीक्षा के समय महत्तरों ने गुमराह करने वाले नेताओं के चक्कर में पड़कर हड़ताल कर दी। हड़ताल बड़ी योजना के साथ हुई थी। समस्त चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों ने साथ दिया। पावर हाउस फेल कर दिया गया। पानी-बिजली बन्द। शौचालय की दुर्गन्ध से वातावरण दूषित। विश्वविद्यालय के उद्यान ग्रीष्मकालीन लपटों से झुलसते जा रहे थे। ग्रीष्मकालीन चिलचिलाती धूप। कुलपति जी ने विश्वविद्यालय के गोपुर के सामने महत्तरों और उनके नेताओं का समझौते के लिए आह्वान किया . मगर कोई हल न निकला। कुलपति ने उनकी चुनौती स्वीकार कर ली। छात्र और अध्यापकों ने उनका साथ देने का संकल्प लिया। हम सब की ड्यूटी रात्रि में कूओं पर लगी। रात भर हम सब जग कर कूओं पर यों ही पड़े रहते थे, कि कहीं उसमें कोई ऐसी-वैसी चीज न डाल दी जाय। छात्रों ने शौचालय स्वयम् साफ किए। पर बात दो-एक दिन की हो तो कुछ होता भी। सप्ताहों चलता रहा—यह सब। सुबह नगरपालिका की ट्रकों से पानी बँटता

और सायम् गेसों के ऐसी पंक्तियाँ, जैसी बारात में कभी-कभी एकत्र हो जाया करती हैं। चुनौती का सामना करने की हौंस सबमें भरी थी। एक दिन की बात है—रात्रि में बारह के बाद कुछ अजीब शोरगुल सुनाई पड़ा। कमरों या ड्यूटी के स्थानों से आकर हम सबने देखा कि ट्रकों में बनारस से बाहर के महत्तर लादकर लाए गए हैं और गेसें जल रही हैं—शौचालयों की सफाई का अभियान आरम्भ ही होने वाला है कि इसकी भनक नेताओं को लग गई और उन नेताओं ने स्थानीय महतरों को अपनी माँग के अनुरूप जत्थे-जत्थे में आए हुए महत्तरों को भगाने के लिए भेजना शुरू कर दिया। मुझे याद है कि हम सबने उन स्थानीय महत्तरों को खदेड़ कर चहारदीवारी से बाहर कर दिया था। अन्त तक कुलपति का आत्मबल बना रहा, सबका संकल्प दृढ़ रहा, फलतः चुनौती का सामना हुआ। अंततः जब नई नियुक्तियों का दौर आरम्भ हुआ और पूर्व नियुक्तियाँ निरस्त होने लगीं, तब बागियों का मनोबल टूटने लगा और फिर तो इन बागियों ने आत्म समर्पण कर दिया। विश्व-विद्यालय ने अपनी पूर्व स्थिति और व्यवस्थिति में यथास्थिति प्राप्त कर ली।

मूलतः मैं संस्कृत महाविद्यालय का छात्र था और रुइया छात्रावास में रहता था। वहीं से संस्कृत महाविद्यालय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा पश्चिमी पद्धति की एडमिशन और इंटर की परीक्षाएँ दीं। छात्रावास का नियम था कि आर्ट्स साइड से परीक्षा देने वाले छात्रावास की आवास आदि सुविधाओं से वंचित कर दिए जायँगे, फलतः जब मैं साहित्य शास्त्राचार्य की परीक्षा के दौर में था, बी० ए० में भी प्रवेश लेने के कारण मुझे छात्रावास छोड़ना पड़ा। लेकिन, तब भी उसका परिसर और परिवेश मेरे समुत्थान की पीठिका बना रहा।

संस्कृत महाविद्यालय की अध्यापन-अध्ययन पद्धति 'स्मृति' शक्ति के बल से जितनी चलती थी, 'समझ' के बल पर अपेक्षाकृत कम। इतर महाविद्यालयों में 'समझ' पर बल होता था। कुछ एक गुरुजनों को छोड़कर शेष बहुत से ऐसे अध्यापक थे, जो धारावाहिक ढंग से विचार को उपस्थापित नहीं कर पाते थे, यों पंक्ति-पंक्तिशः वे पंक्त्यस्पर्श कर दिया करते थे, पर उन्हीं से यदि यह जिज्ञासा की जाती कि सब कुछ संपिण्डित रूप कहें तो उन्हें भारी कठिनाई महसूस होती थी। कुछ विद्वान् अध्यापक तो ऐसे भी थे कि आँख मूँदकर अपने समस्त अध्ययन की आवृत्ति छात्रों के सामने कर दिया करते थे। उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं थी कि छात्रों की समझ से उनका कोई संवाद हो पाता है या नहीं। दोनों पद्धतियों के अध्ययन-अध्यापन से यह अनुभव हुआ कि 'स्मृति' और 'विवेक' या 'समझ' के मजबूत खम्भों पर जो सारस्वत प्रासाद उठाया जाता है - उसका भविष्य फल-वान् होता है, उसमें प्रौढ़ि और थिराहट होती है। अंततः जहाँ से यह सब लेकर चला, उस मातृ संस्था के प्रति प्रणत हूँ।

आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे

डॉ० भगवती प्रसाद सिंह

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के चरणों में बैठकर हिन्दी पढ़ने का लोभ मुझे काशी खींच ले गया था। बी० एन० एस० डी० कालेज कानपुर से इण्टर पास करने के बाद मैंने हिन्दू विश्वविद्यालय के कला-संकाय में वर्तमान बी० ए० भाग दो में प्रवेश लिया। सौभाग्य से हिन्दी की कक्षा में सप्ताह में एक घंटा शुक्लजीका पड़ता था। वे गद्य पढ़ाते थे। एक दिन वे अपना ही लिखा हुआ निबन्ध 'लोभ और प्रीति' पढ़ा रहे थे। 'लोभियों! तुम धन्य हो, तुम्हें धिक्कार है' वाली पंक्ति आयी। होठों पर छायी हुई छोटी-छंटी घनी मूँछों के भीतर शुक्लजीकी मधुर मुस्कान बिखर गयी। छात्र सहमते हुए भी हँसी न रोक सके। सारी कक्षा में उल्लासकी एक हल्की लहर दौड़ गयी।

× × ×

एक दिन साहस करके आचार्य शुक्ल से मिलने दुर्गाकुण्ड के समीपस्थ उनके निवास स्थान पर गया। उत्तरी बरामदे में एक आराम कुर्सी पर बैठे कुछ पढ़ रहे थे। अपने आने की सूचना नौकर द्वारा भिजवायी। तत्काल बुला लिया। कक्षा, जन्म भूमि इत्यादि का परिचय पूछने के बाद आने का प्रयोजन बताने को कहा। मैंने निवेदन किया 'आप को महात्मा बनादास' विरचित 'उभयप्रबोधक रामायण' दिखाने के लिये लाया हूँ। यह कहकर मैंने पुस्तक उनके हाथ में दे दी। थोड़ी देरतक देखने के बाद बोले, "हाँ तो तुम गोण्डा जिले में अयोध्या के निकट रहते हो। वहाँ घाघरा सरयू के संगमपर सूकरखेत नामक एक तीर्थ है। वह तुलसीदास के गुरुका स्थान है। मैंने साहित्य के इतिहास में उसकी चर्चा की है। तुमने देखा होगा। इधर कुछ लोग उसके विरोध में एक दूसरा सूकरखेत खड़ाकर रहे हैं। हिन्दी के कई खोजी उन्हें सहारा दे रहे हैं। वह स्थान तुम्हारे ही जिले में है। विस्तारपूर्वक जाँच पड़ताल कर स्थानीय साक्ष्य एकत्र करो और तब सारी सामग्री को व्यवस्थित रूप देकर मुझे दिखाओ।" यह बात नवम्बर १९४० की है। आचार्य चरण के निर्देशानुसार मैंने सूकरखेत विषयक तथ्यानुसंधान का व्रत लिया, किंतु इसके पूर्व कि वह कार्यरूप में परिणत हो सके उसी वर्ष के दिसम्बर मासमें शुक्लजीका साकेतवास हो गया। बाद में श्रद्धेय पं० चन्द्रबली पाण्डे की देखरेख में उक्त विषय पर निबन्ध तैयार किया गया जो सरस्वती के जनवरी ४३ वाले अंक में 'सूकरखेत' शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

× × ×

अपने दो सहपाठियों श्यामाचरण त्रिपाठी और हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव के साथ मैं लंका पर सेवा-उपवन के समीप लालबागकोठी में रहता था। प्रातः चार बजे उठकर आयुर्वेदिक गार्डेन में दौड़ने का नियम बना रखा था। एक दिन दौड़ लगाकर गार्डेन के बीच में स्थित गोले के पास पहुँचा तो देखा कोई वृद्ध सज्जन पत्थर की तिपाईपर बैठे हुए

हैं। कुछ अंधेरा था, इसलिये पहचान न सका कि वे कौन हैं। कुछ आगे बढ़ने पर सामने आगया तो उन्होंने धीमे स्वर में पुकार कर पास आने को कहा। निकट पहुँचने पर पूछा, "किस कक्षा में पढ़ते हो ?" मैंने कहा, थर्ड-इयर में।' वे बोले "कहाँ रहते हो ?" मैंने निवास स्थान का पता बताया। इसके बाद उन्होंने मेरी पीठ और पेटकी हड्डियों को टटोलते हुए कहा— "वहुत दुबले हो। दूध पीते हो या नहीं ?" मैंने कहा, "पीता हूँ।' इसी क्रममें दूसरा प्रश्न हुआ" अच्छा दूध पा जाते हो ? कहाँ से लेते हो ? 'मैंने बताया लंका पर बसन्तू नामक ग्वाला हमारे मकान के सामने ही रहता है। उसी से सामने दुहाकर लेता हूँ।' वृद्ध सज्जन संतुष्ट हो गये ! फिर बोले—"खूब दूध पीओ, खूब दौड़ो और खूब पढ़ो। स्वास्थ्य का सदा ध्यान रखो।" यह कहकर सरपर हाथ फेरते हुए उन्होंने विदा दी। कहना न होगा कि यह महानुभाव परमपूज्य मालवीयजी थे। छात्रों पर ऐसे अजस्र वात्सल्य की वर्षा महामना ही कर सकते थे।

× × ×

मेरे निवास स्थान के पास ही अमेठी कोठी में मौलवी महेश प्रसाद जी, आचार्य पं० चन्द्रबली पाण्डे के साथ रहते थे। मौलवी साहब उर्दू-फारसी और अरबी विभाग के अध्यक्ष थे और पाण्डे जी स्वतंत्र साहित्य-साधक। दोनों ही फक्कड़ प्रकृति के व्यक्ति थे, सिद्धान्तों पर रंचमात्र भी समझौता न करने वाले। फिर भी उनमें अलौकिक सौहार्द था। लोग प्रायः उन्हें सगे भाई समझते थे। मौलवी साहब के पास हाथ से खींचा जाने वाला एक जापानी ढंगका रिक्शा था। वे विश्वविद्यालय प्रायः उसी पर जाते थे। हाथ में मोटी-सी मुड़ी हुई छड़ी, लम्बा कुर्ता, बुन्देलखण्डी चमरौधा जूता, धोती और कभी-कभी पायजामा-यह उनका वेश था। लंका के चौराहे पर या विश्वविद्यालय परिसर में कोई मित्र या परिचित जब कभी पूछ बैठता "मौलवी साहब ! कहाँ जा रहे हैं" ? तो उनका वेलाग उत्तर होता "गुमराह करने जा रहे हैं।" मौलवी साहब पढ़ाने को गुमराह करना कहते थे। उनकी मान्यता थी कि अंग्रेजी पद्धतिकी शिक्षा-प्रणाली छात्रों की नैसर्गिक प्रतिभाको विकसित नहीं होने देती, प्रत्युत् उसे कुंठित कर देती है।

उन दिनों हिन्दू विश्वविद्यालय की सड़कें रोड़ों से भरी रहती थीं। बाग-बगीचे भी मनमाने ढ़ंग से बढ़े और फैले हुए लता गुल्मों से ढंके थे। उनकी काट-छाँट की आज जैसी पक्की व्यवस्था नहीं थी। सरल, समर्पित, स्वच्छन्द और बीहड़ व्यक्तित्वका विकास ऐसे वातावरण में सहज संभव था।

मालवीय जी का वरद हस्त सबको सँभालता, सँवारता सहलाता और सँजोता रहता। विश्वविद्यालय ऊर्ध्वस्थिति प्राप्त करने के लिए साधना की कठोर भूमिकाओं से गुजर रहा था। उन दिनों और उन तपःपूत साधकों की स्मृति आज भी हृदय को एक लोकोत्तर प्रकाश से भर देती है।

आचार्य एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

काशी से मगहर तक

डॉ० प्रेम शंकर

जिन्दगी के संघर्ष में पला लड़का अच्छे नम्बरों से इन्टर पास हो गया। ढेर सारे बच्चों के परिवार मे सबसे बड़ा······। तरह-तरह की बातें होती हैं—नौकरी में लग जाय तो घर का सहारा बने······। पर सन्तान को जिलाने की हविश रखने वाली माँ कहती है······नहीं,बेटा तो काशी पढ़ने जायगा। रामायण बांच लेने वाली माँ को पता नहीं कैसे इलहाम था कि काशी से बेटा कुछ न कुछ लेकर ही लौटेगा। ग़रीबी से जूझते पिता ने अपने दोनों हाथों को उठाया और फिर नीले आकाश को ताका, कहा—हां, काशी ही पढ़ेगा। और बीच में लखनऊ, इलाहाबाद तथा आस-पास के कालेज छूट गए, मैं एक दिन बनारस कैंट स्टेशन पर था······।

मेरी कल्पना की एक काशी थी—शंकर के त्रिशूल पर टंगी, पतितपावनी गंगा के किनारे जहां हरिश्चन्द्र ने सत्य की लाज रक्खी थी; जहां के निष्णात पंडित शास्त्रार्थ में किसी को भी पराजित कर सकने का हौसला रखते थे। वह काशी जिसने मध्यकाल के पराजित क्षणों में भी ज्ञान की अग्नि जलाए रखने का संकल्प किया। तुलसी की काशी जहां सनीचरी के भयावह दृश्यों ने उन्हें भीतर तक मथ दिया। रांड, सांड, सीढ़ी, सन्यासी वाली काशी······। ऐसी सारस्वत नगरी को महामना मालवीय ने चुना था अपनी कल्पना का शिक्षा संस्थान बसाने के लिए और वे तीर्थराज प्रयाग को छोड़कर काशी आ गए थे······।

स्टेशन पर उतरकर रिक्शेवाले से कहता हूँ—विश्वविद्यालय चलोगे और वह भोजपुरी में जवाब देता है—नगवा काहे न चलब बाबू सा०। आश्वस्त होकर चल देता हूँ—सड़क लम्बी हो गई है—कमच्छा पहुँचते-पहुचते अधीर हो उठता हूँ—आखिर कहाँ लिए जा रहा है यह, कितनी दूर और है। रिक्शेवाला जून के अन्तिम दिनों की गर्मी झेलता हुआ दिलासा दिलाता है कि बस आ ही गए। संकटमोचन, लंका से गुजरकर बहुत बड़ा द्वार दिखाई देता है—किसी महल में लिए जा रहा है क्या ? कहां आ गया ? मेरी बात ठीक से समझा की नहीं ? तभी सामने के द्वार पर लिखा देखता हूँ—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय। सिर अनायास झुक जाता है—मन ही मन गोपुर को प्रणाम करता हूँ—अपनी ऊंचाई लिए हुए मुख्य प्रवेश द्वार। फिर गैरिक वसन में लिपटी कलश भरी इमारतें हैं देवालय की प्रतीक ! सड़क के दोनों ओर सघन, छाया भरे वृक्ष-मुझे पुराने समय के किसी तपोवन का एहसास होता है।

मेरे पास गुरुवर ठा० जयदेव सिंह द्वारा दिए गए कुछ परिचयपत्र हैं - सर्वपल्ली राधाकृष्णन, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री कन्हैयालाल वर्मा और एक पत्र श्री एस०एल० दर के नाम का भी है। पहला हॉस्टल रुइया है, भारी भरकम। वहीं रुकता हूं तो पता चलता है कि पं० नन्ददुलारे वाजपेयी तो दुर्गाकुण्ड में रहते हैं—रिक्शा मुड़ जाता है

फिर वहीं पहुंचता हूँ, जहां से हम गुजरे थे। गौर वर्ण, कांतिमान मुखमण्डल, सुन्दर नाकनक्श, सौम्य आकृति के पास पहुंचकर पत्र देता हूं, पं० जी मुझे पहचानते हैं : तुम तो युवराजदत्त कालेज में हिन्दी परिषद् के सचिव थे, जब मैं वहां गया था। वे रिक्शे वाले को, मेरे मना करने पर भी, पैसे दे देते हैं और मैं उनका अतिथि हो जाता हूं……।

प्रवेश आदि की व्यवस्थाओं में शटलकॉक की तरह इधर से उधर दौड़ता हूँ—कितनी दूरियाँ हैं : हास्टल, आर्ट्स कालेज, सेन्ट्रल आफिस ! आखिर बिड़ला हास्टल में कमरा नं० ६८ मिल जाता है, जहां जिन्दगी के चार खूबसूरत साल मैंने व्यतीत किए। जून-जुलाई १९४६ में काशी गया था जब महामना हमारे बीच में थे। उनकी प्रेरणा-दायक वाणी सुनने का सौभाग्य पाया है—चेतना को छू जानेवाले शब्द-सहज, अकृत्रिम। घर में लगी हुई आग की ज्वाला में एक दिन महामना का कोमल, संवेदनशील मन झुलसने लगा था……। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता का सपना देखते थे। जाना चाहते रहे होंगे, पर शरीर से विवश थे। इसी कशमकश में उनके प्राण गए। महामना के अन्तिम क्षणों का स्मरण आता है—आखिरी सांसे चल रही हैं, पर चेतना जागृत है—उंगली से इशारा करते हैं—मंत्रोच्चार में कहीं कोई त्रुटि हो गई है उच्चारण सुधारा जाता है……। १२ नवम्बर १९४६ का वह मनहूस दिन……महामना का निधंन काशी को गहरे दर्द की चादर में लपेट लेता है—उस दिन विश्वविद्यालय में कोई किसी से कुछ नहीं बोल सका—सबने अपना यशस्वी पितामह खो दिया था। काफी दिनों तक एक मनहूसियत भरी जड़ता ने हम सबको लपेट लिया था……। ऐसी ही दर्दभरी शाम वह थी जब हमने राष्ट्रपिता को खोया था।

कुलपति डा० राधाकृष्णन के मार्मिक प्रवचन ने महामना के निधन के बाद उस जड़ता को तोड़ा था याद है उन्होंने आत्मा की अमरता का बखान करते हुए कहा था—महामना के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि यही है कि हमारा जीवन कर्ममय हो, हमारे आदर्श ऊंचे हों और हम मानव कल्याण में लगें। विश्वविद्यालय में, डॉ० राधाकृष्णन के गीता-प्रवचन सुनने के लिए भीड़ उमड़ पड़ती थी संस्कृत महाविद्यालय के नवनिर्मित हाल में सब समा नहीं पाते थे। आज भी उनकी वाणीं कहीं गूंजती है, बीच-बीच में संस्कृत के श्लोक ! याद है जब गुरुवर का पत्र लेकर मिला तो वे बोले-जयदेव के शिष्य हो, तुम्हें आर्थिक सहायता जरूर मिलेगी। जब तक काशी में रहा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी छात्रवृत्ति पाता रहा और निःशुल्क शिक्षा……।

काशी के दिनों में हमने अपना पहला स्वतन्त्रता दिवस मनाया—विश्वविद्यालय में एक अपूर्व उल्लास था। कई अध्यापक और छात्र आजादी की लड़ाई में कारावास गए थे। पूरा विश्वविद्यालय उत्सव मना रहा था—रात भर दीवाली और आतिशबाजी। हास्टल के नौकरों और उनके परिवार वालों को हमने जी भर मिठाई बाँटी थीं। विश्वविद्यालय के पाचवें दशक का माहौल राष्ट्रीय चेतना में रंगा हुआ था - प्रायः खद्दर के कपड़े का इस्तेमाल। अध्यापकों की काफी सीधी-सादी जिन्दगी इक्का-दुक्का कारें कभी दिख जाती थीं, नहीं तो रिक्शा, साइकिल या फिर पैरों पर भरोसा। याद है जब पहली बार घर लौटा था तो सारे कपड़े वहीं छोड़ आया था—साथ ले आया था—खादी के कुर्ते-पायजामे।

विश्वविद्यालय में सबसे उल्लास-भरा दिन वसंत पंचमी का होता था— महामना ने इसी ऋतुराजी सारस्वत क्षण में इसकी नींव रक्खी थी। कहते हैं उसी वर्ष गंगा में बाढ़ आई और विवश होकर विश्वविद्यालय को थोड़ी दूरी पर बसना पड़ा। शिलान्यास का प्रस्तर बाहर से ही दुआ देता रहता है, यद्यपि गंगा मैया अब भी विश्वविद्यालय में पहुँच जाती हैं, वसंत की अगवानी में यों भी विश्वविद्यालय की प्रकृति मुस्कराने लगती और हम सब कई दिन पहले तैय्यारी में लग जाते। भोर-वेला में वासंती रंग के कपड़े पहन कर जब हजारों छात्र, छात्राओं, अध्यापकों का जुलूस चलता तो लगता जैसे काशी में वसंत सड़कों पर निकल आया है। रास्ते भर हम गाते चलते—मधुर, मनोहर अतीव सुन्दर ये सर्वविद्या की राजधानी……। वसंत अब भी आता है, पर काशी छोड़ने के बाद अक्सर उसे कैलेण्डर से जानता पहचानता था, पर जब वसंत की भोर में मेरी बिटिया रोली जन्मी तब से मातृपीठ का वह वसंती माहौल वर्ष में एक बार फिर चेतना में तैर जाता है…।

काशी में अपने समय के सभी प्रमुख व्यक्तित्वों को देखा-सुना—महामना, डा० राधाकृष्णन, पं० अमरनाथ झा के अतिरिक्त जवाहरलाल नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद, सरदार वल्लभभाई पटेल, राजगोपालाचारी, सरोजनी नायडू, गोविन्द वल्लभ पन्त, पुरुषोत्तमदास टंडन, आचार्य नरेन्द्र देव, रविशंकर शुक्ल, राममनोहर लोहिया, आदि आदि। डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन', श्री त्रिलोचन शास्त्री से पहली भेंट यहीं हुई थी। रचनाकारों—कलाकारों की एक लम्बी सूची बनाई जा सकती है, जिन्हें पहली बार जाना-सुना। एक अवसर याद आता है - दीक्षान्त समारोह का। जवाहरलाल नेहरू व राजेन्द्र प्रसाद को मानद उपाधि दी जा रही थी। नेहरूजी ने अंग्रेजी में बोलना शुरू किया कि आप के वाइस चांसलर ने मुझे बताया है कि यहाँ ऐसे भी लोग हैं जो हिन्दी नहीं समझते, इसलिए मैं पहले अंग्रेजी में बोलूँगा। एक कोने से आवाज आई—हिन्दी-हिन्दी और नेहरूजी ने आवाज ऊँची उठाकर कहा तब मैं अंग्रेजी में ही बोलूँगा - चारों ओर सन्नाटा। पर वे खुद ही कुछ देर अंग्रेजी में कहने के बाद हिन्दी पर आ गए और चारों ओर तालियों की गड़गड़ाहट…। उस खुली जमीन में भी दीक्षान्त समारोह कितना शान्त और संयत होता था। आज तो मैं स्वयं उनकी उपयोगिता के बारे में शक करने लगा हूँ…। आखिर नवयुवक को उसके अनिश्चित भविष्य का बार-बार एहसास कराने का हमें क्या हक है ?

काशी के गुरुजनों में कई मेरी स्मृति में आज भी कौंधते हैं आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, जिन्हें मैं अपना जीवन निर्माता भी मानता हूँ। वे उन दिनों सामान्य हिन्दी की कक्षाएँ लेते थे—तीन सौ लड़के एक हाल में भरे हुए—जब शोर होता तो पं० जी सौम्य ढंग से कहते—आप लोग शान्त रहिए, कृपया। उनकी सौम्यता का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता कि थोड़ी देर में ही सब चुप हो जाते। बी० ए० में था तभी पं०जी सागर आ गये. और उन्होंने मुझसे कहा कि वहीं आ जाना। जब मैं काशी का मोह नहीं छोड़ पाया तो उनका पत्र आया—काशी का अपना आकर्षण है और उसे छोड़कर मगहर की ओर कबीर जैसे क्रान्तिद्रष्टा ही प्रस्थान कर सकते हैं……। हिन्दी विभाग के अध्यक्ष आचार्य पं० केशवप्रसाद मिश्र का चित्र बनाना चाहता हूँ। खादी की धोती, बन्द गले का कोट, टोपी माथे पर चन्दन का टीका—शान्त, सौम्य, निष्छल ! अपभ्रंश, भाषा विज्ञान से लेकर

कामायनी तक की लम्बी यात्रा से वे हमें गुजारते थे। ऐसा रसज्ञ आचार्य, जो छात्रों को चेतना के स्तर पर संतरित कराने को सामर्थ्य रखता हो, विरल हैं। एक बार कक्षा में नाम पुकारे जा रहे थे, मेरा नाम नहीं बोला गया और पं० जी ने धीरे से कह दिया कि शुल्क न दे सकने के कारण नाम काट दिए गए हैं। कक्षा समाप्त हुई तो वे धीरे से बोले प्रेमशंकर, इसके बाद मुझसे मिलना। मैं अपराधी-सा जाकर खड़ा हो गया—सिर झुकाए। पं० जी स्नेहसिक्त वाणी में बोले—पैसे नहीं थे तो बताया क्यों नहीं ? रुपये देते हुए बोले, लो फ़ीस जमा कर देना और मुझे आज भी याद है कृतज्ञता के कुछ आंसू उनके चरणों पर गिर पड़े थे···। गुरुद्वय पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा से हम सब घबड़ाते थे, पर जब बालिग हो गया तब से बराबर उनका अयाचित स्नेह पाता आया हूँ। प्रिंसिपल डा० यू० सी० नाग का आशंसापत्र संजोये हुए हूँ 'ही वुड बी एन एसेट टु एनी इन्स्टीट्यूशन दैट सेक्योर्स हिज सर्विसेज। प्रो० वी० एस० नारलिकर से पूना, सागर में भेंट हुई तो बड़े प्रेम से मिले। चुनाव जीतने वालों को सबसे ज्यादा शाबाशी डॉ० गोपाल त्रिपाठी से मिलती जो कभी-कभी मुझे प्यार से नेताजी भी कह दिया करते थे।

मुझे मालूम था कि जिन्दगी को अपने पैरों पर खड़े होना है, इसलिए छात्रवृत्ति तथा निःश्शुल्क शिक्षा के बावजूद कुछ प्रबंध करना था। प्रो० कन्हैयालाल वर्मा राजनीतिशास्त्र के मेरे अध्यापक थे, उनसे मिलकर ट्यूशन आदि की कोशिश की। पर, उन्होंने स्वयं इसका समाधान कर दिया। काशी में सदैव उनके परिवार का सदस्य बनकर रहा और उन्होंने मुझे आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त रक्खा। उनकी योग्य बेटी डॉ० मनोरमा जौहरी इस समय काशी विश्वविद्यालय में ही हैं। प्रो० मुकुटबिहारी लाल जी से हम सब काफ़ी डरते थे, वे उस समय राजनीतिशास्त्र के अध्यापक थे, प्रखर समाजवादी विचारों के व्यक्ति। एक दिन जब वे कक्षा में पहुंचे तो देखा आगे की दो-तीन कतारें खाली हैं, बोले क्या बात है ? थोड़ी देर तक चुप्पी फिर गन्नू पांडे (उस समय के हाकी के कप्तान, अब दिवगंत) बोले, 'सर कानों पर ज्यादा जोर पड़ता है'। प्रो० लाल थोड़ा मुस्कराए, फिर बोले, 'अच्छा, पर मैं क्या करूं मेरी आवाज़ ही तेज है।' आचार्य नरेन्द्रदेवजी कहा करते थे—प्रो० साहब को माइक की जरूरत नहीं······।

इतिहास की कक्षा में जब डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी आते तो सन्नाटा छा जाता—सब मंत्रमुग्ध से सुनते रहते। उनका व्यक्तित्व आकर्षक था और वे निश्चित ही जितनी देर हमारे बीच रहते एक सफल अध्यापक की तरह हमारी चेतना पर छाए रहते और जाने के बाद भी उनका प्रभाव बना रहता। बी० ए० में इतिहास में, प्रथम श्रेणी के अंक पाए थे और डा० साहब की बड़ी इच्छा थी कि उनके विषय में एम० ए० करूं, पर हिन्दी में मुझे छात्रवृत्ति मिल गई और मैं वहीं चला गया। जब एक बार वे सागर आए तो मुझे गले से लगा लिया, बोले ! तुम मेरे दूसरे बेटे हो। मध्यकालीन इतिहास डॉ० परमात्माशरण पढ़ाते थे—चुस्त कपड़ों में अलग से दीखनेवाले और बीच-बीच में उर्दू, फारसी से प्रमाण देते हुए। जब एक बार दिल्ली में उनसे मिला तो बोले—तुम सही शागिर्द हो, मुझे याद तो रक्खा।

काशी विश्वविद्यालय में चार साल बिड़ला हॉस्टल में कटे और मैंने अपना कमरा नं० ६८ नहीं बदला। संयोग कहिए कि सागर में मेरा क्वार्टर नं० भी ६८ है। मेरे

वार्डन थे डॉ० बी० एल० आत्रेय और उनके बेटे जगतप्रकाश मेरे अच्छे दोस्त। हम दोनों पत्रकारिता में दिलचस्पी रखते थे—मैं खबरें लिखता वे फोटो छपवाते। मेरे सुपरिन्टेन्डेन्ट श्री एस० एल० दर थे, जिन्हें मैं भाई साहब कहकर सम्बोधित करता था और उनका बहुत स्नेह पाया। एक बार मेरे यहाँ छिपकर हीटर पर हलुआ बनाया जा रहा था – भाई साहब ने सूंघ लिया, आए और धीरे से बोले—कविजी, हमें भी खिलाओ क्या माल बना है। गर्मी पड़ने लगती तो उनके घर से टेबिलफैन आ जाता। पैसों के मामले में अक्सर उन्हीं का सहारा होता। एम० ए० फाइनल की फीस जमा होनी थी, पैसे जुटा नहीं पाया, इधर अंतिम तिथि निकल गई। भाई साहब ने खुद जाकर फीस जमा की, नहीं तो एम० ए० होना भी कठिन था।

डॉ० रामअवध द्विवेदी और प्रो० बी० एल० साहनी हमारी अंग्रेजी की कक्षाएं लेते थे। जब डा० द्विवेदीजी की आँखों ने जवाब दे दिया, तब भी उनकी मेधा बराबर सक्रिय, सतेज थी और वे आखिरी समय तक सर्जनरत रहे। उनसे मुझे बहुत सहारा मिला। प्रो० साहनी कक्षा में घूम-घूम कर पढ़ाते और कई बार स्वयं में खो जाते थे—विहोल्ड हर सिंगिल इन द फील्ड··· द सन इज वार्म, द स्काई इज़ क्लियर······वे कई बार कहते और तब कविता का आशय हम तक पहुंचाते थे -इन्वाल्वड् टीचिंग की वे एक मिसाल थे। कामायनी का अंग्रेजी अनुवाद उनके मुंह से सुना था और उनके एकमात्र पुत्र श्री नरेन्द्र साहनी से मेरा ऐसा भाईचारा रहा है कि उनके परिवार का एक सदस्य जैसा ही हूँ।

काशी मेरा मातृपीठ रहा है पर मुझे यह भी गौरव है कि मैं एक राष्ट्रीय संस्था का छात्र रहा हूं। उन दिनों के मित्रों में कई आज भी मेरे निकट हैं—कवि नरेश मेहता और ठाकुर प्रसाद सिंह मुझसे सीनियर थे और नामवर सिंह, रामदरस मिश्र तथा शिवप्रसाद सिंह मुझसे बाद के। सहपाठियों में रामनरेश वर्मा काशी में ही हैं और डा० कणिका जी शांतिनिकेतन में तथा शिव सागर मिश्र दिल्ली में। महामना की पौत्री शीलाजी साथ पढ़ती थीं, पर उनके सरल स्वभाव के कारण हमें यह जानने में देर लगी कि वे पं० गोविन्द मालवीय की बेटी हैं। एस० टी० नरसिंह चारी तथा एम० राजेश्वरैय्या भी साथ थे, जो इस समय दक्षिण में हिन्दी विभागाध्यक्ष हैं। सहपाठियों में रत्नाकरजी के पौत्र रामकृष्ण थे और भाई मदनमूर्ति राय जो काशी में ही वकालत करते हैं। एम० ए० पूर्वार्द्ध, उत्तरार्द्ध की कक्षाएं उस समय साथ-साथ लगती थीं—डेढ़ सौ के लगभग छात्र-छात्राएं—काफी सौमनस्य पूर्ण वातावरण।

काशी का उन दिनों का जीवन बड़ा भरा-भरा था। शायद ही ऐसा पखवारा बीतता जब कोई कार्यक्रम न होता हो। संगीत की महफिलें जमतीं, कविसम्मेलन होते, नेताओं के भाषण और तरह-तरह के जलसे। एक बार की बात है कि कोई ऐसे नेता आने वाले थे जिनमें हमारी दिलचस्पी कम थी। अधिकारी चाहते थे कि विद्यार्थी अधिक से अधिक संख्या में उपस्थित हों। आखिर एक बुजुर्ग अध्यापक ने तरकीब चलाई—महिला छात्रावास को पहले सभास्थल पहुँचा दिया गया और थोड़ी देर में सब लोग उधर ही जा रहे थे। सामाजिक कार्यों में हमारी पीढ़ी के साथी हमेशा आगे रहते। लोहता शिविर में हजारों की संख्या में शरणार्थी आए हुए थे। हम सुबह ही वहां पहुंच जाते और दिन

भर उनकी देख-रेख करने के बाद रात को विश्वविद्यालय लौटते। साथ होते थे हमारे मान्य गुरुजन जिनमें प्रो० मुकुटविहारी लाल, प्रो० असरानी की याद मुझे आज भी है। बाढ़ आती तो हम, लोगों की मदद के लिए सबसे आगे होते और दंगों के समय शान्ति रैली निकालते। सामाजिक चेतना से भरी-पूरी हमारी जिन्दगी थी।

काशी में उन दिनों की सबसे बड़ी याद मुझे यही है कि अध्यापक और छात्रों के रिश्ते कितने मधुर थे। हम अपने अध्यापकों के प्रति आदर-मिश्रित भय रखते थे, फिर भी लगता था कि वे हमारे बहुत निकट हैं। हममें उनमें दूरी न थी और हमारे जीवन में उनकी गहरी दिलचस्पी थी। हम कभी भी उनके पास बेखटके आ-जा सकते थे—किसी पूर्वनिश्चित कार्यक्रम की ज़रूरत नहीं। उनका इतना सहारा न होता तो हममें से बहुतों की ज़िन्दगी कहीं बीच में ही लड़खड़ा भी सकती थी। वे हमें हर तरह का सहारा देते थे, आज तक देते आए हैं। उनका जीवन कई मायनों में हमारे लिए आदर्श था—सीधी-सादी जिन्दगी, साधनारत, ज्ञान-गरिमा को विनम्र भाव से लेते हुए, विद्यार्थियों के प्रति सहज ममतालु और उनमें से कइयों के पास अपने समृद्ध पुस्तक-संग्रह थे, क्योंकि उस जमाने में हैसियत के नए प्रतीक-कार, फ्रिज का चलन कम था···। पण्डिताई का बोझ वे सहज भाव से लेकर चलते थे और अहंकार उनसे दूर था पर उनका सात्विक स्वाभिमान अन्याय के विरोध में खड़ा हो सकता था, जिससे उनके गहरे आत्मविश्वास का पता चलता है। एक दृश्य याद आता है—लार्ड माउन्टबैटन काशी आ रहे थे और विश्वविद्यालय में उनका स्वागत था, पं० अमरनाथ झा उस दिन धोती पहने थे, शाल लपेटे हुए—माथे पर चन्दन का टीका। कुछ वाक्यों के बाद उन्होंने कहा कि अब मैं प्रोवाइसचांसलर से अनुरोध करूँगा कि वे मान्य अतिथि का परिचय दें···।

विश्वविद्यालय में उस समय बड़ी सक्रियता रहती थी छात्र, अध्यापक के रिश्ते लड़खड़ाए नहीं थे, उनमें निकट सम्बन्ध थे। एक बार मुसीबत में फँसा तो डा० राजवली पाण्डेय ने बचाया था। जब वे जबलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति हुए तब रीडर पद पर मेरी नियुक्ति की और मेरे वहाँ न जाने पर थोड़ा दुखी भी हुए। गुरुजनों से किताबें ले लेकर बी० ए०, एम० ए० किया और जब काशी में पी-एच० डी० की थीसिस टंकित हो रही थी तो पैसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने दिए थे···। यों तो सन् १९५० में गुरुवर आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी के स्नेह भरे आमंत्रण पर इधर की ओर चल पड़ा था पर शोध के दौरान बार-बार काशी भागता था। रहने खाने के लिए प्रो० साहनी का घर था और ढेर-सारे दोस्तों का सहारा। सन् १९५३—१९५४ में कोशिश की कि अपनी प्यारी काशी लौट सकूँ—पर नियुक्त होकर भी नियुक्तिपत्र नहीं पा सका और तब से कबीर मगहर में है—काशी की याद करते हुए···। मित्र कभी तारीफ करते हैं तो विनम्र भाव से कहता हूँ—काशी का गंगाजल काम आ रहा है···।

रीडर हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर

महामना मालवीय जी और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सुश्री सुमित्रा कुलकर्णी

पिछली सर्दियों में बहुत वर्षों के पश्चात् पुनः वाराणसी जाने का प्रसंग आया। प्रथम निमंत्रण पर ही मेरा मन फिर से काशी के दर्शन के लिये लालायित हो उठा और अनेक बाधाओं और बंधनों को छोड़ मैं दिल्ली की व्यस्तता से भाग निकली। बनारस एक ऐसा स्थल है जिसका आकर्षण संवरण करना कठिन हो जाता है।

जिस घड़ी स्टेशन पर उतरी मन अतीत की स्मृतियों में खो गया। वही पुरानी सड़कें, वही प्राचीन इमारतें, वही स्थान-स्थान पर मन्दिर। बीच-बीच में अवश्य नये चम-चमाते रंगों में घुले-पुते मकान मिलते रहे मगर दिमाग उनके अस्तित्व को पहचान ही नहीं पाया। दिल उन्हीं पुरानी जर्जरित अट्टालिकाओं को देख कर उस ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर तांगे की मन्द गति में विश्वविद्यालय के गुजरे दिनों के, स्वस्थ सुहावने निश्छल दिनों के भूले-बिसरे सपनों को बटोरने में लग गया। वर्तमान पीछे छूट गया।

एक सहृदय मित्र मुझे दोपहरी में गंगा दर्शन के लिये अत्यन्त आग्रह के साथ ले गये। वहां पर भी वही घाट, वैसे ही हर तरह के हर प्रान्त के लोग, वही चहल-पहल और वही चिर परिचित प्रवाह। हम नाव पर बैठे। जाड़े के दिन थे, गंगाजी के चौड़े पाट पर हल्की-हल्की धूप का स्पर्श बहुत सुखद प्रतीत हुआ। हमारी नाव नदी की निर्मल धारा पर धीरे-धीरे खिसक रही थी। मल्लाह हमें नया दर्शक समझकर एक-एक घाट का परिचय दे रहा था। मगर मेरा मन कह रहा था—यह चुप हो जाय तो अच्छा। शब्द भावना के उमड़ते प्रवाह को स्खलित करते थे। शीतल जल से मेरी उंगलियां खेल रही थीं और बीच-बीच में सुनहरी धूप उस श्वेत नील जलकणों को चमका देती थी। पार्श्व में नदी की कल-कल ध्वनि वातावरण को और गहरा बना रही थी। किनारे का कोलाहल हमसे पीछे छूट गया और मन सुरम्य पुण्यसलिला जाह्नवी के दर्शन से मुग्ध हो उठा। यों तो समस्त सृष्टि में अपार आकर्षण होता है, परन्तु जल में जो जीवंत अंश है वह प्रकृति के और किसी भी रूप में इतना सजीव नहीं होता। नदी का बहता पानी तो और भी नाचता-गाता और कभी गंभीर निनाद करता अत्यन्त मनमोहक होता है। उसके वशीकरण से मुक्त होना असम्भव है। नदी तो हमारी सनातन सभ्यता और संस्कृति का स्रोत है। उसी के दुकूल पर तो हमारी भारतीय सभ्यता विकसित हुई और नदी के जल के समान चिर निरंतर बदलते हुए भी प्राचीन तत्वों से जनमानस को प्लावित करती रही। आज भी नदी-योजनाएं ही हमारे राष्ट्र के उत्थान की केन्द्रबिन्दु हैं। मगर गंगाजी का पावन जल अपना अलग ही वैशिष्ट्य रखता है। वह मात्र पानी ही नहीं अमृत है। सदियों के भारतीय जनमानस का वह अविचल तीर्थधाम है। उस मोक्ष-कारी, तापहारी, वारिधारा में करोड़ों भारतीय अपने संताप और व्यथा धोकर अलौकिक तोष प्राप्त करते हैं। देश के कोने-कोने के यात्री इसके पावन स्पर्श के लिए एकत्र होते हैं। अपने समस्त भेदभाव,

एवं कल्मष गंगा में विसर्जित कर पूत होते हैं। यहीं पर अनादिकाल से मुनियों ने तपस्या की, आचार्य श्रेष्ठों ने शिष्यों को दर्शन और सांख्य का गूढ़ तत्व समझाया, यहीं पर अनेकों राजाधिराजों ने अपने मुकुट और शस्त्र छोड़, पदत्राणों का परित्याग कर, साधुवृत्ति से गंगाजी की आराधना की। इस जाह्नवी के तट पर भूतभावन भगवान शंकर ने अपने पीठस्थान काशी की स्थापना की जहाँ आदिकाल से ललितकला, साहित्य और सौन्दर्य के प्रसाधनों का सृजन होता रहा। एक ओर गंगा के किनारे की यह पवित्र नगरी मोक्षपुरी रही तो दूसरी ओर वह उस जमाने के युवक युवतियों के आमोद-प्रमोद का विलास स्थान भी रही।

गंगा का उज्ज्वल जल धीरे-धीरे मंथर गति से बह रहा है और तब लगता है अयाचित रूप से सब दुःखों, यातनाओं का यहां अंत हो जायेगा, हम मुक्त होंगे और पुनः भविष्य के लिये समाधान और शांति का पाथेय लेकर स्वस्थ चित्त दिन-प्रतिदिन के संघर्ष को सह लेंगे। कुछ ऐसे ही विचारों में डूबता-उतराता हुआ मन योग्य-अयोग्य और पाप-पुण्य का भेद खोज रहा था। तभी अनायास स्मरण हो आया इस पुण्य सलिला से परिचय कराने वाले मनीषी महामना का, जिन्होंने प्रथम दर्शन के कुछ क्षणों में ही मुझे सदा-सदा के लिये हमारे विश्वविद्यालय, काशी नगरी और गंगा के अपार अनुराग में बांध लिया।

३० वर्ष पहले मई महीने का झुलसता अपराह्न था। १९४६ में पूज्य बापूजी भंगी कालोनी दिल्ली में ठहरे थे। मैं मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण कर कालेज जाने के फिराक़ में बापूजी के साथ गर्मियों की छुट्टियां बिता रही थी।

बापूजी व्यक्ति-स्वातंत्र्य के परम हिमायती थे। हमारे परिवार के लिए बापूजी का निर्णय ही सर्वमान्य था। बापूजी स्पष्टतः कालेज की शिक्षा के विरोधी थे और मुझे सम्पूर्ण रूप से विदित था कि जब तक मेरे दादा हामी नहीं भरेंगे मुझे कभी कालेज नहीं भेजा जायेगा। मैं इसी चिन्ता में थी कि किस विनय, किस विनम्रता से बापूजी को राजी कर लूँ ताकि मैं बी० ए० पास कर सकूँ। किन्तु, प्रयत्न के सारे आसार उल्टे ही नजर आ रहे थे। मेरी बहनों ने कालेज के दुराग्रह को छोड़ दिया था, पर बापूजी को ज्ञात था कि मैं ही परिवार का अड़ियल टट्टू हूँ जो उनके सिद्धान्तों को और तर्क को अस्वीकार करती हूँ।

इस एक चिन्ता के अतिरिक्त दिन बड़े सुखमय थे। अचानक एक दिन सुना मालवीय जी अस्वस्थ हैं और बापूजी उनसे मिलने जा रहे हैं। मुझे भी आदेश हुआ कि बापूजी के साथ जाना है। मालवीय जी का नाम तो सुना था मगर उनकी महिमा से सर्वथा अनभिज्ञ थी। मेरे दादा के अनेकों मित्र थे, सोचा ये कोई विशेष महानुभाव होंगे जिनसे बापूजी मिलने जा रहे हैं। मुझे और कामधाम तो था नहीं मैं भी सहर्ष कौतूहलवश चली गयी। अब याद नहीं कि दिल्ली में किसके घर, किस पते पर गये थे, मगर वहाँ काफी भीड़ थी और देखा हमारी भंगी कालोनी की बारात के विपरीत वहाँ अनेक सज्जन चंदन एवं शिखा से सुशोभित विद्यमान हैं। गाड़ी से उतरने पर बापूजी ने मेरे कन्धे पर हाथ रखा और मुझे भी अन्दर बीमार के कमरे में ले गये। चेतना तो बड़ी ही

कुंठित थी मगर मालवीय जी की भव्य मूर्ति को देखकर अनायास ही अपनी क्षुद्रता की अनुभूति हो आई और किसी महामुनि के तेज की प्रतीति हुई और सहसा मैं गम्भीर वन गई। वापूजी ने झुक कर मालवीय जी का अभिनन्दन किया और बड़े प्रेम से उनसे वातें कीं। अपने सहज स्वभाव के अनुरूप कुछ मजाक करके मालवीय जी को हंसाया। मगर मेरी अवोध नजरें तो उस सुन्दर मुखाकृति पर ही लगी थीं। चाहने पर भी वहां से आंखों को हटा न सकी। अत्यन्त सौहार्द और आदर से दोनों वृद्ध मिले। क्या वातें हुई उसकी स्मृति नहीं है। मगर थोड़ी देर में वापूजी ने मेरा भी परिचय करवाय। और मेरे कान खींचते हुए मालवीय जी से शिकायत की कि ये नासमझ कालेज में पढ़ने की जिद्द कर रही है। तव वड़ी मीठी मुस्कान के साथ मधुर स्वर में काशी विश्वविद्यालय के प्रणेता ने कहा—···अगर वह चाहती है तो प्रयोग कर लेने दें। आपने आज तक अपने किसी बच्चे को मेरी संस्था में नहीं भेजा है। तो इसे (सुमित्रा को) मुझे सौंप दीजिये। मैं संभाल लूँगा।···

वात ही वात में मेरा भविष्य निर्वारित हो गया। दोनों वृद्धों में से एक ने भी यह जानने का प्रयत्न नहीं किया कि उनकी चर्चा के व्यक्ति को बनारस जाना मान्य है या नहीं। उस काल के युवक-युवतियों को ऐसे अनावश्यक प्रश्न पूछकर अपने गुरुजनों के निर्णय को जानने-समझने का या समय वर्वाद करने का हक था ही नहीं। और, मैं तो बड़े पुराने घराने की प्राचीन परिपाटी की उपज थी। उसमें वहस क्या और पूछताछ क्या करनी थी। निर्णय का पालन करना हीं निर्विवाद कर्तव्य था। बड़े बूढ़ों ने तय किया और मुझे बनारस भेजने का निर्णय निश्चित हो गया। भगवान् ने मेरे अंतर की प्रार्थना सुन ली और मेरे सिद्धान्त प्रखर पितामह ने मुझे महाविद्यालय में अभ्यास करने की अनुमति दे दी। कुछ हफ्तों में मेरे पिताजी ने मुझे बनारस के हिन्दू विश्वविद्यालय के महिला महाविद्यालय में भर्ती कर दिया। काशी में भी मालवीय जी के दर्शनार्थ हम उनके निवास स्थान पर गये और उनके आग्रहवश उन्हीं के साथ अतिशय स्वादिष्ट सुमधुर भोजन किया। यह था मेरा प्रथम परिचय विश्वविद्यालय के साथ और उत्तर भारत की आस्था व्यवस्था के साथ। उस क्षण से प्रीत की जिस रेशमी डोर ने मुझे उत्तर भारत के साथ बांधा था वह आज तक अक्षुण्ण है और उसका वन्धन निरन्तर प्रगाढ़ बनता जा रहा है।

उस काल के लोक समाज में यह प्रचलित था कि महामना मालवीयजी के द्वार पर गया याचक कभी खाली हाथ नहीं लौटा। उनकी महिमा थी कि प्रत्येक आगन्तुक की अभिलाषा को वे समझते और तृप्त करते थे। दूसरों के मुख से ये सुना है मगर अपने बारे में स्वानुभव से जानती हूँ कि मेरी अव्यक्त इच्छा को उन्होंने भाँप लिया और उसे परिपूर्ण किया और मेरे विकट दादा से मेरी रक्षा कर मुझे उच्च शिक्षा का अवसर दिया। अगर मालवीयजी उस दिन आग्रह पूर्वक मुझे बापूजी के साथ वार्ता करके काशी न ले गये होते तो शायद मेरा विद्याभ्यास अधूरा ही रह जाता और उच्च शिक्षा के सपने साकार न होते। उस दिन से काशी विश्वविद्यालय सदैव के लिए मेरे मन में—"मधुर मनोहर अतीव सुन्दर ये सर्व विद्या की राजधानी" बन गया और काशी नगरी देवलोक से अनुपम बनी और गंगा का यह किनारा परमधाम वन गया।

इसके पूर्व का इतिहास सुविदित है। मगर इस विश्वविद्यालय की स्थापना के संदर्भ में पंडित मदनमोहन मालवीय जी का त्याग अलौकिक था। १९१३-१४ के सम्पन्न काल में मालवीय जी इलाहाबाद में तीन-चार हजार रुपये माहवार की वकालत करते थे। उनका विशाल परिवार था और सभी के लालन पालन का दायित्व उन्हीं का था मगर कहा जाता है कि पहले मुस्लिम यूनिवर्सिटी की मांग आई और मंजूर हुई तो सर हारकोर्ट बटलर ने, जो कि वाइसराय की काउंसिल के शिक्षा सदस्य थे सुझाया कि हिन्दू यूनिवर्सिटी को भी मान्य कर लेना अनिवार्य है। मालवीय जी इस कठिन कार्यभार की सफलता के लिए तत्पर हो गये और तत्काल अपनी वकालत छोड़ दी। वह युग था भावना, भक्ति और श्रद्धा का। वचन पालन सहज दैनिक धर्म था। बनारस के लब्ध प्रतिष्ठित रईस शिवप्रसाद गुप्त ने मालवीय जी से अनुरोध किया कि वे बनारस में स्थिर होकर विश्वविद्यालय की स्थापना का काम करें और शिवप्रसाद गुप्त उनके व्यापक परिवार का पूरा भार निभायेंगे। सुनते हैं इस बारे में कोई लिखा पढ़ी या दस्तावेज नहीं बने। एक वणिक श्रेष्ठी ने वचन दिया और दूसरे ब्राह्मण श्रेष्ठ ने अपना सर्वस्व सरस्वती की आराधना-स्थापना में लगा दिया। मालवीय परिवार के शादी-ब्याह एवं अन्य कार्य सब निभते रहे। शिवप्रसाद गुप्त लगभग २००००)—सालाना खर्च देते रहे। १९३५ में ये दानवीर दिवंगत हुए तो अपनी वसीयत में लिखते गये कि जागीर की आय में से पहला खर्च मालवीय जी का निभेगा। १९४६ में महामना स्वर्गस्थ हुए तबतक बराबर ३१ वर्षों तक यह सिलसिला जारी रहा।

१९१४ में महाराजा बीकानेर बी०एच०यू० की कमिटी के प्रथम अध्यक्ष बने और मालवीय जी बने महामन्त्री। महामना ने जिस लगन से इस भव्य अभियान को उठाया और उसके लिए धनराशि एकत्रित की उसकी भी एक कहानी है। उन्होंने देश में आसेतु हिमांचल प्रवास किया और जगह-जगह से शिक्षाप्रेमी, देशप्रेमी और धर्मात्मा व्यक्तियों को दान देने के लिए प्रेरित किया। महाराज दरभंगा उस काल के श्रीमंतों के कुबेर कहलाते थे। महामना ने उन्हें अपना यजमान बनाया और एक डेढ़ वर्ष की छोटी अवधि में ३०-३५ लाख की बृहद् राशि एकत्र कर ली और हिन्दू युनिवर्सिटी की स्थापना मुस्लिम यूनिवर्सिटी से पहले हो गई।

लोगों को यह श्रद्धा भी थी कि जो कुछ भी चन्दा दिया जायेगा उसका सदुपयोग ही होगा उसके दुरुपयोग का तो सवाल ही नहीं उठता था। उस जमाने में इस तरह घूम-घूमकर ऐसी विशाल राशि एकत्रित करने के साहस को देखकर बापूजी ने महामना को 'प्रिंस अमंग बेगर्स' (याचकों के सरताज) कहकर वर्णित किया।

महामना जो भी काम करते उसमें एकाकार हो जाते। हिन्दू विश्वविद्यालय की एक-एक ईंट, पत्थर और रोड़े माटी पर उन्होंने व्यक्तिगत ध्यान दिया और इसके भव्य निर्माण कार्य को अपने जीवन काल में ही चरम सीमा पर लाकर समाप्त किया। यह भारत का पहला विश्वविद्यालय था जहां हर तरह के इंजीनियरिंग के अध्ययन की व्यवस्था की गई और भारतीय विद्यार्थियों को भी विज्ञान में शोध करने का अवसर मिला।

कई लोग यह गलत समझ बैठते हैं कि मालवीय जी रूढ़िग्रस्त सनातनी हिन्दू थे। मैं जहां तक समझती हूँ वे साम्प्रदायिकता से ऊपर एक ऋषि थे। उनके लिए सब जाति सब कौम एवं धर्म बराबर थे। परन्तु, साथ-साथ अपनी धर्मनिष्ठा में दृढ़ थे। किसी भी प्रकार की निम्न भावना से वे अछूते थे। उनके विशाल हृदय में सभी के लिए स्थान था सभी के लिए दया थी। कहीं पर भी विपत्ति आती, मानवीय या प्राकृतिक, वे दयावान दुखियों का दुःख दूर करने दौड़ पड़ते फिर चाहे बाढ़ आ जाय या भूकम्प या कोई निराधार अबला हो या निर्धन विद्यार्थी ही हो सबकी वे मदद करते, सबका संरक्षण करते। आधुनिक भारत की शिक्षा के विकास का बीज महामना मालवीय जी ने बोया और आज उस विशाल वृक्ष की पुष्ट शाखायें सर्वत्र प्रसृत हैं।

उनके गुणों का अन्त नहीं है मगर अन्त मे उनका एक विशेष पहलू उल्लेखनीय है। १९१९ के जलियावाला बाग के हत्याकांड और उसके बाद मार्शल ला के अमानुषिक अत्याचार के बाद जनता सहम-सी गई थी। उस नग्न पाशविक प्रदर्शन से देश स्तब्ध था। उसी समय सरकार ने उस काल के अफसरों के बचाव की दृष्टि से 'इंडेम्निटी बिल' भारतीय विधान परिषद में पेश किया। उस समय सदन की संख्या ६० थी और उसमें से ३४ मनोनीत और सरकारी पदाधिकारी सदस्य थे बाकी २६ जनता के चुने हुए प्रतिनिधि थे। इंडेम्निटी बिल का इरादा था कि अत्याचारों पर परदा डाले और अपराधी पदाधिकारी को दोषमुक्त करार दिया जाय। इस अवसर पर उस गम्भीर और खतरे के वातावरण में अपनी सुरक्षा की चिन्ता किए बिना मालवीय जी ने उस बिल का विरोध किया और सतत् छः घंटे भाषण दिया। ब्रिटिश साम्राज्य के चरम उत्कर्ष के वे दिन थे, मगर उन्होंने नागरिक स्वतंत्रता का विश्लेषण किया। नागरिक स्वातंत्र्य पर शायद ही इससे अच्छा विवेचन मिल पायेगा। अपनी वाकपटुता और तर्कमत्ता से उन्होंने भारतीय नागरिक के अधिकारों की घोषणा की और विरोधी वातावरण में भी सरकार को अपना बिल वापिस करने पर बाध्य किया। ऐसी निडरता और राष्ट्र भक्ति की तेजस्विता अद्वितीय थी। महामना किस पटुता से अपना निवेदन कर सकते थे इसका यह सर्वोत्तम उदाहरण था। वे हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, संस्कृत चारों भाषाओं के प्रकांड पंडित थे और बहुत ही सुन्दर वक्तृत्व देते थे। वाग्देवी की उन पर अनुकम्पा थी। बड़ी कुशलता से अपनी भाषा का सफल प्रयोग करते और अपना काम सिद्ध करते थे।

ऐसे विरल योगी ने काशी विश्वविद्यालय की स्थापना की उसकी प्राचीरें आज भी महामना का यशोगान कर रही हैं।

संसदसदस्य (राज्यसभा) नई दिल्ली

हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान के व्रती

पं० रमापति शुक्ल

महामना मालवीय जी के जन्म के पूव देश के प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम में हमारी पराजय हो चुकी थी। पराजय के पश्चात् विजित जाति में जो अवसाद उत्पन्न होता है उससे देश ग्रस्त था। मालवीय जी का बाल्यकाल उसी अवसाद की दशा में वीता। परन्तु, शीघ्र ही देश की तन्द्रा मिटी और वह अँगड़ाई लेने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में देश में जागृति के लक्षण दृष्टिगत होने लगे थे।

उस समय हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान तीनों ही सुषुप्तावस्था में थे। तीनों की अधोगति देखकर आंख में आँसू आए विना नहीं रहता था। विशेषत: अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाले विचारशील एवं स्वाभिमानी युवकों को अपने देश में इन तीनों की दुरवस्था देख कर बड़ा कष्ट होता था। मालवीय जी ने विद्यार्थी जीवन में ही इसका अनुभव किया और शीघ्र ही उन्होंने हिन्दू जाति की रक्षा एवं उसके उत्थान के लिए प्रयास आरंभ किया। १८८४ ई० में उन्होंने प्रयाग में केन्द्रीय हिन्दू समाज' की स्थापना की। इस संस्था के द्वारा हिन्दू संगठन और हिन्दू-धर्म के प्रचार का कार्य कई वर्षों तक चलता रहा। मालवीय जी का हिन्दू जाति-प्रेम धीरे-धीरे पनपता रहा और १८८७ ई० में भारतधर्म महामण्डल की स्थापना में मालवीय जी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा यद्यपि कुछ ही वर्षों में महामंडल के कार्यकर्ताओं से मतभेद हो जाने के कारण महामना उससे पृथक् हो गए। फिर भी उसके प्रति उनकी सहानुभूति बनी रही।

उन्होंने उसके पश्चात् सनातनधर्म-सभा की स्थापना की। यह संस्था हिन्दू धर्म की उन्नति के लिए वहुत ठोस कार्य कर रही थी परन्तु इसका क्षेत्र विशुद्ध धार्मिक एवं सामाजिक था। राजनीति के क्षेत्र में हिन्दू-हितों की रक्षा के लिए एक पृथक् संस्था की आवश्यकता थी। उसके लिए मालवीय जी ने हिन्दू महासभा' की स्थापना की।

मालवीय जी का हिन्दू धर्म संकुचित संप्रदाय नहीं था। वह एक परम उदार धर्म अर्थात् अनेक सम्प्रदायों का वृहत् संघ था जिसमें सनातनधर्मी, आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, सिक्ख, बौद्ध, जैन, पारसी इत्यादि सभी सम्मिलित थे। उसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था। यहां तक कि छुआछूत को भी वे हिन्दू धर्म के विरुद्ध मानते थें। यही कारण है कि कट्टर पंडितों के विरोध करते रहने पर भी मालवीय जी ने अन्त्यजों एवं अछूतों को रामनाम का मंत्र देकर अपनाया था। १९२८ ई० में. कलकत्ता, काशी, प्रयाग आदि कई स्थानों पर अछूतों को मंत्र दीक्षा देकर मालवीय जी ने उनमें यह विश्वास उत्पन्न किया था कि वे भी हिन्दू हैं और उन्हें भी सभी प्रकार के धार्मिक कृत्य करने का अधिकार है। उन्हें नहा धोकर मंदिर में जाने, देवता का दर्शन करने, पूजा करने और कथा श्रवण करने का पूरा अधिकार है।

हिन्दू धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए महामना ने १९३३ ई० में काशी में 'सनातन धर्म' नामक साप्ताहिक पत्र की शुरुआत की जिसके द्वारा हिन्दू-धर्म के व्यापक सिद्धान्तों के प्रचार के साथ-साथ गोरक्षा, गोसेवा आदि के प्रचार कार्य भी किए जाते थे। उसी समय उन्होंने लाहौर से दैनिक 'विश्ववंधु' के प्रकाशन को भी प्रोत्साहित किया। हिन्दू संगठन का कार्य करने वालों एवं शुद्धि आन्दोलन के कार्यकर्ताओं को महामना का सर्वदा समर्थन मिलता रहता था।

मालवीय जी को अपनी संस्कृति की रक्षा की विशेष चिन्ता रहती थी। १९०६ में हरिद्वार में ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना उन्हीं के प्रयास से हुई थी। हिन्दू-धर्म के अनुसार शिक्षा को आधुनिक बनाने के साथ-साथ अपनी संस्कृति के पोषण का यह उनका प्रथम प्रयास था। इसके पश्चात् उनके मन में एक विस्तृत संस्था स्थापित करने का विचार आया जिसने हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए उन्हें प्रेरित किया।

मालवीय जी का हिन्दू-जाति प्रेम उन अवसरों पर विशेष रुप से देखने में आता था जब हिन्दू-हितों की हानि होती थी। हिन्दुओं की भावनाओं को ठेस लगने वाले अंग्रेजी सरकार के अधिकारियों से, उन्होंने कई बार लोहा लिया था। १९१४ ई० में हरिद्वार में गंगा नहर के झगड़े में उन्होंने वाइसराय को बड़ा लंबा तार देकर अधिकारियों की धांधली का भंडाफोड़ किया था। फलतः उनकीं जीत हुई। १९२४ ई० में अर्धकुंभी के अवसर पर महामना ने संगम पर स्नान की मनाही के विरुद्ध सत्याग्रह किया था जिसमें पं० जवाहर लाल नेहरू उनके अनुयायी थे। उन्होंने सत्याग्रह का पहला पाठ मालवीय जी से ही पढ़ा था।

१९२७ में हरिद्वार के कुंभ के अवसर पर भी महामना ने हिन्दू-हितों की रक्षा के लिए वाइसराय के पास पत्र भेजा था जिसके फलस्वरूप एक पुल का व्यवहार करने की अंग्रेज अधिकारियों को अनुमति नहीं मिली। इस प्रकार जब-जब मालवीय जी ने हिन्दू हितों पर आघात होते देखा तब-तब अपने प्रभाव का उपयोग किया और वे हर बार सफल हुए।

हिन्दी की उन्नति के लिए बचपन से ही उनके हृदय में प्रेम था। वे प्रयाग में माघ मेले के अवसर पर प्रतिवर्ष सभाओं में हिन्दी में व्याख्यान देते थे जिससे उनकी वक्तृत्व शक्ति का विकास होता था। वे हिन्दी मे न केवल भाषण देते वरन् लिखने का भी अभ्यास करते थे। तत्कालीन परंपरा के अनुसार वे गद्य तो खड़ी बोली में लिखते थे परन्तु पद्य में ब्रजभाषा का प्रयोग करते थे। 'मकरंद' उपनाम से उन्होंने अनेक समस्यापूर्तियां लिखी थीं जिन्हें वे प्रायः भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की कवि-गोष्ठी मे भेजा करते थे। श्रृंगार रस की समस्या पूर्तियों के अतिरिक्त वे हास्य-रस की भी रचनाएं करते थे। इस प्रकार उनकी काव्य-प्रतिभा भी बचपन में ही प्रस्फुटित हुई थी।

उनके गद्य लेखन का विकास पत्रकारिता के साथ-साथ हुआ। जब उन्होंने 'हिन्दुस्तान' का संपादन आरंभ किया था तभी से उनकी गद्य-लेखन शैली निखरने लगी थी। १९०७ में उन्होंने 'अभ्युदय' का प्रकाशन किया परन्तु हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के कार्य में व्यस्त हो जाने के कारण उन्हें उसे छोड़ देना पड़ा।

हिन्दी के लिए मालवीय जी की अनेक अमूल्य सेवाएँ हैं जिनमें से केवल कुछ का ही उल्लेख इस छोटे से लेख में हो सकता है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से जब देवनागरी को कचहरियों में प्रवेश दिलाने का आन्दोलन आरंभ हुआ तब मालवीय जी ही उसके नेता चुने गये। पश्चिमोत्तर प्रदेश, आगरा व अवध (उत्तर प्रदेश) के तत्कालीन ले० गवर्नर सर एंटनी मेकडोनल्ड मालवीय जी की विद्वत्ता और उनकी हिन्दी के लिए की गई पैरवी से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कचहरियों में हिन्दी में अर्जियाँ लेने के लिए राजाज्ञा निकाल दी। बहुत से प्रभावशाली लोगों ने बड़ा विरोध किया परन्तु मैकडानल्ड महोदय ने किसी की नहीं सुनी और मालवीय जी का प्रयास सफल रहा।

हिन्दी का प्रचार-प्रसार करने के लिए एक अखिल भारतीय संस्था की आवश्यकता थी। अतः मालवीय जी की अध्यक्षता में काशी नागरी प्रचारिणी सभा के प्रांगण में प्रथम अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ और इसका प्रधान कार्यालय प्रयाग में रखने का निश्चय किया गया। यही हिन्दी साहित्य-सम्मेलन आज देश के कोने-कोने में हिन्दी का प्रचार प्रसार कर रहा है तथा अनेक हिन्दी-प्रचार की संस्थाओं को प्रोत्साहित कर रहा है। इसकी परीक्षाएं देश भर में व्यापक एवं लोकप्रिय हैं।

हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हिन्दी की सेवा के लिए ही हुई थी। आरंभ में तो यहाँ की सभी शिक्षा हिन्दी के माध्यम से होने वाली थी परन्तु तत्कालीन वाइसराय ने इसका विरोध किया। अतः मालवीय जी को कुछ वर्षों के लिए रुक जाना पड़ा। अन्ततः १९२२ ई० में एम० ए० में हिन्दी की पढ़ाई आरंभ हो गई और ऐडमिशन की परीक्षा में उत्तर लिखने का माध्यम विकल्प रूप से हिन्दी भी हो गई। धीरे-धीरे इंटर तक का माध्यम हिन्दी बन गई। परन्तु स्नातक कक्षाओं तक पहुँचने के लिए हिन्दी को स्वतंत्रता प्राप्ति तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। हिन्दी और हिन्दू के व्रती को हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता की सबसे अधिक चिन्ता थी। यही कारण है कि १८८६ ई० से ही मालवीय जी कांग्रेस के कर्णधार बन गए। जैसे जैसे कांग्रेस की नीति बदलती गई और वह पूर्ण स्वतंत्रता की ओर उन्मुख हुई वैसे-वैसे मालवीय जी भी स्वतंत्रता के यज्ञ में आहुति देते रहे। धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में कार्यरत रहते हुए भी उन्होंने राजनीति की उपेक्षा न की और देश के स्वतंत्रता-संग्राम में सर्वदा अग्रणी रहे। गोलमेज सभाओं से लेकर जेल-यात्रा करने में वे सर्वदा प्रथम पंक्ति में रहे। परन्तु, मालवीय जी का देश-प्रेम बड़ा ठोस और व्यवहारिक दृष्टि से सफल रहा। यही कारण है कि सरकारी क्षेत्रों में भी महामना मालवीय जी का बड़ा मान था।

मालवीय जी त्यागमूर्ति एवं करुणा के सागर थे। उनसे किसी देशवासी का दुःख नहीं देखा जाता था। जब चौरीचौरा काण्ड के १७१ अभियुक्तों को फाँसी का दंड सुनाया गया तब उनकी आत्मा दुःख से विचलित हो गई। उन्होंने बरसों से छोड़ी हुई वकालत का फिर से अध्ययन किया और इलाहाबाद हाई कोर्ट में पैरवी करके १५२ अभियुक्तों को फांसी के तख्ते से बचा लिय।।

हिन्दुओं पर जब-जब अत्याचार होता था तब तब मालवीय जी का हृदय महान् कष्ट का अनुभव करता था। मालवीय जी के हिन्दू-प्रेम की पराकाष्ठा उस समय देख कर सबको विस्मय हुआ जब नोआखाली में हिन्दुओं पर मुसलमानों ने भयंकर अत्याचार किया। उस दुःख से उनके प्राण ही निकल गए।

हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान के व्रती महामना मालवीय जी की विमल कीर्ति कश्मीर से कन्या कुमारी तक और करांची से कामरूप तक आज भी व्याप्त है। उनके समान यश विभिन्न क्षेत्रों में किसी दूसरे नेता को नहीं मिला। म.लवीय जी सच्चे अर्थों में आधुनिक ब्रह्मर्षि थे। उन्हें हमारी कोटि-कोटि श्रद्धांजलि अर्पित है।

सेवा निवृत्त प्राध्यापक, शिक्षा शास्त्र संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

महामना की आयुर्वेद निष्ठा

आचार्य प्रियव्रत शर्मा,

'आयुर्वेद-प्रेम' के बदले 'आयुर्वेद-निष्ठा' शब्द का प्रयोग जानबूझ कर कर रहा हूं क्योंकि महामना के हृदय में आयुर्वेद के प्रति जो भावना थी वह उससे व्यक्त नहीं हो पाती। पं० मदनमोहन मालवीय जन्म से ही भारतीय संस्कृति के वातावरण में पले थे। उनके पिता ने जहाँ उन्हें रामायण-महाभारत के पालने पर पाला था, वहां उनकी भगवती-प्रतिमर्ति जननी ने भक्ति-भजन के मंगलमय झूले पर झुलाया था। ऐसे वातावरण में पले वालक के हृदय में भारतीय आगम के प्रति आस्था तथा पुराण निगम के प्रति निष्ठा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। उनके घर-परिवार में वैद्यक का ही प्रवेश था, सब लोग आयुर्वेदीय औषधियों का ही प्रयोग आवश्यकता पड़ने पर करते थे। उस समय डाक्टरी चिकित्सा में ऐसे चमत्कारिक साधन भी तो नहीं थे। इसका प्रभाव महामना के जीवन पर स्थायी हो गया। उन्होने अनेक घातक अवस्थाओं में भी आयुर्वेद के अतिरिक्त किसी अन्य पद्धति की औषध का ग्रहण नहीं किया, यद्यपि अनेक विख्यात डाक्टरों की सेवा उन्हें सहज सुलभ थी।

प्राचीनता के पुजारी होते हुए भी मालवीय जी रुढ़िवादी कभी नहीं रहे यह उनके जीवन की विचित्र विरोधाभासी विशेषता थी, जो उन्हें तत्कालीन अन्य महापुरुषों से पृथक करती है। प्राचीनता की रक्षा करते हुए उसे नवीनता से परिपुष्ट कर युगानुरुप वनाने के आप पक्षपाती थे। आयुर्वेद के प्रति भी उनकी यही नीति थी। उनकी मान्यता थी कि चिकित्सा तो आयुर्वेद की रहे, किन्तु शल्य शास्त्र जो आयुर्वेद में लुप्त हो चुका है उसकी पूर्ति आधुनिक विज्ञान से की जाय। इसी सिद्धान्त पर अवलम्बित था उनका काशी हिन्दू विन्वविद्यालय का आयुर्वेदिक कालेज। कालेज से संबंधित सरसुन्दर लाल चिकित्सालय में चिकित्सा विभाग पूर्णतः आयुर्वेदीय था, सर्जरी विभाग आधुनिक डाक्टरों द्वारा संचालित था। इस कालेज का उद्देश्य ऐसे स्नातक तैयार करना था जो उत्तम कोटि के वैद्य होने के साथ-साथ एक दक्ष सर्जन भी हों, जिससे एक ओर आयुर्वेद के विलुप्त अंग की पूर्ति हो, तो दूसरी ओर ऐसे चिकित्सक तैयार हों जो जनता की सर्वांगीण सेवा कर सकें।

महामना मालवीय क्रान्तदर्शी महर्षि थे। वे ग्रामीण रुग्ण जनता की स्वास्थ्य-सेवा के लिए चिन्तित थे क्योंकि डाक्टर लोग बडे-वड़े शहरों में ही अपनी दुक.न खोलकर दरिद्र जनता का अर्थशोषण कर रहे थे, गांवों की ओर कोई झांकता तक न था। मिश्रित प्रणाली के स्नातकों के द्वारा यही कार्य वे संपन्न कराना चाहते थे। वे चाहते थे कि उभयत्र चिकित्सकों की ऐसी सेना संगठित हो जो सारे देश में फैलकर गांव-गांव में जाकर ग्रामवासिनी भारत माता की परिचर्या करे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की योजना जो देखेंगे उन्हें आश्चर्य होगा कि ६० वर्ष पूर्व मनीषी ने जिस समस्या और समाधान का आंकलन किया था वह आज भी ज्यो की त्यों राष्ट्र के समक्ष उपस्थित है। आयुर्वेद के सवंध में महामना का दूसरा सपना था प्राचीन-नवीन के समन्वय से एक राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति विकसित करने का। यह प्रश्न भी आज राष्ट्र के समक्ष उपस्थित है। यह ध्यान देने की वात है कि राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति के संदर्भ में आयुर्वेद का महत्त्व वह किसी

प्रकार कम करने के पक्ष में नहीं थे। आयुर्वेद को प्रधान स्थान देकर आधुनिक विज्ञान को पूरक के रुप में ही वह रखना चाहते थे और इसी आधार पर उनकी मौलिक योजना भी थी। आधुनिक विज्ञान को प्रमुखता देकर आयुर्वेद को अनुचर या अनुषंगी के रुप में रखना उन्हें कथमपि अभीष्ट न था। किन्तु इस दिशा में उन्हें शान्ति नहीं मिली। कालेज के पहले वैच से ही हड़तालों का जो सिलसिला चला सो चलता ही रहा। शायद आज स्वतंत्र भारत में यदि वह होते तो राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति की संरचना में आयुर्वेद को उचित स्थान दिला पाते।

महामना साक्षात् रूप से आयुर्वेद के व्यक्ति नहीं थे, किन्तु आयुर्वेद-निष्ठा के कारण धीरे-धीरे आयुर्वेद जगत् से उनका ऐसा घनिष्ठ संपर्क हो गया था कि वह उस परिवार के अभिन्न अंग ही नहीं वन गये थे वल्कि वैद्यों के आदरणीय नेता भी हो गये थे। १९२५ में जयपुर में जो निखिल भारतवर्षीय वैद्य सम्मेलन हुआ था उसके वे अध्यक्ष निर्वाचित हुए थे। उसी सम्मेलन में आयुर्वेदिक कालेज की योजना वनी थी और १९ ७ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में इस कालेज की स्थापना हुई। देश में यही प्रथम विश्वविद्यालय था जिसने आयुर्वेद को पाठ्य प्रणाली में स्थान दिया। तत्कालीन मूर्धन्य आयुर्वेद मनीषियों से आपका घनिष्ठ संपर्क था। महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन, आचार्य यादव जी त्रिकम जी, स्वामी लक्ष्मीराम, कैप्टेन श्रीनिवास मूर्त्ति आपके अत्यन्त सन्निकट थे। १९३५ में मालवीय जी ने इस विश्वविद्यालय में निखिल भारतवर्षीय वैद्य सम्मेलन का अधिवेशन कराया था। इन सब तथ्यों से स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद से उनका कितना गहरा स्नेह और उसके प्रति कितनी दृढ़ निष्ठा थी।

१९४६ में जब महामना का देहावसान हुआ, सारे देश के साथ आयुर्वेद जगत् शोकसागर में निमग्न हो गया। देश के सर्वोच्च आयुर्वेद-प्रतिष्ठान का संस्थापक अपना सपना साकार तो कर सका किन्तु उसे लक्ष्य तक पहुंचाने के पहले ही संसार छोड़ चुका। आज देश में राष्ट्रीय स्वास्थ्य योजना बन रही है, बहुत कुछ वन भी चुकी है। इसमें जब आयुर्वेद को समुचित स्थान प्राप्त होगा तभी महामना का संकल्प पूरा होगा और उन्हें शान्ति मिलेगी।

महामना महामानव थे। जो लोग उनके सान्निध्य में रह चुके हैं वे अपने को गौरवान्वित समझते हैं। धर्मनिष्ठ ब्राह्मण होते हुए भी दलित हरिजनों से उन्हें प्रेम था, उन्हें दीक्षित करते थे, उन्हें गले लगाते थे। ऐसे अनेक विरोधाभास हैं जो उन्हें महामानव से भी ऊपर ले जाते हैं :—

"अपाणिपादो जवनो गृहीता"

आज आयुर्वेद नेतृविहीन मंझधार में पड़ा है। राष्ट्र की संरचना में यह कहां किनारे लगेगा कहना कठिन है। ऐसे समय में महामना का स्मरण होना स्वाभाविक है। हीरक-जयन्ती के अवसर पर आयुर्वेदजगत् की ओर से सादर श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं। आपके आशीर्वाद से आयुर्वेद का पथ प्रशस्त होगा और प्रत्येक वैद्य को भारतमाता की सेवा का अवसर प्राप्त होगा।

आचार्य एवं अध्यक्ष, द्रव्यगुण विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

कुछ संस्मरण

डा० ब्रजमोहन

(१)

'पाँच वर्ष में आम फले, पच्चीस वर्ष में महुआ'

सामान्यतः, जब कोई माली किसी फल का पेड़ लगाता है तो यह अच्छी तरह समझ लेता है कि उसके फल वह स्वयं नहीं खा पायेगा, उसके बेटे, पोते खोयेंगे। ऐसे विरले ही होते हैं जो अपने लगाये हुए पौवे को अपने ही जीवन काल में पल्लवित, पुष्पित और फलित होते देख लेते हैं।

महामना मालवीय जी ऐसे ही महापुरुष थे। जो स्वप्न उन्होंने युवावस्था में देखा था, अपने ही जीवन काल में उसे साकार करके दिखा दिया। ऐसे व्यक्ति करोड़ों में एक-दो ही होते हैं और जीवन में एक ध्येय लेकर आते हैं। प्रातः स्मरणीय पं० मालवीय भी एक ध्येय लेकर ही प्रादुर्भूत हुए थे। आप के जन्म समय का वर्णन पं० सीता राम चतुर्वेदी ने वड़े ही मार्मिक शब्दों में किया है :

"प्रयाग में उस दिन कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। संझा फूल चुकी थी। लोग दिया वत्ती करके घरों में बैठे आग ताप रहे थे। उसी दिन सूर्यकुंड मुहल्ले में २५ दिसम्बर सन् १८६१ को पं० ब्रजनाथ व्यास जी के घर, पराधीन जन्मभूमि का दर्द लेकर, भूखे देशवासियों की पीड़ा लेकर; और धर्म का सच्चा प्रकाश लेकर सौभाग्यवती मूना देवी जी की गोद में सन्ध्या के ६ बजकर ५४ मिनट पर एक बालक उत्पन्न हुआ, जिसका नाम रक्खा गया मदन मोहन।"

—हीरक जयन्ती ग्रन्थ : पचहत्तर वर्ष पहले की बात है, पृ० ४

(२)

महामना का नाम तो मैं बचपन से सुनता आ रहा था। सन् १९३० से ३२ तक, जब मैं प्रथम बार इंग्लैंड गया था, मेरी बराबर यही लालसा रहती थी कि भारत लौट कर उनके हिन्दू विश्वविद्यालय की सेवा करूँ। इंग्लैण्ड से लौटने के कुछ ही महीने बाद, सन् १९३३ में मैंने प्रथम बार महामना के दर्शन किए। इतने महान व्यक्तित्व के साक्षात्कार का यह पहला ही अवसर था। जी में धुकुर-पुकुर हो रही थी। सोचता था : कोई भारी भरकम शरीर होगा, विशाल आकार होगा, बहुत थोड़े शब्दों में बात करते होंगे। किन्तु, कदाचित वे दोपहर का विश्राम करने जा रहे थे। अन्दर से निकल आए। जो वस्त्र वह शरीर पर धारण किए हुए थे, उसे कुर्ता भी कह सकते हैं, कमीज भी। जो वस्त्र नीचे पहने हुए थे, उसे बड़ी खींच-तान के साथ अलीगढ़-काट पाजामा

कहा जा सकता है। सामान्यतः, वह सिर पर पगड़ी बाँधते थे, किन्तु उस दिन उन्होंने न जाने कहाँ से एक टोपी मार दी थी !

मैंने कहा, हैं ! क्या यहीं पं० मालवीय हैं। इनमें तो कोई आडम्बर नहीं है, कोई गर्व नहीं है, कोई अहम्मन्यता भी दिखाई नहीं देती। मुझे पता था कि अब यह मध्य-दिवस के विश्राम के लिए जाने वाले हैं, अतः कठिनाई से दो-चार मिनट बात-चीत की। उन्होंने कहा कि 'कल सबेरे ७ बजे आओ और हमारे साथ टहलने चलो। तब विस्तार-पूर्वक बातें होंगी।'

अगले दिन मैं ७ बजे से कुछ पहले ही उनके बँगले पर पहुँच गया। उस समय मैंने उनका धवल वेष देखा। सफेद पगड़ी, सफेद अचकन, सफेद पाजामा—ऊपर से गौरांग। वास्तव में दिव्य मूर्ति थी। यह असम्भव था कि जो कोई उन्हें देखता, उनसे प्रभावित न होता।

हम लोग टहलने चल दिये। चलते समय अपने पुत्र पं० गोविन्द मालवीय से कह गए, 'तुम गाड़ी इंजीनियरिंग कॉलिज भेज देना।'

गोविन्द जी चाहते थे कि जहाँ भी महाराज थक जाँय, उन्हें तुरन्त गाड़ी मिल जाय। उन्होंने पूछा 'आप किस मार्ग से जाएँगे !'

महामना ने उत्तर दिया, 'हम किसी भी मार्ग से जाँय, तुम गाड़ी इंजीनियरिंग कॉलिज ही भेजना।'

हम लोग लगभग २ घंटे साथ रहे। मुझे डर लग रहा था : बड़े आदमी हैं, कहीं यह न समझें कि मैंने इनका बहुत समय ले लिया। अतएव, मैंने कई बार पूछा, "पंडित जी, अब मैं जाऊँ ?" किन्तु वे बराबर कहते गए, "क्या तुम्हें कहीं जाने की जल्दी है ?"

रास्ते भर पडित जी मुझ से मेरे गणित के शोध कार्य के विषय मे बड़ी जिज्ञासा से पूछते जाते थे। संसार में कौन-कौन से बड़े गणितज्ञ हैं ? किस-किस विश्वविद्यालय में गणितीय अनुसन्धान हो रहा है ? देश के कौन-कौन से गणित के शोध-कर्ता हैं जिनका विदेशों में भी कुछ नाम है ? आदि।

हम लोग वानस्पतिक उद्यान में से होकर चले। रास्ते भर लोग मिलते जाते थे। कोई विद्यार्थी मिलता था जो अपनी फीस जुटाने की कठिनाई बताता था। बड़े ध्यान से सुनते थे और उसकी समस्या का कोई न कोई हल निकालते थे।

कोई माली मिला। उसने आकर पैर छुए। तो उससे बोले, 'ऐसे नहीं, दूर से नमस्कार किया करो !' एक चाटुकार-प्रोफेसर मिले, उन्होंने झट से अपना छाता खोल कर पंडित जी पर लगा दिया और साथ-साथ चलने लगे। पंडित जी बोले 'यह क्या हरकत है ?' उन्होंने उत्तर दिया, 'महाराज, आपको धूप लग जायगी।' पंडित जी ने कहा, 'धूप का विचार होता तो मैं अपना छाता लेकर न चलता ?'

इतने मे लॉ कालिज के प्रिंसिपल मिले। उन्होंने तो बातों की ऐसी झड़ी लगा दी कि समाप्त होने में ही नहीं आ रही थी। "महाराज, और लॉ कॉलिजों में कक्षाओं

में लड़के पाँव घिसते हैं, सीटी बजाते हैं, चाक के टुकड़े फेंकते हैं। आपके कालिज में शान्ति रहती है। ···और कालिजों में हाजिरी के पश्चात् ही अधिकतर विद्यार्थी वाहर निकल जाते हैं, यहाँ अन्त समय तक कक्षा में बैठे रहते हैं"

मुझे बाद में पता चला कि इन वातों में बहुत अत्युक्ति थी!

होते होते हम लोग गायकवाड़ पुस्तकालय पहुँच गए जो उन दिनों तैयार हो रहा था। निचला तल बन चुका था। दुतल्ले का फ़र्श बन रहा था। ठेकेदार ने एक कोन में फ़र्श के परिरूप का नमूना बना रक्खा था। मुझसे पूछने लगे 'कहो, यह नमूना पसन्द है?

मुझे भला इन वातों का क्या ज्ञान था? मैंने कहा 'महाराज, मुझे तो अच्छा ही लगता है।' तब उन्होंने वारीकी से उस नमूने की आलोचना की। उससे मुझे पता चला कि वह छोटी से छोटी बातों पर इतना ध्यान देते थे।

हम लोग मूर्ति-शिल्प विभाग में पहुँचे। एक अध्यापक ने बड़े परिश्रम से गोस्वामी तुलसी दास की मूर्ति का नमूना तैयार कराया था, और अपनी समझ से उसमें उन्होंने अपनी सारी बुद्धि ख़र्च कर दी थी। वह सोच रहे थे कि हमें देखकर महामना उनकी पीठ ठोकेंगे।

(३)

महामना उक्त मूर्ति देखते ही झुंझला उठे। बोले 'यह तुमने गोस्वामी जी की मूर्ति वनाई है; या कोई भाँड बिठा रक्खा है? क्या महाराज की ऐसी शक्ल थी?' उक्त अध्यापक का दम ऊपर का ऊपर रह गया, नीचे का नीचे।

सन् १९३३ की ही बात है। विश्वविद्यालय में राजनीतिशास्त्र सम्मेलन हो रहा था। उद्घाटन भाषण देने के लिए पं० गोविन्द वल्लभ पन्त आए हुए थे। उनके हिन्दी के भाषण तो मैं कई बार सुन चुका था। उस बार उन्हें अंग्रेजी में बोलते सुना। उनकी सुष्ठ भाषा और वाकचातुरी पर मैं मुग्ध हो गया। उनके भाषण का सबसे सारगर्भित वाक्य यह था: लोगों को पता ही नहीं है कि हम लोग कितनी जल्दी स्वराज्य ले लेने वाले हैं! कदाचित पं० मालवीय का ७२ वाँ वर्ष चल रहा था। उनकी वक्तृताशक्ति क्षीण हो चुकी थी। वे दो चार वाक्य ही बोले किन्तु उन्हीं दो-चार वाक्यों से ही श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध कर दिया। एक वाक्य जो अब भी मेरे कानों में गूँज रहा है, कुछ इस प्रकार का था: "आज मैं देखता हूँ कि मेरे देश को इंग्लैंड के चरणों में झुकना पड़ रहा है।"

मैं सोचने लगा कि जब शक्ति क्षीण होने पर इनकी वाणी इतनी मर्मभेदी है तो जब यह अपनी वाक्शक्ति की पराकाष्ठा पर होंगे तो वास्तव में लाखों के हृदयों को स्पन्दित कर देते होंगे। कोई आश्चर्य नहीं जो वह 'मृदु-भाषी कहलाते थे।

सन् १९३४ में मैं विश्वविद्यालय में सेवा-युक्त हो गया। उसके ३-४ महीने बाद की बात है कि पं० ओंकार नाथ ठाकुर विश्वविद्यालय क्षेत्र में पधारे। शिवाजी हाल में उनका भाषण हुआ। संगीत विद्या पर वे कुछ ही मिनट बोलें होंगे कि चुप हो गए।

पं० मालवीय ने अध्यक्ष पद से कहा कि "हमें तो पंडित जी से लम्बे भाषण की अपेक्षा थी।"

पं० ओंकार नाथ : जब तक श्रोता हज़ारों की संख्या में उपस्थित न हों, मेरे मन में उभार नहीं आ पाता।

पं० मालवीय : आजकल छुट्टी के दिन हैं, बहुत से छात्र बाहर गए हुए हैं। किन्तु, आप यह समझ कर बोलिये कि हाल ठसाठस भरा हुआ है। मन में उभार आप से आप आ जाएगा।

इन शब्दों से पं० ओंकार नाथ को उत्प्रेरणा मिली और उन्होंने दुबारा अपना भाषण आरम्भ किया। भाषण देते समय वे गाना नहीं गाया करते थे। अतएव, गाना तो नहीं गाया, केवल आसावरी थाट के स्वरों को ही उच्चरित करके सुनाया। उसीमें श्रोता मन्त्र-मुग्ध हो गए। मैं सोचने लगा कि जब इनका स्वरोच्चारण इतना मधुर है तो जब ये गाते होंगे, तो वास्तव में सितम ढाते होंगे!

उससे दो-एक वर्ष के बाद की बात है। विश्वविद्यालय का दीक्षान्तोत्सव हो रहा था। मंच पर देश की दो सर्वोच्च विभूतियाँ—महात्मा गाँधी और महामना मालवीय-विराजमान थीं। ऐसे सुसंयोगों को देखने के लिए कदाचित देवता भी तरसते होंगे। महामना का आकार मध्यम था, महात्मा जी का ठिगना। महामना गौर वर्ण थे, महात्मा जी का रंग काफ़ी ढका हुआ था। महामना सिर से पैर तक अपने धवल वेष में सुशोभित हो रहे थे, महात्मा केवल जाँघिया पहने हुए थे।

महामना की आँखों में तेज था, वाणी मे ओज था, व्यक्तित्व में आकर्षण था। हज़ारों विद्यार्थियों की भीड़ में जब कोलाहल मचता था, वह मुँह पर एक उँगली रख देते थे और सारा शोर-सरापा शान्त हो जाता था।

महात्मा जी की आँखों में धधकती हुई ज्वाला और शीतल जल का विलक्षण सम्मिश्रण था। उनके (पोपले मुँह) की मधुर मुस्कान में इतना चुम्बकत्व था कि देश के लाखों नर-नारी उस पर न्योछावर हो जाते थे। उनकी दृष्टि तनी पैनी थी कि समुद्र की गहराई को भी भेद कर तली की थाह ले आती थी।

जब महामना कथा कहते थे, भक्त गण आत्म-विभोर हो जाते थे। महात्मा जी कहा करते थे कि "मन करता है कि मालवीय जी कथा कहते जायें और मैं सुनता जाऊँ।" जब वे धारा प्रवाह बोलते थे, ऐसा प्रतीत होता था मानो उनकी जिह्वा पर सरस्वती बैठी हुई हैं। उन्होंने भिक्षा-वृत्ति को कला का रूप दे दिया था और उसे पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। यही कारण था कि जब वे विश्वविद्यालय के लिए देश का दौरा करते थे, उनके भाषण के पश्चात शत्-शत् कंठों से यही ध्वनि निकलती थी कि—

फ़कीर कौम का आया है, झोलियाँ भर दो।

महात्मा जी वक्तृता नहीं देते थे, भाषण नहीं करते थे। वे तो इस प्रकार बोलते थे जैसे घर के बुज़ुर्ग सन्ध्या समय पीढ़े पर बैठ कर अपने बच्चों से बातें किया करते हैं।

रुक-रुक कर, एक-एक शब्द तोल तोल कर बोला करते थे। किन्तु, उनकी प्रत्येक बात हृदय को छूती चली जाती थी। यदि उनके प्रार्थना-प्रवचनों में शीतल, मन्द, समीर का सौरभ था तो उनकी राजनैतिक वार्ताओं में इतनी शक्ति थी कि देश के एक कोने से दूसरे कोने तक बवंडर उठा दे।

यदि महामना में लग्न थी, कर्मठता थी, अनुराग था, तो महात्मा में चरित्र-बल था, त्याग था, तपस्या थी।

उक्त दोनों महानुभावों की वाणी मानो मुखरित होकर कवि बच्चन के शब्दों में यों कह रही है :

महामना : मैं जीवन में अनुराग लिए फिरता हूँ।

महात्मा : शीतल वाणी में आग लिए फिरता हूँ।

उक्त समय महात्मा जी ने जो वक्तृता दी थीं, उसके दो-एक वाक्य इस प्रकार थे:

"जब मैं विश्वविद्यालय के प्रवेश-द्वार पर पहुँचा तो मैंने देखा कि अँग्रेज़ी में तो बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ था Banaras Hindu University किन्तु उसके नीचे हिन्दी में काफ़ी छोटे अक्षरों में लिखा हुआ था : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय*

"जब से मैं विश्वविद्यालय के परिक्षेत्र में घुसा हूँ, चारों ओर धड़ल्ले से अँग्रेज़ी ही सुनाई दे रही है। मैं चाहता हूँ कि कोई हिन्दी भी बोले। अरे, कोई उर्दू ही बोले! यहाँ तो फ़र्राटे की अँग्रेज़ी चल रही है......"

बातें तो छोटी-छोटी ही थीं, किन्तु एकाएक शब्द हृदय में घुसता चला जाता था क्योंकि महात्मा जी कंठ से नहीं, हृदय से बोलते थे।

(४)

मुझे वाराणसी में रहते ४२ वर्ष हो रहे हैं। इन बयालीस वर्षों के न जाने कितने संस्मरण मेरे जीवन से चिपके हुए हैं।

जब तक मालवीय जी का शरीर चलता रहा, वह और विश्वविद्यालय अभिन्न दिखाई देते थे। किन्तु, यह स्पष्ट होता जा रहा था कि अब शीघ्र ही उनकी शक्ति उन्हें जवाब देने लगेगी। अतएव, धीरे-धीरे उन्होंने सार्वजनिक कार्यक्रमों में भाग लेना कम कर दिया।

सन् १९३५ की बात है। एक सज्जन बहुत देर से उनसे आग्रह कर रहे थे कि वे उनके किसी सम्मेलन का उद्घाटन करें। मालवीय जी राज़ी नहीं हो रहे थे। जब वे किसी प्रकार पिंड छोड़ने को तैयार न हुए तो महामना ने कहा, "कुछ वर्ष रुको। जब

---

* महात्मा जी के जाने के बाद उक्त नाम-पटल में आवश्यक संशोधन कर दिया गया।

तुम ७४ वर्ष के होगे तब देखना कि तुम कितने कार्य-क्रमों का उद्घाटन करते हो।" इतना सुनकर उक्त सज्जन चल दिये।

सन् १९३६ में महामना जी की हीरक जयन्ती मनाई गई। पंडित जी कभी देश को और हिन्दू संस्कृति को नहीं भूलते थे। उक्त अवसर पर उन्होंने कहा :

"देश की दशा बड़ी बुरी हो गई है। हिन्दू धर्म भी असंघटित है। सारी जाति की दशा बुरी हो गई है। इस दुःख के उमड़ते हुए समुद्र में क्या मुझे मरने की फ़ुरसत है!

फिर अपने आप को सँभाल कर बोले :

"और यदि यह शरीर छूट भी जाय तो मैं मरूँगा नहीं।"

मालवीय जी के कंठ से हिन्दुत्व की आत्मा बोल रही थी।

सन् १९३६ की बात है। मालवीय जी ने एक वर्ष के लिए धार्मिक उत्सवों की व्यवस्था का भार मेरे ऊपर सौंपा था। जन्माष्टमी समीप थी। महामना ने मुझसे कहा कि "इस बार कोई ऐसा कार्यक्रम रक्खो कि लोग वर्षों याद रक्खें।"

मैं कई दिन तक सोचता रहा। तब एक बात समझ में आई। पं० जीवन शंकर याज्ञिक अँग्रेज़ी के अध्यापक थे और उनका कृष्णलीला का अच्छा अध्ययन था। मैंने उनसे प्रार्थना की कि 'रास-लीला' पर एक प्रवचन करें।

वे राजी हो गए। कार्यक्रम कई एक थे। अतः मैं उन्हें कुल पौन घंटे का समय ही दे पाया। कार्यक्रम आरम्भ होने ही वाला था कि मालवीय जी पधारे। आते ही याज्ञिक जी ने कहा, "महाराज, रास-लीला जैसे विषय पर कोई पौन घंटे में क्या कह पाएगा?"

महामना ने उत्तर दिया, "आप जितना चाहें, समय ले लें। और सारे कार्यक्रम रद्द कर दिये जायेंगें।"

प्रवचन आरम्भ हुआ। मैं दम साधे बैठा रहा। मेरी सारी आशाएं उसी प्रवचन पर केन्द्रित थीं। याज्ञिक जी लगभग डेढ़ घंटा बोले और हम सब आत्म-विभोर होकर बैठे रहे। जब प्रवचन समाप्त हुआ, मालवीय जी मंच पर पहुंच कर प्रवाचक से बोले, "कहते चले जाइये, रुक क्यों गये? ऐसे प्रवचन को तो हम दिन भर तन्मय होकर सुनते चले जायेंगे। कहते हैं कि जब शुकदेव जी ने रास-लीला का वर्णन किया था तो चन्द्रमा मन्त्र-मुग्ध होकर चलते-चलते रुक गया था। वास्तव में विषय ही ऐसा है। शुकदेव जी ने भी कदाचित इससे बढ़िया प्रवचन नहीं किया होगा!"

सुन कर मेरी बाँछें खिल गईं। वास्तव में उक्त प्रवचन चिरस्मरणीय था। उस दिन पहली बार समझ में आया कि कृष्ण जी की रास-लीला का रहस्य क्या था!

महामना को दिन रात विश्वविद्यालय की चिन्ता लगी रहती थी। एक बार विश्वविद्यालय कोर्ट की बैठक हो रही थी। काउंसिल के सदस्यों का चुनाव हो रहा था। किसी ने पं० हृदयनाथ कुंज़रु का नाम प्रस्तावित किया। दूसरी ओर से आवाज़ आई कि "कुंज़रू जी तो अफ़्रीका जा रहे हैं। वे काउंसिल की बैठकों में कैसे सम्मिलित होंगे?"

तुरत महामना ने उत्तर दिया, "अच्छा ही है। कुँज़रू जी अफ्रीका में भी इस विश्वविद्यालय के हित-साधन के उपाय सोचते रहेंगे।

पंडित जी कभी मेले, तमाशे आदि में नहीं जाते थे। और उस स्तर के व्यक्ति को न यह शोभा देता था, न उनके पास इतना समय था, न रुचि।

एक बार बिस्तर पर लेटे हुए थे। शरीर क्षीण होता जा रहा था। इलाहाबाद का कोई विद्यार्थी उनसे कह रहा था कि "पंडित जी, डा० अमरनाथ झा उस दिन कई लड़कों को लेकर ओथेलो नाटक देखने गए थे।"

महामना आश्चर्य-चकित रह गए। एक दम से उठ कर बैठ गए और बोले, "हूँ! क्या अमरनाथ नाटक देखने जाता है?"

वह लड़का सकपका गया, किन्तु बात बना कर बोला "बात यह है पंडित जी, कि ओथेलो नाटक उन लड़कों की पाठ-चर्या में था। उस नाटक की एक बारीक बात समझाने के लिए डा० झा लड़कों को ले गए थे।"

महामना के मुँह से सन्तोष की सांस निकली। उन्होंने कहा, "तो ठीक है।" और लम्बे-लम्बे लेट गए।

महामना स्वभाव से बहुत ही सन्तुलित थे। उन्हें कदाचित ही कभी क्रोध आता हो। जो कोई भी उनके पास जाता था, प्रायः सन्तुष्ट होकर ही लौटता था। कई बार ऐसा अवसर आया कि मैं उनके पास कोई याचना लेकर गया जिसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया। किन्तु, अपनी अस्वीकृति भी वे ऐसे मीठे शब्दों में व्यक्त करते थे कि प्रार्थी को उनकी अस्वीकृति भी कभी बुरी नहीं लगती थी!

जो आशाएँ लेकर मैं वाराणसी आया था, वे पूरी न हुईं। मैं यह सोचता था कि उनके निकट पहुँच कर उनकी सेवा किया करूँगा, किन्तु बड़े आदमियों के पास कोई समय ऐसा होता ही नहीं जिसे वे अपना कह सकें। उनके पास भी वही चौबीस घंटे होते हैं जो सामान्य प्राणियों के पास।

बहुत बार मैं मालवीय जी के बँगले पर जाता था किन्तु वे कभी राजनीतिज्ञों से घिरे रहते थे, कभी विश्वविद्यालय के कर्मचारियों से, कभी कुटुम्ब के सदस्यों से। किन्तु जब कभी उनके पास मेरा नाम पहुँच जाता था, वे कृपा करके एक या दो मिनट के लिए मुझे बुला अवश्य लेते थे। साधारणतः दूर से दर्शन ही हो पाते थे, या एक या दो मिनट बात चीत।

महामना के अन्तिम दिन बड़े कष्ट में बीते। शारीरिक कष्ट के अतिरिक्त उन्हें देश की चिन्ता खाए जाती थी। नवम्बर ४६ का महीना आ गया, और यह स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि उनके महाप्रयाण में बहुत देर नहीं है। अधिकतर सवेरे और सन्ध्या के समय उनके बँगले पर विश्वविद्यालय के प्रोफेसरों और पंडितों का जमघट लगा रहता था—यह लोक-विश्वास है कि महापुरुषों का निर्वाण अधिकतर 'सन्धिवेला' में ही हुआ करता है।

१२ 'नवम्बर' ४६ को अपराह्न में महामना ब्रह्मलीन हो गये। उनकी शव-यात्रा में कदाचित दो लाख व्यक्तियों ने योग दिया। मणिकर्णिका घाट पर, उसके आस-पास की नावों पर, मकानों के छज्जों, वारजों और छतों पर—कहीं पर तिल धरने का स्थान नहीं था। चारों ओर, जिधर दृष्टि जाती थी, मुंड ही मुंड दिखाई देते थे, मानों सारा वाराणसी मणिकर्णिका घाट पर एकत्र हो गया था।

महामना काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अधिष्ठाता ही नहीं थे—वे उसके प्राण थे, उसकी आत्मा थे, उसकी उत्प्रेरणा शक्ति थे।

एक ही व्यक्ति ने अपनी लगन और तपस्या से किसी महान संस्था को जन्म ही न दिया हो, उसका भरण-पोषण भी किया हो—ऐसा ज्वलन्त उदाहरण अन्यत्र मिलना कठिन है।

भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष गणित विभाग एवं आचार्य, सेंट्रल हिन्दू कॉलिज,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

महामना पंडित मदन मोहन मालवीय

श्री शिवनन्दन लाल दर

सन् १८५७ के विप्लव के ४ वर्ष वाद ही महामनाजी का जन्म २५ दिसम्बर १८६१ ई० को इलाहाबाद में हुआ था। भारत उस समय पराधीन था। भारतीय संस्कृति और भारतीयता हर एक क्षेत्र में विनाश के कगार पर पहुँच चुकी थी। ऐसे समय में इस महापुरुष का प्रादुर्भाव हुआ। संसार में जब भी ऐसे भयंकर समय आते हैं तब कोई न कोई महापुरुष जन्म लेकर हमारा मार्गदर्शन करता है। महामना मालवीय जी उनमें से एक थे।

महामना ने एक अत्यन्त निर्धन ब्राह्मण परिवार में जन्म लिया था। इनके पिता पं० बृजनाथ जी रामायण तथा श्रीमद्भागवत के विख्यात कथावाचक थे। महामना की प्रारम्भिक शिक्षा ५ वर्ष की अवस्था में एक संस्कृत पाठशाला में प्रारम्भ हुई जहां से वे जिला स्कूल में भरती हुए। परन्तु, इसके उपरान्त उनके अंग्रेजी पढ़ने की समस्या उपस्थित हुई और इसके लिए उस निर्धन परिवार के पास इतना धन नहीं था कि अंग्रेजी में महामनाजी शिक्षा पा सकें। उस समय उनकी माता श्रीमती मूना देवी ने इसका भार उठाया और अपने आभूषण गिरवी रखकर महामनाजी को अंग्रेजी स्कूल में भरती किया। वहाँ शिक्षा लेने के बाद उन्होंने म्योर सेन्ट्रल कालेज इलाहाबाद से बी० ए० पास किया, जहां उन्होंने सस्कृत के प्राध्यापक पं० आदित्य राम भट्टाचार्य को अपना गुरू माना। महामनाजी इसके उपरान्त एम० ए० पढ़ना चाहते थे परन्तु परिस्थितियों ने उनको बाध्य किया कि वे कुछ नौकरी ढूँढ़ें और परिवार का भरण-पोषण करें। कभी-कभी विनोद में महामना जब विश्वविद्यालय में कुलपति थे, तब कहा करते थे कि विश्वविद्यालय आनरेरी डाक्टरेट तो प्रदान करता है, क्या आनरेरी एम० ए० की डिग्री प्रदान नहीं कर सकता ? महामना ने अपना जीवन एक अध्यापक के रूप में प्रारम्भ किया परन्तु उनका मन देश सेवा और समाज सेवा में हमेशा से ही लगा था, अतएव वे बहुत दिनों तक अध्यापक के रूप में कार्य नहीं कर सके। सन् १८८६ में सबसे पहले उन्होंने कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लिया और उसमें जो भाषण दिया उससे कांग्रेस अध्यक्ष तथा सब लोग अत्यन्त प्रभावित हुए। कलकत्ता कांग्रेस से लौटने के बाद राजा रामपाल सिंह ने उनको अपने साप्ताहिक हिन्दू समाचारपत्र 'हिन्दुस्तान' का सम्पादक नियुक्त कर लिया। महामना अपने सिद्धांतों के बड़े पक्के थे। उस समय राजा महाराजाओं में मदिरा पान का आम चलन था। मालवीयजी ने महाराजा साहब से कह दिया था कि मैं इस शर्त पर नौकरी कर सकता हूं कि जब आपने मदिरा पान किया हो मुझे नहीं बुलायेंगे। कालान्तर में एक दिन राजा साहब ने रात्रि को भोजनोपरान्त मालवीय जी को बुलाया। उनकी पूरी बात सुनकर लौटते ही महामना ने त्यागपत्र लिख कर भेज दिया। राजा साहब ने बहुत माफी मांगी और मालवीय जी से अनुरोध किया कि

वे सम्पादकन का काम करते रहें, परन्तु उन्होंने उसे नहीं स्वीकारा। मालवीय जी के प्रति राजा साहब के हृदय में इतना आदर था कि काम छोड़ देने के बाद भी वे जब तक जिन्दा रहे १००) रु० मासिक मालवीय जी को देते रहे। इसके उपरान्त मालवीय जी ने सन् १८९१ में एल० एल० बी० परीक्षा पास की। इसके पहले इलाहाबाद हाईकोर्ट की प्लीडरशिप परीक्षा भी वे पास कर चुके थे।

महामना ने सन् १८८४ में वकालत प्रारम्भ कर सन् १९०९ तक वकालत की। अपने वकालत के समय में वे देश के प्रमुख वकीलों में थे, परन्तु उनका मन देश सेवा और समाज सेवा में ही लगा रहता था। उस समय जब मालवीय जी देश सेवा और समाज-सेवा में व्यस्त होते थे और उनके पास मुकदमे आते तो वे अपने मुकदमे दूसरे वकीलों के पास भेज दिया करते थे। उन्होंने कचहरी में हिन्दी और देवनागरी लिपि के प्रयोग के लिए संघर्ष किया जो करीब-करीब ३ वर्षों तक चला। इन तीन वर्षों में वकालत बिल्कुल बन्द रही। उन्होने सन् १९०९ में वकालत से सन्यास ले लिया था पर सन् १९२२ में एकबार पुनः उन्हें वकील के रूप में आना पड़ा। गांधीजी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ किया जो बहुत ही जोरों पर था। उसी संदर्भ में जो चौरीचौरा काण्ड हुआ उसके कारण मुकदमा चला। उस मुकदमें में जज साहब के यहां से करीब १७५ आदमियों को फांसी की सजा दे दी गई। अपील में मालवीय जी वकील की हैसियत से उतरे और १५० आदमियों को फांसी के फन्दे से बचा लिया। मालवीय जी सन् १८८६ से १९३६ तक बराबर कांग्रेस के अधिवेशनों में सम्मिलित होते रहे और इस बीच ४ बार सन् १९०९, १९१८, १९३२ और १९३३ कांग्रेस के अध्यक्ष नियुक्त हुए। सन् १९३३ के अधिवेशन में मालवीय जी अध्यक्षता न कर सके; क्योंकि इन दिनों वे जेल में थे। कांग्रेस अधिवेशनों में वे विशेषतः देश की राजनीतिक दुरवस्था, जनता की निर्धनता जैसे मसालों पर जोर देते थे। देश की राजसेवा में भारतीयों के बजाय विलायत के ब्रिटिश आफिसरों की नियुक्ति के वे सख्त खिलाफ थे। कांग्रेस की उन्होंने बहुमूल्य सेवा की। पट्टाभिरमैया ने अपनी पुस्तक "हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस" में लिखा है कि सन् १९३२ के अन्धकार के दिनों में :

"In all moments of doubts and difficulties it was to him that the Congress workers turned and were never disappointed."

महामनाजी कांग्रेस के बड़े भारी समर्थकों में थे, परन्तु इसके साथ-साथ उन्होंने हिन्दू महासभा में भी बहुत बड़ा काम किया। वे हिन्दू महासभा के जन्मदाता नहीं थे परन्तु कई वर्षों तक इसका नेतृत्व करते रहे। यद्यपि वे हिन्दू महासभा का नेतृत्व करते थे, परन्तु उनके मन में कदापि भावना नहीं थी कि इसकी स्थापना मुस्लिम-समाज के विरोध में की गई है। उनकी दृष्टि में उसका अभिप्राय यह था कि ब्रिटिश सरकार की "फूट डालो और राज्य करो" की नीति के विरोध के लिए वह एक संगठन सिद्ध हो। मालवीय जी सन् १९०३ में प्राविन्सियल लेजिस्लेटिव कौंसिल के तथा सन् १९०९ में इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य रहे। यहां पर अपनी

ओजस्वी वक्तृता के कारण उन्होंने सबको प्रभावित किया। भारतीय नागरिकों को ब्रिटिश उपनिवेशों में मजदूरों के रूप में भेजने का वे सदा विरोध करते रहे। सन् १९१७ में यह प्रथा समाप्त हुई। मालवीय जी औद्योगिक विकास के बहुत पक्षपाती थे तथा सन् १९१६ में वे इंडियन इन्डस्ट्रियल कमेटी के सदस्य नियुक्त हुए। उन्होंने मिनट्स आफ डिसेन्ट में बहुत महत्वपूर्ण सुझाव दिया था। उनमें से एक यह था कि इम्पीरियल पालिटेकनिक इन्स्टीट्यूट की स्थापना होनी चाहिए जो भारत में विज्ञान और टेक्नालॉजी की उच्चतम शिक्षा प्रदान करे। सन् १९२० में गांधी जी का सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ हो जाने के बाद मालवीय जी इंडियन लेजिस्लेटिव कांउसिल के चुनाव (सन् १९२१) से विरत रहे, परन्तु प्रान्तीय लेजिस्लेटिव कांउसिल के सदस्य सन् १९२४-३० तक वने रहे। वाद में, गांधी जी द्वारा नमक सत्याग्रह प्रारम्भ करने के साथ ही उन्होंने वहां की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया।

सन् १९३१ में राउन्ड टेविल कान्फरेन्स लंदन में हुई थी। उसमें मालवीय जी विशेष रूप से आमंत्रित थे, परन्तु वहां से वे विल्कुल निराश तथा असंतुष्ट होकर लौटे थे।

शिक्षा-क्षेत्र में मालवीय जी की अमर सेवायें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में विद्यमान हैं। सन् १९१६ में उन्होंने इस महान विश्वविद्यालय की स्थापना की। उस समय उनके सहयोगी थे: एनीवेसेन्ट, महाराज दरभंगा तथा महाराज काशी नरेश। जिस समय विश्वविद्यालय का विल सरकार के सामने स्वीकृति के लिए आया तो सरकार के शिक्षा सचिव ने बहुत ही व्यंग पूर्वक कहा कि विश्वविद्यालय की स्थापना कैसे हो सकती है जवकि कोई विद्यालय ही नहीं है। मालवीय जी पहले विद्यालय स्थापित करें तब विश्वविद्यालय वनाया जा सकता है। मालवीय जी के सामने एक कठिन समस्या पैदा हो गई परन्तु उस समय महान् देवी डा० एनी बेसेन्ट ने तुरन्त मालवीय जी से कहा कि "आप क्यों चिन्तित हैं! देश का पुराना और विख्यात सेन्ट्रल हिन्दू कालेज जो सन् १८९६ से चल रहा है, उसे मैं आपके विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए अर्पित करती हूं"। इतना ही नहीं, उन्होने सेन्ट्रल हिन्दू कालेज को अर्पित करते हुए पचास हजार रुपये का चेक लिफाफे में करके मालवीय जी को दे दिया।

सन् १९११ में मालवीय जी ने विश्वविद्यालय के लिए एक करोड़ की अपील निकाली और देश भर में घूम-घूम कर रुपया जमा किया। जब इस विश्वविद्यालय की नींव पड़ी तब तक वे केवल ३५ लाख रूपये जमा कर पाये थे। मालवीय जी बहुत ही आदर्शवादी थे और उस आदर्शवादिता के साथ-साथ वस्तुस्थिति को भी हमेशा ध्यान में रखते थे। जब मालवीय जी ने एक करोड़ की अपील निकाली तब बहुत से नेता, यहां तक कि गोखले जी ने भी इसे अव्यवहारिक समझा, परन्तु मालवीय जी ने सन् १९३९ तक एक करोड़ पचपन लाख रूपये जमा करके दिखा दिया। यह उनके आकर्षक व्यक्तित्व का चमत्कार था और था उनका तेज, कि जहां भी वे मांगने गये वहां उनको कोई 'ना' नहीं कर सका। यदि किसी ने ना भी किया तो उससे भी वो कुछ लेकर ही लौटे। मालवीय जी इस विश्वविद्यालय के सन् १९१९ से १९३८ तक कुलपति रहे। इसके उपरान्त रुग्ण शरीर

हो जाने के कारण उन्होंने अपने योग्य उत्तराधिकारी डा० राधाकृष्णन् को विश्वविद्यालय की बागडोर सौंप कर अवकाश ले लिया और स्वयं विश्वविद्यालय में रेक्टर के रूप में मृत्यु पर्यन्त बने रहे। मालवील जी हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं के महान् वक्ता थे। हिन्दी और देवनागरी लिपि के लिए वे सदैव संघर्ष करते रहे, परन्तु उर्दू के वे विरोधी नहीं थे। इतना ही नहीं वे कहा करते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू अवश्य सीखनी चाहिए। जब उनके पुत्र श्री गोविन्द मालवीय और वे स्वयम् जेल में थे तो मालवीय जी गोविन्दजी को उर्दू पढ़ाया करते थे। मालवीय जी वर्णाश्रम धर्म के मानने वाले थे, परन्तु देश और समाज की बदलती हुई परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए वे अपने को भी बदलने को तैयार रहते थे। जब अछूतोद्धार हेतु गांधी जी का आंदोलन शुरू हुआ तो उन्होंने उसका समर्थन किया। उन्होंने अछूतों को मंदिर प्रवेश की अनुमति दी। शुद्धि आन्दोलन का भी उन्होंने समर्थन किया था। उन्होंने सदैव समाज में हिन्दू स्त्री के उत्थान के लिए प्रयास किया। राजकुमारी अमृत कौर ने एक जगह लिखा है:

"I was specially drawn to him by his indignation at the many inabilities from which Indian women suffered.

मालवीय जी को हिन्दू धर्म तथा भारतीय पुरातन संस्कृति अत्यन्त प्रिय थी। भागवत तथा गीता वे नित्य पढ़ा करते थे। उन्होंने अपना जीवन भी उसी के अनुरूप बनाने का प्रयास किया। शुद्धता, सत्यता, सहिष्णुता और दूसरों के हित के लिए वे सदैव तत्पर रहे। उनकी सच्चाई और सरलता तथा स्वतंत्रता संग्राम के योगदान की तुलना केवल महात्मा गांधी से ही हो सकती है। मालवीय जी १९१४ से आल इंडिया सेवा समिति के सदस्य थे जिस पर वे १९४६ तक बने रहे। सी० एम० एन्ड्रूज ने बिल्कुल ठीक ही कहा है:

No one, not even, Mahatma Gandhi himself is dearer to the vast majority of the Hindu public. He has also a great record of devotionto the public national sevice, which places him very high indeed among those Indian leaders who are still living in our times.

मालवीय जी प्रत्येक व्यक्ति से अत्यधिक सहृदयता एवं सरलता से मिलते थे। उनका द्वार प्रत्येक के लिए हर समय खुला रहता था। कोई विद्यार्थी जब भी उनके पास सहायता के लिए गया, वह निराश होकर नहीं लौटा। वे सादा जीवन और उच्च विचार के जीते जागते उदाहरण थे। परन्तु यह सब होते हुए भी अपने सिद्धान्तों के वे बड़े पक्के और दृढ़ थे। सविनय अवज्ञा आन्दोलन में महात्मा गांधी का साथ देते हुए जेल गये और काँग्रेस में सदैव काम किया। महात्मा गांधी जी से स्पष्ट रूप से स्कूल, कालेज के बहिष्कार के प्रश्न पर और विदेशी कपड़ों को जलाने के प्रश्न पर उनका मतभेद था।

महात्माजी महामनाजी को बहुत मानते थे। एक जगह उन्होंने कहा है कि जब वे दक्षिणी अफ्रीका से लौटकर भारत में अपना राजनीतिक कार्य विस्तृत करना चाहते थे तो उन्होंने चारो ओर देखा कि वे किसको अपना राजनीतिक गुरु बना सकते हैं। वे गोखले के पास गये और उन्हें पाया कि वे हिमालय से भी ऊँचे हैं। इतने ऊँचें शिखर पर चढ़ना उनके लिए संभव नहीं है। वे तिलक के पास गये और देखा कि वे प्रशान्त सागर की तरह अत्यन्त गहरे हैं और इतनी गहराई तक जाना मुमकिन नहीं है। परन्तु जब वे मालवीय जी के पास गये तो पाया कि वे गंगा की धारा के समान निर्मल हैं, जो सहज ही सबको समान रूप से सुगम है, जिसमें सभी स्नान कर सकते हैं।

विश्वकवि रवीन्द्र नाथ टैगोर के इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है—

"Your clarion call has awakened many parts of the country and devoted heroes are gathering round you. May your exhortations touch the heart of everybody and stir him to action"

अवकाश प्राप्त कुलसचिव, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
निवास-कमच्छा, वराणसी।

———

महामना मालवीय जी की महानता के कुछ अविस्मरणीय चित्र

स्व० डॉ० आर० एस० चौधरी

सन् १९३१ में बी०एच०यू० के एग्रीकल्चर विभाग में एम०एस-सी० (कृषि) वाट० के लिए पहली भरती शुरू हुई। उन अभ्यर्थियों में एक व्यक्ति पश्चिमोत्तर प्रान्त के अच्छे अंकों से बी०एस-सी० (कृषि) उत्तीर्ण थे। खादी की धोती, ख दी का कुर्ता, बगल में पोटली और सर पर अंगोछा से सुशोभित। चूँकि पढ़ने-लिखने में अच्छे थे, अस्तु प्रवेश में कोई दिक्कत नहीं हुई। उनके साथ समस्याएँ दूसरे प्रकार की थीं, जिनमें सर्वप्रथम था पैसे का अभाव। दाखिला तो हो गया पर भोजन, आवास एवं कालेज के फीस की समस्या का समाधान नहीं हो सका। इस कठिन परिस्थिति में भी उक्त महाशय के पास एक अमूल्य सम्पत्ति थी। वे काम के बड़े धनी थे।

उन्हीं दिनों कालेज के सामने गायकवाड़ पुस्तकालय का निर्माण हो रहा था। नीचे का हिस्सा बन चुका था और ऊपरी भाग में हाथ लगा था। कृषि कालेज में सामने ही कुछ आम के वृक्ष हैं उन्हीं के नीचे कुछ पत्थर की बेंच लगवा दी गई थीं। मालवीय जी नित्य वहीं बैठकर लाइब्रेरी के निर्माण का निरीक्षण करते थे। एक दिन हमारे वे मित्र महामना के पास पहुंचे। उन्होंने महामना से कहा—न रहने के लिए स्थान है और न फीस के लिए पैसा हीं। मालवीय जी ने सरलता से उत्तर दिया—यह तो कोई बड़ी समस्या नहीं है। तुम्हारी फीस माफ और देखो लाइब्रेरी में अभी ऊपर में एक कमरा बन गया है प्लास्टर तो नहीं हुआ है पर तुम रह सकते हो। वह उसी दिन अपना छोटा-मोटा सामान उठा कर उस कमरे में चले गये। अब सिर्फ खाने की समस्या रह गई थी। एक पंडित जी कालेज के चौकीदार थे 'बोले जहां दो रोटी अपने लिए सेंकता हूँ आपके लिए भी सेंक दिया करूंगा।' सब काम ठीक हो गया। उक्त महोदय सारे दिन, ईंख के खेत में रहकर काम करने लगे। उस खेत में भी अपने उठने बैठने के लिए उन्होंने स्थान बना लिया था। सन् १९३३ में वे यहां से उत्तीर्ण होकर चले गये। उन्हे एग्रीकल्चर विभाग में द्वितीय श्रेणी का उच्च पद प्राप्त हो गया। उन दिनों इतनी प्रतियोगिताएं भी नहीं थीं। इसके बाद हमारा इन मित्र से सम्पर्क टूट गया। पर सन् १९४८ में जब मैं अमेरिका से लौट रहा था कुछ दिनों के लिए लन्दन शहर में रुक गया। एक दिन एक पार्टी में इन्हीं सज्जन से मेरी भेंट हो गई। अब न तो उनकी वह खद्दर की धोती थी न वह खद्दर का कुर्ता। वे सूट और टाई में थे। हमने आगे बढ़कर उनसे पूछा आप यहां कैसे। बोले एडवान्स ट्रेनिंग के लिए में भी आया हूं। हमारे सामने मालवीय जी को महानता का दृश्य अंकित हो गया।

इसी प्रकार की एक घटना का और स्मरण आ रहा है। एक महोदय आन्ध्र प्रदेश से अध्ययन के लिए आए। वह भी खादी ही पहनते थे। साफ सुथरा रहते थे, पढ़ने-लिखने में भी योग्य थे। हमने कभी उनकी आर्थिक स्थिति के बारे में उनसे कोई प्रश्न

नहीं किया। प्रश्न करने का कोई कारण भी नहीं था। इसी प्रकार दो वर्ष गुजर गये। एम० एस० सी० की अन्तिम परीक्षा निकट आ गयी। वे महोदय मेरे पास आए और बोले 'दो वर्ष से फीस नहीं दे सका, अब परीक्षा में कैसे बैठ पाऊंगा ? मेरे पास फीस भरने के लिए एक कौड़ी भी नहीं है।'

उस समय महामना मालवीय जी प्रयाग गये हुए थे। फीस जमा करने की तिथि नजदीक आ रही थी। मैंने उनसे कहा 'अब एक ही रास्ता है, एक प्रार्थना पत्र लिखो और मालवीय जी के पास इलाहाबाद चले जाओ।' उन्होंने ऐसा ही किया। मालवीय जी ने प्रश्न किया, 'क्या सचमुच तुम फीस नहीं दे सकते ? देखो भाई विश्वविद्यालय तो गरीब है, अब नहीं तो बाद में दे देना।' और उनके प्रार्थना पत्र पर लिख दिया 'Exempted from the payment of fees' उक्त सज्जन खुशी-खुशी लौट आये। प्रार्थना पत्र मुझे दिखाया। उनका कार्य तो हो ही गया था। परीक्षा में बैठे और प्रथम श्रेणी में पास हो गए। फिर यहां से दिल्ली चले गये और वहां नौकरी कर ली। उनकी नौकरी काफी अच्छी लग गयी थी। इस दौरान उन्होंने पी-एच०डी० भी कर लिया और कटक चले गये। मैं भी किसी कार्यवश कटक गया था। उन्हीं के पास ठहरा। मेरी इच्छा हुई कि जगन्नाथपुरी दर्शन के लिए चलना चाहिए। मैंने कहा कि भाई दो थर्ड क्लास के टिकट तो ले लेना। इस बीच में मेरी भी नौकरी बनारस में लग गई थी। वे मुझसे बोले 'डाक्टर साहब प्रथम श्रेणी में क्यों नहीं चलते ?' मैंने उनसे एक ही प्रश्न पूछा 'भाई यह बतलाओ कि मालवीय जी ने तुमसे जो कहा था, कि विश्वविद्यालय गरीब है जब तुम्हारे पास पैसा हो, लौटा देना। तुमने लौटाया या नहीं ?' शायद उन्हें इस बात का ध्यान भी नहीं था। बात वहीं की वहीं खत्म हो गई। मैं वापस लौट आया। वह मित्र एक के बाद एक सीढ़ी ऊपर चढ़ते चले गए। उन्होंने एक बड़ी अच्छी किताब लिखी। उन्हें पद्मश्री की उपाधि भी मिली। फिर उनकी अकस्मात मृत्यु हो गई। महामना की उस महानता का स्मरण कर मैं आज भी सजल हो उठता हूं।

बी० एस-सी० एवं एम-एस-सी० में हमारे कुछ सहपाठी बिरला और कुछ ब्रोचा छात्रावास में रहते थे। आगे भी राजपुताना और लिम्बडी दो छात्रावासों का निर्माण हो चुका था और धनराज गिरि छात्रावास का निर्माण शुरु हो चुका था। उसके नीचे एक विंग बन चुकी थी और बाईं तरफ की भी करीब करीब समाप्त हो चुकी थी। नहाने, खाने और टट्टियों का प्रबन्ध नहीं हो पाया था। गर्मी की छुट्टियां आ गईं। हम लोग गर्मी में भी घर न जाकर रिसर्च ही किया करते थे। छुट्टी होने की वजह से बिरला, एवं ब्रोचा में खाने का इन्तजाम समाप्त हो गया था। एकाएक हम लोगों की समझ में यह बात आई कि क्यों न हम सबके सब एक साथ धनराज गिरि होस्टल में चलकर रहें। वहाँ खुली हवा, सामने ही हमारा कालेज एवं और भी कई सुविधाएं हमे नजर आईं। हम सबके सब (एम० एस-सी० के छात्र) एकत्र होकर मालवीय भवन पहुँचे। मालवीय जी ने पूछा 'क्या बात है, कोई तकलीफ है, क्यों आये हो ?' हम लोगों ने स्पष्ट रुप से उनसे कहा कि छुट्टियों की वजह से बिरला ब्रोचा में कोई इन्तजाम नहीं हो पा रहा है। लिम्बडी राजपुताना में तो छुट्टी में भी काफी लड़के ट्रेनिंग के लिए रहते हैं। अस्तु, वहां भोजन

की सुविधा है। मालवीय जी ने पूछा 'पहले तो यह बताओ कि तुम आप लोगों ने खाना खाया है या नहीं ? यदि नहीं खाया है तो पहले यहाँ खाना खाओ।' हम लोगों ने उत्तर में कहा 'खाना तो खा चुके हैं पर हमें धनराज गिरि होस्टल में रहने की अनुमति दे दीजिए।' बोले—क्या वहाँ कमरे खाली हैं। हम लोगों ने कहा काफी कमरे खाली हैं। वे बोले फिर हमसे क्या पूछना ह जब खाली हैं तो जाकर रहो। उस वक्त रिक्से नहीं चलते थे। इक्के चलते थे। हम लोगों ने अपना सामान एक इक्के में भरा और धनराज गिरि पहुँच गए। प्रोफेसर गरोला विदेश से आये थे और मालवीय जी ने इन्हें ही वहाँ का वार्डन बनाया था। वे हम लोगों को पाकर अत्यधिक प्रसन्न हुए और वहाँ का अधिकांश कार्यभार भी हमी लोगों के हाथ में सौंप दिया। मैं रिसर्च कर रहा था और प्रोफेसर गरोला मेरे परम मित्र थे। मेरे बिना चाय नहीं पीते और सब नौकरों को आदेश दे दिया कि—चौधरी साहब से पूछ कर वे जैसा आदेश दें काम किया करो। इस बीच प्रोफेसर गरोला को जोधपुर कालोनी में एक क्वार्टर मिल गया। मालवीय जी वक्त वे वक्त धनराज गिरि पहुंचते रहते थे। यदि वहां प्रोफेसर गरोला न मिल पाते तो मैं अवश्य ही मिलता था। मुझे बहुत अच्छी तरह जान गए थे। एक दिन प्रोफेसर गरोला के सामने उन्होंने प्रस्ताव रखा कि डा० चौधरी को ही यहाँ का वार्डन क्यों न बना दिया जाय ? प्रो० गरोला ने उन्हें सुझाया कि वे तो अभी विश्वविद्यालय में शिक्षक भी नहीं हैं। बोले, इससे क्या हुआ ? खैर, थोड़े दिन बाद कृषि विद्यालय में मेरी नियुक्ति हो गई। उसके साथ ही साथ मैं वार्डन रहा। प्रोफेसर गैरोला की प्रेरणा और मेरी निष्ठा से धनराज गिरि छात्रावास अत्यधिक स्वच्छ एवं पुष्पों से लद गया। वह स्मृति उस समय के सभी पुराने छात्रों एवं अध्यापकों में अब भी अंकित होगी। यह सब महामना के प्रेम और उनकी महानता का ही पावन प्रसाद था। महामना की अविस्मरणीय छवि अब भी मेरी आंखों में बसी है। विश्वविद्यालय की सेवा करते हुए मैंने सदैव उनके उदार व्यक्तित्व एवं आदर्श गुणों को अनेकों बार नमन किया है और प्रयास किया है किंचित उनके आत्मसात का भी।

भूतपूर्व प्राचार्य एवं डीन, कृषि संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

———

महामना : अविस्मरणीय व्यक्तित्व

डॉ० रामदेव मिश्र

जब मैं विद्यार्थी था (१९२५-३१)।

मैं अपने भाइयों के साथ कमच्छा में रहता था। वहां से कभी पैदल तथा कभी साइकिल पर विश्वविद्यालय आया करता था। एकादशी प्रवचन आर्ट्स कॉलेज हाल में स्वयं महामना जी किया करते थे। उन दिनों सभी विद्यार्थी और अध्यापक इस प्रवचन में एकत्र होते थे। हॉल भर जाने पर लोग बाहर के बरामदों में खड़े रहते थे। यह प्रवचन इतना मृदुल और रोचक होता था कि मैं समय से पहले ही जा कर आगे बैठ जाता था। कथा कहते-कहते मालवीय जी कभी-कभी करुणा, दया आदि के प्रसंगों पर आंसू भी पोंछते थे। श्रोताओं की भी दशा इसी तरह की हो जाती थी। एक घंटे उपदेश के पश्चात् जब गायनाचार्य जी (पाठक जी, जो स्वयं मालवीय जी की भांति वस्त्र और पगड़ी पहनते थे) कथा के संदर्भ में गायन प्रारम्भ करते तो समस्त श्रोता झूमने लगते थे। मालवीय जी भी मस्त तो हो जाते थे पर श्रद्धा और भक्ति से कभी-कभी रो पड़ते थे।

(ख) मालवीय जी जब-तब सड़कों पर घूमते मिल जाते थे। प्रणाम करने पर कन्धों पर हाथ रख कर परिचय पूछते थे। मुझे देख कर कहते थे 'भगवान ने तुमको सुन्दर काठी (शरीर) दी है। इसे दुर्बल क्यों बनाये हो? हमारी ओर से नित्य दूध पिया करो और व्यायाम करो।

(ग) एम० एस०-सी० में मैं बिड़ला छात्रावास 'ए' ब्लॉक में रहता था। तबसे मालवीय जी का दर्शन अधिकाधिक मिलने लगा। वनस्पति विभाग से प्रो० इनामदार जब मस्तिष्क की बीमारी के कारण छोड़ कर चले गये तो अध्यापकों में झगड़े बढ़ गये। एक अध्यापक के निर्देशन में जब मैंने थीसिस पर काम प्रारंभ किया तो एक दूसरे अध्यापक ने कुपित होकर मुझे कक्षा के बाहर कर दिया। इस पर सभी विद्यार्थी बाहर निकल गये। एक महीने तक उन अध्यापक के क्लास में कोई नहीं गया। मालवीय जी इलाहाबाद चले गये थे। मैं उनके घर गया। उन्होंने प्रेम से भोजन कराया और सब समाचार सुना। शीघ्र ही काशी लौट कर उन्होंने अध्यापक और विद्यार्थियों को एक साथ बुलाया। स्पष्ट शब्दों में उन्होंने दोनों ओर अपनी अप्रसन्नता दिखाई। इस पर दोनो ही ओर से क्षमा मांगी गई और फिर क्लास चलने लगा।

जब मैं शिक्षक बना (१९३१-४६)

(क) १९३१ में मैं वनस्पति विभाग में सौ रूपए वेतन पर डिमान्स्ट्रेटर बना। मेरी रूचि मालवीय जी के प्रवचनों में वैसी ही बनी रही। बहुधा स्वतंत्रता-संग्राम के जुलूसों में भाग ले लिया करता था। जब मालवीय जी जेल गये तो ध्रुव साहब ने बहुत

ही बड़े जुलूस की अगवानी की। उस क्षण का जोश अब भी स्मृति पटल पर अंकित है। त्यागमूर्ति डे साहब भी विह्वल हो उठे थे।

(ख) रूइया छात्रावास के सामने चबूतरे पर प्रायः सभायें हुआ करती थीं। हम लोग बड़ी-बड़ी दरियाँ बिछा लेते थे। मालवीय जी बहुधा पैदल ही चलते थे। ऐसी ही एक सभा में मैं उनके पीछे-पीछे मालवीय भवन से आ रहा था। सामने से पं० वामदेव मिश्र (स्थूल शरीर के) दौड़े आ रहे थे। विनोदी मालवीय जी कह पड़े 'पंडित जी आपने दौड़कर सब गुड़ गोबर कर दिया।'

(ग) १९३७ में मैं पी० एच० डी० कर के विलायत से लौटा, किन्तु विश्वविद्यालय की आर्थिक दशा दयनीय होने से मेरी तनख्वाह १००) मासिक ही बनी रही। १९३९ में मेरे आवेदन पत्र पर भागलपुर और आगरा विद्यालयों में एक साथ नियुक्ति हो गई। नियुक्ति के पहले मालवीय जी ने मुझे प्रशस्ति पत्र दिया था और टाइप काट-काट कर उन्होंने अपनी लेखनी से शुद्ध किया था। इसे मैं सभी लोगों को गौरव से दिखाता था। जब मैं दो वर्षों का अवकाश लेकर भागलपुर चला गया तो आगरा के प्रिंसिपल के० सी० मेहता ने एक रोषपूर्ण पत्र मालवीय जी के पास भेजा और आग्रह किया कि हिन्दू विश्वविद्यालय में मेरी नियुक्ति समाप्त कर दी जाये। उस पत्र की प्रतिलिपि मेरे पास भेजी गई। जब मैं महामना जी से मिला तो वे मुस्करा पड़े। डॉ० राधाकृष्णन् ने, जो उस समय कुलपति हो चुके थे, विभाग में मेरी उन्नति करके पुनः वापस बुला लिया। मुझे पता चला कि इसमें मालवीय जी की ही कृपा थी।

(घ) १९४२ में 'भारत छोड़ो' आंदोलन ने विश्वविद्यालय में क्रान्ति मचा दी। मालवीय जी क्षुभित और दुखी थे। फिर भी प्रारम्भ मे समझाने बुझाने के लिये वे सभाओं में आ जाया करते थे। डा० गैरोला के एक व्याख्यान में (आर्ट्स कॉलेज के हॉल में) वे आरामकुर्सी पर लिटा कर ले आये गये। सब बातों को सुनने के बाद उन्होंने स्वतंत्रता सेनानियों को आशीष दिया। महामना की वह रुग्ण पर तेजस्वी मूर्ति अब भी आंखों में बसी है! मैं विश्वविद्यालय के हीरक जयन्ती वर्ष पर उस देवता के श्री चरणों में शतशः नमन करता हूँ।

भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, वनस्पतिविज्ञान विभाग एवं डीन विज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,

महामना मालवीय जी और उनका काशी हिंदू विश्वविद्यालय

डॉ० नन्दलाल सिंह

मानव मात्र को अतीत का बड़ा मोह होता है। भविष्य का कोई ठिकाना नहीं रहता, वह तो अज्ञात होता है और वर्तमान की स्थिति बहुत ही अल्प होती है। हमें अपने अतीत का ही ज्ञान एवं अनुभव रहता है। सारा इतिहास, सारा ज्ञान, सारा अनुभव एवम् सारा प्रसार अतीत का ही होता है। हम अतीत के कंधे पर चढकर भविष्य को झांक लेना चाहते हैं। अतीत की आधार-शिला पर हम भविष्य का प्रासाद खड़ा करते हैं। यदि हमारा अतीत गौरवमय रहा है तो हम उसका स्मरण कर गर्व का अनुभव करते हैं और वर्तमान पर एक उच्छ्वास लेकर भविष्य की चिंता में डूब जाते हैं। काशी हिंदू विश्वविद्यालय से मेरे जीवन का बड़ा गहरा नाता रहा है। इस महान संस्था के निर्माता पूज्य महामना मालवीय जी के दर्शन पाने का मेरा सौभाग्य लगभग बीस वर्षों तक रहा। अनेक बार उनके वचनामृत पान करने का अवसर प्राप्त हुआ। इस संस्था तथा संस्थापक दोनो के अनेक संस्मरण हमारे स्मृति-पटल पर सदैव उभड़ते रहते हैं। काल-चक्र की गति ने विश्वविद्यालय के कितने रूप दिखाए, प्रायः याद आते रहते हैं। मेरी तो मान्यता है कि किसी भी परिवर्तन के मूल में नियति की अत्यंत प्रबल प्रेरणा रहती है। यह समय की पुकार थी कि महात्मा गांधी जी का अवतरण अनेक देश-भक्तों के साथ भारत माता को गुलामी की जंजीर से मुक्त कराने के लिए हुआ और महामना मालवीय जी का प्रादुर्भाव राष्ट्रकल्याण हेतु काशी हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए हुआ। इन विभूतियों ने अपना-अपना नियत कर्तव्य पूरा कर महाप्रयाण किया। सामान्य जनता को कौन कहे उनके अनुयायी भी उन्हें भूलाते जा रहे हैं। यह वर्ष काशी हिंदू विश्वविद्यालय की हीरक जयंती का वर्ष है अतः हम जगत् की परिवर्तनशीलता के परिप्रेक्ष्य में विश्वविद्यालय के गौरवमय अतीत का सिंहावलोकन करना चाहते हैं।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना इसवीय वर्ष १९१६ में हुई थी। इस विश्वविद्यालय की कल्पना एवं स्थापना महामना मालवीय जी के अदम्य उत्साह, अविचल निष्ठा, निष्काम त्याग एवं अद्वितीय तपस्या का परिणाम है। कल्पना तो कोई भी कर सकता है किंतु कल्पना को साकार करने का साहस कोई मनस्वी एवं पुरुषार्थी ही कर सकता है। सर्वविदित है मालवीय जी के पास विश्वविद्यालय स्थापित करने का कोई साधन नहीं था, न भूमि थी और न धन था। किंतु उनके पास था दृढ़ संकल्प। उन्होंने देश का भ्रमण आरंभ किया और विश्वविद्यालय के लिए धन-संचय हेतु राज-प्रासादों से लेकर झोपड़ियों तक अपनी झोली फैलाई। उनके आकर्षक व्यक्तित्व, सौम्य स्वभाव तथा मृदुवाणी ने जनता को ऐसा मंत्रमुग्ध किया कि देश के न केवल राजे-महाराजे, तथा सेठ-साहूकारों, और अमीर-उमरावों ने ही इस यज्ञ में आहुति दी; अपितु निर्धन जनता ने भी मुक्तहस्त सहायता की। महामना जी ने गरीबों से प्राप्त एक-एक पैसे को वही महत्त्व दिया जो धन-कुबेरों

से प्राप्त बड़ी-बड़ी राशियों को। सुना है कि उनके भाषण पर मुग्ध होकर एक निर्धन वुढ़िया ने अपने कान का आभूषण उतार कर समर्पित कर दिया था। भूमि की आवश्यकता पड़ी तो काशि-नरेश से पर्याप्त भूमि भी प्राप्त हो गई। बीस-बाईस गाँवों के निवासी अपने घरों और खेतों का मुआवजा सरकारी दर से लेकर हट गए। कुछ अड़चनें भी पड़ी किंतु मालवीय जी ने अपनी साम, दान, दंड, भेद नीति से उनका शमन कर दिया। विस्थापितों को आस-पास की भूमि पर पुनः बसाया गय.। गाँवों के मकान, कुएँ एवं बावलियाँ एक महान् व्यक्ति के महान् संकल्प में तिरोहित हो गए। काल-चक्र से कौन उबरा है। उसी भूमि पर भव्य सरस्वती-भवनों का निर्माण आरंभ हुआ और महामना का स्वप्न साकार होने लगा।

विश्वविद्यालय के भवनों का निर्माण आरंभ होते ही इस महान विश्वविद्यालय की चर्चा देश के कोने-कोने में होने लगी। मालवीय जी के भाषणों की गूंज गाँव-गाँव में सुनाई पड़ने लगी थी। मेरे पूज्य पिता जी मकर संक्रान्ति के अवसर पर त्रिवेणी-स्नान करके प्रयाग से लौटे थे। वे सुनाने लगे : "आज संगम पर पं० मदन मोहन मालवीय जी का भाषण हुआ। उन्होंने लाखों के जन समूह को अपने भाषण से ऐसा प्रभावित किया कि लोग मंत्रमुग्ध-से रह गए। मालवीय जी काशी के दक्षिण में एक वहुत वड़ा विश्वविद्यालय खोलने जा रहे हैं। महाराजा बनारस ने दो-ढाई वर्गमील जमीन उन्हें इस महान् कार्य के लिए प्रदान की है। देश-विदेश के कोई भी विश्वविद्.लय इसके समकक्ष नहीं होंगे। दुनिया का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय होगा। हजारों की संख्या में देश के बच्चे कला, साहित्य, विज्ञान, इंजीनियरिंग आदि की शिक्षा प्राप्त करेंगे। अब बड़े-बड़े ओहदों के लिए पढ़ने विलायत नहीं जाना पड़ेगा। मालवीय जी यह विश्वविद्यालय विशेषकर गरीव, तथा मध्यम वर्ग के बच्चों के लिए खोल रहे हैं। "

पूज्य पिता जी किसी पर्व पर काशी से गंगा स्नान करके लौटे तो आँखों देखा हाल इस प्रकार सुनाने लगे --' विश्वविद्यालय में कई इमारतें तैयार हो गई हैं उनमें पढ़ाई हो रही है। बहुत चौड़ी-चौड़ी सड़कें बनाई जा रही हैं। उनके दोनो ओर नहरें बनाई जा रही हैं, जिनमें गंगा जी का पवित्र जल निरंतर प्रवाहित होता रहेगा। सड़कों के दोनो तरफ फलदार वृक्षों की दो-दो पंक्तियाँ लगाई जा रही हैं। मालवीय जी ने विश्वविद्यालय का बृहद् नकशा तैयार करा लिया है। केन्द्र में शिव जी का विशाल मंदिर भी बनवाएँगे। आदि-आदि "। उस समय मैं सांतवीं कक्षा का विद्यार्थी था। पिता जी की बातें सुनकर विश्वविद्यालय देखने की प्रवल उत्कंठा हुई; किंतु कोई अवसर मिले तब तो ? भगवत्कृपा से दूसरे वर्ष उत्तर प्रदेश की आठवीं कक्षा के चुने हुए विद्यार्थियों की सामूहिक परीक्षा क्वीन्स कालेज बनारस में होने की सूचना गवर्नमेन्ट स्कूल जौनपुर पहुँची। परीक्षा में उत्तीर्ण विद्यार्थियों को नवीं तथा दसवीं कक्षा में छात्रवृत्ति मिलने वाली थी। हेड मास्टर साहव ने मुझे भी परीक्षा देने के लिए बनारस भेजा। मैंने परीक्षा दी और भाग्यवशात् उत्तीर्ण भी हो गया। मेरे बड़े भाई (बाबू नन्दकिशोर सिंह, भूतपूर्व प्रधानाचार्य, सनातन धर्म इंटर कालेज, वाराणसी) उस समय विश्वविद्यालय में बी० ए० प्रथम वर्ष के छात्र थे। छात्रवृत्ति की परीक्षा दे लेने के पश्चात् उन्होंने मुझे विश्वविद्यालय के आर्ट्स

कालेज, साइंस कालेज और इंजीनियरिंग कालेज में घुमाया था। साइंस कालेज के रसायन विभाग की प्रयोगशाला में रासायनिक द्रव्यों से भरी हजारों शीशियों-बोतलों को टेबुलों पर सुसज्जित देखकर चकित हुआ। क्या ईश्वर मुझे इन प्रयोगशालाओं में काम करने का अवसर प्रदान करेंगे ! इंटरमींडिएट साइंस में भरती हुआ और छह वर्ष के भीतर मुझे सभी प्रयोगशालाओं में काम करने का अवसर मिला। सन् १९३१ में भौतिकी विभाग से एम० एस-सी० की डिग्री प्राप्त की। परीक्षाफल घोषित होते ही प्रथम स्थान से उत्तीर्ण होने के कारण मेरी नियुक्ति भौतिकी विभाग में डिमांस्ट्रेटर पद पर एक सौ रुपये प्रति मास के वेतन पर हो गई। पढ़ते-पढ़ाते कुछ कालपर्यन्त डी० एस-सी० की डिग्री भी इसी विश्वविद्यालय से प्राप्त की। जहाँ तक हमें याद है पहली वढ़ोत्तरी मात्र दस रुपये की लगभग सात वर्ष वाद हुई थी। हमारे जैसे हजारों ग्रामीण वालकों की शिक्षा-दीक्षा इसी महामना मालवीय जी के विश्वविद्यालय में पूरी हो सकी है। हमारे ही परिवार के कई प्राणी यहीं से स्नातक हो सके हैं।

मालवीय जी प्रतिवर्ष जुलाई में सत्र का उद्घाटन करते अपनी अमृत वाणी से सुधारस वरसाते थे। अध्यापकों को उद्बोधित कर प्रायः सुनाते :

चना चबेना गंगजल जों पुरवै करतार।
काशी कबहुं न छाड़िए विश्वनाथ दरवार ॥

विद्यार्थियों की ओर इंगित कर कहते :—

"दूध पिओ, कसरत करो और जपो हरिनाम.........

मानसिक शुद्धि शरीर शुद्धि पर निर्भर है। अपने आचरण तथा अनुशासित व्यवहार से जहाँ जाओ, लोग कहें कि यह काशी हिंदू विश्वविद्यालय का छात्र अथवा स्नातक है" क्या ही जादूभरी वाणी थी उनकी ! कई अध्यापकों को ऊँचे वेतन पर अन्य विश्वविद्यालयों से वुलावा आया। उस समय यहाँ की वेतन-दरें अन्य संस्थाओं की अपेक्षा वहुत कम थीं। किंतु लोगों को मालवीय जी के आकर्षण से निकल पाना कठिन था। विश्वविद्यालय के हर विभाग में धुरंधर विद्वान् थे। उनमें कई विश्वविख्यात थे। उनमें से किसी को मालवीय जी के विश्वविद्यालय की सेवा आर्थिक लाभ की दृष्टि से छोड़ने की कभी इच्छा ही नहीं हुई।

विश्वविद्यालय के लिए उस समय विदेशी शासकों से आर्थिक सहायता पाना कठिन था, क्योंकि अँगरेज शासक विश्वविद्यालय को राष्ट्रीय संस्था मानते थे और इसे राष्ट्रीय आंदोलन का केन्द्र समझते थे फिर सरकारी अनुदान मिलने का प्रश्न ही कहाँ। गांधी जी के जन-आंदोलन इस विश्वविद्यालय की स्थापना के समय से ही शुरू हो गए थे। कहते हैं कि सन् १९१६ की स्थापना-सभा की अध्यक्षता मालवीय जी की प्रेरणा से स्वयं वाइसराय कर रहे थे। अन्य प्रदेशों के गवर्नर तथा देश के राजे-महराजे सभी उपस्थित थे। उसी सभा में गांधी जी के ओजस्वी भाषण को सुनकर जिसमें वे देश की दयनीय दशा का सारा दोष तत्कालीन शासन पर उड़ेल रहे थे, मारे डर के राजे-महराजे चुपके-चुपके खिसक गए थे और अँगरेज शासकों में एक हदस पैदा हो गई थी। मालवीय जी ने

यद्यपि अपने मृदुल स्वभाव से उन्हें सांत्वना देते सभा की सारी कार्यवाही पूरी कराई। नींव पड़ी; किंतु शासकों को गांधी जी स्वप्न में उसी प्रकार दिखाई पड़ने लगे, जैसे कंस को कृष्ण जागते-सोते दिखाई पड़ते थे। सन् १९२० का आंदोलन छिड़ा। गांधी जी ने विद्यार्थियों, अध्यापकों, वकीलों, सरकारी कर्मचारियों का आवाहन अपना-अपना काम वंद करके असहयोग-आंदोलन में भाग लेने के लिए किया। मालवीय जी विश्वविद्यालय वंद करने के पक्ष में सहमत नहीं हुए; किंतु किसी विद्यार्थी अथवा अध्यापक को आंदोलन में भाग लेने से उन्होंने मना भी नहीं किया। इसी नीति का पालन मालवीय जी ने सन् १९३० के आंदोलन में भी किया—स्वयं जेल गए; किंतु विश्वविद्यालय का कार्य अक्षुण्ण चलता रहा। अँगरेज सरकार ने उनसे विश्वविद्यालय के कुलपति-पद से त्यागपत्र देने का आग्रह किया और धमकी दी कि यदि त्याग-पत्र नहीं दे देते तो विश्वविद्यालय को जो कुछ अनुदान दिया जा रहा है वंद कर दिया जाएगा। मालवीय जी वंबई की जेल में थे, अध्यापकों और विद्यार्थियों की टोली १९३१ में बंबई पहुँची और उनसे त्यागपत्र न देने की प्रार्थना की। अध्यापकों ने संकल्प किया कि हम लोग विना वेतन अपना कार्य करते रहेंगे। आप अनुदान न मिलने से चिंतित न हों। मालवीय जी के कमलनयनों से मोती झरने लगे। उन्होंने गद्गद कंठ से आशीर्वाद दिया "यह विश्वविद्यालय आप ही लोगों का और सारी भारतीय जनता का है। मैंने गरीव-अमीर, राजे-रजवाड़े सबसे भिक्षा इसके लिए एक ही भाव से प्राप्त की है। आप लोगों के आश्वासन का मुझे भरोसा है। अब मैं निश्चिंत हूँ।"

मालवीय जी सत्र के अंत में जब परीक्षाएँ समाप्त हो जातीं तो विश्वविद्यालय की आर्थिक स्थिति वताते हुए विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को गरमी की छुट्टी में चंदा इकट्ठा करने के लिए प्रोत्साहित करते। देश के कोने-कोने के विद्यार्थी रसीदें लेकर जाते और यथाशक्ति विश्वविद्यालय के लिए धन एकत्र करते। जुलाई में लौटकर पैसे-पैसे का हिसाब संचय-समिति (Collection Committee) के मंत्री को देते। संस्था के प्रति प्रत्येक सदस्य को कैसा प्रेम था एवम् कैसी आत्मीयता थी!

उस समय अध्यापकों के प्रति विद्यार्थियों में हार्दिक श्रद्धा-भक्ति थी उनमें अटूट विश्वास था। अध्यापकों के चरित्र पर कोई उँगली नहीं उठा सकता था। छोटे-वड़े कोई भी अध्यापक यदि सड़क अथवा कालेज के वरामदे में दिखाई पड़ जाते तो लड़के स्वतः एक ओर हट जाते और उन्हें प्रणाम अवश्य करते। विद्यार्थियों का स्वभाव ही ऐसा बन गया था। अध्यापक का भाषण चाहे जैसा भी हो, कक्षाओं में पढ़ाई के समय शांति छाई रहती थी। प्रश्न पूछते तो नम्रता एवं शिष्टता के साथ। एक बार मैं चार लड़कों के ग्रूप को इंटरमीडिएट क्लास में कोई प्रयोग समझा रहा था। उनमें एक गुजराती विद्यार्थी वड़ा ही शिष्ट था। उसने प्रश्न किया "मास्टर जी 'तुमने' यह बात कैसे समझाई?" मैंने शांतिपूर्वक फिर से वताया। वह बालक प्रसन्न हुआ। किंतु मैं देख रहा था अन्य तीन उसके "तुम" शब्द के प्रयोग के लिए फटकार रहे थे। क्लास के वाद वह वालक आकर मुझसे माफी माँगने लगा। सर, हम लोग तुम, तू, को आदर सूचक मानते हैं, क्षमा करेंगे। गुजराती (मराठी) में ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है मुझे

मालूम था। मैंने उसे समझा बुझाकर शांत किया। अध्यापक की पोशाक चाहे जैसी हो कोई विद्यार्थी टिप्पणी नहीं करता था। मैं तो प्रायः धोती-कुरता में जाता, कभी-कभी हाफ पैन्ट, कमीज पहन कर जाता। प्रैक्टिकल क्लास पढ़ाता अथवा लेक्चर देता किसी विद्यार्थी ने कभी टीका टिप्पणी नहीं की। विद्यार्थियों का पहनावा भी साधारण रहता था। उनमें कोई दिखावट अथवा बनावट नहीं होती थी। कई विद्यार्थी तो नंगे पाँव दुपट्टा ओढ़कर आते थे। पोशाक के गुलाम नहीं दिखलाई पड़ते थे। सब में आत्मबल था, वे मालवीय जी के विश्वविद्यालय के छात्र थे। वे स्वयं अनुशासित थे। उन पर वाह्य अनुशासन की आवश्यकता नहीं थी। परीक्षाएँ शांतिपूर्वक विना नकल-वाजी के होती थीं। कोई परीक्षार्थी परीक्षकों की खोज में कभी भी नहीं पाया गया। आज यह पढ़कर आश्चर्य होना स्वाभाविक है कि **परीक्षकों के नाम प्रश्न-पत्र पर छपे** रहते थे। शिफारिश (approach) करने का साहस न तो किसी विद्यार्थी को होता और न उसके अभिभावकों को।

महिला विद्यालय नहीं खुला था। लड़कियों की संख्या कम थी। लड़के-लड़कियाँ सभी कक्षाओं में एक साथ पढ़ते थे। क्या मजाल कोई लड़का किसी लड़की की ओर आँख उठावे अथवा छेड़खानी करे। संस्कृति का ऐसा ही प्रभाव था और फिर मालवीय जी का व्यक्तित्व जो था। विद्यार्थियों का आचरण-शुद्धि तथा मानसिक शुद्धि पर विशेष ध्यान था। यही शिक्षा उन्हें मालवीय जी के कथामृत और उपदेशों से सदा मिलती थी। हमें याद है आर्ट्स कालेज के हाल में कृष्णजन्माष्टमी का उत्सव-समारोह था। हाल खचाखच भरा था। छात्राएँ एक ओर वैठी थीं ऊपर की गैलरी भी विद्यार्थियों से भरी हुई थी। किसी मनचले ने कागज का टुकड़ा लड़कियों के समूह पर गिरा दिया। थोड़ी खलवली मची। मालवीय जी की निगाह पड़ गई। रुद्रवत् ऐसी फ़टकार सुनाई कि सारे विद्यार्थी सन्न हो गए। सामान्य शोर-गुल पर तो ज्योंही अपनी उँगली उठाते अथवा होठों पर उँगली रखकर (सी-) करते, स्तब्धता छा जाती। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव ही ऐसा था। मेरा अपना विचार है कि जितनी आत्मीयता मालवीय जी के प्रति विद्यार्थियों तथा अध्यापकों की थी उतनी किसी भी उत्तराधिकारी कुलपति के प्रति नहीं रही। विद्यार्थी तथा अध्यापक विश्वविद्यालय को अपनी संस्था मानते थे। तोड़-फोड़ की घटना तो कभी सुनने में नहीं आई। विद्यार्थी स्वतः इसकी सुरक्षा के लिए चिंतित रहते। मुझे याद है एक वार वनारस में हिंदू मुस्लिम दंगा उग्र रूप धारण कर चुका था। उस समय तक न तो विश्वविद्यालय की चहारदीवारी बनी थी और न सुरक्षादल कायम था। विद्यार्थी स्वयं सुरक्षा सेनानी थे। अध्यापकों के नेतृत्व में विद्यार्थियों की टोलियाँ रात-रात गायकवाड़ पुस्तकालय, साइंस कालेज, इंजीनियरिंग कालेज तथा महिला विद्यालय एवं छात्रावासों पर पहरा देती थीं। यदि अँगरेज सरकार को किसी राष्ट्रभक्त षड़यंत्र-कारी के विश्वविद्यालय में छिपने का सुराग मिलता तो पुलिस अथवा उनके वरिष्ठ अधिकारी विना कुलपति की आज्ञा के अंदर पाँव नहीं रखते थे। विश्वविद्यालय को पवित्र शिक्षा-मंदिर की मान्यता थी। आठ अगस्त सन् १९४२ को महात्मा जी ने 'भारत छोड़ो" का नारा लगाया। वे तुरंत गिरफ्तार कर लिए गए। प्रो० असरानी और पं० गोविंद मालवीय विश्वविद्यालय में गिरफ्तार हुए।

आंदोलन जोरों पर चला। शीर्षस्थ नेता जेलों में ठूस दिए गए। अनेक विद्यार्थी और अध्यापक आंदोलन में सक्रिय हो गए। कई छात्रों ने इस स्वतंत्रता-संग्राम में अपने प्राणों की आहुति दे दी। अँगरेज सरकार ने विश्वविद्यालय में फौजी सेना भेजी। मालवीय जी रो पड़े। वाहर तो भीपण कांड हुए, आंदोलन बृहद् रूप धारण करता गया किंतु विश्वविद्यालय में कहीं तोड़ फोड़ नहीं हुई। ढाई महीने वाद विश्वविद्यालय खुला, पढ़ाई होने लगी किंतु आंदोलन चलता रहा। सर राधाकृष्णन् की प्रेरणा तथा आश्वासन से पुलिस और फौजी सिपाही वाहर चले गए। जव कभी आने की आवश्यकता होती तो कुलपति से पूछकर आते थे।

सन् १९४४ में हजारी वाग जेल से कुछ नेता निकल भागे थे। उनमें श्री जयप्रकाशनारायण और श्री रामनन्दन मिश्र भी थे। खुफिया विभाग द्वारा स्थानीय अँगरेज जिलाधिकारी को सूचना मिली कि रामनंदन मिश्र काशी हिंदू विश्वविद्यालय के डा० नन्दलाल सिंह के यहाँ छिपे हैं। उस समय मैं लाज-वार्डन था और विश्वविद्यालय के एक पुराने घर में जहाँ आज स्वास्थ्य-केन्द्र का दफ्तर है, रहता था। आसपास तव कोई क्वार्टर भी नहीं वने थे, बिजली भी नहीं उपलब्ध थी। १२ जुलाई १९४४ की अर्ध रात्रि में जव हल्की बरसात हो रही थी ठीक १२-०० वजे किसी ने दरवाजा खटखटाया। खोलते ही मैं हतप्रभ हुआ। एक फौजी अफसर ने डाँट कर मुझे बैठा दिया और सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस के नेतृत्व में पचासों जवान घर में घुस आए। पूरी छान बीन कर चुकने पर अँगरेज पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट मेरे पास आया और माफी माँगने लगा "प्रोफेसर क्षमा करना आपको कष्ट हुआ। मुझे गलत सूचना मिली" मैं क्या उत्तर देता, मैं तो काँप रहा था। उसके साथ वाहर आया तो देखता हूँ घुड़सवारों, बंदूकधारी सिपाहियों की कई कतारें एक के वाद एक मेरा मकान घेरे हुए हैं। विदा होते फिर "क्षमा प्रार्थना"। रुआँसा मुहँ तथा दुःखित मन से मैंने कहा "आपको जो करना था कर लिया। जान छोड़ें। धन्यवाद"। फिर नींद नहीं आई। प्रो० मुकुट बिहारी लाल जो चीफ़ वार्डन थे। उनके साथ कुलपति सर सर्वपल्लो राधाकृष्णन् के यहाँ गया। रात की दुःखद कहानी सुनाई। मुकुट जी ने उनसे पूछा "क्या आपने अंदर घुसने की आज्ञा दी थी ?" नकारात्मक उत्तर देते हुए सर राधाकृष्णन् आग वबूला हो गए। फोन पर जिलाधिकारी को फटकारने लगे। "जब मैंने आश्वासन दिया था कि विश्वविद्यालय में कोई वारदात नहीं होगी और यदि हुई तो उसके लिए मैं जिम्मेदार हूँ, तव आप बिना सूचना दिए अर्धरात्रि में फौज लेकर कैसे घुस आए ?" मैं नहीं जानता क्या वहाना जिलाधिकारी ने किया, किंतु दोपहर के समय कालेज में सुपरिन्टेडेन्ट पुलिस का क्षमा पत्र मेरे नाम लेकर खुफिया पुलिस के वरिष्ठ अधिकारी श्री ब्रह्मानंद सिंह स्वयं आए और पत्र देकर माफी मांगने लगे।

छात्रावासों में मालवीय जी विना सूचना दिए अकेले चले जाते। न तो कोई उनके आगे रहता और न कोई पीछे। यहाँ तक कि चीफ़ वार्डनों को भी पता न होता। प्रायः यह समय आठ वजे रात्रि का होता। पढ़ते हुए विद्यार्थी की पीठ ठोंकते, शावासी देते। दो शब्द पूछते; कसरत भी इसी लगन से करते हो न ? कितना दूध पीते हो ? वह उत्तर क्या देता। विभोर मन से नतमस्तक चरण छूकर अपने को धन्य मानता।

दो चार कमरों में इस प्रकार झांकी लेते पूरे छात्रावास को प्रकाशित करते बाहर हो जाते। वार्डनों को पता लगता, दौड़ कर आते। मालवीय जी बोल उठते। "हमारे बच्चे ध्यान पूर्वक पढ़ रहे हैं अधिक बाधा नहीं पहुचानी चाहिए। इनके आहार-शुद्धि एवं आचरण-शुद्धि पर ध्यान रखना चाहिए। मालवीय जी सात्विक आहार के कायल थे। सात्विक भोजन से मानसिक प्रवृत्ति सात्विक होती है। सात्विक व्यक्ति की जिह्वा पर सरस्वती निवास करती हैं। राजस तथा तामस भोजन विद्यार्थियों को नहीं ग्रहण करना चाहिए। ऐसे भोजन से मानसिक शक्ति का ह्रास होता है। बुद्धि कुंठित हो जाती है।" विश्वविद्यालय के छात्रावासों में ही नहीं अध्यापकों के बंगलों में भी मांस, मछली, अंडा, मदिरा की छुआई नहीं थी। हाँ, इंजीनियरिंग कालेज के कुछ अँगरेज अध्यापकों के लिये एक आमिष पाकशाला बनवा दी थी। कालचक्र का प्रभाव, अब तो शायद ही कोई छात्रावास इन सबसे अछूता हो।

सन् १९४२ का आंदोलन देशव्यापी आंदोलन था और निरंतर जोर पकड़ता जा रहा था। अँगरेजों ने जनता में फूट डालने की प्रक्रिया अपनाई। उनकी कूटनीति से हिंदू-मुस्लिम दंगे शुरू हो गए। सन् १९४५ में नोआखली के भीषड कांड से मालवीय जी का हृदय विदीर्ण हुआ। बीमार थे ही, १९४६ में गोलोक सिधारे। स्वतंत्र भारत न देख सके।

भारत स्वतंत्र हुआ। गणतंत्र की स्थापना हुई। विदेशी शासन के खिलाफ असहयोग आंदोलन करते रहने से अग्रणी नेताओं के साथ सारी जनता आंदोलनकारी हो गई थी। स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद जनता में कुछ समय तक तो उल्लास रहा। पारस्परिक सहयोग भी बना रहा किंतु गणतंत्र का विधान पारित होते-होते चुनाव प्रणाली ने सारी जनता में आंदोलनकारी प्रवृत्ति जाग्रत कर दी। अब गांधी-मालवीय नहीं रह गये थे जिनका अनुगमन जनता मूकभाव से करती। सन् १९५० के बाद नेताओं की बाढ़ आ गई। घर-घर में नेता, गाँव-गाँव में दलबंदी; फिर विद्यार्थी और अध्यापक कैसे अछूते रह सकते थे। शिक्षा संस्थाएँ जैसी छोटी-बड़ी रहीं उन सब में उसी स्तर के आंदोलन होने लगे। महामना जी का विश्वविद्यालय राजनीतिज्ञों (कूटनीतिज्ञों) का अखाड़ा बन गया। विद्यार्थियों में चुनाव को लेकर पार्टी-बंदी, अध्यापकों में पार्टी-बंदी। प्रायः दलबंदियाँ जाति-विरादरी के आधार पर स्वार्थ-साधन के निमित्त होती रहीं। उनमें न तो विश्वविद्यालय के हित का और न राष्ट्रहित का ध्यान था और न तो दल के हित की ही बात दूर तक निभती थी। जैसे विद्यार्थी-नेता अन्य विद्यार्थियों को अपने नेतृत्व के लिए फुसलाते वैसे ही अध्यापक-नेता विद्यार्थी-नेताओं को अपने-अपने स्वार्थ-साधन के लिए वरगलाते। यद्यपि पार्टी-बंदी की झलक कुछ पहले ही से विश्वविद्यालय में मिल चुकी थी किंतु मालवीय जी के व्यक्तित्व से उभड़ने नहीं पाती थी। प्रांतीयता और क्षेत्रीयता की भी बातें सुनाई पड़ने लगीं और इन सबके मूल में अपने को सबल करने की भावना भी दृष्टिगोचर हुई। फलतः विश्वविद्यालय की दशा कुछ मलिन दिखाई पड़ने लगी। विद्यार्थियों में अध्यापकों के प्रति उतनी श्रद्धा नहीं रह गई।

स्वतंत्रता के बाद विश्वविद्यालय धन के लिए जनता का मुखापेक्षी नहीं रहा। भारत सरकार से प्रचुर धन प्राप्त होने लगा। कुछ अंश में उत्तर प्रदेश सरकार से भी आर्थिक सहायता मिलने लगी। प्रयोग-शालाओं में हर प्रकार के आधुनिक उपकरण उपलब्ध हुए। अनेक विद्या भवन, कई छात्रावास और अनेक छोटे-बड़े आवास कर्मचारियों तथा अध्यापकों के लिए बन गए। मालवीय जी द्वारा प्राप्त भूमि कम पड़ने लगी। हाल के वर्षों में वर्तमान कुलपति, डा० कालूलाल श्रीमाली जी के प्रयास से विश्वविद्यालय की जो भूमि आस पास के गाँवो में बिखरी पड़ी रही, उसे यथोचित कानूनन आवाप्त किया गया है और अच्छे अच्छे क्वार्टर बना दिए गए हैं। कृषि संकाय के लिए मिर्जापुर में ढाई हजार एकड़ जमीन सूखे क्षेत्र में कृषि अनुसंधान हेतु भी अवाप्त की गई है। अध्यापकों तथा कर्मचारियों की संख्या में पहले की अपेक्षा अधिक वृद्धि हो गई है, संभवतः उसी अनुपात में विद्यार्थियों की संख्या में बढ़ोत्तरी नहीं हुई है। हमें विश्वविद्यालय के विकास एवं वृद्धि से प्रसन्नता है किंतु अनुशासन, पारस्परिक प्रेम, आदर-सम्मान की कमी सदैव खटकती है और सबसे बड़ी कमी मालवीय जी के विराट् व्यक्तित्व की है जिसकी पूर्ति संभव नहीं है। पर यदि उनके द्वारा दर्शाए उदात्त आदर्शों, निष्कपट प्रेम व्यवहार, उच्च मानवीय मूल्यों और चारित्रिक अभ्युत्थान के पालन में अधिकारी, अध्यापक, छात्र और कर्मचारी लग जाँए तो यह ध्रुव सत्य है कि यह विश्वविद्यालय न केवल अपने पूर्व गौरव को प्राप्त कर ले अपितु सब प्रकार से विश्व का मूर्धन्य शिक्षा-संस्थान बन जाए। हमारी ईश्वर से प्रार्थना है कि वह हमें मालवीय जी के आदर्शों के पालन की क्षमता प्रदान करें और हमें उनके प्रदर्शित पथ की ओर उन्मुख करें।

निदेशक
भौतिकीकक्ष, हिन्दी प्रकाशन समिति
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

महामना और हिन्दी

डॉ० शितिकंठ मिश्र

महामना का व्यक्तित्व महान् एवं बहुमुखी था। उनके व्यक्तित्व की महानता का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की एक परिक्रमा ही पर्याप्त है। वे अलौकिक प्रतिभा के धनी थे, वाग्मिता उन्हें रिक्थ में मिली थी; उनके पूज्य पिता पं० ब्रजनाथ जी मालवीय अपने समय के गण्यमान्य व्यास थे। वे नैष्ठिक ब्राह्मण थे; साथ ही हरिजनों के प्रबल हितैषी; वे सनातनी थे किन्तु महान् प्रगतिशील। वे नालन्दा और तक्षशिला के प्रशंसक थे, साथ ही आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, प्रौद्योगिकी, वाणिज्य आदि की शिक्षा में अनिवार्यता के हार्दिक समर्थक भी। मालवीय जी महान् शिक्षा प्रेमी और चोटी के राष्ट्रभक्त थे। उनके विराट् व्यक्तित्व में अद्भुत क्षमताओं का मणिकांचन संयोग हुआ था।

हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रति अटूट अनुराग—हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रति उनका अनुराग अनुपम था। जब हिन्दी और नागरी के लिए चारों ओर निराशा का वातावरण छाया हुआ था उस समय मालवीय जी ने इसके लिए अविस्मरणीय महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया था। उनकी हिन्दी सेवा से हिन्दी जगत उपकृत हुआ और उन्हें प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति मनोनीत किया गया। उनके सभापति पद का अनुमोदन करते हुए श्री श्याम बिहारी मिश्र ने उचित ही कहा था 'जिस समय मालवीय जी ने हिन्दी की उन्नति का यत्न करना आरम्भ किया था उन दिनों हिन्दी के जानने वाले बहुत थोड़े थे। मालवीय जी उन दिनों हिन्दी की उन्नति के सम्बन्ध में बहुतेरी वक्तृतायें दिया करते थे। हिन्दी की जो उन्नति दिखाई देती है उसमें मालवीय जी का उद्योग मुख्य कहना चाहिए।'

यह सम्मान मालवीय जी को ऐसे ही नहीं मिला था बल्कि उन्होंने इसे अत्यन्त योग्यतापूर्वक अर्जित किया था। हिन्दी भाषा और काव्य साहित्य के प्रति रुचि बचपन से थी। काव्य साहित्य के प्रति उनके उत्साह का आभास उनके स्वरचित निम्नाङ्कित सोरठे से स्पष्ट है :

"गुनी जनन को साथ, रसमय कविता माँहि रुचि।
सदा दीजियो नाथ, जब जब इहाँ पठाइयो ॥"

इन्होंने बचपन म ही सूर और मीरा के सैकड़ों पदों का एक उत्कृष्ट संकलन किया था और भारतेन्दु कालीन समस्या पूर्तियों के क्रम में इन्होंने 'मकरन्द' उपनाम से 'राधारानी' की समस्यापूर्ति में अनेक मधुर सवैये रचे थे। भारतेन्दु काल के प्रसिद्ध लेखक प्रयाग-निवासी पं० बालकृष्ण भट्ट का इन पर बड़ा प्रभाव था और उनकी शैली पर इन्होंने भी 'जैन्टिलमैन' नामक एक प्रहसन लिखा था। इस प्रहसन के गद्य और पद्य की भाषा भारतेन्दु कालीन प्रवृत्ति के अनुसार खड़ी बोली हिन्दी है। इसकी कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत हैं :

"हिन्दुओं का खाना पीना हमको कुछ भाता नहीं।
बीफ चमचे से कटे होटल में जा खाता है हम॥
बाबू ओ चाचा का कहना लाइक़ हम करता नहीं।
पापा कहना अपने बच्चों को भी सिखलाता है हम॥"

पं० प्रताप नारायण मिश्र के प्रसिद्ध नारे 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' से भी ये प्रभावित हुए थे। बी० ए० पास करने के बाद ही इन्होंने हिन्दू समाज के साथ साहित्य समाज की स्थापना की थी। सन् १८८४ ई० में ही प्रयाग में हिन्दी उद्धारिणी प्रतिनिधिमध्य सभा की स्थापना हुई जिसके मालवीय जी प्रारम्भ से ही सक्रिय कार्यकर्त्ता रहे। इसके द्वारा हिन्दी भाषा-साहित्य एवं नागरी लिपि का प्रचार-प्रसार किया जाता था।

नागरी आन्दोलन का नेतृत्व :—मालवीय जी की वाक्शक्ति एवं तर्कशक्ति से प्रभावित होकर इलाहाबाद हाईकोर्ट के प्रमुख वकील श्री अयोध्यानाथ जी ने इन्हें वकालत करने के लिए प्रेरित किया। सन् १८९२ में मालवीय जी ने एल०एल०बी० परीक्षा उत्तीर्ण की और वकालत करने लगे। उन दिनों कचहरियों में उर्दू का बोलबाला था। इससे सामान्य अपढ़ एवं गाँव की जनता को अत्यधिक असुविधा होती थी। मालवीय जी को इसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ और जनता की इस कठिनाई से वे दुःखी थे। यूँ तो सन् १८३७ ई० में ही एक राजाज्ञा जारी हुई थी जिसके अनुसार प्रत्येक सरकारी विभाग में कामकाज देशी भाषाओं में होना था, फलतः बंगाल में बंगला, गुजरात में गुजराती, उड़ीसा में उड़िया का प्रचार भी हुआ किन्तु पश्चिमोत्तर प्रदेश में हिन्दुस्थानी के नाम पर उर्दू भाषा और फारसी लिपि प्रचलित हो गई। क्योंकि यूरोपीय विद्वानों ने यह भ्रम फैला दिया था कि उर्दू ही हिन्दुस्थानी है। इस भूल का संशोधन सन् १८८१ ई० में बिहार, मध्यप्रदेश में हुआ और उन प्रदेशों में नागरी लिपि और हिन्दी भाषा का प्रचलन हुआ। किन्तु पश्चिमोत्तर प्रदेश की जनता अपने वैध अधिकार से वंचित रखी गई। इस बीच राजेन्द्रलाल मित्र, बीम्स और मिन्काट जैसे सज्जनों ने हिन्दी का समर्थन अवश्य किया और तत्सम्बन्धी आज्ञायें भी निकली परन्तु उनका कोई सुपरिणाम न हुआ। अन्ततः मालवीय जी ने कचहरियों तथा प्रारम्भिक पाठशालाओं में फारसी लिपि के स्थान पर देवनागरी लिपि का प्रचार कराने के लिए एक मेमोरियल 'कोर्ट कैरेक्टर एण्ड प्राइमरी एजूकेशन' बड़े श्रम से तैयार किया। तमाम छानबीन की, आँकड़े एकत्र किए, और ६० हजार हस्ताक्षरों से युक्त एक निवेदन पत्र तैयार किया गया। इसे लेकर एक प्रभावशाली प्रतिनिधिमंडल २ मार्च १८९८ को गवर्नर सर एन्टोनी मैकडोनेल से मिला। इस कार्य में सन् १८९३ ई० में स्थापित नागरी प्रचारिणी सभा का पूर्ण समर्थन एवं सहयोग था। प्रतिनिधि मंडल में अयोध्या, मांडा, आवाँगढ़ के नरेश और सरसुन्दरलाल जैसे प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली लोग सम्मिलित थे। मालवीय जी के व्यक्तित्व एवं प्रयत्न का यह फल हुआ कि मैकडोनेल ने उर्दू के साथ नागरी लिपि को भी कचहरी के लिए मान्यता प्रदान कर दी।

हिन्दी के प्रबल समर्थक एवं सबल लेखक—उक्त घोषणा से हिन्दी भाषी जनता अत्यन्त प्रसन्न हुई और भारतेन्दु काल से चले आते हुए हिन्दी आन्दोलन का एक पक्ष सफल

हो गया; परन्तु हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में भ्रम एवं बाधायें यथावत् बनी रहीं। मालवीय जी ने इस भ्रम का निराकरण बड़ी योग्यता से प्रथम साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से दिए गए अपने भाषण में किया। उससे इनका हिन्दी प्रेम और अगाध ज्ञान दोनों स्पष्ट होता है।—'हिन्दी के सम्बन्ध में बहुत सा विवाद है।······जो विदेशी हिन्दी के विद्वान् हैं वे तो यहीं कहते आये हैं कि हिन्दी कोई भाषा नहीं है। इस भाषा का नाम उर्दू है। इसी का नाम हिन्दुस्थानी है। किन्तु हिन्दी संस्कृत की सबसे बड़ी बेटी है। हिन्दी भाषा वह है जिसमें चन्द कवि से लेकर आज तक हिन्दी ग्रन्थ लिखे गये।······यह सही है कि पहले इसका नाम भाखा था—हिन्दी भाषा। पर नाम तो बदलता रहता है; जैसे देवदत्त बाद में भीष्म हो गये पर व्यक्ति वही रहे। इसी तरह पहले जो भाषा थी वहीं अब हिन्दी है और हिन्दी सब बहनों में माँ (संस्कृत) की बड़ी और सुघर बेटी है, और यह अपनी बहनों (अन्य देशी भाषाओं) में प्राचीनतम है। परन्तु सन् १८३५ और' ५८ के बाद इसकी और बहनें आगे बढ़ गईं। यह जहाँ की तहाँ रह गई। यह हिन्दी प्रेमियों के लिए लज्जा की बात है।' उन्होंने अत्यन्त क्षुब्ध होकर इसी प्रसंग में फटकारते हुए कहा था कि 'जब तक आप इस लज्जा को न मिटावें, अपनी माँ की बोली न सीखें तब तक आप मुँह न दिखावें।' आप सरकारी दफ्तरों, कचहरियों और विद्यालयों में हिन्दी का ही प्रयोग करें और सरकार ने जो सुअवसर दिया है उसका लाभ उठावें। कालेजों के लिए अच्छी पाठ्य पुस्तकें लिखें, अनुवाद करें। वे सरल, सुगम एवं स्वच्छ भाषाशैली के समर्थक एवं लेखक थे। उनका पूर्ण विश्वास था कि ऐसी ही हिन्दी एक दिन राष्ट्रभाषा होगी। हिन्दी में उर्दू फारसी के जो शब्द आ गये हैं उनका प्रयोग करने में संकोच नहीं होना चाहिए। किन्तु नए शब्द संस्कृत से गढ़े जाँय। 'हिन्दोस्तान', 'अभ्युदय' और 'मर्यादा' के सम्पादकीय लेखों में उनकी यह भाषा शैली स्वच्छ रूप में दिखाई देती है। वे केवल हिन्दी और नागरी के प्रचारक नहीं बल्कि हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ वक्ता, लेखक, सम्पादक और साहित्यकार थे।

हिन्दू विश्वविद्यालय में शिक्षा माध्यम और हिन्दी

वैसे तो सन् १९०४ में ही महाराज बनारस की अध्यक्षता में मिन्ट हाउस में एक सभा हुई थी और मालवीय जी ने उसमें विश्वविद्यालय की विराट् कल्पना का परिचय दिया था, किन्तु १९०५ में (टाउन हाल) काशी में ही जब राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन हुआ तो मालवीय जी ने सदस्यों के समक्ष अपनी अद्भुत योजना विस्तार से प्रस्तुत की और कहा कि मातृ भाषा के माध्यम से संसार की सम्पूर्ण विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन का एक केन्द्र काशी में स्थापित किया जाय। उसी समय वैदिक विद्यालय, भाषा विद्यालय, आयुर्वेद विद्यालय, स्थापत्य-रसायन, कृषि, शिल्पकला, गन्धर्व एवं ललितकला विद्यालयों की योजना मालवीय जी ने प्रस्तुत की थी। योजना तैयार तो हुई किन्तु कई कारणों से १९१० तक इसे क्रियान्वित करने की दिशा में अधिक काम नहीं किया जा सका। १९११ में पुनः यह योजना गतिशील हुई और १९१५ तक २५ लाख रुपयों की प्राप्ति की स्वीकृति मिलते ही हिन्दू विश्वविद्यालय विधान भी स्वीकृत हो गया। सन् १९१६ की बसंत पंचमी के दिन लार्ड हार्डिंज द्वारा शिलान्यास हुआ।

१९०५ में ही उन्होंने शिक्षा के माध्यम पर अपना सुचिंतित एवं मौलिक विचार स्पष्ट कर दिया था :—"इस स्थान पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कम से कम प्रारम्भ में अंग्रेजी द्वारा शिक्षा क्यों न दी जाय ? जिससे विदेशी तथा अन्य अहिन्दी भाषा भाषी प्रान्तों से आने वाले अध्यापकगण इस भाषा के द्वारा शिक्षा दे सकें। इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि हमारा उद्देश्य तो अधिकाधिक व्यक्तियों को शिक्षित बनाना है। इसलिए उसी भाषा के द्वारा शिक्षा देना उचित होगा जिसको अधिकाधिक व्यक्ति आसानी से समझ सकें।' अंग्रेजी सीखकर शिक्षा प्राप्त करने में अधिक समय एवं श्रम लगेगा किन्तु देशी भाषाओं द्वारा किसी विषय का अध्ययन करना अपेक्षाकृत अधिक सुगम होगा। "दूसरा कारण यह भी है कि यदि प्रारम्भ से ही देशी भाषाओं के माध्यम द्वारा शिक्षा नहीं दी जायेगी तो देशी भाषाओं में पाठ्य पुस्तकों का प्रकाशन एकदन बन्द हो जायेगा जिससे अंग्रेजी से पीछा छुड़ाना हमारे लिए एक प्रकार से असम्भव हो जायेगा।" मालवीय जी ऋषि थे। उनकी बातों पर सम्यक् ध्यान न देने का दुष्परिणाम हमारे सामने हैं। ग्रन्थ अकादमी, हिन्दी समिति और न जाने कितने विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग मिल कर भी इस कमी की अभी तक पूर्ति करने में असमर्थ हैं। उन्होंने तो यहाँ तक सोचा था कि विश्वविद्यालय के भिन्न-भिन्न विभागों में शिक्षा देने के लिए देश-विदेश से सुयोग्य व्यक्ति निमंत्रित किए जाँय और यदि वे हिन्दी न जानते हों तो उनके भाषण प्रारम्भ में हिन्दी में अनूदित कर दिए जाँय। किन्तु उनसे अपेक्षा की जायेगी कि वे थोड़े समय में हिन्दी की व्यावहारिक योग्यता से परिचित हो जायेंगे। उक्त निश्चय के अनुसार हिन्दी विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम स्वीकृत हुई, क्योंकि देश में यही भाषा सबसे अधिक बोली तथा लिखी जाती थी। किन्तु आगे चलकर १९११ में जब पाठ्य क्रम तैयार हुआ और शिक्षा के माध्यम के बारे में पुनः प्रश्न उठा तो इसमें अनेक कठिनाइयों का व्यावहारिक अनुभव किया गया। कठिनाइयाँ शासकीय और व्यावहारिक स्तर पर थीं। एक तो हिन्दी में ज्ञान-विज्ञान की पाठ्य पुस्तकों का अभाव बना हुआ था दूसरे देश के प्रत्येक प्रान्त से आने वाले छात्रों को पहले हिन्दी सिखाना कठिन मालूम पड़ा, यद्यपि आज कल विदेशों में जाने वाले छात्र पहले जाकर उस देश की भाषा मे योग्यता प्राप्त करते हैं इसके पश्चात् अध्ययन में लगते हैं और कोई कठिनाईं नहीं होती। किन्तु हिन्दी का यह सौभाग्य नहीं था और आरम्भ में इस लक्ष्य को विवशतापूर्वक त्यागना पड़ा। किन्तु किसी विषय को हिन्दी माध्यम द्वारा पढ़ाने का अधिकार विश्वविद्यालय ने सुरक्षित रखा और सामान्यतया अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम तात्कालिक रूप से स्वीकार कर लिया गया तथा अंग्रेजी भाषा की उपयोगिता का ध्यान रखते हुए इसको गौण भाषा मानकर इसके भी शिक्षा की व्यवस्था जारी रखने का निश्चय किया।

हिन्दी विभाग की स्थापना—विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी अध्ययन अध्यापन का प्रबन्ध करने का श्रेय महामना मालवीय जी को है जिनकी प्रेरणा से सन् १९२२ में हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग की स्थापना हुई। इसके पूर्व केवल नाम मात्र के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय में हिंदी एम० ए० के लिए स्वीकृत की गई थी पर अध्यापन की कोई व्यवस्था वहाँ न थी। वर्षों तक कोई विद्यार्थी परीक्षा में सम्मिलित नहीं हुआ।

प्रसिद्ध भाषाविद् नलिनी मोहन सान्याल इस विभाग से हिन्दी में एम० ए० करने वाले प्रथम छात्र थे। हिन्दू विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग बा० श्यामसुन्दर दास की देख रेख में शीघ्र ही पूरे देश में हिन्दी की उच्च शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया। पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय, पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा लाला भगवानदीन जैसे विद्वान् इस विभाग में अध्यापक हुए। इसी विभाग में सर्वप्रथम हिन्दी में शोध का महत्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ हुआ और डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने अपने महत्वपूर्ण शोध प्रवन्ध पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की।

मालवीय जी की इच्छा थी कि शीघ्र ही सभी विषयों का अध्यापन हिन्दी के माध्यम से होने लगे। परन्तु भारत सरकार के तत्कालीन शिक्षा सचिव हरकोर्ट वटलर ने इसका विरोध किया और कहा कि यदि अंग्रेजी के बजाय हिन्दी या अन्य कोई देशी भाषा विश्वविक्षालय की शिक्षा का माध्यम बनाई गई तो सरकार विश्वविद्यालय से अपना सम्बन्ध तोड़ लेगी। विश्वविद्यालय उन दिनों शैशवावस्था में था। मालवीय जी नीति वश चुप रह गये और उनकी एक वहुत बड़ी अभिलाषा अधूरी रह गई। हमारे वर्तमान कुलपति डा० कालूलाल श्रीमाली मालवीय जी के आदर्शों पर चलने वाले देश के सर्वमान्य शिक्षाविद् एवं चोटी के राजनेता हैं। उनका हिन्दी अनुराग भी सर्वविदित है। अतः आशा है कि इनके नेतृत्व एवं मार्गदर्शन में हिन्दी विश्वविद्यालय के विविध विभागों में अपना उचित स्थान शीघ्र ही प्राप्त कर लेगी। इस दिशा में पाठ्य तुस्तकों की रचना एवं अनुवाद तथा प्रकाशन के लिए विश्वविद्यालय प्रशंसन सराहनीय कार्य आरम्भ भी कर चुका है। विश्वास है कि निकट भविष्य में मालवीय जी का यह स्वप्न साकार हो जायेगा। हीरक जयन्ती के अवसर पर हिन्दी जगत की मालवीय जी के प्रति यह सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
दयानन्द महाविद्यालय, वाराणसी

महामना का बहुमुखी व्यक्तित्व

कृष्णदत्त द्विवेदी

महामना पंडित मदन मोहन मालवीय का व्यक्तित्व देश के सर्वोच्च नेताओं में अग्रगण्य हैं। राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों में सक्रिय रूप से रत रहने वाले महामना अपने विपुल ज्ञान भण्डार को पुस्तकीय चिन्तन के रूप में व्यक्त नहीं कर सके हैं। अतः मालवीय दर्शन के प्रति जानकारी प्राप्त करने वाले जिज्ञासुओं को उनके कार्य तथा जीवन के विविध अंगों का अध्ययन करना पड़ेगा। उन्होंने अपने स्वस्थ चिंतन को साकार रूप प्रदान करने में ही अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया। वे कहा करते थे कि कोई काम प्रारम्भ करने के पहले उसके संबन्ध में अच्छी प्रकार सोच समझ लेना चाहिए। कार्यारम्भ कर देने के बाद उस कार्य के संबन्ध में दुविधा का भाव उत्पन्न होना ठीक नहीं। वे गीता के कर्मवाद पर विश्वास रखने वाले महान् कर्मयोगी थे। अतः जीवनपर्यन्त गीता का पाठ करने वाले महामना का यह दृष्टिकोण स्वाभाविक ही था।

मालवीय जी का व्यक्तित्व अपने ढंग का निराला था। जहाँ एक ओर कार्यक्षेत्र में प्रगतिशील कहलाने वालों से भी वे अधिक प्रगतिशील थे, वहीं दूसरी ओर पुरानी मान्यताओं के प्रति अत्यधिक निष्ठावान् भी थे। ऐसा विलक्षण व्यक्तित्व देश के किसी अन्य नेता में नहीं मिलता।

महामना राष्ट्रीयता के सच्चे उपासक थे। उनके कार्यों को हम मुख्यतया तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—शिक्षा संबन्धी, धर्म (समाज) संबन्धी, राजनीति संबन्धी।

दृढ़ संकल्प :

मालवीय जी की सबसे प्रमुख विशेषता यह थी कि वे जो कुछ भी करने का संकल्प करते थे, उसे पूरा करने के क्षेत्र में अपना सर्वस्व अर्पित कर देते थे। उनके पिता की मासिक आय पाँच रुपये थी। इस दयनीय आर्थिक स्थिति में उन्होंनें संस्कृत के साथ सर्वप्रथम अंग्रेजी स्कूल में पढ़ने का निश्चय किया, जो उनके बड़े परिवार को देखते हुए एक असंभव कार्य था किन्तु उन्होंने धैर्य पूर्वक अपनी शिक्षा पूरी कीं।

उनका दूसरा संकल्प एक महान् विश्वविद्यालय की स्थापना करना था, उसे भी उन्होंने पूरा करके ही दम लिया। उक्त दोनों ही कार्य अतीव दुष्कर थे। समाज सुधार, शिक्षा तथा धर्म के क्षेत्र में भी महामना ने समान रूप से कार्य किया था। इस लेख में उनके प्रारम्भिक जीवन की कतिपय उल्लेखनीय घटनाओं के प्रसंग में उनके व्यक्तित्व के विवेचन का संक्षिप्त प्रयास किया गया है।

मानव एक ऐसा प्राणी है, जो किसी कार्य को करने के पहले सर्वप्रथम उसे करने का संकल्प करता ह और पुनः उस कार्य को योजनाबद्ध रूप से कार्यान्वित करता है। संकल्प शक्ति और कार्य करने की दृढ़ता के सामंजस्य द्वारा व्यक्ति महान् से महानतम बनता है। महामना में संकल्प को पूरा करने की अद्भुत क्षमता थी।

प्रारम्भिक जीवन :

शिक्षक से पत्रकार : प्रारम्भ में महामना ने पचास रुपये मासिक पर राजकीय हाई स्कूल प्रयाग में अध्यापन कार्य आरम्भ किया। परन्तु उन्हें जो काम करना था वह इस कार्य से परे अतीव विस्तृत क्षेत्र तक व्याप्त था। १८८६ ई० में सर्वप्रथम मालवीय जी राष्ट्रीय महासभा के संपर्क में आये। इसमें आने के साथ ही उनका परिचय सम्पूर्ण देश से हो गया। उन्होंने इस बात का कई बार उल्लेख भी किया है कि राष्ट्रीय महासभा मेरी सफलता की पहली सीढ़ी है। सन् १८८४ ई० के राष्ट्रीय महासभा के मंच पर कालाकांकर के स्वर्गीय महाराज श्रीरामपाल सिंह मालवीय जी के भाषण से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने उन्हें दो सौ रुपये मासिक पर 'हिन्दुस्तान' का सम्पादक बनाने का प्रस्ताव रखा। उन्होंने वकालत पढ़ने की शर्त भी लगायी। 'हिन्दुस्तान' का सम्पादन महामना ने सशर्त स्वीकार किया। उनकी शर्त थीं जिस समय 'हिन्दुस्तान' के संचालक महाराज ने मद्यपान किया हो, उस समय वे महामना से न बोलें साथ ही अपने पास बुलावें भी नहीं। महाराज रामपाल ने शर्त स्वीकार कर ली। इस प्रकार १८८७ ई० में स्कूल से त्यागपत्र देकर मालवीय जी पत्रकार बने। मालवीय जी कुशल प्रूफरीडर थे। सामग्री के मशीन पर छपते-छपते भी वे संशोधन किया करते थे। उन्होंने 'हिन्दुस्तान' का ढाई वर्षों तक सम्पादन किया। एक दिन बहुत आवश्यक परामर्श के लिए महाराज ने मालवीय जी को बुलाया। वार्ता के बाद मालवीय जी ने कहा—"आज से मेरा अन्न-जल आपके यहाँ से उठ गया। आपने जो शर्त की थी, वह टूट गयी। मैं आज रात को या कल चला जाऊँगा। आप अपने पत्र का प्रबंध कर लें। आपकी उदारता और स्नेह मैं कभी नहीं भूलूंगा। राजा साहब ने एक शर्त स्वीकार कराकर मालवीय जी को विदा किया। राजासाहब की शर्त थी कि मालवीय जी वकालत पढ़ें और खर्च महाराज भेंजे, जिसे उन्हें स्वीकार करना होगा। १८८९ में मालवीय जी 'हिन्दुस्तान' की नौकरी छोड़कर चले आये। इसके बाद वे 'इंडियन ओपिनियन' (भारतीय मत) के सम्पादन में पंडित अयोध्या नाथ जी का हाथ बटाने लगे।

पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'अभ्युदय' पत्र का भार मालवीय जी के ऊपर छोड़ दिया। मालवीय जी ने अनेक आर्थिक कठिनाइयों के बीच रहते हुए भी दो वर्षों तक इस पत्र का सम्पादन किया। प्रान्तीय कौंसिल के सदस्य निर्वाचित कर लिये जाने पर उन्होंने इसका भार राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन पर छोड़ दिया। मालवीय जी के ही उद्योग से सन् १९०९ ई० में विजयादशमी के शुभ अवसर पर 'लीडर' का प्रकाशन आरम्भ किया गया। 'न्यूज पेपर्स लि०' के अन्तर्गत निकाले जाने वाले पत्र 'लीडर' के पं० मोतीलाल नेहरू प्रथम अध्यक्ष हुए। पश्चात् बीस वर्षों तक मालवीय जी इसके अध्यक्ष पद पर कार्य करते रहे। १९२६ ई० में इस प्रेस में स्वचालित मशीने मंगायी गयीं। १९२४ ई० में 'हिन्दुस्तान टाइम्स' का दायित्व मालवीय जी ने अपने ऊपर लिया और उन्हीं के प्रयासों से इसका हिन्दी संस्करण भी प्रकाशित किया जाने लगा। २० जुलाई १९३३ ई० को गुरुपूर्णिमा के अवसर पर साप्ताहिक 'सनातन धर्म' का सम्पादन मालवीय जी के संरक्षण में आरम्भ किया गया। १८९८ ई० में 'हिन्दुस्तान रिव्यू' प्रकाशित होने पर मालवीय जी ने उसे

अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया। १९०३ ई० में दूसरे पत्र 'इंडियन पीपुल्स' को भी इनका आशीर्वाद मिला। मालवीय जी ने इन पत्रों के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना का व्यापक प्रचार तथा प्रसार किया। वे पत्रों में अश्लील विज्ञापनों के घोर विरोधी थे।

वकालत :

रामपाल सिंह, पंडित सुन्दरलाल तथा पंडित अयोध्या नाथ जी की प्रेरणा से मालवीय जी वकालत की परीक्षा देने को वाध्य हुए। इसे बुरा पेशा मानते हुए भी वे मित्रों की वात टाल न सके। इसके लिए रामपाल सिंह जी 'हिन्दुस्तान' पत्र छोड़ने के वाद भी वरावर अपनी शर्त के अनुसार २५०) प्रति मास मालवीय जी के पास भेजते रहे। १८९७ ई० में मालवीय जी ने एल० एल० बी० की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली।

मालवीय जी ने पं० वेनीराम जी के साथ प्रैक्टिस आरम्भ की। पश्चात उन्होंने अपनी स्वतः प्रैक्टिस आरम्भ कर दी और थोड़े ही दिनों में उनकी वकालत चमक उठी। वकालत का काम उनके पास इतना अधिक आने लगा कि वे उसे अपने मित्रों में बांटने के लिए वाध्य हो जाते थे। तेज बहादुर सप्रू को प्रथम बार मालवीय जी ही ले आये थे और उन्हें अपने केस देकर, प्रैक्टिस कराने लगे, जो कालान्तर में उच्चकोटि के वकील हुए।

कुशल अधिवक्ता :

४ फरवरी १९२३ ई० को गोरखपुर में चौरीचौरी में एक भयंकर दुर्घटना हुई। जनता ने क्रुद्ध होकर पुलिस थाने में आग लगा दी, जिससे २१ पुलिस थानेदार और सिपाही जल कर मर गये। इस काण्ड में दो सौ पचीस व्यक्तियों पर मुकदमा चला। न्यायाधीश ने इनमें १७० व्यक्तियों को मृत्युदण्ड दिया। यह मामला उच्च न्यायालय में विचाराधीन था। मालवीय जी उन दिनों पैक्टिस छोड़ चुके थे, किन्तु स्वाधीनता के सेनानियों के आग्रह पर इस केस की पैरबी करना उन्होंने स्वीकार कर लिया। निरन्तर ७ दिनों तक गम्भीरतापूर्वक मुकदमें को समझ कर, उन्होंने वहस की। उनके अकाटच तर्क से १५१ व्यक्ति मृत्युदण्ड से मुक्ति पा गये। बहस के दौरान न्यायाधीश ने कई बार मालवीय जी के अकाटच तर्कों की प्रशंसा की और अपने निर्णय में लिखा—"इन अभियुक्तों को चाहिए कि ये मालवीय जी को धन्यावाद दें, क्योंकि उन्हीं के अकाटच तर्क और वहस के कारण इन लोगों की जाने वच पायी हैं।"

विश्वविद्यालय के चन्दे की कतिपय घटनाएं :

एक बार महामना निजाम हैदराबाद के यहां काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए चन्दा लेने गये हुए थे। निजाम ने उन्हें चन्दा देने से साफ इंकार करते हुए कहा कि "मैं 'हिन्दू' विश्वविद्यालय के लिए चन्दा कदापि नहीं दे सकता।" महामना लौट रहे कि मार्ग में किसी धनाढच खानदान का शव जा रहा था और रुपये लुटाये जा रहे थे। महामना भी रुपये लूटने लगे कुछ परिचित लोगों ने उन्हें रुपये लूटते हुए देखकर पहचान लिया और कहा—"महामना जी आप महान पुरुष हैं। आपकी ख्याति सारे देश में फैली हुई है आप यह क्या कर रहे हैं ?" माहामना ने कहा कि "काशी जाकर मैं क्या

उत्तर दूंगा कि हैदराबाद से खाली आया हूं। ये रुपये विश्वविद्यालय के लिए हैदराबाद के नाम से जमा किये जायेंगे।" यह सूचना निजाम के यहां पहुंची तो वे बहुत लज्जित हुए और मालवीय जी को बुलाकर, विश्वविद्यालय के लिए दान दिया।

इसी प्रकार की दूसरी भी एक घटना महत्वपूर्ण है। महामना लखनऊ के नवाब के यहां विश्वविद्यालय के लिए चन्दा लेने गये हुए थे। नवाब ने चन्दा देने से साफ इनकार करते हुए कहा कि "मैं चन्दा नहीं दे सकता।" महामना ने दो लाख चन्दा देने का प्रस्ताव रखा था, जो घटते-घटते दस रुपये तक पहुंच गया था। नवाब ने इतना देने से भी इनकार कर दिया। जाते-जाते महामना ने अन्तिम निवेदन करते हुए कहा कि "मैं कहीं से वापस नहीं हुआ हूं। आपसे अनुरोध है कि 'कुछ' तो दे दीजिये।" ऐसा कहते हुए महामना ने अपना श्वेत दुपट्टा पसार दिया। नवाब ने झट अपने पैर का जूता उतारा और दुपट्टे में डाल दिया। महामना इस अशोभनीय घटना से जरा भी विचलित नहीं हुए और उस जूते को यत्नपूर्वक काशी लाये। काशी पहुंचकर उन्होंने समाचार-पत्रों में विज्ञापन निकाला कि "अमुक नवाब ने विश्वविद्यालय के लिए महामना को अपना जूता दान दिया है, जिसको अमुक तिथि पर नीलाम किया जायगा।" इस समाचार को पढ़ कर उक्त नवाव वहुत लज्जित हुआ और उसने स्वयं आकर, महामना से क्षमा मांगते हुए अपना जूता भारी दान देकर क्रय किया।

राजा वलदेवदास जी बिड़ला न एक वार घोषणा की कि वे गंगा में किसी अधिकारी व्यक्ति को दान करेंगे। इस प्रकार दान लेना शास्त्र सम्मत नहीं माना जाता है। अतः कोई अधिकारी व्यक्ति दान लेने के लिए तैयार नहीं हो रहा था। महामना को जव यह सूचना मिली तो उन्होंने बिड़ला जी को लिखा कि मैं इस प्रकार का दान लेने को तैयार हूँ। इस बात पर काशी के विद्वत् समाज में महामना की बड़ी कटु आलोचना की गयी, किन्तु महामना अपनी बात पर दृढ़ रहे और उन्होंने निश्चित तिथि पर उक्त दान लिया। बिड़ला जी ने भी महामना जैसे अधिकारी व्यक्ति के दान लेने की सूचना मिलने पर दान की राशि काफी बढ़ा दी। उक्त दान की कार्यवाही के समय काफी भीड़ एकत्रित हो गयी और महामना के प्रति बड़ी काना-फूसी हुई। महामना ने उक्त दान लेने के साथ ही तुरन्त उस दान की धनराशि में अपने पास से कुछ रुपये मिलाकर, वहीं उक्त दान काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को दे दिया। इस पर उपस्थित आलोचकों के साथ ही भीड़ ने "साधु-साधु" के नारे के साथ, "महामना जिन्दाबाद" के नारे से उनका स्वागत किया। (महामना मालवीय जी, पृ० १९५)।

वकालत के पेशे में महामना काफी कामयाब रहे। वे चाहते तो अपार धन एकत्रित करते, किन्तु उन्होंने उसका परित्याग करके, राष्ट्रीय सेवा का व्रत ले लिया और अपना सर्वस्व राष्ट्र के लिए सर्मपित कर दिया। उन्होंने परिवार के लिए कुछ भी नहीं किया। उनके परिवार पर काफ़ी ऋण हो गया था। इस समाचार का पता ग्वालियर के महाराज को लगा। महाराज समय निकाल कर काशी आये और उन्होंने मालवीय जी को उनके नाम डेढ़ लाख का चेक दिया। मालवीय जी ने कहा कि "मैं अपने व्यक्तिगत काम के लिए कभी भी चन्दा या दान नहीं लूंगा यह मेरा संकल्प है।" महाराज ने कहा—

"आप महान् पण्डित हैं। आप ही वताइये कि क्या दिया हुआ दान वापस लेने की हमारे शास्त्रों की आज्ञा है।" महामना ने कहा कि "ऐसी आज्ञा तो नहीं है, किन्तु मेरा संकल्प भी अडिग है। अस्तु, यदि आप दान देना ही चाहते हैं तो मैं इस धनराशि को 'सनातन धर्म महासभा' के खाते में इन्डोर्स करवा कर जमा कर देता हूँ। उन्होंने तुरन्त ही उसे उक्त खाते में जमा करा दिया। उन्होंने कहा कि "उक्त संस्था को इस समय रुपयों की नितान्त आवश्यकता है। आशा है, इस कार्य से हम दोनों के संकल्प में कोई बाधा नहीं पड़ेगी।"

इस प्रकार महामना ने उक्त धनराशि अपने लिए लेने से साफ इंकार कर दिया। दान के संबंध में बम्बई की एक घटना भी उल्लेखनीय है। एक जैन महानुभाव के पास महामना काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए चन्दा लेने गये हुए थे। उस पुरुष ने कुछ भी देने से इनकार कर दिया। महामना प्रयास करके वापस लौट आये, दान न मिला; किन्तु महामना ने कभी हार नहीं मानी थी, उन्होंने उस व्यक्ति के सम्पर्की व्यक्ति की तलाश आरम्भ कर दी। पता लगा कि एक जैन मुनि का वह जैन सेठ बड़ा भक्त है। महामना उस मुनि के पास गये और उन्होंने कहा कि "काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में मैं जैन दर्शन की पढ़ाई प्रारम्भ करना चाहता हूँ। इसके लिए आप मुझे अपने भक्त उक्त जैन सेठ से आवश्यक धन दिलाने की कृपा करें।" जैन मुनि इस बात के लिए सहमत हो गये और उन्होंने अपने दिये हुए वचन के आधार पर अपने शिष्य जैन सेठ से महामना को पर्याप्त धनराशि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को दिलवायी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से संबंधित ऐसी अनेक घटनाएं हैं। यह विश्वविद्यालय जो विश्व के विश्वविद्यालयों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है, महामना की त्याग और तपस्या का साकार स्वरूप है।

महामना और शिक्षा :[१]

शिक्षा के क्षेत्र में मालवीय जी ने पराधीन भारत में जो कार्य किया वह विश्व के इतिहास में एक अद्भुत घटना है। महामना का यह विश्वास था कि राष्ट्रीय चरित्र के भविष्य के लिए आने वाली पीढ़ी को शिक्षा की उत्तमोत्तम व्यवस्था प्रदान की जानी चाहिए। पराधीनता से मुक्ति के लिए यह आवश्यक है कि इस विशाल देश मे शिक्षा का व्यापक रूप से प्रसार किया जाय।

भारत जैसे विशाल देश में दूषित शिक्षा प्रणाली को देखते हुए उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की विशाल योजना बनायी और अपने संकल्प के अनुसार विश्व के इस महान् विद्यामन्दिर की स्थापना की।

महामना विश्वविद्यालय को, चरित्र विकास का साधन मानते थे। धर्म और भारतीय संस्कृति पर उनकी अटूट श्रद्धा थी। काशी भारतवर्ष की पुनीत नगरी है। अतः उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए इसी नगर का चुनाव किया। तक्षशिला के ऐतिहासिक विश्वविद्यालय की चर्चा इतिहास में मिलती है, जहाँ दस हजार

---

१ महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय—सम्पादक—पं० सीताराम चतुर्वेदी, (पौष कृष्णाष्टमी, सं० १९०३ वि०)

छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए उन्होंने करोड़ों रुपये एकत्र किये थे। इस विश्वविद्यालय के लिए उन्होंने छोटे बड़े सभी प्रकार के दान लिये थे।

धर्म-दर्शन तथा कला के पुजारी महामना में अपूर्व दूरदर्शिता थी। उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना करते समय कला और विज्ञान के व्यापक महत्व को समझ कर, अपनी शिक्षा नीति निर्धारित की थी। उनका विचार था कि धर्म-दर्शन तथा कला की शिक्षा के साथ ही विज्ञान तथा प्राविधिकी की शिक्षा अतीव आवश्यक है। महामना के अनुसार—धर्म-दर्शन तथा कला की शिक्षा मनुष्य के सिर की भांति है और विज्ञान तथा प्राविधिक शिक्षा उसके धड़ के समान है। उक्त दोनों प्रकार की शिक्षा एक दूसरे की पूरक हैं। दोनों का शरीर के अवयव धड़ तथा सिर की भांति अपना-अपना महत्व है। विज्ञान की शिक्षा के अभाव में कला की शिक्षा तथा कला की शिक्षा के बिना विज्ञान की शिक्षा अधूरी है। यही कारण है कि वेदवेदांग, धर्म-दर्शन तथा कला की शिक्षा के साथ ही महामना ने इस महान विश्वविद्यालय में विज्ञान तथा प्राविधिक शिक्षा की समुचित व्यवस्था की। यह उनकी दूरदर्शिता का ज्वलन्त उदाहरण है।

माध्यम :

महामना का विचार था कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए। २६ जनवरी १९२० ई० के काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण में महामना ने स्पष्ट रूप से कहा था कि—"·········स्कूलों में ही नहीं, विश्वविद्यालयों तथा उच्च श्रेणियों में भी देशी भाषाओं के माध्यम द्वारा शिक्षा-व्यवस्था होनी चाहिए।·········संसार में कोई भी ऐसा देश नहीं है, जहाँ प्रारम्भिक तथा उच्च श्रेणियों की शिक्षा के लिए मातृ भाषा का प्रयोग न किया जाता हो। हम लोगों को भी शिक्षा का माध्यम अपनी भाषा को ही बनाना चाहिए। (महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय, पृ० ४२)। उन्होंने कहा था कि मातृभाषा को माध्यम बनाने के अनन्तर पाठ्य पुस्तकें तैयार करने का काम अभी से आरम्भ करना होगा। उनके अनुसार-पुस्तकें तैयार कर लेने के बाद माध्यम मातृभाषा बनाना अव्यावहारिक होगा। मातृभाषा को माध्यम बनाने के बाद क्रमशः स्वतः ही पाठ्य सामग्रियों का प्रकाशन होने लगेगा और भाषा का द्रुत गति से विकास सम्भव हो सकेगा।

मालवीय जी के अनुसार—"प्रारम्भिक अवस्था में हमें केवल विद्यार्थियों को पढ़ाने लिखाने तथा जोड़ने की शिक्षा देकर ही चुप नहीं रह जाना चाहिए। संसार की सर्वतोमुखी प्रगति को देखते हुए शिक्षा व्यवस्था का यह क्रम सर्वथा अनुपयुक्त है। अपने देश में प्रारम्भिक अवस्था में प्रारम्भिक विज्ञान तथा साधारण रोचक शिक्षा की ओर ध्यान देना चाहिए।"

"द्वितीय श्रेणी की शिक्षा कितनी अवस्था तक के विद्यार्थियों को दी जाय, इस बात पर भी हमें विचार करना है। मेरे विचार से १४ वर्ष से १७ वर्ष या १८ वर्ष तक के विद्यार्थियों को यह शिक्षा दी जानी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा पाने वाले द्वितीय श्रेणी की शिक्षा में प्रवेश पा सकें, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए।"

अर्थकारी शिक्षा की अवधारणा :

महामना ने अपने उपर्युक्त दीक्षान्त भाषण में शिक्षा के संबंध में कहा था कि "विद्यार्थियों को इस योग्य भी बना देना चाहिए कि वे किसी-न-किसी उपाय से अपना जीविकोपार्जन कर सकें। हाई स्कूल की शिक्षा अन्य देशों की भाँति सफल तभी मानी जा सकती है, जब वह विद्यार्थियों को अर्थार्जन योग्य बनाने वाली हो।"

"उपर्युक्त माध्यमिक अर्थार्जनपरक शिक्षा होने पर हाई स्कूल की शिक्षा में शिक्षार्थियों की संख्या में वृद्धि होगी और उच्च शिक्षा पर व्यय किये गये धन का परिणाम भी इस अवस्था में अच्छा होगा।"

"शिक्षा के लिए युवकों को दूर नहीं जाना पड़े और छात्र अर्थकरी शिक्षा कम व्यय पर अपने समीप के विद्यालय में ही प्राप्त कर सकें, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए।

कला और विज्ञान की शिक्षा पर समान बल :

"केवल कला संबंधी शिक्षा देने से ही किसी देश का हित नहीं हो सकता, अपितु विज्ञान की पिछली शताब्दियों की उन्नति को देखते हुए तथा विज्ञान की प्रयोगात्मक क्षेत्रों में जो असाधारण उन्नति हुई है, उसे देखते हुए हममें से कोई विचारवान व्यक्ति यह कहने का साहस नहीं करेगा कि प्रारम्भिक स्कूलों में जो शिक्षा-व्यवस्था की जाय, उसमें विज्ञान की शिक्षा का कार्यक्रम न हो तथा हाईस्कूलों में किसी प्रकार की उद्योग-धन्धा संबंधी शिक्षा का उचित प्रबन्ध न हो। शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही होनी चाहिए।

विश्वविद्यालय शिक्षा का उद्देश्य :

महामना ने अपने १४ दिसम्बर १९२९ ई० के दीक्षान्त भाषण में विश्वविद्यालय के शिक्षा के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि—"………प्रयोगात्मक ज्ञान के साथ विज्ञान, कला-कौशल तथा व्यवसाय संबंधी ऐसी शिक्षा विद्यार्थियों को दी जाय, जिससे देशी व्यवसाय तथा घरेलू धन्धों की उन्नति हो।"

नवयुवक बेकारी पर महामना के विचार :

महामना के अनुसार—"व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा भी सभी प्रकार से पूर्ण तथा प्रयोग में लाने योग्य होनी चाहिए। मेरी समझ में यदि हमारे नवयुवको को व्यावसायिक तथा व्यावहारिक विज्ञान की शिक्षा अनेक रूपों में दी जाय तो यह समस्या बहुत अंशों में हल हो जायगी, जिससे वेतन वाली सरकारी नौकरियों की 'मृगतृष्णा' अथवा पहले से ही ठसाठस भरे हुए पेशों की ओर झुकाव कम हो सकेगा। इस प्रकार से हम क्रमशः विदेशी वस्तुओं के आयात को भी कम कर सकेंगे और देश से बाहर जाने वाले कच्चे माल की खपत यहीं कर सकेंगे, जिससे कच्चे माल का निर्यात कम होगा।"

धर्म और शिक्षा :

चरित्र के महत्व के प्रसंग में महामना ने कहा था कि "धर्म चरित्र निर्माण तथा

सांसारिक सुख का सीधा मार्ग है। इससे मनुष्यों में उच्चकोटि की निःस्वार्थ सेवा की भावना आती है, जिससे समाज तथा राष्ट्र का कल्याण होता है।"

राज्य का शिक्षा के विषय में कर्तव्य :

धर्म के संबंध में विद्यालयों के योगदान के विषय मे महामना का मत था कि "विद्यालयों का प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार की शिक्षा देना होना चाहिए कि वह विद्यालयों के कमरो से छात्रों को कारखानों तक पहुंचा सके। महामना के अनुसार—"प्रत्येक सभ्य राज्य का अपना यह कर्तव्य है कि वह वालकों को अच्छी जीविका प्राप्त करने के योग्य शिक्षा दे।

महामना के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य :

"शिक्षा प्रणाली का प्रधान ध्येय यह है कि नवयुवकों को योग्य नागरिक बनावे तथा जनता की बुद्धि का विकास करे।"

"देश में शिल्प, कृषि तथा वाणिज्य आदि से संबंधित शिक्षालयों का अधिकाधिक विकास किया जाना चाहिए।"

"यहाँ प्रत्येक विद्यार्थी को वाध्य होकर एक प्रकार के विषय लेने पड़ते है, जो उन्हें तुच्छ कलर्की के पदों के अतिरिक्त अन्य कार्यो के लिए अनुपयुक्त बना देता है। इसके लिए राज्य की ओर से अर्थकरी शिक्षा नीति अपनायी जानी चाहिए।"

प्रवेश :

शिक्षा के लिए विद्यार्थियों के प्रवेश के विषय में महामना ने अपने दीक्षान्त भाषण में कहा था—"विश्वविद्यालयों में भरती उनकी शिक्षा तथा परीक्षाओं में अत्यन्त आवश्यक उच्चकोटि की श्रेष्ठता के निर्वाह के लिए, राष्ट्रीय प्रणाली के आधार पर प्रारम्भिक तथा माध्यमिक स्कूलों में सर्वसाधारण के लिए निःशुल्क शिक्षा अनिवार्य कर दी जानी चाहिए। उनमें उत्तम शिल्पादि कलाओं की शिक्षा का भी प्रबन्ध रखा जाना चाहिए। वर्तमान असन्तोषजनक परिस्थिति को सुधारने का यही एकमात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त योग्यताहीन विद्यार्थियों को विश्वविद्यालयों की शिक्षा देना व्यर्थ है।

बेकारी :

विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण में (महामना, पृष्ठ ५९) बेकारी का कारण बताते हुए महामना ने कहा था—"आज बेकारी का प्रमुख कारण यह है कि हमारे विश्वविद्यालय विभिन्न विषयों की शिक्षा नहीं देते। उनकी शिक्षा अर्थपरक नहीं है। कला अथवा विज्ञान में उपाधि प्राप्त करने वाले विद्यार्थी केवल एक शिक्षक या राज्य कर्मचारी के पद के योग्य ही रहते हैं, परन्तु स्कूल तथा कालेज और नौकरियों में प्रतिवर्ष निकले हुए स्नातकों की अल्प संख्या में ही नियुक्ति हो सकती है। इन सभी का एकमात्र उपाय यही है कि व्यापार कृषि, शिल्पादि कला, अभियांत्रिकी तथा प्रयोगात्मक रसायनों में शुद्ध ढंग पर भरपूर शिक्षा का विकास किया जाय। शिक्षा को ऐसा क्रियात्मक रूप देने की आवश्यकता है, जिसकी माँग सदैव बनी रहे और इस मांग की उन्नति स्थिर चित्त होकर

की जाय। सरकार तथा विश्वविद्यालयों को इस कार्य में सहयोग करना चाहिए कि वे नवयुवकों को उपयुक्त शुद्ध ढंग की शिक्षा दें और उनके लिए जीवन निर्वाह की वृत्तियों का प्रबंध करें।

शिक्षा प्रणाली का दोष :

महामना के अनुसार—"इस वर्तमान शिक्षा प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि बीस वर्ष की शिक्षा के बाद भी भारतीय नवयुवक अपना, अपनी, स्त्री-बच्चों तथा निर्धन-माता पिताओं के निर्वाह के लिए कुछ नहीं कर पाता। अतः वर्तमान शिक्षा प्रणाली जड़ से ही दोषयुक्त है और इसमें आमूल सुधार की आवश्यकता है, जो किसी व्यक्ति के बूते की बात नहीं है। इसके लिए सामूहिक तथा राजकीय प्रयत्न होने चाहिए।

नौकरी तथा शिक्षा का माध्यम :

महामना ने माध्यम के विषय में प्रकाश डालते हुए कहा था कि "भारतीय विद्यार्थियों के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का कोई अन्त नहीं है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यहां शिक्षा तथा सेवाओं का माध्यम एक दुरूह विदेशी भाषा है। संसार में कहीं भी शिक्षा तथा नौकरी का माध्यम विदेशी भाषा नहीं है।"

"फलस्वरूप मातृभाषा पर कम ध्यान दिया जाता है और ७ वर्ष की अवस्था से ही बालक अपने अध्ययन का बहुमूल्य समय विदेशी भाषा रटने में लगा देता है, जिससे वह अपनी भाषा से भी अनभिज्ञ रह जाता है और विदेशी भाषा जो अप्राकृतिक है, उसमे उसका रटा हुआ ज्ञान भी अधूरा ही रह जाता है। अंग्रेजो भाषा के विषय में ग्लेडस्टन ने कहा है कि "यह एक ऐसी भाषा है, जिसकी वर्णरचना किसी भी विदेशी को पागल बना देतीं है।"

राष्ट्रीय शिक्षा :

महामना ने जोरदार शब्दों में कहा था कि—"हमारी सरकार से यह मांग है कि प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय और एक नवीन कला, कृषि, शिल्प तथा व्यापार संबंधी शिक्षा प्रणाली का प्रचार किया जाय।"

"किसी देश के शासन में राष्ट्रीय शिक्षा का प्रश्न देश की सबसे बड़ी समस्या है। महामना के अनुसार —"देश में ऐसी शिक्षा प्रणाली विकसित की जानी चाहिए, जिसमें कला धर्म-दर्शन तथा विज्ञान और प्राविधिकी की शिक्षा का समान रूप से विकास हो सके। उक्त शिक्षा-व्यवस्था में महामना ने राष्ट्रीयता के विकास की शिक्षा पर बल देते हुए कहा था कि सभी विद्यार्थियों के लिए राष्ट्रीयता की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जानी चाहिए. जिससे अन्य देशों की भांति राष्ट्रीय चरित्र का विकास हो और देश मे एकता स्थापित हो।"

"जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका और अन्यान्य सभ्य देशों ने अपने स्कूलों में देशभक्ति की शिक्षा देकर, अपनी राष्ट्रीय शक्ति तथा दृढ़ता का निर्माण किया है।·········इस संबंध में जापान एक आदर्श है। यहां महान क्रान्ति सन् १८६८ ई० में हुई थी,·········जापान की राष्ट्रीय सरकार ने जापान में एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणली को जन्म दिया, जिसमें देश-

भक्ति की शिक्षा अनिवार्य थी।.........१८९० ई० में शिक्षा के विषय में एक राजकीय राजाज्ञा निकाली गयी, जिसमें जापान के सम्राट मिकाडो ने अपनी प्रजा को राजभक्ति, पितृभक्ति, देशभक्ति तथा विद्याप्रेम की शिक्षा दी थी और बतलाया था कि मानव धर्म तथा सद्व्यवहार का यही सुमार्ग है।......इस शिक्षा का फल यह हुआ कि देशभक्ति जापान का धर्म हो गया।" इस प्रकार की शिक्षा इस विविध धर्म, जाति तथा वर्ग वाले भारत के लिए अतीव आवश्यक है।"

राष्ट्रीय शिक्षा की महामना की उपर्युक्त अवधारणा वर्तमान काल की सबसे बड़ी आवश्यकता है। महामना ने उसे पराधीनता के समय में ही अनुभव किया था। इस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था से लोगों के धर्म तथा जातीय तनावों में कमी आयेगी।

स्त्री शिक्षा :

महामना के अनुसार—"सभी प्रकार के मनुष्यों की जन्मदात्री माँ होती है। अतः बालक की प्रारम्भिक शिक्षा माँ से आरम्भ होती है। अस्तु, माँ के समान कोई दूसरा शिक्षक नहीं है। इसलिए देश को जिस दिशा में ले जाना हो, उस प्रकार की शिक्षा की व्यापक व्यवस्था स्त्रियों के लिए की जानी चाहिए। स्त्री शिक्षा द्वारा ही देश के भावी कर्णधारों का सम्यक् निर्माण सम्भव है।"

महामना के जीवन की कतिपय महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाएं :

एक दिन ब्रजमोहन व्यास ने कहा कि "महाकवि माघ ने एक छन्द में राजनीति की व्याख्या कर दी है। अर्थात् अपना उदय और शत्रु का नाश ही राजनीति है।"

मालवीय जी ने कहा—"दूसरों का भी अपने साथ-साथ अभ्युदय हो, यही सच्ची श्लाघनीय राजनीति है।" महामना ने पुनः कहा—"देखो एक उपदेश देता हूँ, जीवन भर याद रखना—अभ्युदय की ही कामना करना, किसी को नीचा दिखाने की नहीं।"

मालवीय जी कांग्रेस में :

सन् १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। मालवीय जी अपने गुरु आदित्यराम भट्टाचार्य के साथ १८८६ ई० में होने वाली कलकत्ता की दूसरी कांग्रेस की बैठक में भाग लेने गये।

महामना भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कई बार अध्यक्ष निर्वाचित हुए। उस समय देश में विदेशी शासन था। यह पद अतीव गौरव का विषय माना जाता था। कांग्रेस के अध्यक्ष पद से तथा कांग्रेस के सक्रिय सदस्य के रूप में मालवीय जी ने देश के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर न रहने की स्थिति में भी मालवीय जी ने कांग्रेस के आजीवन कर्मठ सदस्य तथा 'मूल' कर्णधार के रूप में कार्य किया था।

राजनीति में मालवीय जी के सद्व्यवहार में अपूर्व शक्ति थी। वे नरमदल के नेता थे। कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में करने का निश्चय हुआ। अध्यक्ष महान राजनीतिज्ञ लोकमान्य तिलक को बनाया जाना तय हुआ। बहुमत लोकमान्य तिलक के पक्ष

में था, किन्तु मालवीय जी ने अपने प्रयत्नों द्वारा पं० मोतीलाल नेहरू को अध्यक्ष बनाया (मालवीय जी : जीवन झलकियाँ, पृ० १९०)।

जलियावाला वाग काण्ड पर मालवीय जी संसद में लगातार तीन दिन बोलते रहे। सरकारी अधिकारियों की आंखों में भी आँसू आ गये। दर्शक दीर्घा में वैठो अधिकारियों की कई महिलाएँ वेहोश हो गयीं थी।

गृहमंत्री विंसेट स्मिथ की पत्नी यह कहते हुए सुनी गयीं कि "मेरे पति पण्डित जी का मुकावला नहीं कर सकते।" इंगलैंड के पत्रों ने मालवीय जी को तुलना ग्लैडस्टन तथा डिजाराइली तक से की जो उस देश के महानतम प्रधानमंत्री माने जाते थे। उन्होंने इस वात पर आश्चर्य प्रकट किया कि एक व्यक्ति जो न तो अंग्रेज है और न हो उसकी मातृ-भाषा अंग्रेजी है, इस प्रकार अंग्रेजी में ऐसा धारावाहिक भाषण दे सकता है।

देश के क्रान्तिकारियों के सहयोगी महामना :

महामना नरम दल की विचारधारा के अनुयायी थे और स्वयं इसी विचारधारा के अनुसार–कार्यरत रहे, परन्तु महामना देश के क्रान्तिकारियों को सदा सहयोग करते रहे। महान् क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर आजाद महामना से परामर्श लेने बराबर उनके पास आया करते थे। क्रान्तिकारियों को महामना सदा सहायता भी देते रहते थे। एक वार एक क्रान्तिकारी अपनी पत्नी के साथ वाराणसी आ रहा था। पत्नी का प्रसव आसन्न था। मार्ग में उसे प्रसव पीड़ा हुई। वह पैदल चलने में असमर्थ थी। उस व्यक्ति ने अपनी पत्नी को एक झुरमुट में सुला दिया। उसने एक दूसरे क्रान्तिकारी दास से सन्देश भेजा कि मोटर की व्यवस्था करके, उसकी पत्नी को किसी चिकित्सालय में पहुंचाया जाय। दास ने कोई चारा न देखकर महामना की शरण ली। दास ने मालवीय जी के सचिव पन्त जी से कुलपति की गाड़ी माँगी। उन्होंने देने से इंकार कर दिया। मालवीय जी के पुत्र ने कहा—"महामना विश्राम कर रहे हैं और अभी नहीं मिलेंगे।" दास झटके से द्वार खोलकर, भीतर घुस गया। मालवीय जी लेटे थे। बोले—"कहो दास तुम इतने आतंकित क्यों हो। बैठो। दास ने उस क्रान्तिकारी की पत्नी की प्रसव की घटना खड़े-खड़े ही सुना दी। मालवीय जी उठ बैठे और क्रोध में आकर बोले—"तुमको शरम नहीं आती। बड़े क्रान्तिकारी बनते हो। वहाँ पर बहू प्रसव पीड़ा में पेड़ के नीचे पड़ी है और तुम पन्त जी से मोटर माँगते फिरते हो। क्यों नहीं तुमने मोटर बलपूर्वक छीन ली।" दास शान्त रहा। पुनः महामना ने ४०० रु० प्रसव कार्य के लिए देते हुए अपनी कार देकर बहू को चिकित्सालय में तत्काल भर्ती कराने का निर्देश दिया। मालवीय जी ने उसके प्रसूति तथा अन्य व्यय का भार वहन स्वयं किया और बराबर उसका समाचार लेते रहे।

महामना के सम्बन्ध में भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने २९ दिसम्बर १९६१ ई० में एलफ्रेड पार्क, इलाहाबाद में मालवीय जन्म शताब्दी के उद्घाटन भाषण में कहा था "भारतीय राजनीति में मालवीय जी एक ऐसे अगुआ थे, जिन्होंने न केवल राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, अपितु कांग्रेस के उदीयमान तथा उग्रवादी वर्ग को मिलाने की एक कड़ी के रूप में कांग्रेस की भारतीय स्वाधीनता के प्रतीक

रूप में सर्वमान्य सेवा भी उन्होंने की थी, जो उनकी एक अद्वितीय प्रतिभा की द्योतक थी।......परिवर्तन की ओर उनका झुकाव था। इस सन्दर्भ में गाँधी जी से उनका विचार साम्य था।"

प्रेस ऐक्ट :

प्रेस ऐक्ट में प्रेसों की स्वाधीनता प्रायः समाप्त कर देने की योजना थी। मालवीय जी ने इसका घोर विरोध किया। प्रेस ऐक्ट का गोखले ने समर्थन किया। . मालवीय जी की बड़ी प्रशंसा हुई और गोखले को—'दब्बू' तक की संज्ञा दी गयी। मालवीय जी के घोर विरोध के कारण यह विधेयक पारित नहीं हुआ। यह प्रेस ऐक्ट १९१० ई० में रखा गया था। वाइसराय इस समिति के अध्यक्ष थे। गोखले ने मालवीय जी को एकान्त में समझाया कि वे भी विरोध न करें, अन्यथा उन्हें सरकार की कुदृष्टि का कोप-भाजन होना पड़ेगा। मालवीय जी बड़ी उलझन में पड़ गये। उन्होंने गजेन्द्र मोक्ष का पाठ किया। पाठ के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मैं यथार्थ हूँ। इसी विचारधारा के साथ उन्होंने ऐक्ट का विरोध किया। उन्होंने गोखले से कहा—"भाई, मेरे अन्तःकरण की यही प्रेरणा है। अतः जो भी परिणाम होगा भोग लूँगा। मैं विरोध अवश्य करूंगा।" मालवीय जी तथा भूपेन्द्रनाथ बोस को छोड़कर, शेष सभी लोगों ने समिति में प्रेस ऐक्ट का समर्थन किया। दो मास बाद गोखले को अपनी भूल का पता लगा और उन्होंने समझा कि महामना कितने सही थे।

१९३० ई० में प्रयाग के पुरुषोत्तमदास पार्क में बिट्ठलभाई पटेल का भाषण हो रहा था। साथ में हिन्दी अनुवाद भी हो रहा था। अनुवाद कार्य की अकुशलता से शोर गुल मचा हुआ था। मालवीय जी स्वयं उठे और उन्होंने सारगर्भित अनुवाद प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया। देश की दो महान विभूतियों को एक साथ मंच पर देखकर, तुमुल हर्ष-ध्वनि से आकाश गूँज उठा। लोग शान्त तथा स्तब्ध होकर भाषण सुनने लगे।

जलियावाला बाग हत्याकांड के संबंध में महामना को पंजाब की सीमा से पहले जगाकर, पंजाब में उनके प्रवेश पर लगी रोक की सूचना दी गयी। महामना ने कहा—"मैं लौट नहीं सकता। वहाँ के अत्याचार से मेरी आत्मा सिहर उठी है। मैं वहाँ तक जाकर ही दम लूँगा।" सरकार का साहस उन्हें कैद करने का नहीं हुआ। महात्मा गान्धी भी उसी समय पंजाब जा रहे थे, किन्तु उनको जब पंजाब में प्रवेश की रोक का समाचार दिया गया तो वे लौट गये। इस प्रकार की जिद थी राजनीति में महामना की।

३१ अक्टूबर १९३८ ई० में साइमन कमीशन के काले उद्देश्यों को देखते हुए महामना ने उसका घोर विरोध किया। महामना के साथ पंजाब केशरी लाजपत राय ने विशाल भीड़ के साथ कमीशन को काले झंडे दिखाने के कार्य-क्रम का नेतृत्व किया।

२७ जुलाई १९२१ ई० की बैठक में 'प्रिंस आफ वेल्स के आगमन के सम्बन्ध उनके बहिष्कार का निश्चय किया गया। महामना ने कहा—"प्रिंस का भारत आना पुरानी परम्परा का पालन मात्र है। उनका स्वागत करके, हम सरकार का साथ नहीं

देना चाहते, किन्तु मेलमिलाप से हम ऐसा सोचते हैं कि इससे देश का हित ही होगा, क्योंकि 'अतिथि देवो भव' हमारी सांस्कृतिक नीति है। अतः हम उनका स्वागत करना चाहते हैं।

१९३० ई० में देश में लोकमान्य तिलक की पुण्य तिथि मनायी जा रही थी। बम्बई के जुलूस में मालवीय जी भी नेतृत्व कर रहे थे। सरकार की ओर से जुलूस को असंवैधानिक बताते हुए, उसे समाप्त करने की सरकारी आज्ञा सुनायी गयी। मालवीय जी ने आगे बढ़कर कहा—"हम इस अन्यायपूर्ण आज्ञा को कदापि नहीं मान सकते।" महामना की पुलिस सुपरिंटेंडेन्ट से मुठभेड़ हो गयी। मालवीय जी ने कहा—"हम यहीं रुके रहेंगे हटेंगे नहीं। एक दिन तुम्हीं लोगों को अपने देश वापस जाना होगा।" मालवीय जी के साथ सरदार पटेल आदि कई नेता थे। उनके साथ सभी ४० नेतागण कैद कर लिये गये। उनके कैद किये जाने का समाचार सारे देश में फैल गया। गिरफ्तारी के विरोध में सारे देश में विरोध सभाएँ तथा प्रदर्शन हुए। हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्र आपे से बाहर थे। सत्याग्रह के लिए सैंकड़ों छात्र-टोलियाँ बम्बई रवाना हुईं और देश में जोरदार विरोध हुआ।

हिन्दुओं को वर्गीकृत करके फूट डालो नीति के अनुसार सरकार हरिजनों को हिन्दुओं से पृथक करना चाहती थी और एक विधेयक लाने की योजना बना रही थी। महामना ने इसका घोर विरोध किया। महात्मा गांधी ने भी उनका समर्थन किया। इस प्रकार उक्त दोनों महान नेताओं के प्रबल विरोध के कारण सरकार उक्त विधेयक लाने में सफल नहीं हो सकी।

१९१० में शर्तबद्ध कुली प्रथा के विपरीत गोखले विफल हो चुके थे। मालवीय जी ने पुनः इस प्रथा का जोरदार विरोध किया और इस प्रथा को समाप्त करने के लिए कानून बनवाया। १९२६ में कांग्रेस ने स्वराज्य पार्टी बनायी। महामना तथा लाला लाजपतराय ने नेशनलिस्ट पार्टी बनायी। इसमें पं० मोतीलाल नेहरू ने भी महामना तथा लाजपतराय के उक्त पार्टी का विरोध किया। लोगों ने इस विरोध के लिए मोतीलाल नेहरू को 'अंग्रेजों का पिट्ठू' तथा देशद्रोही कहा। इस बात पर महामना ने कहा कि वैचारिक अभिव्यक्ति से कोई भी व्यक्ति देशद्रोही नहीं माना जा सकता।

१९२२ का समय था। गांधी, नेहरू तथा पटेल आदि प्रायः सभी नेता कैद थे। मालवीय जी तथा डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ही बाहर थे। अंग्रेजों का दमन जारी था। डा० राजेन्द्र प्रसाद को उक्त समाचार मिला। उन्होंने इस संबंध में मालवीय जी को पत्र लिखा। मालवीय जी तथा राजेन्द्र बाबू वहाँ पहुँचे। वहाँ के दमनकारियों ने कांग्रेस भवनों में आग लगा दी थी। कांग्रेसजनों को देखते ही पीटने लगते थे। महामना तथा राजेन्द्र बाबू के पहुँचने पर लोग आतंकवश बात भी नहीं कर पा रहे थे। ऐसे में मालवीय जी तथा राजेन्द्र बाबू के आने से लोगों की जान में जान आयी। उन दिनों आसाम में अफीम की खपत बहुत अधिक हो रही थी। लोगों की नशे की आदत बढ़ रही थी। मालवीय जी ने उक्त नशे के विरोध में आन्दोलन किया। इससे दूकानों पर अफीम की बिक्री बन्द हो गयी

और सरकार को काफी घाटा आया। मालवीय जी के संबंध में राजेन्द्र बाबू ने लिखा है कि "जब-जब कांग्रेस कठिनाई में पड़ी मालवीय जी ने ही उसका मार्गदर्शन किया। पुराने और नये व्यक्तियों के बीच मालवीय जी एक 'सेतु' का कार्य करते थे। अनेक बातों में महामना का मतभेद होता था, परन्तु उन्होंने कांग्रेस को कभी नहीं छोड़ा। वे कांग्रेस को सदा अपनी विधि से सहयोग करते थे। कांग्रेस को उन्होंने कभी कमजोर नहीं होने दिया। कांग्रेस के लोग भी मतभेद के कारण कभी मालवीय जी के सम्मान में कमी नहीं लाते थे।

गाँन्धी जी के साथ मालवीय जी गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने इंगलैंड गये थे। वहाँ पर जो तर्क भारत की ओर से उन्होंने रखा था, वह भारत के इतिहास में अमर रहेगा। महामना के संरक्षण का भार सुप्रसिद्ध पुलिस संस्था स्काटलैंड यार्ड पर था। उस अधिकारी से गाँन्धी जी तथा मालवीय जी के विषय में पूछा गया तो उसने उत्तर दिया –"महात्मा जी महात्मा हैं। किन्तु मालवीय जी के नेत्रों में स्वयं ईश्वर जैसी कोई अद्भुत वस्तु है।" (महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय पृ० ९)।

१९२० ई० में सरकारी स्कूल और कालेजों का वहिष्कार किया जा रहा था। मालवीय जी ने गान्धी जी के इस आन्दोलन का विरोध किया। उन्होंने कहा—"यह बड़ा गलत मार्ग है कि हम स्कूलों से अपने बच्चों को उठा लें। स्कूल में बच्चों को भेजने से सरकार को कोई सहायता नहीं मिलती। उससे तो जनता को लाभ ही होता है। बच्चे शिक्षा के लिए तड़प रहे हैं। जब देशी संस्थाएँ स्थापित हो जाँय, तभी बच्चों को वहाँ से हटाना चाहिए। इतने बड़े अशिक्षा वाले देश में स्कूलों से बच्चों को उठाकर अलग करना उनके जीवन से खिलवाड़ करना है। वह युग गान्धी जी का युग था, किन्तु गान्धी जी भी महामना के तर्कों को काट न सके।

एक बार महामना संसद में विजयी भारतीय सैनिकों की वीरता पर प्रकाश डाल रहे थे। ओडायर, अध्यक्ष ने इसके लिए ब्रिटिश अधिकारियों का महत्व बताया। महामना ने कहा —"मुझे अपनी बात पूरी करने दें। ओडायर ने उन्हें बैठ जांने को कहा। महामना बोलते रहे। इस पर ओडायर ने संवैधानिक व्यवस्था का अध्यक्षीय दबाव डालना चाहा। महामना ने कहा—'ठीक है। आप न बोलने दें। अब मैं अपनी बात जनता से कहूँगा।' एक सप्ताह के अन्दर भारतीय सैनिक जहाँ भी होगा अस्त्र डाल देगा। अब ब्रिटिश सरकार उन्हें ऐसा करने से रोके तो देखूँ। जिन्ना सहित सभी भारतीयों ने संसद का परित्याग करने में महामना का साथ दिया। यह समाचार विजली की भांति सारे देश में फैल गया। भारी जनसमूह जहाँ-तहाँ महामना का जयघोष करता हुआ उमड़ पड़ा। महामना स्टेशन लौट रहे थे। स्टेशन पर भारी भीड़ एकत्रित हो गयी। महामना ने सबको सम्बोधित किया। इस अद्वितीय चुनौती से अंग्रेज सरकार भयभीत हो गयी और इसके लिए महामना से क्षमायाचना की गयी। इस प्रकार का था महामना का व्यक्तित्व उनकी वाणी में वह बल था कि उनकी चुनौती का सामना करना एक दुष्कर कार्य था। अतः अंग्रेजों को बाध्य होकर भारतीय सैनिकों की वीरता स्वीकार करनी पड़ी और महामना विजयी रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देश सेवा, राजनीति, शिक्षा तथा समाजसुधार के क्षेत्र में महामना का समान रूप से व्यापक योगदान रहा है। समाजसेवा में अछूतोद्धार से लेकर दलित वर्ग के उत्थान कार्य में महामना का योगदान रहा है। हरिजनों को विधर्मी बनने से रोकने के लिए महामना ने सवर्णों के व्यापक विरोध के बावजूद भी 'हरिजन मंत्रदीक्षा' कार्यक्रमों का विधिवत आयोजन किया और हरिजनों को हिन्दू समाज से अलग नहीं होने दिया। हिन्दू धर्म में प्रायः छोटी-सी भूल पर भी लोग उस व्यक्ति का बहिष्कार कर दिया करते थे। मालवीय जी ने हिन्दू धर्म के इस ढकोसले का विरोध किया और ऐसे हिन्दू धर्म से परित्यक्त लोगों को भी अपनाया। इस प्रकार का था उनका महान् व्यक्तित्व। महात्मा गाँन्धी महामना को अपना बड़ा भाई मानते थे। भारतीय राजनीति, शिक्षा तथा समाजसेवा में महामना का योगदान अद्वितीय था। ऐसा सर्वांगीण नेता और समाजसेवी उनके सिवा दूसरा कोई नहीं दिखायी देता।

समाजशास्त्र विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

— — —

भारत के कुलगुरु महामना मालवीय

डॉ० श्रीमती किरण मिश्र

"भारत को अभिमान तुम्हारा, तुम भारत के अभिमानी ।
पूज्य पुरोहित थे हम सबके, रहे सदैव समाधानी ।।
तुम्हें कुशल याचक कहते हैं, किंतु कौन तुम सा दानी ।
अक्षय शिक्षा-सत्र तुम्हारा, हे ब्राह्मण-ब्रह्मज्ञानी ।।
स्वयं मदनमोहन की तुममें तन्मयता है समा गई ।
कल्याणी वाणी जन-जन के हित में धूनी रमा गई ।।"

कविवर मैथिलीशरण गुप्त की इस श्रद्धांजलि के भाव प्रसूनों के विखरने पर करोड़ों भारतीयों के मस्तक श्रद्धावनत हो जाते हैं। हों भी क्यों नहीं ? यह युगमनीषी ही ऐसा है। हमारे प्राचीन महापुरुषों में जिस प्रकार राम, कृष्ण, वेदव्यास, भीष्म आदि के नाम स्मरणीय हैं उसी प्रकार आधुनिक भारत के निर्माता पुरुषों में पंडित मदन मोहन मालवीय का नाम शीर्षस्थानीय है। युग के स्पन्दन को भलीभाँति पहचान कर उन्होंने ही भारत राष्ट्र के राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक जीवन में नवजागरण का शंखनाद किया। वे असाधारण पुरुष थे। अपनी अनूठी प्रतिभा, अप्रतिहत कार्यक्षमता एवं अलोक सामान्य व्यक्तित्व से उन्होंने भारत की सर्वतोमुखी उन्नति का पथ प्रशस्त किया है। एक सच्चे साधक, अनन्य देशभक्त, धीमान समाज सुधारक, कर्मठ मातृभाषा प्रेमी, क्रांतदर्शी शिक्षाविद् एवं विश्वविख्यात काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के निर्माणकर्त्ता के रूप में मालवीय जी को देखकर ऐसा लगता है मानो प्रभु ने भारत राष्ट्र के कल्याण के लिए ही उन्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा था। उनके व्यक्तित्व का अणु-अणु और जीवन का क्षण-क्षण भारत की सेवा में समर्पित था। ऐसे देवर्षि का जितना अभिनंदन किया जाये वह कम ही हैं। अपरिमित भावराशि की अभिव्यक्ति में शब्दशक्ति सदा निर्बल सिद्ध हुई है।

ऐसे महाभाग पुरुष का जीवन अत्यंत साधारण परिवार और उसकी सामान्य परिस्थितियों से आरंभ होता है किंतु इस सहजता में ही उन्हें असाधारणता का मार्ग मिलता गया और वे उन कार्यों का सम्पादन कर सके जिन्हें विरले पुरुष ही कर पाते हैं। आभिजात्य के धनी ऐसे भक्त-कुल में उस महामानव ने जन्म लिया था जहाँ की सरस्वती से लक्ष्मी को बैर था फलतः 'अन्नवस्त्र' का भी कष्ट था। इस अनिवार्य आवश्यकता ने अपेक्षाकृत शीघ्र ही उन्हें जीवनसंग्राम में उतार दिया था। पिता ने यथाशक्ति शिक्षा-व्यवस्था की जहाँ छात्रावस्था से ही परिश्रम, लगन, सत्यनिष्ठा, अध्यवसाय, तर्कचातुर्य एवं वाग्मिता के कारण आपके व्यक्तितत्र की असाधारणता दृष्टिगोचर होने लगी। इसी कारण अध्यापकों की कृपा और स्नेह भी प्राप्त हुआ जिससे छात्रावस्था से ही उनका जीवन समाज संगठन और देशप्रेम की ओर उन्मुख हो गया। तात्पर्य यह कि जीवन आरम्भ करते ही उनका व्यक्तित्व 'स्व' को छोड़ 'पर' को केन्द्र मानकर विकसित होने लगा। यद्यपि

परिवारिक आवश्यकताओं के कारण बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद ही वे अर्थोपार्जन में लग गए तथापि छात्रावस्था से ही समाज-सेवा और देशप्रेम की जो लगन उत्पन्न हो गई थी उसमें कोई वाधा न पड़ी प्रत्युत् उसे विकास के नये-नये मार्ग मिलते गए।

अध्यापन कार्य में लग जाने पर भी इनके निर्मल चरित्र की तेजस्विता छिपी न रही। हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत एवं उर्दू भाषाओं के प्रगाढ़ पांडित्यपूर्ण प्रयोग से उत्पन्न वाग्मिता के कारण शीघ्र ही इनकी प्रसिद्धि चारो ओर फैल गई। इनका सात्विक चरित्र और मृदु स्वभाव भी लोकप्रियता में सहायक सिद्ध हुआ। समाज सेवा में रुचि रखने के कारण भी आप आस पास के क्षेत्र में अपरिचित न रह सके। फलतः जीवन के आरंभिक काल से ही सुविख्यात होकर आप राष्ट्र, धर्म, समाज और जाति के हित में लग गए और आपकी यह लोक साधना मृत्युपर्यन्त अविराम गति से चलती रही। सन् १८८० से १९४६ तक अर्थात् ६६ वर्षों तक निरन्तर वे राष्ट्र की प्रत्येक धड़कन को सावधान होकर सुनते रहे और तदनुकूल आचरण करते रहे। अपने इस कार्यकाल में वे भारत के राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में छाए रहे। उनके इस सर्वव्यापक व्यक्तित्व को देखकर उन्हें 'कुलगुरु' कहे बिना नहीं रहा जा सकता और वे राम के आदर्श राज्य की सुव्यवस्था करने वाले 'कुलगुरु वशिष्ठ :' के प्रतिनिधि से दिखाई देते हैं जो इंद्रियजेता एवं सर्वस्वत्यागी होकर वशिष्ठ कहलाए तथा राम के राज्य का कण-कण जिनकी आज्ञा से परिचालित होता था। राम के लिए उन महर्षि वशिष्ठ का प्रधान आदेश था—'युक्तः प्रजानाम नुरञ्जने स्यास्तस्माद्यशो यत्परमं धनं वः' अर्थात् लोकानुरंजन उनके सिद्धान्त के अनुसार परमधर्म था जिसका पालन राम ने स्नेह, दया, सुख और जानकी को छोड़कर भी किया। महामना के जीवन में भी यह आदर्श देखा जा सकता है। उन्होंने व्यक्तिगत सुखों को त्याग कर लोकाराधन में ही अपना जीवन बिताया तभी प्रयाग से निकलने वाले अंग्रेजी के 'लीडर' और हिन्दी के 'भारत' दैनिक पत्रों के आर्थिक संकट के समय उन महात्मा को अपनी पत्नी के आभूषणों को वेचने में भी संकोच नहीं हुआ और न स्वार्थभाव ही उनके मार्ग में बाधक बना। उनके जीवन में ऐसे अनेक उदाहरण हैं। जिस प्रकार राम के राज्य में सभी कार्य 'वशिष्ठाधिष्ठित' होते दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार मालवीय जी के जीवन काल में भारतवर्ष के सभी कार्यों में उनका व्यक्तित्व समाहित दिखाई देता है। स्वातंत्र्य संग्राम में, अंग्रेज सरकार की कौंसिल और लेजिस्लेटिव असेम्बली में, हिन्दू समाज और महासभा के संगठन में, इंडियन नेशनल कांग्रेस के अधिवेशनों में, साहित्य सम्मेलनों में, पत्रकारिता जगत में, अछूतोद्धार में व्यासपीठ पर, किं बहुना काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसे भव्य निर्माण में सर्वत्र मालवीय जी ही तो दिखाई देते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन क्षेत्रों में महामना का अनुशासनात्मक योगदान अनुपम है। इसीलिए वे आधुनिक भारत राष्ट्र के 'कुलगुरु' होने योग्य हैं। वशिष्ठ के निर्मल चरित्र के समान उनके व्यक्तित्व में भी पश्चिमी प्रभाव से रहित इस देश की समस्त उपलब्धि विद्यमान थी। वे इस युग के पूर्ण पुरुष थे।

उनके योगदान का पूर्णरूपेण आकलन आकाश की अनन्तता का मापन है। किन्तु थोड़े में उनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन सेवा के प्रमुख क्षेत्रों के आधार पर किया जा

सकता है। सबसे पहले हमारा ध्यान उनकी राजनैतिक सेवाओं पर जाता है जिसमें उनके अद्‌भुत चरित्र का वैशिष्ट्य दिखाई देता है। उनके अनोखे चरित्र की महान विशेषता यह थी कि वे एक साथ परस्पर विरोधी दो कार्यों का संपादन बड़ी कुशलता से कर लेते थे। इस कला से उन्होंने इस क्षेत्र में द्विगुणित कार्य किया है। एक ओर वे अंग्रेज सरकार की दमन नीति और उत्पीड़न के विरोध में जनता को जागृत करने वाले क्रांतिकारी पुरुष थे और प्रत्यक्ष रूप से स्वातंत्र्य संग्राम के सेनानी थे तो दूसरी ओर अंग्रेज सरकार उनके परामर्श को महत्त्व देती थी और उनके रोब से भयभीत रहती थी। उनका संपूर्ण राजनैतिक जीवन इसी द्विधा गति से सफलता प्राप्त करता रहा है। प्रभावशाली वक्तृत्व शक्ति से वे जनता को जाग्रत करके संग्राम के लिए प्रेरित करते थे साथ ही संकट के समय उपस्थित रहकर कंधे से कंधा भिड़ाकर कार्य भी किया करते थे। 'जालियां वाले बाग' का हत्याकाण्ड इस तथ्य का अच्छा उदाहरण है जहाँ भीषण नरसंहार का करुण दृश्य भी उन्होंने अपनी आँखों से देखा तथा अपनी सेवा-सहायता से राहतकार्य किया और साथ ही 'शिमला कांउसिल' में इस काण्ड की भर्त्सना करते हुए जो भाषण दिया वह भारतीय इतिहास में अभूतपूर्व है। इसी प्रकार 'चौरी चौरा काण्ड' के बाद की अराजकता सुधारने के लिए भी वे वहाँ स्वयं गये और धारा १४४ का उल्लंघन करके प्रभावशाली भाषणों द्वारा जनता को संयत किया। इस प्रकार हमने देखा कि उनके व्यक्तित्व की अद्‌भुत विशेषता यही थी कि वे सदा भारतीय जनता के साथ भी रहे और अंग्रेज सरकार भी उन्हें सम्मान देती रही। इस असाधारण राजनैतिक सफलता का रहस्य था सच्ची देशभक्ति जिसने वाणी और कर्म के साम्य से उन्हें पूर्ण कर्मयोगी बना दिया था।

उनके सामाजिक उपकार अनेक हैं। वास्तव में सामाजिक संगठन और देशप्रेम की भावना ही उन्हें कर्मक्षेत्र में ले आई थी। 'हिन्दू समाज' की स्थापना में सक्रिय सहयोग देने से उनका जो सामाजिक सेवा का व्रत आरंभ हुआ वह जीवन पर्यन्त चलता रहा। समाजसेवा ही उनके जीवन का मूलमंत्र बन गया और राजा शिवि का आदर्श ही उनका जीवनादर्श हो गया—

"यन्ममास्ति शुभं किंचित्, तेन जन्मनि जन्मनि,
भवेयमहमार्तानां प्राणिनामार्तिनाशकः।
नत्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं ना पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां, प्राणिनां दुःखनाशनम्॥

वे मानवता के पुजारी थे। उनके समाज का आधार धर्म और नैतिकता थी। उनकी दृष्टि से हिन्दू जाति और समाज के ह्रास का कारण धर्मविमुख प्रवृत्ति थी। कुरीतियों को दूर करने के लिए उनका धर्म अत्यंत उदार था इसीलिए वे समाज सुधारक भी थे। यही कारण है कि स्वयं कट्टर सनातनी होने पर भी उन्होंने अछूतोद्धार का कार्य करके हिन्दू समाज को संगठन का बल प्रदान किया। बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये भाइयों के प्रति भी उनकी यह कट्टरता अत्यंत उदार थी। इस उदारता के बाद भी वे महान परम्परा प्रेमी और कट्टर मर्यादावादी थे। किसी समाज की उन्नति के लिए वे उसकी परम्परा और मर्यादा को आवश्यक मानते थे। इसीलिए हिन्दू समाज और भारत-

राष्ट्र की उन्नति को ध्यान में रखकर उन्होंने अपने 'अभ्युदय' और 'मर्यादा' पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन आरम्भ किया था। इन पत्रों के माध्यम से उनके सिद्धान्त और विचार जनता के पास पहुँचते थे। उनका स्पष्ट मत था कि 'हिन्दू' शब्द साम्प्रदायिक नहीं जातिवाचक है जिसका अर्थ है भारत में रहने वाले सभी लोग—संपूर्ण भारतीय समाज। इसी अर्थ को ध्यान में रखकर उन्होंने देश की उन्नति के लिए जिस शिक्षा संस्थान की स्थापना की उसका नाम काशी हिन्दू विश्वविद्यालय रक्खा गया। इस प्रकार हिन्दू जाति और समाज के लिए उन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया। अंग्रेजी शासन काल में उसकी दुर्दशा देखकर ही वे उसके उद्धार में लगे थे। अपने प्रयत्नों से उन्होंने हिंदू समाज को संगठित किया, धर्म की रक्षा की तथा सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति जनता को आस्थावान बनाया। इस प्रकार वे जनता का नेतृत्व करके हिंदू संस्कृति को पुनर्जीवन प्रदान करते रहे।

उदाराशय महामना अपने आचार-व्यवहार में हिन्दू धर्म और उसकी परंपराओं का पालन कट्टरता से करते थे परन्तु अन्य भारतीय धर्मों के प्रति भी वे बड़े सहिष्णु थे। इसीलिए वे सनातनधर्मी, आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि सभी हिन्दुओं को परस्पर प्रेम से रहने की शिक्षा देते थे। इसीलिए उनका कथन है कि—"धर्मरक्षा और प्रचार के लिए अत्यावश्यक है कि प्रत्येक हिंदू संतान को वह दीक्षा दी जाये, जिसका विधान ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक समान हो।" गोरक्षा भी उनके धर्म का प्रधान अंग थी। उनका विश्वास था कि गोमाता अपना दूध पिलाकर मनुष्य जाति की रक्षा और उसका सब प्रकार से उपकार करती है इसीलिए हिंदू धर्म में गोमाता अवध्य हैं और उसकी रक्षा करना प्रत्येक हिंदू का कर्त्तव्य है। भारतीय राष्ट्रीयता का आधार वे धर्म ही मानते थे अतः धार्मिक अभ्युदय के लिए सतत् प्रयत्नशील रहे। हिन्दू धर्म के वे अनन्य आराधक थे। धर्मप्राण महामना का मूलयंत्र था—

"उत्तम सर्व धर्माणां हिन्दू धर्मोऽयमुच्यते।
रक्ष्यः प्रचारणीयश्च, सर्वलोके हितैषिभिः॥"

यदि हम उनके शैक्षिक योगदान की बात सोचें तो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय उसका मूर्तिमान स्वरूप है। देश के नव जागरण और अभ्युत्थान का साधन उन्होंने उत्तम शिक्षा को समझा। उनका मत था कि केवल व्यावसायिक उन्नति से ही किसी देश की जनता सुखी और समृद्ध नहीं हो सकती प्रत्युत् आचार और धर्म से सुख और सम्पन्नता प्राप्त होती है। इसलिए उन्होंने विचार किया कि परम्परागत हिन्दू धर्म की शिक्षा का सुविधाजनक साधन हिन्दू नवयुवकों के लिए न किया गया तो कुशिक्षित और अनपेक्षित मनुष्यों से यह राष्ट्र भर उठेगा और हिन्दू धर्म व जाति विनष्ट हो जायगी। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की संस्थापना की गई। विदेशी शासन काल में ऐसे कार्य का संकल्प ही आपत्तिजनक था तो फिर उसके कार्यान्वयन में कितने प्रकार की बाधाएँ आई होंगी इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। किन्तु उस कर्मनिष्ठ योगी ने नितान्त प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपना वह स्वप्न साकार कर दिखाया। यह अवश्य है कि इस कार्य में उन्हें अपने सुधी-हितैषी मित्रों का सहयोग सदा मिलता रहा पर उनके अद्भुत व्यक्तित्व के आकर्षण का जादू कम नहीं था। यह उनका ही कौशल

था जिसके द्वारा कूटनीतिज्ञ अंग्रेज शासकों से भी उन्होंने अपनी योजनानुसार शिक्षासंस्थान के निर्माण की अनुमति प्राप्त कर ली एवं जनता से धन, श्रम और सहयोग भी प्राप्त कर लिया। आज काशी हिन्दू विश्वविद्यालय महामना के देशप्रेम, शिक्षाप्रेम और संस्कृति प्रेम का कीर्ति स्तम्भ बना हुआ है।

इसके अतिरिक्त देश की परिस्थिति के अनुसार नवीन शिक्षा की योजना सदैव मालवीय जी के मन में विद्यमान रही। शासन में अथवा समाज में जहाँ-कहीं भी अवसर आया उन्होंने शिक्षा का अत्यन्त सुविचारित एवं व्यावहारिक रूप स्पष्ट कर दिखाया। विदेशी शासक भी उनकी इस प्रतिभा को स्वीकार करते थे। पार्लियामेन्ट के एक सदस्य 'कर्नलबेन' का कथन है—"यदि मालवीय जी राजनीति में न आते तो वह शिक्षाक्षेत्र के सबसे बड़े नेता होते। यदि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का भरण-पोषण उन्हें न करना पड़ता तो उन्हें एक महान राजनीतिज्ञ समझा जाता। भारत व पश्चिमी जगत के इतिहास में ऐसा समन्वय अपूर्व है।" महामना आधुनिक युग के महान शिक्षाशास्त्री थे जिनकी ख्याति सुदूर देशों में भी व्याप्त थी।

मालवीय जी के साहित्यिक अवदान पर विचार करने पर हम पाते हैं कि वे संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित, सिद्धहस्त लेखक, उच्चकोटि के वक्ता तथा सुयोग्य पत्रकार थे। हिन्दी और संस्कृत में उन्होंने 'मकरन्द' उपनाम से काव्य-रचनाएँ भी कीं। प्राचीन भारतीय विद्या एवं वाङ्मय के वे आकर थे। ऋग्वेद, रामायण, महाभारत, पुराण, स्मृति और दर्शन सभी में उनकी अव्याहत गति थी। भागवतपुराण और श्रीमद्भगवद्गीता उनके प्रिय ग्रन्थ थे। भागवत की कथा का प्रवचन भी उनका रुचिकर व्यसन था जिसके भक्तिरसामृत में वे स्वयं निमग्न रहते और श्रोताओं को भी रसविभोर बना देते थे। गीता को वे इस युग का मन्त्रग्रन्थ मानते थे और उसका प्रवचन भी बड़ी आस्था और निष्ठा से करते थे। उनकी दृष्टि में भगवान कृष्ण इस युग के सबसे बड़े महापुरुष थे।

साहित्यिक सेवा का दूसरा रूप पत्रकारिता में दिखाई देता है। जनजागरण का प्रमुख साधन होने से पत्रकारिता भी उनके योगदान से अछूती न रह सकी। युग की आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं को अत्यन्त दूरदर्शितापूर्वक देख समझकर उन्होंने यह कार्य अपने हाथ में लिया था। हिन्दी एवं अंग्रेजी दोनों भाषाओं की पत्रकारिता को उनका योगदान प्राप्त हुआ और साथ ही पत्रकारिता जगत में जो कार्य उन्होंने किया उससे वह उनकी चिरऋणी रहेगी। हिन्दोस्तान, इंडियन ओपिनियन, अभ्युदय, लीडर, हिन्दुस्तान-टाइम्स और सनातनधर्म वे पत्र हैं जिन्हें मालवीय जी के सम्पादन का गौरव प्राप्त हुआ है। मासिक पत्रिका 'मर्यादा' का संपादन भी आप के हाथों होता रहा। इसके अतिरिक्त उस युग की अनेक पत्र-पत्रिकाएँ महामना के सत्परामर्श से लाभान्वित होती रहीं। उनकी संपादकीय नीति अत्यंत निष्पक्ष एवं निर्भीक थी तथा उनकी लेखनी समाज के सर्वांगीण परिष्कार के लिए पूरी शक्ति से प्रहार करती थी।

साहित्य के अतिरिक्त हिन्दी भाषा की उन्नति में भी उनका अप्रतिम योगदान है। भारतेन्दु जी का संदेश—'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' कभी उन्हें विस्मृत नहीं

हुआ। वे उसके कट्टर अनुगामी थे। महामना के सतत अध्यवसाय से ही हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि को न्यायालयों में स्थान मिला। सेवा प्रतियोगिता परीक्षाओं में भी हिन्दी को स्थान इन्हीं के प्रयत्नों से प्राप्त हुआ। हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के समय उनके मन में एक विचार यह भी था कि ऐसे विश्वविद्यालय में समस्त शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो। किन्तु विदेशी शासननीति और परिस्थितियों को देखते हुए उन्होंने अपना विचार बदल दिया। फिर भी हिन्दी-सेवा का व्रत अखंडरूप से चलता रहा। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वे प्रथम सभापति थे। इस प्रकार हिन्दी, हिन्दू और हिन्दोस्तान के वे अनन्य साधक थे।

भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए तो कदाचित् वे इस धराधाम पर आए ही थे। वे भारतीय संस्कृति के मूर्तिमान विग्रह थे। उनका अभ्यंतर एवं बाह्य भारतीय संस्कृति का प्रतिबिम्ब मात्र था। आप के ललाट पर शोभायमान शुभ्र मलय चन्दन दर्शकों के मन-प्राण शीतल बनाता तो मस्तक पर शोभित पगड़ी ज्ञानगरिमा का संवहन करती हुई सी प्रतीत होती थी। कन्धे पर लटकता दुपट्टा या उत्तरीय प्रत्येक आर्त को अभयदान का आश्वासन देता सा प्रतीत होता था। अपार जनसमुदाय में यह भारतीय स्वयं पहचाना जा सकता था। आचार-विचार में भी वे पूरे भारतीय थे। गोलमेज परिषद् में भाग लेने के लिए विलायत जाते समय वे अपने साथ गंगाजल और मिट्टी भी ले गये थे। उनके ऐसे विशुद्ध भारतीय स्वरूप को देखकर विदेशी विस्मयविमुग्ध हो उठे और उनके मन पर भारतीय संस्कृति की अमिट छाप अंकित हो गई। उनका अंतस्तल भारतीय संस्कृति की उदारता से परिपूर्ण था। वे मानवता के पुजारी थे। पीड़ित की सहायता के लिए उनके हाथ सदैव तत्पर रहते। प्राणिमात्र की सेवा उनका धर्म था। वे हिन्दू धर्म और संस्कृति के मूर्तिमान प्रतीक थे। उनका यह सिद्धान्त था कि समस्त विश्व में एक हिन्दू संस्कृति ही ऐसी है जिसने धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप दिया है। संस्कृति और धर्म में उनकी अचल आस्था थी। हिन्दुओं के धार्मिक संकट एवं सांस्कृतिक विनाश को देखकर ही वे कर्मक्षेत्र में प्रविष्ट हुए थे। इसीलिए सदा उनका यह प्रयत्न रहा कि हमारे पूर्वज ऋषियों के तपोबल से जिस धर्म और संस्कृति की कल्पलता आज तक जीवित रहती आई है वह विदेशी आक्रमणों के झंझावात से टूटकर उखड़ने न पाये। इसी ध्येयधर्म को लेकर वे सांस्कृतिक पुनरुत्थान में जुट गए।

इस प्रकार हमने देखा कि बहुमुखी प्रतिभा के धनी उस कुलगुरु ने भारतराष्ट्र, भारतीय धर्म एवं संस्कृति के लिए क्या नहीं किया? यह निर्विवाद सत्य है कि आधुनिक युग की समस्त उपलब्धि अकेले मालवीय जी के जीवन में समाहित है। ऋषिकल्प मालवीय जी का सम्पूर्ण जीवन आदर्श है तथा उनका प्रत्येक आचरण प्रेरणाप्रद एवं अनुकरणीय है। ऐसे वंद्यचरित पुरुष के चरणों में भारतीयता सदा प्रणतिपुष्प अर्पित करती रहेगी। जब तक हिन्दू राष्ट्र, धर्म एवं संस्कृति जीवित रहेगी तब तक महामना का अमर व्यक्तित्व पुष्प में सौरभ के समान इस देश के कण-कण में व्याप्त रहेगा।

अध्यक्ष हिन्दी विभाग, अग्रसेन कन्या महाविद्यालय, वाराणसी

मेरा विश्वविद्यालय : कुछ स्मृतियां

श्री पुरुषोत्तम लाल

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मेरा विश्वविद्यालय है, मुझे उससे ममत्व है। मैं समझता हूं, मेरे अध्ययन-काल के प्रत्येक स्नातक को ऐसा ही अनुभव होता है। विश्व-विद्यालय का ध्यान आते ही, यह संभव नहीं कि उसके जनक, संस्थापक, एवं आजीवन उपकुलपति महामना पंडित मदनमोहन मालवीय की मोहन मूर्ति आखों के सामने न खड़ी हो जाय। गौर वर्ण, इकहरा शरीर, तेजोद्दीप्त मुखमंडल, नेत्रों में कुछ अपार्थिव सी ज्योति। श्वेत पगड़ी, श्वेत चन्दन का गोल टीका, श्वेत अचकन-पाजामा, श्वेत जूता। गले में विशेष शैली से नीचे तक लटकता हुआ श्वेत दुपट्टा। उस भव्य मूर्ति के चरणों मे शतशः प्रणाम।

उपकुलपति के रूप में, देश के महान् नेता के रूप में, केन्द्रीय विधान-सभा के सदस्य के रूप में अथवा वाइसराय, राजा-महाराजाओं से मिलने के समय मालवीय जी का उपर्युक्त वेष ही सुपरिचित था। परन्तु हम छात्रों को एकादशी के दिन प्रायः आर्ट्स कालेज हाल में उनके मुख से धार्मिक कथा-प्रवचन सुनने का अवसर मिलता था, उस समय वे पूरे पंडित वेष में केवल धोती-दुपट्टा धारण किए हुए व्यास-आसन पर विराजमान होते थे। कभी गंगातट पर सामूहिक रूप से रामनाम का मंत्रोपदेश देते हुए भी वे उसी प्रकार के वेष में देखे जा सकते थे।

उनकी सजल-जलद-गंभीर वाणी में कुछ ऐसी स्निग्धता और मोहन-शक्ति होती थी कि उनके मत के विरोधी भी मुग्ध हुए बिना नहीं रहते थे। अपनी वाणी के ही प्रभाव से उन्होंने विश्वविद्यालय के लिये न केवल वांछित धन का, अपितु अल्प वेतन पर देश के निष्ठावान् विशिष्ट विद्वानों का संग्रह किया। किसी भी मंच से, हिन्दी-अंग्रेजी दोनों भाषाओं में उनका तर्कपूर्ण धाराप्रवाह ओजस्वी भाषण सुनते ही बनता था। उनके उप-कुलपतित्व-काल में विश्वविद्यालय में अध्ययन विशेष गौरव और गर्व का विषय था।

मालवीय जी सनातन हिन्दू धर्म के भक्त, नेता और उन्नायक थे परन्तु उनमें किसी प्रकार की ऐसी संकीर्णता नहीं थी जिसमे अन्य धर्मों, सम्प्रदायों अथवा राष्ट्रीयता का विरोध हो। उनका हिन्दुत्व इतना व्यापक था कि समस्त भारतीय जनता और उसकी संस्कृति एवं इतिहास को अपने भीतर समेटे हुए था। वे कहा करते थे कि राम और कृष्ण हमारी संस्कृति और हमारे इतिहास के मूल हैं। जो व्यक्ति आदर और भक्ति के साथ उन्हें स्मरण करता है वह वेद न जानने और शिखासूत्र तक न धारण करने पर भी हिन्दू है। [इस प्रसंग में याद आती है सर सैयद अहमद खां की बात, किसी समय उन्होंने कहा था कि हिन्दोस्तान में रहने वाले सभी लोगों को, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, मैं हिन्दू कहता हूँ। अर्थात् हिन्दू का अर्थ 'हिन्दी' या 'हिन्दुस्तान में रहने वाला।' परन्तु भारत पर शासन करने वाली ब्रिटिस कूटनीति ऐसे विचारों को कभी

पनपने नहीं दे सकती।] इस उदार भारतीय अर्थ में कोई भी हिन्दू भारत राष्ट्र, भारतीय जनता तथा भारतीय भाषा एवं संस्कृति का विरोधी कैसे हो सकता है ?

अस्तु ! मालवीय जी ने हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना करके, सही अर्थों में अपने को हिन्दू समझने वाली कोटि-कोटि जनता के लिये, आधुनिक शिक्षा-पद्धति से ज्ञानार्जन एवं उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर दिया। एक विशाल आवासिक विश्वविद्यालय होने के कारण भारत के सुदूर कोनों से खिच-खिच कर आने वाले छात्र यहाँ सुविधा पूर्वक एक साथ रहने और समान जीवन बिताने लगे जिसका तत्काल उत्तम परिणाम यह हुआ कि हिन्दू विश्वविद्यालय उनके हृदयों में, चाहे वे किसी पंथ या प्रदेश के हों और कोई भी भाषा बोलते हों, भावनात्मक एकता और बन्धुत्व-भावना को दृढ़ करनेवाला एक विशाल केन्द्र बन गया। व्यापक राष्ट्रीय भावना के प्रसार को भी इससे पूरा बल मिला।

हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रति मेरे आकर्षक के दो मुख्य कारण थे—(१) हिन्दी के निर्माता प्रतिष्ठित विद्वानों से हिन्दी भाषा एवं साहित्य का उच्चतम अध्ययन, और वह भी हाई स्कूल से सीधे विश्वविद्यालय में प्रवेश करके (क्योंकि डिग्री कक्षाओं की भांति इंटर की भी पढ़ाई यहीं होती थी), (२) भारतीय आदर्शों की छाया में राष्ट्रीय भावना के विकास के लिये मुक्त और सुरक्षित वातावरण। हिन्दी की सर्वोच्च शिक्षा के विषय में इतना कहना पर्याप्त है कि उस समय विभाग के अध्यक्ष थे बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए०, जिन्होंने काशी नागरी-प्रचारणी सभा के माध्यम से हिन्दी भाषा तथा साहित्य की चौमुखी सेवा की थी (प्रचार, निर्माण, प्रकाशन तथा शिक्षण) और जिनका सभा से वैसा ही संबंध था जैसा हि० वि० वि० से मालवीय जी का। अन्य अध्यापक थे—पं० रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, पं० केशवप्रसाद मिश्र। इनमें से कोई बी० ए० भी न था, परन्तु सभी अपने-अपने क्षेत्र में धुरन्धर थे। हिन्दी के प्रथम डी० लिट्० डा० बड़थ्वाल इसी विभाग की उपज थे। यहाँ पहले पहल एम० ए० तक के लिये जो पाठ्यक्रम और ग्रंथ निर्धारित किए गए वे अन्य विश्वविद्यालयों के लिए पथनिर्देशक बने।

मेरे प्रवेश के समय (सन् २८) विश्वविद्यालय में अनेक विषयों के महाविद्यालय पूर्ण रूप से कार्यरत थे जिनमें सर्वोच्च डिग्री परीक्षाओं के लिये शिक्षण-व्यवस्था थी। परन्तु डिग्रियों के कारखाने तो सभी विश्वविद्यालयों में थे। यहां विशेषता यह थी कि परीक्षाओं की तैयारी के साथ-साथ नैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राष्ट्रीय भावनाओं तथा भावनात्मक एकता के विकास के लिये उपयुक्त वातावरण था, जिसकी सृष्टि मुख्यतः विश्वविद्यालय के तत्कालीन प्राधिकारियों के विशिष्ट व्यक्तित्त्व से हुई थी, जिसमें त्याग, सदाचार, और विद्या-प्रेम के साथ धर्म तथा राष्ट्र के प्रति दृढ़ प्रेम भी था। मालवीय जी तो सबके आकर्षण-केन्द्र थे ही, अवैतनिक रजिस्ट्रार डे बाबा त्याग की मूर्ति ही थे। संस्कृत एवं वैदिक साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव विश्वविद्यालय के प्रोवाइस-चांसलर तथा आर्ट्स कालेज के प्रिंसिपल थे। इस त्रिमूर्ति का ऐसा सौम्य अनुशासन सम्पूर्ण विश्वविद्यालय पर था जो बाह्य कठोर प्रतिबन्धों से उतना नहीं जितना आन्तरिक श्रद्धा एवं बन्धुत्व-भावना से उद्भूत था। धर्मप्रेम था, किन्तु राष्ट्रप्रेम का विरोधी नहीं,

राष्ट्रप्रेम था, किन्तु धर्म को बाधक मानने वाला नहीं। संकीर्ण भाषागत अथवा, प्रान्तगत स्वार्थान्धता का नितान्त अभाव था। धनी-दरिद्र और बड़े छोटे का भी भेदभाव कम था। इस कारण पारस्परिक स्नेह-सौहार्द और शिष्ट व्यवहार का प्रादुर्भाव स्वतः होता था। कार में जाते हुए आचार्य ध्रुव यदि मार्ग में किसी छात्र को संकट में देखते तो कार रोक कर उसकी सहायता करते। फिर छात्रों पर इसका प्रभाव क्यों न पड़ता? एक बार घोर वृष्टि में जब सड़क पर वि० वि० के फाटक पर घुटने भर पानी भरा था, यह लेखक छाता लगाए धोती समेटे कालेज जा रहा था। इतने में कालाकांकर के कुंवर सुरेश सिंह जो उसके सहपाठी किन्तु उससे अपरिचित थे, की कार उसके पास से निकली तो वे कीचड़ पानी का कोई विचार न कर उसके ना-ना करने पर भी उसे आग्रहपूर्वक कार में अपने साथ ही बैठाकर कालेज ले गए। उनके व्यक्तिगत शील के अतिरिक्त भी, इस प्रकार का सौजन्य वि० वि० के तत्कालीन वातावरण में स्वतः विकसित होता था।

अनुशासन में मालवीय जी छात्रों के प्रति सदा वात्सल्य-भाव रखते थे। वे छात्रों को यही उपदेश देते थे कि तुम लोग अध्ययन के उपयुक्त शान्त एवं पवित्र वातावरण बनाए रखने के लिये केवल प्राधिकारियों पर निर्भर न रहकर स्वयं भी उद्योग किया करो। तुममें कोई बुरी लत हो तो तुरन्त उसे छोड़ देने की दृढ़ प्रतिज्ञा करो। जबतक वह न छूट जाय, नित्य सोते-जागते प्रतिज्ञा को दोहराते रहो। नित्य अपनी जननी के रूप का ध्यान किया करो, इससे आचरण को पवित्र रखने में बहुत सहायता मिलेगी। यदि तुम्हारा साथी कोई गलती करता है तो उसे प्रेम से भाई की तरह समझाओ। ऊपर शिकायत तभी ले जाओ जब वह दुर्निवार हो।

एक बार मालवीय जी के पास शिकायत पहुँची कि इंजीनियरिंग कालेज के कुछ उद्दंड छात्र छात्रावास में हाजिरी होने के बाद गोल बाँधकर नगर में निकल जाते हैं और एक बजे के बाद हो-हल्ला करते वापस आते हैं। छात्रावास जाने वाली सड़क पर पहला बंगला मालवीय जी का ही पड़ता था। दूसरे दिन वे स्वयं जागते रहे। रात एक बजे के लगभग साइकिलों पर सवार छात्रदल नित्य की भांति बंगले के सामने से चुपके से निकल जाने ही वाला था कि उच्च मिलिटरी स्वर में 'हाल्ट' का गर्जन सुनकर सब के सब भौंचक होकर वहीं रुक गए। मालवीय जी ने पहले तो डांटा, फिर उनके भले-बुरे और विश्व-विद्यालय की बदनामी का ध्यान दिलाकर स्नेहपूर्वक उन्हें समझाया और भविष्य के लिये सावधान किया।

विश्वविद्यालय में धर्मशिक्षा की भी पृथक् व्यवस्था थी और कभी-कभी मालवीय जी स्वयं धार्मिक प्रवचन करते थे। यहाँ के उदार धार्मिक वातावरण में आर्ट्स कालेज के अंग्रेजी के प्रोफेसर निक्सन ऐसे प्रभावित हुए कि उन्होंने प्रोफेसरी छोड़कर संन्यास ग्रहण कर लिया। गेरुआ वस्त्र धारण किए, गंगातट पर नौका में बैठे, 'हरे राम, हरे कृष्ण' का कीर्तन करते-करते वे तन्मय हो जाते थे। मालवीय जी ने फिर भी उनसे उसी वेष में विश्वविद्यालय में रहकर एक-आध घंटा विद्यादान करते रहने का अनुरोध किया, किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

मालवीय जी छात्रों को देशभक्ति का भी उपदेश दिया करते थे परन्तु कहते थे कि तुम्हारा देशप्रेम क्षणिक उवाल वाला नहीं होना चाहिए, उसे तो छाती में गड़ी हुई कील की तरह चौबीस घंटे करकते रहना चाहिए, और देशसेवा के लिये तुम्हें हर प्रकार से अपने को योग्य बनाना चाहिए। इसका प्रभाव यह था कि अपने विश्वास के अनुसार हिंसावादी और अहिंसावादी दोनों ही प्रकार के देशभक्त छात्र और अध्यापक विश्वविद्यालय की छाया में अपने को सुरक्षित समझते थे। काकोरी केस के राजेन्द्र लाहिड़ी इसी वि० वि० के एम० ए० के छात्र थे। सन् ३० के सत्याग्रह में अनेक छात्र और अध्यापक जेल गए थे और उन्हें मालवीय जी का आशीर्वाद प्राप्त था। यह लेखक स्वयं जब उनका आशीर्वाद प्राप्त करने गया तो उन्होंने प्रसन्न गंभीरता से आशीर्वाद देते हुए कहा कि अधिक से अधिक महीने का जेल होगा, उसके लिये तैयार रहना, जेल से लौटकर फिर आना। ८-९ महीने वाद जब मैं लौटकर आया तो उनके बंगले पर पहले तत्कालीन रजिस्ट्रार श्रद्धेय पं० इन्द्रदेव तिवारी मिले जिन्होंने अत्यन्त स्नेह से आलिंगन करते हुए मेरे अध्ययन को पुनः आगे बढ़ाने में हर प्रकार से सहायता की। आन्दोलन में जिस समय समाचारपत्र सव बन्द थे और साइक्लोस्टाइल मशीन तक रखने पर रोक थी, कुछ लोग दो बजे रात में सर सुन्दरलाल अस्पताल की छत पर बैठकर आवश्यक समाचार और विज्ञप्तियां साइक्लोस्टइल करके पांच बजे प्रातः तक बंगलों और छात्रावासों में छोड़ आते थे। समय-समय पर फरार क्रांतिकारी यवक भी विश्वविद्यालय में शरण लेते थे और धन-संग्रह करके उनकी सहायता की जाती थी। विश्वविद्यालय की सीमा में या किसी प्राइवेट छात्रावास में कोई सी० आई० डी० वाला आ जाता तो छात्र पहले उसकी अच्छी पिटाई करके तब उसे ध्रुवजी के पास ले जाते थे। सन् वयालीस में भी यहां के छात्रों ने बहुत काम किया।

सारांश यह कि मालवीय जी के उपकुलपतित्व-काल में हिन्दू विश्वविद्यालय डिग्रियाँ प्रदान करने के अतिरिक्त छात्रों को कुछ ऐसी वस्तु भी प्रदान करता था जिसका, मैक्समूलर के शब्दों में,[1] बाजार-मूल्य चाहे न हो किन्तु जीवन में स्थायी मूल्य था। वह वस्तु थी—भारतीय कला, संस्कृति, भाषा एवं वेषभूषा से प्रेम तथा देश एवं समाज के प्रति कर्तव्य-निष्ठा। उत्तरकालीन सुयोग्य उपकुल-पतियों के प्रति पूर्ण सम्मान रखते हुए, यह मानना पड़ता है कि विश्वविद्यालय की वह विशेषता उसी प्रकार बनी नहीं रह सकी।

केन्द्रीय शासन की छत्रछाया तथा सुयोग्य विद्वानों के अध्यापन एवं अवधान में हमारे विश्वविद्यालय का भविष्य निश्चय ही समुज्ज्वल है। हम केवल यही कामना करें कि यहाँ के स्नातक विश्वविद्यालय के आदर्शों से अनुप्राणित हो सच्चरित्रता एवं कर्तव्यनिष्ठता की विशिष्ट छाप लेकर ही यहां से समावर्तन करें।

४५, ग्रेन मार्केट लखनऊ—२२६००१

[1] "(The universities)...were originally meant to teach something that may not have a marketable value before a Board of Examiners, but which has permanent value for the whole of our life......"

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय : महामना का कीर्ति-मन्दिर

श्री गिरीन्द्रनाथ शर्मा

पूज्य मालवीय जी वैदिक संदर्भ में कवि तथा ऋषि थे। द्रष्टा और स्रष्टा के अन्तर्दृष्टि की व्यवहारिक विधा, मनोयोग की गुणात्मक शक्ति पाकर भावनाओं को सजीवता प्रदान करने में सहायक होती है। उसी का परिणाम था ऐसे विशाल स्तर पर "सर्व विद्या की राजधानी" काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के निर्माण की "मधुर मनोहर" परिकल्पना तथा "अतीव सुन्दर" योजना। विधि-विज्ञान विशारद महामना में वास्तुकला के अन्तः प्रकृति का सौन्दर्य बोध उनके संस्कार की अलौकिक उपलब्धि थी। यही कारण था कि इस सरस्वती मन्दिर में संस्कृति और प्रकृति का नियोजन शैक्षणिक सुविधाओं की उपादेयता को ध्यान में रखकर स्वस्थ्य और संतुलित रूप में हुआ। शान्ति निकेतन, गुरुकुल कांगड़ी तथा पूना विश्वविद्यालय की भांति प्रकृति की गोद में बसे इस विश्वविद्यालय का 'मधुर मनोहर' स्वरूप चिरन्तन है, क्योंकि इसके रचना–विधान की कलात्मकता, भविष्य की योजनाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के उपरान्त भी विशृंखल नहीं हो पाती। कलाकार की समन्वयशीलता का यही चमत्कार है, और उसकी अमरता का आधार भी।

प्रकृति यहां प्रगति की सहायक–निर्देशिका है। यहां वृक्ष और लतायें सौन्दर्य-सुगन्धि की पुष्पांजलि से वातावरण को इस प्रकार रंजित–स्पंदित करती रहती हैं, कि "ब्रह्म-विद्या" की इस राजधानी का ब्राह्म–मुहूर्त आत्म-ज्ञान का सहज साधन बन गया है। उच्च कोटि के मनीषियों, विद्वानों का इसकी ओर स्वाभाविक आकर्षण और मातृ-भूमि की सेवा के लिए महान विभूतियों का सृजन और समर्पण इसकी स्वाभाविक परम्परा है। यहां के दीक्षित कर्मवीरों ने राष्ट्र सेवा में आहुति देकर महामना के इस कीर्ति-मन्दिर को राष्ट्रीय विचार धारा का विश्वविख्यात मानक बना दिया है।

"प्रतीची-प्राची" के इस ज्ञान-संगम के शिलान्यास के शुभ मुहूर्त से ही इसे महामना और बापू का शिव–सानिध्य प्राप्त हुआ। "सत्य पहले फिर आत्म रक्षा" के आदर्श पर हरिश्चन्द्र की भांति अडिग इस विश्व–विद्या की राजधानी ने आर्थिक अभाव की अग्नि-परीक्षा का पचीसवाँ सत्र उन्हीं के संरक्षण में सम्पन्न भी किया। रजत-जयन्ती महोत्सव की मंगलमय वेला में इन दोनों महर्षियों का एक साथ दर्शन तथा "एम्फीथियेटर" के मंच से देश-भक्ति और राष्ट्रीयता की बापू की दीक्षा हमें आज भी स्मरण है। हिन्दी के विकास के सन्दर्भ में विश्वविद्यालय के गोपुर पर अंग्रेजी के बड़े अच्छरों में अंकित "बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी" नाम की बापू द्वारा आलोचना का ही परिणाम है प्रवेश द्वार पर हिन्दी में लिखा वर्तमान "काशी हिन्दू विश्वविद्यालय" नाम और उन्हीं की प्रेरणा का परिणाम है "हिन्दी-भवन" की स्थापना।

प्रसन्नता और परीक्षा का वह संक्रमण काल था। "भारत-छोड़ो" आन्दोलन, महामना के साहस और शक्ति की अन्तिम परीक्षा के रूप में उपस्थित हुआ। प्रशासन के

झन्झावात का सामना करते हुए कर्मवीरों की इस राजधानी ने स्वतंत्रता-संग्राम में युवा साहस और शक्ति का राष्ट्रीय कीर्तिमान स्थापित किया। काश! उस जन-क्रान्ति का सुखद स्वर्णिम प्रभात मालवीय जी महाराज देख पाते! पर स्वतंत्रता प्राप्ति के दस मास पूर्व ही १२ नवम्बर को उनका तिरोधान नियति की विडम्बना थी।

तीन दशक के अन्तराल के पश्चात् आज हीरक जयन्ती महोत्सव पर वाग-विद्या की इस राजधानी के विकास का आकलन सिद्ध करता है कि जैसे संतान की उन्नति और अभि-वृद्धि में पिता का पुण्य सहायक होता है, निश्चय ही इसके स्पृहणीय विकास में मालवीय जी की ऋषि-आत्मा का आशीर्वाद है। इस दशक में यहाँ सर्वतोमुखी विकास हुआ, इसकी सुन्दरता में अभिवृद्धि हुई। शिक्षा और शिक्षार्थियों की सुविधा—व्यवस्था को प्राथमिकता दी गई, तथा जन-हित योजना के अन्तर्गत सरसुन्दरलाल चिकित्सालय का विकास कार्य पूरा किया गया।

यहाँ के पुरातन छात्र, तथा वर्तमान—कुलपति डा० श्रीमाली युवा-शक्ति संयोजक के प्रभविष्णु प्रयास के साथ-साथ ही वर्तमान राजनीतिक परिवेश में लोकतंत्र की मर्यादा के संरक्षण, सम्बर्द्धन में मालवीय जी की दीक्षा के अनुरूप पूर्ण सत्य-निष्ठा से उसी प्रकार योग दे रहे हैं जिस प्रकार यहाँ के अन्य स्नातक राजनीतिक स्तर पर "महान भारत" के निर्माण में संलग्न हैं। आइये, हम सभी स्नातक इस ज्ञान-गंगा की पवित्र धारा के अक्षर और अजेय प्रवाह के लिए सदाचार, संयम और अनुशासन के मंत्र के साथ ही राष्ट्र-सेवा का संकल्प लें और अपने महान् राष्ट्र के पुनर्जागरण के अवसर पर सहस्र कण्ठों से उद्घोष करें—'जागा देश महान, भारत देश महान'।

हरिश्चन्द्र महाविद्यालय, वाराणसी

———

कुछ मधुर संस्मरण

कु० राधावती सिंह

मुझे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में उस समय शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जब भारत परतंत्रता की बेड़ियां तोड़, अंग्रेजों के शासन से मुक्त, स्वतंत्रता के क्रोड़ में विचरण हेतु मचल रहा था। आरम्भ में यह भावना उग्र रूप में नहीं प्रकट हुई, किन्तु सन् ४२ में इसका उग्रतम रूप हम लोगों को देखने को मिला। जब हमलोगों ने विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया हमारे कुलपति पूजनीय महामना मदनमोहन मालवीय जी थे—गौर वर्ण, स्वच्छ तथा संवेदनशील हृदय वाले, जिनका व्यक्तित्व सहज ही किसी को भी श्रद्धा संयुक्त कर अपने प्रति नत मस्तक होने को बाध्य कर देता था। हम छात्राओं पर उनका स्नेह कदाचित अधिक था। वे बहुधा महिला छात्रावास में आते एवं छात्राओं की, जिनकी संख्या आज के समान नहीं थी, बुलवा लेते थे। उनकी वार्ता पिता के समान स्नेहपूर्ण हुआ करती थी। वे आदर्श देवियों का उदाहरण हमारे समक्ष रखते थे। जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है वह समय ४२ के पूर्व तथा बाद का था। खादी का गौरव देश में बहुत अधिक था। अतः हम लोगों को साधारण खादी की साड़ी तथा ब्लाउज में पाकर महामना प्रसन्नता से भर उठते थे।

स्वयं महामना भारतीय संस्कृति के मूर्तिमान स्वरूप थे; तथा छात्रावास के नियम भी उन्होंने भारतीय संस्कृति से अनुकूल ही रखे थे। छात्रायें सिनेमा नहीं जा सकती थीं न तो सामिष भोजन ही ले सकती थीं। अभिभावकों की सूची में जिस व्यक्ति का नाम नहीं होता था उससे मिलने की अनुमति नहीं दी जाती थी। नगर में रहने वालों से सप्ताह में एक बार तथा बाहर से आने वालों से जो सूची में होते थे संध्या को छः बजे तक ही मिल पाने का नियम था। यह आज के लिए बंधन है किन्तु हम लोगों को यह बंधन नहीं अपितु सुखद अनुशासन ही प्रतीत होता था।

स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है। महामना इसमें पूर्ण विश्वास रखते थे। हम लोग पर्याप्त मात्रा में दूध का सेवन करें इसका वे ध्यान रखते थे। हमारी वार्डेन को उनका निर्देश था कि चाय के स्थान पर हमें दूध ही दिया जाय। उनकी वह प्रेममय झिड़की मैं कभी नहीं भूलूंगी जो उन्होंने 'मुझे दूध नहीं पसन्द है' कहने पर दी थी। वे विद्यार्थियों के स्वास्थ्य का इतना ध्यान रखते थे कि उन्हें नहाने के लिए गर्म पानी मिलता है या नहीं, क्या जलपान मिलता है तथा भोजन में क्या सब्जियाँ मिलती हैं इसे स्वयं देखा करते थे।

महामना ने जब अनुभव किया कि जितना कार्य कुलपति के रूप में करना चाहिए वह उनके स्वास्थ्य के लिए संभव नहीं है तब उन्होंने सहर्ष डा० राधा कृष्णन् जी को अपने प्रतिष्ठित पद पर आमंत्रित कर लिया। चूंकि विश्वविद्यालय के कण-कण से उनका प्रगाढ़ स्नेह था अस्तु विश्वविद्यालय से वे अपने को दूर नहीं रख पाये। मुझे आज भी वह दिन याद है जब उन्होंने आर्ट्स कालेज के हाल में विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए कहा था कि वे हम लोगों को इस योग्य उत्तराधिकारी के संरक्षण में दे रहे हैं किन्तु फिर भी वह सदा हम लोगों के लिए उपलब्ध रहेंगे। ऐसे सहज, सरल, उदात्त स्नेह की पराकाष्ठा अन्यत्र दुर्लभ है।

उनके जन्म दिवस पर हम छात्राओं को उनके निवास स्थान पर जाकर उनके दीर्घ जीवन की कामना व्यक्त करने की छूट होती थी और प्रायः हम सभी समवेत रूप में उनके निवास स्थान पर जाया करते थे। हम लोगों को देखकर महामना का हृदय पितृ प्रेम से आह्लादित हो उठता था, तथा वे अपने हाथों हम लोगों को लड्डू बाँटते थे। मुझे आज भी याद है कि किस उल्लास से हम लोगों के विश्वविद्यालय में फ़ाउन्डेशन डे मनाया जाता था। महामना की इच्छानुस र छात्रायें वासन्ती परिधान में जुलूस में सामिल होती थीं, तथा महामना स्वयं उस दिन छात्र-छात्राओं को संवोधित करते थे। एक बार यह उत्सव विश्वविद्यालय के विश्वनाथ मंन्दिर के प्रांगण में सामियाने में मनाया गया। संस्कार के अनुकुल हम छात्र-छात्रायें एक दूसरे से दूर बैठने लगे तो महामना ने कहा—भाई-वहनों में दूरत्व क्यों ? उनके इस संवोधन ने प्रत्येक छात्र तथा छात्रा के हृदय में सचमुच भाई बहन के पवित्र भावना का संचार कर दिया और हम लोग भूल गये कि इसके अतिरिक्त भी हमलोग कुछ हैं। उसी अवसर पर जब महामना पन्डाल में पधारे और छात्रगण ऊनका चरण स्पर्श करने लगे तो अन्तः श्रद्धा से प्रेरित छात्रायें भी वैसा करने को लालायित हो आगे बढ़ी, किन्तु महामना ने दूर से ही हमें वैसा करने से रोक दिया। उन्होंने कहा 'पुत्रियाँ लक्ष्मी तथ सरस्वती स्वरूपा होती हैं उनसे चरण स्पर्श नही कराया जा सकता।' यह थी भारतीय नारी जाति के लिए उनके हृदय में श्रद्धा।

सन् ४२ के स्वतंत्रता संग्राम में हमारा विश्वविद्यालय देश में अग्रणी रहा। 'भारत छोड़ो' आंन्दोवन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सबने भाग लिया। इसके कारण तत्कालीन वायसराय द्वारा हमारे विश्वविद्यालय के विरुद्ध कठोर कदम उठाने की धमकी हमारे कुलपति श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जी को दिल्ली बुलाकर दी गयी। उन्होंने विश्वविद्यालय के हित में सभी छात्र-छात्राओं को एकत्रित कर यह सुझाव देना चाहा कि हम लोग विश्वविद्यालय छोड़कर कुछ दिनों के लिए अपने घर चले जाँय जिससे महामना के कीर्ति-स्तम्भ इस विद्या मंदिर की रक्षा हो सके। उस अवसर पर स्वयं राधाकृष्णन् जी ने यह अनुभव किया कि यह कार्य भी विद्यार्थियों से महामना ही करा सकते हैं। अतः उक्त अवसर पर शारीरिक रुप से अत्यधिक दुर्बल होते हुए भी महामना आये। उनकी वाणी इतनी कमजोर थी कि राधाकृष्णन जी को पुनः उसे दुहराना पड़ता था। किन्तु उसी अमृत वाणी का प्रभाव था कि समस्त विद्यार्थी समाज सहज ही विश्वविद्यालय छोड़कर चला गया।

मुझे स्मरण है कि एक बार पूज्य महामना ने शिवाजी हाल में कुछ विदेशी विद्वानों के सम्मान में एक सभा की थी। खिड़की से धूप महामना तथा उक्त सज्जनों के ऊपर आ रही थी। तत्काल छात्रों का ध्यान उस ओर गया और धूप से अपने श्रेद्वय कुलपति तथा अतिथिगण को बचाने के लिए वे उन खिड़कियों के समक्ष खड़े हो गये। महामना के प्रति छात्रों के हृदय में ऐसी अपार श्रद्धा थी जिसकी अभिव्यक्ति वाणी एवं लेखनी की सामर्थ्य से परे है। आज हीरक जयन्ती के पवित्र पर्व पर हम महान आत्मा के प्रति श्रद्धावनत हैं, प्रणत हैं।

म० वा० वि० नि०, पंचम मंडल, वाराणसी

कुछ मधुर संस्मरण

कु० रमामौडवेल

कुछ वहुत पुराने किन्तु वचपन के वे सजीव स्वप्न के समान दिन भूलते नहीं हैं जब मेरे पिताजी प्रोफ़ेसर पशुपति प्रसाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सेंट्रल हिन्दू कालेज में पढ़ाने के लिये १० वजे नगवा जाया करते थे और मैं नन्हीं-सी वच्ची दूरतक उन्हें जाते देखते रहने के निमित्त खिड़की पर चढ़कर उन्हें तव तक देखती रहती जव तक वे आँखों से ओझल न हो जाते। उसी वाल्यावस्था में पिताजी के ही मुख से सुना करती थी कि वह विश्वविद्यालय महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जी महाराज ने खड़ा किया है जो भारत के वहुत वड़े महापुरुष हैं।

कभी कभी जव मैं भी अपने पिता जी के साथ विश्वविद्यालय घूमने चली जाती थी तो मेरे हृदय में यही उत्कट अभिलाषा वनी रहती कि कहीं यहीं घूमते-फिरते मालवीय जी महाराज के भी दर्शन मिल जाते तो कितना अच्छा होता मैं भी अपनी आंखों से देख लेती कि वे हैं कैसे। पर न जाने क्यों अपने हृदय की यह इच्छा मैंने कभी किसी पर प्रकट नहीं की।

दिन वीतते गए और एक दिन वह भी आया कि मैं कमच्छा-स्थित थियोसॉफ़िकल सोसाइटी के स्कूल में सन् १९३३ में भरती करा दी गई। अभी वहाँ पढ़ते हुए कुछ ही दिन बीते थे कि उस विद्यालय की संस्थापिका श्रीमती एनी वेसेंट का अडयार में स्वर्गवास हो गया और उनका फूल (भस्म) गंगा जी में विसर्जन के निमित्त काशी लाया गया। इसके विसर्जन के लिये विशाल जुलूस आयोजित किया गया। पिता जी मुझे भी वह जुलूस दिखाने के लिये लेते गए और भीड़ से बचाने के लिये उन्होंने मुझे, एक दूकान पर खड़ा कर दिया। वहीं खड़े होकर मैंने वह जन-समूह भी देखा और फूलों से सजी हुई वह गाड़ी भी देखी जिस पर अवशेष का कलश रक्खा हुआ था। इसी प्रसंग में पिता जी ने श्रीमती एनी बेसेंट के सम्बन्ध में बहुत सी बातें बताते हुए यह भी बताया कि जिन दिनों डाक्टर एनी वेसेंट एक इंडियन युनिवर्सिटी बनाने की योजना बना रही थीं उन्हीं दिनों मालवीय जी भी हिन्दू विश्वविद्यालय बनाने का विचार कर रहे थे। विश्वविद्यालय की मान्यता के लिये उन्हें एक महाविद्यालय की आवश्यकता थी जिसके लिये श्रीमती बेसेंट ने अत्यन्त उदारता के साथ अपना सेंट्रल हिन्दू कालेज तत्काल हिन्दू युनिवर्सिटी सोसाइटी को सौंप दिया जिसके आधार पर सन् १९१६ की वसंत पंचमी के दिन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्यास किया जा सका। इस घटना को सुनकर तो मालवीय जी के प्रति मेरी श्रद्धा और भी गहरी हो गयी कि वह महापुरुष सचमुच कितना महान होगा जिसकी महत्ता से प्रभावित होकर श्रीमती एनी बेसेंट ने अपना महाविद्यालय दे डाला।

मैं बड़ी होती गई और उसके साथ-साथ मेरे हृदय की श्रद्धा भी बढ़ती चली गई पर अभीतक मालवीय जी महाराज के दर्शन नहीं हो पाये थे। अचानक मालवीय जी महाराज

की पौत्री (पं० गोविन्द मालवीय की पुत्री) मेरी कक्षा में पढ़ने आई। संभवत: मालवीय जी की पौत्री होने के कारण उसके प्रति मेरा इतना आकर्षण हो गया कि वह मेरी अभिन्न सहेली हो गई। यहां तक कि हम दोनों साथ पढ़ते, साथ खेलते-कूदते और साथ ही खाते-पीते भी थे।

कुछ समय बीतने पर मैं इण्टर में पहुँच गई। उमा दीदी उन दिनों विश्वविद्यालय में पढ़ने लगी थीं इसलिये उनके साथ मैं समावर्तन समारोह देखने चली गई और जहाँ सभी छात्राएं बैठी थीं वहीं मैं भी जा बैठी। थोड़ी ही देर में मालवीय जी की जय जय कार से सारा सभा मंडप गूंज उठा और सब लोग अभ्यर्थना के लिये उठ खड़े हुए। ज्ञात हुआ कि मालवीय जी महाराज आ रहे हैं। बचपन की साध आज पूरी होगी यह सोचकर हृदय बल्लियों उछल रहा था। सब लोग शान्त बैठे थे। अत्यधिक वार्धक्य से चल सकने में असमर्थ होने के कारण अनेक भक्त गण उन्हें कुर्सी पर बैठाकर मंचपर ले आए। यही मालवीय जी का प्रथम दर्शन था—गौर वर्ण, श्वेत केश और परम सौम्य मूर्ति-वृद्धावस्था भी उनका तेज नही कम कर पाई थी। उनके स्वास्थ्य के लिये मैंने मन ही मन मंगल कामना की। मेरे हृदय ने श्रद्धा से उन्हें शत शत प्रणाम किए। परन्तु वे कुछ बोले नहीं। उनकी पवित्र वाणीं और उनके उपदेश सुनने के लिये मन लालायित ही रह गया। किन्तु बचपन की साध आज पूरी हो गई, यही क्या कम सौभाग्य था। मेरा हृदय यही कामना कर रहा था कि मैं भी इस महापुरुष द्वारा स्थापित किए हुए इस विश्वविद्यालय में विद्यार्जन करने के योग्य बन सकूं और ऐसे महान् व्यक्ति के जीवन से कुछ सीख सकूं। यह था मेरा महामना का प्रथम दर्शन।

अन्त में वह दिन भी आया जिसकी प्रबल कामना थी। अपने हृदय में वर्षों के अरमान सजोए हुए मैंने विश्वविद्यालय में प्रवेश पा लिया। परन्तु विचित्र बात यह हुई कि नित्य विश्वविद्यालय जाने पर भी मालवीय जी महाराज़ के दर्शन से वंचित रहना पड़ता था। आँखें तरसती रह जाती थीं, मन निराश हो जाता था।

मैं मनोयोग से नित्य पढ़ने जाती थी। इसी बीच धीरे-धीरे यह समाचार मिलने लगा कि अत्यधिक वृद्ध और अशक्त हो जाने के कारण महामना का कहीं बाहर आना-जाना बन्द हो गया है। और अब उनका स्वास्थ्य भी वेग से गिरता जा रहा है। स्थिति गम्भीर होती चली जा रही थी। विश्वविद्यालय के और बाहर के डाक्टरों का तांता लगा हुआ था। बीच में यह समाचार मिलने लगा कि स्थिति कुछ ऐसी हो गई है कि कहीं उनके प्राण अटके हुए हैं – कोई अपूर्ण इच्छा उनके प्राण बाँधे खड़ी है। इसी बीच मालवीय जी के परम भक्त दानवीर जुगलकिशोर बिड़ला उन्हें देखने आ पहुँचे। उन्होंने सहज भाव से पूछ भी लिया कि 'महाराज कोई आज्ञा हो तो कहिए।' मालवीय जी ने बड़े अस्फुट स्वरों में बड़े कष्ट से कहा—'मन्दिर।' जुगल किशोर जी ने उन्हें दृढ़ आश्वासन दिया। 'महाराज, यह चिन्ता आप मुझ पर छोड़ दीजिए। मालवीय जी के मुख पर संतोष की आभा झलक गई। उनकी वाणी मौन हो गई और वे महाप्रयाण के लिये ऐसे उन्मुख हो गए मानो संसार की समस्त पार्थिव चिन्ताओं से वे मुक्त हो गए हों—जीवनमुक्त हो गए हों।

और अन्त में वह क्षण भी आ गया जब उनका केवल यशः शरीर मात्र रह गया। वे पुण्यात्मा ब्रह्मलीन हो गए।

विद्युद्‌गति से यह समाचार देश भर में व्याप्त हो गया। दूर-दूर से उनके अन्तिम दर्शन के लिये लोग काशी आने लगे। जिसे देखो उसी की आँखें बरस रही थीं। सब अपनी अपनी पुष्पांजलि और श्रद्धांजलि अर्पित करते चले जा रहे थे। काशी के प्रमुख मार्ग से होती हुई उनकी महायात्रा मणिकर्णिका पर समाप्त हुई। वहाँ पहले से ही अपार जन समुदाय एकत्र था। सारी काशी उस पवित्रात्मा के दर्शन के लिये उलट पड़ी थी। यहाँ तक कि गंगा जी भी नावों से पट गई थीं।

वे सब दृश्य आज भी चलचित्र के समान आँखों के आगे घूम रहे हैं—यही मालवीय जी का दूसरा और अन्तिम दर्शन था। फूलों के ढेर के बीच केवल उनका सौम्य मुख दिखाई पड़ रहा था। वे चिरनिद्रा में सोए हुए विमान पर चले जा रहे थे और सड़कों के दोनों ओर के मकानों से फूलों और मालाओं की अनवरत वर्षा हो रही थी। उनकी जय जय कार से सारी काशी और सारा आकाश गूंज उठा था।

आज भी मेरे कानों में वह गूंज ज्यों की त्यों बनी हुई है।

बसंत कन्या महाविद्यालय राजघाट, वाराणसी

— —— —

संस्मरण

प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में मैंने १९३८ के जुलाई मास के प्रारम्भ में प्रवेश लिया। उत्तर प्रदेश बोर्ड की इंटर परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् मेरा विचार प्रयाग विश्वविद्यालय में बी० ए० में प्रवेश लेने का था। जून १९३८ के अन्त में मैं श्रद्धेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से मिलने दौलतपुर (जिला रायबरेली) गया, जो मेरे गाँव रायपुर से लगभग ६ मील पश्चिम में है। द्विवेदी जी उस समय अस्वस्थ थे। उन्होंने मुझे सलाह दी कि मैं इलाहाबाद न जाकर काशी विश्वविद्यालय में अध्ययन करूँ। प्रारम्भ से ही उनका अत्यधिक स्नेह मेरे ऊपर था। उनके आदेश का उलंघन मेरे लिए असम्भव था। मैंने इलाहाबाद जाने का विचार छोड़कर बनारस का टिकट कटाया। द्विवेदी जी ने पूज्य मदन मोहन मालवीय जी के लिए मुझे एक परिचयपत्र दे दिया था।

काशी पहुँचकर मैंने मालवीय जी के दर्शन किये और उन्हें आचार्य द्विवेदी का पत्र दिया। उसे पढ़कर मालवीय जी के नेत्र सजल हो गये। द्विवेदी जी ने अपनी रुग्णावस्था का उल्लेख पत्र में कर दिया था। आचार्य जी के स्वास्थ्य के बारे में पूछने के पश्चात् मालवीय जी ने मुझे आशीर्वाद दिया और कठोर श्रम के साथ पढ़ने तथा समय-समय पर मिलते रहने का आदेश भी दिया। इसका पालन मैं काशी में निवास पर्यंत करता रहा। मालवीय जी से मिलवाने में उनके वरिष्ठ सचिव श्री त्रिलोचन पंत माध्यम होते थे। पंतजी बाद में मेरे परम मित्र हुए। खेद है कि अभी कुछ समय पूर्व वे दिवंगत हो गये।

१९३८ से ४२ तक मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का छात्र रहा। कला संकाय के प्रिंसिपल उस समय डे साहब थे, जो अपने भव्य व्यक्तित्व और लम्बी सफेद दाढ़ी के कारण ऋषितुल्य प्रतीत होते थे। बाहर से कठोर दीखने वाले 'डे बाबा' (इसी नाम से वे प्रसिद्ध थे) अत्यन्त सरलहृदय थे। वे विश्वविद्यालय से केवल एक रुपया मासिक वेतन लेते थे। बाद में उन्होंने अपनी बहुत बड़ी सम्पत्ति विश्वविद्यालय को दे दी। नियमों का पालन वे स्वयं अत्यन्त कठोरता से करते और विद्यार्थियों में अनुशासन की भावना को सबसे अधिक महत्व देते थे। काशी में मेरे अध्ययनकाल में डे बाबा ने मुझे एक ही बार बहुत डाँटा, जब हिन्दी के स्थान पर प्राचीन भारतीय इतिहास विषय लेने की स्वीकृति प्राप्त करने हेतु मैं उनके पास पहुँचा था। मेरे अनुनय पर उन्होंने मेरा प्रार्थना-पत्र स्वीकार कर लिया। उनके डाँटने का कारण यह था कि विषय-परिवर्तन हेतु निर्धारित तिथि समाप्त होने के एक दिन बाद मैं उनके पास पहुँचा था।

बी० ए० में अंग्रेजी के अतिरिक्त मेरे अन्य मुख्य विषय संस्कृत तथा प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति थे। पिछले विषय में ही मैंने एम० ए० किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं० बटुकनाथ शर्मा, पं० बलदेव उपाध्याय, प्रो० अनन्त सदाशिव अलतेकर, डा० रमाशंकर त्रिपाठी, डा० राजबली पाण्डेय जैसे प्रकाण्ड पंडितों को गुरुओं के रूप में पाकर मैंने अपने को धन्य माना। दूसरे विश्वविद्यालयों में मुझे विद्वान्

अध्यापक मिल सकते थे, परन्तु सम्भवतः सच्चे भारतीय गुरु इतनी संख्या में न मिलते। महामना के विश्वविद्यालय में प्राचीन परम्परा पूर्ण प्रतिष्ठित हो चुकी थी। वे चाहते थे कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में न केवल ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न विषयों की उच्च शिक्षा और शोध की व्यवस्था हो अपितु भारतीयता क मूर्तरूप भी वहाँ व्याप्त रहे। इसका अनुभव मुझे तथा मेरे साथ पढ़ने वाले बहुसंख्यक विद्यार्थियों को बराबर होता रहा।

प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग में 'त्रिदेव' (डॉ० अलतेकर, डॉ० त्रिपाठी तथा डॉ० पाण्डेय) थे। बहुत समय तक विभाग में तीन ही अध्यापक रहे। उक्त तीनों गुरुओं के विषय में यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि वे अपने छात्रों के प्रति निज संतान-जैसा व्यवहार करते थे। अध्यापन में असाधारण परिश्रम के साथ वे छात्रों के सर्वांगीण विकास की ओर बराबर ध्यान देते थे। एम० ए० उत्तीर्ण करने के पश्चात् उनका कोई छात्र बेकार न रहे, इसकी ओर भी वे जागरूक थे। अपने पुराने छात्रों की उन्नति का हाल सुनकर उन्हें अपार हर्ष होता था। उनकी स्नेहपूर्ण कृपा का सम्बल मेरे अतिरिक्त वभाग के अन्य कितने ही विद्यार्थियों ने प्राप्त किया। मुद्राशास्त्र, पुरालेख तथा सामाजिक इतिहास के क्षेत्रों में डॉ० अलतेकर की असाधारण प्रतिभा थी। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी राजनीतिक इतिहास तथा नयशास्त्र के निष्णात पंडित थे। डॉ० राजबली पाण्डेय राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास दोनो में प्रवींण थे।

विभागीव अध्या कों के अतिरिक्त मुझे प्रो० एस० बी० पुण म्बेकर, बटुकनाथ जी शर्मा पं० बलदेव उपाध्याय, ड० यू० सी० नाग, प० केशव प्रसाद मिश्र—जैसे प्रख्यात विद्वानों के अधिक समीप आने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। इन विद्वानो से मुझे निस्संदेह असीम लाभ प्राप्त हुआ।

प्रो० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है। मालवीय जी के पश्चात् वे विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त हुए। उनकी विदग्धता, तथा भाषण-पटुता का स्मरण मुझे आज तक है। घर पर मिलने पर उन्होंने मुझे कभी पाँच-छह मिनट से अधिक समय नहीं दिया। उनके क्षणिक वार्ता-सूत्र मेरे लिए आज महान् भाष्य बन गये हैं।

मालवीय जी ने प्रति रविवार को गीता-भाषण योजना प्रारम्भ की थी। उनके बाद डॉ० राधाकृष्णन् ने इस योजना को जारी रखा। इसमें बड़ी संख्या में अध्यापक तथा छात्र भाग लेते थे।

काशी विश्वविद्यालय के चार वर्षों के अपने विद्यार्थी-जीवन में मुझे हड़ताल या अन्य ऐसी किसी घटना की बात ज्ञात नहीं है। मालवीय जी, डॉ० राधाकृष्णन् तथा अन्य गुरुजनों ने विश्वविद्यालय में जिस पवित्र सारस्वत वातावरण की सृष्टि कर दी थी उसमें अवांछनीय बातों के लिए स्थान न था। विश्वविद्यालय में बिताए गए मेरे वे चार वर्ष अब कभी लौट न सकेंगे—'ते हि नो दिवसा गताः।

टैगोर प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर

महामना मालवीय जी के जीवन की कुछ झाँकियाँ

डा० कृष्णदेव उपाध्याय एम० ए०, पी० एच० डी०

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्ययन करते समय महामना मालवीय जी के महान् व्यक्तित्व का दर्शन अनेक रूपों में करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनका बहुमुखी व्यक्तित्व भिन्न भिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता था। कभी वे कुलपति के रूप में स्नातकों को दीक्षा देते दिखाई देते थे, कभी एकादशी के दिन आर्ट्स कालेज के विशाल हाल में व्यास-पीठ पर आसीन होकर वाल्मीकि और वशिष्ठ की भूमिका में दृष्टि गोचर होते थे और कभी काशी-तल-वाहिनी गंगा के पावन तट पर बैठ कर अपृश्य कहे जाने वाले हरिजनों को अपने उपदेश से पावन करते हुये पाये जाते थे। यहाँ महामना के जीवन की कतियय झाँकियाँ प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास कर रहा हूँ।

महामना कुलपति के रूप में

हिन्दू विश्वविद्यालय में दीक्षान्त समारोह के अवसर पर महामना के द्वारा कुलपति की हैसियत से उपाधि-प्रदान करने तथा दीक्षान्त उपदेश देने का दृश्य दर्शनीय होता था। मैं जिन दिनों (१९३४-५) की चर्चा कर रहा हूँ उन दिनों स्नातकों को डिग्रियाँ कुल सचिव के कार्यलय के कर्मचारी नहीं दिया करते थे। उन दिनों उपाधि-वितरण-महोत्सव पर स्वयं मालवीय जी महाराज अपने कर कमलों द्वारा प्रत्येक स्नातक को डिग्री दिया करते थे। मुझे स्वयं इस बात का अतिशय अभिमान है कि मुझे महामना के मोतियों से सुन्दर हस्ताक्षर युक्त उपाधिपत्र उन्ही के हाथों ग्रहण करने का पुनीत सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

स्वच्छ तथा श्वेत वस्त्रों के परम प्रेमी मालवीय जी महाराज इस अवसर पर, सफेद रेशम का बना हुआ गाउन धारण करते थे जो उनके शुभ्र वस्त्रावृत शरीर की शोभा को शताधिक बढ़ा देता था। आज के दिन महामना की कार्य-क्षिप्रता देखते ही बनती थी। दीक्षान्त समारोह प्रारम्भ होने के पहिले पं० शिव प्रसाद जी (गायनाचार्य) का मंगल-पाठ होता था। जब वे अपने सुरीले कण्ठ से वाद्य पर

"या कुन्देन्दुतुषारहारधवला, या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा, या श्वेतपद्मासना।
या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता,
सा मां पातु सरस्वती भगवती, निःशेषजाड्यापहा॥"

का गायन करने लगते थे तब समस्त पण्डाल में निःस्तब्धता छा जाती थी। एक समा बँध जाता था। इसके बाद महामना खड़े होकर उच्च स्वर से यह घोषणा करते थे 1 declare the Convocation open. अर्थात् अब मैं दीक्षान्त समारोह के प्रारम्भ होने की घोषणा करता हूँ। उन दिनों उपाधि प्राप्त करने वाले स्नातकों को आठ-आठ दस-दस की टोलियों में बिभक्त कर दिया जाता था और क्रमशः एक एक टोली को कुलपति

के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। तब अधिकृत प्राचार्य महामना के सामने आकर विनम्रता से निवेदन करते थे कि अमुक-अमुक छात्रों ने अमुक विषय में अमुक उपाधि के लिये अपनो योग्यता प्रमाणित की है। अतः इन्हें उपाधि प्रदान की जाय। इसके पश्चात् मालवीय जी उन स्नातकों से तीन प्रतिज्ञायें करवाते थे जिनका उत्तर स्नातक गण 'प्रतिजाने' कह कर दिया करते थे।

इन प्रतिज्ञाओ में विश्वविद्यालय के उच्च आदर्श की रक्षा करने, तन-मन-धन से भारतीय राष्ट्र की सेवा करने तथा विश्व में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना करने की बात कही गई होती थी। इन प्रतिज्ञाओं की वह शब्दावली-जो अत्यन्त सरस, सरल तथा सुन्दर एवं ललित संस्कृत में होती थी-मेरे स्मृति-पटल से विचलित हो गई है। परन्तु उस प्रतिज्ञा के कुछ वाक्य आज भी मेरे अवचेतन मस्तिष्क के किसी कोने में सुरक्षित हैं जिनको यहाँ प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता।

महामना कुलपति के रूप में स्नातकों से प्रथम यह प्रतिज्ञा करवाते थे।

"अपि नाम संगितरन्ते भवन्तो यदिह विश्वजनीनव्यवस्थासम्भवस्थयोः योगक्षेमधुरा यावदवकाशं यावत् शक्तिञ्च निरुह्येत् भवद्भिः।"

इस प्रतिज्ञा के उत्तर में स्नातकों का दल सम्मिलित स्वर में एक साथ कहता था 'प्रतिजाने', 'अर्थात् मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। इसके बाद महामना फिर दूसरी बार पूछते थे कि

"अपिस्विद् अपालीकं संगिरन्ते भवन्तो···यदिह विश्वविद्यालयस्यास्य समुचिता पूतेन मनसा, सुनृतेन वचसा, समवदातेन कर्मणा च नितान्तं निषेव्येत।"

पुनः स्नातक उत्तर देते थे 'प्रतिजाने, प्रतिजाने'।

विभागाध्यक्षों के द्वारा स्नातकों को उपस्थित करने के पश्चात् मालवीय जी महाराज खड़े होकर बड़ी तेजी के साथ किंचित् उच्चस्वर में, अंगेजी में निम्नांकित वाक्यों का उच्चारण करते थे।

"By Virtue of the Authority, vested in me as the Vice-Chanceller of the Banaras Hindu University, I confer upon you, the degee of··········and charge you to be worthy of the same." इस वाक्य को महामना जिस पॉज़, नाज़, बलाघात तथा गंभीरता के साथ कहते थे उसका वर्णन शब्दों के द्वारा संभव नहीं है, मालवीय जी के उच्चारण में स्पष्टता तीव्रता के साथ प्रत्येक शब्द तथा 'सिलेबुल' पर उचित बल होता था। उसके लिए गोस्वामीजी के शब्दों में इतना ही कहना पर्याप्त होगा—सो सुखजाने मन अरु काना। नहि रसना पै जाइ बखाना।

उपाधि वितरण समारोह के पश्चात् महामना नवीन स्नातकों को दीक्षान्त उपदेश दिया करते थे। यह उपदेश वही है जो प्राचीन काल में आश्रम के कुलपति द्वारा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले छात्रों को दिया जाता था। वृहदारण्यक उपनिषद् में यह उपदेश उपलब्ध होता है जिसकी कुछ पंक्तियां निम्नांकित हैं।

"सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। अतिथिदेवो भव।

× × ×

श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्।

× × ×

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नेतराणि। आदि।

ये उपदेश तो अत्यन्त पुराने हैं परन्तु इनकी व्याख्या मालवीय जी महाराज नये ढ़ंग से, वड़े ही रोचक रूप में किया करते थे जो श्रोताओं तथा स्नातकों के हृदय को बहुत ही 'अपील' करता था। 'सत्यं वद' तथा 'धर्मं चर' का विवेचन करते हुए महामना सत्य तथा धर्म के पालन के महत्त्व की विशद व्याख्या महाभारत से उद्धरण देकर किया करते थे। वे सत्य वोलने के संबंध में राजा हरिश्चन्द्र का तथा धर्म के पालन के विषय में व्यास की शतसाहस्री संहिता में वर्णित धर्मव्याध की कथा सुनाया करते थे। स्वाध्यायान्मा प्रमदः की व्याख्या करते समय वे प्रत्येक स्नातक को आजीवन स्वाध्याय करने का उपदेश देते थे। ब्राह्मणों के विषय में वे कहा करते थे कि "यावत् जीवमधीते विप्रः" अर्थात् ब्राह्मण जब तक जीवित रहता है तब तक ज्ञान की गुदड़ी को सोता रहता है। अतः उनका आदेश था कि प्रत्येक स्नातक को अध्ययन करना चाहिए।

आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य" (गुरु को दक्षिणा दो) का विश्लेषण करते हुए वे वरतन्तु के शिष्य का उदाहरण देते थे जिसने अपने गुरू को चौदह करोड़ मुद्रायें गुरू दक्षिणा में दी थीं। मालवीय जी का सांकेतिक रूप से यह अभिप्राय होता था कि प्रत्येक छात्र को अपनी विद्या समाप्त कर विश्वविद्यालय के विकास तथा वृद्धि के लिए कुछ दक्षिणा अवश्य देनी चाहिए। वे स्नातकों से, बहुत ज़ोर देकर कहा करते थे कि जब आप लोग धन का उपार्जन करने लगें तब मातृ संस्था के रूप में इस विश्वविद्यालय को मत भूलियेगा।

'श्रद्धया देयं' तथा 'अश्रद्धया अदेयं' का अर्थ मालवीय जी महाराज शास्त्रकारों के अभिप्राय से भिन्न किया करते थे। उनका कहना था कि दान को श्रद्धा पूर्वक देना चाहिए। अर्थात् किसी व्यक्ति अथवा संस्था के प्रति यदि श्रद्धा हो तो दान अवश्य देना चाहिए। 'अश्रद्धयाऽदेयम्' का सामान्य अर्थ यह है कि यदि श्रद्धा न हो तो दान नहीं देना चाहिए। परन्तु महामना इसका अर्थ करते थे 'अश्रद्धया देयम्' अर्थात् यदि मन में श्रद्धा न हो तौभी दान देना चाहिए। यह उनकी इस औपनिषद् वाक्य की सर्वथा नयी व्याख्या थी। इसके समर्थन में वह कहा करते थे कि इस विश्वविद्यालय के प्रति किसी के हृदय में श्रद्धा का अभाव हो, तो भी इसके लिए दान देना चाहिए क्योंकि यह भारतीय शिक्षा और संस्कृति की रक्षा में तत्पर है।

मुझे आज भी यह अच्छी तरह से स्मरण है कि ह्रिया देयं (लज्जा के कारण दान दो) और भिया देयं (भय के कारण दान दो) की मीमांसा करते हुए महामना ने स्नातकों से कहा था कि लोकलज्जा के कारण भी दान देना चाहिए। यदि मान लो कि आपके

घर पर मालवीय जी महाराज विश्वविद्यालय के लिए भिक्षा माँगने के लिए उपस्थित हो जाँय तब आपको लोक-लाज के कारण भी दान देना चाहिए। क्योंकि मालवीय जी को खाली हाथ अपने घर से लौटा देने पर लोग आपकी निन्दा करेंगे। आपकी जग में हँसाई होगी। इसीलिए गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि—

"संभावितस्य चाकीर्तिः मरणादतिरिच्यते"

महामना ने जब उस दीक्षान्त उपदेश में 'अश्रद्धयाऽदेयम्' 'भिया देयम्' तथा 'ह्रिया देयम्' की अनूठी व्याख्या प्रस्तुत की थी तब समस्त श्रोता तथा स्नातक चमत्कृत हो उठे थे। उस समय सभी उपस्थित लोगों पर उनके उपदेश का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि जी में यही उस समय आता था कि अपने पाकेट में जो कुछ पैसा हो उसे मालवीय जी के चरणों में अब ही और अभी अर्पित कर दें। मालवीय जी की वाणीं में अजीव जादू था, उनके उपदेश की पद्धति इतनी प्रभावोत्पादक थी कि श्रोताओं का हृदय बरबस वशीभूत हो जाता था।

मुझे देश और विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों के दीक्षान्त समारोहों में सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है परन्तु जिस दिव्यता और भव्यता का अनुभव मुझे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हुआ इतना अन्यत्र नहीं। जिस शालीनता और गंभीरता के साथ महामना इस महोत्सव का सम्पादन करते थे वह अब अतीत की कहानी बन गया है। अब वह भव्य दृश्य कहाँ दिखाई पड़ने को है? दुःख यही है कि उस दीक्षान्त समारोह का कोई फिल्म उस समय तैयार नहीं किया गया जिससे उस दृश्य की सजीवता और भव्यता आज भी लोगों को देखने को मिल पाती।

× × ×

महामना कठोर अनुशासन के पालक थे। छात्रों की अभद्रता और अनुशासन हीनता उन्हें कतई सह्य नहीं थी। सन् १९३१ ई० में महामना राउण्ड टेबुल कान्फरेन्स में सम्मिलित होकर इंगलैण्ड से वाराणसी आये थे। उनके स्वागत में विश्वविद्यालय के प्रत्येक कालेज ने कुछ न कुछ आयोजन किया था। विश्वविद्यालय के सिंह द्वार पर उनके स्वागत में समस्त छात्र तथा अध्यापक उपस्थित थे। महामना स्टेशन से आकर प्रधान द्वार के पास अपनी कार से उतर गये और छात्रों के साथ पैदल ही चलने लगे। विश्वविद्यालय के महिला महाविद्यालय (वीमेन्स कालेज) की छात्राओं ने उनकी आरती उतारने का आयोजन किया था।

इस आवसर पर वड़ी भीड़ थी। कुछ मन चले छात्रों ने "आफिशियल फोटोग्राफरों" के साथ-साथ छात्राओं की फोटो उतारनी चाही। परन्तु इसी बीच महामना की पैनी दृष्टि उन पर पड़ गई। उन्होंने अपनी तर्जनी अंगुली से उन्हें ऐसा करने के लिए निषेध किया। उनकी तर्जनी को देखते ही छात्र सकपका गये और अपना कैमरा छिपाकर हट गये।

× × ×

शायद सन् १९३३ या ३४ की बात है। महात्मा गाँधी वाराणसी आये हुए थे। महामना के निमन्त्रण पर उनका भाषण शिवाजी हाल में होने वाला था। छात्रों

अध्यापकों तथा नागरिकों की भयंकर भीड़ उपस्थित थी। भला शिवाजी हाल की दिवालों के भीतर इतना जन-समुद्र कैसे समा सकता था? अतः स्थानाभाव के कारण शोर-गुल होना स्वाभाविक था। भारत के दो महान् नेता—महामना मालवीय तथा महात्मा गाँधी दोनों ही—एक साथ मंच पर विराजमान थे। अत: इस अलौकिक दृश्य को देखने के लिए जन-मानस उद्वेलित हो रहा था। विश्वविद्यालय के प्राक्टरों के दल ने छात्रों को शान्त करने की वहुतेरी कोशिश की, परन्तु सब व्यर्थ गयी। इधर महात्मा गाँधी मंचपर वैठे हुए थे और उनके भाषण देने की बेला का अतिक्रमण हो रहा था। प्राक्टरों के द्वारा इस शोर-गुल का अन्त होता हुआ न देख कर, महामना को स्वयं उठना पड़ा। उन्होंने बड़े ही अधिकारपूर्ण शब्दों में इतना ही कहा कि "आप अब बिल्कुल शान्त हो जाँय। जिनको भाषण नहीं सुनना है वे शीघ्र ही हाल के बाहर निकल जाँय"। महामना का यह आदेश सुनना था कि सभी छात्र मौन होकर चुप चाप अपने स्थानों में बैठ गये और शान्ति के वातावरण में महात्मा जी का भाषण समाप्त हुआ। महामना को इसके पहिले कुलपति की हैसियत से इस अधिकार-पूर्ण वाणी में आदेश देते हुए मैंने कभी नहीं सुना था। उसी दिन ज्ञात हुआ कि महामना में अनुशासन के पालन की भावना कितनी अधिक है।

मालवीय जी को कथावाचक, उपदेशक, राजनीतिक वक्ता, समाज सुधारक, आदि के रूप में देखने का अवसर मुझे अनेक बार प्राप्त हुआ था। परन्तु उनके इस विविध रूपों की चर्चा करने का न तो यहाँ स्थान ही है और न अवकाश ही। मैं तो महामना का गुणगान कर अपनी वाणी को पवित्र करनेके लिए प्रस्तुत हुआ हूँ।

"पवित्रमत्रातनुते जगद् युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ॥"

गुरुधाम कालोनी, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

एक अविस्मरणीय व्यक्तित्व

कु० क्षमा त्रिवेदी

मेरे बड़े भाई पं० देवशंकर त्रिवेदी को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का स्नातक होने के साथ ही हिन्दी विभाग के प्रथम वैच का छात्र होने का गर्व भी था। उनका साकेतवास १९७४ के जनवरी में हुआ। उनकी पत्नी श्रीमती डॉ० ज्ञानवती द्विवेदी ने हिन्दी विभाग के आचार्य पद से इसी वर्ष अवकाश ग्रहण किया है। वे अक्सर अपने विद्यार्थी जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएं सुनाया करते थे। बाबू श्यामसुन्दर दास एवं आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के व्यक्तित्व की गहरी छाप उनके जीवन पर पड़ी थी। हिन्दी के मनीषी, आचार्य चन्द्रवली पाण्डेय उनके सहपाठी होने के साथ ही अभिन्न मित्र भी थे। मैंने उन्हें महामना एवं विभाग के गुरुजनों की स्मृति में अनेकों वार आंसू वहाते देखा है। शायद सादगी, करुणा, दया, मुदिता, मृदुता एवं भावुकता के गुँण उन्होंने इन्हीं महापुरुषों से ही अर्जित किए थे। यहाँ महामना विषयक उनके एक संस्मरण द्वारा मैं अपने विश्वविद्यालय के हीरक जयन्ती के पुण्य पर्व पर श्रद्धांजलि निवेदित कर रही हूँ।

उन दिनो महामना विश्वविद्यालय के कुलपति थे और प्रत्येक एकादशी को संस्कृत महाविद्यालय के हॉल में कथा कहा करते थे। विश्वविद्यालय के वहुसंख्यक लोग वहां उपस्थित रहा करते थे। मुख्यतः लड़के ऊपर की दीर्घा में चारो ओर बैठते थे एवं लड़कियां नीचे बैठा करती थीं। हाल को आम्र पल्लव के वन्दनवारों, पुष्पों एवं पुष्प मालाओं से सजा दिया जाता था। एक दिन अकस्मात् पुष्पों की एक माला नीचे बैठी लड़कियों पर गिर पड़ी। स्वाभाविक रूप से लड़कियाँ चौंक पड़ीं। शान्त बैठी सभा में लड़कियों का चौंकना सभी को ज्ञात हो गया। इसे महामना ने भी देख लिया। उन्होंने समझा कि छत पर बैठे लड़कों ने ही लड़कियों पर कुछ फेंक दिया है। उनके मन में इस विचार का आना था कि उन्होंने पुस्तक वन्द कर दी। उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो चली। पूरी सभा स्तम्भित, कि यह क्या हो गया। कोई कुछ बोल भी नहीं पा रहा था। थोडी देर वाद स्वतः श्री मालवीय जी महाराज ही धिक्कार भरी वाणी में वोले—"मैं नहीं समझता था कि हमारे विश्वविद्यालय का वातावरण इतना अनैतिक और अपवित्र है—भाई अपनी वहनों का इस तरह तिरस्कार और अपमान करते हैं। मेरा कथा कहना व्यर्थ है— मेरा होना भी व्यर्थ है। यदि मैं अपने देश के भावी कर्णधारों को ही अपनी शिक्षा से सुसंस्कृत नहीं कर सका तो सभी कुछ व्यर्थ है। यह शिक्षा बेकार है। वेचारे लड़के हतवुद्धि वने बैठे थे। उन्होंने शपथ ले-लेकर अपनी सफाई दी। लड़कियों ने भी साक्षी दिया कि भाइयों ने कुछ नहीं किया, वह मात्र एक संयोग था। तव जाकर कहीं उनके आँसू थमे। फिर भी वे बिचलित ही रहे और उस दिन वे आगे की कथा नहीं ही कह पाए। ऐसी असंख्य घटनाएं महामना के निर्मल एवं करुण व्यक्तित्व की मूक साक्षी हैं। मैं उन्हीं महामानव के श्रीचरणों में अपनी अशेष श्रद्धाञ्जलि निवेदित करती हूँ।

प्राचार्या, कृष्णा बाल विद्या मंदिर, अमरोहा

महामना श्री मदनमोहन मालवीय

(आरम्भिक जीवन और विश्वविद्यालय का निर्माण)

डॉ० राय कृष्णदास पी-एच० डी०

महामना पं० मदनमोहन मालवीय का जन्म प्रयाग के एक प्रतिष्ठित मालवीय ब्राह्मण कुल में २५-१२-१८६१ ई० को हुआ। उनके पिता—श्री पं० बैजनाथ जी संस्कृत के विद्वान थे और श्रीमद्भागवत की कथा बहुत सुन्दरता से कहते थे, जैसा सुस्वर वैसा ही सरस और विशद अर्थ भी। जब गहन तात्विक प्रसंग आते तो उनको ऐसे सरल रूप में समझाते कि अल्प-वुद्धि श्रोताओं की भी समझ में आ जाय और जब कोई कथा प्रसंग आता तो उसका शब्द-चित्र अंकित करके सबको मंत्रमुग्ध कर देते। भगवान का गोचारण सुनाते हुए गायों के रूप रंग का बड़ा ही ललित वर्णन करते। जो एक बार उन्हें सुन लेता, बारम्बार सुनने को लालायित रहता।

महामना जी की आरम्भिक संस्कृत शिक्षा घर पर ही हुयी। फिर सरस्वती स्कूल में अंजेजी पढ़ने लगे। जब वे पन्द्रह सोलह वरस के थे तभी से हिन्दी के प्रति बड़ा प्रेम था। भारतेन्दु की विभा से प्रभावित होकर उन्हीं के अनुकरण पर 'मकरन्द' उपनाम से ब्रजभाषा में उत्कृष्ट कविता करने लगे—

इंदु सुधा बरस्यो नलिनीन पै, वे न बिना रवि के हरसानी।
त्यों रवि तेज दिखायों तऊ, बिन इंदु कुमोदिनि ना बिकसानी॥
न्यारी कछू यह प्रीति की रीति, नहीं 'मकरंद' जू जात बखानी।
साँवरे कामरीवारे गुपाल पै, रीझि लटू भई राधिका रानी॥
भूलहुँ सो हँसि माँगिवो दान को, रंच दही हित पानि पसारन।
भूलहु फागु के रागु सबै, कहुँ ताकहिं ताकि के कुंकुम मारन॥
सो तो भयो सबही 'मकरंद' जू, दाखहिं चासि के बैर बिसारन।
जा पर चीर चुराय चढ़े, वह भूलिहौ कैसे कदंब की डारन॥
ढूँढ़्यो चहूँ झँझरीन झरोखन, ढूँढ़्यो कित्ते भरे दाव पहारन।
मंजुल कुंजन ढूँढ़ि फिर्‌यो, पर हाय मिल्यौ न कहूँ गिरिधीरन॥
आवति नाहिं तउ परतीत, सह्यौ इतने दुख प्रीति के कारन।
जानत स्याम अजों उतही, चित चौंकत देखि कदंब की डारन॥
जाके मन प्रभु तुम बसौ, सो भय कासों खाय।
सिर जावै तो जाय प्रभु मेरो धरम न जाय॥

समाज-गत दुर्गुणों के प्रति लोक की आँख खोलने के लिए कई प्रहसन भी लिखे और प्रयाग की अव्यवसायिक हिन्दी नाटक मण्डलियों द्वारा उन व्यंग्य रचनाओं के मंचन में स्वयं सफल अभिनय भी किया। एक बार इलाहाबादी फक्कड़ों की धूल उड़ाने वाली अपनी एक रचना में नाट्य करते हुये, यह गीत बड़े रंग-ढंग से सस्वर सुनाया था—

गले जूही के हैं गजरे पड़े, रंगीं दुपट्टा तन।
भला क्या पूछिए, धोती तो ढाके से माँगते हैं॥
कभी हम वारनिश पहने कभी पंजाब का जोड़ा।
हमेशा पास डंडा है, ये फक्कड़ सिंह जाते हैं॥
न उधो का हमें लेना, न माधो का हमें देना।
करें पैदा सो खाते हैं, न दुखियों को सताते हैं॥
नहीं डिप्टी बना चाहें, न चाहें हम तसिलदारी।
पड़े अलमस्त रहते हैं, यूँ ही दिन को बिताते हैं॥
न देखें हम तरफ उनकी जो हमसे नेक मुँह फेरें।
जो दिल से हमसे मिलते हैं, झुक उनको देख जाते हैं॥
नहीं रहती फ़िकर हमको कि लाएं तेल और लकड़ी।
मिले तो हलुवे छन जाएँ, नहीं झूरी उड़ाते हैं॥
सुनो यारो जो सुख चाहो तो पचड़े से गृहस्थी के।
छुटो, फक्कड़पना ले लो यही हम तो सिखाते हैं॥
हमें मत भूलना यारो, बसे हैं पास 'मनमोहन'।
हुई है देर, जाते हैं तुम्हारा शुभ मनाते हैं॥

एक अन्य प्रहसन में काले साहब की भूमिका बड़ी खूबी से अदा की और जन्टिलमैनों पर यह फबती कसी—

हिन्दुओं का खाना पीना हमको कुछ भाटा नहीं।
बीफ़ चमचे से कटे, होटल में जा खाटा है हम॥
बाबूओ चाचा का कहना लाइक हम करटा नहीं।
पापा कहना अपने बच्चों को भी सिखलाटा है हम॥

म्योर सेन्ट्रल कालिज से उन्होंने १८८४ ई० में बी० ए० किया। इसके बाद की कथा-व्यथा महामना जी के सिवा कोई नहीं कह सकता।[१] सुनिये—

बी० ए० पास होने के बाद मेरी बड़ी इच्छा हुई कि पिता के समान मैं भी कथा कहूँ और धर्म का प्रचार करूँ। किन्तु घर की गरीबी से सब प्राणियों को दुःख हो रहा था। उन्हीं दिनों उसी गवर्नमेंट स्कूल में जिसमें मैं पढ़ा करता था, एक अध्यापक की जगह खाली हुई। मेरे चचेरे भाई पंडित जयगोविन्द जी उसमें हेड पण्डित थे। उन्होंने मुझसे कहा कि इस जगह के लिए कोशिश करो। मेरी इच्छा धर्म प्रचार में जीवन लगा देने की थी। मैंने 'नाहीं' कर दी। उन्होंने माँ से कहा। माँ मुझे कहने के लिए आईं। मने माँ की ओर देखा। उनकी आँखें डबडबा आई थीं। वे आँखें मेरी आँखों में अबतक

[१] महामना जी के पुराने कागद-पत्रों में, उन्हीं के हाथ की लिखी एक छोटी सी आत्मकथा, इलाहाबाद संग्रहालय के निर्माता एवं सर्वस्व स्व० पं० ब्रजमोहन जी व्यास (जो महामना जी के निकट संबंधी तथा आत्मीय थे) को प्राप्त हुयी थी। उसी में से उक्त मर्मस्पर्शी अंश उद्धृत है।

धँसी हैं। मेरी सब कल्पनाएं माँ के आँसू में डूब गईं और मैंने अविलम्ब कहा—माँ तुम कुछ न कहो। मैं नौकरी कर लूँगा।

इस प्रकार ४०/-मासिक पर महामना जी की अध्यापक वृत्ति आरम्भ हुयी।······ १८८६ ई० में कांग्रेस का महाधिवेशन कलकत्ता में हुआ। उसमें महामना जी के भाषण से प्रभावित होकर राजा रामपाल सिंह ने, साग्रह उनको २००/-मासिक पर, अपने हिन्दी दैनिक हिन्दोस्तान का सम्पादक नियुक्त किया (यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उन दिनों हिन्दोस्तान, हिन्दी का एक मात्र दैनिक था)। राजा साहब, कालाकाँकर (जिला प्रतापगढ़ अवध) के ताल्लुकेदार थे और देश-प्रेम, निर्भीकता एवं हिन्दी हितैषिता में अतुल्य थे। उनमें जहाँ ये सब गुण थे वही एक दुर्बलता भी थी। वह सायंकाल के बाद सुरा-सेवन किया करते और कभी-कभी तरंगित भी हो जाते। अतः महामना जी ने उनसे वचन ले लिया कि उस समय वह उनको कभी न बुलावेगें। यदि बुलाया तो उसी समय संपादन छोड़कर वे घर चले जायेगें।

महामना जी ने शीघ्र ही अपने दैनिक के लिये हिन्दी के तीन दिग्गजों, स्व० प्रताप नारायण मिश्र, स्व० अमृतलाल चक्रवर्ती और स्व० गोपाल राम गहमरी की टीम बनाई, सह-संपादक रूप में।

यही नहीं; १८८९ ई० में महामना जी धर्म महामण्डल के अधिवेशन में मथुरा गये थे। वहां उन्हें स्व० बालमुकुन्द गुप्त मिले। उर्दू में उनको तूती बोलती थी; वे उर्दू के अद्वितीय लेखक हा चुके थे। महामना जी ने उनसे हिन्दोस्तान में आने का आग्रह किया। उनकी बात गुप्त जी कैसे न मानते। वह महामना जी के स्टाफ़ में आ गये और उर्दू में लिखना सदा के लिये छोड़ दिया।

यद्यपि महामना जी ने अपने जीवन में हिन्दी के लिये एक-से-एक काम किये, परन्तु हिन्दी को उनकी सर्वोपरि देन, गुप्त जी हैं। गुप्त जी सरीखा दूसरा शैलीकार आज दिन तक हिन्दी में नहीं हुआ। हिन्दी को वह जो कुछ दे गये वह एक अमर निधि है।

अब एक दिन ऐसा आया कि राजा साहब ने अपनी पान-गोष्ठी के समय महामना जी को बुला भेजा। वे उनके पास गये तो, किन्तु अपना त्याग-पत्र लिये हुये। राजा साहब को अपनी भूल पर बड़ा खेद हुआ। अडिग महामना जी दूसरे ही दिन प्रयाग लौट आये (१८८९ ई०)। तथापि उनके प्रति राजा साहब का सद्भाव ज्यों-का-त्यों बना रहा। उन्होंने महामना जी का वेतन बंद नहीं किया।

महामना जी ने कानून पढ़ना तै किया और यथा समय वे प्रयाग हाईकोर्ट के वकील हो गये (१८९२ ई०)। प्रैक्टिस चल निकली। उन दिनों महामना जी ने एक ऐसा मुकदमा लिया जो उनके ही बूते का था—

महामना जी के कुछ पूर्ववर्ती, मिर्जापुर के सुप्रसिद्ध व्यक्ति थे महन्त जैराम गिरि, जिनकी प्रतिष्ठा और रियासत राजाओं के टक्कर की थी। उनके उत्तराधिकारी हुए उनके शिष्य महन्त परमानन्द गिरि। उनकी स्थानीय अंग्रेजी जन्ट से कुछ खटपट हो गयी।

उसने उनपर एक झूठा फौजदारी मुकदमा कायम कर दिया, संभवतः कत्ल का या तत्सम किसी अन्य अपराध का।

वह अंग्रेजी की पूरी धाक का जमाना था। डर के मारे किसी वकील को महन्त जी की ओर होने की हिम्मत न थी। महामना जी ने निर्भीकता पूर्वक उस मुकदमे को लिया ही नहीं, सुतराम् कौशलपूर्वक कुछ ऐसे लिखित प्रमाण भी प्राप्त कर लिये कि जन्ट साहब को लेने के देने पड़ गये।

बस महामना जी की प्रैक्टिस ही नहीं चमक उठी, वह एक दिन में देश-विख्यात भी हो गये।

वकालत में इतना आगे आकर भी उनका मन न लगा। वे देश सेवा में रम गये। कांग्रेस में सम्मिलित होकर, राजनीतिक कामों में सक्रिय भाग लेने लगे और निरन्तर आगे बढ़ते गये। उन दिनों उन्होंने एक बड़ा काम और किया। नागरी लिपि उत्तर प्रदेश की अदालतों से बहिष्कृत थी। काशी नगरी प्रचारिपी सभा ने अदालतों में नागरी लिपि चलाने का महदुद्योग आरम्भ किया। किन्तु यदि महामना जी उस आन्दोलन के अग्रणी न हुये होते तो सरकार कुछ न करती; सभा का सारा प्रयास विफल हो जाता। यह उन्हीं का बूता था कि सरकार से देवनागरी लिपि को अदालतों में स्थान दिलाया (१९०० ई०)।

१९०७ ई० की वसन्त पंचमी से महामना जी ने एक स्वयं सम्पादित हिन्दी साप्ताहिक पत्र निकालना आरम्भ किया। इसका नामकरण—'अभ्युदय' हिन्दी के उदात्त साहित्य-कार पं० बालकृष्ण भट्ट ने किया था।

पत्र के प्रथम अग्रलेख में महामना जी कहते हैं······पृथ्वी मण्डल पर जितने पर्वत हैं उनमें सबसे ऊँचा हमारा नगाधिराज हिमालय है। हमारी अभिलाषा है कि हमारे देश का अभ्युदय भी उतना ही ऊँचा हो।······

१९०८ ई० में सरकार प्रेस ऐक्ट और न्यूज़ पेपर ऐक्ट निर्माण करने की तैयारी में थी। उसके विरोध में महामना जी ने एक अखिल भारतीय सम्मेलन का आयोजन इलाहाबाद में किया। उन्हीं दिनों उन्होंने अनुभव किया कि सरकारी दमन चक्र का विरोध करने के लिये एक अंग्रेजी समाचार पत्र भी आवश्यक है; उसी के द्वारा अन्दोलन देश व्यापी हो सकता है।

निदान, उन्होंने त्यागमूर्ति पं० मोतीलाल नेहरू के सहयोग से विजया दशमी (२४ नवम्बर), १९०९ ई० को अंग्रेजी दैनिक 'लीडर' निकाला। निपुण एवं अनुभवी चिरंतन अंग्रेजी पत्रकार स्व० नगेन्द्रनाथ गुप्त और नवोदित सी० वाइ० चिन्तामणि को उसके संपादन का भार सौंपा गया। शीघ्र ही लीडर की धाक जम गयी।

१९०९ ई० के दिसम्बर में कांग्रेस का चौबीसवाँ महाधिवेशन लाहोर में हुआ। उसके सभापति हुये महामना जी।

१९१० ई० में प्रयाग के माघ मेले के अवसर पर महामना जी ने सनातन धर्म महासभा का आयोजन किया। पहले वे भारत धर्म महामण्डल के बड़े कर्मठ सदस्य थे किन्तु वहाँ की भ्रष्टता के कारण अलग होकर यह नई संस्था स्थापित की थी।

उसका यह अधिवेशन बहुत सफल हुआ। अनेक प्रवक्ता और महोपदेशक आये थे। स्वयं महामना जी का भी नित्य प्रवचन होता। संयोगवश उसी समय माघ मेले में एक स्थानीय औद्योगिक प्रदर्शनी भी आयोजित थी। थी तो छोटी-सी किन्तु उसमें बहुत कुछ प्रदर्शित हुआ था। उसके दर्शकों की भीड़ महासभा में भी पहुँच जाती। इस प्रकार पंडाल खचाखच भरा रहता।

वहीं महामनाजी ने काशी में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के संकल्प की घोषणा की। उनके श्री-मुख के एक वाक्य इतना अंश आज भी विस्मृत नहीं हुआ है—जिस समय दस हजार विद्यार्थी गंगा तट पर बैठकर संध्या वन्दन करेगें उस समय कैसी शोभा होगी।

उसी जमाने में उन्होंने अपने इस महास्वप्न की चर्चा गोखले से की थी, किन्तु महान् होते हुए भी उनमें महामना को इयत्ता मापने की क्षमता न थी—'क्या तुम पागल हो गये हो (हैव यू विकम् मैड) ?' कह कर गोखले ने उनका उपहास किया !

उक्त महासभा के दस ग्यारह महीने बाद प्रयाग में दो देशव्यापी समारोह हुये—एक तो कांग्रेस का महाधिवेशन, दूसरे विशाल अखिल भारतीय प्रदर्शनी, जिसके जोड़ की प्रदर्शनी अद्यावधि देश में नहीं हुयी, यद्यपि स्वतन्त्रता के बाद दिल्ली में एकाधिक विश्व प्रदर्शनियाँ भी हुईं।

महामना जी ने इन दोनों सुयोगों का लाभ उठाकर अपनी योजना और आगे बढ़ाई। हिन्दू विश्वविद्यालय सोसाइटी की स्थापना हुई। महामना जी ने सर सुन्दरलाल से बहुत विनती की कि वे उसका मन्त्रित्व स्वीकार कर लें, किन्तु उन्होंने सब प्रकार की सहायता देते हुए भी जबतक सरकार का रूप ज्ञात न हो जाय तबतक मंत्री होने से इनकार कर दिया। तब महामना जी ने अपने बूते पर कार्य आरम्भ कर दिया। सबसे पहले कलकत्ता से कई लाख का चन्दा किया।

सबसे बढ़कर उन्होंने यह कर दिखाया कि उसी समय डॉ० एनी बेसेन्ट और धर्म महामण्डल की ओर से महाराज दरभंगा के जो विश्वविद्यालय विषयक प्रयत्न आरम्भ हो गए थे उन्हें अपनी योजना में अन्तर्भुक्त कर लिया।

अब सबसे बड़ा अड़ंगा था सरकार से विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त करना। उन दिनों बड़े लाट के शिक्षा मन्त्री थे, सर हाइकोर्ट बटलर। उन्होंने महामना जी से स्पष्ट कह दिया कि 'यदि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रखा जाय तब तो सरकार चार्टर दे देगी अन्यथा नहीं, क्योंकि जिस समय तक आप अंग्रेजी भाषा में लिखते, बोलते, पढ़ते, पढ़ाते हैं तबतक तो हमें शान्ति रहती है; उस समय तक हम आपकी सब बातों और चालों को भली-भांति समझ सकते हैं और स्थिति संभाल सकते हैं, पर जिस समय आप अपनी भाषा में कार्य करना आरम्भ कर देते हैं तब उसका समझना हमारे लिए कठिन हो जाता है। इस कारण मातृभाषा द्वारा उक्त शिक्षा देने की अनुमति सरकार से किसी अवस्था में नहीं मिल सकती।'

महामना जी ने सोच विचार कर बटलर की बात मान ली। इससे यह तो हुआ कि सर सुन्दरलाल ने विश्वविद्यालय सोसायटी का मन्त्रित्व स्वीकार कर लिया और राजा

महाराजा भी मुक्त-हस्त से चन्दा देने लगे। दरभंगा नरेश ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया। किन्तु विश्वविद्यालय सदा के लिये अंग्रेजी का गढ़ बन गया।

इस प्रसंग में पंजाब-केसरी लाला लाजपत राय ने जब महामना जी से कहा कि "चार्टर मिले या न मिले विश्वविद्यालय तो बनेगा ही।" महामना जी ने उत्तर दिया कि "चार्टर मिलेगा और मिलेगा—एवं यूनिवर्सिटी बनेगी और बनेगी।" इन वाक्यों में उन दोनों व्यक्तियों की मनोवृत्ति का अच्छा परिचय मिलता है।

× × × ×

फिर तो पेशावर से ब्रह्मपुत्र तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक चन्दा उगाहने का महामनाजी ने ऐसा अथक और अभूतपूर्व परिश्रम किया जो वर्णन के परे है। लाख वाले ने लाखों लाख दिया। खाक वालों ने पाई पैसा और चिथड़ा गुदड़ा तक दिया। कवि के शब्दों में—

जय देव मन्दिर देहली,
सम भाव से जिस पर चढ़ी,
नृप हेम-मुद्रा—
और रंक वराटिका ॥

———

संस्मरण

(१)

महामना का आदर्श वाक्य था—

उत्साहो बलवान् राजन्।

(२)

महामना जी कहा करते कि मैं कर्मंठता का उपदेश गौरयों (छोटी चिड़ियों) से लेता हूँ जो सबरे ही सबरे हर्षोद्रेक से चहचहाती हुयी अपने काम में निरत हो जाती हैं।

(३)

वह त्रिकाल संध्योपासन नियमित रूप से नित्य करते थे। जब कार्यवश मोटर पर या ट्रेन में होते तो सब कपड़ा लत्ता पहने आपोहिष्ठामयोभुवः—मंत्र से अपने को पवित्र करके वहीं संध्या कर लेते। यह बात उन्होंने सुनाई थी।

उनका सिद्धान्त था कि जिस प्रकार मुस्लिम नवाज़ के पाबन्द हैं, उसी प्रकार हिन्दुओं को भी संध्या वंदन में नियमित होना चाहिये।

(४)

मानस-मराल स्व० शम्भुनारायण जी चौबे रामचरितमानस के पूर्ण ज्ञाता और अनुसन्धानी तो थे ही, हृदय भी उन्होंने बहुत पवित्र पाया था जैसा रामानुरागी का होना चाहिये। प्रायः महामना के दर्शनार्थ आया करते और उनके सामने विनीत तथा स्पष्ट हृदय से अपनी शंकायें रखते; उनका समाधान प्राप्त करते। एक दिन उन्होंने पूछा कि 'महाराज, आप जब संध्यावन्दन करते हैं तो मन पूर्णतः एकाग्र होता ह ?' महामना जी का उत्तर था—'कभी होता है, कभी नहीं।'

'जब नहीं होता तो आप क्या सोचने लगते हैं ?' मानस-मराल जी ने जिज्ञासा की।

, 'तब मैं विश्वविद्यालय की समुन्नति के उपाय सोचने लगता हूँ—एसा था उनका वात्सल्य, इस महा निर्माण पर।

(५)

१९०८ ई० के आस पास की बात है। महामना जी रेल से कहीं जा रहे थे। उनका सहयात्री था एक जापानी। सूती कपड़ा बनाने वाली किसी जापानी मिल की ओर से भारत इस लिए आया था कि भारतीय स्त्रियों की पसन्द वाली तरह तरह की जनानी धोतियों का संग्रह कर के अपने मिल ले जाय। वहाँ से उसी मेल का माल तैयार कर के भारत भेजा जाय।

ऐसे ऐसे उपायों से भारतीय बुनकरों का व्यवसाय नष्ट किया जा रहा था। स्वदेशी प्रचार की एक सार्वजनिक सभा में उन्होंने यह वृतान्त सुनाया था।

(६)

अभी "लीडर" ने अपने दो वर्ष पूरे न किये थे कि अर्थाभाव के कारण उसे बन्द कर देने की बात सोची जाने लगी। महामना जी को जब यह स्थिति ज्ञात हुयी तो उन्होंने दृढ़ता पूर्वक निश्चय किया कि उसे जीवित रखना ही है।

एतदर्थ धन एकत्र करने का काम अपने घर से ही आरम्भ किया। अपनी धर्मपत्नी से कहा—"यह न समझो कि तुम्हें केवल चार पुत्र हैं। तुम्हारा पाँचवां पुत्र है—लीडर। आज वह मरण शैय्याग्रस्त है। उसे जीवित रखना ही है। बस उनकी गद्‌गद् सहधर्मिणी (सौ० कुन्दन देवी) ने अपने सारे स्वर्णभूषण महामना जी को दे दिये, जिन्हें बेचकर महामना जी ने साढ़े तीन हजार रुपये "लीडर" की रक्षा में लगाया।......तब और धन भी तदर्थ एकत्र किया।

(७)

किसी कानूनी सलाह के लिये मेरे मामा जी महामना जी के यहाँ गये। उनको महामना जी बहुत मानते थे। जब सरकारी स्कूल में पढ़ाते थे, उनके विद्यार्थी रह चुके थे, मामा जी।

महामना जी उस समय अपने आफ़िस में न थे। उनके रहायशी घर के बगल में ही उनका अभ्युदय प्रेस वाला मकान था, जिसके ऊपरी मंज़िल म एक नन्हा-सा कमरा था। महामना जी को जब एकान्त की आवश्यकता होती, वहाँ चले जाते।

जब हम लोग पहुँचे, वे अपनी उसी निभृत कुटीर में थे। तो भी मामा जी के आने की सूचना उनको दी गयी और उन्होंने हम लोगों को तुरन्त बुला लिया।

वहाँ उनके आस पास अनुत्तरित पत्रों के चार पाँच पुलिन्दे रक्खे थे। कहने लगे—"कार्य-व्यस्तता और दौड़-धूप के कारण ये सब पत्र क्या जाने कब से अनुत्तरित पड़े हैं।

कहते हुये, पत्रों को देख भी रहे थे। उनमें से एक को लेकर करम ठोकने लगे—"दादा भाई नौरोजी की चिट्ठी है; छः महीने से पड़ी है।"

(८)

१९११ ई० में महामना जी विश्वविद्यालय के लिए बनारस में चन्दा कर रहे थे। उन दिनों मिर्जापुर के बड़हल राज्य की एक मात्र अधिकारिणी, रानी साहब काशी वास कर रही थीं। उनसे अच्छी सहायता मिलने की संभावना थी।

संयोगवश मैं महामना जी के पास बैठा था। उन्होंने कहा—'सुना है, तुम बहुत अच्छी हिन्दी लिखते हो। रानी साहब के नाम मेरी ओर से लिखो, मैं हस्ताक्षर कर दूंगा। किसी भी दाता को छोड़ूँगा नहीं।

'हाँ, ब्राह्मण का पेट कभी नहीं भरता' मेरी जबान से निकल गया।

अरे, यह क्या कहते हो। संतोष ही ब्राह्मण का लक्षण हैं। जिसमें लोभ है वह ब्राह्मण कहाँ! मुझमें तो चन्दा उगाहने का लोभ विश्वविद्यालय के निमित्त है।

(९)

१९११ ई० में जब महामना जी विश्वविद्यालय के लिये धन-संग्रह का अभियान तेजी से चला रहे थे तो उन्होंने बनारस की एक सार्वजनिक सभा में जो भाषण दिया था उसका महत्वपूर्ण अंतिम अंश इस प्रकार था—

"यदि अपने देश की उन्नति करना है और अपने देश को कला, कौशल, धन-धान्य से पूर्ण समृद्धिशाली बनाना है तो दिल खोलकर शक्ति के अनुसार विश्वविद्यालय की सहायता अवश्य कीजिए।"

"चौवीस करोड़ हिन्दुओं में एक करोड़ रुपया जमा होना कोई बड़ी बात नहीं है। एक-एक आना देने से भी डेढ़ करोड़ रुपया सहज में एकत्र हो सकता है। केवल आपके चेतने की देर है।

"यहाँ एक अनुकरण करने योग्य बात सुनाता हूँ, जिसे प्रस्तावित मुस्लिम युनिवर्सिटी के प्रेमी एक मुसलमान नायब तहसीलदार ने बड़े उत्साह से कहा था—"जब तक हमारी मुस्लिम युनिवर्सिटी नहीं खुल जाती, हम लोगों को चैन नहीं पड़ेगा। हमारे बड़े-बड़े लोग जैसे बेगम भोपाल और हिज़ हाइनेस आगा खाँ वग़ैरह सभी ने तय कर लिया है कि इस साल हम लोगों के रम्ज़ान के दो महीने माने जाएं। याने हम लोग दो महीने रोज़ा मनायेंगे। इस तरह जो बचत होगी साथ ही एक-दो महीने की तन्ख्वाह या दूसरी आमदनी युनिवर्सिटी के लिये देंगे। जो लोग एकमुश्त एक माह की आमदनी नहीं दे सकते, उनसे किश्त करके छः माह में लिया जायेगा।"

"देखा आपने; समझा आपने? यह दिल से निकली बात है। मुसलमानों में इस समय जो जाग्रति है उसकी षोड़शांश भी हम लोगों में नहीं है। इसी से कहता हूँ कि हिन्दुओं, चेतो। तुम्हारे पास धन है, धर्म है, शक्ति है, उत्साह है, ऐक्य है, सभी कुछ है, देर है केवल जागने और चेतने की।"

(१०)

१९११ ई० की बरसात में मैं एक काम से महामना जी की सेवा में उनके प्रयाग वाले घर गया। काम की बात हो जाने पर वे मेरे स्वास्थ्य आदि के विषय में पूछने लगे और जब मैंने कहा कि बहुत ठीक नहीं रहता तो उन्होंने एक श्लोक सुना कर कहा कि इसके अनुसार चलो सब क्रम ठीक हो जायगा—

"जितेन्द्रियव्यायामी,
लघु पथ्याशी नरो न रोगी स्यात्
यदि मनसा वचसा वा
द्रुह्याति नित्यं न भूतेभ्यः"

इसके उपरान्त और बातें होती रहीं। जब मैंने विदा मांगी तो उन्होंने पूछा कि दारागंज जाओगे न? वे जानते थे कि दारागंज में मेरी ननिहाल थी। इतना ही नहीं जब वे स्कूल में अध्यापन करते थे तो मेरे मामा बाबू लक्ष्मीनारायण उनके शिष्य थे, स्वभाव के बड़े क्रोधी। महामना जी प्रायः कहा करते— लक्ष्मीनारायण की आधी विपत्ति उनके

स्वभाव के कारण है। अस्तु। मैंने निवेदन किया —जी हाँ दारागंज जा रहा हूँ। उन्होंने कहा कि मुझे भी लेते चलो, मुझे (महामहोपाध्याय) पं० आदित्यराम भट्टाचार्य के पास चलना है। उन दिनों हिन्दू विश्वविद्यालय की योजना क्रमशः मूर्तरूप ले रही थी। महामना जी के मुख्य परामर्शदाता पंडित जी ही थे, उन्हीं की स्मृति में विश्वविद्यालय का निकटवर्ती गाँव आदित्यनगर बसाया गया।

पं० आदित्यराम जी बहुत बड़े अध्यापक ही नहीं शिक्षा-शास्त्री भी थे। भारत में आधुनिक शिक्षा का क्या रूप होना चाहिए इसके मर्म पर उन्होंने अच्छा चिन्तन किया था। काशी विश्वविद्यालय की रूप रेखा में उनके विचारों का पर्याप्त अंश है। उन्होंने विद्यार्थियों के लिये अनेक उपयोगी पाठ्य-पुस्तकें लिखी थीं। उस समय कौन ऐसा विद्यार्थी था जिसने उनके ऋजु व्याकरण, गद्य-पद्य-संग्रह और संस्कृत शिक्षा न पढ़ी हो और उनसे लाभान्वित न हुआ हो। जब उन्होंने म्योर सेन्ट्रल कालेज से अवकाश ग्रहण किया था तो उनके सम्मानार्थ एक सभा हुई थी, उसमें जब मालवीय जी बोलने को उठे तो उनका गला भर आया और आँसू गिरने लगे। इससे उनके प्रति महामना जी की गहरी गुरू-भक्ति का अनुमान किया जा सकता है।

(११)

'विश्वविद्यालय का वास्तु-निवेश (ले आउट) मैंने सरस्वती जी के नाचते मयूर के रूप में की है। मध्य में उसका शोभन शरीर है, केन्द्रीय कार्यालय और विश्वेश्वर का मन्दिर, तब उत्तरोत्तर वर्धमान अर्धवृत्तों में महाविद्यालयों के भवन, खेलों के मैदान, छात्रावास और स्टाफ के आवास वाले बंगले। यह अर्धवृत्तो की अवली है, नृत्य-मयूर का कलित पिच्छ-कलाप।' महामना जी ने अपनी यह कलापूर्ण कल्पना, एक दिन मुझे सुनायी थी।

(१२)

१९१४ की गर्मियों में महामना जी बड़े लाट वाली कौंसिल के सत्र में भाग लेते हुये, शिमला में थे। वहाँ उन्हें १७ जून को अभ्युदय की जो संख्या मिली, उसमें विधवा विवाह का समर्थक संपादकीय था। उसे पढ़कर वह मर्माहत हुये, क्योंकि वह विधवा विवाह के विपक्षी थे।

उन दिनों अभ्युदय का संपादन उनके भतीजे स्व० कृष्णकान्त मालवीय करते थे। व्यथित महामना जी ने उन्हें यह पत्र लिखा—"चिरंजीवि प्रिय कृष्णकांत,

पिछली रात हमने स्वप्न देखा कि "अभ्युदय" में आग लग गई है। इस समय डाक में आये २३ संख्या के "अभ्युदय" को पढ़कर जो वेदना हुई, वह उससे बहुत अधिक है, जो स्वप्न में प्रेस को जलते देखकर हुई थी। इस अंक के प्रधान लेख के छपने से पहले यदि अभ्युदय प्रेस भस्म हो गया होता तो हमको उतना दुःख न होता। यदि अभ्युदय को बन्द करके इसका प्रायश्चित हो सकता, तो हम इसे तुरन्त बन्द कर देते। हमारे जीते जी ऐसे लेख प्रकाशित करना उचित नहीं, जिनके कारण समाज के सामने हमें अपराधी बनना और लज्जित होना पड़े।"

(१३)

विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग प्रारम्भ करने पर, उसका पाठ्य-क्रम निर्धारित करने के हेतु महामना जी ने कई व्यक्तियों को नागरी प्रचारिणी सभा में एकत्र किया; उनमें मैं भी था।

चन्दवरदायी से द्विवेदी-काल तक की प्रतिनिधि रचनायें चुननी थीं। चयन सर्व-सम्मति से हो चला किन्तु चलती गाड़ी में विहारी सतसई का रोड़ा अटक गया।

कई विद्वानों का विरोध था। महामना जी चुपचाप दोनों पक्ष के तर्क सुन रहे थे, ध्यानपूर्वक।

बहस तूल पकड़ रही थी। मुझसे न रहा गया। महामना जी से निवेदन किया कि "सतसैया के दोहरे" कैसे छोड़े जा सकते हैं। तब उन्होंने सुनाया—मैंने अपनी युवावस्था में विहारी के तीन सौ निष्पंक दोहे चुने थे; नायिका में केवल स्वकीया को ही लिया था। उसी प्रकार का निर्दोष संकलन अपने पाठ्य क्रम में भी निश्चय रहना चाहिए।

कोई इसका विरोधी न था।

(१४)

महामना जी विश्वविद्यालय के लिये खोज-खोज कर एक से एक एक विद्वान प्राध्यापक बुलाये थे। उनमें एक डॉ० गणेश प्रसाद जी गणित के अन्तर्राष्ट्रीयख्याति के विद्वान थे। इसी प्रकार वनस्पति शास्त्र के प्राध्यापक थे डॉ० बीरबल साहनी; वह भी विश्व-विख्यात थे।

गणितज्ञ होने के कारण डॉ० गणेश प्रसाद की एक चूड़ी ढ़ीली थी और वह लोगो से झगड़ उठते थे। एक दिन वह डॉ० साहनी से उलझ पड़े जिन्होंने उन्हें 'डैम स्काउन्डल' कह दिया। इसकी लिखित शिकायत डॉ० प्रसाद ने महामना जी से की। उन्होंने डॉ० साहनी से लिखित कैफ़ियत तलब की।

डॉ० साहनी ने यह लिखित कैफ़ियत दी—"यस, आइ कॉल्ड हिम डी०—एस-सी०।" डा० प्रसाद डी० एस-सी० थे। डॉ० साहनी के इस विचक्षण उत्तर से महामना जी इतने प्रसन्न हुये कि मामला फाइल करा दिया।

(१५)

मार्ले-मिन्टो रिफार्म के बाद, बड़े लाट की जो कांउन्सिल बनी उसके सदस्य महामना जी और गोखले भी थे। सरकार की ओर से कोई प्रस्ताव उपस्थित किया गया जिसका महामना जी ने विरोध किया, गोखले ने समर्थन। प्रस्ताव सरकार के पक्ष में स्वीकृत हो गया।

कुछ दिनों बाद गोखले ने महामना जी से कहा—उस समय आप सही थे; मैं गलती पर था।

"सरकारी वर्ग ने आपके जठर द्वारा पहुँच कर आपको मुट्ठी में कर लिया था" महामना जी का गूढ उत्तर था।

उन दिनों परिस्थिति यह थी कि फिरंगियों ने नरम दल वाले नेताओं की कमजोरी ताड़ ली थी। ये नेता फिरंगियों से बराबरी वाला सामाजिक दर्जा पाने पर फूले न समाते, समझने लगते कि हमने (हमारे देश ने) अब समान पद पा लिया। बड़े-बड़े अफ़सर, स्वंय वड़े लाट तक उन्हें खाने पर बुलाते और वे उनके शिकार हो जाते, क्या गोखले, क्या सर तेजबहादुर क्या सर सी० वाइ० चिन्तामणि ···· सभी का एक हाल था।

बक़ौल अकबर इलाहाबादी—

ग़म तो लीडर को बहुत है मगर आराम के साथ,
क़ौम के ग़म में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ।

इस बार भी वही हुवा था। वाइसराय ने गोखले को खाने पर बुलाकर अपने शीशे में उतार लिया था। जब वह अपनी भूल समझे, महामना जी से रोना रोये।

(१६)

बनारस के एक तेज–मिजाज रईस का, यहाँ के कलक्टर से किसी बात पर झगड़ा हो गया। उन्होंने उसकी शिकायत उत्तर प्रदेश के गवर्नर को लिख भेजी और उनसे मिलने का समय मांगा। ऐसे शिकायती पत्र कलक्टर के द्वारा ही जाते हैं। कलक्टर को बाध्य होकर उसे भेजना पड़ता है। इस मामले में भी वही हुआ और गवर्नर ने उनसे मिलने का समय निश्चित किया। तब वह महामना जी के पास उपस्थित हुए और उनसे पूछा कि गवर्नर से मैं क्या-क्या बातें करूँ। कहने की आवश्यकता नहीं कि महामना जी को सारा मामला विदित था।

महामना जी ने कहा कि तुम इतने समझदार हो कि तुम्हें बात-चीत की सीख देना आवश्यक नहीं। मुझे केवल इतना परामर्श देना है कि गवर्नर से उर्दू में बात करना, अंग्रेजी में नहीं। यदि उर्दू में बात करोगे तो तुम बीस पड़ोगें वह उन्नीस पड़ेंगे, अंग्रेजी बातचीत में वह बीस पड़ेंगे तुम उन्नीस पड़ जाओगे।

(१७)

महामना जी यात्रा में मुहूर्त एवं दिशाशूल आदि का विचार नहीं करते। कहीं जाना होता तो तैयार होकर 'नारायण' उच्चारण करके प्रस्थित हो जाते।

(१८)

सन् १९२४ की बात है। वर्तमान युग में हिन्दू-मुस्लिम एकता की जन्म भूमि दिल्ली में साम्प्रदायिक उपद्रव की अग्नि प्रज्वलित हुई देखकर महात्मा गांधी और देश के अन्य नेता उसे बुझाने के लिए यहां एकत्रित हुए। उस समय मालवीय जी महाराज भी आए और बिड़ला मिल की सब्जी मण्डी वाली कोठी में ठहरे। सन् १९२४ में दिल्ली के हिन्दू-मुस्लिम झगड़े का केन्द्र सदर बाजार ही था। वह बाजार तीन-तीन हिस्सों में बटा हुआ है। जहां बड़े-बड़े मुसलमान सौदागरों की दुकानें थीं। उसके आगे पहाड़ी धीरज की बस्ती है जिसमें जाट, गूजर अहीर, माली आदि जातियों के लोगों की अधिकता है। पश्चिमी किनारे पर हिन्दूराव का बाड़ा है, जो मुस्लिम प्रधान था। अब भी कसाबघर

की समीपता के कारण वहां कसाइयों की आवादी बहुत अधिक है। आवादी की इस परिस्थिति के कारण शहर में थोड़ा सा भी साम्प्रदायिक विक्षोभ होने पर सदर वाजार में घोर युद्ध की भेरी वजने लगती थी, सन् १९२४ में भी ऐसा ही हुआ था।

एक दिन संध्या के समय सदर बाजार पहाड़ी धीरज की एक चौपाल में इलाके के प्रमुख हिन्दुओं की एक पंचायत बुलाई गई थी। उसमें मालवीय जी भी पधारे थे। शान्ति स्था ाना के सम्बन्ध में विचार करते-करते बहुत देर हो गई। रात के लगभग नौ वज गए। मुझे मालूम था कि पण्डित जी साढ़े-नौ बजे की गाड़ी से वाहर जाने वाले हैं। मैंने उन्हें याद दिलाया कि समय हो रहा है, अब बात-चीत समाप्त कीजिए, परन्तु पण्डित जी की तसल्ली अभी नहीं हुई थो। उन्होंने बातचीत का सिलसिला जारी रखा। सामान स्टेशन पर जा चुका था। सेक्रेटरी को आज्ञा थी कि वह रिजर्व की हुई सीट पर विस्तर विछा छोड़े। इस कारण कुछ अटपटी बात होते हुए भी मुझे फिर याद दिलाना पड़ा कि गाड़ी का समय हो रहा है चलिए, इस समय सवा नौ बज चुके हैं। पण्डित जी ने हाथ के इशारे से मुझे रोकते हुए वातचीत जारी रखी। जब साढ़े-नौ बज गए तब फिर एक बार घड़ी सामने रख कर पण्डित जी को य.द दिलाना पड़ा; इसका कुछ असर हुआ और पण्डित जी बातचीत का सिलसिला समाप्त करके खड़े हो गए। मोटर में बैठ कर पण्डित जी ने मुझे इन शब्दों में आश्वासन दिया। आपने कहा कि—यह समझना गलत है कि केवल हम ही लेट होते हैं, क्योंकि ट्रेनें भी प्रायः लेट होती हैं। आपने अपने अनुभव के आधार पर कहा कि ट्रेन मनुष्य से भी अ धिक लेट होतीय हैं। ही कारण है कि देर होने के कारण मेरी गाड़ी शायद ही कभी छूटी हो। यदि कभी छूट भी गई तो मेरा काम नहीं रुका। इस कथन की पुष्टि में पण्डित जी ने अपनी एक अनुभूत घटना सुनाई जो इतिहास का अंग होने के योग्य है, इसलिए उसे मैं यहां दोहराता हूँ—

वह घटना तब हुई थी, जब भारत के वायसराय लार्ड चेल्मसफ़ोर्ड थे। पण्डित जी को एक अत्यन्त आवश्यक कार्य से ऐसी जगह जाना पड़ा, जहां इलाहाबाद से रेल द्वारा तीन-चार घण्टों में पहुँचा जा सकता था। उसी दिन रात के समय पण्डित जी को इलाहाबाद वापस पहुँचना अत्यन्त आवश्यक था। शायद वह किसी सार्वजनिक सभा में सभापतित्व करने वाले थे। उस जगह का कार्य समाप्त करके इलाहाबाद वापस जाने के लिए जब पण्डित जी स्टेशन पर पहुँचे तो मालूम हुआ कि जिस गाड़ी से इलाहाबाद जाना चाहिए था, वह निकल चुकी थी। पण्डित जी के सुदीर्घ जीवन में यह घटना अपवाद ही समझनी चाहिए, क्योंकि स्टेशन पर देर से पहुँचने पर भी गाड़ी उन्हें मिल ही जाती थी। उस दिन मानों अनहोनी हो गई। वह लेट हो गए, गाड़ी लेट नहीं हुई। परन्तु पण्डित जी आशा का सूत्र छोड़ने वाले नहीं थे। उन्होंने स्टेशन मास्टर से दर्याफ़्त किया कि क्या और कोई गाड़ी, फिर चाहे वह मालगाड़ी ही हो, इलाहाबाद के लिए मिल सकती है या नहीं। स्टेशन मास्टर ने उत्तर दिया कि हां, मालगाड़ी आने वाली थी, परन्तु वह दूसरे स्टेशन पर रुक गई है, क्योंकि वाइसराय की स्पेशल वहां से गुजरने वाली है। इससे भी निराश न होकर पण्डित जी ने पूछा कि क्या वाइसराय की स्पेशल यहां नहीं ठहर सकती। स्टेशन मास्टर ने बतलाया कि स्पेशल ट्रेन यहां नहीं ठहरेगी और यदि

अकस्मात लाइन क्लीयर देने में ही कोई भूल न हो जाए तो उसे किसी प्रकार ठहराया भी नहीं जा सकता।

इस पर पण्डित जी ने उसे सुझाया कि क्या यह सम्भव नहीं कि लाइन क्लीयर देने में चूक कर दी जाए, जिससे ट्रेन यहां ठहर जाए। जब स्टेशनमास्टर ने यह आशंका प्रकट की कि ऐसा करने से लाइन क्लीयर देने वालों पर आपत्ति आ सकती है, तो पण्डित जी ने उसे आश्वासन दिया कि मैं ऐसा नहीं होने दूंगा।

बात तय हो गई। लाइन क्लीयर देने वाले आदमी ने अपना हाथ इतनी दूर रखा कि ट्रेन को लाइन क्लीयर न मिल सका। गाड़ी स्टेशन पर रुक गई। पण्डित जी प्लेटफ़ार्म पर ही खड़े थे। झट उस डिब्बे के सामने जा पहुंचे, जिसमें वाइसराय बैठा हुआ था। वाइसराय ने पण्डित जी को देख कर बाहर मुंह निकालते हुए पूछा, 'हैलो पण्डित, आप यहां कहां ?' पण्डित जी उत्तर दिया कि 'मैं यहां इलाहाबाद वापस जाने के लिए खड़ा था। आपकी स्पेशल ट्रेन के कारण गाड़ियां रुक गईं, जिससे मैं लटकता रह गया। वाइसराय ने सज्जनता को निभाते हुए कहा, "आइए, मेरी गाड़ी में आ जाइए। मैं आप को इलाहाबाद पहुंचा दूंगा।" पण्डित जी बग़ैर तकल्लुफ़ के वाइसराय के डब्बे में बैठ गए। साथ ही बातचीत के सिलसिले में गाड़ी रोकने की पूरी कहानी सुना कर विचारे सिगनलर की सफ़ाई भी कर दी। इस तरह स्टेशन पर देर में पहुंचने पर भी पण्डित जी इलाहाबाद समय पर पहुंच गए। ऐसी घटनाओं ने पण्डित जी के आत्मविश्वास को बहुत अधिक बढ़ा दिया था। उन्हें यह अटल विश्वास सा हो गया था कि शीघ्र या विलम्ब में कार्य अवश्य सिद्ध होगा।

यह घटना पण्डित जी ने हमको सदर से दिल्ली स्टेशन की ओर जाते हुए रास्ते में सुनाई। स्टेशन पर जाकर देखा कि गाड़ी सचमुच १०-११ मिनट लेट थी, मानों पण्डित जी की प्रतीक्षा में।

इसी प्रकार की एक और घटना इलाहाबाद स्टेशन की है। पण्डित जी बांकीपुर के कांग्रेस अधिवेशन में जा रहे थे। उससे कुछ दिन पहले ही दिल्ली में लार्ड हार्डिंग पर बम गिरने की घटना हुई थीं। उस दिन सायंकाल के समय प्रयाग में बम फेंकने वाले की निन्दा करने के लिए विराट सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया था। सर सुन्दरलाल उसके सभापति थे। मालवीय जी उसी दिन दिल्ली से प्रयाग पहुँचे थे। सभा में मुख्य भाषण उन्हीं का हुआ। मैं भी दिल्ली से पण्डित जी के साथ ही प्रयाग गया था और ठहरा भी उन्हीं के पास था। सभा में जाते समय पण्डित जी यह आदेश दे गए थे कि उनका सामान समय से पहले स्टेशन पर पहुँचा दिया जाए और बिस्तर बिछा रखा जाए। पण्डित जी के प्राइवेट सेक्रेटरी के साथ मैं सभा से जल्दी उठ गया और हम दोनों सामान लेकर स्टेशन पर पहुँच गए। आज्ञानुसार सब कुछ कर दिया गया। नौकर को सर्वेन्ट की कोठरी में बिठाकर हम दोनों प्लेटफार्म पर पण्डित जी की प्रतीक्षा करने लगे। गाड़ी के छूटने का समय हो गया, गार्ड ने हरी झण्डी दिखाई, फिर सीटी बजाई और गाड़ी हिलने लगी। तब हम लोगों को सामान की चिन्ता हुई, सेक्रेटरी साहब ने डब्बे में घुसकर पण्डितजी का बिस्तर लपेटा और बाहर फेंक दिया। नौकर भी नीचे उतर आया। साथ

सामान प्लेटफ़ार्म पर उतार कर सेक्रेटरी महोदय भी कूदकर ट्रेन से उतर आए। उस समय गाड़ी के लगभग आधे डब्बे प्लेटफार्म से बाहर जा चुके थे। गाड़ी अकस्मात रुक गई। हम लोग देखने लगे कि गाड़ी रुकने का क्या कारण हुआ? देखते क्या हैं कि आगे-आगे मालवीय जी और उनके पीछे-पीछे डा० भगवानदास जी प्लेटफार्म पर बने हुए पुल पर से गाड़ी की ओर भागे आ रहे हैं। पाठक विश्वास रखें कि भागे शब्द का प्रयोग मैंने अतिरंजना में नहीं किया। दोनों महानुभाव वस्तुतः भागे आ रहे थे। दोनों के दाएँ हाथ गाड़ी को रोकने के लिए ऊपर उठे हुए थे। वहाँ सभी लोग मालवीय जी को पहचानते थे। उन्हें आते देखकर स्टेशन मास्टर ने गाड़ी को लाल झण्डी दिखला दी। गाड़ी खड़ी हो गई। सामान फिर से डब्बे में लगा दिया गया, और पण्डितजी के पीछे-पीछे मैं भी गाड़ी पर सवार हो गया।

महात्मा मुंशीराम (पीछे, स्वामी श्रद्धानन्द जी) के पुत्र सम्पादक-प्रवर स्व० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने, नवम्बर १९५६ ई० के आजकल में महामना जी के कुछ संस्मरण लिखे हैं। ये दोनों उनमें के हैं।

(१९)

महामना जी ने पूरा उद्योग किया कि जिन ब्राह्मणों का खान-पान और रहन-सहन एक सा है उनमें ब्याह-शादी होने लगे। अपनी पौत्री का विवाह एक गौड़ ब्राह्मण से करके उन्होंने इसका पथ प्रदर्शन भी कर दिया। फिर उन्होंने ब्राह्मणों की कई उपजातियों के लोगों को एकत्र करके अनुरोध किया कि आप लोग भी इस सिद्धान्त को कार्यान्वित करें। किन्तु कोई सहमत न हुआ तब उन्होंने सखेद कहा कि अभी तो आप हमारी बात नहीं मानते लेकिन समय आपसे इस सिद्धान्त को मनवा लेगा।

उस समय पण्डितों की मनोवृत्ति इतनी संकीर्ण थी कि वाल्मीकि रामायण के प्रथम सर्ग में ही जो चारों वर्णों को रामायण पाठ का समान अधिकार दिया गया है उसकी चौथी पंक्ति को उन लोगों ने इस प्रकार बदल दिया—

शृण्वञ्च शूद्रोपि महत्वमीयात्।

अर्थात् शूद्रों को केवल सुनने का अधिकार है। महामना जी इससे दुखी थे।

शिव जी के पंचाक्षर मंत्र की दीक्षा वह सवर्ण और अछूत सभी हिन्दूओं को दशाश्वमेध घाट पर एक भाव से निरन्तर दिया करते।

(२०)

निम्नोद्धृत पत्र महामना जी ने स्व० जमनालाल जी बजाज को १९२६ ई० में लिखा था। इस पर किसी विवृति की आवश्यकता नहीं—

श्रीः ॥

प्रिय जमनालाल जी,

आसीस

आपने अपने भगवद्भक्त पूर्वजों के स्थापित किये भगवान् लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में ब्राह्मण से लेकर चांडाल पर्यन्त सब श्रद्धालु भाइयों को जगत्पिता की पावन मूर्ति का

दर्शन करने की स्वतंत्रता दी और जो कूँवे बनवाये उन पर सब जाति के भाइयों को स्वच्छ वर्तन से पानी भरने का अधिकार दिया, यह सुनकर मुझको बहुत संतोष हुआ। आप के ये दोनों काम सर्वथा शास्त्र के अनुकूल हैं और घट-घट वासी विश्वात्मा इससे प्रसन्न होगा।

परमात्मा आपकी धर्म की भावना, देश भक्ति और निष्काम लोक-सेवा के भाव को दिन-दिन अधिक दृढ़ करे और आपके द्वारा देश का और लोक का दिन-दिन अधिक उपकार हो।

आपका

मदनमोहन मालवीय

विश्वविद्यालय, काशी,
अ. श्रावण शुक्ला ११,
सं० १९८५

(पत्र का लाइन ब्लाक अन्त में दिया गया है)

(२१)

एक बार पूज्य बापू के आमंत्रण पर महामना जी सेवाग्राम गये और वहाँ एक सप्ताह रहकर लौटे, रामनारायण मिश्र ने उनसे वहाँ का हाल पूछा। महामनाजी ने कहा—पुराणों में तपोवन के जो वर्णन पढ़ा करता था, वहाँ आखों देख आया।

(२२)

नागरी प्रचारिणी सभा में महामना जी का एक भाषण था। निश्चित समय के एक घन्टे बाद वे वहाँ पहुँचे। भीड़ उनके लिए आकुल थी।

उनके पहुँचते ही पं० रामनारायण मिश्र ने, जो सभा के प्रमुख कर्मी थे साथ ही महामना जी के भक्त भी, उलाहना दिया, विलम्ब के लिए।

महामना जी ने नितान्त तटस्थ भाव से उत्तर दिया—रामनारायन, टेक मी ऐज आइ ऐम रामनारायन, मैं जैसा भी हूँ, उसी रूप में मुझे ग्रहण करो।

(२३)

एक महानुभाव जिनको मैं अपना छोटा भाई मानता और उनसे अद्वय भाव रखता, बड़े निकृष्ट प्राणी थे। आरम्भ में मैं इस तथ्य को बिल्कुल भाँप न सका···उन्होंने अनेक अन्य दुराचारों के साथ-साथ एक आर्थिक गोलमाल भी किया था। यद्यपि मैं उस गोलमाल से बिल्कुल अलग था फिर भी उनके संसर्ग के कारण मुझ पर भी आपत्ति आ गई और जेल जाने के लक्षण प्रतीत होने लगे।

मैं महामना जी की शरण में आया और अपनी विपत्ति उन्हें सुना कर रक्षा का उपाय बताने की प्रार्थना की।

उन्होंने मुझे श्रीमद्भागवत के आठवें स्कन्ध वाले गजेन्द्र मोक्ष का उपदेश दिया और कहा कि पूर्ण भक्ति पूर्वक आर्त होकर इसका प्रतिदिन पाठ करते रहो; तुम पर कोई आँच नहीं आवेगी।

इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी बताया कि एक बार उत्तर प्रदेश सरकार ने यह निर्णय किया कि हाई कोर्ट इलाहाबाद से उठकर लखनऊ चला जाय। मैंने त्रिवेणी तट पर तीन

दिन तक इस स्तोत्र का अखंड पाठ किया। हाईकोर्ट को स्थानान्तरित करने की आज्ञा रद कर दी गई।

उस भँवर से उबरने पर मैं उनके दर्शनार्थ आया। उस समय कहीं जाने के लिये वे मोटर पर सवार हो रहे थे। मुझसे वात्सल्य पूर्ण प्रश्न किया—सब ठीक है न ?

मैं इतना गद्‌गद् हो गया था कि रुद्ध कंठ से उनका चरण-स्पर्श मात्र कर सका।

(२४)

१९३३ की गर्मियों की बात है। काशी में द्विवेदी अभिनन्दन उत्सव समाप्त हो चुका था। आचार्य द्विवेदी जी अपने गाँव लौट रहे थे। हिन्दी प्रेमियों की एक भारी भीड़ उन्हें छोड़ने स्टेशन गई थी, किन्तु ट्रेन में देर थी आचार्यवर ने उस भीड़ को साग्रह वापस कर दिया।

वे वेटिंग रुम में बैठ गए। केवल उनके कतिपय निकटवर्ती व्यक्ति रह गए थे। तभी महामना जी भी वेटिंग रुम में पधारे। उन्हें भी वही गाड़ी पकड़नी थी। दोनों महानुभावों में वार्तालाप होने लगा। आचार्य द्विवेदी जी जितने ही निराशावादी, महामना जी उतने ही आशा-वादी।

द्विवेदी जी महाराज अपने गिरते स्वास्थ्य की चर्चा उनसे करने लगे। महामनाजी उन्हें बार-बार समझाते जाते थे कि यह सब आप की मनोदशा के कारण है। किन्तु दोनों ही महारथी अपने अपने पक्ष पर दृढ़ रहे और कुछ देर बाद अन्य चर्चा होने लगी।

कविवर सियारामशरण गुप्त भी वहाँ उपस्थित थे। आचार्यवर को पहुँचाने आए थे। उन्होंने अवसर पाकर महामना जी के सामने एक सादा कागद उनका हस्ताक्षर प्राप्त करने के लिए, उपस्थित किया। सियाराम जी के एक भतीजे हस्ताक्षर संग्रह करते थे। उन्हीं के लिए उन्होंने वह कागद महामना जी के सामने रखा था।

उन्होंने सहर्ष उस पर हस्ताक्षर कर दिया। तब सियाराम जी ने प्रार्थना की कुछ लिख भी दीजिए, महामना जी ने उत्तर दिया — बस।

सियाराम जी ने सस्मित निवेदन किया आप के हस्ताक्षर के ऊपर बहुत सा अंश सादा है, यदि मैं स्वार्थ साधन के लिए उस पर कुछ लिख दूँ तो ? सियाराम जी की यह युक्ति पूर्ण उक्ति महामना जी को बहुत जँची और उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक यह प्रासंगिक सूक्ति अपने हस्ताक्षर के उपर लिख दी —

बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्।

उस समय की एक बात और याद आई। बापू का पूना वाला अनशन चल रहा था। महामना जी बहुत ही चिन्तित थे। मेरे यह पूछने पर कि क्या होगा, कहने लगे— "मैं तो समझता हूँ कि गांधी जी ने सोच लिया है कि यहाँ तो कुछ हो-हवा नहीं रहा है; अब यहाँ से चलो।" इस वाक्य में उनके हृदय की पीर भरी थी।

(२५)

एक बार महामना जी का दर्शन करने बम्बई के एक बड़े धनाढ्य सेठिय आये। उनसे महामना जी ने कहा कि विश्वविद्यालय अस्पताल में बहुत थोड़ी रोगी शय्याएँ हैं आप बीस-पच्चीस शय्याओं के लिये आर्थिक सहायता दीजिये। किन्तु सूखे सोंठ सेठिया ने अपनी असमर्थता व्यक्त की।

कुछ दिनों बाद महामना जी कार्यवश बम्बई गये। वहाँ सुना कि सेठिया अस्पताल में पड़े हैं। महामना जी के संग ज्योतिषाचार्य रामव्यास जी भी थे। व्यास जी से उन्होंने कहा कि चलो उन्हें देख आवें। व्यासजी ने निवेदन किया कि उस मक्खीचूस के यहाँ क्या चलियेगा। महाराज ने उत्तर दिया चलो तो—और अस्पताल पहुँचे।

सेठिय बीमारी का कष्ट झेल रहे थे, महामनाजी ने उन्हें प्रेम पूर्वक देखा और ढाढ़स बँधाया।

जब वे विदा होने लगे तो सेठिया ने स्वेच्छया उनसे साग्रह प्रार्थना की कि मेरी ओर से अस्पताल में पच्चीस शय्याओं का वार्ड बनवा दीजिये।

(२६)

महामना जी को शिमला में किसी नरेश वा धन-कुबेर ने विश्वविद्यालय के लिये एक बड़ी रकम दी। नोटों का वह बंडल लेकर महामना जी जब अपने निवास स्थान पहुँचे, बैंक का समय बीत चुका था। उन्होंने बंडल अपने डेस्क की दराज में रख दिया। वे दराज का ताला कभी बन्द न करते।

दूसरे दिन रकम बैंक भेजने के लिये उन्होंने दराज खींचा। पाया, बंडल गायब है। एक स्वजन ने उसे उड़ा लिया था।

उन्होंने कोई पूछताछ न की। तब तक उन्होंने प्रैक्टिस एकदम छोड़ न दी थी; कभी कदास मुकदमा ले लेते थे। इलाहाबाद लौटने पर उन्होंने एक मामला ले लिया और उसकी फीस से दान वाली रकम भर दी।

(२७)

महामना जी के निकट सम्बन्धी स्व० ब्रजमोहन जी व्यास की चर्चा ऊपर हो चुकी है। एक बार वह महामना जी के पास बैठे थे; कई अन्य संबंधी भी थे। किसी घरेलू गुत्थी पर, जिसके कारण महामना जी बहुत आहत थे, विचार हो रहा था।

प्रसंग वश महामना जी ने, एक लंबी सांस लेकर, व्यास जी से कहा—व्यास जी, बहुत कुछ झेल चुका हूँ। अब कुछ व्यापता नहीं।

इस पर व्यास जी ने, जिन्हें संस्कृत और उर्दू के पाँच सौ से अधिक सुभाषित याद थे, महामना जी को ग़ालिब का यह शेर सुनाया—

रंज से ख़ूगर हुआ इंसां तो मिट जाता है रंज।
मुश्किलें हम पर पड़ीं इतनी आसां हो गयीं॥ (ख़ूगर—अभ्यस्त)

सुनकर आप बोले—फिर कहिय, व्यास जी।
और, जब व्यास जी ने पुनः यह उक्ति सुनायी तो आप की आँखों से टपटप आँसू टपकने लगे।

(२८)

आचार्य सीताराम जी चतुर्वेदी महामना जी के विशेष कृपा-पात्र थे एवं बहुधा उनके साथ-साथ रहते थे। उन दिनों का एक संस्मरण आचार्य महोदय से सुनिये—

मैं महामना मालवीय जी महाराज के साथ उज्जैन गया था। वहाँ सभा में अन्य लोगों के साथ मुझे भी माला पहना दी गई थी और मैंने भी अन्य लोगों की देखा-देखी उतारकर रख दी थी किन्तु मालवीय जी महाराज माला पहने रहे। सभा समाप्त होने पर मालवीय जी महाराज ने मुझसे पूछा—"तुमने माला क्यों उतार दी ?" मैं समझ नहीं पाया और मैंने कह दिया—"सब लोग उतार रहे थे, मैंने भी उतार दी।" तब उन्होंने कहा—"देखो, माला उतारने से माला पहनाने वाले का भी अपमान होता है और माला का भी।"

इस प्रसंग में उन्होंने कविवर विस्मिल इलाहावादी के गुरू नूह नारवी का यह शैर सुनाया—

हारों में गुंथे, जकड़े भी गए, गुलशन भी छुटा, सीना भी छिदा।
पहुँचे मगर उनकी गरदन तक, यह खुश इक़बाली फूलों की ।।

माला उतारने से फूलों की खुश-इक़बाली (भाग्यशालित्व) भी हम नष्ट कर डालते हैं।

तब से आज तक मैं कभी माला नहीं उतारता हूँ, यद्यपि माला उतार रखने वालों के बीच मैं नक्कू अव य बना रहता हूँ, पर मुझे उसकी हिचक नहीं है।

(२९)

बीकानेर के महाराज गंगासिंह की महामना जी पर बहुत श्रद्धा थी। एक बार वे लोग शिमला से एक ही दिन नीचे लौटे। कालका रेलवे स्टेशन पर उनकी भेंट हो गयी और वार्तालाप होने लगा।

महामना जी को बनारस आने के लिए डाक गाड़ी पर सवार होना था; महाराज ने उनसे कहा कि चलिये आपको सवार करा आऊँ।

वे जब मेल वाले प्लेटफार्म पर पहुँचे तो ज्ञात हुआ कि गाड़ी छूटने में अभी देर है। महामना जी ने उनसे कहा-- तो चलिये आपको बिठा आऊँ। उन लोगों की बातचीत में इतना आनन्द आ रहा था कि बिछुड़ना न चाहते थे।

जब महामना जी बीकानेर के स्पेशल तक पहुँचे तो महाराज ने कहा—यह कैसे हो सकता है कि आप यहां तक कष्ट करें और मैं आपको पहुँचाने न चलूँ। दोनों जन पुनः प्रत्यावर्तित हुये। यह सिलसिला तीन बार चला। तब महाराज ने महामना जी से आग्रह किया—देखिये मेरी स्पेशल तो मेरे आज्ञाधीन है। आपकी गाड़ी तो समय से छूट जायगी। अतः मैं हार नहीं सकता। अब आप कष्ट न कीजिए; मेरी बिनती मानकर सवार हो जाइये। अन्ततः महाराज उनको बैठाकर गाड़ी के गति पकड़ने पर उनको प्रणाम करके, अपनी स्पेशल की ओर लौटे।

(३०)

महामना जी पाक विद्या विशारद थे। प्रवास में वे स्वयं-पाकी रहते, और स्वभाव से पर्फेक्शनिस्ट होने के कारण, साथ ही इस कारण भी कि उनका परिवार बहुत अच्छा भोजन बनाता, वे रसोई एक कला के रूप में बनाते।

जब वे बंबई जाते तो सेठ नरोत्तम मुरार जी ठाकरशी के अतिथि होते। बंबई के उद्योग-पतियों में उन दिनों नरोत्तम भाई देश प्रेम और उदारता में अग्रणी थे।

जब महामना जी आप भोजन बनाते तो नरोत्तम भाई की श्रीमती जी वहीं बैठी रहतीं। वे अभी जीवित हैं। बताती हैं कि महामना जी फुलका ऐसा सेंकते कि वह फूल-कर डब्बा हो जाता किन्तु उस पर तनिक भी चित्ती न पड़ती। तब वे उनसे बड़ी आत्मीयता से कहते—"बऊ, तुमको फुलका खाना होगा।" महामना जी का आग्रह वह कैसे टालतीं। बताती हैं, वैसे फुलके जीवन भर में कभी नहीं खाये।

(३१)

उत्तर प्रदेश के एक उच्च शिक्षाधिकारी का नाम था, नैंपाल सिंह। एक बार वह महामना जी से मिलने आये। आपने उनका नाम पूछा; उन्होंने उक्त नाम बताया। आपने कहा नैंपाल क्या ? तुम्हारा नाम है—नेहपाल सिंह। तब से वह अपने नाम का यही रूप बर्तने लगे। बनारस में एक सुयोग्य अध्यापक थे। पंजाबी सारस्वत ब्राह्मण होने के कारण उनका नाम था, निक्का मिश्र; उन्होंने हिन्दी क्षिप्र-लेखन पद्धति निर्मित की जो वैज्ञानिक, परिपूर्ण साथ ही सरल भी है। जब महामना जी ने उनका नाम सुना तो उसे निष्कामेश्वर मिश्र कर दिया, जिसे मिश्र जी ने सादर स्वीकार कर लिया।

इसी प्रकार, हिन्दी के अपने ढंग वाले एक ही आलोचक और साहित्यकार स्व० शान्तिप्रिय द्विवेदी का नामकरण भी महामना जी का ही किया है, उनके सौम्य एवं विनम्र स्वभाव के कारण। उनका पूर्व-नाम था, मुच्छन दुबे।

विश्वविद्यालय के चिकित्सा संकाय में एक क्षत्राणी नर्स थीं; सितावो देई। वह निः सन्तान थीं; अपना समस्त अर्जन उन्होंने विश्वविद्यालय को इस निमित्त अर्पित कर दिया कि उससे एक आवास बना दिया जाये, जिसके किराये की आय योग्य क्षत्रिय विद्यार्थी को छात्र वृत्ति रूप में दी जाये।

महामना जी ने यह दान सवात्सल्य स्वीकार करते हुए, उनसे कहा—"तुम सीता देवी हो; सितावो देई नहीं। तुम्हारे दान से निर्मित मकान का नाम होगा-सीता-निवास।

(३२)

महामना जी का नियम था कि वे निरन्तर बोर्डिंग हाउसों का निरीक्षण किया करते। एक दिन एक बोर्डिंग में उन्हें एस ऐसा विद्यार्थी दिखाई दिया जो अपना अपव्यय करता था। रंग पीला, गाल चुचके, आँखें धसी। महामना जी ने उसे अपने पास बुलाकर ममत्व एवं आदेश पूर्वक कहा—"यह कुटेंव छोड़ दो।"

(३३)

जब १९४२ ई० वाला आन्दोलन आरम्भ हुआ तो विश्वविद्यालय के कुछ विद्यार्थी १२ अगस्त को महामना जी से यह पूछने आये कि उसमें भाग लें वा न लें, क्योंकि भाग लेने में इस बात का डर था कि सरकार यूनिवर्सिटी को जब्त कर लेगी।

उस दल में महा-महिम जैराम दास दौलतराम के पुत्र, अर्जुन दौलत राम भी थे। उन्होंने मुझे सुनाया कि उस समय महामना जी अपने आवास वाले लान पर बैठे थे। विद्यार्थी-मंडली की बात सुनकर उन्होंने यह ओज-पूर्ण उत्तर दिया—

"मैंने एक युनिवर्सिटी इतना समय लगाकर बनायी है । यह क्या यदि ऐसी पचास यूनिवर्सिटियां बनायी होतीं तो मैं उनको भी बापू जी के लिये दे देता।"

.........और, उनकी आँखों से टप-टप आंसू गिरने लगे ।

(३४)

१९४२ ई० वाले आन्दोलन में जब सरकार की शनिदृष्टि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पर पड़ी और यहाँ भारी धर-पकड़ के साथ-साथ इंजिनियरिंग कालेज के बड़े कीमती कीमती उपकरण, जिनसे बंदूक आदि बनाने की आशंका थी, उनको सेना उठा कर ले जाने लगी, लोगों ने महामना जी का ध्यान उधर दिलाया। वह तनिक भी विचलित नहीं हुये, सुतरां सत्व समाविष्ट होकर मात्र इतना कहा—

'मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दहति किंचन'

पौराणिक आख्यान यों है कि महर्षि बादरायण जब अपने पुत्र शुकदेव जी को सारा तत्व ज्ञान दे चुके तब उनसे कहा कि अभी कुछ शेष है; राजर्षि जनक के पास जाकर अपना अध्यात्म ज्ञान परिपक्व करो ।

तदनुसार शुकदेय जी मिथिला गये और राजर्षि से द्वारपाल द्वारा प्रवेश की आज्ञा पाकर अपना कमण्डलु द्वारपाल को ही सौंपते हुए जनक जी के पास गये। सम्मादर और समुचित आसन पाकर बैठ गये और अपने पिता की आज्ञा उनसे कहते हुये उपदेश की प्रार्थना की ।

उसी समय मिथिला नगरी में प्रचण्ड आग लग गई जो राज प्रासाद तक आ पहुंची। शुकदेव जी त्वरा से उठकर अपना कमण्डलु बचाने के लिये द्वार की ओर दौड़े। जब वे कमण्डलु सहित महाराज के सामने आये तो अग्नि एकाएक शान्त हो गई और राजर्षि जनक ने उनसे कहा कि मुझे जो उपदेश देना था दे चुका। देखो तुममें इतनी आसक्ति बनी है कि तुम एक कमण्डलु के लिये भाग गये और मैं इस भावना के साथ यहां स्थित रहा कि "मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दहति किंचन"। अब तुम परिपक्व हो गये ।

(३५)

सी० वाइ० चिन्तामणि को सिगरेट पीने की आदत थी । एक बार वह महामना जी के साथ रेलयात्रा कर रहे थे; अदब के कारण उनके सामने सिगरेट न पीते, बाथरूम में चले जाते ।

महामना जी लख गये और थोड़ी थोड़ी देर बाद स्वयं बाथरूम में जाने लगे ।

(३६)

जब कभी महामना जी पाते कि कोई व्यक्ति झूठ बोल रहा है, तो लठमार यह न कह देते कि तुम्हारी बात गलत है। सुतराम् तेजस्विता पूर्वक कहते—

"मैं तो आपको बहुत सच्चा आदमी समझता था और अब भी समझता हूं, फिर भला कैसे कहूँ कि आप की बात सही नहीं है।"

बस उसकी कलई खुल जाती ।

(३७)

महामना जी की आदत थी कि जब उन्हे कोई व्याख्यान देना होता उसके पहले उनका जो विश्रान्ति समय होता उसमें वे कुछ न कुछ पढ़ते अवश्य। इस पठन से उस व्याख्यान क कोई सम्बन्ध न होता। जो चीज़ सामने आ जाती उसी को पढ़ते। किन्तु ऐसा सतत संयोग होता कि जिस भी पुस्तक को वे पढ़ते यह उनकी बताई बात है—उसमें उन्हें कोई न कोई ऐसा मार्के का शब्द, वाक्य वा विचार मिल जाता जो उनके व्याख्यान के लिये एक उत्कृष्ट सामग्री होता। उसका वे उपयोग करते और उनका व्याख्यान खिल उठता।

(३८)

महामना जी से किसी ने कहा कि आपको लोग सदा घेरे रहते और बातों में ही सारा समय बीत जाता है, काम करने की तो छुट्टी मिलती ही नहीं।

···मेरे सारे काम बातें में ही हो जाते हैं···उनका निश्चित उत्तर था।

(३९)

कसरत करने की बात चली। महामना जी सीख दे रहे थे कि सबको प्रतिदिन व्यायाम करना चाहिये। एक व्यक्ति ने कहा कि मुझे काम के मारे अवकाश ही नहीं मिलता। महामना जी ने कहा—मुझे भी दम मारने की छुट्टी नहीं मिलती। फिर भी, मैं नित्य व्यायाम कर लेता हू। अंग्रेज़ी में एक पुस्तक है —द लेज़ी मैनस् एक्सरसाइज़। उसमें सो कर उठते ही बिस्तर में पड़े-पड़े कसरत कर लेने की विधि दी हैं। तद्‌नुसार मैं शय्या छोड़ने के पहले ही व्यायाम कर लेता हूँ। और—उसी समय उन महाशय को शय्या-व्यायाम कर दिखाने लगें।

(४०)

महामना जी अपने स्टैनो वा प्राइवेट सेक्रेटरी को कोई डिक्टेशन देते तो पूरा हो जाने पर उसे सुनते और कुछ न कुछ परिवर्तन करते। तब वह टाइप होने जाता; कभी-कभी टंकन आरम्भ होने से पहले ही ड्राफ्ट मंगाकर पुनरपि परिवर्तन करते। इतना ही नहीं; जब वह टाइप होकर हस्ताक्षर के लिये उनके सामने रक्खा जाता तो उसे पुनः संशोधित करते। यदि किंचित संशोधन होता तो हस्ताक्षर कर देते। यदि अधिक, तो वह पुनः टाइप किया जाता। कहीं तब वह हस्ताक्षरित होता।

ऐसे परफ़ेक्शनिस्ट थे, वे।

(४१)

प्रयाग का विशाल माघ मेला देखकर किसी विदेशी पर्यटक ने महामना जी से जिज्ञासा की कि इतना भारी जन-समह कौन एकत्र करता है ?

महामना जी के पास ही पंचांग रक्खा था। उन्होंने उसे उठाकर उस पर्यटक के सामने रखते हुये, उत्तर दिया —"यह क्षीण कलेवर पंजिका।"

तब ब्योरे में जाकर उसे समझाया कि इसमें वे समय दिये हैं जिनमें त्रिवेणी स्नान करने से पुण्य होता है। बस राष्ट्र स्वयं अपने को संयोजित करके इस मेले का रूप धारण कर लेता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस समाधान द्वारा उन्होंने यह भी ध्वनित कर दिया कि भारतीय कैसे संघटन शक्ति-सम्पन्न हैं।

(४२)

महामना जी ने आदेश दे रक्खा था कि जब उनका अवसान काल आये तो वे काशी में न ले जाये जायँ, क्योंकि काश्यां मरणान्मुक्तिः।

'मुझे मुक्ति नहीं चाहिये।' मुझे तो पुनः जन्म लेकर विश्वविद्यालय की सेवा करनी है।

(४३)

एक बार महामना जी को चिकित्सकों ने एकमत परामर्श दिया कि आपको पूरे विश्राम की आवश्यकता है। जब तक हम लोग कहें न, तब तक काम बिलकुल न कीजिये। परन्तु वे कहां सुनने लगे।

तब भाई शिवप्रसाद गुप्त उन्हें हठ पूर्वक अपने घर, सेवा-उपवन ले गये और स्वयं चौकसी से उनकी पहरेदारी करने लगे।

किन्तु कर्मठ महामना जी को बिना काम किये चैन कहां? वे हवा खाने के नाम पर, मोटर से बाहर चले जाते और सेवा-उपवन के फाटक के ठीक बगल में एक बहुत बड़ा वृक्ष है जो चबूतरे से आवेष्ठित है, वहीं बैठकर विश्वविद्यालय के कर्मियों के मसले निबटाते।

भाई शिवप्रसाद को इसकी सूराग लग गयी। बस, उन्होंने यह नियम बना लिया कि वह भी महामना जी के संग घूमने जाने लगे। तब वे कर्मी और स्वयं महामना जी भी लाचार हो गये। भाई शिवप्रसाद ने उन कर्मियों को फटकारा भी।

और, महामना जी को कैद से तभी छोड़ा जब चिकित्सकों ने, बिना किसी ननु नच के, उन्हें काम करने की छूट दे दी।[१]

---

[१] स्वनामधन्य, देश-रत्न स्व० शिवप्रसाद गुप्त अब हमें "आज" दैनिक, ज्ञान-मण्डल प्रकाशन और काशी विद्यापीठ के जन्मदाता एवं भारत माता मंदिर के निर्माता रुप में ही याद हैं। परन्तु उनका व्यक्तित्व कितना अतुल्य और असामान्य था, इसे हमने बिसार दिया है।

कोट्याधीश होते हुये भी वह इतने निरभिमान और निर्मद थे कि उन्होंने अपने को एक सामान्य जन के अतिरिक्त और कुछ नहीं लेखा। उदार वह इतने थे कि सैकड़ों व्यक्तियों (जिनमें वरिष्ट और इतर रांजनीतिक कर्मी, समाजसेवी, साहित्यिक, ऐसे लोग-स्त्री वा पुरुष-जिनके दिन बिगड़ गये थे, रोगी, वृद्ध और अपाहित आदि) की और संस्थाओं की मुक्तहस्त सहायता निरन्तर किया करते और, वह भी इस अनासक्ति पूर्वक कि, बाइबिल के शब्दों में, दहने हाथ का दिया, बायां हाथ नहीं जानता था। किसी को दौड़ना न पड़ता। घर बैठे नियत दिन सहायता पहुंच जाती।

(४४)

महामना जी का अन्तिम क्षण बिल्कुल निकट आ गया था और वे मूर्च्छित पड़े थे; उनके निकट गीता पाठ हो रहा था। गीता के १८ वें अध्याय में भगवान का अन्तिम उपदेश यों है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।

गीता के सभी वैष्णव भाष्यकारों के अनुसार यह भगवान का परम उपदेश है। जब यह श्लोक पढ़ा गया तब एक पाठकर्ता ने त्वा के बदले त्वाम् कह दिया। (संस्कृत में तुमको के अर्थ में त्वा और त्वाम् दोनों ही सर्वनाम आते हैं, किन्तु गीता में त्वा ही प्रयुक्त हुआ है त्वाम् नहीं) उन्होंने उस मूर्च्छितावस्था में भी हूँउँ कह कर उस अशुद्धि का वारण किया।

निर्भीक वह ऐसे थे कि कभी किसी से नहीं चपे। बड़े से बड़े कीं किसी की बात पर उनकी सहमति न होती तो दृढ़ता पूर्वक व्यक्त कर देते। एक बार विश्ववंद्य बापू की किसी बात से असहमत होकर उनको लिख भेजा था—"बापू मैं आपके चरणों की पूजा कर सकता हूं; मस्तिष्क की नहीं।"

देश पर अपने को न्योछावर कर दिया था, उन्होंने। यद्यपि स्वयं पक्के आर्य समाजी थे, फिर भी धार्मिक उदारता इतनी थी कि कुल-गत वल्लभ-संप्रदाय वाली ठाकुर जी की सेवा पर पूरा खर्च-वर्च करते रहे। किसी अन्य धर्म का भी कभी विरोध नहीं किया।

आरम्भ में उनका संबंध क्रान्तिकारियों से था। इसी चक्कर में एक बार अमेरिका से लौटते हुये, सिंगापुर में गिरिफ्तार कर लिये गये थे; गोली से उड़ा देने की नौबत आ गयी थी। किन्तु बाद में पक्के गांधीवादी कांग्रेसी हो गये थे, सदा के लिये। फिर भी अन्य राजनीतिक दल वालों से उनका कोई असद्भाव न था।

देश को स्वतन्त्र देखने के लिये वह तड़पते रहे। अक्सर गुनगुनाया करते—मेरे दिल के फफोले फूटेंगे कब ?

राजनीति के साथ-साथ हिन्दी पर भी उनका अगाध प्रेम था। उनके सारे काम काज हिन्दी में होते; लेखन शक्ति भी थी, उनमें। अँग्रेजी के लिये कहा करते—"जब तक यह गर्दनिया देकर निकाली न जाएगी, निकलेगी नहीं।"

अंग्रेजी हटाने के साथ-साथ अंग्रेजी कैलेण्डर के बहिष्कार के निमित्त उन्होंने विक्रम संवत और सौर मास (जो अंग्रेजी कैलेण्डर की भांति नियमित है) का प्रचलन किया जो आज भी काशी विद्यापीठ, नागरी प्रचारिणी सभा, अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, "आज" और ज्ञान मंडल में चलता है।

पुस्तक संग्रह का उन्हें बेहद शौक था लाखों रुपये की एक-से-एक अलभ्य मुद्रित और हस्तलिखित ग्रन्थ उन्होंने एकत्र किये थे।

महामना जी पर उनकी परम श्रद्धा थी, विद्यार्थी जीवन से ही। बी० ए० की पढ़ाई के लिये वह इलाहाबाद चले गये थे। वहीं उनके संपर्क में आये। जिस प्रकार महामना

श्रीः॥

प्रिय जमनालाल जी

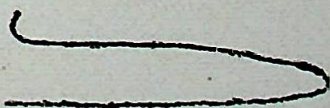
आशीस

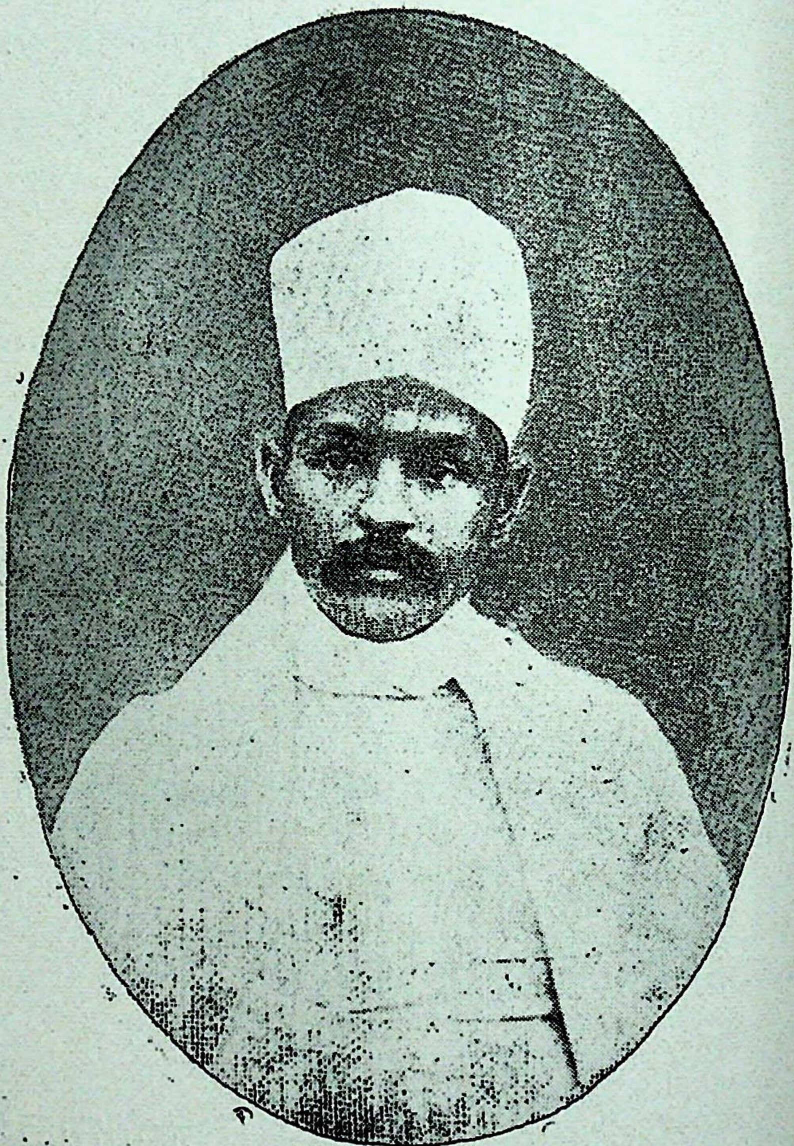
आपने अपने भगवद्भक्त पूर्वजों के स्थापित किये भगवान् लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में ब्राह्मण से लेकर चांडाल पर्यन्त सब श्रद्धालु भाइयों को जगत्पिता की पावन मूर्त्ति का दर्शन करने की स्वतन्त्रता दी और जो कूंवे बनवाये उन पर सब जाति के भाइयों को स्वच्छ बर्तन से पानी भरने का अधिकार दिया यह सुन कर मुझ को बहुत संतोष हुवा. आप के ये दोनों काम सर्वथा शास्त्र के अनुकूल हैं और घट घट वासी विश्वात्मा इस से प्रसन्न होगा।

परमात्मा आप की धर्म की भावना, देश भक्ति और निष्काम लोक सेवा के भाव को दिन दिन अधिक दृढ़ करे और आप के द्वारा देश का और लोक का दिन दिन अधिक उपकार हो॥

आपका
मदन मोहन मालवीय।

विश्वविद्यालय काशी
अ. श्रावण शुक्ला ११.
सं. १९८५





महामना (नवम्बर १९०९)

(४५)

कविवर "अकबर" इलाहाबादी ने महामना जी की प्रशस्ति में एक शेर कहा है—

"हज़ार शेख ने दाढ़ी बढ़ाई सन की-सी।
मगर वो बात कहाँ मालवी मदन की-सी॥"

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'सनकी' (झक्की) का भी वाचक है।

× × × × ×

हरि अनंत हरि-कथा अनंता

निदेशक
भारत कला भवन
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

जी के पुत्र उनको "बाबू" कहते उसी प्रकार भाई शिवप्रसाद भी। केवल ज़बानी नहीं; उन्हें वस्तुतः पिता मानते।

महामना जी के एक गुण की वह बहुत बड़ाई किया करते। कहते कि आगे बढ़ना तो सब नेता जानते हैं, किन्तु कहाँ पीछे हटना चाहिये, जो युद्ध का यह एक आवश्यक अंग है। यह मात्र महामना जी जानते हैं।

जब विश्वविद्यालय के लिये कलकत्ता में चन्दा आरम्भ हुआ तो उनकी वहां वाली गद्दी (जिसके सबसे बड़े भागीदार वही थे) ने एक लाख का चन्दा देकर धन-संग्रह के अभियान का श्री गणेश किया। यही नहीं चन्दा उगाहने के दौरान वह महामना जी के संग रहे। कुछ लोग इस बात की शिकायत किया करते कि ऐसे कुलीन होकर भी वह कुलियों की तरह ज़मीन पर टाट, कंबल बिछा कर सोते हैं।

परन्तु रईसी या अहंकार उनमें छू तक नहीं गया थी। हाँ, अतर और स्वादु भोजन का शौक उन्हें अवश्य था। स्वयं उत्कृष्ट पाककर्त्ता भी थे। वे विशुद्ध खादी धारी थे और स्वयं कातते भी महीन से महीन।

उनको क्रोध बहुत कम आता, किन्तु जब आता तो शिव से रुद्र हो जाते। मज़ा यह था कि जिस पर क्रोध करते, उस पर न उतारते। उतारते अपनी चीजों पर। प्रलयंकर ताण्डव करते हुये, उनको तोड़-ताड़ फोड़-फूड, फेंक-फांक, प्रकृतिस्थ होकर, वहीं के वहीं भोलानाथ हो जाते।

आरती की आरती

डॉ० शिव मंगल सिंह 'सुमन' डी० लिट्०

देखते-देखते काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की हीरक जयंती का भी पर्व आगया। आज से १० वर्ष पूर्व उसकी स्वर्ण जयंती में भी सम्मिलित होने का सौभाग्य मुझे सुलभ हुआ था, पर इस क्रम में आज से ३५ वर्ष पूर्व की रजत जयंती की स्मृति अनायास ही उमड़ आई। प्रातःस्मरणीय पं० मदनमोहन मालवीय का वह अंतिम संकल्प था। वह विश्वविद्यालय के लिए ही नहीं राष्ट्र के लिए भी युगांतर की वेला थी। कारण, वसंतपंचमी फरवरी १९४२ में उसका आयोजन हुआ था और ठीक ६ महीने बाद अगस्त १९४२ में गांधीजी का ऐतिहासक 'भारत छोड़ो आन्दोलन' छिड़ गया था। महात्माजी की महामना से वह अंतिम भेंट थी। जब मैंने जुलाई सन् १९३७ में एम० ए० हिन्दी में प्रवेश लिया था तब तो महामना ही हमारे उपकुलपति थे। उनका वह सौम्य वेष, लगभग ५ फीट ५ इंच की कसी हुई शरीर यष्टि, गौर वर्ण, प्रदीप्त मुखमण्डल, श्वेत अंगरखा, श्वेत अंतरवासक, श्वेत उत्तरीय, श्वेत पगड़ी, मस्तक पर चंदन का श्वेत टीका और वाहन के रूप में श्वेत मोटरगाड़ी भी। मैंने अपने जीवन में ऐसा भव्य मनोमोहक व्यक्तित्व नहीं देखा। भाषा के समय गंगोत्री के झरने सी तरल-सरल वाणी और नैसर्गिक आशीषभरी दूधिया मुस्कान। दिल भी उन्होंने शहंशाहों का पाया था। संतरण के लिए तरणताल बनाने की सूझी तो आधी मील लंबी पक्की नहर ही बनवादी, विश्वविद्यालय परिसर के चारों ओर परकोटा और गोपुर के लिए भी लाखों की योजना। प्रवेशद्वार भी पुरुरवा के प्रसाद के तोरण की याद दिलाने वाला, जिस पर प्रातः संध्या शहनाई और नगाड़े का स्वर मधु गुंजित हो सके। उत्सवों और पर्वों पर उसका आयोजन भी होता था। संध्या समय प्रायः वे परिसर की एक परिक्रमा करते थे। कभी-कभी नहर के पास कार से उत्तर कर टहलने लगते, वहां विश्वनाथ मंदिर बनाने की उनकी कल्पना थी, जो अब साकार भी हो गई है। उस समय कोई प्रोफेसर या विद्यार्थी मिल जाता तो उसे नहर में नहाने का आग्रह करते। अध्यापक विद्यार्थी दोनों उनके आदेश का पालन कर धन्य होते। कभी ऐसा लगा ही नहीं कि वे हमारे कुलपति हैं, सदा यही भावना होती थी कि परिवार का पिता अपने प्रगाढ़ वा सल्य से हमें उपकृत कर रहा है। कण्व, गौतम और सांदीपनि की परंपरा याद हो आती। उनका वह क्षीरसागरी उल्लास देखकर बार-बार अंतर्मन बुदबुदा उठता था कि जब तक तुम जीवित हो तब तक हम विद्यार्थी अनाथ नहीं हैं। हिंदी विभाग में भी उस वर्ष हिन्दी के अध्वर्युं बाबू श्यामसुन्दरदास ने अवकाश प्राप्त ही किया था और स्वनामधन्य पं० रामचन्द्र शुक्ल अध्यक्ष के पद पर आसीन हुए थे। उस समय के विश्वविद्यालय का वातावरण ही निराला था। जिस ओर भी दृष्टि जाती, तपःपूत चरणचिन्हों के उभार दिखाई पड़ते। कला महाविद्यालय के प्राचार्य रंगास्वामी आयंगर, अंग्रेजी विभाग के अध्यापक डा० नाग, राजनीति विभाग के डा० गुरुमुखनिहालसिंह और डा० पुनताम्बेकर, प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति विभाग में डा० अल्तेकर, दर्शन विभाग में

डा० अधिकारी, डा० मित्रा और डा० अत्रे, हिन्दी विभाग में भी आचार्य शुक्ल के अतिरिक्त आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, डा० पीताम्बरदत्त वडथ्वाल आदि। महिला महाविद्यालय में मानद प्राध्यापक के रूप में अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध और सबसे अधिक ऋषितुल्य डे वावा। अभियांत्रिकी महाविद्यालय के प्राचार्य के रूप में उस समय फिलपाट नामक अंग्रेज सज्जन थे। इसी प्रकार संस्कृत महाविद्यालय और विज्ञान महाविद्यालयों में राष्ट्र के चोटी के विद्वान सम.सीन थे जिसका समयाभाव से उल्लेख कर पाना इस समय संभव नहीं प्रतीत होता।

विश्वविद्यालय की रजत जयंती के पूर्व महामना ने देश-विदेश के प्रसिद्ध दर्शनशास्त्री डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन को अपना उत्तराधिकारी बनाया था। महामना की आंतरिक कामना थी कि यह रजत-जयंत्युत्सव अपने ढंग का अनुपमेय हो। इसीलिए उनके व्यक्तिगत आग्रह स्वरूप देश-विदेश के विश्रुत विद्वान, कुलपति, राजे-महाराजे और ऐश्वर्यशाली व्यक्तित्व एक मंच पर लाए जा सके। उनका प्रभविष्णु व्यक्तित्व ही कुछ ऐसा सामासिक था कि यह पर्व भारत की अनेकता का ज्योतिर्मय विम्ब वन गया। एक ओर बड़े-बड़े धर्माचार्यों के प्रवचन, दूसरी ओर सर सी० वी० रमण का स्लाइड के साथ भाषण, तीसरी ओर पं० ओंकारनाथ ठाकुर के निर्देशन में कामायनी का संगीत रूपक और चौथी ओर महाराजकुमार विजयानगरम के संयोजन में क्रिकेट के सर्वोच्च खिलाड़ियों का क्रीड़ा प्रदर्शन। ऐसा वैविध्य और उन्मेष तो फिर इस प्रागंण में देखने को नहीं मिला।

सबसे वड़ी बात तो यह थी कि महामना ने इस महोत्सव के मुख्य अतिथि के रूप में महात्मा गांधी को आमंत्रित किया था। महात्माजी के कारण उस समय की कांग्रेस की महासमिति के सदस्य पं० जवाहरलाल नेहरू, सरोजनी नायडू, वल्लभभाई पटेल, मौलाना अबुल कलाम आजाद, आचार्य कृपलानी, डा० जाकिरहुसेन आदि महारथियों के दल विश्वविद्यालय के प्रांगण में जिस ओर भी निकल जाते थे कौतूहल का समा बंध जाता था। महामना की वंदना के लिए जिस प्रकार राजेमहाराजे-सेठसाहूकार, राजनीतिज्ञ, शिक्षा शास्त्री उमड़ पड़े थे उनके राजर्षि वेष का प्रभामण्डल कुछ ऐसा प्रभासित हो उठा कि वार-बार राजर्षि जनक के प्रति सीता-माताकी उक्ति सर्वांश में सार्थक सी प्रतीत हो उठती थी।

पितु वैभव विलास मैं दीठा। नृप मणि मुकुट मिलित पद पीठा॥

इस महोत्सव का विस्तृत वर्णन तो समय की अपेक्षा रखता है। इस समय केवल एक छोटी सी घटना का उल्लेख कर मैं अपनी मातृ संस्था के मुकुट में जड़े हीरक की आरती उतारने का उपक्रम मात्र कर रहा हूं। महामना के परमप्रिय पौत्र स्व० श्रीधर मालवीय का सहपाठी होने के कारण मेरा उनके मंदिर में प्रवेश सहज हो गया था और यदा-कदा अपनी टूटीफूटी रचनाओं द्वारा उनका मनोरंजन करने का सुयोग भी सुलभ हो जाता था। उस समय की हमारी मित्रमण्डली में इतिहास के नवोन्मेषी युवा विद्वान डा० भगवतशरण उपाध्याय, राजबली पाण्डेय, नैपाल के भूतपूर्व प्रधानमंत्री बी० पी० कोइराला, कम्युनिस्ट पार्टी के उत्सर्गशील नेता रुस्तम सैटिन, भागलपुर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति देवेन्द्रप्रसाद सिंह, समाजवादी पार्टी के गुरुदेवशरण, राजस्थान के भूतपूर्व

गृह-सचिव विष्णुदत्त शर्मा आदि थ। अखिल भारतीय कांग्रेस के वर्तमान अध्यक्ष श्री बरुआ भी इसी मित्रमण्डली के सदस्य थे पर वे मुझसे एक दो वर्ष सीनियर थे। एक दिन अनायास ही महामना ने मुझे बुलवाकर कहा कि रजत जयंती के अवसर पर एक समवेतगान लिखकर लाओ। वैसे विश्वविद्यालय के कुलगीत के रूप में स्व० शांतिप्रसाद भटनागर का "मधुर मनोहर अतीव सुन्दर ये सर्वविद्या की राजधानी" तो लोकप्रिय था ही पर मुझे तो महर्षि मालवीय के आदेश का पालन कर स्वयं को धन्य करना था। मैंने एक तुकबंदी तैय्यार ही कर डाली। कुछ ऐसा संयोग हुआ कि वसंतपंचमी के दिन जब महात्माजी प्रातः ८ बजे के लगभग महामना से मिलने गए तो उन्होंने मुझे बुलवा भेजा। पहुंचते ही स्व० त्रिलोचन पंत जो महामना के मुख्य सचिव थे सीधे मुझे उसी कक्ष में ले गए जिसमें आजकल उनके बंगले के मुख्य द्वार की दाँई ओर महामना का चित्र रखा हुआ है। मैंने भावावेश में दोनों महापुरुषों के चरणों में मस्तक रख दिया। महामना ने मेरा कोई परिचय दिये बिना ही महात्माजी को उक्त समवेत गान सुनाने का आदेश दिया। मैं तो आत्मविभोर हो दोनों महापुरुषों को इतने निकट देखकर मंत्रमुग्ध सा खड़ा था, अतएव घबड़ाई हुई आवाज मे जल्दी-जल्दी कविता पढ़ने लगा—

हमारा विश्वविद्यालय, हमारा विश्वविद्यालय
हमारे ध्यान का मंदिर
हमारे ज्ञान का मंदिर
बसा गंगा किनारे
विश्व के सम्मान का मंदिर।
उठी बज बीन वीणापाणि की नव-ताल-स्वर-लय मय।
हमारा विश्वविद्यालय, हमारा विश्वविद्यालय ॥

महात्माजी ने अर्ध निमीलित नयनों से सिर हिलाया। जैसे ही मैंने दूसरा छंद पढ़ा कि महामना ने कहा कि इस छंद को निकाल दो। यह ठीक नहीं है। मैं हतप्रभ हो गया पर इसी क्षण बापू ने बड़े विनोदी भाव से कह कि "यह नेई निकल सकता, यह नेई निकल सकता"। ऐसा नहीं था कि दोनों में से किसी ने मुझे श्रेष्ठ कवि बनने का आशीर्वाद दे दिया हो पर मैं अपने भाग्य पर स्वयं ईर्ष्या कर रहा था कि विश्व के दो महानतम महापुरुषों को कविता सुनाने का यह सुयोग सुलभ होना मेरे कितने बड़े पुण्य का परिचायक है। जिस छंद पर दोनों में थोड़ीसी बतकही हुई, वह था —

हुआ युग धर्म का बंदा
फिरा दर दर किया चंदा
खड़ा होकर दिया उसने
पुनः भारत का नालंदा।
हमारे विश्वकर्मा की, हमारे मालवी की जय
हमारा विश्वविद्यालय, हमारा विश्वविद्यालय।

इसके बाद जल्दी-जल्दी सारी कविता पूरी कर मैंने पुनः दोनों के चरण स्पर्श किए। मालवीयजी ने वात्सल्यस्निग्ध नैनों से मुझे जाने का संकेत किया और मैं खोय-खोया बाहर

निकल गया। वाद में जव कुछ प्रकृतिस्थ हुआ तो ख्याल आया कि उस छंद में महामना की प्रशंसा आ गई थी अतएव उतना अंश निकलवा देना चाहते थे। आजकल हमारे शीर्षस्थ नेतागण अपने अभिनंदन में वड़े आग्रह से स्वागत गीत लिखाते हैं अथवा सुनकर पुलकित हो उठते हैं। यह कविता रजत जयंती उत्सव की स्मारिका के अंतिम पृष्ठ पर मुद्रित है जिसका सपादन अभियांत्रिकी महाविद्यालय के युवक व्याख्याता गोविंदवल्लभ पंत ने किया था। वाद में तो दो महर्षियों के बीच की यह क्षणिक नोक-झोंक विद्वानों की चर्चा का विषय वन गयी। इस महोत्सव में वाइसराय के प्रतिनिधि और विदेशी विद्वानों के उपस्थित रहने पर भी महात्माजी ने अपना दीक्षांत भाषण हिन्दी में दिया था। प्रारंभ में कुछ आवाजें अंग्रेजी की आईं पर युगदेवता की दीपशिखा सी आस्था उन झकोरों के बीच अचंचल वनी रही। इसके पूर्व भी जव एक वार महामना के जन्म दिवस पर मैंने लिखा था—

हे राजर्षि महर्षि दीन माता के भव्य पुजारी।

तो हमारे आराध्यदेव ने काफी देरतक मुझे राजर्षि और महर्षि का अंतर समझाते हुए स्नेहसिक्त झिड़की से कृतार्थ किया था। मैं रजत जयंती के इस सतत प्रज्वलित स्मृति दीप से हीरक जयंती के ज्योतिर्मय कलश की आरती उतारता हूं। इत्यलम्।

कुलपति, विक्रम विश्वविद्यालय
उज्जैन (म० प्र०)

पूज्य महामना—एक पुण्य संस्मरण

श्री एल० ओ० जोशी आई० ए० एस०

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की हीरक जयन्ती के सन्दर्भ में सहज ही मेरे स्मृति पटल पर ४५ वर्ष पूर्व का एक संस्मरण आलोकित हो उठता है और एक अन्तर-बाह्य शुभ्र करुणामय सौम्य और सुसंस्कृति मूर्ति उभर आती है। स्वराज्य प्राप्ति से १५ वर्ष पूर्व की बात है, पूज्य मालवीय जी इन्दौर पधार रहे थे। इस सूचना से होलकर कालेज के छात्रों में उत्कंठा जागृत हो उठी थी। उस समय देश में अंग्रेजी राज्य था परन्तु स्वराज्य की मांग बढ़ती ही जा रही थी। मालवीय जी न केवल विदेशी शासन के विरोधी राष्ट्रीय नेता थे वरन् वे भारतीय संस्कृति और परम्परा के एक अद्वितीय प्रतीक भी थे। शासकीय कालेज उन्हें अतिथि के रूप में निमंत्रित करने में हिचकता था परन्तु छात्र और अध्यापक उनका संदेश सुनने के लिए लालायित थे। इस दुविधा का समाधान महामनाजी ने स्वयं बड़ी सरलता से कर दिया। वे राजी हो गये कि कॉलेज के टेनिस कोर्ट्स पर खड़े-खड़े ही सम्बोधित करेंगे। इससे न अधिकारियों को परेशानी हुई और न छात्र उनके दर्शन से वंचित रहे।

इस "सौम्यवपु" महामना ने नीरव शांति के बीच जो उपदेश छात्रों को दिया उसका प्रभाव श्रोताओं के मन पर आज तक बना हुआ है। उनकी वक्तृत्व शैली अन्य नेताओं से बहुत ही भिन्न थी। उनकी आवाज मृदु, मधुर थी और सर्वत्र प्रसादगुण-प्रधान और गहरा प्रभाव करने वाली व्यंजना शब्द और अर्थ में लेश-मात्र भी छल, व्यंग तीखापन या कटुता नहीं। व्यक्तित्व पर ब्राह्मण संस्कृति की अमिट छाप—ललाट पर चंदन का टीका, सफेद साफा और दुपट्टा।

जिस प्रवचन को उनके श्रोता मंत्र मुग्ध होकर सुनते रहे उसमें उन्होंने अपने ही एक श्लोक की व्याख्या की, जिसमें महाविद्यालय परिवार के लिए उनका संदेश समस्त रूप में अंकित था। इस सूक्ति में उन्होंने मन, वचन, कर्म को व्यवस्थित विकसित और पुनीत करने वाले धर्म-सूत्र, सभी प्राचीन और अर्वाचीन कर्तव्यों और अधिकारों का समावेश बड़ी सुन्दरता से किया था और सूक्ष्म दृष्टि से, तात्कालिक और शाश्वत, तात्विक और व्यावहारिक का सम्पूर्ण समन्वय भी किया था—

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया
देशभक्त्याऽऽत्मत्यागेन सम्मानार्हः सदा भव ॥

सत्य और ब्रह्मचर्य, व्यायाम और विद्या, देशभक्ति और आत्मत्याग—इन्हीं के द्वारा तुम सदा सम्मान योग्य बनो।

उस समय उनके स्वागत में रचित पद्य की प्रथम पंक्ति ही आज ध्यान में आ रही है—

मदन मोहन महाचेतास् त्वदीयं स्वागतं कुर्मः।

६० वर्ष पूर्व इस महामना ने जिस सरस्वती मंदिर की स्थापना की थी उसके लिए इतने

उच्च आदर्श उन्होंने सामने रखे थे—प्राच्य और पाश्चात्य, ज्ञान और विज्ञान का सामंजस्य और विकास, प्राचीन भारतीय संस्कृति की गरिमा का पुनःस्थापन, देशभक्ति और आत्म-त्याग से सम्मान प्राप्त करना। इन आदर्शों को साकार करने में उन्होंने सारा जीवन लगाया; कभी न तो "निरग्नि" रहे और न "अक्रिय"। अग्नि में जो स्वाहा (आत्माहुति) और स्वधा (आत्म धारण) की शक्ति है वैसी ही शक्ति उन्होंने इस संस्था के परिवार के लिए कल्पित की और स्वयम् उसके उदाहरण बने। राजा से रंक तक इस संस्था के लिए दान मांगा और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का निर्माण किया। उन्होंने अंतिम समय तक यह कामना की कि उन्हें मोक्ष न मिले, वरन् इस संस्था के उज्ज्वल भविष्य को संवारने के लिए वे वार वार जन्म लें। ऐसे मनीषी के विषय में ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी आत्मा आज भी हमारे बीच है और वह देख रही होगी कि हम इन आदेशों और संकल्पों के कितने अनुरूप हैं और कितने विपरीत। सुना है कि तिब्बत में यह धारणा प्रचलित थी कि प्रतिक्षण दलाइलामा उनके भक्तों को देख रहे हैं। इससे उनके आचार विचार नियमित रहते थे। यह वड़ी सुन्दर कल्पना है। यह विश्वविद्यालय इस हीरक जयन्ती वर्ष में यह क्यों न सोचे कि "महामना हमें देख रहे हैं।" क्या उन्हें हमारे आचार विचार और व्यवहार से संतोष हो रहा है ?

इस प्रश्न का उत्तर मेरी सामर्थ्य के बाहर है परन्तु यह उचित है कि हम में से प्रत्येक इस प्रश्न का ऐसा प्रामाणिक उत्तर दे सके जिससे वह स्वयम् संतुष्ट हो और महामना भी।

सलाहकार, कुलपति
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

———

पुण्यश्लोक महामना मालवीयजी :

जिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करौं ।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

मुझे निरन्तर २४ वर्षों तक महामना मालवीयजी का सन्निध्य तथा उनकी निःसीम कृपा प्राप्त करते रहने का सौभाग्य मिला है। यद्यपि मुझे महात्मा गाँधी के साबरमती आश्रम और कविवर रविन्द्रनाथ ठाकुर के शान्तिनिकेतन में रहने का भी मधुर सुयोग प्राप्त हुआ किन्तु महामना मालवीयजी के अत्यन्त निष्कपट, निष्कलुष और अछिद्र औदार्यपूर्ण जीवन से मैं सबसे अधिक प्रभावित हुआ। और क्यों ?

सन् १९३५ में जब मैं महामना मालवीयजी का जीवनचरित लिख रहा था उन दिनों सौभाग्य से मालवीयजी महाराज के अनुज श्री श्यामसुन्दरजी और उनकी बड़ी बहन यशोदा देवी जीवित थीं जिनसे मालवीयजी के बालजीवन और तरुणजीवन की बहुत-सी घटनाएँ ज्ञात हो पाईं। बहुत-सी घटनाए स्वयं मालवीयजी ने बताईं, बहुत-सी उनके मित्रों ने बताईं और बहुतोंका मैं स्वयं साक्षी रहा। इनमें से कुछ घटनाएँ ऐसी भी थीं जिन्हें महामना मालवीयजी ने छापने की अनुमति नहीं दी थी। उनमें से एक-दो घटनाएँ अब प्रकट कर देने में कोई दोष नहीं है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए सारे भारत में आन्दोलन व्याप्त हो गया था किन्तु मालवीयजी का संस्कार तो यह था कि दैवी सहायता के बिना यह संभव नहीं है। इसलिए उन्होंने त्रिवेणी तट पर बड़े हनुमानजी के मन्दिर में एक लाख गायत्री मन्त्र का पुरश्चरण किया। जब उनके पिताजी ने कहा कि वकालत के साथ हिन्दू विश्वविद्यालय का काम नहीं चल सकता तो उन्होंने तत्काल अपनी चमकती वकालत को लात मार दी और विश्वविद्यालय के लिए सबसे पहला ५१) का दान उनके पिताजी ने ही दिया।

नगवा की भूमि में जब आर्ट्स कालेज का भवन बना तो उसके सभा भवन की छत में बड़ा विशाल सरस्वतीजी का रंगीन चित्र बनवाया गया। चित्र बन जाने पर मूर्ति के अंग-प्रत्यंग बहुत बड़े होने के कारण बड़े अभद्र लगने लगे। यह देखकर वह चित्र मिटवा दिया गया जिसके बनवाने में लगभग साठ हजार रुपये लगे थे। उन दिनों हिन्दू विश्वविद्यालय समिति की अध्यक्षा डा० एनी बेसेंट थीं। काशी के ही विशिष्ट नागरिक ने इसी बात पर मालवीयजी पर अविश्वास का प्रस्ताव उपस्थित कर दिया। प्रस्ताव उपस्थित किए जाते ही डा० एनी बेसेंट ने अत्यन्त मार्मिक शब्दों में कहा—'भारत के जिस सपूत ने इस विश्वविद्यालय के लिए एक करोड़, ३२ लाख रुपये एकत्र किए हैं और जिसकी निष्ठा तथा जिसके त्याग पर हमें गर्व होना चाहिए उस पर हम अविश्वास का प्रस्ताव लावें इससे बड़ी कृतघ्नता और क्या हो सकती है। अतः, मैं अविश्वास प्रस्ताव की अनुज्ञा न देते हुए विश्वास का प्रस्ताव प्रस्तुत करती हूँ।' और वह विश्वास का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ।

जिन दिनों पंडित लज्जा शंकर झा जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के ट्रेनिंग कालेज के प्राचार्य थे, उन दिनों वे प्रथम और द्वितीय श्रेणी के छात्रों को ही भरती करते थे। संयोग से श्री जुगलकिशोर बिड़ला ने एक तृतीय श्रेणी के स्नातक को मनोनीत कर भेजा। झा जी ने उसे भरती नहीं किया। इस पर मालवीयजी ने उनसे कहा कि 'जब हम तृतीय श्रेणी में किसी छात्र को उत्तीर्ण घोषित करते हैं तब हम उन्हें भरती होने से कैसे वंचित कर सकते हैं और कभी-कभी प्रथम श्रेणी वालों की अपेक्षा तृतीय श्रेणी वाले स्नातक अच्छे अध्यापक सिद्ध होते हैं।' वह छात्र भरती कर लिया गया।

मुरादाबाद का एक सम्पन्न घराने का छात्र घर से प्राप्त द्रव्य का दुरुपयोग करता रहा। उसने कभी शुल्क नहीं दिया। जब परीक्षा में सम्मिलित होने से उसे रोक दिया गया तब वह मालवीयजी की शरण में पहुँचा कि मैं दीन हूँ शुल्क नहीं दे सकता। उस छात्र को भलीभाँति जानने वाले एक अध्यापक ने मालवीयजी महाराज से कहा कि यह छात्र निर्धन नहीं है। इस पर मालवीयजी ने कहा—'यह निर्धन भले ही न हो किन्तु वह शुल्क नहीं दे सकता। इसके माता-पिता ने हमारे विश्वास पर इसे यहाँ भेजा है। हमारा धर्म था कि हम इसकी गतिविधि पर प्रारंभ से ध्यान देते और शुल्क देने की प्रेरणा करते किन्तु हमने यह नहीं किया। नैतिक दृष्टि से अब हम इसे परीक्षा से वंचित नहीं कर सकते, हम इसके पिता को कौन-सा मुँह दिखावेंगे। मालवीयजी ने उसे शुल्क-मुक्त करके परीक्षा में बैठने की आज्ञा दे दी। ऐसे एक-दो नहीं, असंख्य उदाहरण विद्यमान हैं।

मालवीयजी महाराज ने अपने जीवन-काल में अपने किसी सम्बन्धी को हिन्दू विश्वविद्यालय में कोई नौकरी नहीं दी। एक बार पंडित रमाकान्तजी के एक अत्यन्त सुयोग्य सम्बन्धी का चयन विश्वविद्यालय के एक सम्मानित पद पर हो गया। उस समय सर राधाकृष्णन् कुलपति थे। मालवीयजी ने तत्काल पत्र लिखकर उस नियुक्ति का विरोध किया कि मेरे संबंधी की नियुक्ति यहाँ नहीं हो सकती। सर राधाकृष्णन् ने आकर पूछा कि क्या आपका संबंधी होना पाप है। इस पर बड़ी दृढ़ता से मालवीयजी ने कहा हाँ, हिन्दू विश्वविद्यालय में नौकरी ढूँढ़ने के लिए मेरा संबंधी होना अवश्य पाप है। आज जिस युग में लोग अपनी स्थापित की हुई संस्थाओं में केवल अपने ही संबंधियों को भरने की ताक में रहते हैं, वे क्या मालवीयजी से कोई शिक्षा नहीं ले सकते।

महामना मालवीयजी से बहुत लोगों ने कहा कि आप प्रयाग के होकर काशी में क्यों विश्वविद्यालय स्थापित करना चाहते हैं, इस पर उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया था कि काशी विद्या का केन्द्र है, वहीं विश्वविद्यालय स्थापित होना चाहिए।

आजकल सभाओं में अतिथियों को जो मालाएँ पहनाई जाती हैं उन्हें वे तत्काल उतार कर रख देते हैं। मालवीयजी इसे बहुत बुरा समझते थे। एक बार उज्जैन की एक सभा में मेरे इस व्यवहार पर उन्होंने मुझे समझाया था कि पहनाई हुई माला उतार कर रखने से माला पहनाने वाले का और माला का दोनों का अपमान होता है। उन्होंने इस प्रसंग में प्रयाग के उर्दू कवि 'बिस्मिल' के गुरु 'नूह' नारवी का एक शैर सुनाया—

हारों में गुंथे जकड़े भी गये गुलशन भी छुटा सीना भी छिदा।
पहुँचे मगर उनकी गरदन तक यह खुशइकबाली फूलों की॥

इसी के साथ उन्होंने और भी एक बड़ी विचित्र बात यह बताई कि सभाओं में कभी-कभी कुछ ऐसे कुडीठे भी आ बैठते हैं जिनकी कुडीठ वक्ता को जा लगती है। माला पहनने से वह कुडीठ वक्ता को न लगकर माला को ही लग जाती हैं।

मालवीयजी महाराज का धैर्य अद्भुत था। उनका कोई कितना भी समय क्यों न नष्ट करे, वे किसी को 'नहीं' नहीं करते थे। गांधी जी का अभ्यास था कि वे जिसको जितना समय देते थे उससे अधिक यदि कोई बैठा रह जाता तो वे स्वयं अपने मुँह पर कपड़ा डालकर वैठ जाते। झख मारकर आगन्तुक को चला जाना पड़ता। पर मालवीयजी तो अत्यन्त धैर्यपूर्वक, स्थिर होकर वक्ता को बोलते रहने देते थे, न टोकते थे, न जाने को कहते थे। एक बार इटावे के एक सज्जन मालवीयजी के पास इस सोरठे की मीमांसा करने आ पहुँचे—

संकर चाप जहाज, सागर रघुबर बाहुबल।
बूड़े सकल समाज, चढ़े जो प्रथमहिं मोहबस।

मालवीयजी महाराज ने उन्हें भली-भाँति समझा भी दिया फिर भी वे दिन में ३।। बजे तक और रात को ८ बजे से लेकर १।। बजे तक अपना तर्क देते रहे। मालवीयजी का धैर्य तो विचलित नहीं हुआ पर मेरा धैर्य विचलित हो गया। मैं उन सज्जन को किसी प्रकार फुसलाकर बाहर ले आया और मैंने उन्हें बड़े आड़े हाथों लिया कि इस वृद्धावस्था में आप उन्हें यह कष्ट दे रहे हैं और इतना समझा देने पर भी समझ नहीं रहे हैं। यह कहकर मैंने उन्हें गाडी में बिठाकर स्टेशन पहुँचा दिया और इटावे का टिकट लेकर उन्हें सवेरे की गाड़ी में चढ़ा दिया। वे भुनभुनाये भी बहुत और उन्होंनें एक बड़ी लंबी चिट्ठी मालवीयजी को लिखी कि आपके लंबे से काले से गण ने मेरा बड़ा अपमान किया आदि। मालवीय जी ने मुझ से कहा कि उनके साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए था, उन्हें क्षमापत्र लिखो। उन्होंने स्वयं बोलकर मुझसे तो क्षमापत्र लिखवाया ही, साथ ही उन्होंने अपनी ओर से भी एक क्षमापत्र लिख दिया।

ऐसे महान्, उदार, दिव्य महापुरुष थे महामना मालवीयजी महाराज। यह जानकर संतोष हुआ कि 'प्रज्ञा' का विशेषांक निकल रहा है। मैं भी उसमें कुछ योग दे सका, इसका मुझे गर्व भी है, सन्तोष भी।

चतुर्वेदी निवास, बेनियाबाग, वाराणसी।

———

शुभाशंसा

स्वर्गीय आचार्य पं० केशव प्रसाद मिश्र

मथ्नन्ति यत्र मतिमन्थशतैर्महार्थान्
हालाहलामृतमयान् निगमागमाब्धीन् ।
मन्दादराः परपरीक्षितवर्त्तनीषु
नानाविधाध्वधनिनो धिषणाधुरीणाः ॥ १ ॥

माद्यन्ति मेदुरमदा मनयो न यूनां
लब्धेन गीर्गुणगणेन वशीकृतानाम् ।
वीतस्मया परनिधानविधानकामा
यत्रार्जयन्ति कणशः क्षणशश्च विद्याम् ॥ २ ॥

जीवातुरार्यकुलमन्जुलसंस्कृतीनां
केनाप्यगम्यविभवेन विलासिनीनाम् ।
साम्यस्पृशा सपदि मित्रदृशा विशालान्
कालानुगान् परगुणांश्च समीक्षते यः ॥ ३ ॥

रम्याणि यस्य भवनानि भृशं भवन्ति
यद् भारतीरतिकराणि निवासहेतोः ।
शस्यानि सारसमयानि वरीवरीतुं
कीलालमेव विमलं किल वीर्यवत्तत् ॥ ४ ॥

सत्येन शीलसुभगेन दृढ़व्रतेन
दाक्षिण्यतो रुचिरवाग्विभवेन धाम्ना ।
वृत्या च रन्जनकृतोपकृतिप्रसर्प-
द्धिष्ण्येन यस्य जनको ननु कस्य नार्च्यः ॥ ५ ॥

होराशतांशमपि नो गमयेत् स देशे
तीव्रानुरागरहितं न हितं हि तत्स्यात् ।
रक्षांसि यान्तु विलयं समुपद्रवन्ति
हेरम्बतातचरणाम्बुजसम्प्रसादात् ॥ ६ ॥

———

(हिन्दी रूपान्तर)

महामना मालवीय जी के साकार यश की सदा वृद्धि होती रहे

जहां बड़े-बड़े धुरन्धर धीमान् हलाहल और अमृत, सत् और असत् दोनों से लबालब भरे निगम (परंपरा प्राप्त ज्ञान राशि) और आगम (अपनी उपज की ज्ञानराशि) के महासागरों से बड़ी-बड़ी बातें अपनी सैंकड़ों मति मथानियाँ चलाकर मथा करते हैं, दूसरों की बताई पगडंडियों पर चलने से हिचककर नये-नये रास्ते निकाला ही नहीं करते उन पर अधिकार रखते हैं, जहां के नवयुवकों की उमंग भरी उपजाऊ बुद्धियों पर सरस्वती की उपासना से उपजे गुणों का कुछ ऐसा अंकुश रहता है कि वे बहकने नहीं पातीं, प्रत्युत वे तरुण वीर अपने उपार्जन पर नाज न करके बड़े से बड़े निधान के विधान की कामना करते जहां क्षण-क्षण विद्या के कण-कण बटोरा करते हैं, न जानें अपने किस अगम्य वैभव के नाते जो अब तक फूलती फलती चली जाती है उन आर्यकुल की मंजुल संस्कृतियों को जीवन की नई-नई घूंट पिलाने वाला जो काल के प्रवाह में वहते परकीय संस्कृतियों के विशाल गुणों को आये दिन समता भरी मित्रदृष्टि से देखता है, जिसके रम्य भवन अपनी रमणीयता के कारण भारती (भारत की सरस्वती) में जो टिके रहने का अनुराग उत्पन्न कर देते हैं वह तो ठीक ही है, कमलों की खेती को अपना लेने में विमल जल का ही वीर्य समझना चाहिए, जिसका जनक अपनी सचाई, शुचि चरित के कारण चमक उठी दृढ़ता, दाक्षिण्य (सर्वानुकूलता-हरदिल अजीज तबीयत), रुचिकर वाणी की संपन्नता, निराली प्रभा, लोकरंजन वृत्ति तथा परोपकार की ओर बढ़ने वाली अघट शक्ति से किसका वन्दनीय नहीं। वह (महामना का साकार यश, विश्वविद्यालय) ऐसा एक पल भी न निकल जाने दे जो सजीव देशभक्ति से शून्य हो, क्योंकि ऐसा करना उसके लिए हितकर नहीं। विश्वनाथ की इस पर ऐसी दया बनी रहे कि इसके अनुष्ठान में विघ्न डालने वाले राक्षस जहां के तहां विलीन हो जांय।

———

वे दिन वे यादें !

डॉ० भगवत शरण उपाध्याय

आधी सदी पुरानी बात है जब इन्टरमीडिएट के पहले साल में पढ़ता था। चौथे हॉस्टल में रहता था, उसी में मेरे तींन मित्र राममनोहर लोहिया, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रुद्रदत्त भारद्वाज-भी रहते थे। हम साथ ही कॉलेज जाया करते ! एक दिन जब अभी ग्यारह बजनेवाले थे, हम चारों एक साथ कॉलेज चले। तीनो मेरे ही कमरे में आ बैठे थे और हम चारो कमरे से बाहर निकलने ही वाले थे कि मालवीय जी और दो तीन आदमी कमरे में दाखिल हुये। हम सब सकपका कर खड़े हो गये। रास्ते में एक बाल्टी रखी थी जिसे जल्दी में ब्लाक सर्वेंट रखकर हट गया था।

मालवीय जी ने पूछा, "यह बाल्टी यहाँ क्यों रखी है ?" तीनों मित्र तो इधर उधर देखने लगे और मैंने घबड़ाहट में बजाय इसका जवाब देने के कि बाल्टी यहाँ क्यों रखी है कहा, "रामनाथ पाठक का चरखा भीतो वहीं रखा है।" मालवीय जी मुस्कराये भी पर मूछों के अन्दर ही, जिस से मुस्कराहट दिखायी नहीं पड़ी।

मालवीय जी दरवाजे से हट कर बरामदे में आये। हमलोग भी बाहर चले आये। उन्होंने हम सब को ध्यान से देखा, हम रुक गये। तभी उन्होंने फिर सवाल किया— "कसरत करते हो ?" चारों ने एक साथ जवाब दिया, "जी हाँ।"

उन्होंने झट कहा--"किताबें रखो और तुरन्त दण्ड लगाओ, दस-दस।" मैंने प्रकाश चन्द्र गुप्त की ओर देखा जो हम सबमें कमजोर थे, उन्होंने राम मनोहर लोहिया की ओर देखा, राम मनोहर लोहिया ने रुद्रदत्त भारद्वाज की ओर। तभी जोर से आवाज सुन पड़ी—"सुनायी नहीं पड़ा ? दण्ड लगाओं" !

पहलवानी और अखाड़े की धूल से मुझे सदा से एलर्जी थी, और जहाँ अकेले में भी मेरे लिये दण्ड लगाना सम्भव न था वहाँ सरे आम मुझसे दण्ड कैसे लग पाते। मैं इसी उधेड़ बुन में था कि क्या उपाय करूँ कि जान बचे कि राममनोहर लोहिया ने मेरा काम आसान कर दिया। किताबें उन्होंने प्रकाश चन्द्र को थमायीं, उनपर गांधी टोपी रखी और दण्ड लगाने को जैसे ही झुके मैं रफूचक्कर हुआ। बराबर डर लगा था कि पीछे लोग दौड़ रहे हैं, पर आर्ट्स् कॉलेज में जाकर ही मैंने दम लिया।

मालवीय जी से वह मेरा पहला साक्षात्कार था। दूसरा साक्षात्कार तब हुआ जब मैं विश्वविद्यालय में काम करने गया। मेरी नियुक्ति स्वयं उन्होंने ही प्रिंसिपल के० वी० रगांस्वामी आयंगर के साथ की थी। पर उसकी बात यहाँ नहीं कहूंगा, उस तीसरे साक्षात्कार की बात कहूंगा जो अक्सर मुझे याद आ जाया करता है।

मालवीय जी ने मुझे साढ़े दस बजे सुबह बुलवाया था। मैं उससे पहले अनेकों बार उनसे मिल चुका था और उनका कृपा भाजन भी बन चुका था। जाड़ों के दिन थे,

बँगले के पिछले वारामदे की धूप में मालवीय जी लेटे थे और नौकर उन्हें तेल की मालिश कर रहा था। इत्तला की गयी और उन्होंने मुझे भीतर बुला लिया। कुछ कुर्सियाँ भी पड़ी थीं। एक कुर्सी की ओर आँख का इशारा पाकर भी मैं खड़ा रहा उन्होंने कहा, "बैठ जाओ", मैं फिर भी खड़ा रहा इतने महान् व्यक्तित्व के सामने जो स्वयं भूमि पर लेटा था मैं कुर्सी पर कैसे बैठ पाता ? उन्होंने मेरा असमंजस समझा, कहा, "भूमि पर ही बैठ जाओ, कब तक खड़े रहोगे ? मैं भूमि पर बैठ गया, पर बराबर यही विचार मन में उठ रहा था, जो पिछली शाम से ही उठता आया था, कि उन्होंने मुझे बुलाया कैसे ? आखिर बात क्या है ?

मेरे भूमि पर बठते ही उन्होंने पूछा, "सरयूपारीण हो न ?" मैंने कहा, "जी हाँ"। उन्होंने फिर पूछा, "हरनन्दन के दामाद हो ?" मैंने उत्तर में फिर कहा, "जी हाँ।" उसके बाद जो सवाल हुआ वह मेरे लिए उनके सामने जैसे बम का धमाका था—"यज्ञोपवीत नहीं पहनते ?"

दूसरों के सामने तो इस प्रश्न का मजाक ही उड़ा देता पर जब मालवीय जी के मुँह से वह प्रश्न सुना तो घवड़ाहट हुई। कुछ जवाब न दे सका, चुपचाप अपराधी की भांति, उस अपराध के समक्ष जिसे अपराध समझना न था नीचे देखता अवसन्न बैठा रहा। मालवीय जी ने फिर पूछा, "यज्ञोपवीत पहने हुये हो ?"

मैंने कहा, "जी नहीं"।

"पहनते नहीं ?" उन्होंने पूछा।

बड़ी धीमी आवाज में मैंने कहा, "जी नहीं, नहीं पहनता।"

"घर में सबको मालूम है ?"

"शायद नहीं।"

"माता-पिता ने नहीं सुना ? कभी नहीं पूछा ?"

"जी, पिता जी ने तो कभी नहीं पूछा और माता जी के सामने जब कभी संकल्प के लिये जनेऊ अंगूठे में डालना होता है तब उसे किसी मित्र से मांग लाता हूँ।"

यानी माँ से भी धोका करते हो ?"

मैं निरुत्तर था।

"बोलो," मालवीय जी ने फिर पूछा,

"एक पाप को छुपाने के लिए दूसरा पाप करते हो ?"

बोलने का मैंने निश्चय कर लिया था और उत्तर में बहुत धीरे से बोला, "जी, यज्ञोपवीत नहीं पहनना मैं पाप नहीं मानता, माँ को धोका देने का पाप निश्चय ही मैंने किया है, पर वह इसलिए कि माँ मेरे तर्क को नहीं समझ सकेंगी और उसका मन दुखी होगा। इसी से वह काम किया जिसे आप पाप कहते हैं, पर इसे मैंने उन्हें 'शॉक' से बचाने के लिये ही किया।"

"यज्ञोपवीत कब से नहीं पहना ?"

"प्राय: बारह वर्ष से," मैंने उत्तर दिया, "जब से जेल से छूटा और पढ़ने के लिये काशी विद्यापीठ पहुँचा।"

मालवीय जी कुछ उत्सुक से हुये। मालिश करने वाले का हाथ हटा कर कुछ बैठे-से हो गये, मेरी ओर मुँह कर के पूछा, "वहाँ क्या कुछ विशेष बात हो गयी ?"

"जी हाँ," मैंने पूरी कथा कह देने का निश्चय किया,

"असहयोग आन्दोलन में साल भर जेल काट कर निकला था। पढ़ने की इच्छा प्रबल थी, पर सरकारी स्कूलों में जाना गांधी जी ने मना कर दिया था। चूँकि काशी विद्यापीठ राष्ट्रीय संस्था मानी जाती थी, मैं वहाँ नाम लिखाने पहुँचा। जब पहुँचा तो देखा विद्यार्थियों की भीड़ खड़ी है और डा० भगवान दास, विद्यापीठ के कुलपति, भाषण दे रहे हैं। उनका भाषण 'ब्राह्मण जन्म से होता है या गुण से' इस विषय पर हो रहा था। प्राय: घण्टा भर वे बोले और उन्होंने स्थापित किया कि ब्राह्मण गुण से होता है, जन्म से नहीं।

"जात-पाँत का प्रबल विरोधी मैं अपने आर्य समाजी पिता के तर्क से कब का हो चुका था, और अब गांधी जी के विचारों ने तो वह विरोध पक्का कर दिया था। फिर जेल तो वर्णवाद के सारे विचारों को आचारत: दबा देता है। सो मन में हुआ कि जहाँ गांधी जी वर्ण व्यवस्था के विरोध में सदा बोल ते हैं और जिस वर्ण व्यवस्था ने भारत को अनेक प्रकार से कमज़ोर कर दिया है वहाँ उसी की प्रतिष्ठा एक प्रकार से डा० भगवान दास, वैश्य होकर कर रहे हैं, आश्चर्य है। मुझे अत्यन्त अरुचिकर लगा और सभा समाप्त होते ही मैं उनके पास पहुँचा। मैंने कहा, 'वर्ण-व्यवस्था सर्वथा त्याज्य होनी चाहिये, ऐसा मानता हूँ, पर ऐसा मानकर भला ब्राह्मण की गुण अथवा धर्म से प्रतिष्ठा कैसे स्वीकार कर सकता हूँ ? आपकी यह स्थापना मानवीयता और गांधी जी के विचारों दोनों के विरोध में है'। मैंने तभी अपना यज्ञोपवीत निकाल कर नीचे रख दिया और बोला, 'मैं इसका त्याग करता हूँ। अब इसे नहीं धारण करूंगा। कृपया आप ही इसे धारें।' तब से मैंने जनेऊ नहीं पहना। यही मेरी यज्ञोपवीत छोड़ने कीपूरीकथा है।"

मालवीय जी, लगा, बहुत दु:खी हुये। मन उनका जैसे मथ गया। चुप हो गये, दो तीन मिनट चुप रहे, फिर बोले, "यज्ञोपवीत पहनना चाहिये, पहना करो।"

मैं कुछ बोला नहीं, चुपचाप उनके पैर छुए, उनकी ओर निमिष भर देखा और चला आया। जनेऊ मैंने फिर भी कभी नहीं पहना, यद्यपि उस महामना की बात न मान पाने का कष्ट मन में बना रहा।

फिर जो मालवीय जी के साथ साक्षात्कार हुआ वह नहीं के बराबर था कारण कि वे दिवंगत हो चुके थे, और उनका शव लोगों के अन्तिम दर्शन के लिये रखा था। उसकी परिक्रमा कर घर लौटा। राह में अनेक विचार उठते गये-अन्तरंग में लय-विलय होते गये-१८८५ में कालाकांकर के राजा रामपाल सिंह की संरक्षा में कांग्रेस के अधिवेशन में

२४ वर्ष की आयु में अद्भुत वक्तृता, भारतीय राजनीति में उत्तरोत्तर प्रगति, अनेक बार राष्ट्रीय कॉंग्रेस की अध्यक्षता और वह अद्भुत स्वप्न और उसकी परिणति-काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का निर्माण। फिर याद आया १९१, में भारत के वाइसराय लार्ड हार्डिंज द्वारा विश्वविद्यालय का शिलान्यास, उस समारोह में राजाओं का सघंट्ट और उनके मुकुटों-कँलगियों के नीचे जन नेता अधनंगे गांधी का खड़ा होकर सबको यह याद दिलाना कि भारत में इन राजाओं के अतिरिक्त एक भूखी नंगी जनता भी है, इस वक्तव्य की प्रतिक्रिया में एनीबेसेटं का क्रोध में सभा का परित्याग-विश्वविद्यालय के भू-विस्तार पर नये-नये भवनों का निर्माण, विद्वानों का यत्र-तत्र-सर्वत्र से आगमन और अध्यापन, भारत और भारतेतर देशों से विद्यार्थियों का आगमन, तक्षशिला, नालन्दा-विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों को अपने अंक में भर कर उनसे भी ऊपर उठ जाय, ऐसे विशाल और विस्तृत ज्ञानपीठ का उदय—सारा अकेले एक व्यक्ति के सपनों का साक्षात्कार और वही महान् विभूति आज निश्चल, नीरव, निर्जीव! मुंह से अनायास निकल पड़ा—

तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना !

गन्धमादन
९, प्रीतमरोड
देहरादून (उ० प्र०)

———.--

स्मृतियों के वातायन से

पद्मा श्रीवास्तव

विश्वविद्यालय छोड़ने के तीस वर्ष बाद उसके हीरक जयन्ती के पुण्य पर्व के संदर्भ में जब कुछ लिखने का निमंत्रण प्राप्त हुआ तो एक विचित्र आह्लाद की अनुभूति ने हृदय को झकझोर दिया। सोई हुई स्मृतियों के झरोखे से झांकती हुई उभरी एक तस्वीर—एक सोलह वर्षीय भयभीत सी बाला की, जिसके मन में एक कल्पना थी कुछ कर गुजारने की, भावना थी देश को आजाद कराने की। तब हमें स्वतंत्रता नहीं मिली थी और हमारे सामने एक स्वप्न था—अमीर-गरीब नर-नारी के भेद रहित, असमानता एवं शोषण से मुक्त, सामाजिक न्याय पर अवलम्बित एक स्वस्थ समाज के सृजन का। किन्तु वसन्ताश्रम के प्रांगण में मात्र संगीत, साहित्य की कलात्मकता की परिधि से निकले बिना समाज बदलने का यह स्वप्न पूरा होगा कैसे ?

आजादी की लड़ाई में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मानों आलोक बिकीर्ण कर रहा था 'दिशा' ढूढ़ने वाले नवयुवक नवयुवतियों को। आजाद हिन्द फ़ौज के लिए वसन्ताश्रम में हड़ताल कराने वाली एवं चन्दा एकत्रित करने वाली उस बाला ने निश्चय किया काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने का। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय उसे मौन आमन्त्रण दे रहा था और फलस्वरूप १९४६ में मैंने १६ वर्ष की अवस्था में विश्वविद्यालय के महिला विद्यालय में पदार्पण किया

उस समय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पूरे देश के बुद्धिजीवियों के लिए विशेष आकर्षण का केन्द्र था। १९४२ के राष्ट्रीय आन्दोलन में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अनेक साहसी छात्र-छात्राओं ने भाग लिया था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध विप्लव के प्रतिनिधित्व में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की अप्रतिम भूमिका थी, साथ ही अग्रणी राष्ट्रीयता एवं देश भक्ति का तो यह गढ़ ही था। देश भर के राष्ट्रीय नेता यथा पं० जवाहरलाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्र देव, शिव वर्मा, जयदेव कपूर जब-तब यहाँ आते रहते थे। सारा वातावरण राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत था। यह भारत के समस्त प्रान्तों की भाषा, संस्कृति, वेश-भषा एवं ज्ञान का एक अनूठा गुलदस्ता था। बंगाल, सिन्ध, पंजाब, आसाम, महाराष्ट्र, गुजरात आदि के निवासियों के न मालूम कितने सांस्कृतिक उत्सव जब-तब होते रहते थे। पूरे विश्वविद्यालय प्रांगण का अपना अलग अस्तित्व था, उसकी अलग दुनियाँ थी। आजादी से पूर्व की प्रभातफेरियां, शहीद दिवस एवं भगत सिंह दिवस पर निकालने वाले जुलूस, वे सभायें, गांधीवाद के प्रचार की वे अध्ययन गोष्ठियां, प्रातः कालीन प्रार्थना सभाएं क्या कभी भूलने की चीज हैं, उन्हें कौन भूल सकता है ?

हम छात्राओं में विचित्र आकर्षण एवं दर्प था। हमारी प्राध्यापिकाओं के व्यक्तित्व में एक विचित्र सम्मोहन एवं अद्‌भुत आकर्षण था। कुछ स्मृतियाँ मानस पर आज भी अंकित हैं। जिनमें डा० पद्मा मिश्रा का व्यक्तितत्र है, जिन्होंने एक बार डूबती हुई एक छात्रा को बचाया था। श्रीमती डा० ज्ञानवती त्रिवेदी, श्रीमती विद्या गुप्ता, श्रीमती

शान्ति वाजपेयी, स्व० डां० लक्ष्मी मेनन आदि का सौम्य स्वभाव अविस्मरणीय है। इस सारे परिवेश की पावनता के अपूर्व प्रभाव से मेरा व्यक्तित्व अछूता न रह सका। छात्र कांग्रेस की सभाओं एवं गाँधी प्रचार गोष्ठियों में चुपचाप बैठने वाली वालिका, समय-समय पर राष्ट्रीय गीतों को राष्ट्रीय सभाओं में गाने वाली छात्रा कब एक सबल साहसी व्यक्तित्व बन गई उसे स्वयं पता न चला। किन्तु यह सत्य है कि उसमें साहस का सञ्चार किया काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रांगण ने।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एक महान विश्वविद्यालय था, आज भी है एवं आगे भी महान रहेगा। यह तो एक बड़ा दर्पण है जिसमें समय-समय पर बदलते हुए समाज का चित्र सदा प्रतिबिम्बित होता आया है "देश के अनेकानेक नेताओं एवं समाज सेवियों को इसने जन्म दिया है। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि वर्तमान कांग्रेस (सत्तारूढ़) के अध्यक्ष श्री देवकान्त बरुआ एवं भारतीय साम्यवादी दल के महामंत्री कामरेड राजेश्वरराव इ ी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की उपज हैं। वरिष्ठ मंत्रियों में श्री जगजीवन राम का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल श्री लक्ष्मीकान्त झा एवं मध्य प्रदेश के युवा मुख्यमंत्री पं० श्यामाचरण शुक्ल इसी पुण्य भूमि की देन हैं।

मेरे तत्कालीन साथियों में श्री चन्द्रजीत यादव, डा० राजेन्द्रकुमारी वाजपेयी, श्री लोकपति त्रिपाठी एवं प्रभुनारायण सिंह भी उल्लेखनीय हैं।

इस पुनीत काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को जन्म दिया महामना मदन मोहन मालवीय ने जिनकी हम सबके मन पर एक अमिट छाप विद्यमान है। हमें याद है वे क्षण जब हम उनसे मिलने यदा-कदा जाया करते थे। उनकी पौत्री विभा मालवीय, राजेन्द्र कुमारी, कणिका विश्वास, उषा भटनागर, हेमलता, वीरबाला, मैं। मृत्यु के पूर्व जब वे अत्यन्त रुग्ण थे तब हम सब उनसे मिलने गये थे। अत्यन्त रुग्ण होने पर भी उनके मुख मण्डल पर त्याग तपस्या का अपूर्व तेज व्याप्त था। यदि हम माथे पर बिन्दी लगाना भूल जाएं तो वे सहज भाव से कह देते थे 'हिन्दू ललना का भाल सूना नहीं होना चाहिए।' रोली के टीके का तब मानो चलन था कुमारिकाओं के लिए। सिन्दूर का टीका विवाहिताएं लगाती थीं।

'हिन्दू' शब्द कोई संकीर्ण साम्प्रदायिक शब्द न था, न है। यह तो हिन्दुस्तान में रहने वाले 'भारतीय' शब्द का पर्याय था। 'भारतीय' एवं 'हिन्दू संस्कृति' में कोई मूलभूत अन्तर न था। साम्प्रदायिकता की तो लेशमात्र छाया भी न थी इस शब्द में तब।

महामना का स्वप्न था काशी में 'हिन्दू विश्वविद्यालय' की स्थापना का। इसकी स्थापना में उन्होंने एक ओर जहाँ काशी नरेश एवं अन्य देशी नरेशों से दान लिया वहीं एक गरीब रिक्सा चालक के पैसे के दान को भी उतना ही महत्व दिया। ऐसी थी उनकी साम्य-भावना।

(II)

बी० ए० की एक घटना मैं कभी नहीं भूल सकती। डा० ज्ञानवती त्रिवेदी जी का उपनाम हम सबने 'त्रिवेदी' नहीं 'तीरभेदी' रख छोड़ा था। ज्ञानवती जीं गम्भीर मुद्रा में

छःमाही परीक्षा की उत्तर पुस्तिकाएँ लौटा रही थीं। एकाएक उन्होंने छात्राओं की उत्तर पुस्तिकाओं की त्रुटियाँ पढ़ना प्रारंभ कर दिया। सब छात्रायें खिल-खिला कर हँस रहीं थीं। हँसते-हंसते सबके पेट में वल पड़ रहे थे। एकाएक मैं सहम गई। ज्ञानवती जी का गम्भीर स्वर तेज हो गया था 'देखिए! यह है कक्षा की सर्वोत्तम छात्रा पद्मा का हाल। कभी आपको हिन्दी में विशेष अंक भी प्राप्त हो चुके हैं। कभी 'रामचरित मानस' खोलकर पढ़ा भी है?' वास्तव में प्रसंग था—राम वन गमन के संदर्भ में नौका पर वैठते समय केवट को मुंदरी देने का—पर अनभिज्ञतावश, मैंने उसे सीता राम विवाह प्रसंग के रूप में वर्णित कर दिया था। सबके साथ खिलखिला कर हँसने वाली मैं यह सोच भी न सकी कि वस्तुतः यह मेरी ही उत्तर पुस्तिका है जिसका उपहास किया जा रहा है। एक बार पुनः सारी कक्षा खिलखिला कर हँस पड़ी थी। इस ताड़ना उपहास एवं मखौल का मझ पर अच्छा ही प्रभाव पड़ा। अध्ययन में निमग्न होकर मैं वी० ए०, बी० एस-सी० छात्राओं में सर्वप्रथम आई। साथ ही मनोरमा स्वर्णपदक एवं दो छात्र वृत्तियों की अधिकारिणी भी बन गई थी। यह सन् १९४८ की घटना है।

इस समय स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद के युग में हड़तालें होती भी थीं और हम छात्रायें भाग भी लेती थीं। पर तव हम छात्र-छात्रायें किसी सिद्धान्त पर खूब सोच विचार के वाद ही हड़ताल करते थे। तोड़-फोड़ एवं हिंसा में हमारा कोई विश्वास न था। वह हड़ताल मुझे आज भी याद आती है जब एकाएक उपकुलपति डा० राधाकृष्णन् ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय छोड़ा था। इस संदर्भ में महिला विद्यालय में हड़ताल हुई थी। उस समय मेरी सहपाठिनी ममेरी बहन सरल एवं कंचनलता भूख हड़ताल किए बैठी थीं। गांधी जी का तार आया था कि छात्राएँ भूख हड़ताल न करें। मैंने भूख हड़ताल नहीं किया था, यद्यपि सहपाठियों ने लांछित भी किया था; 'तुम क्यों भूख हड़ताल करोगी? तुम्हें प्रथम श्रेणी पाना है।

तव मुझे भुख हड़ताल अथवा लम्बी हड़तालों में कोई विश्वास न था। पर ३० जनवरी को बापू के आकस्मिक निधन पर न केवल समस्त विश्वविद्यालय वरन् सारा विश्व रोया था। तब दारुण दुख में मैंने भी भूख हड़ताल की थी। दो, तीन दिन मेस बन्द रहे थे। हमें कितना दुख हुआ था। हम सब फूट-फूट कर रोए थे।

(III)

मुझमें राजनीति के प्रति रुचि जगाई राजेन्द्र कुमारी, हेमलता एवं बीर वाला के सान्निध्य ने। बीर बाला ने सन् १९४२ के आन्दोलन में जेल यात्रा भी की थी। राजेन्द्र कुमारी, मैं एवं हेमलता एक ही विश्वविद्यालय, एक ही छात्रावास एवं एक ही कमरे में एक साथ रहे हैं। किन्तु मुझमें छात्र-राजनीति में 'नेतृत्व' ग्रहण की भावना साम्यवादियों के सम्पर्क से जगी। खेल के मैदान में बीना शर्मा (बीना दुग्गल) (वर्तमान एम० एल० सी०) मेरी साथी थीं पर राजनीति की प्रेरणा स्रोत थी सुरजीत कौर जिन्होंने १९४२ के आन्दोलन में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सक्रिय भाग लिया था। वे उस समय अनुसन्धान के लिए आई थीं। माया यादव, अन्नपूर्णा टंडन, सावित्री जी, आशा जिया एवं राजेन्द्र के गांधीवाद से छूटकर मैं सुरजीत एवं 'विन्दु' के घेरे में चली गई। गांधी एवं नेहरू

की पुस्तकें चाट लेने के बाद, कार्ल मार्क्स एवं लेनिन के ग्रन्थों का जो अध्ययन आरम्भ हुआ उसकी परिणति हुई राजनीति में।

प्रो० मुकुट बिहारी लाल की इच्छा के विपरीत मैंने जिद करके राजनीति शास्त्र में प्रवेश लिया। तब डा० अमरनाथ झा हमारे कुलपति थे। अनायास मैं छात्रावास एवं कालेज की नेता बन गई। हमारे छात्रावास पर नरनारी प्रतिबंध लगा दिए गए थे। असमानता के प्रश्न को लेकर मैं छात्राओं के एक दल के नेता के रुप में उनसे मिली थी। बिड़ला छात्रावास एवं महिला छात्रावास की अत्यधिक असमानता पर मैंने जब उनका ध्यान आर्कर्षित किया, तो उन्होंने मुस्कान सहित कहा 'क्या मैं नए विलियम पिट की स्पीच सुन रहा हूँ?" मैं सकुचा गई। पर जब उन्होंन कहा—यह असमानता तो सारे समाज में है। इस पर मैंने कहा था तो हम इस समाज को बदल डालेंगे। स्वप्न कितना बड़ा था? यह क्या कभी पूरा होगा?

फिर आया १९४९, १९ अगस्त का वह दिन जब रेलवे हड़ताल का असामयिक नारा साम्यवादी दल ने दिया था। तब मेरी सुम्मी गांधी आज की सुमित्रा कुलकर्णी एम० पी० से खूब गर्मागर्म बहस हुई थी। वह बहस आज भी याद है। निर्भीकता मुझ में जन्म ले चुकी थी। इसी कारण गांधी जी की पोती से मैं उस वक्त भी बराबरी से भिड़ गई थी। हिन्दू विश्वविद्यालय का वह अविस्मरणीय स्वर्णिम युग मेरे जीवन का उषा काल था। तब मैं लोकप्रिय छात्र नेता थी। संगीत, लेख, कहानी, वाद विवाद प्रतियोगिता में मुझे प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुए थे। अभिनय की संगिनी थी कणिका विस्वास, विभा मालवीय। कब सक्रिय राजनीति मुझे 'राजनीति शास्त्र' से विलग कर बैठी पता न चला। मुझे जब पहली बार पुलिस पकड़ने आई तब बीना कौल एवं कई छात्राओं ने उसे ऐसा करने से रोका। उस समय रेलवे हड़ताल के असफल नारे के समय छात्र फेडरेशन के सभी छात्र नेता गिरफ्तार कर लिए गए थे। यद्यपि इस हड़ताल से मेरा दूर का भी संबन्ध न था पर साम्यवाद में आस्था होने के कारण तथा साहस एवं सत्य में आस्था होने के कारण मैंने कोई शर्तनामा लिखना मन्जूर नहीं किया। पिताजी तब बनारस में एडिशनल कमिश्नर थे उनकी स्थिति का लाभ उठाकर बचे रहना मैंने श्रेयस्कर न समझा। कदाचित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने ही मुझमे 'साहस' एवं 'सत्य' के संस्कार भरे थे। नहीं भूलती है आज भी वे पंक्तियां—

यहाँ की है यह पवित्र शिक्षा
कि सत्य पहले फिर आत्मरक्षा
बसी है गंगा के रम्य तट पर
यह सर्व विद्या की राजधानी
मधुर मनोहर अतीव सुन्दर
यह सर्वविद्या की राजधानी

अगस्त १९४९ में एम० ए० फाइनल के समय मुझे अपनी दो छात्रवृत्तियों एवं एक वर्ष की पढ़ाई से हाथ धोना पड़ा। किन्तु यह त्याग नितान्त व्यर्थ न गया। जीवन की पाठशाला में अनुभव का पाठ मैंने पढ़ा और खूब पढ़ा। जीवन एक संघर्ष है और संघर्ष में ही जीवन है। यह सत्य प्रतीत हुआ।

आज के युग में भी सरस्वती, सत्य एवं साहस से मेरी आस्था कभी डिगी नहीं। विवाह किया दर्शनशास्त्र में पी० एच० डी० डा० सन्तोष कुमार से जिन्होंने क्रान्ति की आत्मा को शान्ति एवं जीवन दायिनी आग में वदल दिया।

(IV)

आज के युग में प्रजातंत्र, धर्म निरपेक्षता एवं समाजवाद एक युग दर्शन हैं, वर्तमान युग की मांग एवं 'सामाजिक न्याय' की दिशा में एक त्रिकोण हैं। 'सत्य, समाजवाद समन्वय वाद' त्याग, 'तपस्या,' 'समाज सेवा,' भारतीयता के संस्कार मुझे मिले हैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से। अपने २४ वर्ष के अध्ययन अध्यापन, लेखन, रेडियों संगीत, समाज सेवा, स्टेज अभिनय के बहुमुखी क्षेत्रों से लेकर १९६४-६५ में अध्ययन हेतु यूरोप प्रवास के मध्य इसी पुण्यभूमि के अंकुर रुप में मैंने अक्सर प्रशंसा अर्जित की है। यूरोप में परीक्षा में विशेषांक प्राप्त करने पर कहा गया—"क्यों न हो एक समन्वित व्यक्तित्व, आखिर हैं तो ये ऊपज उसी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की जिसे जन्म दिया मनीषी महामना मदन मोहन मालवीय ने, जिसका प्रांगण आज भी उस तपोमूर्ति के त्याग एवं आदर्श से, सर्व पल्ली डा० राधाकृष्णन जैसे उच्चकोटि के वक्ता के रवीवासरीय गीता प्रवचन से गुन्जरित हो रहा है। महामना एवं उनके कीर्ति मन्दिर के यशोगान से अन्तः आह्लादित हो उठा, रोमांच हो आया।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने सदा देश को लोकप्रिय नेता, कार्यकर्ता, अध्यापक, समाजसेवी कलाकार एवं मनीषी प्रदान किए हैं। मुझे त्याग, तपस्या, लोक कल्याण, लोक मंगल, साहस, एवं शक्ति के 'मूल्य' मिले हैं अपने उसी प्यारे विश्वविद्यालय से। आज भी हम संघर्ष में जुटे हुए हैं एक नवीन भारत, नवीन समाज के सृजन हेतु।

आज तीस वर्ष के अन्तराल पर जब मैं अतीत की विस्मृति के गर्भ में, विलीन हुई 'अधूरी स्मृतियों को अपनी पंक्तियों में बांधना चाहती हूं तब सोचती हूं मैं आज जो भी हूं वह सब उसी का सुफल है। अपनी प्राध्यापिकाओं के मार्ग-दर्शन एवं प्रिय साथियों के सान्निध्य से जो कुछ प्राप्त हुआ वह जीवन की अमूल्य निधि बन चुका है। 'कुलगीत' की अमर पंक्तियां आज भी अन्तः में गूंज रही हैं—

हैं मालवीय की ये देशभक्ति. ये उनका साहस यह उनकी शक्ति
प्रकट हुई है नवीन होकर ये राज ऋषियों की राजधानी
मधुर मनोहर अतीव सुन्दर ये सर्वविद्या की राजधानी

आज अपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं महामना मदन मोहन मालवीय के पुण्य संस्मरण द्वारा मैं स्वयं गौरवान्वित हो उठी हूं। हमारे चिन्तन-आराधन का केन्द्र विन्दु है हमारा अपना 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।'

वरिष्ठ प्राध्यापिका
दौलत राम कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

मालवीय-प्रशस्तिः

विश्वनाथ शास्त्री, धर्माचार्य

(१)

भूलोकालोकरत्नं निखिलमतिमतां मूर्तमानप्रतिष्ठा—
पुण्योत्कर्षैकभूमिर्दृढ निकषशिला वाग्मिनां वाग्मितायाः
आर्यावर्ताभिमानस्मरहरनगरीविश्वविद्यालयात्मा
मान्यात्मा मालवीयो जयति कुलपति भारतानन्दकन्दः ॥

(२)

धर्माणामाश्रमस्ति भुवनविदितसज्ज्ञानिनां सार्वभौमाः
विश्रामास्तेभिरामा असममतिमतां दुष्कृतानां विरामाः ।
आरामाः स्वर्द्रुमाणां जगति विजयिनामद्भुतानां विरामाः
जृम्भन्ते त्वार्यवर्याः कुलपतिगुरवो मानिनो मालवीयाः ॥

(३)

पूर्णं भारतगौरवं प्रकटितं धर्मक्रियावैभवं
पुण्यो दिव्य शुभार्यजातिमहिमोद्रेकस्फुटोमूर्तिमान् ।
उत्साहोम्युदितः स्वयं भगवती संवित्समूढा नु किम्-
श्रीमान् म.लवपुङ्गवो विजयते विद्वत्कुले क्ष्मापतिः ॥

(४)

आसेतोराहिमानी विशदतटभरादद्रिभूपाल मौले—
र्मध्य प्राच्यप्रतीच्योदकनिधिकलितप्राज्य भूचक्रवालम्
यद्वाग्मित्वोर्जितश्रीः सकलनरवरैर्मानिता चित्रकर्त्री
चार्वी वाचस्पतीनामपि नुतिकरणे को न धन्यो नरः स्यात् ॥

(५)

अध्यातिष्ठासतीयं प्रमदभरभृता स्वर्णसिंहासने यद्
हिन्दूसाम्राज्यलक्ष्मीर्विबुधपरिवृढस्तूयमाना समाना
तस्याः सन्नीतिरीतेश्चकित नरवरोमस्तकश्लाघितायाः
निर्मातारं विना को जगति बुधवरैः पूज्यमानो जनः स्यात् ।

भूतपूर्व प्राचार्य संस्कृत महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

दिव्य दर्शन

विद्या गुप्त

मैं स्वप्नजीवा थी। जाने कितने स्वप्न मेरे नेत्रों में थे। उनमें से एक था बौद्धिक जगत् में प्रवेश, दूसरा था अपने देश के लिये प्राण देने वाले नेताओं के दर्शन; स्वयं कुछ कर सकने की अभिलाषा।

शिक्षा-जगत् में प्रवेश मिला, नेताओं के दर्शन भी मिले किन्तु कुछ कर सकने की अभिलाषा का मुझ अल्पप्राण द्वारा पूर्ण होना असम्भव था।

स्वातन्त्र्य संग्राम की रणभेरी बज रही थी। देश में सर्वत्र विदेशी शासन के प्रति असंतोष उग्र हो उठा था। इस देशव्यापी क्रान्ति ने घर-घर से युवक-युवतियों को वलिदान के लिये पुकारा था और वे इस पुकार पर बिना किसी द्विधा के, बिना आगत-अनागत की चिन्ता किये भारत-माता की दासता की बेड़ियां काटने के लिये आतुर हो उठे थे।

सन् १९४२ का अगस्त मास था। ब्रिटिश सत्ता आन्दोलन को कुचलने के लिये दृढ़ संकल्प थी। सभी वरिष्ठ नेता बन्दीगृहों में थे। युवजनो ने अहिंसा का मार्ग तो न छोड़ा किन्तु ब्रिटिश शासन को उलटने के लिये कचहरियों पर राष्ट्र-ध्वज फहराने पुलिस-चौकियों को उजाड़ने, रेल की पटरियें उखाड़ने, पुल तोड़ने, तार के खम्भे गिराने आदि का मार्ग अपनाया। शासन की नींव डगमगाई और उसने पाशविक-शक्ति से आन्दोलन दबाने की योजना बनाई। भारत-माता के लाड़ले लालो के लहू से जननी का अंचल लाल हो गया किन्तु आग बुझ न सकी।

सत्ता हिंसक स्वरूप धारण किये थी। विश्वविद्यालयों को बन्द करने की शासकीय आज्ञा हुई क्योंकि विद्यार्थी आन्दोलन के सब से सक्रिय अग थे। राष्ट्रीय भावनाओं का भारतीय आदर्शों का प्रतीक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय अंग्रेजों की आंखों की किरकिरी तो था ही, अब अवसर आ गया था कि विद्यार्थियों के ध्वंसात्मक कार्यों के नाम पर इसकी प्रतिष्ठा एवं सत्ता को चूर-चूर कर दिया जाए।

पं० मदनमोहन मालवीय रुग्ण थे। छात्रों की विध्वंसक नीति ने उनके प्राणों में एक विचित्र उथल-पुथल मचा दी थी। एक ओर थी भारत-माता को स्वतन्त्र देखने की उत्कट लालसा और दूसरी ओर था अपने जीवन-स्वप्न की साकार मूर्ति विश्वविद्यालय की रक्षा का प्रश्न। देश की स्वतंत्रता प्राणों की पुकार थी तो सांस्कृतिक चेतना को जाग्रत रखने वाले ज्ञान-मन्दिर की रक्षा बुद्धि की मांग।

सन् १९३९ में महामना ने अपने दुर्बल स्वास्थ्य के कारण कुलपति पद से अवकाश ले लिया था। सर राधाकृष्णन् के कन्धों पर यह भार था कि अपनी सुविज्ञ प्रतिभा से विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राओं का मार्ग-निर्देशन करें। किन्तु १९४२ में जो अग्नि प्रज्वलित हुई वह शताब्दियों की दासता के विरुद्ध प्राणों का हाहाकार था। सर राधाकृष्णन् की वाग्मिता भी इसे शान्त कर सकने में असमर्थ थी।

महामना पं० मदनमोहन मालवीय की वाणी में सम्मोहिनी थी। वे घंटों तक धाराप्रवाह बोल कर भी सहस्रों की संख्या में उपस्थित श्रोताओं को भाव-मुग्ध करने में समर्थ थे। किन्तु आज ?

विश्वविद्यालय प्राङ्गण में छात्र-छात्राएँ संस्थापक का सन्देश सुनने को आन्दोलन की रूप-रेखा के प्रति निश्चित अभिमत सुनने को एकत्रित थे। महामना के दर्शन की उत्कंठा तो थी ही, उस से भी अधिक लालसा थी इस कर्मठ नेता की अमृतवाणी सुन कर दिशा-संकेत प्राप्त करने की प्रबल आकांक्षा, राजनीति के अन्ध तम में प्रकाश-रेखा की आशा।

महामना की दैहिक अवस्था शोचनीय थी। वे सभास्थल पर कुर्सी पर बैठा कर लाए गए थे। उनकी जयजयकार अवश्य हुई किन्तु उसमें मुक्त हृदय का उल्लास न था। उस जयजयकार में क्रान्ति की पुकार की अभिलाषा थी सब कुछ भूल कर युद्ध में प्राण देने की उत्कट कामना।

महामना ऊँचे स्थल पर कुर्सी पर बैठे थे। सम्पूर्ण सभा-स्थल में ऐसी निःस्तब्धता थी कि सुई गिरने की आवाज भी सुनाई पड़े।

सर राधाकृष्णन् ने उपस्थित जन-समुदाय को सम्बोधित किया—महामना कुछ कहेंगे।

महामना के मुख पर सात्विक दिव्यता की कान्ति थी। गौरवर्ण, उज्वल परिधान उनके पवित्र चरित्र के सूचक थे। उन्होंने एक दृष्टि उपस्थित छात्र-समुदाय पर डाली। अपने चतुर्दिक बैठे अध्यापकों की ओर देखा, मन्द स्वर में कुछ कहा।

उनकी वाणी में अब वह बल न था कि उस जनसमुद्र में उन की वाणी गूंज सके। छात्र अधीर हो रहे थे। अतः कुलपति सर राधाकृष्णन् ने उन के शब्द दोहराए "Do your duty. Be true to your Alma Mater." शारीरिक शिथिलता व मानसिक उत्तेजना से वे अधिक कहने में असमर्थ थे। वे चले गए।

इस सन्देश से क्रान्ति के लिये व्याकुल प्राणों को तृप्ति सम्भव न थी। उत्तेजित जनता का नारा था—"Do or die." "करो या मरो"। छात्रों का शासन-विरोधी कार्य चलता रहा और शासकीय आदेश से विश्वविद्यालय को बन्द करना पड़ा।

महामना की वह मूर्ति मेरे मानस-पटल पर लम्बे पैंतीस वर्षों के बाद भी वैसी ही सजीव है जैसी मैंने सन् १९४२ के अगस्त मास में देखी थी। देव-तुल्य महामना के मैंने प्रथम दर्शन किये—वही अन्तिम दर्शन भी थे।

महामना का हृदय दया, ममता और करुणा का सागर था। वे किसी का दुःख सह न सकते थे। १९४६ में देश के विभाजन से उत्पन्न विभीषिका ने जब मानव को दानव बना दिया, हिंसा और रक्तपात की जो आंधी आई उसने महामना के कोमल हृदय को वह आघात पहुँचाया जिसे वे सह न सके और १२ नवम्बर १९४६ को उन्होंने इस नश्वर शरीर का परित्याग कर दिव्य यश-शरीर को प्राप्त किया। वे आज भी अपने आदर्शों में जीवित हैं और युग-युग तक मानव को सत्य-पथ की ओर प्रेरित करते रहेंगे।

रीडर हिन्दी विभाग
महिला महा विद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

—— ——

श्रीमद्भागवत के प्रति महामना का अनुराग

डॉ० रामजी पाण्डेय

पौराणिक वाङमय में श्रीमद्भागवत का विशिष्ट स्थान है। स्वयं इसी में यह बात कही गयी है कि जैसे नदियों में गङ्गा, देवताओं में विष्णु, वैष्णवों में शिव एवं क्षेत्रों में काशी सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार पुराणों में श्रीमद्भागवत है।[१] भगवान् वेदव्यास ने इसकी रचना नारद जी की प्रेरणा पर उस समय की थी जब ब्रह्मसूत्र, महाभारत और अन्य पुराणों की रचना के अनन्तर भी उनके हृदय को शान्ति नहीं मिली। इसका मुख्य कारण यह था कि अब तक उन्होंने भौतिक विषयों और शास्त्रों का निरूपण किया था भगवान् के निर्मल चरित्र का गान नहीं किया था। अतः नारदजी ने सुझाव दिया कि हे महाभाग! अपनी वाणी से समस्त जीवों को बन्धन से मुक्त करने के लिए समाधि के द्वारा अचिन्त्यशक्ति भगवान् की लीलाओं का स्मरण कीजिए यतः अलंकार आदि से युक्त वाणी से भी यदि भगवान् के यश का गान नहीं होता तो वह कौओं के लिए उच्छिष्ट फेंकने के स्थान के समान मानी जाती है। भगवान् के भक्त उसमें कभी रमण नहीं करते। किन्तु सुन्दर रचना से विहीन, दूषित शब्दों से युक्त वाणी भी सत्पुरुषों के लिए ग्राह्य होती है यदि उसमें भगवान् के सुयश सूचक नामों की महिमा हो। मोक्ष के साधनभूत ज्ञान की भी शोभा भक्ति के विना नहीं होती फिर साधन और सिद्धि दोनों दृष्टियों से हेय काम्य-कर्म और निष्काम भाव से अर्पित नही किया गया निष्काम कर्म भी सुशोभित नहीं हो सकता है।[२]

इस प्रकार इस दिव्य भूमिका पर निर्मित यह ग्रन्थरत्न आज भी विद्वानों के गले का हार बना हुआ है। मालवीय जी की दिव्य दृष्टि भी इस पर पड़ी और भागवत उनके जीवन का एक अङ्ग बन गया। वे जब कभी भी अवकाश पाते थे तो भागवत का

---

१ निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा।
वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा॥
क्षेत्राणां चैव सर्वेषां यथा काशी ह्यनुत्तमा।
तथा पुराणव्रातानां श्रीमद्भागवतं द्विजाः॥

भाग० १२।१३।१६-१७

२ न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्षया॥
तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत् शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥
नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥

भाग० १।५।१०-१२

पाठ स्वय करते और बड़े-बड़े संस्कृत के पण्डितों को बुलाकर भागवत का पारायण सुनते। स्वयं वे प्रारम्भ से ही एक कुशल कथावाचक थे। भागवत के श्लोकों को सुनने का उन्हें बड़ा चाव था। म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीजीने गीता-व्याख्यान में बताया था कि भागवत में उल्लिखित 'गजेन्द्र-मोक्ष' के प्रति उनका अपार प्रेम था और इसे बराबर सुनते तथा इसका पाठ करते थे। वे कहा करते थे कि यह 'स्तव-राज' है और मेरा तो ऐसा विश्वास है कि संसार का कोई भी कार्य मेरे लिए दुष्कर नहीं है यदि मैं हृदय से गजेन्द्र-स्तव का पाठ करलूँ। मैंने इसकी परीक्षा ली है और इसी के बल पर मैं आज तक कभी असफल नहीं हुआ हूँ। गजेन्द्र को उस विपत्ति से छुड़ाने वाला वह भगवान् आज भी हमारे पास ही है जिसके पास अपनी पुकार पहुँचानी है। उसके आने में विलम्ब नहीं। सचमुच ही स्तुतियों में गजेन्द्र-मोक्ष बहुत ही कल्याणकारी है और आज भी बहुत से लोग कष्टनिवृत्ति के लिए इसका नित्य हीं पाठ करते हैं।

भागवत के समान ही मालवीय जी का गीता पर विशेष अनुराग था। इसीलिए विश्वविद्यालय के प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण के लिए प्रति रविवार को गीता-प्रवचन की व्यवस्था की गई जो आज भी सुचारु रूप से चल रही है। इसके साथ ही पहले श्रीमद्भागवत की भी कथा प्रत्येक एकादशी के दिन हुआ करती थी जिसमें मालवीय जी स्वयं कथा कहते थे। उस समय के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् ध्रुवजी, बडे बाबा, पं० रामावतार शर्मा आदि विशिष्ट विद्वान् इसमें रुचि लिया करते थे। स्वर्गीय पं० शिवप्रसाद त्रिपाठी, गायनाचार्य जी अपने मधुर संगीत से इसे रसाप्लावित कर देते थे। गीताप्रवचन में हम सब जो वहाँ रहे हैं इधर के युगों में इस बात को अपने आखों से देखा है कि ज्ञान, कर्म अथवा भक्ति के दुरूह प्रवचनों को भी पं० गायनाचार्य जी अपने दस-पन्द्रह मिनट के भजन में पूर्ण रूप से प्रस्तुत कर देते थे। इस प्रकार से विश्वविद्यालय का धार्मिक वातावरण आज भी रसाप्लावित होता है पर अब केवल गीता प्रवचन की ही परंपरा वर्तमान है, भागवत की कथा आज २५-३० वर्षों से बन्द है। हो सकता है विश्वविद्यालय के उच्च अधिकारियों का ध्यान इधर कभी जाय और पीछे की यह प्रसुप्त परम्परा फिर सजीव हो उठे। यह प्रसन्नता की बात है कि इसी भागवत प्रेम के कारण आज भी मालवीय-जयन्ती समारोह के अवसर पर मालवीय भवन में प्रतिवर्ष भागवत पारायण का एक अनुष्ठान होता है एवं कभी-कभी भागवत के उच्च विद्वानों के प्रवचन भी हुआ करते हैं।

वास्तव में भगवान् की कथा की महिमा अपार है, जिसकी संनिधि मात्र मनुष्य के कायिक, वाचिक एवं मानसिक त्रितापों को शान्त करने वाली है। यदि विचार कर देखा जाय तो मानव जीवन की सबसे जटिल समस्या उसके शान्तिपूर्ण जीवन की है। जीते तो सभी लोग हैं क्योंकि काल के अधीन जीव की सत्ता है जो दुर्विज्ञेय है। अतः स्थूल रूप में दृश्य नहीं। इसीलिए उसके आने और जाने की कोई निश्चित सूचना किसी के पास नहीं है। अतः काल की गति को न पहचानने वाला सुख और दुःख इन दोनो की स्थितियों का अनुभव नहीं कर पाता है। सुख और दुःख का अनुभव भी सापेक्ष्य है अतः इनकी निश्चित सीमा भी नहीं निर्धारित की जा सकती। फिर त्रितापों की

शान्ति तो केवल भगवान् के गुणानुवादों के श्रवण से ही सम्भव है। इसकी शान्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं।[१]

यह कथा केवल भक्तों को ही रसाप्लावित नहीं करती अपितु बड़े-बड़े ज्ञानी लोग भी इससे तृप्त होकर भगवान की अहैतुकी भक्ति करते हैं क्योंकि उनके गुण ही ऐसे मधुर हैं जो सबको अपनी ओर खींच लेते हैं।[२] इसीलिए जिनकी तृष्णा की प्यास समाप्त हो चुकी है ऐसे महापुरुष जिस कथा का निरन्तर गान किया करते हैं, जो मुमुक्षुओं के लिए भवरोग की परमौषधि रूप तथा विषयी लोगों के लिए उनके कान और मन को आह्लाद प्रदान करने वाली है उससे पशुघाती अथवा आत्मघाती के अतिरिक्त और कौन होगा जो विमुख रह सके।[३] इसीलिये सत्पुरुष अपनी वाणी की सार्थकता भगवान् के गुणानुवाद में मानते हैं अन्यथा भगवान् के गुणों से रहित वाणी भाव, अलंकार आदि से युक्त होने पर भी व्यर्थ है। वाणी तो वही सार्थक है जिससे भगवान् के परमपवित्र यश का गान हो।[४]

श्रीमद्भागवत की यह कथा भवरोग विनाशिनी है जिसका श्रवण मात्र मनुष्य को अभय प्रदान करने वाला है इसके प्रमाण स्वरूप भगवान् के प्रिय पार्षद् श्री परीक्षित जी महाराज हैं। उनकी सद्गति देखकर भी मनुष्य अपना समय क्यों व्यर्थ गँवा रहे हैं समझ में नहीं आता।[५] सत्संग से कुत्सित व्यक्ति भी परमपद प्राप्त कर लेता है और कुसङ्ग

---

१ तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥
भ.ग० १०।३१।९

संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविष्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥
भाग० १२।१२।४७

२ आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥ भाग० १।७।१०

३ निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥
भाग० १०।१।४

४ मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा न कथ्यते यद् भगवानधोक्षजः।
तदेव सत्यं तदुहैव मङ्गलं तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम्॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णव शोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥
भाग० १२।१२।४८-४९

५ कलौ भागवती वार्ता भवरोगविनाशिनी। भा० मा० ६।९७।
असारे संसारे विषयविषसङ्गाकुलधियः
क्षणार्धं क्षेमार्थं पिबतशुकगाथातुलसुधाम्।
किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितकथे
परीक्षित्साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्तिकथने॥ वही ६।१००।

पाकर सत्कर्मी भी नष्ट हो जाता है। इसलिए महामना जी के मन में यह बात बहुत पहले से निश्चित हो चुकी थी कि भारतीय संस्कृति की सुरक्षा के लिए इसके प्रति आस्था एवं अनुराग की भावना जागृत होनी चाहिए जो बहुत सुगमता से कथा के माध्यम से जगायी जा सकती है। इसीलिए उन्होंने लोगों को जो संदेश प्रदान किया उसमें प्रत्येक ग्राम में कथा की प्रस्थापना की बात भी कही है।[१]

भागवत के भक्तों में रन्तिदेव का चरित्र महामना जी को बहुत ही प्रिय था क्योंकि त्यागभावना का उससे बढ़कर विश्व में कोई दूसरा आदर्श नहीं। जिन्होंने परोपकार के लिए रिद्धी, सिद्धि, स्वर्ग, लोक-परलोक यहाँ तक कि ईश्वर का पद भी लेना स्वीकार नहीं किया अपितु संसार भर के प्राणियों का दुःख स्वयं अपने आप सह लेना स्वीकार किया यह था भगवान् की भक्ति का प्रभाव।[२] महामना जी भी इसी आदर्श से प्रेरित होकर सदा परोपकार में जीवन पर्यन्त निरत रहे जो उनके जीवन का व्रत ही वन गया था। समता और परोपकार की यह भावना ही भगवान् विष्णु की सबसे बड़ी आराधना मानी गई है।[३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि महामना जी का भागवत पर विशेष अनुराग था और निःसंदेह वे परमभागवत थे जिनके हृदय में दूसरों का उपकार ही प्रधान लक्ष्य रहा और इसी कारण उनसे बढ़ कर कोई दूसरा धर्मज्ञाता नहीं था क्योंकि परहित के समान कोई दूसरा धर्म नहीं माना गया है।[४] ऐसे व्यक्ति के लिए जीवन में कुछ भी दुर्लभ नहीं।[५] इसी का परिणाम काशी हिन्दू विश्वविद्यालय हमारे समक्ष है। इस प्रकार ये सब उदात्त गुण श्रीमद्भागवत के पठन, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के परिणाम थे। मुझे विश्वास है कि भागवत पर यत्किंचित भी हमारी दृष्टि रही तो हम लोगों का अकल्याण कभी नहीं होगा क्योंकि भगवान् का नाम संकीर्तन सभी दुःखों का विनाशक है।[६]

शोध सहायक, पुराण
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

---

१ ग्रामे ग्रामे कथा शुभा।

२ न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्ति दुःखाः॥ भाग० ९।२१।१२

× × ×

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

३ सर्वत्रदैत्यास्समतामुपेत समत्वमाराधनमच्युतस्य। विष्णु १।१७।९०

४ परहित सरिस धर्म नहिं भाई।

५ परहितवस जिनके मनमाहीं। तिन्ह कँह जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

६ नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥ भाग० १२।१३।२३

कुलपति मालवीय जी : हमारे व्यास

स्वर्गीय पं० पद्म नारायणजी आचार्य

व्यास का रूप हमें बहुत प्रिय है। हमने पिता को व्यास रूप में देखा था : हमने कुलपति को व्यास रूप में ही देखा था।

मेरे मित्र ने कहा था—

मालवीय जी का वर्णन एक शब्द में करो।

मैंने उत्तर दिया था—'व्यास'।

मालवीय जी की जो 'मोहन' मूर्ति मेरे हृदय में बसी हुई है, वही व्यास की सौम्य और सरल, आकर्षक और तेजस्वी मूर्ति।

व्यास की विशाल बुद्धि और प्रवचन की शक्ति—दोनों ही मालवीय जी में है। उसी व्यासत्व के बल पर उन्होंने आज तक जितने रूपों में काम किया है सभी में वे विजयी हुए हैं। उसी व्यासपनें के सहारे उन्होंने सभी क्षेत्रों में नेतृत्व किया है।

वे आज विश्वविद्यालय के कुलपति हैं, राजनैतिक दल के नेता हैं, धर्म और साहित्य के रक्षक हैं, भारती के भूषण हैं, और भी बहुसे कुछ हैं। पर उनके इन सब गुणों का मूल सच पूछा जाय तो, उनके व्यासत्व में है।

व्यासों की परम्परा में उपलब्ध होकर उन्होंने व्यास की वक्तृत्वशक्ति का उपयोग किया। वे बड़े हुए और उन्होंने बहुतों को बड़ा बनाया।

हमने बचपन में पिता जी से सुना था कि मालवीय जी बड़ा अच्छा प्रवचन करते हैं। हमें पहले पहल उनका दर्शन मिला तो वे द्रौपदी चीरहरण की कथा कह रहे थे। हम उनकी कथा से द्रवित हो उठे थे।

आज हम उनके विश्वविद्यालय से बाहर निकल कर भी उनके प्रवचनों का स्मरण करते हैं, उनका गीता प्रवचन सुनने के लिए उत्सुक रहा करते हैं।

अतः इस हीरक जयन्ती के समय पर हम मालवीय जी के उस व्यास रूप की ही कुछ झाकियां दिखाना चाहते हैं।

(१) श्रवण (जो कुछ हमने उनके बारे में पहले सुना था।)

(२) स्मरण (विश्वविद्यालय से निकलने के बाद—कुल के जीवन से दूर हो जाने के बाद—अब लोग जो उनकी कथा कहते हैं और उनका स्मरण करते हैं।)

पिताजी व्यास तो थे ही, कभी-कभी हम लोगों को व्यासों की कथा सुनाया करते थे। वसिष्ठ, पराशर, कृष्णद्वैपायन, आदि की कथा उन्होंनें इतिहास पुराण में पढ़ी थी। अपने पिता, पितामह, प्रपितामह और उनकेसमकालीन अन्य अनेक व्यासों की कथा उन्होंने सुनी थी। भारत में घूम घूमकर उन्होंने अपने समय के सभी प्रसिद्ध व्यासों से सत्संग किया था, इसी से वे प्रसंग आ पड़ने पर व्यासों की जीवनी और उनकी यशोगाथा बड़े प्रेम और रस से सुनाया करते थे।

प्राचीन काल के वसिष्ठ, पराशर, कृष्ण, शुक आदि के साथ ही आजकल के व्यासों की भी कभी-कभी चर्चा छिड़ जाया करती थी।

एक दिन वे (पिता जी) सत्यनारायण की महिमा सुना रहे थे। उसी प्रसंग में मनु के अमर वाक्य की व्याख्या करने लगे –

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्

सच बोलना चाहिए। प्रिय (मीठा) बोलना चाहिए।

उन्होंने इसी प्रिय सत्य (मीठे सच) का एक सजीव उदाहरण दिया। एक बड़ा सुन्दर चित्र खींचा—

काशी में आदि विश्वेश्वर जी का मन्दिर है। उसी की बगल में अब बड़ा सुन्दर मन्दिर बन गया है सत्यनारायण जी का। उस पुराने विश्वेश्वर जी के मन्दिर में हमारे पिता भागवत् की कथा कहा करते थे। हम भी उनके साथ रहा करते थे।

इस मन्दिर के समीप में ही कारमाइकल लाइब्रेरी है। एक दिन उसके बाहर पच्छिम की तरफ एक सभा हो रही थी। हम लोगों ने सुना कि उसमें (पं० मदन मोहन) मालवीय जी आये हुए हैं। वे बहुत अच्छा बोलते हैं। वे पण्डितों को भी मोहने वाले वक्ता हैं। हम लोग भी वहां जा पहुंचे। सभा में एक डाक्टर ने बड़ा कड़ा व्याख्यान दिया। डाक्टर साहब ने स्वास्थ्य रक्षा पर कहते-कहते हिन्दुस्तानियों के रहन-सहन की आलोचना की। लोगों को कुछ बुरा भी लगा। इतने में मालवीय जी उठे। उनकी मधुर मूर्ति देखते ही बनती थी। उनकी वाणी भी वैसी ही मधुर थी। सचमुच उनके मुख से फूल झरते थे। आह! वह दृश्य आज भी याद है। कहां एक डाक्टर की कड़वी बातें और कहां श्री मालवीय जी की मिठास।

भाइयो!

एक बात और विचार लो। मालवीय जी को डाक्टर साहब की आलोचना का उत्तर भी देना था। आप लोगों को जब कोई कड़ी बात कहता है तो आप क्या करते हो? शठे शाठ्यम्। जैसे को तैसा। कहते हो, भैया हमसे तो रहा नहीं गया। हमने भी फिर खूब सुनाई। पर मालवीय जी ने क्या किया? बड़ा मीठा उत्तर दिया। उन्होंने सीधे लट्ठ नहीं मारा। बात तो उन्होंने सभी कह डाली। पर कहा बड़ी मिठास के साथ। उनकी बोली में ही इतना रस था कि यमराज का भी क्रोध एक बार उतर जाय। सचमुच उनकी वाणी में इतना जादू था कि सुनने वाला कभी नाराज हो ही नहीं सकता था। मालवीय जी ने कहा—

डाक्टर साहब ने बातें तो ठीक कहीं पर 'सत्यं ब्रूयात प्रियं ब्रूयात्' का पालन नहीं किया। थोड़े ओर मीठे शब्दों में कहा जाता तो अधिक अच्छा होता।

मालवीय जी के छोटे व्याख्यान से हम लोगों की मलहम पट्टी हुई और डाक्टर साहब को उचित उत्तर भी मिला। साथ ही मनु के इस 'सनातन' धर्म का बड़ा अच्छा प्रचार भी हुआ—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥

त्रिवेणी तट पर उपदेश :

माघ मेले में मालवीय जी किस प्रकार त्रिवेणी तट पर धर्मोंपदेश किया करते थे, इसकी कहानी पिता जी से सुनकर मेरा मन सदा लालायित रहता था कि कब प्रयाग चलूं। त्रिवेणी स्नान करूँ और म.लवीय जी का उपदेश सुनूँ ।

हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना :

मेरे भाई (पं० जगत्नारायण आचार्य) जबलपुर में पढ़ते थे। वे घर (गाडरवारे) आये। एक छपा भाषण उनके पास था। उसमें लिखा था—

महर्षि मालवीय जी का स्वागत पढ़ते ही मैं उत्सुक हो उठा—भैया, हमें नहीं बुलाया। क्या मालवीय जी यहाँ भी आवेंगे? वे कैसे थे? कैसे बोलते थे? क्यों आये थे? क्या हुआ?—विश्वविद्यालय क्या है? कब बनेगा? कितना खर्च लगेगा? इत्यादि। ऐसे ही न जाने कितने प्रश्न मैंने पूछ डाले।

बातों में बड़ा आनन्द मिला। माँ भी चाव से सुन रही थीं। कह रही थीं— "तुम काशी जाना, विश्वविद्यालय में पढ़ने।"

एक बार निश्वविद्यालय की स्वर्गिक कल्पना आंखों के स.मने झूम गई, मेरा बाल हृदय खिल उठा।

दर्शन की उत्सुकता :

ग.डरवारे से एक बार काशी आया। एक दिन ठहरा। विश्वविद्यालय की भूमि देखी। दो एक सुन्दर इमारतों से बनने वाले सरस्वती मन्दिरों की सुहावनी कल्पना भी की। पर वह न मिला जिसे आँखे चाहतीं थीं। मालवीय जी काशी से बाहर गये हुए थे, स्यात् चन्दा माँगने।

लौटकर गया, जबलपुर माडेल हाईस्कूल में पढ़ने लगा। घर वाले अभी काशी न भेज सके। अखबारों में मालवीय जी की और विश्वविद्यालय की बात पढ़ता था तो तरह-तरह के भाव उठते थे। बड़ा विचित्र उल्लास होता था।

एक घटना घटी। मुझे उसी वर्ष काशी आ जाना पड़ा। वह सन् १९२३ की बात है। मैं हिन्दू स्कूल में पढ़ने लगा।

अभी दो ही चार दिन बीते थे कि मैंने सुना मालवीय जी बाहर से आ गये हैं। कल सबेरे उनकी कथा होगी।'

दर्शन :

सबेरे आठ बजे मैं पहुंचा। आर्ट्स कालेज का बड़ा हाल भरा हुआ था। ऊपर व्यासासन पर व्यास जी बैठे हुए थे। कथा शुरू होने ही वाली थी। मैं समझ गया कि यही व्यास जी हमारे कुलपति हैं, तो भी एक से पूछा—यही मालवीय जी हैं?

—हां, वह सफेद पगड़ीवाले सफेद चन्दन वाले मालवीय जी हैं और उन्हीं की दाहिनी ओर लाल पगड़ी वाले आचार्य ध्रुव हैं।

मालवीय जी ने आँख मूँदकर एक मिनट ध्यान किया। मैंने भी उनकी सौम्यमूर्ति आंख भरकर देखी। इतने में ही कथा होने लगी। द्रौपदी चीरहरण की कथा थी। हमारे व्यास ने थोड़े में ही आदि से लेकर सभी बातें कही। १–पांडवों और कौरवों में पहले से बचपन का ही वैर था। २–इन्द्रप्रस्थ में महाराज युधिष्ठिर ने यज्ञ किया, उस समय दुर्योधन को सभामण्डप की चमक से कहीं-कहीं भ्रम हुआ। उन्होंने थल को जल और जल को थल समझ लिया। इसी पर द्रौपदी तथा भीम को हंसी आ गई। दुर्योधन को बड़ा बुरा लगा। यह हंसी सचमुच शिष्टाचार के विरुद्ध थी·········। ३–कुछ दिनों बाद महाराज युधिष्ठिर भाइयों सहित (दुर्योधन के घर) हस्तिनापुर बुलाये गये द्यूत (जुआ) खेलने। द्यूत का परिणाम बड़ा भयंकर हुआ। कहा ही जाता है 'खेलिए न जुआ और फांदिए न कुआ।'

पाण्डव सब कुछ हार गये। अन्त में बड़े भैया ने अपने चारों भाइयों को भी, कहे में आकर, दाँव पर लगा दिया। और इससे बड़ा अनर्थ उन्होंने किया अपनी द्रौपदी को भी बाजी पर रखकर। पासे तो उलटे पड़ ही रहे थे। द्रौपदी भी दुर्योधन की हो गई।

दुर्योधन का पुराना वैर था। उसे पाण्डवों की उन्नति से ईर्ष्या हो गई थी। फिर द्रौपदी की हंसी उसे अभी तक याद थी। उसने द्रौपदी से और साथ ही उसके पतियों से भी बदला लेने की ठानी। द्रौपदी को सभा में बुलाने को दूत भेजा। द्रौपदी ने उत्तर भेज दिया—

मैं एकवस्त्रा हूँ। इस समय तो कोई भी सभ्य मुझे सभा में नहीं बुला सकता।

दूत ने आकर द्रौपदी का सन्देश सुनाया। दुर्योधन और भी चिढ़कर बोला—दुःशासन तुम जाओ। उसे घसीटकर यहाँ ले आओ। सचमुच वह दुःशासन अपनी बड़ी भावज द्रौपदी—महाराणी द्रौपदी—को पकड़कर सभा में ले आया। द्रौपदी ने आते ही कुछ प्रश्न पूछे, पर सभी मौन थे। दुर्योधन ने और भी चिढ़कर कहा—इसका कपड़ा खींच लो।

कैसी भयानक आज्ञा थी। एक ओर असहाय द्रौपदी। दूसरी ओर दुष्ट दुःशासन के बली हाथ। द्रौपदी कातर हरिणी की भांति कांप उठी और एकाएक चिल्ला उठी—

हा द्वारकानाथ, व्रजनाथ, गोपीनाथ, हे दीनानाथ! बचाओ! आओ, आओ भैया आओ, दौड़ो लाज गई। तुम्हारी कृष्णा विपत् में है। कृष्ण आओ, बचाओ।

बस इस प्रार्थना के क्षण ने अद्भुत चमत्कार किया। दुःशासन के हाथ कांप उठे। वृद्ध धृतराष्ट्र ने जाकर सारी सभा को फटकारा और अनर्थ को बंद किया।

प्रार्थना करने वाली द्रौपदी शान्त खड़ी थी। प्रार्थना से कैसी शान्ति मिलती है? स्वयं प्रार्थना करके अनुभव करो।

आज द्वारकानाथ और भैया कृष्ण को पुकारते हुए द्रौपदी रो उठीं थी। आज हमारे कुलपति भी भर उठे थे। उनकी भरी आँखें देखकर मेरी भी आँखें डबडबा आईं। आंसू रुक न सके।

बालस्वभाव बड़ा लजीला होता है। मैंने दोनों ओर एक कनखी से देखा, कोई मेरी आँखों को देख तो नहीं रहा है—मेरी कमजोरी पर हँस तो नहीं रहा है। चट आँसू पोंछ लिये। आरती हुई। प्रसाद मिला। बड़ा हल्का जी लेकर घर लौटा। रास्ते भर कुलपति की ही चर्चा करता आया। कभी कृष्ण और कृष्ण की बात, कभी दुर्योधन और उनकी सभा की निन्दा। कृष्ण भक्तों का कितना ध्यान रखते हैं। कृष्णा की आर्त पुकार कितनी दर्दभरी थी। मालवीय जी भी गजब के व्यास थे। वे तो स्वयं द्रौपदीमय हो उठे थे। यों ही बातें करते घर आ गया।

× × ×

इस प्रथम दर्शन की स्मृति आज भी हृदय में है। स्मृति ही नहीं, उसकी छाप है मेरे जीवन पर।

उस दिन मैंने कई बातें सुनी थीं। सभी बड़ी थीं—ध्यान देने योग्य थीं। द्रौपदी का हँसना कितना शिष्टाचार विरुद्ध था। युधिष्ठिर का जुआ खेलना कितना बुरा था। ओह! दुर्योधन का द्रौपदी से व्यवहार तो और भी बुरा था। दुःशासन का वस्त्र खींचना तो हद थी। कल्पना करते दुःख होता है। द्रौपदी की असहाय अवस्था और दीन प्रार्थना तो सभी को रुला सकती है। सभी सहृदय व्यास रोते हैं और सभी श्रोताओं का हृदय रो पड़ता है।

मुझे तो आज तक लगता है कि मालवीय जी की इस पहली कथा में उनकी आत्मकथा छिपी थी। वे कैसे भक्त हैं, यह हम जानते हैं। और साथ ही उन्हें अपनी मातृभूमि, अपनी मातृभाषा और अपनी संस्कृति पर कैसी ममता है, यह भी हम जानते हैं। उनकी द्रौपदी के ये साकार रूप हैं। एक द्रौपदी की कथा वे महाभारत में पढ़ते हैं, हमें सुनाते हैं और रो पड़ते हैं। दूसरी द्रौपदी की कथा नही, वे दशा देखते हैं—अपनी आंखों देखते हैं उनकी भूमि, उनकी भाषा, उनकी विद्या, उनकी संस्कृति—सभी की लाज जा रही है। वस्त्र खिच रहा है। द्रौपदी चिल्ला रही है—

हा द्वारकानाथ, ब्रजनाथ, गोपीनाथ, हे दीनानाथ! बचाओ! आओ, आओ, भैया आओ, दौड़ो लाज गई। तुम्हारी कृष्णा विपत् में है। कृष्ण आओ! बचाओ।

भैया बचाओ। नाथ दौड़ो। क्या हमारा कोई नहीं है? मालवीय जी दौड़ पड़ते हैं। एक बार चमत्कार सा होता है।

मालवीय जी अखिल भारतीय कांग्रेस के जन्म के साथी हैं। पहली कांग्रेस में देश ने उन्हें देखा था। और अब तो वे दो बार कांग्रेसपति हो चुके हैं। इससे भी बड़ी बात है कि वे इसी पुकार को सुनकर–अपनी भूमि की आर्त पुकार को सुनकर दो बार जेल भी जा चुके हैं। (सभी जानते हैं उस जेल यात्रा में उनके प्राण भी संकट में पड़ गये थे। सफेद वृद्धावस्था में वह काली कारा।।

मालवीय जी मातृभाषा के तो सर्वस्व ही हैं। आचार्य ध्रुव जी भाषा विज्ञान पढाते हुए कहा करते थे कि 'पाली' की उपमा मालवीय जी की राष्ट्रीय हिन्दी से दी जा सकती है। उनकी हिन्दी बड़ी शुद्ध, सरल और सीधी होती है तो भी वह पंजाब, बंगाल, गुजरात आदि सभी देशों में समझी जाती है। उनके उद्योग ने हिन्दी भाषा और नागरी लिपि को क्या बना दिया, यह आज सभी जानते हैं। केवल एक वाक्य काफी है। वे प्रथम (अखिल भारतीय) हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति हैं।

विद्या के लिए वे क्या कर रहे हैं? उनका विद्यालय देखिए। विद्या की पुकार सुनकर तो वे विद्यारुपी द्रौपदी के वस्त्र ही बन गये हैं। यह विश्वविद्यालय का वस्त्र बढ़ता ही जा रहा है। सचमुच मालूम पड़ता है, विद्या की पुकार किसी भाई ने सुनी है।

अपनी संस्कृति की भी एक पुकार है जिसे मालवीय जी ने सुना है। भारत के धर्म, कर्म, सभ्यता, संस्कृति आदि की रक्षा ही तो उनका एकमात्र लक्ष्य है। इसी अपनी संस्कृति वाले ममत्व के लिए कभी-कभी उन्होंने निन्दकों से गाली सुनी है। वे कभी अपने व्रत से हटे नहीं, पथ पर डटे ही रहे।

इस प्रकार उस दिन की कथा में मालवीय जी का जीवन था। मैंने पीछे मालवीय जी का जो जीवन देखा और पढ़ा वह सब उस दिन व्यास मुख से ही सुन चुका था।

यह सब सुना था हम सभी ने, पर उस कथा का सबसे बड़ा सन्देश दूसरा ही है। वही सन्देश मालवीय जी के जीवन का सन्देश है। वही सन्देश आज हमारे जीवन में सुन पड़ता है। वही सन्देश संसार के सभी बड़े सन्तों ने सुनाया है। वही सन्देश सुन कर संसार के बड़े लोग बड़े हुए हैं। वह है—

प्रार्थना और स्तुति का सन्देश !

श्रद्धा भरी एक सच्ची पुकार, भक्ति से भरी हृदय की प्रार्थना, क्या नहीं कर सकती? सब कुछ कर सकती है। यही द्रौपदी की कथा का सार ह। मेरे मन पर यही प्रभाव आज तक है कि मालवीय जी की भक्ति भरी पुकार सुनकर भगवान् उनका साथ देते हैं, देश उनका साथ देता है, काल उनका साथ देता है, सभी लोग उनका साथ देते हैं। और जिसका लोग साथ दें वही तो नेता है।

(II)

कुन्ती का धर्मोपदेश :

मैंने मालवीय जी की दूसरी कथा सुनी थी। उसका सार था—

धर्मे ते धीयतां बुद्धिः
मनस्तु महदुच्चताम्।

तुम्हारी बुद्धि धर्म में रहे और मन बड़ा ऊँचा।

आज तक यह वाक्य मुझे याद है। मैंने कालेज के प्रथम वर्ष के आरम्भ में इसे सुना था (स्यात् वर्षारम्भ के दिन)। तब से न जाने कितनी बार इसे अपने मित्रों और शिष्यों के समाने दुहरा चुका।

पाण्डव वन में थे। माँ कुन्ती ने उन्हें सन्देश भेजा—

पुत्र, बुद्धि को धर्म में और मन को ऊँचे पर रखना।

मालवीय जी महाराज भी उस दिन हम सब की माँ जैसे बनकर बोल रहे थे। उनके एक-एक शब्द में प्रभाव था—ममता थी।

सच पूछा जाय, तो यह मालवीय जी के जीवन का भी रहस्य है। मालवीय जी अपने अनुभूत (आजमाये हुए) वाक्यों का ही प्रायः उपदेश देते हैं—ऐसा मुझे अनुभव से मालूम पड़ने लगा है। मालवीय जी की धर्मबुद्धि प्रसिद्ध है और उनका मन कितना ऊँचा है यह भी सभी जानते हैं। उनके मनमोदक भारत के आश्चर्य हो रहे हैं—हिन्दू विश्वविद्यालय, हिन्दू सभा, भारतीय बालचर संघ (बुआय स्काउट एशोशिएशन) आदि पण्डित जी के मनमोदक ही तो हैं। उनके मन की इसी महत्ता पर मुग्ध होकर तो आज भारत उन्हें 'महामना' कहने लगा है। महामना पं० मदनमोहन मालवीय के मनमोदक साकार होकर सामने आ जाते हैं, दूसरों की भूख मिटा देते हैं, आलोचकों को लुभा लेते हैं। यही तो उनके मन का प्रताप है जिसका यश प्रताप वाले गणेश जी खूब गाया करते थे महामना के श्री गणेश करने वाले शायद गणेश जी ही थे।

कुलपति का तीसरा उपदेश :

हमारे कुलपति में पिता की बुद्धि तो मिलती है ही, पर हमें तो सदा वे वत्सल माँ की भाँति दुलराते और सिखाते रहे हैं। उन्होंने माँ की पुकार सुनी है इसी से वे सदा माँ की भाँति अपने कुल के सभी बच्चों को देखते हैं। वे माँ की ही कथाएं भी बड़े प्रभाव के साथ लगती भाषा में कहा करते थे।

उन्हीं चुनी हुई माँ की कथाओं में एक 'विदुला' की है—

प्राचीन काल में विदुला नाम की एक राजमाता थी। उसका पुत्र सिन्धुराज से हारकर घर लौट आया था। माँ को यह अच्छा नहीं लगा। उसने अपने पुत्र को समझाकर कहा—

बेटा, वीर का लक्षण है कि वह कभी दीन नहीं होता और न कभी लड़ाई से भागता है।

बेटा, लड़ने का नाम ही तो जीवन है :

आगे कहते-कहते माँ ने ऐसा ओजस्वी उपदेश दिया कि लड़का फड़क उठा और विजय के लिए घर से निकल पड़ा। आज भी यह विदुलोपाख्यान अभिमन्यु कथा के समान ही हिन्दू घरों में गर्भिणी माताओं को सुनाया जाता है जिससे उनकी संतान वीर हो। मालवीय जी ने तो इस वीरगाथा को ऐसे तेज और उत्साह से कहा था कि हमें उनके अंग-अंग में तेज दीखता था। हमारा हृदय तो उत्साह से भर ही उठा था। आज समय नहीं है तो भी व्यास के कुछ शब्दों को तो हम यहाँ सुना ही देते हैं—

अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि हि ज्वल।
मा तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः ॥

मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम् ।
सुपूरा वै कुनदिका सुपूरो मूषकाञ्जलिः ॥
सुसन्तोषः कापुरुषः स्वल्पकेनैव तुष्यति ।
कुरु सत्त्वं च मानं च विद्धि पौरुषमात्मनः ॥
उद्भावय कुलं मग्नं त्वत्कृते स्वयमेव हि ।
उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु ॥
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्ययैः ॥

बेटा तिन्दुक की लकड़ी के अंगार के समान एक पल भर ही जलो, पर जलो अवश्य। देर तक जीने की इच्छा से भूसी की आग के समान घुघुआओ मत। एक क्षण का जोर से जल उठना कहीं लाख गुना अच्छा है। बेटा, छोटी नदी थोड़े पानी में भर उठती है, भूसे की अंजुरी थोड़े में ही भर जाती है। इसी प्रकार छोटे आदमी को थोड़े में ही सन्तोष हो जाता है। तुम्हें सन्तोष करके उदास न बैठना चाहिए। उठो और लड़ो। अपने मान और पौरुष को देखो और बल दिखाओ। तुम्हें उठकर उन्नति और संपत्ति के काम में जी जान से लग जाना चाहिए। और मन में सदा यही रखना चाहिए कि यह काम अवश्य होगा ही भविष्यतीत्येव।

मालवीय जी को यह कथा बड़ी प्रिय है। क्योंकि उनका मन भी तो यही कहा करता है कि 'भविष्यतीत्येव।'

ऐसे ही वीर हमारे कुलपति हैं। इसी से तो वे श्रीमान, विजयी, भूतिमान और नीतिमान् हो सके हैं।

चौथा उपदेश है—

अभ्यागत का आदर। कान्वोकेशन के दीक्षान्त भाषण में मालवीय जी ने युधिष्ठिर के यज्ञवाले नेवले की कथा सुनाकर हम स्नातकों को यह उपदेश दिया था कि "सर्वस्याभ्यागतो गुरुः" अभ्यागत (अतिथि अथवा पाहुन, मेहमान) सबसे बड़ा होता है। उसका आदर हमें सबसे पहले करना चाहिए। सचमुच उनकी इस कथा में भी चोट की बात थी। अभ्यागतों का आदर न करना मनुष्यता की, अपनी और शिष्टाचार की हत्या है। भारत में आज दिन इसी की कमी से बड़ा अनर्थ हो रहा है। हम अपने साथी मनुष्यों को पानी नहीं देते, मींठे बोलते नहीं। यह कैसा अनर्थ है। हम तो अतिथि यज्ञ करने वाले हैं, फिर यह भूल कैसी। इसका चित्र मालवीय जी के मुख से ही सुनते बनता है।

मालवीय जी के घर देखिए तो वे कैसा आगतों का सत्कार करते हैं। कभी-कभी तो उन्हें तंग भी होना पड़ता है।

मालवीय जी की सभी कथाएं बड़ी मार्मिक और जीवन को छूनेवाली होती हैं, पर सब तो हम सुना सकते नहीं। देवहूति की दार्शनिक बात-चीत इस (जयन्ती) उत्सव की भीड़ में कैसे सुनावें? केवल द्रौपदी के अन्नपूर्णोत्सव का संकेत मात्र कर देते हैं। पाण्डव वन में बड़ी ग़रीबी से रहते थे। द्रौपदी को सूर्य से एक पात्र मिला था। इस

पात्र में जब तक द्रौपदी न खालेती थी तब तक अन्न बना रहता था। इस कथा में बड़ा रहस्य है। इसे हमारी गृहलक्ष्मियाँ और अन्नपूर्णा जानती हैं। उन्हें तपस्या से ऐसे पात्र मिल जाया करते हैं। हमारे घरों में अभी भी ऐसी अन्नपूर्णा द्रौपदी हैं।

मालवीय जी से हमने जन्माष्टमी पर कृष्ण जन्म की और एक प्रसिद्ध वाद-विवाद (जिसमें सी० आर० दास, बाबू भगवानदास आदि भी वे) गजेन्द्र मोक्ष की कथा सुनी है। ये तो अब हमारी कथाएं हो गई हैं। अखिल भारतवर्षीय गीता सम्मेलन में भीं आपने छोटा, पर बड़ा सुन्दर उपदेश दिया था कि गीता धर्म की लालटेंन है। यह तो सबके घर-घर में जलती रहनी चाहिए।

शान्ति के दूत :

हिन्दू सभा के काशी वाले अधिवेशन की एक बात आज भी याद है। एक व्याख्याता ने मनुस्मृति के बारे मे कह दिया कि उसके तो कई पाठ मिलते हैं —कई संस्करण हैं: अत: इस झमेले और गपोड़बाजी में से कैसे उद्धार हो? यह बात लोगों को बड़ी बुरी लगी। सारी सभा उठ खड़ी हुई। हो हल्ला मचा। इतने में बड़ी ऊँची, पर बड़ी मीठी आवाज आई—थोड़ी मेरी बात सुन लीजिए। दोनों हाथ भी उठे हुए थे। उस एक आवाज के जादू ने सब आवाजों को चुप करा दिया और उन दो हाथों ने सबको बिठा दिया। फिर व्यास के समान पण्डित जी ने कहा—

भाइयों, दूध में से मक्खी को निकाल दो, पर दूध को मत फेंको।—थोड़ा और समझाने पर सभा में शान्ति छा गई।

मालवीय जी इसी प्रकार कभी-कभी अपनी विरोधी सभाओं में जाते हैं और वहां भी व्यास के समान अपना उपदेश दे ही आते हैं। इसी से आज तक कोई भी संस्था उनसे अलग नहीं हो सकी है। क्योंकि वे तो कभी किसी को छोड़ते ही नहीं। इस जल्दी मे भी हम तीन बातें अवश्य कहेंगे। (१) जिस दिन मालवीय जी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में मन्दिर की स्थापना की थी, (उस विश्वनाथ मन्दिर को हम विश्वमन्दिर कहा करते हैं) उस दिन उनका व्यास रूप अनुपम था। उस समय उनके साथ में आचार्य ध्रुव और वृद्ध अध्यापक (नील कमल जी) भट्टाचार्य भी थे। कुल के कुछ भाई बहिन भी थे। कुलपति का यह व्यासरूप हमें बड़ा ही प्रिय लगा था। वह एक ऐतिहासिक दिन था। (२) इसी प्रकार दूसरा ऐतिहासिक दृश्य था दिल्ली की कथा का। सन् २५-२६ की बात है। महात्मा गांधी दिल्ली में अनशन कर रहे थे। असेंबली का सेशन था। सभी नेता वहीं जमे हुए थे। वहां हमारे कुलपति (मालवीय जी) ने भागवत शुरू कर दी। फिर क्या था। रस की धार बहने लगी। गांधी जी जैसे लोगों ने उसी दिन भागवत को रस का ग्रन्थ मान लिया। जो लोग भागवत के बारे मे उटपटांग कहा-सुना करते हैं वे एक बार गांधी जी के मत पर ध्यान दें तो बड़ा लाभ हो सकता है। गांधी जी ने नवजीवन में लिखा था भारतभूषण मालवीय जी के मुख से भागवत सुनने से मेरी धारणा ही बदल गई। अरे इसमें तो बड़ा रस है। (३) तीसरा अद्भुत दृश्य है काशी के दशाश्वमेध पर दीक्षायज्ञ। कई वर्ष पहले की बात है। शिवरात्रि को सवेरे

कुलपति मालवीय जी एक चादर ओढ़े उघारे सिर कुशासन पर बैठे हैं। बड़े मर्म भरे शब्दों में कह रहे हैं—

देखिए, अभी मुझे ध्यान में ऋषियों ने दर्शन दिया है। वसिष्ठ, व्यास ये खड़े हैं, पराशर, शुक भी मुझे यहीं खड़े देख पड़ रहे हैं। ये मेरे पिता, पितामह आदि भी आकर खड़े हैं, मुझसे कह रहे हैं, तुम शिवनाम की महिमा सबको समझाओ। भाइयो, तुम भी, ध्यान करो, तुम्हें भी वे ऋषि मुनि दर्शन देंगे।

यह दृश्य बड़ा रोमांचकारी था। मैंने जाकर अपनें पिता तथा गुरु को सुनाया। और वे भी मन्त्र मुग्ध हो गये थे। मेरे एक प्रोफेसर ने कहा था—आचार्य रामानन्द के बाद मालवीय जी ने ही यह अद्‌भुत कार्य किया है। इस प्रकार मालवीय जी असंख्य हिन्दुओं के दीक्षागुरु भी हैं। कुलपति और आचारवान् आचार्य तो वे हैं ही

मालवीय जी की कृतियों की बात तो कौन कहे ? यदि उनकी कही हुई बातों को ही हम कहने लगें तो एक महाभारत जैसा इतिहास तैयार हो जावे। एक ऐसा ग्रन्थ तैयार भी हुआ है। उसमें हजार के लगभग पृष्ठ हैं, तो भी मालवीय जी की कही सुनी सब बातें कहां आई ? हां, एक झलक मिल जाती है,

इसी से हम तो तुलसी बाबा के शब्दों में कहा करते हैं—

केशव, कहि न जाय का कहिए।
देखत तव रचना विचित्र अति,
समुझि मनहिं मन रहिए।

इस पर एक बात और याद आ गई। एक बार मालवीय जी कथा कहने जा रहे थे। विश्वविद्यालय के गायनाचार्य पं० शिवप्रसाद जी भजन गा रहे थे।

'केशव कहि न जाय का कहिए'

मालवीय जी स्वयं उस भजन को गाने लगे। झूम-झूमकर उन्होंने गाया और हम सबको झुमा दिया। केवल गाया ही नहीं, उन्होंने उसकी व्याख्या भी की। पूरे भजन की व्याख्या में कथा का समय भी पूरा हो गया। फिर भजन होने लगा और प्रसाद लेकर हम लोग चल पड़े।

तब से हम तो कई बार इस पर कथा कह चुके। इसका भजन और मनन तो प्रायः हम नित्य ही करते हैं। विश्वविद्यालय की चराचर सृष्टि देखकर कौन न कह उठेगा—

देखत तव रचना विचित्र अति,
समुझि मनहि मन रहिए।
केशव, कहि न जाय का कहिए।

भूतपूर्व उपाचार्य, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

(महामना के हीरक जयन्ती वर्ष पर प्रकाशित पुस्तक से साभार)

मालवीय जी की प्रतिमा अब भी बोलती है

रामजी राय

निर्वासन और अकेलेपन की चरम यंत्रणा भोगते हुए कालिदास के यक्ष ने 'वादल' को दूत बनाकर 'रामगिरि' से अपनी प्रिया के पास 'अलकापुरी' भेजा था। इस काव्यमयी यात्रा के उद्‌गाता कालिदास ने जिस राष्ट्रीय सांस्कृतिक आयाम का उन्मेष अपनी कल्पना से किया और साहित्यिक दुनिया में खलवली मचा दी, ठीक इसी प्रकार का किन्तु दूसरे परिप्रेक्ष्य में एक सांस्कृतिक सेतु मालवीय जी ने स्थापित किया। यह आयाम दूसरा था, इसकी दिशा दूसरी थी, परन्तु दृष्टिकोण वही था। देश की सुप्त नसों में विचारों के बादल से जीवन्तता का उन्मेष करना, भूमि में दवे अंकुरों को वाहर निकलने के लिए प्रेरणा देना और उपयुक्त वातावरण तैंयार करना तथा तत्कालीन संघर्ष की धूप को सांस्कृतिक छाया प्रदान करना। मालवीय जी क्रान्तदर्शी मनीषी थे, कवि हृदय थे और स्वप्नदर्शी थे। कालिदास का मेघ अलकापुरी के लिए चला था, किन्तु यह मालवीय रूपी मेघ तो मालवा के पठारों से उठकर पूर्वमुख यात्रा करते हुए, प्रयाग की तपःपूत धरती और पावन त्रिवेणी का संस्पर्श करते हुए काशी में आकर वरस पड़ा।

मालवा की उर्बर धरती ने अपने तपःपूत वंशज मालवीय को दूत बनाया। दूत थे वे, मनीषी थे वे। कृष्ण जैंसा दौत्य कर्म किया मालवीय जी ने। बादल जैंसा दौत्य कर्म किया मालवीय जी ने। कृष्ण से उन्हें निस्पृहता और संघर्ष चेतना मिली तो बादल से सरसता और जीवन्तता। परोपकारी वादल अपने को लुटाकर रिक्त होजाता है, उसी प्रकार पण्डित मदन मोहन मालवीय जी ने अपने को निःशेष भाव से लुटा दिया। वे सबके हो गये। वे व्यक्ति से अव्यक्ति हो गये। आज वे 'मिथ' बन चुके हैं, लोक जीवन की रगों में उतर चुके हैं और छाया पुरुष बनकर, हमें ज्ञात-अज्ञात भाव से अनुप्रेरित कर रहे हैं।

बचपन में प्राइमरी कक्षा की पुस्तकों में पढ़ा करता था कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापनां मालवीयजी ने की। मालवीयजी ने देश की आजादी की लड़ाई लड़ी और मालवीय जी ने गहरे संकट के समय भारतीयता की रक्षा की। जहाँ तक भारतीय होने का प्रश्न था, मालवीय जी चिन्मय भारत के उपासक थे। वह भारत जो अपने चारित्रिक प्रवाह में आज भी अमर और उदात्त है। पंडित पद्मसिंह शर्मा की कुछ पंक्तियां इस समय याद आ रही हैं कि लोकमान्य तिलक के वाद, मालवीय जी ने ही श्रीकृष्ण चरित्र को अपने जीवन में सवसे अधिक उतारा। श्रीकृष्ण चरित्र का दान, श्रीमद्भागवत महापुराण का श्रवण-वाचन और गीता का अध्ययन उनके नित्य जीवन के अंग बन चुके थे। वे सच्चे हिन्दू थे, सच्चा हिन्दू सभी संकीर्णताओं से मुक्त होता है और एक ही सत्ता का विश्वासी होता है। वैंसे भारतीयता या हिन्दुत्व कोई वाहरी चीज नहीं, वह एक आन्तरिक संरचना है जो अपनी अन्विति में सनातन मानवीय मूल्यों के सूत्रों से निर्मित हुई है। इन सूत्रों से बीनी गई भारतीयता, मानवीयता का ही दूसरा नाम है। धैर्य, शौच, सत्य,

अहिंसा आदि सद्गुणों से निर्मित इस मनोमय संरचना की उपयोगिता वाह्य धरातल के संघर्ष में भी सहायक होती है। यही कारण है कि माललीय जी की अन्तश्चेतना उनके वाह्य पर्यावरण को प्रकाशित करती थी, और वे सबको मंत्रमुग्ध कर लेते थे। वे अत्यन्त संवेदनशील होने के साथ दृढ़ भी थे। उनकी संकल्प धर्मिता और सोद्देश्यता उन्हें सफलता के राजमार्ग पर आगे बढ़ाती चली गई। सोचा नहीं जा सकता है कि काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय की स्थापना की कामना कैसे पूरी होती यदि मालवीय जी में घोर आशावादिता और दृढ़ता नहीं होती। व्यक्तित्व की यह 'वज्रादपिकठोर एवं' सुकोमल' बनावट मालवीय जी की अपनी विशेषता है, इसी विशेषता ने उन्हें दुनिया का सबसे बड़ा 'भिखारी' बना दिया। एक पैसा, दो आना, दो रुपया से लेकर उन्होंने बड़ी-बड़ी धनराशि अपनी झोली में भर ली, और शंकर की नगरी काशी में अपनी झोली खाली कर दी।

मालवीय जी ने भारतीय संस्कृति की राजधानी काशी को अपनी कर्मस्थली बनाया-क्यों? कारण यह है कि काशी भारत की साहित्यिक-सांस्कृतिक-आध्यात्मिक चेतना की नगरी है और अप्रत्यक्ष रुप से यह देश की राजनीति को भी प्रभावित करती आई है। इसे अपने विश्वविद्यालय क्षेत्र के रुप में चुनकर मालवीय जी ने भारतीय मन की बात रख ली। भारत का मन काशी आना चाहता है। भारत की आत्माएं काशी आना चाहती है। इस देश के मनीषी काशी आना चाहते हैं। यह सबसे संवेदनशील स्थान है। यहां से चेतना की लहरें पूरे देश में फैलाई जा सकती हैं। बुद्ध ने इसे अपना केन्द्र बनाया। शंकराचार्य की प्रतिभा को यही उन्मेष मिला। मध्यकाल में कबीर और तुलसी ने यहीं निर्वासन झेला। आधुनिक काल की संघर्षी मानसिकता को जन्म देने वाली महान् संस्था काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना काशी में करके मालवीय जी ने यही कार्य किया।

काशी के मन्दिरों, सड़कों और गलियों से आज भी मालवीय जी जुड़े हुए हैं। कितने ही सन्तों, कथावाचकों और विद्वानों में उनकी स्मृति जाग रही है। किन्तु इस स्थल पर यह समझना बहुत बड़ी भूल होगी कि मालवीय जी की यह धार्मिक आस्था उन्हें आधुनिकता से अलगकर देती थी। मालवीय जी बिल्कुल आधुनिक थे, वे वैज्ञानिकता और बौद्धिकता के समर्थक थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की यांत्रिक, वैज्ञानिक और रचनात्मक प्रगति की पूरी योजना उन्होंने पहले ही बना ली थी। वे एक सच्चे इंजीनियर भी थे। वास्तुकला की गलतियों को, तकनीकी अव्यवस्थाओं को वे नजर अन्दाज नहीं करते थे। वे सक्रिय योद्धा थे, और स्वास्थ्य रक्षा के लिए, व्यायाम और संयम के लिए निरन्तर विद्यार्थियों को प्रेरित किया करते थे।

नम्रता और क्षमाशीलता से भरे-पूरे मालवीय जी आधुनिक भारत के निर्माता थे। वे बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न स्नातकों से इस देश को उजागर और उद्दाम बनाना चाहते थे। उनकी रचनात्मकता, मौलिकता, नम्रता, दूरदर्शिता और सिद्धान्तप्रियता आधुनिक भारत के महर्षि के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित करती है, किन्तु दुःख की बात है कि आजादी के बाद पैदा हुए हम लोग बड़े ही संकीर्ण वृत्ति के हैं। हमारी मानसिकता नकलची हो गयी है और हमें मालवीय और उनकी संस्कृति से कुछ लेना-देना नहीं है।

वस्तुत: यह प्रश्न वहुत गहरा है, और हमारे सारे अस्तित्व को नकलची वनाकर छोड़ देता है। मालवीय जी की महान मेधा, उनके महान् आदर्शों और उनके विशाल कृतित्व से हम आंखमिचौनी न करें तो बहुत अच्छा होगा। हमें मालवीय जी की देन को समझना होगा, उनके विचारों का विश्लेषण करना होगा, उनकी वहुआयामी कलात्मक वैज्ञनिक आधुनिकता को अपने व्यक्तिगत जीवन में उतारना होगा। मालवीय जी कोई हमसे दूर थोड़े ही हैं। वे हौआ भी नहीं है। वे विल्कुल हमारे स्वर्गीय पितामह जैसे ही हैं। उनकी स्नेह से छलछलाती आंखें हम पर विश्वास करती हैं। उनके विश्वास को हमें तोड़ना नहीं चाहिए। शिक्षा और परीक्षा की घाटियों को पार कर लेना ही जीवन का उद्देश्य नहीं है। इस तथ्य को हमें समझना होगा, हमें अपने चरित्र, अपनी अस्मिता और अपनी संस्कृति को भी समझना होगा। तभी हम मालवीय जी की धरोहर को संभाल सकते हैं। धरोहर को भी यदि हम नहीं संभाल पाये, तो यह हमारी पराजय होगी। हमें ध्यान रखना है कि हमारी पराजय पूरे देश की पराजय है, भारतीयता की पराजय है, ओर मालवीय जी के आदर्शों की पराजय है।

अन्त में एक भावमयी घटना का उल्लेख करते हुए इस लेख का उपसंहार करता हूं। संयोग से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के गोपुर के सम्मुख स्थापित मालवीय जी की प्रतिमा के सामने एक सुवह मैं चकित विभोर होकर रुक गया था। टहलते-टहलते उस प्रतिमा के सामने ठिठक कर खड़ा होते ही मुझे लगा था कि यह प्रतिमा चिन्मयी काया बन गई है और उसकी आंखों से ज्योति निकल रही है। अधरों पर हास्य थिरक रहा है और मुख से वाणी निकल रही है, --"जानते हो मेरी यह प्रतिमा हवा, पानी और धूलिकणों के आघातों को क्यों सह रही है ? नहीं जानते होगे, क्योंकि जानना वड़ा कठिन होता है। मैं मरा नहीं हूं। मेरी आत्मा इस विश्वविद्यालय से बंध गई है। मेरी आत्मा इस धरती से बंध गई है। इस धरती के स्वप्न से वंध गई है। क्या होगा मोक्ष, वह तो वड़ा सस्ता है। क्या होगा स्वर्ग वह वड़ा खोटा है। मैं इसी धरती का होकर रहना चाहता हूं। अंधेरी आंखों को उज्ज्वल रोशनी देना चाहता हूं। मेरी प्यासी आत्मा वच्चों की हंसी का अमृत पीकर कृतार्थ हो गयी है। मैं विल्कुल तुम्हारा ही हूं। पारिवारिक रिश्ते का ही हूं। मुझे बहुत ऊंचा और बहुत दूर समझना तुम्हारी भूल है। मैं धरती से जुड़कर ही इतना ऊंचा हुआ हूं. तुम भी धरती से जुड़े रहना। यह धरती आकाश को छूती है और इसके निर्झरों में पाताल का जल वहता है।" इस मक वक्तृता को सुनकर मेरी आंखों में आंसू भर आये थे और शरीर रोमांचित हो गया था। थोड़ी देर वहां ठहर कर मैं अपने स्थान पर लौट आया था। पर वह मूक संलाप भूल नहीं सकता हूं।

बी० ए० अन्तिमवर्ष
कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

छात्रों को—महामना के उपदेश

डा० छविनाथ पाण्डेय

इस बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रारम्भिक दशक को यदि किसी शब्द विशेष से चिढ़ है तो वह है एक मात्र शब्द 'उपदेश'। जब कभी कोई अपने अनन्य आत्मीय से कुछ कहने का साहस करता है तो सुनने के पहले ही श्रोता के मुँह से हठात निकल पड़ता है कि 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे।' ऐसे औद्धत्यपूर्ण अनुशासनहीन विश्रृंखल, अनैतिक अविश्वासी वातावरण में उपदेश की बात करना 'नक्कारखाने में तूती की आवाज' होगी फिर भी दुस्साहस कर ही रहा हूँ क्योंकि महामना ने कभी भी उपदेश के नाम पर कोई उपदेश नहीं दिया बल्कि उन्होंने अपनी आस्था और विश्वास को अपने दैनिक व्यवहार में ऐसा सांगोपांग उतार लिया था कि उनके व्यवहार में ही उपदेश अपना साक्ष्य पा लेता था।

यों तो महामना जी ने लिखा कम कहा पर्याप्त और किया सर्वाधिक। वे जीवन भर अपने चरित्र से उपदेश ही तो देते रहे। उनके सम्पर्क में जो भी आया वह पारस के स्पर्श मात्र से खरा कुन्दन हो गया। मालवीय जी के उपदेश तीन अवसरों पर नियमित रूप से होते थे। वे अपने एकादशी प्रवचन, गीता प्रवचन और विश्वविद्यालय के स्थापना महोत्सव पर जो उपदेश देते थे उनमें अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों की उपलब्धि भरी रहती थी। उनके उपदेश में आया हुआ जीवंत विचार इस श्लोक में व्यक्त हो जाता है—

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया,
देश भक्त्यात्म त्यागेन सम्मानार्हः सदाभवेत्।

जिस व्यक्ति में सत्य, ब्रह्मचर्य व्यायाम, विद्या, देशभक्ति, और त्याग की भावना भरी हुई हो (सच्चे अर्थों में) वही एक मात्र सम्मान का पात्र होता है। जिसने भी इस उपदेश को अपने जीवन की निधि मानकर आत्मस्थ कर लिया होगा, चारों पुरुषार्थ उसकी मुठ्ठी में आ गए होंगे। उन उपदेशों की पूर्ति के लिए उन्हें मूर्त्त रूप देने के लिए महामना ने जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की तो उसमें उन्होंने व्यायामशाला की व्यवस्था के लिये शिवाजी हाल बनवाया। इतना ही नहीं वे व्यस्त होते हुए भी नियमित रूप से व्यायामशाला में जाते थे और छात्रों को व्यायाम के प्रति निरन्तर उत्साहित भी करते थे। कभी-कभी उनके साथ सेठ जुगल किशोर बिड़ला भी हो लेते थे जो कि छात्रों से कसरत करवाते और उन्हें बादाम तथा दूध के लिये पर्याप्त द्रव्य भी देते थे। महामनाजी की इच्छा थी कि सम्पूर्ण संसार की सारी विद्याएँ यहीं पढ़ाई जायँ और कोई भी ऐसी विद्या न बचे जिसे पढ़ने के लिए छात्र को भारत भूमि छोड़नी पड़े। देश भक्ति और आत्मत्याग का निर्वाह तो उन्होंने स्वयं जीवन-पर्यंत किया। कांग्रेस का सारा इतिहास मालवीय जी की देश भक्ति और आत्मत्याग से भरा पड़ा है।

'मेरो सिर जाय तो जाय प्रभु मेरो धरम न जाय' का नारा देने वाले कट्टर सनातन धर्मी होने हुए भी देश भक्ति के कारण गाँधीजी के साथ गोलमेज परिषद् में भाग लेने के लिये विदेश गये पर वहाँ भी उनके संयम की रक्षा गंगाजल कर रहा था।

आत्मत्याग के तो मालवीय जी सजीव मूर्ति थे। मध्यम श्रेणी के परिवार में जन्म लेने पर भी देश की पुकार पर उन्होंने अपनी चमकती हुई वकालत पर लात मार दी और हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का महान व्रत लेकर निकल पड़े। ऐसे सत् और महत् कार्य की पूर्ति के लिए उन्होंने संगम पर गायत्री का पुरश्चरण किया।

उन्होंने इतने बड़े विश्वविद्यालय की स्थापना की जो विश्व के प्रमुखतम विश्व-विद्यालयों मे मूर्धन्य स्थान का भागी बना फिर भी उसमें उन्होंने अपने किसी निकट संबंधी को कभी कोई अर्थ-लाभ का पद नहीं लेने दिया। इतना ही नहीं देश के कोने-कोने से आए हुए जिज्ञासु, ज्ञानपियासु निरीह सहस्रों विद्यार्थियों को उन्होंने शिक्षा और निवास की निःशुल्क सुविधा दी।

महामनाजी अशरण शरण थे। जिसे संसार में कोई आश्रय नहीं दे पाता था उसे मालवीय जी सरलता से सुख-सुविधा दे देते थे। उनके अनेक प्रशंसक अब भी हैं जो आज भी यह कहते नहीं अघाते कि मैं आज जो कुछ भी देख रहा हूँ यह सब मालवीयजी का पुण्य प्रसाद है।

मालवीयजी में शील की भावना ऐसी भरी हुई थी कि उसका कोश कभी भी रिक्त नहीं हुआ। उनकी गुरु भक्ति के सम्बध में एक संकेत कैसा सशक्त साक्ष्य प्रस्तुत करता है—पं० आदित्यराम भट्टाचार्यजी मालवीयजी के गुरु थे। मालवीयजी भट्टाचार्यजी के प्रति असीम श्रद्धा रखते थे। संयोगवश उनके गुणों पर रीझकर मालवीयजी ने उन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का प्रो० वाइसचांसलर नियुक्त कर लिया पर जब कभी भी भट्टाचार्यजी से मालवीयजी का साक्षात्कार होता तो महामना उन्हें साष्टांग प्रणाम ही करते थे। वह साक्षात्कार चाहे प्रकोष्ठ में हो, सड़क पर हो या नगर में हों। भट्टाचार्य जी ने मालवीयजी की गरिमा का ध्यान करके कई बार ऐसा करने को मना भी किया पर भला मालवीयजी कब मानने वाले थे। भेंट हुई नहीं कि मालवीयजी भूमि पर लेट ही जाते थे। ऐसी थी महामना की गुरु भक्ति।

कभी-कभी छात्रों को यह उपदेश भी दे डालते थे कि 'दूध पियो कसरत करो नित्य जपो हरिनाम मन लगाय विद्या पढ़ो पूरन होंगें काम'।

महामना के ये उपदेश मात्र उपदेश ही नहीं सफल जीवन की धवल वह ऋचाएं हैं जिनके स्तवन मात्र से मनुष्य (छात्र) अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

हिन्दी विभाग
विनानी डिग्री कालेज, मिर्जापुर (उ० प्र)

त्रिशूली की काशी

राका उपाध्याय

त्रिशूली की यह काशी, सप्तपुरियों में सबसे प्राचीन, जेरुसलम और दमिश्क से भी पुरानी, गंगा के तीर बसी पड़ी है। सहस्राब्दियों का इतिहास उसकी धरा पर घटता रहा है, बनता रहा है, मिटता रहा है, मिट-मिट कर बनता रहा है। पुराकाल में, सभ्यता की उठती हुयी शताब्दियों से भी पहले, देश के आदिमों ने यहाँ अपने घरों के वल्ले गाड़े, आर्यों ने अपने शौर्य की पताका कालान्तर में फहरायी, ऋषियों ने अपने ज्ञान गुने, दर्शन उनके हस्तामलक हुये।

वैदिकों के पुरातन याजनिक विदेघ माथव ने इसी काशी की राह पूरब जाकर गण्डकी लांघ विदेहों को मन्त्र दिये। आर्यों की सभ्य मानवीयता की बेलें पूरब की धरा में उगीं, और फैली। रामायण-महाभारत के कीर्तिमान राजघरानों ने खड्ग से कीर्ति लिखी जिनकी छाया में ब्रह्म और आत्मा के प्रसंग विचारकों के अभिमत हुये। बृहद्रथों के राजवंश ने कालांतर में समाज के इस आंगन को भरा-पूरा, चेतना उनकी संरक्षा में सजग हुयी। अजातशत्रु ने बालाकि के दर्प को अपने आत्मज्ञान से चूर्ण किया, तभी जब मिथिला में विदेह जनक और याज्ञवल्क्य दर्शन का नया संस्कार कर रहे थे, जब पांचालों की अहिच्छत्रा काम्पिल्य में, प्रवहण जैवलि के नेतृत्व में ब्रह्म का सौरभ वातावरण को गमका रहा था, जब कैकेयों में अश्व पति चोरों और अज्ञानियों का नाश कर रहे थे, ब्राह्मणों को उन्हीं के मन्त्र द्वारा-समित्पाणीभव-नवज्ञान से संयुक्त कर रहे थे।

तभी काशी में उस पार्श्व ने जन्म लिया जिसके चार सिद्धान्तों को आत्मगत कर ज्ञात्रिकों में जन्में वर्धमान ने कुण्डक ग्राम छोड़ अपने पाचवें सिद्धान्त ब्रह्मचर्य को उनमें जोड़ केवली वृत्ति से जैन धर्म का विस्तार किया। वही काशी कोसल के प्रसेनजित की भगिनी के विवाह में मगध के बिंबिसार को वधू के जूड़ा-स्नान के रुप में दे दी गयी और तब कुछ काल के लिये जैसे काशी का आसन हिला।

शीघ्र ही उसकी फिर प्रतिष्ठा हुयी और गंगा की उर्मियों ने उसे उसकी सनातन ज्ञान-काया अर्पित कर दी। सम्यक् सम्बुद्ध तथागत ने पहले पहल अपने धर्म चक्र का प्रवर्तन काशीवर्ती मृगदाव के सारंगनाथ मे किया जहाँ उनके भावों का सात्विक सन्दर्भ सदियों से गूंजता रहा—भिक्खुओं, एक मार्ग अत्यन्त तप का है, दूसरा अत्यन्त विलास का एक तीसरा मार्ग है तथागत का देखा है—जो न अत्यन्त तप का है न अत्यन्त विलास का, दोनों के बीच का है, मज्झिम पटिपदा है, उस पर चलो। तथागत का पहला उपासक काशी का वणिक हुआ।

ग्रीकों-शकों की विजय वाहिनियों ने जब मध्य देशों को रौंद डाला, दुष्ट विक्रांत यवनों नें जब गंगावर्ती इस धरा को क्षत-विक्षत कर डाला तब पुरोहित-सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने यज्ञ की स्रुवा नीचे डाल खड्ग धारण किया और धर्म शास्त्रों का आचरण फिर से

स्थापित हुआ, मनु की स्मृति और उससे पहले गीता का दर्शन गंगा के ही तीर रचा गया।

विजातियों-विधर्मियों के रिसाले जब कालान्तर में काशी के परवर्ती भूमि पर टूटे तब नागों ने काशी के त्रिशूली को अपना इष्ट मान शपथ ली। पीठ पर शिव को धारण कर विदेशियों को ठेंलते वे उत्तर-पश्चिम की ओर सिन्धुनद तक जा पहुँचे। बार-बार उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किये, बार-बार काशी की गंगा में यज्ञों के समापन में अवभृथ स्नान किये, दस-दस अश्वमेधों के अनुष्ठान से उसके घाट का दशाश्वमेध नाम सार्थक किया। गंगा पुलक कर बही।

शंकर का तत्त्वज्ञान, वेदान्त का प्रकाश अद्वैत के माध्यम से काशी में गूँज उठा। मण्डन के द्वार पर वेदों के मन्त्र गुन्जारतीं शुकसारिकाओं की पृष्ठभूमि से उनकी पत्नी के समक्ष शंकर का विराग नतमस्तक हुआ, काशी की महिमा विपुल वेग से भारत में विन्यस्त हुयी।

काशी में ही हिन्दू-मुस्लिम एकता का परिचायक ज्ञान और सत्य का दो टूक प्रकाशक हठधर्मिता और ढोंग का सहस्त्रश: भंड़ाफोड़ करने वाला सहज निर्भीक जुलाहा जनमा जिसने ललकार कर कहा; 'कबिरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ, जो घर जारे आपना चलें हमारे साथ।'

एक दिन सदियों बाद एक प्रव्रजित सन्त गाँव से जाकर अस्सी घाट पर बैठा और कोरे पन्नों पर गाँव की भाषा में राम का चरित लिख डाला, जैसा कभी किसी ने नहीं लिखा था और जिसके द्वारा राम कथा की उमड़ती सुरसरि की धारा ने जन-जन को परम पवित्र और निष्पाप कर दिया। तुलसी का वह अभिनव यश चिरस्थायी हुआ।

पण्डित राज जगन्नाथ ने अपनी 'गंगा लहरी' में पिछली सदी में जो स्निग्ध कोमल पदावली की धारा प्रवाहित की वह जयदेव की भारती से कुछ कम मधुर न थी।

सदियाँ गंगा की धारा के प्रवाह पर करवट लेती बहती चली गयीं और तब आचारपूत महामना ने कटिबद्ध हो अपने सपने सत्य किये और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की नींव पड़ी, उसके विशाल भवनों में ज्ञान की गरिमा तपी और वितरित हो चली। मदन मोहन मालवीय का यह विश्वविद्यालय जब खड़ा हुआ, गंगा की धारा कुछ संकोच से बहने लगी, सदियों के पार देखती सोचने लगी क्या ऐसा कुछ पहले भी देखा?

कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

महामना के प्रति

अनुज प्रताप सिंह

नत हूँ, विनत हूँ
बार-बार
अनगिनत बार
हे मानव श्रेष्ठ !
सहज उज्ज्वल
खादी के
परिधान में
दुर्लभ दर्शन
काया से—
लौकिक जीवन को
अलौकिक प्रकाश
दिया तुमने
पावन पर्वत, नदियाँ
तीर्थ स्थान और
संस्कृत भाषा के
समान ही—
'भारती' के
संवाहक !
देते रहोगे
लगातार
आगामी युगों को
निर्देशन,
शान्ति की उपासना
सार्थक कहाँ ?
जब तक हम
बना नहीं पाते हैं
अनुकूल मानसिकता
एक उत्तम देश के
निर्माण के लिए
प्रथम आवश्यक है
समरस स्वतंत्र हो
जीवन
लौकिक जीवन
ऐसे ही भावों से
उदित है
'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय'
धन्य है
वह विवेक
जिसने—
खानों में छिपे हुए
रत्नों को चुना
और
'सर्वविद्या की राजधानी'
में जड़ा
निस्संकोच
हिन्दू-मुस्लिम
सिक्ख-पारसी
और अंग्रेज दरबारों की—
दौड़ की
और एक महायोग
इकट्ठा किया
तीर्थ स्थानों,
गाँवों के—
अकिंचन जनों ने भी
तुम्हारी झोली में
अपने श्रम से अर्जित
द्रव्य
यथाशक्ति दिया
फिर
युग-चेता
युग-चित्त
और युग-पुरुष के—
चरणों में
प्रणय किया,
रत्नदीप-सा
अनवरत जलते रहे
झेलकर
आँधी और पानी को
जिससे
भावी मानव
तम से विमुक्त हो
और प्रकाश के
पथ पर
दृढ़ चरण धरे
जहाँ गये
धर्म-राजनीति
संस्कृति-सभ्यता
चिंतन-कर्म को
देते रहे
एक दिशा
एक रूप
भूल गए तुम
अपनी भूख—प्यास
कल्पवृक्ष
सींचते रहे
जिससे
मनुष्य के
मनोरथ
फूले फलें।

महामना मालवीयजी और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की बाधाएं

श्री शिवधनी सिंह

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानंसृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुस्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।

मालवीय जी महाराज का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ था, जब भारतवर्ष सब प्रकार से दासता के बन्धनों में जकड़ा हुआ था। भारतीय जनता अपनी संस्कृति को भूलती जा रही थी, चारित्रिक बल क्षीण होने से भारत का क्रमशः नैतिक पतन हो रहा था। अनीति, अधर्म और अत्याचार के दमन और प्राचीन संस्कृति के संरक्षण संवर्धन के लिये ब्राह्मण कुल में मालवीय जी महाराज का आवेशावतार के रूप में आविर्भाव हुआ।

निस्संदेह वे मनीषी स्वभावतः परम सात्त्विक, त्यागी, उदार, विनम्र, कृपालु, सहिष्णु, एवं प्राणिमात्र के निस्पृह सच्चे सेवक थे। राजनीति, शिक्षा, धर्म, संस्कृति के क्षेत्रों में उनके कार्य अप्रतिम हैं। उनका व्यक्तित्त्व भव्य और आकर्षक था। उनकी वाणी में जितना अद्भुत जादू था वैसा ही हृदय भी अत्यधिक विशाल तथा मृदु था। नीति धर्म के श्लोकों के ढांचे में ढला हुआ उनका उज्ज्वल चरित्र शत्रुओं से भी सहज ही प्रेम और सम्मान प्राप्त कर लेता था। उनके मन में जो विचार आता था, उसे अपनी वाणी और कर्त्तव्य से पूरा करते थे। उनके हृदय में बाल्यावस्था से ही देश और धर्म-रक्षा की भावना गूंज रही थी। उन्होंने जनोपयोगी और देशोपयोगी अनेक संस्थाओं का निर्माण किया। वे दुःखी और अशक्त जनों के सच्चे सहायक के रूप में उनके कल्याण का मार्ग प्रशस्त बनाने वाले थे। काशी के प्रसिद्ध विद्वान् स्व० पं० नारायणपति त्रिपाठी की पुस्तिका में प्रकाशित यह श्लोक मालवीय जी महाराज की भावनाओं को प्रतिफलित करता है :—

"मदन मोहन मालवभूसुरस्सकलदेशहितोद्यत मानसः ।
पतित नीच जनानशुचीनपि प्रकुरुते निजमंत्र बलाच्छुचीन् ।।"

शिक्षा से जगत पर विजय

मालवीय जी महाराज में दूर-दर्शिता थी। वे भविष्य के ज्ञाता थे। उन्हें अपनी जनता की नाड़ी का सच्चा ज्ञान था। उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि जब तक जनता अपने धर्म और संस्कृति का महत्त्व नहीं समझ लेती, तब तक हम स्वराज्य प्राप्त करने के अधिकारी नहीं होंगे। वे शिक्षा के सुदृढ़ नींव के बल पर—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।

के अनुसार भारत को जगद्गुरु के रूप में देखना चाहते थे। इस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये (देश में अनेक विश्वविद्यालयों के होते हुये भी) उन्होंने सन् १९१६ में आध्यात्मिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक नगरी काशी में विश्वविख्यात 'हिन्दू विश्वविद्यालय' की स्थापना की।

कुछ ऐसा देखा जाता है कि "श्रेयांसिवहु विघ्नानि" शुभ कार्यों में अनेक बाधाएँ उपस्थित हुआ करती हैं। एक ओर—जहाँ सर्वत्र विश्वविद्यालय की स्थापना का स्वागत हुआ, दूसरी ओर यह विवाद खड़ा किया गया कि विश्वविद्यालय के लिये किसी प्रकार की सरकारी सहायता न ली जाय। मालवीय जी महाराज ने अपने परम स्नेही स्व० बाबू शिवप्रसाद गुप्त को यह समाचार दिया कि वाइसराय ने इसको संरक्षण देने का वचन दिया है, उन्हें मार्मिक दुःख हुआ और कहा कि "यह हिन्दू विश्वविद्यालय की मृत्यु घोषणा है।"

इसी प्रकार सन् १९२० के असहयोग आन्दोलन के प्रथम दौर में—जब महात्मा गांधी ने विश्वविद्यालयों के बहिष्कार का नारा बुलन्द किया, मालवीय जी महाराज उससे सहमत नहीं हुए। शिक्षा संस्था का त्याग किसी भी दशा में उन्हें प्रिय नहीं था। उन्होंने इस प्रवाह की उपेक्षा की, जिसके लिए उन्हें अपशब्द भी सुनने पड़े। शिक्षा-बहिष्कार के प्रवर्तक स्वयं महात्मा गांधी का भाव जहाँ यह था कि "मैं मालवीय जी से बड़ा देश-भक्त किसी को नहीं पाता। मैं सदैव उनकी पूजा करता हूँ", प्रवाह की धारा मालवीय के विरुद्ध थी और गाया जाता था—

'नाश हो उस नरम दल का गरम दल की आँच से।
मालवी से मोम दिल जिसमें पिघल जाने लगे॥'

मालवीय जी महाराज धीर पुरुष थे। अपनी निश्चित धारणा और दृढ़ निश्चय के विरुद्ध किसी आंधी-तूफान की उन्होंने कभी परवा नहीं की, "वज्रादपि कठोराणि" के अविचल भाव से उस प्रचण्ड तूफ़ान का सामना किया और अपने "प्राण" काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पर आँच नहीं आने दी। विश्वविद्यालय बन्द नहीं हुआ। मालवीय जी महाराज इस बात को पसन्द करते थे कि जो छात्र शुद्ध भाव से देश-सेवा में जाना चाहें, प्रसन्नता से अध्ययन छोड़कर देश-सेवा का व्रत लें। उनकी घोषड़ा के अनुसार सैकड़ों छात्रों-सहित उनके पुत्र पं० गोविन्द मालवीय ने भी अध्ययन छोड़कर देश-सेवा में भाग लिया। अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए विश्वविद्यालय आगे बढ़ता गया, कभी बन्द नहीं हुआ तथा देश-धर्म के कार्यों में भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम में सदा सैनिक देता रहा। विश्वविद्यालय बहिष्कार के सम्बन्ध में भारत के दो महान् नर-पुंगवों (मालवीय जी और गान्धीजी) के वक्तव्यों का कुछ अंश उद्धृत करना प्रासंगिक होगा—

मालवीय जी :—"गान्धी जी कहते हैं, चार्टर फेंक दो, लेकिन ऐक्ट में हम स्वतंत्र हैं। डिग्री देना, न देना सब हमारे हाथ में है। सब कार्यकर्ताओं, परीक्षकों आदि को कौंसिल मुकर्रर करती है। चांसलर, प्रोचांसलर, वाइसचांसलर, सब हिन्दुस्तानी हैं। वाइस चांसलर, प्रोवाइस चांसलर के लिये सरकार से अनुमति लेनी होती है, लेकिन कोई रोक-टोक नहीं है। किसी को वे (सरकार) नामंजूर नहीं करते तथापि बन्धन मुझे प्रिय नहीं है। वे शर्त लगाना चाहते थे लेकिन शर्तों को बदलवा कर हमने यूनिवर्सिटी ली है। इस शर्त को दबसठ में हमने स्वीकार किया, अवसर आने पर दूर कर देंगे। अगर वासुदेव कंस की शर्त न मानता तो देवकी की सन्तान को देने को

राजी न होता और कंश आकाशवाणी सुन देवकी को मार डालता तो कृष्ण भगवान् का जन्म कैसे होता ? हम हिन्दी में शिक्षा देंगे। मैं नहीं समझता कि विश्व विद्यालय-वहिष्कार से किसी प्रकार का दवाव अंग्रेजों पर पड़ सकता है। अगर उनके वस्तुओं का बहिष्कार करें तो संभव है कि उनके ऊपर दवाव पड़े, पर विद्यालयों के छोड़ने से उनका लाभ है, हानि नहीं और हमारी हानि है लाभ नहीं। आपको अगर यह शिकायत है कि यह विश्वविद्यालय सरकारी विधान से वना है, इस कारण दूषित है तो मैं यह पूछता हूँ कि क्या रेल भी दूषित है ? रेल भी तो रेल-एेक्ट के अनुसार चलती है। अगर रेल को हमलोग छोड़ दें तो आज वम्वई, शिमला कैसे जा सकेंगे ? गान्धी जी काशी कैसे आ सकेंगे ? देश का काम कैसे किया जायेगा ? क्या आप छोड देंगे ? युनिर्वसिटी मत छोड़िये। जो कुछ हमारे शक्ति में है स्वराज्य के साधन में लगाइये जो विश्वविद्यालय में मौजूद हैं, उन्हें रहने दीजिये। सबलोग गंभीर-भाव और शीतल बुद्धि से विचारिये—सवकी वात सुनकर उसपर विचार कर देश-हित का जो मार्ग अपना हृदय बतावे, उसका अवलम्वन कीजिये। ईश्वर आपका कल्याण करे।"

महात्मा गान्धी : (१८ नवंबर १९२०) मैंने पं० मालवीय जी का व्याख्यान भी कल पढ़ लिया। उसमें मेरे पूज्य भाई ने जो कहा कि विद्यार्थियों को सोचकर जो उनकी आत्मा कहे, उसी पर चलना चाहिये। मैं भी यही कहता हूँ। मैं मालवीय जी से वड़ा देश-भक्त किसी को नहीं पाता। मैं सदैव उनकी पूजा करता हूँ। मेरे दुःख को वही दूर करेंगे।

मुझसे कुछ दिन पहले एक महाशय ने कहा कि तुम पंडित जी (मालवीय जी) का नाश किया चाहते हो—आप वनारस मत जाइये, लेकिन मैं पंडित जी की आत्मा को दुःखी नहीं करना चाहता। पंडित जी नामर्द नहीं हैं। पंडितजी भारत-मात्र के लिये जीते हैं। वह एक विश्वविद्यालय के लिये नहीं मर सकते। यदि आप विश्वविद्यालय में पढ़ना पाप समझकर उसका त्याग करेंगे तो पंडितजी को तनिक भी दुःख न होगा और पंडितजी आपको आशीर्वाद देंगे।

(दैनिक 'आज' वाराणसी से उद्धृत)

विश्वविद्यालय पर वक्र दृष्टि :

एक ओर विश्वविद्यालय-वहिष्कार करने वाले सन्तुष्ट नहीं थे। दूसरी ओर छात्रों के स्वराज्य-दिवस मनाने और झंडा फहराने के कारण सरकार ने वार्षिक अनुदान बन्द कर दिया। मालवीय जी महाराज कुलपति थे और स्वयं केन्द्रीय कारागार नैनी में राजनैतिक वन्दी थे। कुछ लोग विश्वविद्यालय पर अपना प्रभाव जमाना चाहते थे—उन्होंने सरकार के उच्चाधिकारियो से मिलकर यह योजना तैयार की कि मालवीय जी वाइस चांसलर होते

हुये स्वयं जेल में हैं, छात्रों पर उनका प्रभाव पड़ता है, उनसे त्याग-पत्र ले लिया जाय। उन लोगों का विश्वाश था कि मालवीय जी त्याग-पत्र दे देंगे। इस दूषित योजना की गन्ध वरिष्ठ अध्यापकों एवं कार्य कर्त्ताओं को लग गई, उनका चारित्रिक वल ऊँचा था, स्वाभिमानी थे, उन्होंने अर्ध वेतन या यदि आवश्यक हुआ तो विना वेतन के कार्य करने का हस्ताक्षर अभियान प्रारंभ कर दिया और रात को एक वजे इस लेखक को नैंनी जेल में मालवीय जी को सूचना देने का भार सौंपा। लेखक को यह सुविधा प्राप्त थी कि वह कभी भी जेल मे उनसे मिलकर विश्वविद्यालय की गतिविधि की सूचना दे सकता था। अतः उन्हें जेल में प्रातःकाल सूचना दी गई कि शीघ्र ही अध्यापकों का हस्ताक्षर मुक्त-पत्र आपको मिल जायेगा। किन्तु आज आप से ३ वजे दिन एक दल के लोग मिलने आने वाले हैं, वे आपसे त्याग-पत्र लेंगे, कृपा कर त्याग-पत्र न दीजियेगा। तीन वजे दिन को चार व्यक्तियों ने जेल में मालवीय जी महाराज से सरकारी रूख और त्याग-पत्र देने की बात वतलाई। उन्होंने उत्तर दिया कि यह तो ठीक है कि मुझसे काम भी नहीं होता और त्याग-पत्र दे देना चाहिये किन्तु 'सहसा विदधीत न क्रियाम्' जल्दवाजी में कोई काम नहीं करना चाहिये। वे लोग वापस चले आये। संयोगवश कुछ ही दिनों वाद मालवीय जी महाराज को भयंकर कालिक पेन शुरु हुआ, सवकी परेशानी बढ़ गई, सरकार भी चिन्तित हो गयी, फलतः उन्हें नजरवन्दी के रूप में कुलपति निवास (मालवीय भवन) में लाया गया। इस स्थिति में त्याग-पत्र का प्रश्न ही समाप्त हो गया। जिन लोगों ने योजना बनाकर सरकार को विश्वास दिलाया था, सरकार उनके विरुद्ध हो गई।

सन् १९४२ में भी एक झटका आया। अध्यापकों-छात्रों की प्रशंसनीय देश-सेवा से बृटिश सरकार बौखला गई थी। इसे फौज ने अपना अड्डा वनाना चाहा किन्तु उस झटके का विशेष असर नहीं हुआ क्योंकि विश्वविद्यालय के स्रष्टा वर्तमान थे। सयय-समय पर अनेक बार आपत्तियों के वादल मड़रायें, किन्तु विश्वविद्यालय निर्वाध रूप से ऊपर उठता गया—दिग्-दिगन्त में इसकी कीर्ति फैलती गई।

विश्वविद्यालय के कुलपति

कुलपति का कार्य-काल तीन वर्ष का होता है। अब तक जितने कुलपति हुए उनमें वहुत कम लोगों ने अपना कार्य-काल पूरा किया। मालवीय जी महाराज ने १९ वर्षों तक लगातार कुलपतित्व का भार संभाला और अस्वस्थता के कारण सन् १९३९ में इस पद का त्याग किया। मुझे मालवीय जी महाराज के जीवन के अन्तिम १७ वर्षो तक उनके निकटतम सम्पर्क में सेवा का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इस बीच प्रायः यह देखने को मिला कि उन्होने जिस बात की इच्छा की उसकी पूर्ति देर-सबेर अवश्य हुई—

'यं यं चिन्तयते कामं तं तं प्राप्नोति निश्चितम्।

कुछ इच्छाएँ ऐसी भी थीं जो कुछ घंटों और मिनटों में पूर्ण हुईं।

एक घटना विश्वविद्यालय के अन्दर श्री विश्वनाथ मन्दिर के शिलान्यास के समय की है। गंगोत्री के तपोनिधि स्वामी कृष्णाश्रम जी द्वारा मंदिर का शिलान्यास होना था, उसके एक दिन पूर्व शाम को साढ़े चार बजे उन्होंने कहा कि "मेरी इच्छा है कि शिलान्यास

में महाभारत-अनुशासन पर्व का महादेव जी का प्रकरण छाप कर नींव में रखा जाय तो उत्तम रहेगा।" उसके आकार को देखकर उन्होंने कहा कि "इतना छपना संभव नहीं है।" मैंने कुतूहल वस उनके हाथ से हस्तलिखित कॉपी लेली और कार लेकर प्रेस जाने को प्रस्तुत हुआ। उन्होंने बड़े करुणार्द्र भाव से कहा कि "यदि पहले सोचा होता तो छप जाता। मैं प्रेस की मैनेजरी कर चुका हूँ, 'अभ्युदय' का सम्पादन करता था इससे मुझे लगता है, छप सकना संभव नहीं है।" मैं कार लेकर कमच्छा स्थित तारा प्रिंटिंग प्रेस पहुँचा। छुट्टी की घंटी हो चुकी थी। कुछ कर्मचारी चले गये थे। मैंनें प्रेस मैनेजर श्री पाठक जी से कर्मचारियों के रोकने का आग्रह कर अपना अभिप्राय सुनाया। पाठकजी विगड़ गये, बोले-मजाक करते हो ? कल एक वजे तक छापना किसी भी दशा में संभव नहीं है, मैंने वहुत अनुनय विनय किया और यह भी बतला दिया कि सत्य-संकल्प मालवीयजी महाराज की प्रवल इच्छा है, हमें यह देखने की जिज्ञासा है कि उनकी प्रवल इच्छा की पूर्ति होती है या नहीं ? पाठक जी मान गये, उनकी भी जिज्ञासा हो गयी दस वजे रात तक कुछ काम नहीं हो सका। प्रेस पहुँच कर मैंने कार वापस कर दी, इससे मालवीय जी महाराज को स्पष्ट हो गया कि मैं उस कार्य में लग गया हूँ। किन्तु कार्य की पूर्ति में सन्देह कर उन्होंने एक अध्यापक को कार द्वारा मुझे वुलाने के लिए पुनः प्रेस भेजा। पर वे यह भी जानते थे कि मैं वापस नहीं लौटूँगा अतः उन्होंने अपना ओढ़ने का शाल और भोजन भी भेज दिया था कि यदि मैं न लौटूँ तो सब सामान मुझे दे दिया जाय। किसी प्रकार सुबह आठ वजे से प्रूफ मिलना शुरू हुआ, तीव्र गति से काम हो रहा था—मैंने रेशमी वस्त्र मँगा लिया था एक वज चुका था : ९२ पृष्ठों की पुस्तक की ५ प्रतियाँ बँधवा लीं। उधर शिलान्यास के सम्वन्ध में विशाल जन समूह के समक्ष भाषण समाप्त हो चुका था तपोनिधि जी महाराज अन्दर शिला रखने पहुँच चुके थे, किन्तु मालवीय जी महाराज की दृष्टि मंच की ओर थी। जनता को यह आश्चर्य हो रहा था कि मालवीय जी इस प्रकार किस प्रतीक्षा में हैं—मेरा गहरेबाज इक्का १ वजकर २० मिनट पर पहुँचा मालवीय जी भीड़ हटाते हुए मेरे प्रवेश के लिये रास्ता वनाते आगे वढ़ रहे थे, पीले रंग की ५ प्रतियाँ देख कर उन्होंने मुझे हृदय से लगा लिया और शिलान्यास स्थल पर तपोनिधि जी से वतलाया कि यद्यपि इसमें बहुत अशुद्धियाँ होंगी किन्तु मेरी उत्कट इच्छा की पूर्ति इस बालक ने करायी है।

दूसरी घटना सन् १९३८ की है। उन दिनों स्वास्थ्य सुधार के लिये महाराज कलकत्ते के विरला पार्क बालीगंज में रहते थे। एक दिन दोपहर के समय उन्होंने भोजनोपरान्त अचानक पूछ दिया कि 'पं० रघुनाथदत्त व्यास का कई वर्षों से कोई समाचार नहीं मिला" व्यास जी मालवीय जी महाराज के स्नेही और मधुर कथा वाचक थे। काशी में ही कतुआपुरा निवासी थे। यह आश्वस्त करने पर कि आप विश्राम करें वाराणसी पत्र लिख कर पता करता हूँ, उन्होंने कहा कि "इसमें तो हफ्तों लगेगा। यह कहने पर कि तार या फोन करता हूँ कहने लगे इसमें भी तो दो दिन लग जायगा ? अच्छा छोड़ो। मैं अपने कमरे में आकर भोजन करने का उपक्रम करने लगा कि दरवान ने ऊपर खबर दी कि कोई मिलने वाले आये हैं, वात कर लीजिये। नीचे जाकर देखता हूँ कि व्यास जी

साक्षात् उपस्थित हैं—मैं देखकर अवाक् हो गया और उनसे निवेदन किया कि अभी पंडित जी आराम कर रहे हैं अतः आप आधा घंटा प्रतीक्षा करें। व्यास जी हठी पुरुष थे इस लिए मैंने यह भी कह दिया कि मैं आपको वापस नहीं होने दूंगा। व्यास जी ने कहा कि "मालवीय जी आराम नहीं कर रहे हैं, मेरी चिन्ता में घुल रहे हैं इसलिये जल्दी उनके पास ले चलो, उनकी हृतंत्री मिलने पर ही मैं आया हूँ"—यह तो मुझे मालूम था कि पंडित जी उनसे मिलने को कितना उत्सुक हैं। पंडित जी की जिज्ञासा का मैंने उनसे कोई जिक्र नहीं किया केवल यही निवेदन किया कि आपको उनके विश्राम कक्ष में ले तो चलता हूँ किन्तु वहाँ कुछ बोलियेगा नहीं। कमरे में पहुँचते ही व्यास जी गुनगुनाने लगे "जो जागा सो पावा, जो सोवा सो खोवा" सुनते ही मालवीय जी के नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित हो चली और उठते उठते कहने लगे "प्रभु तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो"। इस प्रकार उत्कट मिलन की इच्छा केवल २० मिनट में पूरी हो गई।

विश्वासे दृढ़ता स्वीये

मालवीय जी को अपने विश्वास में दृढ़ता थी। विश्वविद्यालय पर सत्रह लाख का ऋण हो चुका था। सत्रह लाख ऋण का भुगतान वे सरकार से ही पूरा कराना चाहते थे। कितने ही पत्राचार किये गये। तत्कालीन मंत्री सर गिरजाशंकर वाजपेयी द्वारा सरकार पर प्रभाव भी डाला गया था और मालवीय जी ने दिल्ली जाकर स्वयं भी ब्रिटिश सरकार को प्रभावित करने का निश्चय किया। दिल्ली जाने के दिन विश्वनाथ मन्दिर में उन्होंने घंटों आराधना की। आराधना समाप्त कर उन्होंने तत्क्षण कहा—'हम ऋण-मुक्त हो गये, बाबा ने वरदान दे दिया"। मन्दिर से घर आने पर दिल्ली से तार मिला कि सरकार का यह मांग स्वीकार नहीं है। मालवीय जी ने कहा "तार को फाड़कर फेंक दो जब बड़े सरकार ने (बाबा विश्वनाथ) वरदान में ऋण-मुक्त कर दिया है तो इस सरकार के कहने से क्या होता है? उसे ऋण-मुक्त करना ही होगा।" उसी दिन मध्याह्नोत्तर दिल्ली की उन्होने यात्रा की और सरकार को तीन किस्तों मे सत्रह लाख ऋण की अदायगी करनी पड़ी।

मालवीय जी महाराज का अद्भुत चरित्र था। उनके सत्य-निष्ठा, दया, क्षमा, कृतज्ञता, दृढ़व्रत, सर्वभूत हितेरत आदि के अनेकों संस्मरण हैं, जो एक बृहत् पुस्तक का रूप ले सकते हैं। लेख में उनका समावेश संभव नहीं है। उनका जीवन दुःखी जनों के कल्याण के लिये था। वे सदा इन श्लोकों के अनुसार आचरण करते थे :—

"न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःख तप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥
कोऽनुसस्स्यादुपायोऽत्र ये नाहं दुःखितात्मनाम्।
अन्तः प्रविश्य भूतानां भवेयं दुःख भाक् सदा॥"

अस्सी, वाराणसी

महामना मालवीयजी का व्यक्तित्व

श्रीवत्स गोस्वामी

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना मदनमोहन मालवीय का व्यक्तित्व आदर्शों के लिए समर्पित एक पूर्ण व्यक्तित्व था। व्यक्तित्व के विधायक दो तत्त्व हैं: मृण्मय और चिन्मय। मृण्मय तत्त्व व्यक्तित्व के बाह्याचार और चिन्मय तत्त्व उसकी आभ्यान्तरिक गरिमा का व्यंजक है। इन्हीं दोनों के समुचित समन्वय से पूर्ण व्यक्तित्व का निखार होता है। महामनाजी का व्यक्तित्त्व भावनाओ एवं आंगिक संरचना दोनों ही दृष्टि से उदात्त था। उनका शरीर गौर वर्ण और मझोले कद का अत्यन्त सुडौल बना हुआ था। उनका शरीर न तो मांसल ही अधिक था और न क्षीण ही था। उनकी शरीर यष्टि स्वस्थ, भरपूर और बलिष्ट थी।

उनके व्यक्तित्त्व में एक सहज आकर्षण था। महामनाजी की शारीरिक रचना का वैशिष्ठ्य था कि उनके सामने जाने पर व्यक्ति स्वतः ऊँचा उठ जाता था। लोग सहज ही उनके वश में हो जाते थे। पूर्णतः वशीभूत हुए मनुष्य के लिये उनके सम्मुख नहीं कहना असम्भव ही था। 'इन साइड इण्डिया' के लेखक गुथर ने उनके मोहक व्यक्तित्त्व का उक्त ग्रंथ में संकेत किया है। उसके अनुसार महामनाजी की 'आकृति' 'एक शुद्ध आर्य ब्राह्मण' की थी। उनकी सरल आकृति उनकी गंभीर और सूक्ष्मदर्शी प्रतिभा की प्रतीक थी। आकर्षक व्यक्तित्त्व का यही सर्वोत्कृष्ट लक्षण है कि उसका द्रष्टा स्वतः उसके प्रति वैसे ही आकृष्ट हो जाय जैसे पुष्प के परिमल गन्ध से भौंरे उसकी तरफ खिंच उठते हैं। महामनाजी की शुचितापूर्ण आकृति ऐसी ही थी। तन, मन, वचन से शुचिता में आस्था रखने वाले महामनाजी का यह विश्वास था कि व्यक्तित्त्व के पूर्ण विकास के लिए व्यक्ति को शरीरपरिधान और मन से स्वच्छ रहना चाहिए। प्रायः वे अपने भाषणों मे कहा करते थे 'माताजी की चादर में दाग न लगने दो।" कबीर का यह पद भी वे अनेक बार बड़ी सहजता से उद्धृत करते थे—

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे कै ताना काहे कै भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला पिंगला ताना भरनी, सुखमन तार से बीनी चदरिया॥
आठ कँवल दल चरखा डोलै, पाँच तत्त गुन तीनी चदरिया।
साँइ को सिचत मास दस लागे, ठोक ठोक कै बीनी चदरिया॥
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़े ओढ़ं कै मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया॥

श्वेत सत्वगुण का प्रतीक है। मालवीयजी का वेश पूर्णतः श्वेत था। इसका कारण यही था कि वे मन, विचार और तन तीनों से सत्त्वगुणी थे। यही कारण था कि वे छात्रों को श्वेत वस्त्र और स्वच्छ रहने के लिये प्रोत्साहित किया करते थे। उनका जैसा शरीर था वैसी ही उनकी अन्तः प्रकृति भी थी। वे अन्तर की वाह्य मृदुल उदात्त अनुकृति ही थे। उन्हें स्मरण कर ब्राउनिंग की पंक्तियाँ प्रायः स्मरण हो जाया करती हैं :

एन्ड ऑन दैट चीक एन्ड ओवर दैट ब्रो
सो साफ्ट सो काम, बट इलोक्वेन्ट
द स्माइल्स दैट विन द टिन्टस दैट ग्लो
बट टेल ऑफ देज इन गुडनेस स्पेन्ट
ए माइन्ट एट पीस विथ आल बीलो
ए हार्ट हूज लव इज इनोसेन्ट

(वायरन)

कहते हैं और ठीक ही कहते भी हैं कि नाम का प्रभाव वहुत अधिक पड़ता है। जैसा व्यक्ति का नाम होता है, वैसा ही गुण होता है। महामनाजी का नाम मदनमोहन था। मदनमोहन अर्थात् जिसमें मद नहीं, मोह नहीं वह मदन मोहन। व्यक्ति को नीचे गिराने वाले ये मद और मोह ही हैं। इनसे विरत होकर ऊँचा उठना ही मालवीयजी के व्यक्तित्व की आदर्श उपलब्धि है। महामनाजी मद, मोह, लोभ से परे थे। यही कारण था कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ऐसी तपोभूमि के निर्माण के लिए उन्होंने आर्थिक सन्यास ले लिया था। आर्थिक सन्यास व्यक्तिगत सन्दर्भ में ही दृश्य है, क्योंकि विश्व-विद्यालय की स्थापना और विकास के लिए तो वे विश्व के महान् भिक्षुक वन गये। उस ब्राह्मण के लिए ब्राह्मणत्व का अर्थ जातिगत और वर्णगत नहीं था। वे मनु के उस विकासात्मक चिन्तन में विश्वास करने वाले शुद्ध ब्राह्मण थे जिसमें ब्राह्मणत्व जात्याभिमान या दर्प का माध्यम नहीं था। उनका जीवन शील, विनय सम्पन्न एक महापुरुष का था जिसमें अपरिग्रह और अकिंचनता का मणिकांचन योग था।

महामना जी की मानसिक शुचिता, उनकी समस्त क्रियाओं में व्यक्त होती थी। इस सन्दर्भ में एक बार की घटना का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। एक सज्जन ने महामना जी से कहा—'महाराज' मैंने अपनी सहनशीलता की शक्ति में पूर्णता पा ली है। "आप चाहें तो मुझे सौ गाली देकर देख लें, क्रोध हो ही नही सकता। इस पर महामनाजी का उत्तर था—महाराज मैं आपकी सहनशीलता की परीक्षा के लिए अपनी जवान गन्दी नहीं करना चाहता।" कितनी ऊँची वात थी? तन क्या वाणी से भी जो गन्दा नहीं होना चाहता, वह महामनाजी का ही व्यक्तित्व है। सचमुच वे 'हृदय की अनुकृति वाह्य उदार' ही थे :

हृदय की अनुकृति वाह्य उदार
एक लम्बी काया उन्मुक्त
मधुपवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल
सुशोभित हो सौरभ संयुक्त॥

योजना वद्ध अभियान और समन्वय की नीति

राष्ट्र, सरकार और समाज संस्कार से अनुप्राणित महामनाजी एक ऐसे राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना करना चाहते थे जिसमें भारतीय शिक्षा का पूर्णतः विकास हो। पर राष्ट्र के प्रति आग्रह रखते हुए भी वे राष्ट्र को विश्वजनीन प्रवृत्तियों से समन्वित करना चाहते थे। कारण यह था कि उनके दृष्टि में भारतीयता की रक्षा के साथ ही साथ अन्ताराष्ट्रीयता के तत्त्वों का भी मूल्यांकन आवश्यक था। अगर ऐसा नहीं किया गया तो राष्ट्र और समाज पिछड़ा हुआ माना जायेगा। इसी दृष्टि से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की गई और वह पूर्व-पश्चिम, अतीत-वर्तमान, धर्मविज्ञान सभी के समन्वय पर निर्मित उनकी उज्ज्वल कल्पना का साकार रूप वन सका।

महामनाजी का व्यक्तित्त्व योजनावद्ध अभियान में विश्वास करने वाला था। किसी भी कार्य को वे योजनावद्ध रूप में किया करते थे। राष्ट्रीय जीवन, शिक्षा, समाज और धर्म सभी के विकास के लिये उन्होंने योजनावद्ध रूप में कार्य किया। परिणामतः उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली। शिक्षा का प्रारूप विदेशी हो गया था, देश अन्तर और बाहर दोनो से विघटित हो गया था। उसे सुशोभित करने तथा शिक्षा को भारतीयता से संयुक्त करने के लिए एक सुनिश्चित योयना की आवश्यकता थी। उसी के आधार पर उन्होंने कार्य किया और राष्ट्र के हित के लिए, समाज के उद्धार एवं भारतीय युवकों के उत्थान के लिये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ऐसे विद्या-मन्दिर की स्थापन की। उस युग द्रष्टा मनीषी के स्मरण मात्र से शरीर पुलकित, बाणी अवरुद्ध, विवेक गतिशील, सत्य प्रस्फुटित और जीवन धन्य हो उठता है। इस हीरक जयन्नी के पुण्य पर्व पर हम उस कालजयी महामना को स्मरण कर अपनी किञ्चत श्रद्धा के पत्र-पुष्प द्वारा उसका अभिनन्दन करते हैं।

शोध छात्र, दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः

विश्वनाथ शास्त्री धर्माचार्य :

(१)

लोकातिगा सुमनसामभिमानभूमिगङ्गातरङ्गपरिधौतपदारविन्दा ।
श्रीविश्वनाथवसतिः सुकृत-प्रसूतलीलास्थली जयति कापि गिरः श्रियश्च ।।

(२)

देवालयैर्द्युसरिता च दिवः समस्तभूलोक-मानवजनैश्च वसुन्धरायाः ।
दीव्यत्प्रभैर्मणिगणैश्च रसातलस्यवाराणसी त्रिभुवन-प्रतिभूर्विभाति ।।

(३)

नैकैराजन्यमार्गैर्नव-नवरुचिरैर्वर्द्धितैर्वर्द्धमानोऽ-
श्वत्थाशोकाम्रजम्बू-वटमुख-विटपैर्वल्लिमालैर्ललामः ।
सिंहद्वाराभिरामो दिशि दिशिमुखरश्छन्नकाष्ठासहस्रैः
शिष्टो विद्वद्-विशिष्टैः सुचरित-निकषो विश्वविद्या-विभूतिः ।।

(४)

आलोक्यन्ते निमग्नैः सततमिहजनामोदमेघान् सृजन्तः
प्राज्ञैः प्राच्य-प्रतीच्योः प्रचितजलवयो ज्ञान-विज्ञान-रत्नः ।
श्रीमद्भिर्मालवीयैः प्रथितसुकृतिभिः सत्यसंकल्पसिद्धः
सोऽयं विद्यानिवासो लसति गुणिगणैर्भारतस्याभिमानः ।।

(५)

जयति विबुधवन्द्या भारती-भारतीभाजयति विबुधवन्द्यो जानकीशोऽवधेशः ।
जगति जगति विष्वक् काशिका विश्वनाथो जयति जयति काशी विश्वविद्यालयोयम् ।।

(६)

वेदादिसच्छास्त्रवुर्वैविकीर्णा विद्या सुधर्मादिफलैः सुपूर्णे ।
श्रीविश्वविद्यालय-कल्पवृक्षे प्रीतिर्विधेया सततं सुधीभिः ।।

भूतपूर्व प्राचार्य संस्कृत महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

गुरु मंत्र

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

पूज्य महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी भारतीय संस्कृति के सर्वोत्तम के मूर्तिमान रूप थे। मुझे उनके चरणों के निकट बैठने का अवसर मिला था। मैं इसे अपना परम सौभाग्य मानता हूँ। यह उन्हीं का आशीर्वाद था कि मैं कुछ पढ़-लिख सका। कितना स्नेह और ममता उनके हृदय में थी, इसका कोई भी थाह नहीं पा सका।

हर वर्ग के देशवासियों ने अपना हृदय उड़ेलकर उनका सम्मान किया था। वे देश की सम्पूर्ण जनता के श्रद्धा-भाजन थे। उनके देशहित के कार्यों का गिनाना बहुत कठिन है। उनकी सेवा का सबसे बड़ा स्मारक है काशी हिन्दू विश्वविद्यालय। उन दिनों की राजनीतिक अवस्था कितनी प्रतिकूल थी, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। उन सारी विकट परिस्थितियों का सामना करते हुए मालवीय जी महाराज ने इस महान विश्व-विद्यालय की स्थापना की थी। उस समय देश में तकनीकी शिक्षा देना अंग्रेज सरकार की दृष्टि में खतरनाक बात थी। पर यह मालवीय जी महाराज का असाधारण साहस और शौर्य था कि उन्होंने सारी विघ्न-बाधाओं को झेलते हुए भी इस विश्वविद्यालय में इन विषयों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था की और बहुत अच्छी व्यवस्था की। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय उनकी दूरदर्शिता और राष्ट्र निर्माण की महत्वपूर्ण कल्पना का सर्वाधिक जीवन्त निदर्शन है।

यह कैसे संभव हुआ ? निस्सन्देह उनका स्वच्छ पवित्र और प्रभावशाली व्यक्तित्त्व और सबसे ऊपर उनकी अद्भुत मोहक वाणी इस असंभव को सभव करने में सहायक हुए। शत्रु हो या मित्र, विरोधी हो या अनुयायी, उनके मोहक और पवित्र व्यक्तित्त्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। वे सत्य और मैत्री के उपासक थे, दया और स्नेह के समुद्र थे, भगवान के अनन्य भक्त थे। उनकी वाणी में साक्षात् सरस्वती का निवास था।

मुझे सन् १९२३ से १९३० तक विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग का छात्र रहने का अवसर मिला था। उनको देखने और सुनने का सुअवसर बराबर ही मिलता रहता था पर मैं निकट जाने का साहस नहीं बटोर पाता था। मेरे एक दुर्भाग्य ने एक ऐसा अवसर दे दिया कि चरणों के एकदम निकट पहुँच जाने का अवसर मिला।

हम संस्कृत के कुछ विद्यार्थी एक बार उनकी सेवा में पहुंचे और प्रार्थना की कि हमें अंग्रेजी पढ़ाने के लिए अध्यापक की व्यवस्था कर दें। हमारे उन दिनों के कई गुरुजन जिनका मालवीय जी बहुत सम्मान करते थे, इस बात के विरोधी थे कि संस्कृत के विद्यार्थियों को अंग्रेजी पढ़ाई जाय। फिर भी हमारी प्रार्थना स्वीकृत हुई। कुछ विद्यार्थियों ने अंग्रेजी पढ़ना शुरू किया और पहले ही वर्ष एडमिशन की परीक्षा देने का उत्साह भी दिखाया। पहली बार पाँच विद्यार्थी बैठे। परीक्षा-फल बहुत बुरा नहीं हुआ। महाराज

के पास भी यह खबर पहुँचः तो उन्होंने बुला के बहुत उत्साहित किया। उनके वे शब्द अब भी कानों में गूँज रहे हैं।

इसके बाद इन्टरमीडिएट में नाम लिखाया। फ़ीस देने के पैसे नहीं थे। मालवीय जी महाराज की कृपा से उन दिनों मेरे जैसे बहुत-से निर्धन विद्यार्थी फोस दिए बिना भी पढ़ लेते थे। पर उन दिनों किसी कारणवश कुछ कड़ाई की गई। मेरा नाम कट गया। मैं बहुत दुखी हुआ। सोचा कि एक बार महाराज के पास चल कर अपनी कठिनाई सुना दूँ। शायद कुछ काम बन जाय। पर हिम्मत नहीं हुई। चुपचाप कमरे में रोता रहा। किसी साथी ने यह बात गुरुवर पं० कालीप्रसाद जी मिश्र जी से कह दी। वे बड़े ही दयालु और सात्त्विक वृत्ति के विद्वान् थे।

मालवीय जी महाराज उनका बड़ा आदर करते थे। उन्होंने मुझे बुलाया। मेरी सारी कथा सुनकर एकदम द्रवित हो गए। बोले—अभी महार.ज के पास तुम्हें ले चलता हूँ। वे अवश्य कुछ उपाय कर देंगे। वे तुरन्त तैयार हो गए। मुझे लेकर महाराज के पास गए और मेरे बारे में बहुत अच्छी बातें कहीं। मैंने कभी स्वप्न में भी आशा नहीं की थी कि मेरे जैसे अदना अकिंचन के बारे में गुरु जी की ऐसी धारणा है। लेकिन उस समय मैं क्या समझता था कि वह सिफारिश नहीं थी, अमोघ आशीर्वाद था।

मालवीय जी सब सुनकर दुखी हुए। उसी दिन एक और आश्चर्य देखा। शायद वह दिन मेरे भविष्य का मंगलमय द्वार बन कर आया था। अपनी हर समस्याओं में उलझा, अपनी ही तात्कालिक कठिनाई की मार से सिकुड़ा हुआ मन उस दिन का महत्व समझ नहीं पाया पर था वह मंगल का द्वार ही। बात बहुत बाद समझ में आई।

जिन मालवीय जी को सारा देश देवता की तरह पूजता था, जिनकी महिमा हमारे लिए हिमालय से भी अधिक ऊँची थी, वे एकाएक मेरे स्तर पर उतर आए। अपने बाल्यकाल की पारिवारिक कठिनाइयों, अभाव आदि की चर्चा कर के बोले—घबराते क्यों हो, तुम्हारी अवस्था में मुझे भी बहुत अभावों और कठिनाइयों में रहना पड़ा है। ऋषियों की सन्तान को घबराना नहीं चाहिए। तुम स्वयं अपने उद्धार कर्त्ता हो। और फिर गीता का वह महान श्लोक अत्यन्त सुस्पष्ट मृदुमंद व.णी से बोल उठे—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैवह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

अनजाने में ही मुझे गुरु-मंत्र मिल गया। उस दिन गुरुवर पं० काली प्रसाद मिश्र जी के अनुग्रह से, उन्हीं की उपस्थिति में मुझे दीक्षा मिल गई! कैसे कहूँ कि वह दिन मेरी कठिनाइयों या मानसिक अवसाद का दिन था। उस दिन मंगल द्वार ही मेरे लिए उद्घाटित हुआ था। जीवन भर यह मंत्र मेरा संबल रहा।

कहते हैं कि भगवान जब मनुष्यों को किसी संकट से उद्धार करना चाहते हैं तो मनुष्य के स्तर पर उतर आते हैं—'अवतार' धारण करते हैं। मुझे सौभाग्य से कई महान् गुरुओं का आशीर्वाद मिला है। हर बार मैंने अनुभव किया है कि गुरु मेरे स्तर पर उतर आए हैं—'अवतार' ले रहे हैं। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सान्निध्य में ऐसा मैंने

बहुत वार अनुभव किया है। फिर तो मालवीय जी महाराज के चरणों के निकट पहुँच ही गया। उन दिनों "सनातन धर्म प्रदीप" लिख रहे थे। उसी के श्लोकों का संग्रह और अनुवाद करने का आदेश हुआ। बड़ा, कठिन काम था। उनके सन्तोष लायक अनुवाद कर देना क्या हँसी खेल था कई बार सात-सात आठ बार सुधारना पड़ता था, पर था परम आनन्द का काम।

पूज्य मालवीय जी जव शान्तिनिकेतन गए थे उस समय मैं वहीं था। गुरुदेव ने मुझे बुलाकर कहा कि मालवीय जी महाराज आ रहे हैं। तुम्हें अपना घर खाली करना पड़ेगा। वहीं महाराज का भोजन बनेगा। और किसी घर में व्यवस्था करूँगा तो यह है कि कहीं मछली का छिल्का वगैरह न दिख जाय। सो, मैंने तुम्हारा ही घर निरापद देखा है! मेरे हर्ष का ठिकाना नहीं था। मेरा ऐसा सौभाग्य कि महाराज मेरा ही घर पवित्र करेगें! उन दिनों मैं अकेला ही था। घर में कोई खास सामान नहीं था। वह गेस्ट हाउस के—जहाँ महाराज के ठहरने की व्यवस्था हुई थी—विल्कुल पास ही था। कुछ विद्यार्थियों को लेकर दो दिन में चार वार उसे धो-पोंछ के साफ किया। सामान एक अन्य मित्र के घर रख आया और अधीरता के साथ उस शुभ दिन का इन्तजार करने लगा जव महाराज आने वाले थे। 'सेवक भवन स्वामि आगमन्' का आनन्द उस दिन अनुभव किया।

महाराज आए। मैंने चरण स्पर्श पूर्वक प्रणाम किया। पहचान गए। बहुत प्रसन्न भी हुए। मेरे घर में उनका भोजन बनता था। जव वे चले गए तो गुरु देव ने मुझे वताया कि मालवीय जी महाराज तुम्हारी बहुत प्रशंसा कर रहे थे। गुरुदेव का शब्द था, सुख्याति। बंगला में प्रशंशा के लिए यही शब्द चलता है। मेरी आंखों में आँसू आ गए। महाराज गुरुदेव से मेरे बारे में दो अच्छे शब्द कहना न भूले! इतनी कृपा मेरे जैसे अकिंचन पर!

आज भी यह वात स्मरण करता हूँ तो आँखें भर आती हैं।

भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
निवास—रवीन्द्रपुरी, वाराणसी

———

महामनाः श्रीमन्मदनमोहनमालवीयो विजयताम्

डॉ० गजाननशास्त्रिमुसलगाँवकरः

(१)

पुष्यत्तिष्यतमःप्रकाण्डविलसद्दुर्वादिखद्योतक-
प्रम्लानीकरणप्रवीणविशदप्रज्ञाप्रदीप्तच्छटः ।
आचन्द्रार्कमिह श्रुतिस्मृतिमुखक्षीराब्धिनिर्मन्थन-
क्षुभ्यन्मन्दरशैलसुन्दरमतिः श्रीमालवीयो महान् ॥

(२)

म्लायद्दर्शनचारुकैरववनप्रोद्दण्डचन्द्रातपः
शुष्यद्धर्मसुरद्रुवर्षुकसुधाधाराधरः प्रोन्नतः ।
श्रीकाशीपतिविश्वनाथचरणश्रद्धाभरादुद्धुरः
श्रीमन्मालवदैशिकोऽपि मदनो जाजायते वैश्विकः ॥

(३)

उन्निद्रं कुमुदोत्करं विदधती सम्मज्जयन्ती जगत्
सम्मोदाम्बुनिधौ चकोरकगणं लोलत्रुटिं तन्वती ।
आकल्पं विलसत्पयोधिविसरड्डिण्डीरपुञ्जप्रभा
कीर्तिः श्रीमदनस्य भारतमणेर्लोके सरीसृप्यते ॥

मीमांसा-धर्मशास्त्रविभागाध्यक्षः
काशी हिन्दू विश्वविद्यालयें

———

महामना का स्वप्न–हिन्दू विश्वविद्यालय—

आशा शर्मा

'भिक्षुक सम्राट' महामना महान दानी थे। विद्यादान का संस्कार उनको उत्तराधिकार में प्राप्त था। संगम की पुण्यभूमि में सरस्वती के आराधक मदन मोहन को इस बात से ग्लानि हुई कि अनादिकाल से विद्या का गढ़ मानी जाने वाली भारतभूमि के छात्रों को शैक्षणिक सुविधा के अभाव में उच्च शिक्षा प्राप्ति के लिए विदेश की धूल फाँकनी पड़े। नालन्दा तक्षशिला आदि विद्या के प्रमुख अधिष्ठान थे। पर क्रमशः हम अपने उस पुरातन गौरव को भूलने लगे और हमारे देश के विश्वविद्यालय भी अपने ही विश्वविद्यालय के छात्रों को प्राथमिकता न देकर विदेशी डिग्रीधारी छात्रों को प्रश्रय देने लगे शिक्षा की इस स्थिति से बालक मदन मोहन का हृदय पीड़ित हो उठा।

उनके मन में प्राचीन गुरुकुल—प्रणाली के आधर पर एक ऐसे विश्वविद्यालय की स्थापना का विचार कौंधा, जिसका शैक्षणिक स्तर व व्यवस्था किसी भी विदेशी विश्वविद्यालय से कम न हो। नालन्दा एवं तक्षशिला विश्वविद्यालय के समान जहाँ एक ही प्राङ्गण मे देश-विदेश के छात्र एक साथ मिलकर रहें। विभिन्न कला या विद्या में विशेषता प्राप्त करें। एक ही परिसर के अन्दर कहीं विज्ञान की शिक्षा का प्रबन्ध हो तो कहीं कला की। कहीं साहित्य पढ़ाया जा रहा हो तो कहीं दर्शन। कहीं तर्कशास्त्र तो कहीं आयुर्वेद। कहीं कृषि संबंधी योग्यता प्रदान की जा रही हो, तो कहीं धर्म संबंधी—यथा वैदिक मन्त्रोच्चार आदि।

इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए क्रमशः विज्ञान एवं शिल्प के लिए (विज्ञान संकाय), धर्मशास्त्र से युक्त संस्कृत विद्यालय, कला और साहित्य के लिए (कला संकाय), कृषि संबंधी शिक्षा प्रदान करने के लिए कृषि महाविद्यालय, काय एवं शरीर चिकित्सा से संबंधित आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना हुई।

प्रारम्भ में सर सुन्दरलाल चिकित्सालय भवन के अन्तर्गत ही आयुर्वेद एवं शल्यशास्त्र की पढ़ाई, रोगियों की चिकित्सा एवं उनको रखने का प्रबन्ध था। वहीं आँख, कान,, गला आदि की चिकित्सा भी होती थी। धीरे-धीरे चिकित्सा संस्थान ने प्रगति की फलस्वरूप आज उससे संबंधित प्रत्येक विभाग के लिए अलग-अलग भवनों की व्यवस्था सुलभ है। यहीं एक भैषज-उद्यान भी है जहाँ चिकित्सा संबंधी जड़ी बूटियाँ उगाई जाती हैं।

इसके आगे संस्कृत महाविद्यालय का विशाल भवन है। जहाँ प्राचीन परिपाटी में संस्कृत की शिक्षा प्रदान की जाती है। पहले इसी हाल में प्रत्येक रविवार को गीता प्रवचन हुआ करता था परन्तु अब यह प्रवचन मालवीय भवन में होता है।

जिसे आज हम आर्ट्स कालेज के नाम से जानते हैं वही पुराना 'सेन्ट्रल हिन्दू कालेज' है।

कला संकाय के बाद क्रमशः विज्ञान-संकाय, केन्द्रीय पुस्तकालय, कृषि महाविद्यालय और अन्त में इन्जीनियरिंग कालेज है। परिसर के ही अन्दर विश्वविद्यालय का अपना छापा खाना एवं विद्युत उत्पादन केन्द्र भी है। छात्रों के आवास हेतु विभिन्न छात्रावास एवं छात्रावासों के पीछे अध्यापकों के निवास गृह हैं। उनकी सुविधा के लिए डाकखाना, क्लब, तरण-ताल आदि का भीं निर्माण किया गया है। इस प्रकार परिसर वासी छात्रगण एवं अध्यापकों की समस्त सुख-सुविधा का ध्यान रखते हुए विश्वविद्यालय का निर्माण किया गया।

सर्वप्रथम १९०४ में काशी नरेश महाराज श्री प्रभुनारायण सिंह श्री की अध्यक्षता में, मिण्ट हाउस की सभा में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का प्रस्ताव विचारार्थ रखा गया। प्रारम्भ में लोगों को मालवीय जी के इस विचार के मूर्तरूप में परिणत होने में संदेह हुआ था, परन्तु अन्ततः इसे वैचारिक स्वीकृति मिल ही गई। ३१ दिसम्बर १९०५ को वी० एन० महाजनी की अध्यक्षता में काशी के टाउन हाल की सभा में तथा २० से २९ जनवरी १९०६ तक प्रयाग में जगद्गुरु शंकराचार्य की अध्यक्षता में होने वाली सनातन धर्म महासभा में भी यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया।

संयोग ही था कि इन्हीं दिनों श्रीमती एनी वेसेन्ट एवं दरभङ्गा नरेश महाराज रामेश्वर सिंह जी भी विश्वविद्यालय निर्माण का विचार कर रहे थे। तीन भिन्न स्थानों पर तीन भिन्न व्यक्तियों के मस्तिष्क में समान विचार उत्पन्न होना शुभ सूचक था और यही सहायक हुआ—हिन्दू विश्वविद्यालय के निर्माण में। ये तीनों काशी में ही विश्वविद्यालय की स्थापना करना चाहते थे। १९११ तक धीरे-धीरे ये तीनों विचार धाराएँ मिलकर एक हो गई और हिन्दू विश्वविद्यालय-निर्माण-परियोजना में लग गईं।

अपनी कल्पना को मूर्त रूप देने के उद्देश्य से महामना, इस योजना के लिए अर्थ संग्रह करने हेतु देश के कोने-कोने में भटके। गरीब से गरीब व्यक्ति ने भी उन्हें सहायता प्रदान की। अमीर-उमराव उद्योगपतियों एवं राजा महाराजाओं की तो बात ही अलग थी। बहती गंगा में हाथ धोने का पुण्य सभी लूटना चाहते थे।

१९०४ में महामना ने एक संकल्प लिया हिन्दू विश्वविद्यालय के निर्माण का। लगभग एक दशक के अथवा प्रयास के व.द १ अक्तूबर १९१५ को हिन्दू विश्वविद्यालय बिल' रखा गया और वह स्वीकृत हो गया। यद्यपि इनके अथक परिश्रम के फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने हिन्दू विश्वविद्यालय निर्माण की स्वीकृति तो प्रदान कर दी पर साथ ही यह चेतावनी भी मिल गई कि उसमें मातृभाषा (हिन्दी) में शिक्षा न दी जा सकेगी, अन्यथा सरकार किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता नहीं करेगी। महामना इससे जरा भी विचलित नहीं हुए और उन्होंने उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद लगभग सभी संकायों में, केवल अंग्रेजी भाषा एवं विषय को छोड़कर अन्य विषयों को अंग्रेजी में पढ़ाने की अनिवार्यता को समाप्त कर दिया गया।

४ फरवरी १९१६ की वसन्त पंचमी के दिन अपराह्न १२ बजे, महामना ने भव्य समारोह के मध्य, अपने स्वप्न को मूर्त रूप प्रदान किया। तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिञ्ज के कर कमलों द्वारा, विश्वविद्यालय का शिलान्यास करवाया गया। आज का विशाल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तेरह सौ एकड़भूमि और वीस मील की सड़कों पर फैला हुआ महामना के साकार यश की प्रतिमा है। विश्वविद्यालय के सिंहद्वार पर विराजमान महामना की आदमकद भव्य प्रतिमा, आज भी हमें उनके अदम्य उत्साह, दृढ़ निश्चय, अथक परिश्रम, सहन शीलता एवं धैर्य का स्मरण कराती हुई अनायास ही श्रद्धावनत बना देती है और हमें अपना कुलगीत 'मधुर मनोहर अतीव सुन्दर'···अत्यन्त ही सार्थक मालूम पड़ने लगता है।

शोधछात्रा, दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

———

'जनु सुराज मंगल चहुं ओरा'

डॉ० रामदरश मिश्र

हिन्दू विश्वविद्यालय के ८ वर्ष मेरे भीतर क्या-क्या बन कर कितनी पर्तों में व्याप्त हैं इसकी व्याख्या सहज नहीं है। इन वर्षों ने मुझे ऊंची शिक्षा दी, यह कहना अपर्याप्त होगा। शिक्षा तो सभी विद्यालय और विश्वविद्यालय देते हैं और यह भी प्रकट तथ्य है कि उच्च शिक्षा प्रायः व्यक्तिगत योगक्षेम के संदर्भ में सिमट कर रह जाती है इसलिये मैं कहना चाहूंगा कि हिन्दू विश्वविद्यालय ने मुझे संस्कार दिये और मेरे मूलभूत संस्कार का परिष्कार किया। मैं तो देहात से प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने वाला सामान्य ग्राम परिवार का एक ऐसा छात्र था जिसके लिए हिन्दू विश्वविद्यालय मे प्रवेश पाना एक सपना था। किन्तु मालवीय जी की मानवता और गरीब विद्यार्थियों के प्रति उनकी वत्सलता तथा मदद की कहानियां अपने गवईं परिवेश में भी सुना करता था। इससे विश्वास होता था कि हिन्दू विश्वविद्यालय का वातावरण केवल अभिजात वर्गीय छात्र के तेल—फुलेल से ही नहीं महकता होगा, उसमें गांव की मिट्टी की भी गंध होगी। जब मैं पहली बार इस विश्वविद्यालय के महाद्वार के पास पहुंचा हूंगा तो इसका कितना आतंक मेरे भीतर उभरा होगा, पता नहीं, मेरे धूलधूसरित देहाती चेहरे पर आभिजात्य का कितना भय अंकित हुआ होगा, ज्ञात नहीं। लेकिन जब एक बार इस महाद्वार के भीतर प्रवेश कर गया तो पाया कि धीरे-धीरे मेरा भय समाप्त हो रहा हैं। मैंने अपने आस-पास चारों ओर ऐसे छात्रों का हुजूम देखा जो मेरी तरह देहात से आये थे। उनकी आंखों में देहाती रंग अंकित था, सांसों में गांव की मिट्टी की महक थी, पैरों में गांव की पग की धूल लिपटी थी। कितना बड़ा लगा यह विश्वविद्यालय, जो अकुंठ भाव से शहरी आभिजात्म के विन्यास और देहाती जमींदारों की रईसी के साथ-साथ अनंत टूटी चप्पलों, गाढ़े के कुर्ता-कमीजों और मामूली धोतियों को अपने में समेटे था। किसी को कोई हीनता-बोध नहीं, ग्रंथि नहीं, किसी की ओर से किसी को ताना नहीं, व्यंग्य नहीं। कुल मिलाकर यहां सादगी का ही प्रभुत्व था। हिन्दी और संस्कृत विभाग के ही नहीं अंग्रेजी, इतिहास और अन्यान्य विभागों के बड़े-बड़े प्रोफेसर भी यहां धोती-कुर्ता में आते थे। मुझे याद है—अधिकांश गुरुओं ने अपने छात्रों को मिट्टी की सादगी से अपनाया था। अधिकांश क्षणों में वे छात्रों के मित्र ही होते थे। मुझे याद आती हैं साहित्यिक गोष्ठियाँ जिनमें मैं प्रथम वर्ष इन्टर का विद्यार्थी डा० रामअवध द्विवेदी, डा० राजबली पाण्डेय, प्रो० बी० एल० साहनी आदि के साथ शरीक होता था। वे लोग मित्र के रुप में हमारी कविताएं सुनते थे, विनोद करते थे और आवश्यकता के समय

सहायता करते थे। एक अजब महक थी उन दिनों में, एक ओर गोष्ठियां, दूसरी ओर आचार्य केशव जी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पण्डित पद्मनारायण आचार्य आदि गुरुओं के आत्मीय और स्नेह पूर्ण अध्यापन का वातावरण। बाद मे जब आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का आगमन हुआ तो जैसे गोष्ठियों और विभाग का वातावरण और भी सजीव हो उठा और मुझे लगा कि कबीर साहित्य के अध्ययन से और भी मोहक हो उठी उनकी सहजता, सृजनशीलता और जीवंत ज्ञान से मेरे देहाती मन को और भी बल और आश्वस्ति प्राप्त हो उठी। हिन्दू विश्वविद्यालय का आन्तरिक व्यक्तित्व तो सहज जीवन-बोध से सुवासित था ही उसका परिवेश भी खुला हुआ था। हर ऋतु अपने पूरे आदिम वेग से इसके परिसर में उतरती थी। इसके विराट प्रांगण में फैले फूल, पेड़-पौधे उपवन हर ऋतु में बोल उठते थे। हर त्योहार यहां जीवन्त रुप में आता था। मुझे याद आता है होली का दिन, कितनी धूम होती थी उस दिन। रात को विड़ला हास्टल के बरामदे में कविगोष्ठी या विनोद-गोष्ठी हो रही है। वार्डन डाक्टर राजबली पाण्डेय विद्यार्थियों के साथ विद्यार्थी बने हुए हैं—मुक्त भाव से वे होली के विनोद में शरीक हैं, बाहर लान में ढोलक और मंजीरे के ताल पर विद्यार्थियों का एक झुण्ड रामधन के नेतृत्व में नाच रहा है, दूसरे दिन होली का हुड़दंग अपने पूरे जोर पर होता जिसमें विदेशी छात्र और मुसलमान छात्र भी रंग जाते। छात्रों और प्रोफेसरों के सारे भेद-भाव समाप्त हो जाते। बसन्त पंचमी तो इस विश्वविद्यालय का विशेष त्योहार था। इसी दिन इसकी स्थापना हुई थी। प्रकृति इस समय एक नई करवट लेती है। एक गुनगुनी आहट चारो तरफ व्याप्त हो जाती है और उस दिन पीले-पीले परिधान मे छात्रों और छात्राओं का जुलूस निकलता। छात्र केवल अपनी टोपी या रुमाल रंग लेते लेकिन किसी न किसी रुप में वे भी रंजित जरुर होते। जलसे होते, गोष्ठियां होती पूरा दिन विचित्र उल्लास और रंग में भींगा होता। शिवरात्रि हो या नागपंचमी या दीवाली सभी अवसरों पर इस विश्वविद्यालय का प्रांगण अत्यधिक स्पंदित हो उठता और प्रकृति तथा सहज जीवन की छवि यहां कभी कम नहीं होने पाती। इसलिये इस प्रांगण में पलने वाला विद्यार्थी कृत्रिमता का शिकार होने से बचा रहता।

मुझे लगता कि इसके भीतर एक गांव बसा हुआ है। गांव के नर-नारी अपना सामान उठाए हुए इसके रास्तों से शहर की ओर जाते-आते रहते, इसके बीच भी घूमा करते। विश्वविद्यालय की इस चहार दीवारी से निकलकर गंगा की ओर देखिए—दूर-दूर तक हरे भरे खेत और पेड़। हम लोग इन खेतों से होकर गंगा तट जाते थे। इन खेतों को देखते ही अजीब अनुभूति होती। बरसात में ये खेत गंगा के उभड़ते हुए रोष मे डूब जाते और वे ही वसन्त में गंगा की समस्त आर्द्रता लेकर, अनेक रुप रंग और मस्ती लेकर उमड़ रहे हैं और क्रोध से फूत्कारती हुई गंगा जैसे शान्त माँ की तरह होठों पर एक हल्की मुस्कान बिखेरे लोरी गा रही है। वसन्त ऋतु की शाम को गंगा तट पर बैठ जाते, न जाने कितनी परछाइयां इस जल में तैरती-तैरती विलीन हो जातीं। नावें—नावें उस पर से कोई बांसुरी छेड़ देता। तट पर बालू के टीले जिन पर छात्र-छात्राएं बच्चों की तरह लेटे रहते। धीरे-धीरे

किसी दक्षिणी विद्यार्थी का संगीत उठता और देर तक उठता रहता—कभी कोई देहाती होली की पंक्ति उठा देता—और वह पंक्ति देर तक वातावरण में गूंजती रहती।

और हिन्दू विश्वविद्यालय का वह वातावरण अभी तक मेरे भीतर गूंज रहा है। डिग्री तो मैं कहीं से ले सकता था किन्तु इस वातावरण ने मुझे जो सहज जीवन का रस दिया है, मेरी सर्जना-शक्ति की सामान्य जन-जीवन और प्रकृति से जुड़े रहने की प्रवृति को जो बल प्रदान किया है वह शायद अन्यत्र प्राप्त नहीं होता।

रीडर, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

'कीन्हेउ सुलभ सुधा वसुधाहू'

डॉ० आर० जे० गलगली

भारतभूमि को अपने जिन सच्चे सपूतों के प्रति गर्व है और आज भी श्रद्धा पूर्वक जिन्हें स्मरण कर हम गौरव का अनुभव करते हैं उन इने गिने रत्नों में महामना पं० मदनमोहन मालवीय का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। भारतीय स्वाधीनता संग्राम के कर्णधार के रूप में महामना की अप्रतिम सेवाओं ने उन्हें राष्ट्रीय स्तर के नेताओं की अग्रिम पंक्ति में प्रतिष्ठित किया है। इन सबमें भी महामना अपनी कुछ विशिष्टताओं के चलते सबसे अलग उस ज्योति स्तंभ के सदृश दीप्तिमान हैं जो सतत् सही दिशा निर्देश का प्रतीक हुआ करता है। साथ ही व्यावहारिक लोक जीवन में वे ऐसे निर्मल संत के प्रतीक हैं जो 'अंजलि गत सुभ सुमन' के सदृश अनायास सभी को अपने उन्मुक्त सौरभ से युक्त करने वाला होता है।

महामना की कीर्ति का यही सौरभ मुझे भी उनके द्वारा स्थापित इस महान् विद्या मंदिर तक खींच लाया। मुझे इस पावन भूमि के कण-कण में उस विभूति के त्याग-तपस्या निष्ठा और सेवा का अनवरत बोध होता रहा है। विद्यार्थी जीवन से लेकर आज तक मैंने अपने को सदा इसी भावना से अनुपूरित पाया है। आज जब महामना के प्रति अपनी अन्तः भावना को अभिव्यक्ति देना चाहता हूँ तो शब्द और भाषा के आवर्त में अपने को असमर्थ पा रहा हूँ। मैं सोचता हूँ, इस प्रांगण में रहने वाले प्रत्येक बौद्धिक व्यक्ति का यह पुनीत कर्तव्य है कि महामना के आदर्शों की उपेक्षा न करते हुए इस विद्या मंदिर के उन्नयन की दिशा में अपने कर्तव्यों के प्रति सचेष्ट बना रहे। इसके निर्माण से लेकर विकास के इतिहास में त्याग और आदर्श की ही प्रधानता रही है। उसे भुलाकर आज हम स्वार्थ की दिशा में भटक गए हैं। महामना के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि यही होगी कि हम उस भूले अतीत को कभी ओझल न होने दें। महामना ने जीवन के महान् पुरुषार्थ मोक्ष की कभी कामना नहीं की अपितु इसका तिरष्कार ही किया। उनका स्पष्ट उद्घोष था—

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःख तप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

वे तो आर्त एवं दुखी जनों के कल्याण के लिए निरंतर इसी पृथ्वी पर जन्म लेने के आकांक्षी थे। कदाचित, भक्तिमार्ग की परंपरा में गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इसी सर्वश्रेष्ठ मार्ग को प्रतिपादित किया है—

ना जाने को जैहे जमपुर को सुरपुर पर धाम को।
तुलसिहिं बहुत भलो लागत जगजीवन राम गुलाम को॥

महामना उच्चकोटि के आदर्श ब्राह्मण थे। ब्राह्मण धर्म की मर्यादा मानो महामना में ही सुरक्षित थी। आज संकीर्णता के सीमित आवरण ने प्रत्येक जातीय उदात्तता को

संकुचित कर दिया है। महामना का ब्राह्मणत्व इतन उदार और 'निजधर्म' के प्रति जाग्रत था कि उसके प्रति लेशमात्र भी संशय नहीं किया जा सकता। वे कहा करते थे कि वही सच्चा ब्राह्मण है जिसमें विद्या, पवित्रता, क्षमा, सरलता और गहरी आस्तिकता हो। उनके जीवन में नैतिकता का सर्वोपरि स्थान था। सदाचार, औदार्य, प्रेम, सहिष्णुता, परदुख-कातरता आदि उनके जीवन के सोपान थे। धर्म एवं विद्या के प्रति अगाध प्रेम उनके जीवन में सतत परिलक्षित होता है। वे एक सिद्ध तपस्वी और मनीषी थे। उनके अन्तः बाह्य की सरलता, उदारता एवं सादगी में प्राणिमात्र को अभिभूत करने की अपूर्व शक्ति विद्यमान थी। कला और विज्ञान का अपूर्व समन्वय महामना की अप्रतिम विशिष्टता थी। उनके विराट मानस में देश की मुक्ति और अभिवृद्धि का जो चित्र विद्यमान था वह विद्या के विराट प्रसार द्वारा ही पूर्ण किया जा सकता था। उसी का ज्वलन्त रूप इस विश्व-विद्यालय के रूप में प्रकट हुआ।

इस विश्वविद्यालय के निर्माण से लेकर अब तक के ऐतिहासिक विकास से आप सभी अवगत हैं। महामना ने अपने इस नन्दन कानन में देश विदेश के अनेक सारस्वत कुसुमों को संजोया था। बड़े-बड़े प्रसिद्ध शिक्षाविदों, वैज्ञानिकों एवं विद्या के उपासकों को उन्होंने यहाँ एकत्र किया था। इसे हम महामना की देशभक्ति एवं मानवीय गुणों से युक्त व्यक्तित्व का प्रभाव ही कहेंगे कि देश-विदेश के बड़े-बड़े विद्वान्, शिक्षाविद् एवं वैज्ञानिकों ने वेतन की चिन्ता किए बगैर इस विश्वविद्यालय में आना स्वीकार कर लिया। महामना का कहना था कि 'विद्वान् रहते नहीं रखे जाते हैं।' विश्वविद्यालय के हित के लिए वे सदा सचेष्ट रहे। इसे वे एक ऐसा स्वरूप देना चाहते थे जो विश्व में अपनी विशिष्टता के लिए स्मरण किया जाय।

भारतीय दर्शन, मीमांसा आदि के अध्ययन के लिए आने वाले विदेशी छात्रों की अपेक्षित सहायता का मालवीय जी महाराज बहुत ध्यान रखते थे। मुझे भली प्रकार ज्ञात है कि संकट के समय महामना के समक्ष पहुँचा कोई भी छात्र कभी निराश नहीं हुआ। वे उसका समाधान करके ही सोत्साह विदा करते थे। वे सचमुच ही इस कुल के पिता थे। सभी विद्यार्थियों के प्रति उनका वात्सल्य पिता के सदृश ही उदार था। वे कहा करते थे "भगवान पर भरोसा रखो, उनका नाम स्मरण करो, तुम्हारा संकट अविलम्ब टल जाएगा। मानवीय करुणा और दया का ऐसा समावेश दुर्लभ है। अपने जीवन में भी उनकी परमात्मा के प्रति दृढ़ आस्था थी, वे कभी हतोत्साहित नही हुए। हर संकट का मुकावला उन्होंने भगवान के नाम स्मरण से किया।

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने
प्रणतक्लेश नाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥

उक्त श्लोक उनका महामंत्र था। इसे वे बरावर कहा करते थे। महामना प्राचीन भारतीय संस्कृति के जितने पक्षधर थे, भावी विज्ञान की उन्नति के प्रति उतने ही सजग और सचेष्ट भी। पुरानी परम्परा में आस्था रखते हुए भी नवीनता के प्रांजल स्वरूप के ग्रहण में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं था। वे उदात्त भाव जीवी ऐसे महापुरुष थे जिनका

अन्तः बाह्य समान रूप से आत्मज्ञान से दीप्त था। उनका समग्र जीवन न केवल विश्वविद्यालय के लिए अपितु सम्पूर्ण मानवता के लिए समर्पित था। यह विश्वविद्यालय उक्त दलित मानवता की सेवा का एक अंग मात्र था।

अपने २६ वर्षों के विश्वविद्यालय जीवन में मैंने सदा महामना से प्रेरणा ग्रहण की है। उनकी मूर्त जीवन्त परम्परा मेरे लिए प्रेरणा स्रोत रही है। समय-समय पर महामना के प्रति बहुत से विद्वानों के विचार सुनने का अवसर मिला और स्वयं कुछ पढ़ने का सौभाग्य भी सुलभ हुआ है। इस विद्या मंदिर के छात्र और आज अध्यापक के रूप में अपने को पाकर इसे जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि मानता हूँ। महामना के विविध आदर्शों का स्मरण कर मेरे रोम-रोम पुलकित हो उठते हैं। मैं सदा उनके त्याग, करुणा, दया, परोपकार आदि मानवीय गुणों से अनुप्राणित होता रहा हूँ। महामना ऐसे सेतु हैं जिनके माध्यम से असंख्य लोगों की अज्ञान रूपी महा समुद्र को पार कर प्रकाश के उज्ज्वल लोक की यात्रा सुगम हो सकी है। मेरे सदृश बहुसंख्यक पिपीलिकाएँ अज्ञान के अन्धकार से निकलकर प्रकाश के राज्य तक सहज ही आ सकी हैं। इस पिछड़े प्रदेश में कोटि-कोटि दीन एवं असहाय जनों के सुखद भविष्य के लिए ऐसे भव्य सारस्वत सेतु का निर्माण महामना के आदर्श चरित्र की ही विशेषता है। ऐसे युग पुरुष के चरणों में शत-शत प्रणाम।

राम भक्त अब अमिय अघाहू।
कीन्हेउ सुलभ सुधा बसुधाहू॥

रीडर, रसायन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

——— ——

'ओइ महामानव आसे'

श्री जयगोविन्द राय

आज लोगों में अपूर्व उत्साह है। वे उत्सव मना रहे हैं। महामना मालवीय जी के ७५ वर्ष पूरे हो चुके हैं। उनके अभिनन्दन के लिए विश्वविद्यालय के प्रस्तावित मन्दिर-प्रांगण में एक महती सभा का आयोजन किया गया है।

पक्षी आनन्द से संगीत-मुखर हैं। तरुलताएँ झूम-झूमकर नृत्य कर रही हैं। महामना के चरणों में अपने को न्योछावर करने के लिए पुष्प लालायित हैं। देवगण उनकी एक झलक पाने के लिए तरस रहे हैं। धरती को बराबर रोमांच हो रहा है। वह इस मानव-रत्न को पाकर धन्य है, कृतार्थ है।

मैं, विश्वविद्यालय का एक नगण्य छात्र, असंख्य नरनारियों, विद्यार्थियों तथा अध्यापकों के साथ सुसज्जित सभा-मण्डप में बैठा हुआ मालवीय जी के आगमन की बाट जोह रहा हूँ। जान पड़ता है उनके आने में अब बहुत विलम्ब नहीं है क्योंकि हर्षोल्लास की मृदुतरंगें मण्डप में लहराने लगी हैं। अब शीघ्र ही मदन को मोहने वाली उनकी रूप माधुरी का दर्शन होगा तथा उनकी सुधा-सिक्त वांणी श्रवण करने को मिलेगी।

हमारे आराध्य कुलपति आ रहे हैं। ऐसा लगता है मानो वे देव-दुर्लभ शुचिता शुभ्रता और शालीनता से परिवेष्टित होकर, धर्म की ध्वजा फहराते हुए तथा मानवता की जय-भेरी बजाते हुए सभा-मण्डप में पधार रहे हैं। ऐसी ही किसी शुभ घड़ी की कल्पना में विश्व कवि रवीन्द्रनाथ की वीणा पर यह गान झंकृत हुआ होगा।

ओइ महामानव आसे
दिके दिके रोमाञ्च लागे
मर्त्यधूलिर घासे घासे॥
सुरलोके बेजे उठे शंख
नरलोके बाजे जयडंक
एलो महाजन्मेर लग्न।

विभिन्न संस्थाओं और उपस्थित जनसमुदाय की ओर से महामना को श्रद्धा कुसुमाञ्जलि अर्पित की जा रही है। वे भाव-विभोर होकर बोल रहे हैं—

मैं तो आज मूक हो रहा हूँ। जिस प्रेम और उत्साह से आप लोगों ने उत्सव मनाया है उसके विषय में मैं क्या कहूँ? मैं शब्दों में उस भाव को प्रकट नहीं कर सकता।

भगवान् को अभी इस शरीर से बहुत काम कराना है। म सौ सवा सौ वर्ष जीना नहीं चाहता। मेरा केवल दस वर्ष का कार्यक्रम है। अभी यहाँ मन्दिर बनाने की इच्छा है। मन्दिर तो विश्वविद्यालय के हृदय के समान है। जब हृदय ही नहीं होगा तो शरीर किस काम का?

इस मन्दिर के लिए मैं क्या कहूँ ? यह अब तक क्यों नहीं बना ? इसके लिए मुझे बड़ा दुःख है। मैंने इसके शिलान्यास के लिए एक तपस्वी को आमंत्रित किया था। उनकी तपस्या में विघ्न पड़ा। वे बहुत दूर पैदल चलकर आए और मन्दिर की नींव रख गए। पर मन्दिर अबतक नहीं बना। इसका सारा दोष मुझ पर है।

इस समारोह की पृष्ठभूमि में मेरे मानस-पटल पर मालवीय जी का एक सुमधुर और प्राणवंत चित्र अंकित हुआ जिसे कभी भुलाया नहीं जा सकता है। यों तो विश्व-विद्यालय ही सरस्वती का मंदिर है, पर सम्पूर्ण विश्वनाथ मन्दिर उसका हृदय है और धर्म हम सबके जीवन का केन्द्र बिन्दु है।

× × ×

मैंने अपने हृदय में महामना मालवीय जी के कुछ चित्र संजोकर रखे हैं जिनमें से यहाँ दो एक उपस्थित करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

आज से प्रायः ४० वर्ष पहले की बात है। आर्ट्स कालेज के हाल में रविवार को प्रातःकाल गीता-प्रवचन होता है। गायनाचार्य शिवप्रसाद जी भक्ति मूलक गान करते हैं। मालवीय जी प्रायः प्रवचन में आ जाते हैं और अपने मुखारविन्द से कुछ उपदेश करते हैं। वे सहज सरलभाव से समझा रहे हैं कि ईश्वर हैं और उनका दर्शन प्रतिक्षण हमें मिलता रहता है। वे कहते हैं—मैं आज प्रातःकाल सन्ध्योपासना कर रहा था। तुलसीदल देखकर मुग्ध हो गया। स्रष्टा की क्या अपूर्व रचना है ? मुझे तुलसीदल में ही भगवान् का दर्शन हुआ ? जिधर ही देखो उधर ही कलाकार अपनी कला में मुस्करा रहा है।

मालवीय-भवन के सामने से जब कभी गुजरता हूँ, उपासना के लिए बैठे हुए, तुलसीदल को निहारते हुए महामना के दिव्य स्वरूप का ध्यान करता हूँ। और मन ही मन उन्हें प्रणाम करता हूँ। बाउलों का यह गान स्वभावतः स्मरण हो आता है—

'एइ घरेते आछे मनतोर घरेर कारीगर' अरे मन, तुम्हारे घर का बनानेवाला—कारीगर तो इसी घर में है।

जिस दिन मालवीय जी प्रवचन में नहीं आते उस दिन गायनाचार्य जी हारमोनियम के साथ गान करते हैं और तबले पर संगत होती है। किन्तु मालवीय जी की उपस्थिति में इनका वर्जन है। इनका स्थान तानपूरे और मृदंग को मिलता है। मालवीय जी कहते हैं—मेघ को देखकर और उसका गर्जन सुनकर जिस प्रकार मयूर नाचने लगता है, उसी प्रकार वेद-ध्वनि और मृदंग-वादन सुनकर मेरा मन भी नाच उठता है।

आज परम वैष्णव महामहोपाध्याय पण्डित प्रमथनाथ तर्कभूषण का गीता-प्रवचन है। वे भगवान् श्री कृष्ण के रूप-माधुर्य का बखान कर रहे हैं। श्रोता भगवान् के स्वरूप में तन्मय होकर प्रवचन सुन रहे हैं।

द्वारिकाधीश अपने सभासदों के साथ सभा-कक्ष में बैठे हुए हैं। वे अचानक विहँस पड़ते हैं। सभासद आश्चर्य-चकित होकर पूछते हैं—महाराज ! आप अकारण हँस क्यों रहे

हैं ? भगवान् कहते हैं—मैंने अपने अलौकिक स्वरूप का प्रतिविम्ब जो दर्पण में देखा तो आनन्दातिरेक से हँसी रोक न पाया।

प्रवचन समाप्त होने पर मालवीय जी गद्‌गद् होकर कहते हैं—विश्वविद्यालय के उन छात्रों और अध्यापकों के लिए मुझे दुःख हो रहा है, जो यहाँ उपस्थित नहीं हैं। आज तो यहाँ अमृत की धारा वह रही थी। आप सबने उसका पान किया और परितृप्त हुए।

महामना के भगवद् प्रेम की कहानी अकथ और अनन्त है। वह हमारे जीवन का पाथेय बने तथा हमारे अन्तस् को शुद्ध और समृद्ध करे—

अन्तरमम विकसित करो अन्तरतर हे—
निर्मल करो, उज्ज्वल करो, सुन्दर करो हे।

विनय-भवन, शांतिनिकेतन
पश्चिम बंगाल

———

महामना के कतिपय संस्मरण

डॉ॰ बलदेव उपाध्याय

महामना मालवीय जी महाराज युगान्तरकारी पुरुष थे। ऐसे महा मानव सर्वदा इस पृथ्वी पर नहीं पधारते। भगवान् की ऐसी दिव्य विभूति यदाकदा ही इस धराधाम पर अवतीर्ण होती हैं, स्वनिर्दिष्ट कार्य का विधिवत् सम्पादन कर भूतल के मानवों के शिक्षणार्थ अपना आदर्श चरित उपन्यस्त कर पुनः विभूति के उस आधार में अपने जीवन को समर्पित कर देती है। महामना मालवीय जी ऐसे ही एक आलोक सामान्य प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे जिनकी प्रतिभा भारतीय समाज के प्रत्येक अंग को आलोकित करती थी, जिनका स्पर्श सामान्य मनुष्य को भी सुवर्ण बना देता था और जिनकी पीयूष वाणी श्रोताओं के कर्णकुहरों में प्रवेश कर हृदय को आप्यायित, आवर्जित तथा अभ्युदित कर देती थी। इन्हीं के विषय में ये कतिपय दिव्य संस्मरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं। लिखने का उद्देश्य महाकवि श्री श्री हर्ष के शब्दों में यही है—

पवित्रमत्रातनुते जगद् युगे
स्मृता रसक्षालनयेव यत् कथा।
कथं न सा मद् गिरमाविलामपि
स्वसेविनीमेव कृतार्थयिष्यति ॥

महामना मालवीय जी भाषा के प्रयोग के प्रति बड़े ही जागरुक रहते थे। कोई भी भाषा हो - संस्कृत, हिन्दी अथवा अंग्रेजी—वे तत्तत् शब्दों के उच्चारण में, शब्दों के चयन में, वाक्यों के रुचिर विन्यास में बड़ी ही जागरुकता रखते थे। वे विबुधवन्दित वाग्मी थे, भाषण के अवसर पर उनकी मधुर वाणी अजस्र गति से प्रवाहित होती थी, वह कहीं अवरोध या रुकावट का नाम नहीं जानती थी। मानवों की गणना में शीर्षस्थान पर विराजमान वाग्मी के वे सद्यः प्रतीक थे, जिसके विषय में कहा गया है—वाग्मी भवति वा न वा। संस्कृत भाषा तथा साहित्य का अध्ययन उन्होंने उस युग के मूर्धन्य संस्कृतज्ञ महा-महोपाध्याय पण्डित आदित्य राम भट्टाचार्य से किया था जिनके लिए महामना की श्रद्धा एवं पूज्य भावना सातिशय थी। महामना संस्कृत में धारा प्रवाह से भाषण करते थे, परन्तु कहीं भी व्यांकरण सम्बन्धी त्रुटि का दर्शन नहीं होता था। पण्डितों ने सावधानी से जागरुक होकर उनके संस्कृत भाषणों को सुना, परन्तु त्रुटि लक्षित नहीं हुई। महामना के सामने कोई संस्कृत शब्दों का अशुद्ध उच्चारण कर दे और वह उनके डाँट से बच जाय—ऐसा कभी नहीं देखा हमने। तुलसी जयन्ती के अवसर पर उन्हें निमंत्रित करने वाले एक विज्ञ व्यक्ति के मुख से शकार संवलित 'तुलशी' का उच्चारण कई बार सुनकर महामना से नहीं रहा गया और उन्होंने उन्हें डाँट—मीठी डाँट—बताई और उनका उच्चारण ठीक किया। अंग्रेजी शब्दों के उच्चारण के प्रति भी उनका विशेष अवधान हमने देखा है।

म्योरसेन्ट्रल कालेज के अंग्रेज अध्यापकों के संपर्क में विशेष आने के कारण वे Studant का उच्चारण सर्वदा यकार विशिष्ट किया करते थे—स्टयूडेन्ट। पूछने पर उन्होंनें वताया कि इसका यही विशुद्ध उच्चारण है। एकवार मैं अपने मित्र पण्डित वटुक नाथ जी के साथ पुस्तकालय में पुस्तकें देख रहा था। मालवीय जी अकस्मात् वहाँ आ गये और अंग्रेजी में बोल उठे—what are you doing there ? जब उत्तर दिया—Looking for books on literature. तब अन्तिम शब्द का 'लिटरेचर' उच्चारण सुनकर वे तपाक से बोल उठे—Don't say लिटरेचर but 'लिटरेटचोर'। उन्होंने शुद्ध उच्चारण ही नही बतलाया, बल्कि कई बार उस विशुद्ध उच्चारण की आवृत्ति भी कराई। तब कहीं उन्होंने हम लोगों को छोड़ा।

मालवीयजी विशुद्ध शब्द प्रयोग के प्रति दृढ़ आस्थावान् थे। वे खिचड़ी भाषा के प्रयोग की नितान्त अवहेलना करते थे। वे हिन्दी के तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्दों के प्रयोग को सर्वजनहिताय विशेष महत्त्व देते थे। वे नहीं चाहते थे कि हिन्दी के भाषणों में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग किया जाय। तुलसी जयन्ती का सुखद अवसर था। विश्व-विद्यालय के केन्द्रीय 'हाल' में विशद समारोह बड़े उमंग से चल रहा था। प्रधान वक्ता थे लाला भगवानदीन जी। व्याख्यान बड़ा ही सुन्दर और सारगर्भित था, परन्तु लालाजी का स्वभाव था कि व्याख्यान को विशेष आकर्षक बनाने के लिए वे उर्दू तथा अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग खुलकर किया करते थे—कक्षा में तथा व्याख्यानमंच पर भी। उस दिन भी ऐसा ही हुआ था। मालवीय जी जब व्याख्यान देने खड़े हुए, तब उन्होंने एक ही वाक्य में लालाजी के पूरे व्याख्यान की तीखी आलोचना कर डाली—'भाई, हिन्दी व्याख्यान में अंग्रेजी शब्दों की छौंक हमें अच्छी नहीं लगती'। इस वाक्य में समुचित रूपेण प्रयुक्त 'छौंक' शब्द ने हम सब अध्यापकों को चौंका दिया। मालवीय जी ने नाक भौंह सिकुड कर ऐसे नाटकीय ढंग से इस वाक्य को कहा कि सुनने वालों के कान मानों छौंक उठे। इस शब्द के समुचित प्रयोग से श्रोता गण नितान्त आप्यायित हो उठे और महामना के शब्द चयन पर सब चमत्कृत हो गये।

महामना स्वयं महनीय वक्ता थे। चार-चार घंटों तक विना किसी नोट के व्यवस्थापक सभा में व्याख्यान देनें में वे कथमपि श्रान्त नहीं होते थे, परन्तु वे अधिक बोलने को शक्तिक्षय करने वाला मानते थे और कुछ समय के लिए मौन धारण करने को श्रेयस्कर वतलाते थे। संस्कृत महाविद्यालय के अध्यक्ष पण्डित बाल कृष्ण मिश्र जी राजयक्ष्मा की दवा करा कर राँची से नीरोग होकर लौटे थे। महामना जी से भेंट करने के लिए वे मालवीय भवन में आये थे। मैं भी वहाँ उपस्थित था। मालवीय जी ने उनके नैरुज्य के विषय मे पूछा। मिश्रजी ने कहा कि आपकी कृपा से मैं इस समय नीरोग हो गया हूँ, परन्तु आपके ही उपदेशों की अवहेलना का फल मुझे भुगतना पड़ रहा है। आपने मुझसे कहा था कि विद्यालय बन्द हो जाने के बाद भ्रमण किया करो, घर पर शाम को या रात को छात्रों को मत पढ़ाया करो। 'शुक्रक्षयात् वाक्क्षयो बलीयान्' शुक्रक्षय की अपेक्षा वाक् काक्षय बलवान् होता है। इसे भूलना मत। महामना का तात्पर्य था कि बोलने से

अधिक शक्ति क्षीण होती है शुक्र के क्षय से बढ़ कर। इसीलिए तो मुनि लोग मौन धारण किया करते हैं। महामना का यह उपदेश हमारे लिए एक महनीय मन्त्र है जिसका अनुष्ठान हमें सतत करना चाहिए।

मालवीय जी बड़े रसिक थे। जहाँ वह पण्डितों को देखते, उनकी रसमयी वाणी सुनने के लिए आग्रह करते थे। वे स्वयं कमनीय सरस-सुबोध सूक्तियाँ सुनाते तथा ऐसी ही सूक्तियाँ सुनने के लिए आतुर रहते थे। एकबार का प्रसंग है जब वे बाबू शिव प्रसाद गुप्त जी की नगवा कोठी में निवास करते थे। पूर्वाह्ण में ही मेरे मित्र बटुकनाथ शर्मा उनके दर्शनों के लिए वहाँ पहुँच गये। वे कवि थे—साहित्य के रसिक मर्मज्ञ। नायिका भेद का प्रसंग उठ खड़ा हुआ। महामना 'नवोढा' की व्याख्या करने लगे। सहायक रजिस्ट्रार पं० श्यामसुन्दर शर्मा से 'साहित्यदर्पण' में उद्धृत उदाहरण को पूरा करने के लिए कहा। जब बटुकनाथ जी ने नवोढ़ा का उदाहरण पढ़ सुनाया, तब मालवीय जी गद्गद हो उठे। श्लोक विश्वनाथ कविराज रचित है और इस प्रकार है—

धत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तः पुरात्
नोद्दामं हसति, क्षणात् कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि।
किञ्चिद् भावगभीर-वक्रिमलवस्पृष्टं मनाग्र भासते
सभ्रूभङ्गमुद्वीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्तीं सखीम्॥

रसिकगोविन्द रचित इस पद्य का अनुवाद जब सुनाया गया, तब तो आनन्द से वे भावविह्वल हो उठे और नवोढ़ा का अभिनय ही करने लगे—

आलस सौं मंद मंद धरा पै धरत पाय,
भीतर ते बाहिर न आवे चित चाय कै।
रोकति दृगनि छिन छिन प्रति लाज साज,
बहुत हँसीकीदीनी बानी बिसराय कै।
बोलत बचन मृदु, मधुर बनाइउर—
अन्तर के भाव की गभीरता जमाय कै।
बात सखी सुन्दर गोबिन्द की कहात तिन्हें
सुन्दरि बिलोकै बंक भृकुटी नचाय कै॥

मालवीयजी धर्म की साक्षात् मूर्ति थे। राजनीति में रहते हुए भी वे धर्म के साथ उसके मञ्जुल सामरस्य पर निरन्तर आस्थावान् थे। मालवीयजी पर कट्टर सनातनियों का आरोप था कि धर्म के लिए भी वे दल बदला करते थे; कभी वे सुधारवादी दल में रहते हैं, तो कभी कट्टरपंथी सनातनी दल में। इस आक्षेप का उत्तर जब महामना ने कुम्भ मेले के विशाल मंच पर खड़े होकर देना शुरू किया, तो श्रोता आश्चर्य चकित हो गये। मालवीयजी ने गम्भीर स्वर में कहा "भाई, मैं तो कोई दूसरा दल नहीं जानता। एकही दल जानता हूँ और वह है यह तुलसी दल"। इतना कहकर महामना ने अपने अचकन के पाकेट से तुलसीदल निकालकर सबको दिखलाया और अपनी वैष्णवी भक्ति भावना से श्रोतालोगों को मुग्ध कर दिया।

वे भगवान् को धर्मरूप मानते थे और इस प्रसंग में 'भीष्मस्तव राग' का यह प्रख्यात पद्य सुनाया करते थे—

यं पृथग्धर्म चरणाः पृथग्धर्मफलैसिणः
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥

वे धर्म की उपमा 'लालटेन' से दिया करते थे जिसका आधार सत्य है, तप तेल है, दया बत्ती है, क्षमा शिखा (लौ) है। यदि अन्धकार म प्रवेश करने के इच्छुक हो, तो धर्म को इस लालटेन को लेकर आगे बढ़ो। तुम्हारा रास्ता प्रकाशमान हो जावेगा। लालटेन की यह उपमा महामना को बहुत ही प्रिय थी—

सत्याधारः तपः तैलं दया वर्तिः क्षमा शिखा।
अन्धकारे प्रवेष्टव्ये दीपो यत्नेन धार्यताम् ॥

महामना के जीवन की चतुःसूत्री

मालवीयजी के जीवन की चतुःसूत्री इन प्रख्यात पद्यों के द्वारा निरूपित की जा सकती है—

(क) मृदुता की तीक्ष्णता—मालवीय जी महाराज के जीवनादर्श धर्मराज थे—पाण्डवों के अग्रज, सत्य के ऊपर एकान्त निष्ठावान् तथा अन्याय का स्वप्न में भी आक्रमण न करने वाले व्यक्ति। मालवीयजी भी मृदुता के अवतार थे, जीवन में कभी उग्रता को आश्रय नहीं दिया। परन्तु उनकी मृदुता दुर्बलता की प्रतीक न थी। वे मदु से कोई भी वस्तु असाध्य नहीं मानते थे—चाहे राजनीति का क्षेत्र हो, चाहे धर्म का क्षेत्र हो। इस प्रसंग में वे वनपर्व में युधिष्ठिर के इस वचन को सातिशयमहत्त्व देते थे तथा बारंबार इसकी चर्चा किया करते थे—

मृदुना सुमृदुं हन्ति मृदुना हन्ति दारुणम्।
नासाध्यं मृदुनः किञ्चित् तस्मात् तीक्ष्णतरं मृदु ॥ - वनपर्व अ० २८

(ख) धर्म की कसौटी—मालवीयजी के लिए तुलाधार प्रसंग में दिया गया यह विश्रुत पद्य धर्म की सच्ची कसौटी को प्रकट करता है। यदि मनुष्य चाहता है कि कोई कर्म दूसरा व्यक्ति उसके साथ न करे, क्योंकि वह उसे नितान्त अप्रिय प्रतीत होता है, तो उसका भी यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह भी दूसरों के प्रति उसका व्यवहार न करे—

यदन्यैर्विहितं नेच्छेत् आत्मनः कर्म पुरुषः।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥

(ग) उद्योग की निरन्तर संवर्धना—मालवीयजी उत्साह तथा उद्योग के उज्ज्वल प्रतीक थे। वे जीवन में कभी-कभी निरुत्साहित तथा निराश नहीं होते थे। एकबार वे प्रयाग में बहुत बीमार पड़ गये। जीवन की आशा क्षीण होने लगी। उनसे भेंट करने संस्कृत महाविद्यालय के पंडितगण समवेत रूप से उनके आवास पर पहुँचे। महामना ने तब कहा था कि घनघोर विपत्ति या विषम संकट में मैं कभी निरुत्साहित नहीं होता। जब मैं पतझड़ में पत्रहीन पीपलवृक्ष को वसन्त के आगमन पर नवीन सुकुमार पत्तों से हरा-भरा

होकर लहलहाता देखता हूँ, तो मुझमें नया जोश उमड़ पड़ता है। मेरी दुर्बल देहयष्टि पुनः पुष्ट तथा सबल बन जावेगी, यही आशा मुझे जिलाती है।

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूति कर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः॥ (उद्योगपर्व १३५।३०)

(घ) सात्त्विक कर्त्ता की दृष्टि—एकबार मैंने महाराजजी से पूछा था कि इतने व्यस्त जीवन में आपने समत्व कैसे रखा, विकट परिस्थितियों में संकट के आक्रमण को श्रीमान् ने किस प्रकार प्रभावहीन बनाया? तब मालवीयजी ने कहा था कि गीता के इस सात्त्विक कर्त्ता के आदर्श को अपने सामने रखा करो, जीवन कण्टक की क्यारी न होकर शिरीष की गद्दी बन जावेगा। सात्त्विक कर्त्ता का यह लक्षण गीता की महनीय देन है मानव समाज के लिए—

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साह समन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विकउच्यते॥ (गीता १८।२६)

गीता के इस पद्य में चार तथ्यों पर आग्रह किया गया है—आसक्तिहीन रहे (अनासक्ति-योग), 'मैं' और 'मेरा' न कहे (अहन्ता तथा ममता से हीन रहे), सिद्धि तथा असिद्धि में विकार रहित रहे और धैर्य-उत्साह के साथ कार्य का सम्पादन करे। वही सात्त्विक कर्त्ता कहलाता है। महामना ऐसे ही सात्त्विक कर्त्ता के रूप में महामानव तथा घनिष्ठ कर्मयोगी थे।

उनके श्रीमुख से भिन्न-भिन्न अवसरों पर कहे इन चारों श्लोकों को मैं उनके जीवन की चतुःसूत्री मानता हूँ। भारतीयों को इस चतुःसूत्री को अपने जीवन में सम्यग् रूप से उतारना चाहिए—तभी हमारा कल्याण होगा। एवमस्तु भगवान् मनु का यह आदर्श महामना के जीवन से पूर्णरूपेण संगत बैठता है—यह कथन तथ्यवाद है, अर्थवाद नहीं—

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती।
सहिधर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

शारदा मन्दिर
३७–बी रवीन्द्रपुरी, दुर्गाकुण्ड
वाराणसी—५

'देखब्रो तोंदेर तरी बाबा'

डॉ० कृष्ण विहारी मिश्र

मेरे पूज्य पितृव्य पं० काशीनाथ मिश्र हिन्दू विश्वविद्यालय के स्नातक हैं। उनकी अन्तरंग बतकही में अपने बाल्यकाल से ही हिन्दू विश्वविद्यालय और उसके संस्थापक महामना मालवीयजी की महत्ता-चर्चा सुनता रहा हूँ। आज भी वे महामना की देवोपम मूर्ति, अमृत सदृश मधुर वाणी और करूणासिक्त उदात्त आचरण की चर्चा गद्गद् चित्त से करते हैं। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्याम सुन्दर दास, लाला भगवान दीन, पं० केशवप्रसाद मिश्र, प्रो० शेसाद्रि, प्रो० राखालदास बन्द्योपाध्याय आदि मनीषी आचार्यों के वैदुष्य और आसाधारण अध्यापन-क्षमता की चर्चा करते आज अपनी बुढ़ौती में वे अपने युवा-काल को जीने लगते हैं; अपने पुराने विद्यापीठ की पुरानी स्मृति उनके बूढ़े मानस को स्फूर्त करती है और फिर वे सहज वार्धक्य के प्रभाव में आकर उदास हो जाते हैं क्योंकि हिन्दू विश्वविद्यालय की अतीत सारस्वत समृद्धि के सामने उन्हें आज सारी दुनिया दरिद्र नजर आती है।

सन् १९५१ में जब पहली बार एक पारिवारिक अनुष्ठान में काशी गया तो वहाँ के प्रसिद्ध देव स्थान के साथ ही मुझे महामना की महत् रचना काशी हिन्दू विश्वविद्यालय— भी दिखाई गयी। आज भी स्मरण है मेरा ग्रामीण किशोर मन उस विद्यापीठ की गुरुता-गम्भीरता, नितान्त अपरिचित भव्यता और व्यवस्थित हरीतिमा से अभिभूत हो गया था। अपने पितृव्य द्वारा पुनः पुनः चर्चित चरित्रों और चेहरों को मेरा मन खोजता रहा। चेहरों को पहचानने वाली दृष्टि तब तक तैयार नहीं हुयी थी। इसलिए कुछ विशेष समझ नहीं सका। विश्वविद्यालय के बाहरी स्वरूप से अभिभूत होकर और मन मे एक आकुल विद्या-स्पृहा लेकर गाँव लौटा था।

बाद में मालूम हुआ कि जिन चेहरों को मेरी दृष्टि खोज रही थी उनकी लोकयात्रा शेष हो चुकी है; बच गयी है उनकी साधना से आविर्भूत एक स्वस्थ सारस्वत परम्परा। कुछ समय बाद हिन्दी साहित्य में विशेष रुचि होने के कारण कुछ नामों का अर्थ समझने लगा। मालूम हुआ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय काशीं में ही रहते हैं। उनके दर्शन, नैकट्य-लाभ और उनके असाधारण ज्ञान-संस्पर्श से अपने दारिद्र्य को पराजित करने की सहज महत्वाकांक्षा ने ही मुझे हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रांगण में पहुँचाया। आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय यद्यपि विश्वविद्यालय के प्रांगण में ही रहते थे; किन्तु हिन्दी विभाग से उनका कोई औपचारिक सम्बन्ध नहीं था। उस समय हिन्दी विभाग में द्विवेदीजी और पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अलावे डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पं० पद्मनारायण आचार्य, डॉ० श्रीकृष्ण लाल, डॉ० राजपति दीक्षित, पं० करुणापति त्रिपाठी, डॉ० छैल बिहारी गुप्त, श्री विजयशंकर मल्ल और श्री नामवर सिंह थे। उस समय कुछेक शोध-छात्र भी कुछ कक्षायें लेते थे।

शितिकण्ठ मिश्र, शिवप्रसाद सिंह, और रामदरश मिश्र उन दिनों रिसर्च में लगे हुए थे। गुर्टू हास्टल नयी साहित्य-पीढ़ी का आकर्षक-केन्द्र था जहाँ शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, रवीन्द्र भ्रमर, केदार नाथ सिंह, जैसे नयी पीढ़ी के परिचित लोग रहते थे। विद्यासागर नौटियाल और विश्वनाथ त्रिपाठी भी वहीं रहते थे। श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन, श्री जानकी वल्लभ शास्त्री और श्री नागार्जुन जैसे प्रख्यात साहित्यकार गुर्टू हास्टल में अपने आत्मीय कवियों-लेखकों को ढूंढ़ते पहुँच जाते थे। विद्यार्थियों में द्विवेदीजी की प्रतिभा और ख्याति का आतंक था; किन्तु पाण्डित्य और अध्यापन-कला की दृष्टि से आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र सर्वाधिक सम्मान्य व्यक्ति थे। आचार्य के प्रति विद्यार्थी के हृदय में जो सहज पूज्य भावना होती है वही सामान्य विद्यार्थियों के हृदय में आचार्य मिश्रजी के प्रति थी। नयी पीढ़ी के अध्यापकों में श्री नामवर सिंह और श्री शिवप्रसाद सिंह अपनी नयी अभिज्ञता, उद्भावना-क्षमता और चर्चित लेखक होने के कारण विशेष लोकप्रिय थे। दूसरी-दूसरी कक्षाओं में हाज़िरी दर्ज कराकर आये विद्यार्थियों से इनका कक्षा-कक्ष भर जाता था; खड़े-खड़े क्लास करनेवाले विद्यार्थियों की संख्या भी इनके क्लास में कम नहीं होती थी। डॉ० छैल विहारी गुप्त का पहनावा और व्यक्तित्व बाबू श्यामसुन्दर दास की याद ताजा करता था। श्री विजयशंकर मल्ल का सारल्य और छात्रों के प्रति सहज सहृदयता उन्हें अनायास विद्यार्थियों का आत्मीय वना देती थी। डॉ० छैल बिहारी गुप्त 'राकेश' भी अपने विद्यार्थियों के चेहरे पहचानते थे और प्रत्येक विद्यार्थी से स्नेहपूर्ण व्यवहार करते थे, किन्तु मुझे स्मरण है मल्लजी से जिस घरेलू आत्मीयता से हम वात करते थे वैसा व्यवहार दूसरों से करने में संकोच होता था। द्विवेदीजी वी० ए० की कक्षा नहीं लेते थे। उन्हें हमलोग गोष्ठियों में बोलते सुनते थे, विभाग में अध्यापकों के साथ ठहाका लगाते सुनते थे, विभाग में आते-जाते या बाजार-राह में रिक्शा पर उन्हें हम देखते और प्रणाम करते। उनके बारे में, उनके निबन्धों के बारे में दूसरे अध्यापकों से क्लास में सुनते-पढ़ते थे। डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा की पोशाक और मुद्रा में सदा कायम रहनेवाली काशिकेय अकड़ और मूक राजकीय आभिजात्य कभी अपने निकट नहीं आमंत्रित करती थी। एम० ए० में जाने पर उनके अध्यापक से परिचय हुआ।

अंग्रेजी विभाग के अध्यापकों में डॉ० राम अवध द्विवेदी और प्रो० सहानी के प्रति हिन्दी विभाग के अधिकांक्ष नये अध्यापकों का भी सम्मान था। द्विवेदीजी एक निश्चित समम पर अपने सहायक के साथ आर्ट्स कालेज में आते थे और एक निश्चित कक्ष में आराम कुर्सी पर बैठकर एम० ए० (अंग्रेजी) का क्लास लेते-थे। आचार्य पं० नन्द दुलारे बाजपेयी की कक्षा का कभी मैं विद्यार्थी नहीं था किन्तु कलकत्ते की एक साहित्यिक गोष्ठी में उनसे बहुत पहले परिचय हो गया था। आचार्य बाजपेयी हिन्दू विश्वविद्यालय की कार्य-कारिणीसमिति के दीर्घकाल तक सदस्य थे। उसकी बैठक में जब वे सागर से काशी आते मुझे पत्र द्वारा सूचना देते। उन्हें ही खोजते हुए पहली बार मैं द्विवेदीजी (डा० रामअवध द्विवेदी) के निवास-स्थान पर गया था। बाजपेयी जी ने अपनी पुस्तक 'नया साहित्य: नये प्रश्न'—मुझे वहीं दी थी और द्विवेदी जी से मेरा परिचय कराया था। उसके बाद दो-एक बार अपने सतीर्थ बन्धु श्री गुरुदेव त्रिपाठी के साथ उनके दर्शनार्थ गया था

गुरुदेवजी ने उनके निजी सहायक (लिपिक) के रूक में काम किया था और पण्डितजी को बड़े सम्मान के साथ पैर छूकर प्रणाम करते थे। उनके चरण स्पर्श करते हमें यह गर्व होता था कि हम महान भारतीय आचार्य को प्रणाम कर रहे हैं। उनकी भारतीय संस्कृति-निष्ठा, वैदुष्य, विद्या-दीप्त व्यक्तित्व उन्हें सहज ही श्रद्धेय वनाता था। यद्यपि मैं उनका विद्यार्थी नहीं था, लेकिन मेरे प्रति उनकी विशेष कृपा और सहज विश्वास था। मैं बरावर उनके यहाँ जाने लगा। प्रणाम करता, कुछ देर वैठकर विद्या-चर्चा और घर-वन की बातें कर लौट आता। तब तक मुझे यह जानकारी हो गयी थी कि देशी-विदेशी अंग्रेजी-हिन्दी विद्वानों की दुनियाँ में द्विवेदी जी का सम्मान्य स्थान है। हिन्दी में शोध-कार्य करने वाले विद्यार्थियों को उनसे दिशा-निर्देश लेते और उनके पाण्डित्य तथा उदारता से नानाविध उपकृत होते मैंने देखा था।

दूसरे विभाग के जिन अध्यापकों के व्यक्तित्व का हम विद्यार्थियों पर दूर से प्रभाव पड़ता था उनमें प्रमुख थे गणित विभाग के प्रो० नार्लिकर (जो उस समय प्रोवाइस चांसलर थे), भूगोल विभाग के अध्यक्ष-आचार्य झिब्बर, राजनीति विभाग के अध्यक्ष प्रो० मुकुट विहारी लाल और प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष डॉ० राजवली पाण्डेय इतिहास विभाग के डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, दर्शन विभाग के श्री अगेहानन्द भारती (जो बाद में अपने अवांछित कृत्यों के चलते हमारे मजाक और घृणा के विषय बन गये) तथा राजनीति विभाग के प्रो० बोहरा अपने भारी भरकम व्यक्तित्व और विशिष्ट पोशाक के कारण हम देहाती विद्यार्थियों को आकृष्ट करते थे, चर्चा के विषय थे। प्रो० बोहरा की कक्षा के हम विद्यार्थी थे। बोहरा साहब अत्यन्त योग्य शिक्षक थे। विश्वविद्यालय में वे अंग्रेजी पोशाक में आते थे और शाम को गोदौलिया और चौक के बीच अक्सर बनारसी रईस की पोशाक में—धोती, कुर्ता, गांधी टोपी, छड़ी और पम्प-शू में देखकर उन्हें पहचानना मुश्किल हो जाता था। उनके पहनावे के बारे में, आभिजात्य के बारे में हम विद्यार्थियों में अक्सर चर्चा होती कि बोहरा साहब रोज पोशाक बदलते हैं—टाई से जूता तक; कि बोहरा साहब अपने भले ही नैनीताल न जायं गर्मी में उनके कुत्ते जरूर हिलस्टेशन जाते हैं। पान खाते बोहरा साहब के दांत एकदम काले हो गये थे। किसी विद्यार्थी ने बताया था कि बोहरा साहब जहाज से इंगलैण्ड से जब लौट रहे थे एक ओड़िया को पान लगाते देखकर उसे अपना मित्र बना लिया था जो बाम्बे तक उन्हें पान खिलाता आया। इस तरह की अनेक वैयक्तिक बातें—बहुत कुछ कल्पित यानी गप्प। और बोहरा साहब अपने विद्यार्थियों से अन्तरंग ढंग से बहुत कम बोलते थे। क्लास में कभी-कभी खूब हंसते थ और मूड में होते तो घण्टा-ध्वनि भूल कर हिन्दी बोलते-बोलते धाराप्रवाह अंग्रेजी में वोलने लगते उनकी अंग्रेजी सुनने का एक विशेष सुख था। प्रोफेसर कन्हैयालाल बर्मा और इतिहास के अध्यापक डॉ० अवधबिहारी पाण्डेय क्लास में अत्यन्त प्रांजलपरिनिष्ठित हिन्दी बोलते थे। डॉ० अवध बिहारी पाण्डेय मध्यकालीन भारतीय इतिहास पढ़ाते, भक्ति-आन्दोलन का विश्लेषण-विवेचन करते तो लगता कि इतिहास नहीं साहित्य का आचार्य बोल रहा है। इतिहास की प्रामाणिक अभिज्ञता के लिए साहित्य का ज्ञान नितान्त आवश्यक है, यह धारणा डॉ० पाण्डेय जी के कक्षा-प्रवचन

से ही पहली बार मेरे सामने स्पष्ट हुई। लम्बी-दुबली काया थी उनकी। अंग्रेजी पोशाक में साइकिल पर विश्वविद्यालय आते थे। उन्हें कभी हंसते हुए मैंने नहीं देखा। उनकी साइकिल राह म जब दिखाई पड़ती, इतनी श्रद्धा थी मेरे हृदय में उनके प्रति कि, रुक जाता और निकट आने पर उन्हें प्रणाम करता। अभिवादन स्वीकार कर चुपचाप उनकी साइकिल आगे निकल जाती। क्लास में झपकी लेने वाले को वे माफ नहीं करते थे। धाराप्रवाह परिनिष्ठित हिन्दी बोलते थे; उनका वक्तव्य तर्क से समृद्ध होता था। विभाग-कक्ष से रजिस्टर लेकर जब वे क्लास की ओर बढ़ते उस समय बीच में उनके किसी छात्र ने यदि उनके सामने कोई जिज्ञासा रख दी तो वे भूल जाते थे कि क्लास का समय खण्डित हो रहा है। मेरी एकाध जिज्ञासा का समाधान उन्होंने बड़ी आत्मीयतापूर्वक किया था। अपरिचित के लिये उनके व्यक्तित्व में कोई आकर्षण नहीं था, लेकिन उनके विद्यार्थियों में उनके वैदुष्य सम्पन्न व्यक्तित्व के प्रति सहज श्रद्धा थी। मेरे आत्मीय और परम श्रद्धेय अध्यापक थे राजनीति विभाग के डॉ० गणेश प्रसाद उनियाल। मार्क्सवादी विचार-दर्शन में उनकी आस्था थी। जितनी अच्छी हिन्दी वे लिखते थे उतनी अच्छी बोलते नहीं थे। जितना स्वस्थ और पुष्ट उनका शरीर था उतना ही सामान्य उनका पहनावा था। अतिशय विनोदप्रिय थे। अपने छात्रों से मुखर विनोद करने वाले वे मेरे समय में अकेले अध्यापक थे। डॉ० नामवर सिंह का विनोद जरा विशेष रंगीन होता था इसलिए बहुतों को रुचता नहीं था और कुछेक को उसी रंगीनी के कारण ही नामवर सिंह रुचते थे। नामवरजी लोलार्क कुण्ड (भदैनी) पर मेरे और पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी के बीच वाले मकान में रहते थे। नामवरजी को जब गली में आते-जाते देखता सम्मान से प्रणाम करता। वे कभी एक उंगली उठाकर और कभी गर्दन हिलाकर मेरा अभिवादन स्वीकारते अपनी कृत्रिम गम्भीरता द्वारा बराबर अनात्मीय धक्का मारते। शाम को मेरे यहां (यानी उसी मकान में जो अब डॉ० नामवर सिंह का हो गया है) छत पर अक्सर मेरे कुछ अन्तरंग मित्रों स्व० बालेश्वर नाथ सिंह, श्री गुरुदेव त्रिपाठी, श्री कामेश्वर नाथ मिश्र, श्री जर्जसिंह और मेरे अनुज श्री रासबिहारी मिश्र—की बैठकी जमती, अध्यापकों की चर्चा होती। नये हिन्दी अध्यापकों मे श्री नामवर सिंह और श्री शिवप्रसाद सिंह की ही मुख्य रूप से चर्चा होती। नामवरजी के ज्ञान और अध्यापन-क्षमता के प्रति मेरी सच्ची श्रद्धा थी, जो अब भी अकुंठ है, किन्तु उनके व्यक्तित्व के प्रति मेरे मन में कोई विशेष आकर्षण नहीं था। इस दृष्टि से श्री शिवप्रसाद सिंह मेरे आत्मीय और आदरणीय थे। मुझे याद है तब शिवप्रसाद जी विधिवत् अध्यापक नहीं हुए थे। सामान्य हिन्दी की कक्षा मे एक दिन उनसे प्रेमचन्द के उपन्यास 'गबन' को लेकर कुछ अप्रिय बतकही हो गयी थी। और याद है फिर मैं उनके इतना निकट पहुंच गया कि प्रायः रोज ही कालेज से लौटते मैं उनके यहां गुर्टु हास्टल के कमरा नं० १३ में जाया करता। उसी समय उनके प्रथम कहानी संग्रह 'आरपार की माला' का प्रकाशन हुआ था। यहां डॉ० रवीन्द्र भ्रमर, डॉ० केदारनाथ सिंह, डॉ० रामदरश मिश्र, श्री विद्यासागर नौटियाल, श्री विष्णुचन्द्र शर्मा और डॉ० शुकदेव सिंह से परिचय हुआ था। तब भी श्री विष्णुचन्द्र शर्मा अपने सहज तेवर और तेजतर्रार आवाज में बात करते थे। श्री शुकदेव सिंह उन दिनों श्री शिवप्रसाद

सिंह के अनन्य भक्त थे। उनकी सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'आरपार की माला' की वे हम विद्यार्थियों में प्रचार करते शिवप्रसाद जी की प्रशस्ति किया करते थे। उसी हास्टल में मेरे सतीर्थ वन्धु श्री दीनानाथ पाण्डेय और श्री कामेश्वरनाथ मिश्र रहा करते थे। डॉ० कोतमीरे और डॉ० लोकनाथ भराली उस समय उसी छात्रावास में रहकर शोध-कार्य कर रहे थे। मुझे वह प्रसंग भूलता नहीं जिसको लेकर शिवप्रसादजी, मेरे ऊपर अपने ठाकुर-अन्दाज में बरस पड़े थे। बातचीत के सिलसिले में आचार्य पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी की श्रेष्ठता सिद्ध करते उन्होंने आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के विरोध में ऐसे तर्क दिये जो मुझे कतई मान्य नहीं थे। इसका कारण यह नहीं था कि वाजपेयी जी के प्रति मेरी श्रद्धा थी, बल्कि यह कि शिवप्रसादजी के तर्क द्विवेदी जी के प्रति अतिरिक्त श्रद्धा से श्लथ थे। और मैंने उनसे अपनी असहमति प्रकट की थी, मेरे अपने तर्क थे। वे बेहद नाराज हो गये थे। गुर्टू हास्टल में अपने दूसरे मित्रों से मिलने जाया करता था। शिवप्रसादजी तब अपने शोध-कार्य के सिलसिले में राजस्थान चले गये। लौटे तो उस प्रसंग को वे भूल गये थे और मैंने भी उसे भुला देना ही उचित समझा था। बड़े अन्तरंग ढंग से उन्होंने अपनी यात्रा के प्रत्यूहों और उपलब्धि की चर्चा की थी। 'राष्ट्रवाणी' में शायद, उनके दो यात्रा-निबन्ध प्रकाशित हुए थे 'लाल इमारतों का नगर जयपुर', और मारु देश की जादुई झील'। एम० ए० का डीजर्टेशन 'कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा' पुस्तकार प्रकाशित हो चुका था। महा पण्डित राहुल सांकृत्यायन की सम्मति कि 'शिवप्रसाद सिंह के रूप में बीहड़ पथ को सबल पैर मिला', प्रकाशित हो चुकी थी। पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी उनकी कहानियों की उच्छ्वसित प्रशंसा मुझसे कर चुके थे।

तब मैं एम० ए० (हिन्दी) का छात्र था। पढ़ने के साथ ही कुछ लिखने लगा था। नयी साहित्यिक पत्रिकायें और पुस्तकें खोज-खोज कर खरीदने-पढ़ने लगा था, साहित्यिक गोष्ठियों में जाने लगा था। उसी समय श्री शिवप्रसाद सिंह की संस्तुति के साथ 'कल्पना' में मेरी पहली कहानी प्रकाशित हुयी थी। सतीर्थ बन्धुओं में मेरे अन्तरंग थे श्री गुरुदेव त्रिपाठी, स्व० सत्यव्रत उपाध्याय, श्री वेंकट रमण कारन्त। तीनों ही वामपंथी विचारधारा-स्पष्ट ही मार्क्सवादी विचार-दर्शन के प्रति आस्थावान थे। मेरी रुचि उधर नहीं थी। कुछ मार्क्सवादी साहित्य भाई श्री शिवप्रसाद जी से मांगकर मैंने पढ़ा जरूर था, लेकिन उधर उस रूप में आकृष्ट नहीं हो सका जैसे मेरे अन्तरंग मित्र सत्यव्रत उपाध्याय, गुरुदेव त्रिपाठी और कारन्त हुए थे। स्व० सत्यव्रत उपाध्याय में आचार्य शिवपूजन सहाय का सारल्य और उग्रजी की रचना-भंगिमा थी। उसकी कहानियाँ छपने लग गयी थीं। श्री त्रिलोचन शास्त्री, श्री विष्णुचन्द्र शर्मा, श्री नामवर सिंह और श्री शिवप्रसाद सिंह उसकी पीठ ठोकने लग गये थे। मेरी पीढ़ी की अद्वितीय गद्य-प्रतिमा सम्पन्न मेरे अजीज़ दोस्त सत्यव्रत उपाध्याय की लोक-यात्रा बहुत छोटी थी। नाना प्रकार के अभावों और मानसिक यंत्रणाओं के चलते उसका कोमल मन और रोगी शरीर अधिक दिन टिक नहीं सका। एक प्रातिभ सम्भावना असमय ही शेष हो गयी। मेरी अग्रजपीढ़ी के लोगों में अपने साहित्यिक कर्तृत्व से जिन्होंने नयी पीढ़ी में अपना स्थान बनाया, प्रातिभ शक्ति के बल पर चर्चित हुए उनमें हुए मुख्य हैं डॉ० केदारनाथ सिंह, डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी,

डॉ० जितेन्द्रनाथ पाठक, डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, डॉ० श्याम तिवारी और श्री विष्णुचन्द्र शर्मा। मेरी अनुज पीढ़ी में डॉ० विजय मोहन सिंह और डॉ० काशीनाथ सिंह की नयी साहित्य-पीढ़ी में चर्चा रही। मेरे सतीर्थ वन्धु डॉ० रामजी मिश्र ने कुछ अच्छी कहानियाँ लिखीं। लेकिन अकहानी आन्दोलन-अन्धड़ में उनका नाम कहीं दव गया। मेरे दूसरे सहपाठी मित्र डॉ० राजदेव सिंह ने सारस्वत-सरणि पर अपनी प्रातिभ सक्रियता का प्रमाण दिया। श्री वेंकटरमण कारन्त ने अपनी प्रातिभ क्षमता के बल पर कला-विशेष का सर्वोत्कृष्ट पुरस्कार प्राप्त किया। मेरे अनन्य मित्र श्री गुरुदेव त्रिपाठी की साहित्यिक साधना मिशीगन विश्वविद्यालय और पिलानी के चाकचिक्य के चलते अवरुद्ध हो गयी। मेरे लिये यह अत्यन्त प्रीतिकर स्थिति है कि वे भौतिक दृष्टि से सुखी व्यक्ति हैं, किन्तु उनकी लेखनविरति उतनी ही पीड़क है।

एम० ए० कक्षा में मेरे अध्यापक थे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पं० पद्मनारायण आचार्य, डॉ० श्रीकृष्ण लाल, डॉ० विजयशंकर मल्ल और डॉ० नामवर सिंह। सर्वाधिक लोकप्रिय अध्यापक थे आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और नये में डॉ० नामवर सिंह। आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र काशी परम्परा के अद्वितीय पण्डित हैं। रीतिकालीन साहित्य के मर्मज्ञ आचार्य का मानस घोर मर्यादावादी है, किन्तु जब वे साहित्य की भूमिका पर रहते हैं सारे पूर्वाग्रह और धर्मनिष्ठा को किनारे करके अपनी तलस्पर्शी साहित्यिक अभिज्ञता की मुक्त उद्भावना द्वारा अपने छात्रों को उपकृत करते हैं; साहित्य के अक्षय रस-सागर में तैरने की कला सिखाते हैं। न केवल छात्रों वल्कि अध्याकों को भी अपने वैदुष्य से समाधान-स्फूर्त करते मैंने उन्हें काफी निकट से देखा है। कक्षा में यद्यपि आचार्य मिश्रजी प्राचीन साहित्य ही पढ़ाते थे किन्तु मुझे अपने मित्र श्री गुरुदेव त्रिपाठी के साथ उनसे महादेवी की कविता पढ़ने का सौभाग्य मिला है। और मेरी दृढ़ धारणा है कि न केवल प्राचीन काव्य वल्कि आधुनिक काव्य के मर्म को समझने समझाने में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र अप्रतिम आचार्य हैं। उनके सुयोग्य शिष्य डॉ० नामवर सिंह हमलोगों को एम० ए० कक्षा में भाषा विज्ञान पढ़ाते थे। भाषा विज्ञान जैसे नीरस विषय को अपनी अद्वितीय अध्यापन-शैली द्वारा नामवर जी इतना ललित बना देते थे कि भाषा विज्ञान साहित्य से भी रसपूवर्ण प्रतीत होने लगता था। आचार्य पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने भव्य और कृती व्यक्तित्व से विद्यार्थियों को अभिभूत करते थे। डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के व्यक्तित्व में आचार्य की गरिमा नहीं प्रशासकीय रोष था। उनके विद्यार्थी शिष्टाचारवश उनके प्रति अपेक्षित सम्मान प्रकट करते थे। डॉ० श्रीकृष्ण लाल अपने अधिकांश विद्यार्थियों के नाम चेहरे और वैठने की जगह तक याद रखते थे। मेरे मित्र श्री गुरुदेव त्रिपाठी अपने क्लास में सर्वाधिक वाक्-पटु थे। एक बार किसी कारणवश उन्होंने केश मुण्डित करा लिया था। क्लास में उपस्थित होते ही डॉ० लाल की दृष्टि उनपर पड़ी, 'गुरुदेवजी केश क्यों कटा लिया ?' उन्होंने बड़ा आत्मीय प्रश्न किया। 'मैंने प्रव्रज्या लेली।' हंसते हुए गुरुदेवजी ने जवाब दिया। गुरुदेवजी का उत्तर दिलचस्प था। क्लास शेष होते ही हमलोगों ने भदन्त कौसल्यायन के अन्दाज पर गुरुदेवजी का नामकरण किया भदन्त बाल्यापन। नये नाम

को पाकर गुरुदेवजी बड़े प्रसन्न हुए। पं० पद्मनारायण आचार्य, भदैनी में हमलोगों के प्रतिवेशी थे। मुझे उनका अशेष स्नेह प्राप्त था। उनके यहाँ अक्सर आना-जाना होता था। आचार्य जी काशी की पुरानी साहित्यिक दुनिया के संस्मरण सुनाते थे। शाम को कालेज से लौटते अक्सर मैं गुरुदेव त्रिपाठी के साथ डॉ० ज्ञानवती त्रिवेदी के निवास-स्थान पर आचार्य पं० चन्द्रबली पाण्डेय को प्रणाम करने, साहित्यिक बातचीत करने जाता था। पाण्डेय जी रुग्ण होकर शय्या-शायित हो गये थे, बहुत कम और धीमी आवाज में बोलते थे। पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी विश्वविद्यालय की दुनिया से दूर के प्राणी थे, किन्तु हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रति उनकी संवेदना और मानसिक सम्पृक्ति थी। विभागाध्यक्ष आचार्य पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी का सम्मान करते हुए भी कभी-कभी उनके प्रति असन्तोष प्रकट करते थे। एक बार उन्होंने मुझसे बड़े आक्रोश के साथ कहा था, 'पं० केशवप्रसाद मिश्र आज जीवित होते तो मुझे डी० लिट्० की उपाधि मिल गयी होती।' पं० शान्तिप्रियजी की बतकही से मेरी ऐसी धारणा बनी थी कि वे आचार्य श्री द्विवेदी जी से अपेक्षा रखते थे कि वे उन्हें सत्संग का अधिक अवसर दें जो कार्याधिक्य के कारण पण्डित जी के लिये सम्भव नहीं था। यद्यपि आचार्य श्री द्विवेदी जी पं० शान्तिप्रियजी को अपेक्षित सम्मान देते थे। एक प्रसंग मुझे आज तक स्मरण है। पं० पद्मनारायण आचार्य के आत्मज का यज्ञोपवीत-संस्कार था। काफी लोग आमंत्रित थे। बाहर हम दो-तीन मित्र पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी के साथ खड़े थे। भीतर से डॉ० श्रीकृष्ण लालजी निकले। हम लोगों ने उन्हें नमस्कार किया। द्विवेदी जी नें उनसे पूछा, 'द्विवेदी जी क्या दिल्ली गये हैं?' डॉ० लाल ने कहा 'मुझे नहीं मालूम।' द्विवेदी जी का दूसरा प्रश्न था 'कब तक बाहर से लौटेंगे?' 'मुझे नहीं मालूम।' डा० लाल ने जवाब दिया। द्विवेदी जी ने तीसरा प्रश्न किया, 'कितने दिन की छुट्टी ली है?' डॉ० लाल का एक ही उत्तर था 'मुझे नहीं मालूम। 'द्विवेदी जी ने खीझते हुए कहा, कृपा करके यह बता दीजिए कि आपको क्या मालूम हैं, मैं उतना ही आपसे पूछा करूँ।' डा० लाल ने वहाँ अधिक रुकना उचित नहीं समझा। पं० शान्तिप्रिय जी अपनी खीझ हम लोगों के सामने प्रकट करने लगे, 'यह आदमी बड़ा विचित्र है। हजारीप्रसाद जी के खांसने-छींकने तक का हिसाब रखता है। पक्का मुंशी आदमी है। कुछ भी बताता नहीं। ये लोग क्या हिन्दी की सेवा करेंगे। द्विवेदी जी ने अपने घरवालों को भी बहुत कुछ सिखा-पढ़ा कर पक्का कर दिया है। घर में ही रहते हैं, जाने पर खबर मिलती है कि बाहर गये हैं।' हम लोगों ने उनकी धारणा को बदलने की कोशिश की 'पण्डितजी, सचमुच द्विवेदी जी आपका बड़ा सम्मान करते हैं, आपको ऐसा नहीं सोचना चाहिए।' मगर पं० शान्तिप्रियजी की धारणा को बदलना सरल नहीं था। पुराने नये सबके बारे में उनकी अपनी अटूट धारणा थी जो अक्सर मुखर होती रहती थी।

मेरे विद्यार्थी-काल में हिन्दू विश्वविद्यालय में दो ऐसे व्यक्ति थे जिनके व्यक्तित्व के प्रति बहुतों का सहज आकर्षण था। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपनी लोकप्रियता, साहित्यिक अवदान और अविरोधी मुद्रा के कारण प्रख्यात और सम्मान्य थे। देश के शीर्षस्थ स्वर-शिल्पी पं० ओंकारनाथ ठाकुर अपनी स्वर-सिद्धि के कारण सबको आकृष्ट

करते थे। द्विवेदी जी के दर्शन के लिये देश के दूरस्थ प्रदेशों के लोग अक्सर आते थे। इसी प्रकार पं० ओंकारनाथ का कार्यक्रम जब शिवाजी हाल या विश्वविद्यालय के दूसरे कक्ष में आयोजित होता था तो छात्रों और अध्यापकों की बहुत बड़ी भीड़ होती थी। मुझे स्मरण है, एक बार रुइया हास्टल में पं० ओंकारनाथ जी का कार्यक्रम था। विश्वविद्यालय के कुलपति डा० सी० पी० रामस्वामी अय्यर अपनी पगड़ी उतार कर बड़े अनौपचारिक रूप में वहाँ उपस्थित हुए थे और सूरदास का भजन सुनाने का पण्डितजी से आग्रह प्रकट किया था। अँग्रेजी भाषा के यशस्वी जानकार औंर हिमायती डॉ० अय्यर ओंकारनाथजी के स्वर से अभिभूत हो गये थे। आर्ट्स कालेज के भारत कला भवन के संचालक श्री रायकृष्ण दास की मूर्तिकला और चित्रकला सम्बन्धी समृद्ध अभिज्ञता का ज्ञान हमें बहुत बाद में हुआ। विद्यार्थी काल में हम हिन्दी विद्यार्थियों के लिये राय साहब महज इसलिये आकर्षक थ कि वे प्रसादजी के लंगोटिया यार रहे हैं, पुरानी साहित्य-पीढ़ी के साथ उन्होंने साहित्यिक-यात्रा की है। गद्य काव्य लिखने वाले कुछेक लोगों में उनका ऊंचा स्थान है। राय साहब को मैं दूर से ही नमस्कार करता था। केवल एक बार श्रद्धेय पं० वाचस्पति पाठक के साथ बाबू मैथिलीशरण गुप्त के दर्शनार्थ राय साहब के निवास-स्थान 'सीता निवास' गया था। वनस्पति विज्ञान विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष डॉ० रामदेव मिश्र से मेरा घनिष्ट परिचय उसी समय आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के माध्यम से हुआ था। उनकी विद्या और वैदुष्य मेरे लिए दुरूह था, किन्तु उनके सौम्य व्यक्तित्व की गहरी छाप मेरे हृदय पर पड़ी थी। कुछ समय बाद मुझे मालूम हुआ कि उत्तरी भारत के असाधारण मनीषी महामहोपाध्याय पं० राम अवतार शर्मा के वे जमाता हैं। आचार्य मिश्रजी की मेरे प्रति बड़ी कृपा थी। मेरा एक भी अनुरोध उनकी ओर से अनुत्तरित नहीं रहा। उनके स्नेह के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करने के उद्देश्य से ही मैंने अपनी पहली पुस्तक उन्हें ही श्रद्धया समर्पित की थी। सन् १९६८ में आदरणीया डॉ० ज्ञानवती त्रिवेदी से मेरा घनिष्ट परिचय कराया भाईशिवप्रसाद जी ने उनसे प्राप्त आत्मीयता के प्रति मेरा हृदय कृतज्ञ है। हिन्दी-अध्यापकों ने पं० करुणापति त्रिपाठी की कक्षा का मैं यद्यपि कभी विद्यार्थी नहीं था, किन्तु उनके प्रति मेरे हृदय में बड़ी श्रद्धा थी। अक्सर भाई डाँ० शिवप्रसादजी के साथ मैं उनके निवास-स्थान औरंगाबाद जाता था। सन् १९६१ में जब मैं कलकत्ता विश्वविद्यालय की योजना के अन्तर्गत यू० नू० की एक अंग्रेजी पुस्तक का अनुवाद कर रहा था पुस्तक के पालि अंश में मुझे थोड़ी कठिनाई हो रही थी। श्रद्धेय पं० करुणापतिजी ने अपनी सहज उदारता द्वारा मेरी उलझन दूर कर मुझे उपकृत किया था। ठीक इसी कोटि का मेरे ऊपर उपकार है पं० राममूर्ति त्रिपाठी का। अपनी एम० ए० परीक्षा में मैंने दो पर्चे के स्थान पर एक प्रबंध लिखने की अनुमति विभागाध्यक्ष से प्राप्त की थी। शैवागम दर्शन सम्बन्धी मेरी उलझनों को डाँ० राममूर्तिजी ने अपनी पण्डिताई से सुलझा दिया था। राममूर्तिजी का स्नेह-सहयोग न मिला होता तो शायद समय से मैं अपना प्रवन्ध प्रस्तुत न कर पाता; क्योंकि साहित्यिक हवा लग जाने से मेरी चर्या सामान्य विद्यार्थियों जैसी नहीं थी। अधिक समय साहित्यिक बतकही और गोष्ठी-प्रसंग में ही निकल जाता था। उसी में मन रमता था, रस मिलता था।

सन् 1958 में एम० ए० की परीक्षा पास करने के बाद काशी हमसे छूट गयी, उस आबोहवा से हम टूट गये। लगा जैसे हमेशा-हमेशा के लिये हमसे आनन्द-लोक छूट गया। और प्रेरणाशून्य बनानेवाली रिक्तता ही नियति बन गयी। अपनी विद्याभूमि में बसने और हिन्दू विश्वविद्यालय की सेवा की मेरी साध अभी पूरी तरह हरी भी नहीं हुई थी कि पियरा कर भहरा गयी। इतना ही नहीं हुआ। सन् 1958 के बाद हिन्दी विभाग में, जिसके प्रति आज भी भावात्मक लगाव महसूस करता हूँ, ढाई शुरू हुई। आचार्य पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी को चण्डीगढ़ जाना पड़ा। आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का अपना दीर्घकालीन आत्मीय सम्बन्ध समेटकर काशी से मगध जाना पड़ा। डॉ० नामवर सिंह जैसे नयी पीढ़ी के तेजस्वी और अधीत अध्यापक का हिन्दी विभाग से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। उनकी योग्यता का सम्मान किया आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अध्यापक के रूप में उन्हें आमंत्रित कर। डॉ० रामदरश मिश्र, डॉ० विष्णु स्वरूप, डॉ० रवीन्द्र भ्रमर, डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ० जितेन्द्रनाथ पाठक, डॉ० केदारनाथ सिंह, डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी जैसे जागरूक, अधीत और प्रतिष्ठित लोगों को अपने मूल स्थान—हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग—से दूर-दूर ही रहना पड़ा। बहुतों की साध-नौका भंवर में चक्कर काटती रही। पं० पद्मनारायण आचार्य और डॉ० श्रीकृष्ण ला० की लोक-यात्रा समय के पूर्व ही शेष हो गयी। पं० करुणापति त्रिपाठी ने हिन्दू विश्वविद्यालय से अपने को अलग कर लिया। और अपरिचित चेहरों की भीड़ खड़ी हो गयी। पण्डितजी (आचार्य श्री द्विवेदी) का चण्डीगढ़ से हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में लौटना, अनिच्छापूर्वक खाली की गयी कुर्सी पर पुनः बैठना और फिर विश्वविद्यालय के रेक्टर का प्रशासकीय दायित्व सम्हालना मुझे अच्छा नहीं लगा था। ठीक उतना ही कष्ट हुआ था जितना द्विवेदीजी के चण्डीगढ़ और आचार्य मिश्र जी के मगध जाते समय। और मैंने हिन्दी की लोकप्रिय साप्ताहिक पत्रिका, 'धर्मयुग' में अपनी पीड़ा प्रकट करते केन्द्रीय सरकार के सामने देश के इन शीर्षस्थ विद्वानो को नेशनल प्रोफेसरशिप द्वारा सम्मानित करने का प्रस्ताव रक्खा था। किन्तु दुर्भाग्य यह कि मेरे शरीर जैसी ही मेरी आवाज़ दुर्बल है। निकट के लोग नहीं सुन पाते, दिल्ली तक कैसे पहुँचे ! सबसे पीड़क बात यह थी मेरे लिये, कि मेरे प्रस्ताव के समर्थन में विश्वविद्यालय और साहित्य की दुनिया से एक भी आवाज़ नहीं उठी थी। मेरी आवाज़ जहाँ की तहाँ दब गयी थी। द्विवेदीजी विश्वविद्यालय की दुनिया से निकलकर प्रादेशिक सरकार के खास महकमें में काम करने लगे और आचार्य पं० विश्वनाथजी मगध से महाकाल की नगरी उज्जैन होते हुए विश्वनाथपुरी लौट आये, उन्होंने ब्रह्मनाल में एक प्रकार से क्षेत्र-संन्यास से लिया।

मेरे विश्वविद्यालय का परिदृश्य काफी बदल गया है। काशी से काफी दूर रवीन्द्रनाथ के नगर में रहता हूँ। अपने गाँव आते-जाते विश्वविद्यालय की ओर झांकता हूँ। परिचित राहों, दृश्यों और आत्मीय चेहरों-चरित्रों को मन ही मन ढूंढ़ता हूँ। हिन्दी विभाग की स्वतंत्र अट्टालिका-'हिन्दी भवन'-खड़ी हो गयी है। विभाग के छोटे कमरों और बड़े इतिहास से जुड़े सरजू और सिद्धू की ग्रामीण स्नेहिल आँखें नयी नागर

भीड़ के चाकचिक्य में कहीं खो गयी हैं। द्विवेदीजी का ठहाका, मिश्रजी का बुद्धि-काकंश्य, डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा की काशिकेय गुमानी मुद्रा और मेरे छात्र काल के हिन्दी विभाग की वह मुखर समृद्धि —कहीं कुछ भी नहीं दिखाई पड़ा। एक बड़ी सी इमारत खड़ी है, जहाँ चेहरों की भीड़ है और भीड़ खामोश है। दूर से ही निछोह धक्का लगता है और हैदराबाद कॉलनी की ओर भागता हूँ। गुरुवर डॉ० मल्लजी के यहाँ घण्टों बैठा रहता हूँ पुरानी यादों को जीते हुए। फिर गुरुधाम कालनी में आदरणीय भाई शिवप्रसाद सिंह के यहाँ पहुँचता हूँ। बातें और दुनिया भर की बातें। विश्वविद्यालय की कोई चर्चा नहीं। घण्टों बात करने पर भी नहीं लगता कि शिवप्रसादजी हिन्दी विभाग में रीडर हैं : जैसे वह नौकरी एक गृहस्थ की लाचारी है, कहीं भावात्मक लगाव नहीं। इतना बड़ा विभागीय भवन, इतना बड़ा वेतन, इतना ऊँचा पद और ऐसी भावात्मक रिक्तता। मन उदास हो जाता है। उदासी गहरी होती है जब विश्वविद्यालय के बदलते परिदृश्य पर दृष्टि पड़ती है—नयी-नफ़ीस अट्टालिका विश्वविद्यालय की सघन हरीतिमा-गरिमा को निछोह धक्का मारकर गिरा रही है।

अपने सतीर्थ बन्धुओं—डॉ० रामदेव सिंह, श्री गुरुदेव त्रिपाठी, डॉ० सूर्य नारायण द्विवेदी, डॉ० रामजी मिश्र को देखता हूँ। और असंख्य परिचित अपरिचित चेहरे धारा के साथ बड़े उछाह-उत्साहपूर्वक विश्वविद्यालय-सागर में अपनी नौका खे रहे हैं। कुछ की नौका भँवर में फँस गयी है। कुछ की डूब गयी है और अपने वैफल्य-पश्चाताप से वे दहक रहे हैं। कुछ की नौका पार जाने की सम्भावना लिये घाट पर बँधी है। आत्मीय लोग कहते हैं, मेरी भी साध नौका मजधार में ही डूब गयी है। लोग कहते हैं, मगर मैं मित्रों की थिरकती साध और गत्वर आशा-तरी को देखकर प्रीत होता हूँ रवीन्द्रनाथ के नगर में रहता हूँ, मौज़ में गाता रहता हूँ :

'नेइ यदि बा जमलो पाड़ि,
घाट आछे तो बसते पारि,
अमार आशार तरी डुबलो यदि
देखबो तोदेर तरी बावा।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
बंगवासी मॉनिङ्ग कॉलेज
कलकत्ता

———

'तेहिनो दिवसा गता'

डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल 'तरुण'

काशी आया हूँ। हिन्दू विश्वविद्यालय की हीरक जयन्ती के अवसर पर हिन्दी विभाग में एक विचार गोष्ठी आयोजित हुई है। उसके लिए आमंत्रित हूँ और उसमें भाग लेना है। ३४-३५ वर्ष पहले यहीं तो मैं छात्र था—बी० ए० तथा एम० ए० (हिन्दी) कक्षाओं का। कालेजों के ये भवन, ये छात्रावास, ये लॉन-मैदान, ये लम्बी-लम्बी सड़कें, चौराहे, बाटनिकल गार्डन, चिर-परिचित ये रास्ते मझे व्याकुल कर रहे हैं, रोमांचित कर रहे हैं। स्मृतियों की स्निग्ध-नीरस लिफ्ट से मैं न जाने कहाँ उठा जा रहा हूँ, स्मृतियों की रेशमी पाँखें न जाने मुझे अतीत की किन क्षितिजों की ओर उड़ाये लिए चली जा रही हैं। प्राणों के तार न जाने किन नीरव व अदृश्य अंगुलियों से झंकृत हो रहे हैं, न जाने कैसी पुलक व सिहरन हो रही है। वह काशी! ३५ वर्ष पुराना वह विश्वविद्यालय! सड़कों पर चल रहा हूँ। अपने छात्रावास (बिड़ला होस्टल) में गया हूँ—अपने कमरे में-कमरा नं० ११७ में जाकर पुरानी यादें जगा कर आया हूँ। एक मधुर संगीत अनवरत कान में गूँज रहा है। कितने दशकों को, वर्षो को पार करके मैं कहीं पहुँच गया हूँ। मौन होकर स्मृतियों का सुख ले रहा हूँ। कितनी मिठास है, कितनी चमक-दमक है, कितनी मादकता है उस अतीत, सुदूर अतीत की याद में। आँखों के सामने सब कुछ खुल पड़ा है, लहरा उठा है वह पुराना युग, वे स्थितियाँ, वे प्रसंग, वे घटनाएँ, वे व्यक्ति, वे समारोह, वे गूँजें, वे सुगन्ध, वे सुख-दुःख, वे विनोद, वे क्रीड़ा-कौतुक और न जाने वे क्या क्या! मौन हो जाऊँ क्या, पर मौन भी कैसे रहूँ? चलचित्र घूम उठे हैं—स्मृति के पटल पर। गांधी जी, मालवीय जी, रवीन्द्रनाथ, सुभाषचन्द्र बोस, सरोजिनी नायडू, महाकवि निराला, डा० राधाकृष्णन्, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सी० वी० रमन, बर्ट्रेन्ड रसल, डा० भगवानदास, उदयशंकर……… । और हाँ, वह अगस्त-आन्दोलन (१९४२) विराट् सभाएँ, रजत जयन्ती महोत्सव, स्वागत-समारोह, दीक्षान्त भाषण, गीता-प्रवचन, छात्रों के आन्दोलन, चुनाव चक्र, साहित्यिक-सांस्कृतिक मेले, शास्त्रीय संगीत, मन्त्रों के प्रदर्शन, वक्तृत्व-प्रतियोगिताएँ और न जाने क्या-क्या! युग की कैसी मादक गंध है! समय कहाँ से इतनी मिठास भर देता है, न जाने!

आज स्मृति-पर्व है। ३५-४० वर्ष पूर्व की यह काशी। उस स्मृति में कितनी खुशबुएँ हैं, कितनी तरावट है, कितना उन्माद है। तरुणाई के वे दिन, नई-नई आँखें, नये-नये सपने, नई-नई पगडंडियाँ और नितनये परिचय। दिशाओं में गंध ही गंध थी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया था, जुलाई सन् १९३९ को। विशाल विश्वविद्यालय, भव्य अट्टालिकाएँ, चौड़े-चौड़े हरे भरे लॉन, मन में मस्ती, शरीर में रोएँ-रोएँ में नेह के दिये से जल रहे थे। जीवन में प्रतिपल एक-एक भ्रम, एक उत्सुकता, एक कुतूहल था। जो भी पगडन्डी पकड़ी-बस, चल पड़ो। दिशा असीम, मार्ग खुले, अनन्त आशा,

शक्ति और उन्माद। प्राण में कविता, कंठ में तरंग। पिलानी में 'किन्जल्क', उपनाम से कविता लिखता था। यहाँ 'तरुण' नाम रख लिया। बस ठीक, आजतक 'तरुण' ही। अब तो अन्तिम क्षण तक यही। इस शब्द की लाज रखनी है। हाँ, हाँ रखूँगा। मन आज भी तो खूब ताजा व तरंगाकुल है।

और वह काशी, वह गंगा, चौक, चित्रा सिनेमा, खुशबूदार पान, चमचमाते गली-बाजार, नई-नई पुस्तकें, नये दोस्त, गप-शप, नौका-विहार, भावाकुल पत्र, कविताएँ, डाकिये की इन्तजार। शाम को मैं एग्रिकल्चर कालेज की ओर अकेला घूमने जाता था। उधर देशी गुलाबों की गन्ध कितनी मीठी थी। मिट्टी में भी गंध समाई रहती थी। मैं उसे सूँघता था और आँख मूँद कर न जाने किन सपनों में खो जाता था तारुण्य के उस संगीत-युग में। गुलाब की ताजी पंखुड़ियों व कविता की पंक्तियों से जड़ा हुआ पत्र लिखता था उन दिनों।

उस विशाल और गौरवशाली विद्या-भूमि में बिताये हुए पूरे साढ़े चार साल अनेक मधुर स्मृतियों से जड़े हुए हैं। पहले पहल जब मैं अध्ययन के लिए वहाँ गया उस समय मेरी आयु उस फूल की सी थी, जिसकी पंखुड़ियाँ सुविकसित और सुडौल होने लगती हैं जिनमें चमकदार रंग भरने लगते हैं और जिसमें पहली बार नया पराग और मधु आने लगता है। विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होने के एक महीने पहले और जब मैं वहाँ पहुँचा उस समय मेरे हर्ष का पार न था। मन में उस समय उत्साह का समुद्र भरा था, जीवन आशा और उल्लास से भरा लगता था, चारों ओर एक विशेष प्रकार की चमक-दमक और रंगीनी मालूम होती थी। मेरा ऐसा ख्याल है कि उन दिनों मेरे कंठ-स्वर में एक विशेष प्रकार का माधुर्य और लोच भर गया था और हर काम करते समय गाता ही रहता था। स्नान-घर में गाते-गाते बहुत देर तक नहाते रहना तो मुझे बहुत ही अच्छी तरह याद है। शायद उत्साह और उमंग में गाना सबको अपने आप आ जाता है। मुझे उन दिनों नई-नई दोस्ती बनाने, गंगा के किनारे टहलने, फूलों के हार सूँघने और अपने कमरे के सामने बगीचे की हरियाली में लेटकर चाँद और तारों से युक्त आकाश को देखकर मीठी बातें याद करने और सैकड़ों मंनसूबे बाँधने में बड़ा आनन्द आता था। बनारस के हरे भरे मैदानों, गंगा तट के प्रभातों और मुक्त वातावरण ने मेरे हृदय में सरसता, प्रसन्नता और भावुकता भर दी थी। तब मैं कविताएँ बहुत लिखता था।

कुछ ही दिनों में वहाँ कई लड़कों से काफी मेलजोल हो गया। एक दूसरे के जीवन में हम लोग स्वतंत्रता और गहराई से उतरने लगे। हम अपने अनुभव, हास-विनोद परिस्थितियाँ और दुःख-कष्ट तथा अभाव भी परस्पर बाँट-बाँट कर सामान्य जीवन बिताने लगे। उन सब प्यारे मित्रों का संग, वार्तालाप, हंसी-मजाक, क्षोभ, वैमनस्य, प्रसन्नता सब आज याद आता है। बरसों साथ रहे पर अब यह नहीं मालूम वे सब कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं? उनका कोई पत्र भी नहीं आता। इसलिए नहीं कि वे सब एक दूसरे को भूल गए हैं पर शायद इसलिए कि वे सब जिंदगी की दौड़ धूप में लगे हैं, संसार के संघर्षों में जूझ रहे हैं, तेजी से बहती दुनियाँ की धारा में डूब उतरा रहे हैं, तैर रहे हैं, निकल रहे हैं। वहाँ हम लोग दिन में कई बार काफी देर के लिए मिल लिया करते थे—एक बार

तो जरूर ही। मैं, नन्दसिंह चूड़ावत, रामलाल अवस्थी, रामशंकर, 'विजय', रामविलास, प्रवीणचन्द्र सोगानी, कृष्णगोपाल, गोविन्द जी इत्यादि हमारी मंडली के सजीव और जिंदादिल सदस्य थे। कोटा के श्री नाथूलाल जैन 'वीर' हमारी मण्डली में बुजुर्ग थे—पर खूब मस्त।

हम लोग बड़े ही मनमौजी घुमक्कड़, लापरवाह (वेफिक्र) और हँसोड़ प्रकृति के थे। पढ़ना लिखना तो परीक्षा के दो महीने पहले ही शुरू होता था। यों नियमित रूप से पढ़ने का भी कोई अभ्यासी होता तो भी आ धमकता। और हमें कमरा बंद कर चल देना पड़ता। थोड़ी-थोड़ी बात पर कहकहे मार कर हँसना एक साधारण बात थी। कृष्णगोपाल तो हँसा हँसा कर पेट ही दुखा डालता। वह कहीं न कहीं के चुटकुले चुनचुन कर याद कर रखता था और ऐसे स्थान और अवसर पर उनको छोड़ता कि हँसी के मारे लोटपोट हो जाते। हमारे ठाकुर नन्दसिंह भी कम न थे। उनकी प्रसिद्धि तो दूर-दूर तक थी। युनिवर्सिटी का कोई भी इक्के वाला, पान वाला, फल बेचने वाला, नाई-धोबी आदि न था जिस पर उनका रोब न था और जो ठाकुर साहब को सलामी न देता। यूनिवर्सिटी घाट पर तो मल्लाह सब मानों उनके ही थे। उनको देखकर वे फौरन नाव खोल देते और हम धड़धड़ उसमें कूद कर जिधर जी चाहता नाव घुमा देते। ठाकुर साहब की यह लोकप्रियता हमारी मंडली में हँसी दिल्लगी का एक प्रमुख विषय बनी रहती। उनका साफा, शेरवानी और हाथ में सोटा उन्हें एक विचित्र व्यक्तित्व प्रदान करते। उनसे बिछुड़े वर्षों हो चुके हैं पर उनकी जिंदादिली, तत्परता, अक्खड़पन और विनोदशीलता बड़े प्यार के साथ याद आती है। मंडली के और मित्रों की भी अपनी-अपनी विशेषताएं थीं जिनके कारण किसी अवसर पर किसी एक का भी अभाव पूर्ण आनन्द की प्राप्ति न होने देता।

ऊधमी हम कम थोड़े ही थे? आर्ट्स कालेज के यूरीनल वाले बड़े कमरे के बाहर मैंने कुंडी लगा दी। भीतर मेरा एक मित्र था—नंद सिंह चूड़ावत। २-४ मिनट बाद भीतर से खट् खट्। फिर खट् खट्। फिर खट् खट्। हम खड़े हँसते-मुसकराते रहे। सोचा चलों बहुत हो गया। दरवाजा खोला। भीतर खड़े हैं—प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री साक्षात् डा० अल्तेकर। अरे बाप रे....................

हमारी छुट्टियों के दोपहर प्रायः नौका विहार में कटते। अहा! शरद् काल की दोपहरी में चमकीले विस्तृत नीले आकाश के नीचे चौड़े पाट वाली विशाल गंगा के वक्षस्थल पर नौका विहार करने में कितना सुख था, कितना आनन्द था। सुहावनी चमकीली धूप में हम लोग स्वतंत्रतापूर्वक आमोद प्रमोद के साथ घंटों नाव की सैर करते। कोई नाव खेता, कोई मछलियों को चने चुंगाता, कोई तख्ते पर लेट कर नीले आकाश में मौजे लेकर सुखद धूप में स्वच्छन्द विहार करती हुई उनींदी काली चीलों को देखता रहता। कोई पानी काटती जाती नाव के पीछे आते जल में अँगुली डालकर जल की स्निग्धता, शीतलता, गति और निर्मलता का आनन्दानुभव करता हुआ डाँड़ से उत्पन्न हुए पानी के फेनिल भँवर को देख कर मनोरंजन करता। चुटकुले और इधर उधर की बातें भी चलती रहतीं जिनका उत्तर हँसी और खिलखिलाहट में मिलता। गंगा के सघन

हरियाली से लदे हुए तटों की शोभा भी नेत्रों को आनन्द देती रहती। कई बार ऐसे अवसरों पर केले, फल, मिठाइयाँ आदि भी हम लोग साथ ले जाते और मौज मनाते। इस प्रकार की नौका यात्रा सूर्य्यास्त के समय पर समाप्त हो जाती। जब कभी तट पर बसी हुई काशी के सब घाट, मकान, मठ, मन्दिर आदि पार करके हम हार्डिन्ज पुल (वर्तमान मालवीय पुल) तक पहुँच जाते तो रात भी हो जाती। गंगा में किए गए नौका विहार के अवसर अब जीवन में शायद ही मिले। और यदि मिलें भी तो उसके साथ वह मस्तानगी, दिवानापन, बेफिक्री कदापि नहीं मिल सकती जो घर बार की चिन्ता से बेफिक्र छुट्टी के दिन गंगा पर विचरने वाले युनिवर्सिटी के यार-दोस्तों के पास के सिवाय इस धरती पर और कहीं नहीं मिल सकती।

और वे वन-भोज! ज्यों ही दिन सुहावना लगा, छुट्टी का दिन हुआ कि हम लोग बात की बात में वन-भोज का प्रोग्राम बना डालते और आवश्यक बर्तन और खाद्य सामग्री लेकर निकल पड़ते। हम लोगों में एक से एक बढ़कर पाक शास्त्र में प्रवीण थे। हमारे सामने पैसे का निकम्मा प्रश्न कभी नहीं आता। हम उसे अपने हृदय के उल्लास और स्फूर्ति में कभी बाधा नहीं डालने देते। वन-भोज के दिन हम सबसे अधिक स्वतंत्र, प्रसन्न दिखते थे। दिन भर की नाव किराये करके हम लोग गंगा पार खेतों और हरे भरे स्थानों में जाकर अपनी छावनी लगा देते। पास के गाँव में जाकर कंडे लाने, गंगा जी में से जल भर कर लाने, आग सुलगाने, सब्जी छीलने आदि कार्यों में हमें बड़ी प्रसन्नता और आनन्द का अनुभव होता। यों हम ऐसे काम शायद ही कभी करते पर उस दिन खुले दिल से खूब दिलचस्पी, फुर्ती और हर्ष से करते। गंगा का जल प्रसार हमारे स्थान से दिखता रहता और खूब खुले आकाश के नीचे हार्दिक परिश्रम करते हुए हमें कितना आनन्द आता था। मैं, विजय और कृष्णगोपाल पाकशास्त्र में प्रवीण समझे जाते थे इसलिए हमें तो चूल्हा सुलगाने से लेकर बचे हुए चूरमें और बाटी को अनियंत्रित रूप से आगत गाँव के कुत्तों और पेड़ के ऊपर तथा आस पास के अरहर के खेतों पर बैठें पौदों पर कां-कां करते आशावादी कौओं को खिलाने तक जुटा रहना पड़ता। बाकी दीवाने भी मदद तो करते पर अधिकतर वे या तो नाव चलाते रहते, बंशी बजाते रहते, चुहलबाजी करते, स्नान करते रहते या बनी हुई चीजों को चख-चख कर उनके स्वाद, गुण-दोष आदि की व्याख्या करते और हमें पाक-पंडित का प्रमाण-पत्र देने में ही लगे रहते थे। चूरमा, दाल, बाटी, आलू मटर का शाक, चावल, चटनी आदि से सम्पन्न सुगन्धित पत्तलों पर विराजमान होकर पंचों का जीभ चटकार चटकार कर प्रशंसा करते हुए पेट-पूजा करते रहते के समय का आनन्द क्या कभी भूला जा सकता है?

मुझे घूमने का बेहद शौक था। मित्रों के अतिरिक्त भी मैं प्रायः कई बार सुबह दोपहर या शाम किधर भी निकल पड़ता। मैं उन दिनों प्रकृतिप्राण कवि वर्डस्वर्थ की कविताएँ बहुत पढ़ता था। यूनिवर्सिटी के आस पास चारों ओर के सब देहात और खेत मैंने छान डाले थे। इन पर्यटनों में मुझे प्रकृति के विस्तृत रमणीय प्रांगण में विचरकर नाना रूप रंग और आकृतियों का बारीकी से अध्ययन करने का अवसर मिलता था। एकान्त प्रवास में सन्ध्या को मैं कभी-कभी दो तीन मील दूर ग्वालों की झोपड़ी पर पहुँच

जाता जहां बाँस के झुरमुटों में पक्षी चहचहाते रहते और कटहल और आम के पेड़ों के नीचे दूध दुहाती गायों के पास ग्वाले के नंग धड़ंग कच्चे-बच्चे गले में घंटी बांधे बछड़ों से अपना सिर चटा चटा कर आह्लादित होते रहते। यूनिवर्सिटी का विशाल कृषि क्षेत्र (डेयरी फार्म) भी मेरे आकर्षण का केन्द्र था। वहां गन्ने के खेतों के पास गुलाबों, कुन्द पुष्पों और केले पपीतों के बाग में मिट्टी के टीले पर बैठकर गुलाबों की हल्की गन्ध वहन करने वाली शीतल हवा के झोंकों का आनन्द लेता हुआ निर्मल सान्ध्य-शान्ति का गहन अनुभव करता रहता था। सान्ध्य समीरण में झूलते हुए पके गन्नों के शिखर मंजरियों के पीछे दूर क्षितिज पर विशाल सिन्दूरी पट फैलाती हुई अग्नि के समान प्रज्वलित सन्ध्या की लाली का फैल जाना और धीरे-धीरे उसका पीला, पांडुर और कत्थई रंग का होकर कुम्हला जाना मैं बहुत तन्मयतापूर्वक देखा करता था। ऐसे समय दिन भर के थके नीड खोजते पक्षियों की चीं चीं करके यत्र-तत्र अस्फुट स्वर बिखराना तथा इधर-उधर से उठा बकरियों का स्वर उस दृश्य की गम्भीरता को और अधिक मनोहरता प्रदान करता। कभी उन शान्त, गम्भीर और रूपवती रंगीन सन्ध्याओं की, गन्ने के खेतों की और गुलाब केले और पपीते के पेड़ों की याद मेरी चेतना में अब भी न जाने क्या-क्या सलमे-सितारे गूंथ जाती है।

प्रभात में वायु-विहार करने जाने की आदत मेरी बहुत पुरानी है। सवेरे की ताजी हवा में टहलते समय उषा की स्वर्णिम लालिमा, बावला सा डोलता शीतल समीरण, नई चटकती कलियाँ, अन्धकार का क्रमिक क्षय और निष्प्रभ तारों का खेल तथा ऐसी ही अन्य वस्तुएं मुझे कल्पनालीन कर देती और मैं सौन्दर्य और प्रेम के अनन्त साम्राज्य के द्वार पर पहुंच जाता। स्वच्छ नील आकाश के नीचे सफेदे (युकिलिप्टिस) के लम्बे पेड़ों पर (जिनके बहुत पीछे आम या अमरूद के कुंओं में से सोने का चूर्ण उड़ाता उछालता सा अरुण सूर्य निकलता रहता) फड़फड़ाते सफेद कबूतरों, प्रथम सूर्य-किरणों से सुनहले-पेड़ तट वाले रंगीन प्राची के बादल के टुकड़ों, अथवा निर्मल शुभ्र ओस-कणों से मंडित शीतल पवन से सिहरती हरी दूब अथवा पपीते के पेड़ों में कूज कूज कर किलोलें करती चिड़ियों के अत्यन्त साधारण हृदय को देखकर भी मन भावाकुल एवं आत्म विभोर हो जाता। उन दृश्यों में मन को जिस सौन्दर्य के दर्शन होते उसको अपना उपजीव्य बना कर तत्क्षण मन की मधुर भावना कल्पना के मनोनुकूल अगणित रमणीय चित्र बनाने में तल्लीन हो जाती—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि मकड़ी अपने ही द्रव से मनमाने अनेक चित्र बनाती है, न उसका द्रव घटता और न उसकी चित्र विधायिनी कल्पना थकती है और न रचना शक्ति, शिल्प, कौशल आदि।

गेहूँ के हरे भरे खेतों के पार विहग गुंजारित आम अमरूदों के सघनदीर्घ ताड़ वृक्ष युक्त श्यामल कुंजों के पीछे होने वाले उन सिन्दूरी सूर्य्यास्तों की शोभा आज भी आँखों में बसी है। लेडीज हास्टल के पास से जाने वाली कच्ची सड़क पर हास्टलों से दूध लेकर लौटते ग्रामीण ग्वाल युवकों का दोनों ओर के विशाल आम इमली आदि के पेड़ों पर से छनकर बिछलती चांदनी मे उल्लसित हृदय से फूटे ऊँचे मुक्त स्वर अब भी कानों में गूंज रहे हैं। ग्रीष्म की दोपहरी में अमलतास के पीले फूलों से लदे वृक्षों की

छाया में खेलते प्रोफेसरों के खिलखिलाते बच्चों की क्रीड़ा का दृश्य अब भी आँखों के सामने है और सबसे बढ़कर राशि-राशि पीले फूलों से अलंकृत सम्पन्न हरे भरे सरसों से लदे विशाल गंगा के रमणीय शारद तटों की शोभा आज भी आँखों में वैसी है।

दशाश्वमेघ घाट पर भी मैंने काफी संध्यायें बिताईं। घण्टों खड़ा वहाँ की चहल पहल देखता रहता था। जल पर अनेकों नावें तैरती रहतीं और अनेक रंगों के बादलों वाले आकाश में पतंगें और चीलें उड़ती रहतीं। घाटों पर हरिकीर्तन और कथा वार्ताओं में रत अन्तिम क्षण पतित पावनी गंगा के तट पर काशी नगरी में प्राण छोड़ने पर निश्चय ही मुक्ति पा जाने के अखण्ड विश्वासी मानव प्राणियों के जमघट लगे रहते। धीरे धीरे सांझ होती और परम महिमावान् विश्वनाथ के मंदिर में ढोल, नगाड़े, शंख, झालर के तुमुल नाद से सारा आकाश ध्वनित हो उठता।

विश्वनाथ की उस महिमामयी काशी नगरी की स्मृति के साथ वे सैकड़ों हजारों बेघर-बार लूले लंगड़े, अंधे, कोढ़ी, भिखमंगे कंगाल भी आँखों के आगे आ जाते हैं, जिनका काशी के साथ नित्य सम्बन्ध है। इस धरती पर विश्वनाथ के चरणों की शरण छोड़कर जिनको इस जीवन में और कोई आशा शेष नहीं रह गई है, ऐसे असंख्य कंकाल अपनी एक दो टूटी-फूटी हड्डियों का भार ढोते हुए गंगा किनारे, फुटपाथों पर, गली-कूचों में और पेड़ों के नीचे बैठे रात-दिन यमराज को भजते रहते हैं। उनको मनुष्य कैसे कहें ? उनके हाथ-पाँव टूट गए हैं, त्वचा गल गई है, आँखें बैठ गई हैं, अपने टीन के कटोरे को उठाने के लिए उगलियां भी नहीं, अपने अपने काम में लगे आते जाते लोगों के शोर-गुल और मोटर, तांगों बग्गी के भूँ भूँ में उनकी दीन दुर्बल करुण पुकारें किसी के कानों में न पहुँचकर अनन्त शून्य में निष्फल ही खो जाती है। जान पड़ता था मानों भवसागर की भीत भयंकर लहरों के कूड़े कर्कट को थपेड़े दे देकर किसी तरह काशी रूपी भव-सागर-तट पर लाकर पटक दिया है। विधाता के कबाड़खाने के वे टूटे फूटे कुछ न कुछ, मानव समाज के वे कलंक धरती माता के शरीर के फोड़े फुन्सी के समान सड़े गले, अध-नंगे व भूखे बाबा विश्वनाथ के मंदिर की गली में, दुर्गा जी के मन्दिर के बाहर, संकटमोचन पर, अस्सी घाट, दशाश्वमेघ घाट, हरिश्चन्द्र घाट और सड़ी गली गलियों में इधर उधर मारे मारे फिरने वाले नग्नप्राय स्त्री, पुरुष और बच्चों का झुंड के झुंड व्याकुल क्रन्दन, कातर पुकारें, दुखभरी आहें सुनकर काशी का विश्वनाथ अपनी आँखे नहीं खोलता ? प्रसाद बाँटने वाले भक्त के पीछे कुग्रह की तरह लग जाने वाले, जेठ की कड़ी धूप में बीच सड़क पर पड़कर रक्त से लथपथ हो कांटे और घूहर में बेहोश से पड़कर आने जाने वालों के दिल में दया उपजाकर टूटा-फूटा जीवन सूत्र उड़ाते चलने वाले, विकृत वेशधारी जीवन और मरण के बीच धागों पर झूलते हुए वे हतभागय न जाने कितने लाख योनियों मे भटकने के लिए हर समय तैयार बैठे रहते थे। उनका झपटना, बिलखना, नोंचना, कुचलना और कराहना कितना कंपा देने वाला और गलाने वाला था। ८-१० वर्ष के भिखमंगों के छोरे हमारे खाए की जूठन की आशा में कितनी देर तक कमरे के बाहर खड़े ताका करते थे। नंद किशोर लाज से आदर्श कालेज जाने वाली सड़क पर एक पेड़ के नीचे जीवन बिताते भिक्षुक परिवार के भयानक

आकृति वाले नंग घडंग छोरों का फूटी हांड़ियों में घृणित अन्न का चाटना और कुत्तों के भाग्य की चीजों छुड़ाकर उनके अंश को प्रसन्नता पूर्वक रुच-रुच कर खाने का दृश्य मेरी आँखों के आगे आज भी बना है। हजारों वर्षों का बूढ़ा बाबा विश्वनाथ उन अभागों का क्रन्दन सुनकर, घन्टे, शंख, झालर नगाड़ों की आवाज सुनकर, भक्तों के कंठों के उच्च स्वर का आह्वान् सुनकर भी न जाने आँख क्यों नहीं खोलता ? टस से मस क्यों नहीं होता ? कैसा आश्चर्य है।

सहपाठियों ने मुझसे कहा—मालवीय जी को एम० ए० के विदाई उत्सव के अवसर पर फोटो में सम्मिलित होने का निमंत्रण देने जाओ। शायद एक मित्र साथ में था। कोठी में गया। महामना बाहर के कमरे में शय्या पर लेटे हुए थे। मैंने चरण स्पर्श किया। कैसा स्नेह, कैसी माधुरी, कैसी सात्विकता। खादी के कपड़े पहने थे। मीठे मीठे मुसकुराये। एकाध मक्खी तंग कर रही थी। आने में उन्होंने विवशता व्यक्त की। निराश लौट आया। पल्ले एक गौरव बांध लाया कि पराधीन भारत के संत, चांदी के झुनझने की सी मीठी आवाज वाले, शरद् के नीलाकाश से शुभ्र मालवीय जी महाराज से मैं मिला हूँ।

और हाँ, भूल गया। अगस्त आन्दोलन के वे दिन। चारों तरफ हड़तालें। यूनिवर्सिटी बंद। आर्ट्स कालेज के विशाल सेन्ट्रल हाल में सभा हुई। हाल खचाखच भरा। पिन ड्राप साइलेंस। मालवीय जी, बिलखे। आँसू टपके। सन्नाटा देखें, सूई की भी आवाज आ जाती। करुणा की मूर्ति उस दिन मैंने साक्षात् देखी।

शरीर दुर्बल था। सभा मंच तक ४ जने कुर्सी पर बैठाये कंधों पर उन्हें लाते। डा० राधाकृष्णन् गीता पर प्रवचन करते। वे मालवीय जी के कितने लाड़ले मुंह लगे थे। मनीषी राधाकृष्णन् विनोद में कैसी-कैसी बातें कह देते जैसे बादल की कोर को चाँद ने अमृत से धो दिया, नहला दिया। गांधी जी और मालवीय जी उस दिन रजत जयन्ती दीक्षान्त समारोह में मंच पर बैठे थे। अगणित महत्वपूर्ण अतिथि गण थे। याद है मुझे वह दिन।

काशी छोड़ने के वर्षों बाद एक रात मुझे एक बड़ा मीठा सपना आया : मैं लंदन के एक पार्क में बेंच पर बैठा हूँ। मालवीय जी महाराज आते हैं—सफेद बगल बंदी पहने और भक्तनुमा बड़ी चिपकवां टोपी सिर पर ओढ़े। मैं उदास सा बैठा हूँ और वे मुसकुराते हुए मीठी-मीठी दृष्टि से, मुझे पुचकारते से, मेरे गाल को थपथपाते से मेरी ओर झुकते हुए मुझसे बोलते हैं। मैं आनन्दित होता हूँ। धन्य होता हूँ। मेरा सपना टूट जाता है। आह !

यों ही एक बार डा० राधाकृष्णन् और अंग्रेज कवि कीट्स से भी सपने में मिलना होता है। कीट्स से मैं खुले आकाश के नीचे एक विशाल भवन की पचासों चौड़ी-चौड़ी लम्बी सीढ़ियों पर बैठा हुआ बातें कर रहा हूँ। सपने की लीला।

शेक्सपियर के विद्वान् डा० सी० एन० मेनन की पढ़ाई हुई अंग्रेजी पोइट्री की छहराहटें अब भी कानों में भरी हैं। वे शाम को लुंगी लगाये व माथे पर लाल टीका लगाये विश्वनाथ

के मंदिर की ओर जाते दिखाई पड़ते। सर्व श्री प्रो० याज्ञिक, चुनेकर, कुलकर्णी, आर० डी० शर्मा, एस० के सिंह, विक्रमादित्य राय स्मृति में आज भी कितने साफ हैं। और हाँ श्री के० एल० वर्मा, डा० बूलचन्द ? प्रो० वोरा सब की धज निराली ही थी।

और ये जा रहे हैं अपनी वग्घी में सात्विकता, स्नेह व सादगी की मूर्ति डे वावा, प्रभात भ्रमण के लिए गणिताचार्य, आर्ट्स कालेज के भूतपूर्व प्रिंसिपल। आफिस में गया था, तब मुझे एक-एक शब्द पर टोका था—गणित की सी सुस्पष्ट तथ्यात्मकता का आग्रह रखते हुए। खादी का बंद गले का कोट, धोती, सफेद जूता। डे वावा। स्नेह का यह आतंक। मेरी डायरी में आज भी उनके शब्द अंकित हैं—उस दिन जव वे नन्दकिशोर लाज में भाषण प्रतियोगिता की अध्यक्षता करने आये थे, जीवन में पहली बार वोला था मैं। हिन्दी का प्रथम पुरस्कार मुझे मिला। मुझे दिया गया शीशे का एक सुन्दर पेपरवेट (जो मेरी मेज पर अभी भी यह पड़ा है सामने) और गुरुभक्त सिंह का कविता संग्रह 'वन श्री'। यह प्रिय निधि भी मेरी रैक में है। सभा विसर्जन के वाद मैंने वावा के सामने डायरी कर दी। लिख दिया।

हिन्दी विभागाध्यक्ष आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का गंभीर व्यक्तित्व कितना मोहक व प्रभावकारी था। आचार्य पं० केशव प्रसाद मिश्र का सौम्य मधुर व शालीन व्यक्तित्व कैसा लुभावना था। डाक्टर जगन्नाथ प्रसाद शर्मा की दृढ़कंठ स्पष्टता, करीने की चाल-ढाल मस्ती तथा आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की मृदु सुषमा व प्रौढ़ वैदुष्य तथा पं० पद्नारायण आचार्य की भावुक, शालीन व सहज प्रसन्न मुद्रा स्मृति में सजीव रूप से वसे हुए हैं। सब गुरुजनों को मेरे प्रणाम निवेदित हैं। बाबू साहब (बा० श्यामसुन्दर दास) कविवर मैथिलीशरण गुप्त, महाकवि निराला, दिनकर, बच्चन, नेपाली, सुमन, विनोदशंकर व्यास, शान्तिप्रिय द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा परिष्कृत मेरी एक कविता मेरी फाइल में आज भी कहीं रखी है। कितने ही कक्षासहपाठियों के चेहरे पवन में हिलती लौ की तरह मन में झलमला रहे हैं।

और हाँ, आचार्य शुक्ल के निधन का वह करुण प्रसंग। उस दिन वी० ए० कक्षा (चतुर्थ वर्ष) में उन्होंने गुप्त जी की यशोधरा का 'ओ क्षण भंगुर भाव राम, राम।' गीत पढ़ाया था। बस फिर आचार्य आये ही नहीं। पं० विश्वनाथ प्रसाद जी ने उनके स्थान पर आना आरंभ किया। गीत का शीर्षक उस प्रसंग के लिए सार्थक ही तो सिद्ध हुआ। एक बूंद आँसू टपकाकर आगे का कार्य आरंभ किया।

उस दिन शाम को सहसा ही विश्वविद्यालय क्षेत्र में प्रसिद्ध कवि श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय, हरिऔध जी के दर्शन हो गये। उनका अभिनन्दन था मैंने चरण स्पर्श किया। शालीनता, माधुर्य और विनय की मूर्ति। काली शेरवानी और चूड़ीदार पाजामा पहने हुए। वही उनकी लम्बी दाढ़ी। एक क्षण का यह दरस-परस मेरे लिए चिरकाल का सत्य वन गया।

काशी की कितनी प्यारी-प्यारी व पुरानी स्मृतियाँ आज भी मेरे पास सुरक्षित हैं। सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के हाल की दीवाल पर अंकित एक सुन्दर डिजाइन की मेरे हाथों की

प्रतिकृति आज भी रखी है। अगस्त आन्दोलन (सन् १९४२) के दिनों में होस्टल तुरन्त खाली करने के लिए जारी किया हुआ डा० राधाकृष्णन् का आदेश पत्र भी रखा है। डे बाबा का आटोग्राफ (Be good) के साथ डायरी में है। महाकवि हरिऔध को दिये गये सुन्दर अभिनंदन पत्र की एक प्रतिलिपि कितनी मूल्यवान् है। जीवन के उस प्रणय-युग की खरीदी वंसरी न जाने अव भी मुझमें क्या-क्या पैदा कर देती है। आचार्य शुक्ल के हाथ का लिखा एक प्यारा व मूल्यवान् पत्र मेरे पास बड़ी सुरक्षा के साथ रखा हुआ है। सुन्दर अक्षरों व हस्त चित्रों से अलंकृत मेरी कविता की डायरी आलमारी में पड़ी है। पुरस्कार में मिली 'वन श्री' (श्री गुरुभक्त सिंह का कविता संग्रह) व एक सुन्दर पेपरवेट आज भी उस युग की याद दिला रहे हैं। एम० ए० के लिए लिखे शोध प्रवन्ध (कविता में प्रकृति चित्रण) की एक अतिरिक्त प्रति भी रखी हुई है। बी० ए० तथा एम० ए० परीक्षा के प्रश्नपत्रों के सेट, सव प्रमाण पत्र, कमरे के दरवाजे की नेम-प्लेट मित्रों के साथ खिचवाये फोटो, विभागीय विदाई के अवसर का ग्रूफ फोटो उस समय की खरीदी हुई अनेक पुस्तकें, यूनिवर्सिटी जरनल के कई अंक सब कुछ तो रखे हुए हैं। और हाय, अपने एक दिवंगत मित्र (सहपाठी) का पत्र मुझे आज भी रोमांचित कर देता है। और हाँ कह दूं अपने एक प्यारे साथी के पवित्र प्रेम पत्र कितने विश्वास के साथ आज भी मेरे पास सुरक्षित अमानत के रूप में पड़े हैं—अक्षर जिनके आँसुओं से भीगे हुए। आचार्य शुक्ल, पं० केशव प्रसाद मिश्र, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पं० पद्मारायण आचार्य ने जो पुस्तकें कामायनी, गुंजन, पदमावत, भ्रमरगीतसार, रामचन्द्रिका, सिन्दूर की होली आदि—पढ़ाई थीं वे नोट्स के साथ रखी हुई हैं। इत्र की एक पुरानी शीशी, टाइम पीस, टूटा फिर भी सुन्दर फूलदान स्टेनलेस की एक धातु नौका, चाँदी का फ्रेम, चूड़ी का टुकड़ा, और न जाने क्या-क्या ?

पर काशी से मन में जो आनन्द मधु का सागर भर लाया हूँ आँखों में जो वहाँ के सौन्दर्य की राशियाँ भर लाया हूँ, आत्मा में जो प्रकाश की बूंदे ले आया हूँ वे मुझे जीवन के कण्टकाकीर्ण यात्रा-पथ पर रक्षा, प्रकाश और बल पहुँचाती रहेंगी। अतीत की छोटी-छोटी बारीक रेखाएँ स्मृतिपट से चाहे मन्द पड़ती जावें और मिट जावें पर वे गंगा तट की हरियालियाँ, वासन्ती सघन अमराइयों में ढलती चाँदनी रातें, यूनिवर्सिटी के विशाल कालेजों की घंटियाँ, सरसों की पीली खेतियों में के सायंकालीन भ्रमण, चाँदनी रातों में किए नौका विहार स्मृति में सदा ताजे रहेंगे।

काशी में ही मेरे मधुर स्वप्नों का निर्माण हुआ था।' प्रणय की गन्धभरी कलियाँ हृदय में वहीं विकसित हुई थीं। रूप की तृष्णा वहीं जगी थी। जीवन कला का सौन्दर्य देखना मैंने वहीं प्रारम्भ किया था। आशा और निराशा के मार्मिक अन्तर्द्वन्द्व की प्रथम और तीव्रतम अनुभूति सबसे पहले वहीं हुई थीं। मेरे जीवन विहंग ने कामनाओं के बड़े बड़े पंख वहीं फैलाए और फड़फड़ाए थे। प्रकृति में व्यापक अनन्त जीवन की रहस्यमयी अनुभूति मेरे अन्तःकरण को नहीं हुई थी। जीवन समुद्र को तरंगायित करने वाली वासना के प्रथम स्पन्दन से मैं वहीं सिहरा था। नये रक्त का संचार वहीं हुआ था, नरम हड्डियाँ वहीं कड़ी हुई थी। पौरुषवान यौवन ने अपनी मादक और अलसाई आँखे वहीं खोली थीं।

संगीत की मर्मभेदिनी तानों में छिपी तीव्र वेदना का अनुभव मुझे वहीं हुआ था। रूप और रंग के आकर्षण से रस लोलुप हृदय-भ्रमर वहीं लुब्ध हुआ था। जिसे जीवन कहते हैं उसका प्रथम छंद मैंने वहीं पढ़ा था। आह्! यह यौवन भी क्या है! प्रणय का एक क्षणिक गुलावी और वासन्ती प्रभात, संगीत का एक क्षणिक मनोहर समारोह और फिर आशाओं का भीषण ध्वंस। प्रणय रागिनी सुनने के दो मीठे क्षण, और फिर भयंकर आँधियाँ हृदय विदारक करुण स्वर।

अपनी एक कविता 'प्रकृति की गोद में' (प्रथम किरण नामक मेरे प्रथम कविता संग्रह में संगृहीत) से यह छन्द पढ़कर आज भी मैं पैंतीस वर्ष पुराने उस युग में पहुंच जाता हूँ :

पश्चिम दिशि में दूरी तक है सरिता सी
रजतोज्ज्वल विस्तृत कास राशि लहराती।
जिसके आगे धूमिल पादप पुंजों में
दिखतीं, ओझल-सी, लोचन-दृष्टि थकातीं।
दूरस्थ विश्वविद्यालय के भवनों की
सूर्यातप-चुम्बित स्वर्ण-कलश-मुकुटित, नव।
काषाय गुम्बदों की लघु-लघु आकृतियाँ
स्वप्निल दिगन्त पलकों में सोईं नीरव।

क्या-क्या याद करूँ और क्या-क्या लिखूं? सुधियों के दीप जलते ही चल रहे हैं बस समाधिस्थ मन से भावमयी स्मृति, स्निग्ध मुंदी अधमुंदी पलकों के साथ अपनी उस आलोक भूमि को प्रणाम, उसके विधाता माखन-मृदुल, शुभ्र धौत मालवीय जी महाराज की पावन स्मृति को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की हीरक जयन्ती के शुभावसर पर मेरे वारम्वार प्रणाम!

वह काशी! भवभूति के शब्दों में कहूँ
'तेहिनो दिवसा गता!'

आचार्य एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र

आलोकपुरुष महामना मदनमोहन मालवीय

डॉ० सूर्यनारायण द्विवेदी

महामना पंडित मदनमोहन मालवीय अपरिसीम मानवीय गुणों एवं वैशिष्ट्यों के प्रतिनिधि आलोक पुरुष थे। उन्होंने अपनी अप्रतिम आकर्षण शक्ति, अद्भुत वावटूकता, अदम्य साहस, अनाविल चारित्र्य असमोर्ध्व चेतना, अनुपम राष्ट्रीयता, अचपल धर्मनिष्ठा को शत-शत जीवनविम्वों में उद्भासित किया। साथ ही वे ऐसे क्षेत्र की विभूति थे, जिस पथ के पांथ में उपर्युक्त सारे गुण एवं ऐसी अनन्त विशेषताएँ बिना किसी प्रयास के प्रतिपद अभिव्यक्त पाती रहती हैं और वह पथ है—परिशुद्ध भागवतनिष्ठा। श्री महामना मालवीय इस एक ही निष्ठा के धनी थे, जिसके फलस्वरूप उनकी कार्य प्रणाली एवं विमर्श परामर्शता इतनी निष्कलुष एवं प्रांजल रूप में सामने आती थी कि आज उनके पार्थिव शरीर के यहाँ न होने से भी उनके अमृतकार्य एवं अमिट एवं प्रसारमुखी विमर्श प्रत्येक मनीषी को उनकी महानता के समक्ष झुकने को बाध्य करते हैं। सच तो यह है कि मनुष्य समाज केवल उन विभूतियों की ही समग्रता पर सही करता है, जो देश एवं काल में होते हुए भी देश एवं काल की परिधि से परे की शक्तिमत्ता का आश्रयस्थल बनकर सामने आए हों। अधिकांश तो ऐसी ही विभूतियाँ होती हैं जिन्हें विशिष्ट प्रमाणित होने तक अपने जीवन की वलि तक दे देनी होती है, किन्तु अधिक महत्ता उन्हें स्वाभाविक रूप में मिलती है, जो न केवल जीवनान्त अपितु जीवन काल में भी जनमानस में स्थान बनाकर अपनी महानता पर सही करा लेती हैं। यद्यपि यह सही किसी शासक की नहीं हृदय की आकर्षण शक्ति के कारण अमिट होती है, जिसे काल एवं देश का व्यवधान भी नहीं मिल पाता। महामना वैसी ही विभूतियों में थे।

महामना मदनमोहन मालवीय एक व्यक्ति नहीं अपितु समग्र मालवीय-उदात्तता की अभिख्या थे, जिनमें मानव मात्र के प्रति अपार करुणा, स्नेह एवं सहानुभूति भरी थी। किसी का भी दुःख देख कर तत्काल द्रवित हो उठना महामना की सहज वृत्ति थी। इसके लिए कभी-कभी उनमें अपनी गुरुता का ध्यान नहीं भी रह जाता था। एक ऐसा ही उदाहरण मुझे मेरे गुरुदेव क्षाचार्य डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सुनाया था मैं उन दिनों पारिवारिक एवं आर्थिक विपन्नता का इस दुरूहता के साथ सामना कर रहा था कि मुझे समझ में नहीं आता था कि कैसे पारिवारिक कठिनाइयाँ झेलूं एवं कैसे अपना अध्ययन चालू रक्खूं? पैर अनायास मालनीय भवन की ओर मुड़े एवं मैंने अपने को महामना के चरणों में बैठा पाया। मेरी उदासी उनसे छिपी न रही। उन क्षणों में केवल हम दो ही वहाँ थे। महामना ने मेरी ओर देखते हुए मेरी खिन्नता का कारण पूछा। मन एवं मस्तिष्क का तूफान बाँध तोड़कर सहानुभूति के बदले बाहर आ गया। मेरी गाथा ने महामना को इस प्रकार आप्लावित किया कि वे स्थिर न रहे सके और तुरन्त उन्होंने अपने जीवन के प्रारम्भ की उन कठिनाइयों का हवाला देते हुए मेरी पीड़ा को इस प्रकार समेट लिया कि मुझे लगा—इसी को अवतार कहते हैं कि महामना को अपनी गुरुता का स्मरण

न रहा और वे मुझे धैर्य एवं सहारा देने के लिए अनायास मेरी स्थिति एवं सीमा में उतर गए एवं अपनी करुणा से मेरे मन का भार हल्का कर लिया।

महामना मदनमोहन मालवीय में ईश्वर के प्रति ऐसी आस्था थी, जो अत्यन्त कठिनाई के क्षणों में भी अविकम्पित रही। कहते हैं भारत की ब्रिटिश सरकार के द्वारा यह आज्ञा प्रसारित हुई थी कि २ करोड़ रुपया जमा न होने पर विश्वविद्यालय की मान्यता रद्द कर दी जाएगी। निर्णय की पूर्वसन्ध्या तक अत्यन्त थोड़ी ही धनराशि दान आदि के द्वारा एकत्रित हो पायी। सबेरा होते न होते तत्कालीन सम्पूर्ण विद्वत् समाज की मानसिक स्थिति डावाडोल हो उठी। चिन्ता थी कि इस प्रकार काशी में सांस्कृतिक एवं शैक्षिक भारतीय मूल्यों की प्रतिष्ठापक संस्था का महान् अभियान केवल धनाभाव से अधूरा रहेगा, महामना का मुखमंडल भी कुछ म्लान होता जा रहा था कि अनायास विश्वविद्यालय में उपस्थित विद्वत् परिषद् को उन्होंने अपने एक विचित्र निर्णय की सूचना दी कि हम आज विश्वनाथ के दरबार में अपनी अरजी ले चलेंगे और उनका मुखमंडल सहसा सतेज हो उठा। विद्वत्परिषद् ने तत्काल महामना की इस आस्था का अनुमोदन एवं अनुगमन किया और सभी लोग विश्वनाथ के मन्दिर में जा बैठे। महामना ने आँखों में आँसू भर कर शिव के तांडव स्तोत्र का पाठ किया एवं प्रार्थना की कि प्रभो! आपकी अनुकम्पा के बिना अत्र विश्वविद्यालय को स्थिति देना किसी के वश की बात नहीं। प्रार्थना कुछ घंटों तक चलती रही। अनुगामी विद्वत् समाज महामना की आस्था के प्रति ससंशय श्रद्धालु था, पर महामना पूरी तरह आश्वस्त होते जा रहे थे। कुछ देर बाद वे उठे और उन्होंने कहा—"अब चलें। विश्वनाथ ने हमारी प्रार्थना सुन ली। संयोग की बात थी—महामना के विश्वविद्यालय पहुँचते ही बम्बई से एक उद्योगपति महामना के पास पहुँच आये। उन्होंने शेष धनराशि देने का तत्काल वचन दिया। संकट टल गया, पर महामना का विश्वास था कि यह संयोग नहीं भगवान् विश्वनाथ की महती अनुकम्पा के सिवा और कुछ न था।"

महामना की प्रभु में अटूट एवं व्यापक आस्था थी। इसीलिए वे केवल मूर्तियों में उन्हें न मानकर प्रत्येक हृदय में अधिष्ठित मानते थे। अतएव किसी के भी समस्या लेकर उपस्थित होनें पर उसे भगवद् बुद्धि से बहुमान देते थे। एक बार की बात है। महामना के पास एकदिन अपनी अर्थहीनता से पीड़ित एक ब्राह्मण आया। महामना के द्वारा आने का कारण पूछने पर ब्राह्मण ने बताया कि मेरी कन्या का विवाह परसों है। रुपये पैसे के बिना इस युग में कुछ संभव नहीं। लड़के वाले एक निश्चित धनराशि तिलक के रूप में न देने पर संबंध तोड़ देंगे।" महामना भी उसकी चिन्ता से तत्काल आप्लुत हो गए। उन्होंनें ब्राह्मण को ढाढ़स बधाया एवं कहा कि अभी तो परसों है, कुछ प्रयास आप भी करें मैं भी देखता हूँ, कि क्या कर सकता हूँ। किन्तु समय जल्दी ही बीत चला। तीसरे दिन भी तिलक के पैसों का इन्तजाम नहीं हो पाया। ब्राह्मण के पुनः उपस्थित होने के समय ही मालवीय परिवार के भोजनादि के व्यवस्थापक भी उपस्थित हुए और उन्होंने बताया कि आज महामना के भी भोजनादि की सामग्री घट गई है। महामना इस संयोग पर ठठाकर हँस पड़े एवं कहा "आज मैं सही अर्थो में ब्राह्मण हो गया।" उन्होंने भोजन सामग्री लाने के लिए उन महोदय को लंका भेजा एवं स्वयं ब्राह्मण देवता से बोले—

महाराज जरा अपनी अंगौछी दीजिए। मैं व्यवस्था करता हूँ। ब्राह्मण की अँगौछी लेकर महामना पूजा घर में घुस गए और भगवान के चाँदी के सभी वर्तन आदि अँगौछे में उलट कर बाँध दिया और कहा—इसे कन्हैया लाल सर्राफ के यहाँ बेचकर आप अपना काम चला लें। ब्राह्मण चला गया। थोड़ी ही देर बाद महामना के सामने वही व्यवस्थापक पुनः म्लान मुख उपस्थित हुए और सूचना दी—महाराज हम लोगों की थोड़ी सी असावधानी के कारण भगवान् के वर्तन कोई चोर ले गया। महामना ने कहा – क्या कहते हो? भगवान् का वर्तन चोर कैसे ले जा सकता है? उन्होंने किसी को दे दिया होगा। उन्हें जब जरूरत होगी पुनः मँगा लेंगे। "चिन्ता क्या ?" उनके आह्लाद की सीमा न थी।

फिर विश्वविद्यालय ईंट एवं पत्थर की संस्था नहीं महामना का हृदय है। जो कुछ यहाँ पहले निर्मित हुआ था, हो रहा है, वह सब उनके विराट् हृदय के विविध स्तरों में वांच्छित आकार हैं। संस्थापक का संकल्प ही वास्तव में संस्था का प्राण होता है। महामना का विश्वास था कि हिन्दू संस्कृति मानवमात्र की अमूल्य सम्पदा है। इसकी रक्षा मानवचेतना की अप्रतिम उपलब्धियों की रक्षा है। इसीलिए इस संस्था को आकार देते समय उन्होंने किसी विषय या विभाग की इयत्ता बाँध कर उसे सीमित नहीं किया। जब तक रहे सेवा में लगे रहे और जब उठने का समय आया—कहते हैं, महामना ने अपने समीप के महापुरुषों को बुलाकर अपनी अन्तिम इच्छा व्यक्त की कि "मैं काशी में नहीं मरना चाहता क्योंकि वहाँ मरने पर मुक्ति हो जायगी। जो मैं नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ, पुनः आकर विश्वविद्यालय के विकास में सहयोग दूं।" इसका मूल कारण था, अपने देश की जनता की अशिक्षा उन्हें शूल सी चुभती थी। अतएव वे चाहते थे कि उन्हें अधिक से अधिक मानव जाति को शिक्षित बनाने एवं अज्ञान के क्षेत्र से उन्हें निकाल कर प्रकाश में लाने का अवसर मिले। महामना अथक प्रयास करने पर भी अपने उद्योग से सन्तुष्ट नहीं होते थे। यह अनन्त अतृप्ति ही उन्हें लगातार राष्ट्र की महान् सेवा में लगाए रही एवं उनके प्राणों में ऐसी अतृप्ति समा गई कि वे उसे अन्त समय में भी नहीं भूल सके।

महामना की इच्छा थी, दुःखसे सन्तप्त प्राणियों की दौड़दौड़ कर पीड़ा वटाने की। जहाँ से जो भी उनके पास पहुँचता, उसे वे खुले हृदय से लेते एवं शक्ति भर उसकी पीड़ा कम करने का प्रयत्न करते। उन्हें ऐसे व्रत की लालसा महाभारत, गीता एवं श्रीमद् भागवत् से मिलती थी। आए दिन वे इन महान् कृतियों की चर्चा करते नहीं अघाते थे। उन्हें न स्वर्ग, न अपवर्ग की कामना थी यदि कुछ इच्छा थी तो केवल मानवता की सेवा की। शिवि, रन्तिदेव, दधीचि, उनके आदर्श पुरुष थे, जिनसे वे प्रतिक्षण अपने को अनुप्राणित करते रहते थे। महामना का विश्वास था कि उत्तम कोटि के आचारण पालन के विना मानव का व्यवहार पवित्र नहीं हो सकता। फिर व्यवहार की पवित्रता ही विचार की विशालता का चिह्न है अतएव आचार, विचार एवं व्यवहार में समानुरूपता से ही मानव में महान् एवं उदात्त अभिलाषाओं का उदय सम्भव है। उपर्युक्त त्रिक की विशृंखलता मानव के दयनीय मन एवं मस्तिष्क की सूचना है। अतएव इस दिशा की सावधानी ही मानव को सही मानव बना सकती है।

महामना परम भागवत थे, जिन्हें स्वभावतः समचित्तता, शान्तस्वभाव, दर्पविहीनता, सहृदयता, साधुता, ईश्वरप्रेम, प्राणिमात्र के प्रति करुणा, परिवार के प्रति कम लगाव,

यावदर्थं परिग्रह, अप्रमत्त कार्यंकुशलता जैसे इतने सारे अप्रतिम गुण एकत्र प्राप्त थ कि उनके एक या कई गुणों की चर्चा मात्र से उनका व्यक्तित्व नहीं आंका जा सकता था। वास्तव में वे सही अर्थों में मानव थे, जिनमें मानव सुलभ अच्छाइयों एवं कमजोरियों ने इस प्रकार अपने को जोड़ लिया था कि वे परस्पर उनके व्यक्तित्व को उजागर करने में प्रतिक्षण प्रतिस्पर्धा में लगी होती थीं। इसीलिए उनके समक्ष जाते ही प्रतिपक्षी का विरोध भाव लुप्त हो जाता था। उनका श्रीविग्रह एक अद्‌भुत प्रभाव डालता था, जो आने वाले में से कमजोरियों को निकालता एवं उदात्त मानवीय मूल्यों के प्रति सजग आस्था प्रदान करता सा लगता था। महामना की न केवल वाणी अपितु उनका वेष, भूषा, चाल, व्यवहार, आचार सबमें एक फेनोज्वल धवलता थी, जो केवल बाह्य न होकर हृदय की धवलिमा की अनुकृति मालूम होती थी। सच तो यह है कि उन्होंने जनता जनार्दन को जितनी गाढ़ श्रद्धा, सहानुभूति, स्नेह एवं विश्वासभाजनता दी, उसने विना किसी ननु नच के उन्हें दर्पणगत प्रतिबिम्ब की भांति उसे लौटाया भी। वे जितना ही अधिक अपनी ऐसी सहजता बढ़ाते जाते थे, उनके लिए वह उतने ही विराट रूप में विश्वात्मा की ओर से मिलती गई। इस प्रकार न तो उनकी सेवा करने की इच्छा कम हुई और न विश्वात्मा का उनके प्रति स्नेहदान ही।

महामना की परमभागवत भावना आज भी सहस्र गुना प्रतिदान पा रही है और पाती जायगी, इसमें संशय नहीं। आज भी—महाभागवत महामना का संकल्प केवल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की भवन परम्परा नहीं, उसमें पनपने वाली वे प्रतिमाएं हैं एवं होंगी जो उनके पावन संकल्प की वृक्षधर्मिता को दिगन्त व्यापिनी बनाती रहेंगी तथा उनकी उस लालसा के लिए सतत प्रयत्नशील रहने में गौरव का अनुभव करेंगी, जिसने संस्थापक की महान् आत्मा को पर दुःखकातरता, स्वाधीनता, शालीनता, सहजता एवं विश्वात्मा के प्रति, समर्पण के प्रति सतत् आस्थाशील रहने दिया। काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय ऐसे एक महान् पुरुष की महती लालसा की महत् परिणति है। अतएव इसका विश्वतोमुखी विकास उसके संस्थापक की आध्यात्मिक विराटता का एक मूर्तरूप तो है ही, बहुत कुछ अमूर्त और विस्मयावह सारस्वत वैभव की एक खोई हुई कड़ी भी है, जो अनागत को भी अपने अतीत एवं अद्यतन प्रयासों की भांति सतत् प्रकाश की ओर ले जायगी। इस महत् सफलता के पीछे जो सबसे बड़ी शक्ति काम कर रही है, वह है महामना की विश्वात्मा के प्रति अप्रतिम निष्ठा और मानव मात्र के प्रति अपरिमेय करुणा भाव जो अनास्थाशील व्यक्तित्व में कभी सम्भव नहीं। संस्थापक की यह उक्ति आज भी हमारे प्राणों को नित्य-नूतन सन्देश से उजागर करती है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवं
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम् ॥

महाभारत ॥

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

———

स्मृति के क्षण

श्रीमती सरोज बिसारिया

अतीत की सुख दुःखात्मक स्मृतियाँ, वर्तमान के स्नेहिल बोझिल थपेड़े, भविष्य के संशयात्मक निर्णयात्मक स्वप्न स्पष्टतः परिवर्तन के चक्र पर चालित समय के चरणों की ही ध्वनि है, पगध्वनि। समय के अंचल का कोना थामे मनुष्य जीवन पथ पर चरैवेति के गीत गुनगुनाता चाहे अनचाहे मृत्यु के बिन्दु तक बढ़ता ही जाता है। बहुत कुछ अपना अनजाने ही छूट जाता है, अपरिचय के बन्धन तोड़ अनजाने पल अपने हो जाते हैं। मन की रंगशाला में सदा ही भाव नाट्य होता रहता है। यवनिका उठती है राग-विराग, प्रेम-घृणा, आकर्षण-विकर्षण, सफलता-असफलता के दृश्य मूर्तित होते रहते हैं कि पटाक्षेप हो जाता है और मनुष्य असहाय दर्शक सा अपना ही दृश्य द्रष्टा बन कर देखता रहता है।

आज अनायास ही मन की रंगशाला में बड़ी चहल-पहल हो उठी है, एक दूसरे को ढकेलते से, भावों की भीड़ ही उमड़ पड़ी है। स्मृतियों की यवनिका उठती है और मुझे दिखता है अपने घर का विशाल आंगन, जहाँ, अनेक देशभक्त, शिक्षा प्रेमी एकत्रित हैं परमहंस बाबा राघवदास गोपाल नारायण सक्सेना, भाई धीरेन्द्र मजुमदार, अखिल भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संचालक डा० शालिगराम पथिक, उत्तर प्रदेश महिला कांग्रेस की मंत्रिणी मंगला बहन तथा श्रीमती सीता असरानी। विचार का विषय है मुझे उच्च शिक्षार्थ किस विश्वविद्यालय में भेजा जाए? मेरे माता-पिता शिक्षा प्रेमी होने के साथ-साथ भारतीय संस्कृति के पक्षपाती कुछ-कुछ रुढ़िवादी थे अतः विश्वविद्यालयीय शिक्षा के लिए छात्रावास भेजने में मन ही मन हिचक रहे थे कि परमहंस बाबा राघवदास का आदेश हुआ कि बेटी सरोज को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जो राष्ट्रीय भावनाओं एवं भारतीय संस्कृति का महान केन्द्र है में ही प्रवेश लेना है और आज ही प्रस्थान करना है।

१९४८ की ७ अगस्त, कुछ भीत कुछ उत्सुक काशी आ पहुंची। लंका चौमुहानी से ही विद्या मंदिर के भव्य शिखर मन में पवित्रता का संचार करने लगे। मुख्य द्वार में प्रविष्ट होते ही बाएं हाथ स्थित महिला महाविद्यालय तथा छात्रावास (जो मेरा विद्यालय एवं मेरा आवास बनने वाला था) के दर्शन हुए। अनजाने ही अपरिचय में भी चिर परिचय का मधुरस घुल गया। मेरे साथ मेरा प्रवेश कराने मेरे पूज्य जीजा जी श्री राम प्रसाद सक्सेना जो तत्कालीन उपकुलपति डा० अमरनाथ झा के शिष्य रह चुके थे, आए थे। उपकुलपति कक्ष में डा० झा को देखकर वे आश्चर्याभिभूत हो उठे। यह था काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का प्रभाव, ऊपर से नीचे तक अंग्रेजी लिवास में सजे रहने वाले

डा० अमरनाथ झा माथे पर चन्दन का टीका और कुर्ता धोती में आसीन थे। नारी शिक्षा एवं नारी जागरण के पं० मदन मोहन मालवीय के आदर्श के रक्षार्थ ? अत्यन्त विलम्ब से आने पर भी मुझे प्रवेश मिल गया।

खादी की साड़ी और सर पर पल्ला रखे जब मैं छात्रावास पहुंची तो कुछ व्यंग्य परक, कुछ विनोदात्मक शैली में मेरा स्वागत हुआ। विश्वविद्यालय के मंदिर जैसे भवनों एवं चतुर्दिक फैले प्राकृतिक परिवेश में व्याप्त जो एक निजत्व था वह मुझे प्रथम दिन नहीं प्राप्त हुआ। बड़ी उद्विग्नता में रात्रि व्यतीत हुई। विद्यालय जाने के लिए जैसे ही मैं द्वार पर पहुँची मंत्र मुग्ध सी देखती रही एक भव्य नारी मूर्ति, भारतीय संस्कृति की प्रतीक, नवीनता और प्राचीनता का अद्भुत सम्मिश्रण, खादी की श्वेत साड़ी, सर पर आंचल, सीधा पल्ला, साइकिल पर आरुढ़। जिज्ञासा पर सहपाठनियों से ज्ञात हुआ कि यह हैं संस्कृत की आचार्या सुश्री पद्मा मिश्रा। अपने संस्कृत न लेने पर दुःख हुआ, फिर भी उन्हें देखते ही मेरा गिरता हुआ मनोबल सबलित हुआ। उनका व्यक्तित्व मेरे मन पर अमिट प्रभाव डाल गया। विद्यालय पहुंची सहपाठनियों से ज्ञात हुआ पहला घन्टा हिन्दी साहित्य का है और वह भी श्रीमती ज्ञानवती त्रिवेदी जी का। मुझे भयभीत करने की छात्राओं की ओर से चेष्टा भी हुई किन्तु हिन्दी के प्रति मेरा चिर अनुराग मुझे उमंग और उत्साह से उनकी कक्षा में ले गया। एक अव्यक्त गरिमा से मण्डित उनका मुख, अधरों पर फैली मन्द मुस्कान, वत्सलता का भाव और धारा प्रवाह निर्झरित वाणी सब में एक विचित्र आकर्षण था। पहले दिन उनसे पढ़ा था 'केशव कहि न जाय का कहिए' और आज उन्हें लेकर मुझे ऐसा ही अनुभव हो रहा है केशव कहि न जाय का कहिए। प्राचीन गुरु शिष्य सम्बन्ध को उन्होंने यथार्थता दी थी। ज्ञानवती जी से एक साथ ही हमें मिला था बड़ी बहन का स्नेह, माँ की ममता और हित चिन्तन से भरी झिड़की। जब-तब हम सब उनके घर जा पहुंचते थे, गा बजा कर पकौड़ी खाकर छात्रावास में रहने पर भी घर का सुख उठा लेते थे। सत्य तो यह है कि हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आज मेरी जो भी उपलब्धि है उसका श्रेय ज्ञानवती त्रिवेदी जी को ही है। आज भी सौभाग्यवश जब भी उनका दर्शन मिल जाता है श्रद्धा से नत हो उठती हूँ। इनके अतिरिक्त परम पूज्य अध्यापिकाओं सुश्री इन्दुमती पुरोहित, सुश्री सीता श्रीवास्तव, श्रीमती विद्या गुप्ता, श्रीमती शान्ती वाजपेई आदि की स्नेहिल छाया में समय आनन्द से व्यतीत होने लगा। मिस पुरोहित से केवल संगीत ही नहीं मिला आध्यात्मिकता और जीवन की यथार्थता संबंधी बहुमूल्य उपदेशनाएं भी मिलीं। अध्यापिकाओं के सहयोग एवं निर्देशना से अनेकानेक प्रतियोगिताओं में विजयनी बनी और साथ ही सबकी स्नेह भाजन भी।

छात्रावास के जीवन को मधुर बनाने वाला एक और अविस्मरणीय व्यक्तित्व था, छात्रावास अधीक्षिका सुश्री विमला देवधर का। स्नेह, त्याग और सेवा की जीवन्त मूर्ति। छात्रावास में भीषण रूप से अस्वस्थ हो जाने पर विमला ताई की ममता और सेवा ने ही मुझे जीवन दिया। उन्होंने मालवीय जी की "मानव सेवा" का स्वप्न अपने व्यवहार से

साकार किया था। टीचर्स ट्रेनिंग कालेज की विभूतियों में सुश्री सरोजिनी वार्ष्णेय, सुश्री कमला बोकिल, श्री रमापति शुक्ल आदि अमिट प्रभाव डालने वाली विभूतियां रही हैं। मेरे पूज्य गुरुजनों में आज जो भी जहाँ हैं, उनके चरणों में मेरे श्रद्धा सुमन अर्पित हैं। आज परिवर्तित होते हुए समय ने परिस्थिति की तूलिका से का० हि० वि० विद्यालय को कितने ही रंगों से क्यों न रंगा हो किन्तु मेरे युग का का० वि० वि० कुलगीत के एक-एक शब्द को चरितार्थ करने वाला था। अपने विश्वविद्यालय पर हम आज भी गौरवान्वित हैं। परम आदरणीय मालवीय जी का यह विश्वविद्यालय, ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता, संस्कृति और मानवता का ऐसा उद्यान बने जिसकी क्यारियों में मालवीय संवेदना के सौरभ से युक्त नित नूतन फूल खिले यही मंगलाशा है।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
बसन्त महिला महाविद्यालय
राजघाट, वाराणसी।

'अब न आँखितर आवत कोऊ'

डॉ० जितेन्द्रनाथ पाठक

अपने छात्र-जीवन का स्मरण वस्तुतः कुछ अत्यंत पवित्र एवं संस्फूर्त क्षणों का स्मरण होता है जिधर पूरे वेग से लौट जाने की तीव्र आकांक्षा मन को अभिभूत कर लेती है। विश्वविद्यालयीय शिक्षा का प्रारम्भ प्रत्येक क्षात्र के लिए एक नवीन उल्लास, नवीन संभ्रम और नए कौतूहल का अवसर होता है। विषयों का चुनाव कभी इन्टर कक्षा में लिए गए विषयों और उनमें प्राप्त अंकों, कभी किसी उच्चशिक्षा-प्राप्त हितैषी के सुझावों, कभी किन्हीं विषयों के गुरुओं की प्रसिद्धि आदि कई बातों से नियंत्रित होता है। विद्यालय को छोड़कर सहसा विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होने के साथ जो अनेक प्रकार के मनोभाव जाग्रत होते हैं उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अनेक रोचक तथ्यों का जनक हो सकता है।

जिस समय मैंने क्वींसकालेज वाराणसी से इण्टर मीडिएट परीक्षा १९५२ में उत्तीर्ण कर बी० ए० में प्रवेश लिया उससमय देश स्वतंत्रता के प्रभाव की उष्मा से दीप्त और स्फूर्त था। स्वतंत्रता-संग्राम के चोटी के नेता उससमय देश का नेतृत्व संभाल रहे थे और काशी विश्वविद्यालय में भी उससमय इसीप्रकार के शीर्षस्थ समाजवादी नेता, बहुभाषाविद, भारतीय राजनीतिक दर्शन के आचार्य, भारतीय धर्मसाधना और दर्शन के चूड़ान्त पण्डित, सुप्रसिद्ध विचारक आचार्य नरेन्द्रदेव कुलपति के रूप में कार्य कर रहे थे। विश्वविद्यालय में प्रवेश लेने के पूर्व ही हम कई प्रकार से आचार्य जी से सुपरिचित थे। दूसरे पूर्व परिचित विद्वान थे विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाम के तत्कालीन अध्यक्ष आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी। अपनी साहित्य परिषद में आचार्य द्विवेदी को बुलाकर और उनके कबीर, वाणभट्ट की आत्मकथा, साहित्य का मर्म जैसे सुविख्यात ग्रंथ पढ़कर हम उनके प्रति श्रद्धा से भरे हुए थे। काशी विश्वविद्यालय का जो समष्टि मूलक बिंब मन पर था वह और भी अव्याख्येय आकर्षण से भरा हुआ था। उसके विराट मंदिरोचित शिल्प और तदनुकूल सांस्कृतिक रंग-वैभव में प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद महामना पं० मदन मोहन मालवीय का व्यक्तित्व ही मानो रूपांतरित हो गया था।

१९५२ से १९५६ और उसके कुछ वाद तक मैं विश्वविद्यालय का छात्र रहा। उस समय प्रायः सभी विभाग अपने-अपने विषय के विश्रुत विद्वानों से गौरवान्वित थे। उनका स्मरण आज भी मेरे अध्यापक-जीवन को प्रेरित और विस्फूर्जित करता है। उनमें से अनेक के अनेक संस्मरण हैं जिनमें से कुछ का उल्लेख आज भी छात्रों और अध्यापकों के लिए प्रेरक सिद्ध हो सकता है।

प्रो० बी० एल० साहनी की उत्कृष्ट विनोदप्रियता के दो उदाहरण आज भी मन को गुदगुदा जाते हैं और अध्यापकों की आन्तरिक जीवंतता का एक प्रेरक क्षण उपस्थित कर देते हैं। साहनी साहब शेरवानी, ढीले चुस्त पाजामें और गोल फेल्ट कैप में हम लोगों के सुखद कौतूहल के केन्द्र थे। अगस्त की दोपहर की ऊमस और बेहद गर्मी थी। बिजली की

गड़बड़ी से पंखा उनके सिर पर यूँ ही लटका हुआ था। साहनी साहब पसीने से तर-बतर थे। मुंह पान से भरा था और रूमाल से बार-बार मुंह पोंछते जाते थे। नए छात्रों के शोर और हँसी से निर्लिप्त होकर मानो वे गर्मी से लड़ते हुए स्थिर कर रहे थे कहाँ से और कैसे शुरू करें। इसी बीच उन्होंने पंखे की ओर एक टक देखना शुरू किया। स्वभावतः पूरी कक्षा उसी ओर देखने लगी। सहसा उनका मुंह खुला और हाथ ऊपर उठा 'इट इज········इट इज़ हैंगिंग लाइक त्रिशंकु।' छात्रों की समवेत हँसी अट्टहास बनकर फूटी और साहनी साहब एक दम चुप जैसे उन्होंने हँसने की कोई बात ही न की हो। इसके बाद छात्र चुप हो गए और उनका प्रथम अभूतपूर्व व्याख्यान हम लोगों ने सुना। कक्षाओं में 'कनफ्यूजन' की स्थिति कई परिस्थितियों में कई बार उपस्थित होती है अध्यापक उसे कैसे समाप्त कर सकते हैं—यह अब अध्यापक होकर समझने लगा हूँ।

साहनी साहब हाजिरी स्वयं नहीं लेते थे। हाजिरी लेने का कार्य कोई दूसरा छात्र करता था। एक बार की बात है कि हम लोगों अर्थात् मेरे और श्री (अब डाक्टर) केदार नाथ सिंह (संप्रति एसोशिएट प्रोफेसर जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय दिल्ली) के एक मित्र थे बाबू जमादार सिंह। टिपीकल बिहारी चेहरा और दुबला-पतला शरीर। बेहद सीधे-सादे। एक दिन वे कक्षा में नहीं थे। सबका नाम बोलते-बोलते हाजिरी बोलने वाले छात्र ने जमादार सिंह नाम बोलने और उत्तर न पाकर क्षणिक रुकने के बाद उसे दुहराया और पुनः थोड़ा रुका। उपस्थिति ली जाने की अवधि में अपना नेत्र बन्दकर समाधिस्थ से रहने वाले साहनी साहब अचानक अपने विचित्र आँग्ल उच्चारण में बोल उठे 'प्राबेब्ली ही विल बी आन हिज़ ड्यूटी।' जमादार शब्द की लयात्मकता का सामयिक उपयोग उनके साहित्यिक प्रत्युत्पन्नमतित्व का प्रमाण था। अध्यापन की सरलता और स्वारस्य को बढ़ाने में इस प्रकार का प्रत्युत्पन्नमतित्व कितना सहायक होता है इसे सफल अध्यापक अच्छी प्रकार जानते हैं।

हिन्दी की छमाही परीक्षा हुई थी। आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र उस समय बी० ए० प्रथम वर्ष के हमारे वर्ग को हिन्दी पढ़ाते थे। उत्तर पुस्तकें उन्होंने ही देखी थीं। जिस दिन कक्षा में वे उत्तर पुस्तकें दिखा रहे थे उस दिन मैं नहीं था। उन्होंने मेरी अनुपस्थिति में मेरी प्रशंसा की और मुझे कक्षा में सर्वोच्च अंक देने की बात कही। दूसरे दिन पहुँचते ही पहुँचते मुझे छात्रों ने यह समाचार दिया। स्वभावतः मैं बेहद संकुचित हो गया। हिन्दी कक्षा लगी, हाजिरी बोलते समय जब मेरा नाम आया, गुरुदेव ने क्षणेक के लिए मुझे विशेष रूप से देखा और आगे बढ़ गए। हिन्दी के तीसरे प्रश्नपत्र में एक ८-७ की हम लोगों की कक्षा को भी आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पढ़ाते थे। इस कक्षा में उन्होंने मुझे कुछ निकट से जाँचने का प्रयास किया। संभवतः अलंकार जानना उनकी दृष्टि में उत्तम छात्र का सुनिश्चित लक्षण था इसलिए उन्होंने मुझसे दो अलंकारों के बारे में पूछा अब ठीक याद नहीं है कि वे कौन-कौन से अलंकार थे। अलंकारों के मामले में मैं शुरू से ही असावधान था, फलतः एक अलंकार की परिभाषा और व्याख्या तो दे सका दूसरी बार चुप रह गया। लगा गुरुदेव को एक झटका लगा और अपनी पूर्वधारणा पर पुनर्विचार करते हुए उन्होंने मानो सस्वर अपना विचार या उहापोह दुहराया 'अलंकार तो आप नहीं

बता सके लेकिन मेरा निर्णय गलत नहीं हो सकता। मैं उत्तर पुस्तक को पूरा पढ़कर अंक देता हूँ। आप परिश्रम करें तो आपका भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। भविष्य उज्ज्वल हुआ हो या अनुज्ज्वल—इतना अवश्य स्पष्ट है कि आज जिस तरह हम लोग उत्तर पुस्तकों को निबटाते हैं उससे हम परीक्षण के मूल लक्ष्य प्रतिभा की पहचान अथवा सही निर्णय से कई बार चूक जाते हैं। मानविकी के विभिन्न विषयों में प्रथम श्रेणी के छात्रों का द्वितीय और द्वितीय का तृतीय तथा कभी इसका उलटा हो जाना आज अभिभावकों और प्रतिभाशाली छात्रों की प्रधान समस्या बनती जा रही है।

वह समय उस दौर की शुरुआत का था जब मानविकी के विषयों के शिक्षण का हिन्दी माध्यम से प्रारम्भ हुआ था। सबसे बड़ी समस्या इन विषयों में अंग्रेजी के समकक्ष हिन्दी पुस्तकों के अभाव की थी। राजनीति में प्रो० कन्हैयालाल वर्मा स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास ओर भारतीय संविधान, प्रो० द्वारिकानाथ जी बोहरा विश्व के प्रमुख देशों के तुलनात्मक संविधान, और डॉ० गणेश प्रसाद उनियाल राजनीतिक विचारधाराओं का अध्यापन करते थे। प्रो० वर्मा हिन्दी में रानीतिक ग्रंथों के सुप्रतिष्ठित लेखक थे। डॉ० उनियाल ने लांगमैन्स से 'राजनीतिक विचारधाराएँ' नाम से एक उत्तम पुस्तक प्रकाशित कराई थी। दोनों अध्यापक हिन्दी भाषा में अध्यापन करने में किसी कठिनाई का अनुभव नही करते थे किन्तु प्रो० बोहरा को हिन्दो में पढ़ाने में कठिनाई का अनुभव होता था। वह हिन्दी बोलते-बोलते अँग्रेजी बोलने लगते थे और उद्धरण बरावर अंग्रेजी मे लिखी राजनीति की सुप्रतिष्ठित पुस्तकों से देते थे। उद्धरण देने के बाद उनके अनुवाद की समस्या आती थी। एक बार इसी प्रकार के हिन्दी अंग्रेजी उद्धरण का तत्काल हिन्दी अनुवाद कर देने के कारण मैं उनके सतत आशीर्वाद का भाजन हो गया। वह मुझको 'मास्टर साहब' और 'पंडित जी' संज्ञाओं से सम्बोधित करते थे जो मेरे लिए अत्यंत संकोचकर और दुर्वह होता था। लेकिन इससे कोई फर्क नही पड़ा और बी० ए० के दोनों वर्षों में वे अंग्रेजी उद्धरणों का अनुवाद मुझसे इन्ही सम्बोधनों से कराते रहे। इतना मैं अवश्य कहूँगा कि विश्व के प्रमुख राष्ट्रों के संविधानों और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का जितना सुलझा हुआ ज्ञान इन्हें था कम लोगों को होगा। हिन्दी भी वे जितनी बोलते थे वहुत अच्छी तरह वोलते थे। वे बरावर सचेत रहते थे कि उन्हें हिन्दी माध्यम से पढ़ाना है इसलिए अंग्रेजी का हिन्दी अनुवाद किसी न किसी रूप में अवश्य करते-कराते थे। श्री बोहरा और डॉ० उनियाल का स्नेह भाजन मैं बराबर एम० ए० कक्षाओं में भी रहा।

यहीं पर अपने तत्कालीन कुलपति आचार्य नरेन्द्रदेव का स्मरण इस दृष्टि से कर लेना उचित होगा कि वे राजनीति और विश्वविद्यालयीय प्रशासन की सारी व्यस्तताओं और कमजोर स्वास्थ्य के होने के बावजूद भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास और बौद्धदर्शन की उन्मुक्त कक्षाओं को दो-दो और तीन-तीन घंटों तक संबोधित करते थे। उन्मुक्त इस दृष्टि से कि उन कक्षाओं में विषय-विशेष के छात्र तो होते ही थे विषय में रुचि रखने वाले अन्य विभागों के अध्यापक और छात्र भी आ जाते थे और कक्षाएँ प्रायः हाल में लगा करती थीं। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम पर उनके दो व्याख्यानों को सुनने

का सौभाग्य मुझे भी मिला। इसमें न केवल अतीत का सुविस्तृत लेखा-जोखा होता था बल्कि प्रत्येक घटना के विश्लेषणों और दूरगामी प्रभावों का मौलिक आकलन और निरूपण भी होता था। अपराह्न में लगने वाली इन कक्षाओं में नोट लेने का कार्य अध्यापक भी करते थे, छात्र तो करते ही थे।

बी० ए० उस समय दो खण्डों में विभक्त न था। दो वर्ष के बाद केवल एक बार यूनिवर्सिटी परीक्षा होती थी। मैं उन अभागों में से था जिसकी बी० ए० में प्रथम श्रेणी कुछेक अंकों से रुक गई। कुल अंक थे ५९·८%। मुझे सबसे अधिक असंतोष और संदेह था अपने राजनीति शास्त्र के प्रथम प्रश्नपत्र के मूल्यांकन पर। तैयारी जमकर हुई थी और समस्त उत्तर संतोषजनक रूप में दिए गए थे लेकिन उत्तीर्णांक भर मिल पाए थे। जब मैं यह—सारा मामला लेकर तत्कालीन प्रोवाइस चांसलर पूज्यवर प्रो० नार्लीकर साहब के यहाँ पहुँचा तो उन्होंने पिछली परीक्षाओं में प्रथम श्रेणी की बात जानकर इसे कैरियर के बनने-बिगड़ने का गम्भीर प्रश्न मान कर बड़ी सहानुभूति प्रकट की और नियम विरुद्ध जाकर तत्कालीन परीक्षा उपकुलसचिव श्री निघोषकर को लिखा 'आई पर्सनली वान्ट टू सी द इक्ज़ामीनेशन आनसर बुक आफ पालिटिक्स पेपर फर्स्ट आफ जितेन्द्रनाथ पाठक, रोल नं०.........' निघोषकर महोदय आजकल-आजकल करते रहे और जगतगंज से सायकिल चलाकर विश्वविद्यालय पढ़ने आने वाला छात्र मैं थककर चुप हो रहा। संभवत: पुनर्निरीक्षण अथवा पुनमूल्यांकन के नियम की सीमाओं में अपने को सुरक्षित पाकर श्री निघोषकर प्रोवाइस चांसलर की आज्ञा के प्रति उदासीनता बरतते रहे। उस परचे की कहानी मुझे बाद में चलकर प्रो० कन्हैयालाल जी वर्मा से मालूम हुई लेकिन वह गोपनीय अध्याय अब गोपनीय रहने देना ही उचित है। इतना संकेत कर देना अन्यथा नहीं होगा कि उस समय हिन्दी-माध्यम से लिखी गई अच्छी से अच्छी उत्तर पुस्तकें अहिन्दी भाषा भाषी परीक्षकों के यहाँ जाकर इसी प्रकार की नियति भोगने के लिए बाध्य थीं। मेरे शैक्षणिक जीवन के इस दुःखद प्रसंग और विश्वविद्यालय जीवन के कई दुःखद प्रसंगों में प्रो० नार्लीकर मेरे बहुत बड़े सहायक रहे।

एम० ए० में हिन्दी लूँ या इतिहास लूँ—यह प्रश्न किंचित उलझाने वाला था। इतिहास में ६६ प्रतिशत अंक थे हिन्दी में कुछ कम था—यह देखकर पूज्य नार्लीकर साहब चाहते थे मैं इतिहास लूं लेकिन मैंने विनय पूर्वक रुचि और अभिज्ञता का पक्ष लिया और हिन्दी ले लिया। इस निर्णय के पीछे हाईस्कूल इन्टर दोनों कक्षाओं में हिन्दी में विशेष योग्यता और बी० ए० में हिन्दी में आनर्स की प्राप्ति; हिन्दी विभाग के हिन्दी के चोटि के विद्वानों यथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० श्रीकृष्णलाल, पं० पद्मनारायण जी आचार्य, डॉ० विजय शंकर जी मल्ल आदि की विद्वत्ता का आकर्षण, हिन्दी के माध्यम से अपने भावी प्राप्तव्य की प्राप्ति की आशा मूल कारण थे। डॉ० नामवर सिंह तब शोधकार्य करते हुए कक्षाएँ भी लेते थे। डॉ० बच्चन सिंह जी कमच्छा स्थित सेंट्रल हिन्दू कालेज में हिन्दी अध्यापक के साथ-साथ शोधकार्य में रत थे। श्री शिवप्रसाद सिंह, श्री रमेशकुन्तल मेघ आदि अत्यंत

भविष्णु शोध छात्रों में अग्रणी थे। दक्षिण के श्री हिरण्यमय और श्री कोतमिरे आदि भी शोध कार्य कर रहे थे।

बी० ए० कक्षा में ही आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा को छोड़कर शेष सभी अध्यापकों से किसी न किसी रूप में पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कविता और तृतीय प्रश्नपत्र आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पढ़ाते थे और प्रथम प्रश्न-पत्र कई लोग पढ़ाते थे किन्तु हम लोग घूम फिर कर श्री नामवर सिंह की कक्षा में एकत्र हो जाते थे। आचार्य मिश्र का अध्यापन अत्यंत व्यवस्थित, सुसम्बद्ध, शास्त्रनिष्ठ किन्तु अत्यंत मार्मिक, सुलझा और सुस्पष्ट होता था। नयों में श्री नामवर सिंह का अध्यापन अत्यंत सुलझा स्पष्ट, व्यवस्थित और सुसम्बद्ध होने के साथ-साथ प्रगतिवादी समीक्षादृष्टि के कारण एक नई दीप्ति पा जाता था।

एम० ए० कक्षा में जहाँ तक मुझे याद है आचार्य द्विवेदी प्राचीन काव्य (पृथ्वीराज-रासो, कीर्तिलता, संदेशराशक आदि), आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र मध्यकालीन काव्य और भारतीय साहित्य शास्त्र, डाक्टर जगन्नाथ प्रसाद शर्मा आधुनिक गद्य और पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र, आचार्य पद्मनारायण और आचार्य करुणापति त्रिपाठी भाषा-विज्ञान, डॉ० विजय शंकर मल्ल और डॉ० छैलविहारी लाल गुप्त 'राकेश' आधुनिक काव्य, डॉ० श्रीकृष्णलाल भक्तिकाव्य और हिन्दी साहित्य का इतिहास, श्री नामवर सिंह अपभ्रंश पढ़ाते थे।

जैसा कि पहले कह चुका हूँ आचार्य द्विवेदी की कतिपय पुस्तकें मैं इन्टर मीडियेट कक्षा के प्रथम वर्ष में साहित्यरत्न प्रथम वर्ष की परीक्षा देते समय पढ़ चुका था—विशेषतः कवीर और वाणभट्ट की आत्मकथा। मैं उसके पूर्व या साथ ही आचार्य नंददुलारे वाजपेयी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कई समीक्षा ग्रंथों को भी पढ़ चुका था। मुझे आचार्य द्विवेदी की समीक्षा एकदम नए प्रकार की लगी थी। उसमें समाहित मानवता वादी अंतर्दृष्टि और उपस्थापन की रचनात्मक त्वरा पूर्वोक्त आलोचकों की सौष्ठव वादी एवं शास्त्रवादी समीक्षा से अलग उनकी समीक्षा शैली को एक नया व्यक्तित्व प्रदान करती थी। इण्टर कक्षा में पढ़ते हुए ही, वाणभट्ट की आत्मकथा पढ़कर मैंने आचार्य द्विवेदी को एक भावुकतापूर्ण पत्र लिखा और उनसे अपने एक काव्य संग्रह पर सम्मति लेने के सिलसिले में समय माँगा। उन्होंने समय दिया और पहली बार मिलने पर भावुकता से बचने का परामर्श दिया तथा दूसरी बार मिलने पर मेरी कविता-पाण्डु लिपि की पहले से चिह्नित दो कवितांशों को पढ़ कर मुझे सुनाया और उन पर अपनी स्पष्ट टिप्पणी दी।

प्रथम उद्धरण :

असफलता के इस जीवन में कभी सफलता डोल सकेगी
जब से मैं आया इस भूपर संग संग आयी घोर निराशा
कभी न देखा सपने में भी अरे सफलता की परिभाषा

द्वितीय उद्धरण :

हमारे चरण को चरण से वरण कर सजनि तुम सतत पंथ पर मुस्कराओ

प्रथम उद्धरण के स्वर से वे खिन्न थे और दूसरे गीत के स्वर से अत्यन्त प्रसन्न। दूसरे प्रकार की कविताओं को लिखने की प्रेरणा उन्होंने दी और साहित्यकार का धर्म निश्चित करते हुए उसकी उपमा एक गाय से दी। जिस प्रकार एक गाय दुनिया भर की घास-पात चर कर हम सबको स्वास्थ्य वर्द्धक पोसक निर्मल दुग्ध देती है उसी प्रकार साहित्यकार को जीवन की सारी यातना झेलकर, कल्मष और विष पीकर समाज को उदात्त भावनाओं का साहित्य देना चाहिए। मैंने आचार्य प्रवर को प्रणाम किया और कुछ-कुछ निरुत्साहित अनुभव करता हुआ कविता संग्रह को न छपाने का निश्चय किया और प्रारम्भिक उत्साह के मन्द होने पर और सन '५० से '५४ के बीच नई कविता के नवीनतम काव्यान्दोलन से प्रभावित होने के कारण मैंने उस संग्रह की उपेक्षा की और बाद में वह कहीं खो भी गया।

इण्टर कक्षा में प्रथम श्रेणी और हिन्दी में विशेष योग्यता पाकर आचार्य द्विवेदी का मैंने पुनः दर्शन किया और उल्लासपूर्वक उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया और निरन्तर मिलते रहने को कहा। बी० ए० में यह संपर्क प्रगाढ़ न हो सका किन्तु एम० ए० में जिन छात्रों ने हिन्दी लिया था उनमें से जिन कुछ लोगों को आचार्य द्विवेदी से पूर्व परिचय का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उपर्युक्त घटनाओं के कारण उनमें से एक मैं भी था।

आचार्य द्विवेदी का आकाश धर्मा गुरुत्व असाधारण शालीनता और औदार्य के साथ सम्पूर्ण विभाग का संचालन करता था। डाक्टर श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आचार्य केशव प्रसाद मिश्र जैसे हिन्दी के निर्माता आचार्यों के पीठ पर आचार्य द्विवेदी के रूप में एक सर्वथा योग्य विद्वान आसीन हुआ था।

पृथ्वीराज रासो के अध्यापन के समय सांस रोककर जब वे वीर रस समन्वित अपभ्रंश मिश्रित पुरानी राजस्थानी को पढ़ते और उसे समाप्त करके स्वयं अट्टहास कर उठते थे वह उन्हीं जैसे गुरु का काम था।

भाषा और छन्द के वैचित्र्य से उत्पन्न पाठ वैचित्र्य पर अनुशासन के वैचित्र्य में बंधे हम लोग भी स्वयं तो नहीं ही हँसते छात्रों की हँसी को भी अनुशासनहीनता मानते हैं लेकिन आचार्य द्विवेदी खुलकर हँसते थे छात्र भी उसी हँसी के साथ हँस कर हल्के हो जाते थे, फिर केवल बात व्याख्या तक ही नहीं जाती थी बल्कि पाठ भेद, शब्द-व्युत्पत्ति, अर्थ-स्वारस्य अन्य समकालीन काव्यों के तुलनीय अंशों तक जाती थी। संदेशरासक के ऐसे ही विमर्शों को उन्होंने स्वसम्पादित संदेशरासक की भूमिका में विवेचित किया है। विद्यापति की कीर्तिलता के अध्यापन में भी पहले पाठ और फिर खुली हँसी अनन्तर संपूर्ण छन्द की पदावली को रूप और अर्थ की दृष्टि से पूरी तरह निर्णीत करने की छटपटाहट उनके अध्ययन को अद्वितीय गरिमा से मंडित कर देते थे। एम० ए० प्रथम वर्ष उत्तीर्ण कर लेने के उपरान्त गुरुदेव ने अपने तत्वावधान में मुझे दो प्रश्न पत्रों के स्थान पर शोध निबन्ध लिखने का आदेश दिया। विषय था 'हिन्दी मुक्तक काव्य के विकास में अपभ्रंश मुक्तक काव्य का योग' अपने एक प्रिय शिष्य से परामर्श लेने का आदेश उन्होंने दिया। उक्त विद्वान ने इस विषय पर शोध निबंध लिखा जाना असंभव होने की घोषणा की और इसे बालू में से

तेल निकालने जैसा कहा। मैंने सोचा गुरुदेव से उनकी चर्चा ही क्यों की जाय लेकिन उनके पूछने पर उनकी मुख्य बात कहनी ही पड़ी। गुरुदेव बहुत गंभीर हो गए और संक्षेप में दृढ़ता पूर्वक उन्होंने कहा 'हो सकता है, करो।' वहाँ बैठे आदरणीय भाई डॉ० शिव प्रसाद सिंह ने जिन्हें उसी समय डिग्री मिली थी मुझे बहुत प्रोत्साहित किया। बाद में वह शोध प्रबन्ध 'हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास' (आदिकाल से रीतिकाल तक) नाम से नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ। उपर्युक्त घटना या किसी भी घटना का व्यक्तिगत महत्त्व चाहे जितना हो किन्तु गुरुपद पर बैठकर अथवा विद्या साधना में संलग्न होकर अथवा किसी महान गुरु का विश्वास प्राप्त कर उसे इस प्रकार छला जाए और किसी के मनोबल को यों तोड़ा जाए यह अपने आप में अत्यंत चिन्तनीय बात है।

डॉ० जगन्नाथ प्रसाद जी शर्मा गद्य की विभिन्न विधाओं और शैली शिल्प के उस समय अकेले विद्वान थे और अध्यापन की उनकी अपनी व्यक्तित्व संपन्न शैली थी। वे तब भी और आज भी पहनते तो खादी की धोती-कुरता, सफेद कोट और टोपी ही थे लेकिन मस्तक पर लगा हुआ चन्दन, अंगुलियों में चमकती अंगूठियाँ और उनका अपना वाणी-विन्यास और सबके ऊपर उनकी वेफिक्र मस्ती उन्हें काशी का प्रतिनिधित्व देते थे। पूज्य शर्मा जी का भी मुझे अशेष स्नेह प्राप्त हुआ। जीवन में मैंने कुछ लड़कपन किया था। बी० ए० में अनिवार्य हिन्दी के पाठ्यक्रम में गबन था। पढ़ते समय उस पर मैंने सुविस्तृत समीक्षा गुरुदेव डा० विजय शंकर मल्ल की देख-रेख में लिख गया, प्रकाशन की व्यवस्था भी उन्होंने कर दी और डॉ० श्री कृष्ण लाल जी ने कृपा पूर्वक विस्तृत भूमिका भी लिख दी। उसी समय यह लड़कपन प्रोत्साहन पाकर बढ़ा और एम० ए० प्रथम वर्ष में ही मैंने गोदान पर भी सुविस्तृत समीक्षा लिख डाली जो उसी वर्ष प्रकाशित भी हो गई जब मैं एम० ए० भाग २ में प्रविष्ट हुआ और गोदान हमारे पाठ्यक्रम में आया तो छात्राओं के गोदान पर सहायक पुस्तक का नाम पूछने पर उन्होंने मेरी ओर इशारा करते हुए उक्त पुस्तक का उल्लेख किया। यह मेरे लिए अत्यंत संकोच कर था किन्तु उनके मेरे प्रति अमित स्नेह का परिचायक तो था ही।

प्रो० पद्मनारायण जी आचार्य प्रसाद साहित्य के मर्मज्ञ थे और संतसाहित्य, भाषा-विज्ञान तथा संस्कृत साहित्य के मार्मिक व्याख्याता थे किन्तु उनके अध्यापन का रूप गुरुकुलों जैसा था। वे पढ़ाते समय घंटे की अवधि-परिधि से अतीत हो जाते थे और वर्तमान शिक्षण पद्धति से उनका असामंजस्य स्पष्ट हो जाता था। उनके आशीर्वाद और स्नेह के भी अनेक संस्मरण हैं किन्तु उन्हें दुहराना स्थान संकोच से संभव नहीं है। डॉ० श्री कृष्णलाल अत्यंत ममतालु, सरल, मेधावी और दृष्टि सम्पन्न विद्वान थे। प्रत्येक छात्र के लिए अपनी सीमाओं के भीतर उनसे जो कुछ भी संभव होता था करते थे। निन्दा जबकि उस समय हिन्दी विभाग की हवा में बसी हुई थी—डॉ० श्री कृष्णलाल को कभी करते हुए नहीं सुना गया। मेरे अभावों और कुशल क्षेम के लिए वे बराबर चिन्तित रहते थे। डॉ० विजय शंकर जी मल्ल का घर मेरा अपना घर हो गया था। मेरी पुस्तकों के प्रकाशन तथा मेरे लेखन को नाना प्रकार से प्रोत्साहित करके उन्होंने मेरी आर्थिक समस्या तो हल की ही मेरे लेखकीय

जीवन की आधारशिला भी रखी। उनके पूरे परिवार का स्नेह कभी भी भुलाने की बात नहीं है। डॉ० श्री कृष्णलाल जी और श्रद्धेयमल्ल जी की कृपा से मैं विभाग के समस्त कूटचक्रों को पार पाने में सफल होता रहा।

जो सबसे आश्चर्य की बात थी वह यह कि उस समय उस वैच में जितने निर्धन छात्र प्रथम श्रेणी में आए वे सभी मुझे छोड़कर अपने अपने क्षेत्रों के विशिष्ट-विशिष्ट विद्वान हैं। नाम लेना ही पर्याप्ति होगा डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ० श्यामसुन्दर शुक्ल डॉ० केदारनाथ सिंह तथा डॉ० विश्वनाथ जी त्रिपाठी। अन्य छात्रमित्रों में पं० शालिग्राम उपाध्याय डा० चण्डी प्रसाद जोशी, आदि भी उसी वैच के थे। भाई डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव संभवतः उस साल परीक्षा में न बैठकर दूसरे वर्ष प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण हुए।

साधन हीनता उन लोगों के लिए बरदान स्वरूप होती है जो अपनी संभावनाओं के प्रति सचेत, संकल्प के प्रति समर्पित और अदम्य इच्छा शक्ति से युक्त होते हैं। अभिशाप उन लोगों के लिए हो जाती है जिनका संकल्प दुर्बल होता है और इच्छा शक्ति की उद्दीप्ति कम होती है। यह साधन हीनता बहुत भटकाती है और इस भटकने के क्रम में अनेक टूट जाते हैं और कुछेक रास्ता भी पा जाते हैं। एक और लाभ भी होता है कि इस सिलसिले में मनुष्यों में छिपे देवता से भेंट हो जाती है और कईवार मन को ठेस पहुँचाने वाली निराशा भी मिलती है।

पिता के बचपन में ही दिवंगत हो जाने के कारण, घर की आय का स्रोत नितांत सीमित होने के कारण मेरे सामने आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्वी होने की प्रमुख समस्या थी। मेरी व्यक्तिगत आर्थिक चिन्ताओं से मुझे मुक्त करने का ध्यान मेरे विभागाध्यक्ष गुरुदेव आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, गुरुवर डा० श्री कृष्णलाल जी और मेरी हर समस्या के प्रति गहराई में संसक्त गुरुवर डां० विजय शंकर मल्ल जी को बराबर रहा। किन्तु बी० ए० कक्षाओं में जब मेरा संपर्क इन सब में से किसी से नहीं था तब मुझे सब प्रकार का साहाय्य तत्कालीन प्रो० वाइसचांसलर प्रातः स्मरणीय पूज्य गुरुदेव नार्लीकर साहब से मिलता रहा। इन्टरमीडिएट परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करने और पूर्व कक्षाओं में पूर्ण शुल्कमुक्ति प्राप्त करने के कारण बिना किसी प्रयास के पूर्ण शुल्क मुक्ति प्राप्त हो गई। अन्य शुल्कों से भी उनकी कृपा से मुक्ति होती रही। अनेक अवसरों पर आर्थिक अनुदान भी उन्होंने दिलवाये। उनसे संपर्क के प्रारम्भ के नाटकीय क्षण का स्मरण आज भी मन को उनके प्रति पूजा भाव से भर देता है। बाढ़ प्रभावित छात्रों को प्रथम वर्ष में परीक्षा-शुल्क से मुक्ति मिल रही थी। मीयादी बुखार से पीड़ित होने के कारण मैं समय से एक दो दिन बाद विलम्ब का कारण दिखाते हुए अपना आवेदन पत्र देने सेंट्रल हिन्दू कालेज के तत्कालीन प्राचार्य डा० राम शंकर त्रिपाठी की सेवा में गया। उन्होंने आवेदन पत्र लेने से इनकार किया। उनके व्यवहार से मुझे ठेस पहुँची और मैं किसी शुभचिन्तक के परामर्श से सीधे प्रो वाइस चांसलर प्रो० नार्लीकर के कार्यालय में पहुँचा। उन्होंने मुझे ध्यान से देखा और तत्काल मेरी बीमारी का पूरा विवरण लेकर उन्होंने मेरी रुग्णोत्तर हालत की जानकारी की और जरूरी हिदायतें भी दीं। जब उन्हें पता चला कि मैं पिछले दो वर्षों से लगातार टायफायड से

पीड़ित होता रहा हूँ तो वे बहुत दुखी हुए। उन्होंने असीम मानवता का परिचय दिया। उन्होंने न केवल मुझे परीक्षा-शुल्क से मुक्त किया वरन मेरी प्रगति और समस्या बहुल छात्र-जीवन के प्रत्येक चरण के प्रति वे अपनी रुचि दिखलाते रहे। गुरुत्व का यह मेरा प्रथम साक्षात्कार था। जो बीमारी की सूचना दे उससे पहला प्रश्न यही होना चाहिए कि उसे क्या बीमारी थी और अब उसकी क्या दशा है। जो छात्र दुखी है उसे पहली आवश्यकता सहानुभूति की है। पूज्य नार्लीकर साहब ने मुझे एक दिशा दे दी। मुझे ऐसा लगता है कि अध्यापक का स्थान अन्य नौकरी पेशा कर्मचारियों की तरह नहीं है कि नौकरी की और नौकरी सम्बन्धी चिन्ता से मुक्त हुए। अध्यापक की चिन्ता पिता की चिन्ता के समानान्तर चलती है। उसे अपने शिष्यों के प्रत्येक अभाव से जूझने के लिए स्वयं आगे आना होता है और शिक्षा-समाप्ति के बाद वह यदि शिष्य की आजीविका का प्रबन्ध स्वयं कर सके तो ठीक अन्यथा शिष्य के मिलने पर उसका पहला प्रश्न यही होता है कि "भाई कहाँ हो ?" नौकरी मिलने की बात जानकर गुरु को हार्दिक प्रसन्नता होती है। जो वस्तुतः गुरु है उसका रोम-रोम शिष्य की मंगल चिन्ताओं से ही भरा होता है।

उपर्युक्त संस्मरण मेरे चार-पाँच साल के छात्र-जीवन के हैं। इन संस्मरणों को अध्यापक के परिपेक्ष्य से देखा गया है। निश्चय ही मेरे अध्यापक के निर्माण में मेरे गुरुजनों का हाथ है और आज भी मेरी दृष्टि यही रहती है कि छात्रों की जो टोलियाँ हमारी कक्षाओं से निकल रही हैं उनके छात्र न केवल उत्तम परीक्षा-परिणाम प्राप्त करें बल्कि एक महान लोकतांत्रिक देश के अनुरूप मत-स्वातंत्र्य के पक्षधर, पर दुःखकातर और अपनी सीमा में दुर्बलों के सहायक बनें। मनुष्यता उनका धर्म बने मनुष्य उनका उपास्य और सत्ता यदि मनुष्यता से उपेत हो तो वह निश्चय ही स्वीकार्य हो और यदि वह दमन के मार्ग से क्रियमाण हो तो निश्चय ही अस्वीकार्य।

रीडर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग
स्नातकोत्तर महाविद्यालय
गाजीपुर

महामना का वह पावन सान्निध्य

शंकरलाल सिंघल

लोगों के मुख से सुना करता था कि भाग्य बलवान होता है पर मेरी आस्था कर्तव्य के पक्ष में ही थी। मैं सदा कर्म को प्रमुखता देता रहा। विश्वविद्यालय गोशाला के स्वावलम्बन का जो काम मुझे सौंपा गया था उसे दो वर्षों में पूरा कर देने के पश्चात् मैं यहाँ से कार्य छोड़कर बाहर चले जाने की सोचा करता था। किञ्चित परिस्थितियों के कारण मन उद्विग्न रहा करता था। एक दिन अप्रत्याशित रूप से मालवीय जी महाराज ने मुझे बुला भेजा। इसके पूर्व कुछ क्षणों के लिए ही मुझे उनके दर्शन का एक बार सौभाग्य प्राप्त हुआ था जिसमें गौओं की मन लगाकर सेवा करने का आदेश दिया था। मेरे आने की जैसे ही उन्हें सूचना मिली उन्होंने मुझे तुरन्त अपने पास बुला लिया। सहज भाव से गौवों का हालचाल पूछनें के पश्चात् मेरे सामने मेरे गोशाला में कार्य करने की चार शिकायतें रख दीं। मैंने विनम्रता से निवेदन किया कि इसमें एक सच है और तीन बेबुनियाद हैं। जो सच थी उसका विवरण ज्ञात कर उसे अधीक्षक की आज्ञा से सम्पन्न जानकर महामना अत्यधिक प्रसन्न हुए और बोले यदि जीवन में इसी प्रकार सच्चाई से काम करते रहे तो तुम्हारा कोई भी बाल बांका नहीं कर सकता। साथ ही उन्होंने आदेश दिया कि मैं सप्ताह में एक बार अपनी कठियाइयों सहित उनसे मिल लिया करूँ। महामना की इस उदार कृपा से मैं हर्षातिरेक से आनन्द विभोर हो उठा। मैने सुन रखा था कि महामना का दर्शन घन्टों की प्रतीक्षा के पश्चात् कठिनाई से हो पाता है। यहां तत्काल दर्शन का पुण्य लाभ तो मिला ही साथ ही भविष्य में, प्रति सप्ताह दर्शन अवश्यम्भावी हो गया। मैंने मन में जो काशी छोड़ने का विचार बनाया था वह इस प्रेम प्रवाह में जाने कहाँ उड़ गया। मेरे समक्ष महामना का तेजोदीप्त मधुरस्वरुप प्रतिपल प्रेरणा प्रदान करने लगा। मैं अपने सौभाग्य पर फूला न समाया। अब मुझे कर्म के साथ ही भाग्य की बात समझ में आ गयी।

मैं अक्सर गोशाला के काम से अवकाश पाकर संध्या को मालवीय जी के पास पहुंच जाता। मुझे हिन्दी-अंग्रेजी दैनिक पढ़कर सुनाने का भी अवसर मिल जाता। महामना को मानव अन्तः की संवेदना का अपार बोध था। वे अन्तर मे छिपी वेदना को भी पढ़ लेते थे। एक दिन मेरे साथ ऐसा ही हुआ। मैं क्रमशः उस विभूति के निकट होता गया। कुछ बाह्य परिस्थितियों के कारण मुझे मानसिक चिन्ता हो गई थी। मैंने उनसे कुछ नही कहा फिर भी वे समझ गए। उन्होंने पूछा क्या आज कोई घटना हुई है? तुम वहुत चिन्तित दिखाई दे रहे हो। मेरे बहुत इन्कार करने पर भी उनका संवेदनशील कोमल अन्तः द्रवित हुए विना नहीं रह सका। मुझे पिता के समान समझाते हुए कहा— वहुत दुखी हो, बैठ जाओ। फिर पूछा तुम्हे रात में मच्छर काटते हैं या नहीं? मैं नहीं समझ सका कि मच्छरों के काटने न काटने से कैसे दुखी व सुखी हो सकता हूं। उनके पुनः पूछने पर कहा—जी महाराज, मच्छर तो काटते हैं। फिर क्या मच्छरों के काटने

पर रात में सोना छोड़ देते हो ? मैंने कहा जी नहीं, गहरी नींद आ जाने पर तो कुछ नहीं पता चलता। महाराज ने कहा वैसे ही कठिनाई व दुःख बरसाती मच्छरों के समान होते हैं। शीत काल में सिकुड़ जाते हैं और लू चलने पर मर जाते हैं। धैर्य और शान्ति रखो सब ठीक हो जाएगा। अपनी ओर इंगित कर कहा मुझे देखते हो मैं कितना बर्दाश्त करता हूँ। उन दिनो त्रिलोचन पन्त वाली नियुक्ति की घटना घटी थी। पन्त जी को चाहते हुए भी वे कौन्सिल से नियुक्त न करा सके थे। महामना के श्रीमुख से वह उपदेश सुनकर मुझे रोमांच हो आया। मैं अपलक नेत्रों से उस विभूति की ओर देख रहा था उस धैर्य, शान्ति और उत्साह के मूर्त रुप को निहार रहा था। प्रतिकूल परिस्थिति में भी उनके अडिग आत्मविश्वास और मृदु स्वभाव की तरलता में आकंठ निमग्न हो गया था। मैं अनुभव करने लगा कि यदि ईश्वर कहीं है तो वह पृथ्वी पर ही मालवीय जी महाराज के रूप में विद्यमान है। यह दिव्यानुभूति मुझे निरन्तर होती रही। उनमें ऐसा विलक्षण आकर्षण था कि एक बार जिसे भी उस मनीषी के सानिध्य में आने का अवसर मिला वही उनका होकर रह गया। मानवीय गुणों के वे पुंजिभूत समुच्चय थे। अपने जैसे अनेक लोगों को मैंने महामना के मानवीय गुणों पर रीझते और आर्कषित होते देखा-सुना है। वे विश्व मानवता के परम पुजारी, मानव सृष्टि के अनमोल नक्षत्र, राष्ट्र के पथ प्रदर्शक और विश्वविद्यालय की आत्मा थे।

महामना का द्वार एक भंगी से लेकर उच्च पदस्थ कर्मचारी के लिए समान रूप से प्रतिक्षण खुला था। वे सहज सुलभ, नन्दन कानन के कल्पवृक्ष थे जहाँ से कोई ऐसा अभागा न होगा जो सफल मनोरथ होकर न लौटा हो। देश की पीड़ा हो या व्यक्ति विशिष्ट का कष्ट वे उससे विचलित हो उठते थे और प्राण-प्रण से उसके निवारण का प्रयत्न करते थे। स्वस्थ हों या अस्वस्थ, कैसे भी कार्य में लगें हो यदि उन्हें बाहर किसी की परछाई भी दिखाई दे जाती, अथवा किसी बाहरी व्यक्ति का शब्द कानो में पड़ जाता तो तुरन्त अपने पास बैठे हुए व्यक्ति से कहते, देखो बाहर कोई मालूम पड़ता है, उसे अन्दर बुला लो, मुझसे मिलने की लालसा में आया होगा, कहीं निराश होकर न चला जाय। ऐसी थी उनकी सरलता।

महामना को धर्मावतार भी कहा जा सकता हैं। वे हिन्दी, हिन्दू हिस्दुस्तान के पोषक थे पर अन्य सभी धर्मों के प्रति सदय एवं उदार। उनके यहाँ अछत शब्द की मान्यता न थी। हरिजन उद्धार के लिए उनके द्वारा किए गए कार्य इतिहास की अमूल्य निधि हैं वरना यह हिन्दू धर्म जाने कहां विश्रृंखलित हो जाता। मुझे स्मरण है, एक विद्यार्थी प्रायः उनके यहां आकर सोफे पर बैठकर उनसे वातें किया करता था। एक दिन मैंने उसे अछूतों के बारे में बातें करते सुना तो यह ज्ञात हुआ कि यह भी अछूत है। उसके साथ मालवीय जी उसी प्रेम भरी आत्मीयता से व्यवहार करते थे जितना अन्य किसी ब्राह्मण या विशिष्ट जन से।

एक दिन एक व्यक्ति डा० भगवान दास का पत्र लेकर आया। उस पत्र में डा० भगवान दास ने पत्रवाहक (जो मालिश करने में विशेषज्ञ था) का परिचय दिया था और लिखा था कि वह व्यक्ति मालिश द्वारा विद्युत की लहरें उत्पन्न कर देता है, जो रक्त

संचालन में उत्तेजना पैदा करने म सहायक होती हैं साथ ही साथ सिफारिश की थी कि मालवीय जी महाराज स्वयं परीक्षा लेने के पश्चात् उस व्यक्ति को अपनी सेवा में रख लें। जिस समय वह पत्र पढ़ा गया मालवीय जी महाराज का निजी सेवक (मूड़ी) जो उनकी मालिश करता था, उनके पास खड़ा था। मालवीय जी महाराज ने मालिश कराने के लिए मूड़ी (सेवक) से आसन बिछाने को कहा और आये हुए व्यक्ति से मालिश कराने लगे। मूड़ी पास में पैरों की तरफ बैठा था। यह समझ कर कि अब उसे सेवा निवृत कर दिया जायगा वह मुह लटकाये बैठा था। मालवीय जी महाराज ने आये हुए व्यक्ति से मालिश करायी और उसके मालिश करने की बहुत प्रशंसा की। फिर उसे बाहर बैठने के लिए कहा और अपने सेक्रेटरी को बुलाकर डा० भगवानदास को पत्र लिखाया, जिसमें पत्रवाहक के मालिस करने की विशेषता की प्रशंसा करते हुए यह प्रमाणित किया कि सचमुच वह मालिश द्वारा विद्युत् की लहरें पैदा कर देता है। अन्त में उस व्यक्ति को अपनी सेवा में रखने की लाचारी का कारण यह बतलाया कि उनका शरीर उस व्यक्ति द्वारा पैदा की गयी विद्युत की लहरों को सहन करने में असमर्थ है। पत्र मूड़ी से मालिश कराते हुए लिखा गया था। मूड़ी का मुख खिल उठा। हम सब उनकी 'निज सेवक' के प्रति इस ममता पर विस्मित हो उठे। मानव अन्तः की ऐसी उदारता प्रायः दुर्लभ है।

एक बार एक निरीह व्यक्ति अपने प्रार्थना पत्र पर महामना की संस्तुति लिखाने आया। उसका विश्वास था कि इससे उसका कार्य अवश्य हो जायगा। महामना ने प्रार्थना-पत्र पर ऊपर के हिस्से में सिफारिश लिखकर हस्ताक्षर बना दिया। उस व्यक्ति को किसी कारणवश वहां सफलता नहीं मिली। उसने सिफारिश किए हुए हिस्से को प्रार्थनापत्र से काटकर दूसरे प्रार्थनापत्र पर चिपकाकर भिनगा की रानी साहिबा के पास भेजा। जिस पद के लिए यह प्रार्थनापत्र लिखा गया था वह व्यक्ति उसके उपयुक्त नहीं था। रानी साहिबा ने मालवीय जी महाराज को एक पत्र लिखकर पूछा कि क्या उन्होंने उस व्यक्ति को इस पद के लिए उचित समझकर सिफारिश की है। पत्र के साथ प्रार्थना पत्र भी जुड़ा हुआ था। महाराज ने उस व्यक्ति को बुलाया और प्रार्थनापत्र दिखाकर उससे पूछा कि क्या मैंने इस पद के लिए सिफारिश की थी? उसने नकारात्मक उत्तर दिया। महामना ने पहले प्रार्थनापत्र से सिफारिश काटकर दूसरे प्रार्थना पत्र पर चिपकाने का कारण पूछा। उसने उत्तर दिया कि वह एक अत्यन्त गरीब ब्राह्मण है, बहुत समय से भूखा मर रहा है, कहीं भी कोई नौकरी नहीं मिल रही है, लाचार होकर और यह समझ कर कि महाराज जी की सिफारिश से कहीं न कहीं तो सफलता मिलेगी ही। उसने ऐसा कार्य किया है। मालवीय जी महाराज उसकी दरिद्रता पर द्रवित हो उठे पर उसके कृत्य से दुखी भी कम नहीं हुए थे। फिर भी उन्होंने शिवधनी सिंह (सेक्रेटरी) को बुलाया और उसको पांच रुपये दिलाते हुए कहा कि जाओ आगे ऐसा मत करना। दण्ड देने की जगह इनाम देने की उनकी अपनी ही रीति थी।

भारत में अंग्रेजी राज्य के समय डेयरी की पढ़ाई का मुख्य उद्देश्य मिलेट्री के डेयरी फार्म में कार्यकर्ताओं की पूर्ति करना था। इस उद्देश्य को देखते हुए डेयरी की पढ़ाई का ढंग फौजी तरीके का था। डेयरी के विद्यार्थियों को फौजी अफसरों की भांति प्रशिक्षण

दिया जाता था। मेरा स्वभाव भी इसी तरह का हो गया था। एक दिन मैं मालवीय जी महाराज के पास बैठा था। उनका निजी सेवक बाहर चला आया था। मावलीय जी महाराज ने उसे दो-तीन बार पुकारा। वह नहीं सुन पाया। मुझे बाहर जाकर पुकारने के लिए कहा। मैंने एक आवाज दी, सेवक नहीं बोला। दूसरी बार जोर से पुकारा इस पर भी वह नहीं बोला। मैंने अपन स्वभाव के कारण सेवक को जोर से चिल्लाकर पुकारा। इस पर मालवीय जी महाराज ने मुझे वापस बुलाया और कहा तुमको क्या हो गया है, क्या किसी को बुलाने का यही तरीका है? यदि मूड़ी (मालवीय जी महाराज का सेवक) नौकर है तो भी क्या नौकर को पुकारने का यही ढंग है? फिर थोड़ी देर वाद बोले—शब्व ऐसे और इस प्रकार से बोलना चाहिए जिससे किसी को भी यह प्रतीत न हो कि उसका अनादर किया जा रहा है या उसे तुच्छ समझा जा रहा है। मालवीय जी महाराज छोटे से छोटे व्यक्ति का भी आदर करते थे।

रविवार का दिन था उन दिनो मालवीय जी महाराज गो पालन तथा डेयरी फार्म पर कुछ लेख लिखाया करते थे। उस दिन लिखाते-लिखाते दोपहर के १२ बज गए। गर्मियों के दिन थे, जब मैं घर आने लगा तो उन्होंने पूछा कि छाता साथ में है या नहीं, धूप बहुत तेज है। यह जानकर कि मेर पास छाता नहीं है, अपने यहां से छाता दिलाया। वे दूसरों की सुख सुविधा का बहुत ध्यान रखते थे। वे सच्चे अर्थों में कुलपति थे। सम्पूर्ण विश्व-विद्यालय ही उनका घर और उसका प्रत्येक प्राणी उनका आत्मीय था।

वैसे तो महामना का सम्पूर्ण जीवन ही प्रेरणा और आदर्श का प्रतीक है। मैंने अपने किञ्चित् अनुभूत सत्यों के उद्घाटन का बाल प्रयास किया है। यहां एक और प्रेरक प्रसंग उद्धृत कर उस युगपुरुष के चरणों में अपनी असीम श्रद्धांजलि निवेदित करना चाहता हूँ। मैं छुट्टी लेकर पोस्ट ग्रेजुएट की पढ़ाई के लिए बाहर जाने वाला था। मेरे आग्रह पर मालवीय जी महाराज ने अपने सेक्रेटरी को बुलाकर मेरे लिए एक छोटा सा प्रमाणपत्र लिखवाया और मुझे बैठाकर समझाते हुए कहा—जिसे यथावत देने का प्रयास कर रहा हूं:

1. Make a diary of dairy husbandry.
2. Read good books on agriculture on dairy.
   (a) Noting down passages.
   (b) Noting down page of the book.
   (c) Noting down Name of the writer, and year.
3. Be like a student and not officer.
4. Study problems on.
   (a) Manure.
   (b) fodder.
   (c) Disease.
   (d) Weaning system.

5. Discuss and fight against preaching of distruction of old and poor cows.
6. Pay special attentions to improve your English.
7. The note should be made clean and neat so that others can also consult them.
8. Make List of agriculture (Dairy) Book.
9. Consult literature of agriculture in tropical countries.

हिन्दी के अनन्य प्रेमी होते हुए भी महामना ने मुझे अंग्रेजी सुधारने के लिए प्रेरित किया। वैसे मेरी हिन्दी भी उतनी ही कमजोर थी जितनी कि अंग्रेजी। परन्तु महामना ने यह समझकर कि पशुपालन और खेती के विषय की अच्छी पुस्तकें अंग्रेजी में ही मिलती हैं। मुझे उत्साहित किया। वैसे भी वे दूसरी भाषाओं का बहुत आदर करते थे। ज्ञानार्जन के लिए विविध भाषाओं के ज्ञान के महत्व को वे भली प्रकार स्वीकार करते थे। भाषा विषयक उनका दृष्टिकोण बहुत ही उदार था।

वरिष्ठ अधीक्षक, दुग्धशाला
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

'विनयसील करुना गुन सागर'

लक्ष्मीशंकर व्यास एम० ए०, आनर्स

सन् १९३० के लगभग की बात है महामना पूज्य पण्डित मदन मोहन मालवीय जी तथा महात्मा गांधी पटना के मंगल सरोवर की सार्वजनिक सभा में पधारे थे। उस समय मैं छठी कक्षा का विद्यार्थी था। महामना मालवीय जी तथा महात्मा गांधी के नेतृत्व में उन दिनों जो स्वाधीनता संग्राम चल रहा था, उससे हम छात्र भी प्रभावित हुए थे। छात्रों की टोली बनाकर नमक बनाना तथा सड़कों और गलियों में भारत माता की जय और वन्दे मातरम् का नारा लगाते हुए प्रातः सायं घूमना हमारा नित्य का क्रम बन गया था। अतः जब हमने सुना कि हमारे नगर में महामना मालवीय जी तथा महात्मा गांधी दोनों पधार रहे हैं तो हमारे हर्ष की सीमा न रही। हम मंगल सरोवर की सार्वजनिक सभा में पहुँचे और नेता द्वय का भाषण सुनकर अत्यन्त प्रभावित हुए। महामना तो सिर से पैर तक धवल वेश में थे। सिर पर सफेद रंग की पगड़ी, भव्य भाल पर श्वेत रंग का गोल टीका, गले में शुभ्र-धवल वस्त्र का अंग वस्त्रम् सफेद अचकन और सफेद चूड़ीदार पैजामा तथा पैरों में सफेद कपड़े का जूता। महात्मा गांधी घुटने तक खादी की धोती पहने, नंगे बदन थे। कमर में उनकी जेब घड़ी लटक रही थी। सतेज भव्य मुखमण्डल, आँखों पर चश्मा से युक्त सौम्य स्वरूप। इतने निकट से दोनों महा-पुरुषों के दर्शन का सौभाग्य, जीवन की महान् उपलब्धि थी। भाषण समाप्त होने के बाद महामना मालवीय जी पहले मोटर में जाकर बैठे। मैं भी उनके पीछे गया। जब महामना की मोटर आगे बढ़ी तो मैंने श्रद्धावनत होकर उन्हें प्रणाम किया। महामना ने दोनों हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया और मेरी ओर कुछ क्षण तक देखते रहे।

जब सन् १९३८–३९ में मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का छात्र बन कर आया तो मुझे पुनः महामना मालवीय जी के दर्शनों का सौभाग्य मिला। जब विश्वविद्यालय का रजत जयन्ती समारोह मनाया गया उस समय की अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ आज भी मेरी स्मृति में सजीव चलचित्र की भाँति अंकित हैं। एम्पीथियेटर के शामियाने में एक विशेष मण्डप बना था। उस मण्डप में रजत स्वर्ण खचित खम्भे लगे थे। महामना मालवीय जी भाषण कर रहे थे। उनकी वाणी में ऐसा जादू था कि हम सभी मन्त्र-मुग्ध होकर सुन रहे थे। जिस समय महामना मालवीय जी ने नेत्रों में आँसू भर कर मातृभमि की पराधीनता का हृदय द्रावक वर्णन किया हम सभी की आँखों में आँसू भर आये। भाषण अंग्रेजी में हो रहा था। हम नये-नये छात्र उसके प्रत्येक शब्द का अर्थ ठीक से समझ नहीं रहे थे किन्तु उसमें महामना की जो वेदना अभिव्यक्त हो रही थी वह भावना हमारे तन-मन सभी को रोमांचित कर रही थी।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रजत जयन्ती समारोह में महात्मा गांधी जी तथा पण्डित जवाहर लाल नेहरू भी पधारे थे। एम्फीथियेटर के विशाल पण्डाल में मण्डप सजा था। कार्यक्रम का आरम्भ गायनाचार्य श्री शिव प्रसाद जी के गायन से हुआ। उनका साथ दे रहे थे श्री मन्नू जी मृदंगाचार्य, जिनके मृदंग की छाप पूरे वातावरण में अभिनव मंगलमय वातावरण

की सृष्टि कर रही थी। समारोह में अपार भीड़ थी। व्यवस्था के बावजूद जन समुद्र उमड़ पड़ा था। सारी काशी नगरी ही मानों विश्वविद्यालय के प्रांगण में एकत्र हो गयी थी, अगाध भीड़ थी। अन्ततः युवक सम्राट पण्डित जवाहर लाल नेहरू से न रहा गया, वे मंच से सहसा कूद पड़े और मण्डप की अत्यधिक भीड़ को व्यवस्थित करने में जुट गये। उस दिन महामना मालवीय जी, महात्मा गांधी तथा पण्डित जवाहरलाल नेहरू के भाषण तथा दर्शन से सभी अभिभूत थे। विद्या नगरी काशी के इतिहास में यह दिन ऐतिहासिक रहा है जिसने देश को नयी दिशा, शक्ति और प्रेरणा दी।

मुझे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सन् १९४५ ई० तक नियमित रूप से अध्ययन-मनन का सौभाग्य मिला। इतिहास में एम०ए० करने के बाद मैंने प्राचीन इतिहास में अनुसंधान का भी अनेक वर्षों तक कार्य किया। सन् १९३९–४० से सन् १९४५ तक विश्वविद्यालय में जिन आचार्यों तथा विद्वान् गुरुजनों के दर्शन तथा आशीर्वाद प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे मिला है, वह भी अद्भुत तथा असाधारण ही है। उन दिनों ऋषि तुल्य आचार्य श्यामा चरण डे बाबा सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के प्राचार्य थे। उनकी मुख-मुद्रा पर विद्या और विनय की गरिमाके साक्षात् दर्शन होते थे। अपनी फिटन (घोड़ा-गाड़ी) पर सवार होकर, धोती, कुर्ता और अंगवस्त्रम धारण किये डे बाबा जिधर से निकल जाते, उधर ही एक नये वातावरण की सृष्टि हो जाती थी। मुझे स्मरण है कि एक बार वह अपने ऊपर वाले प्राचार्य के कमरे से सीढ़ी उतर कर नीचे के कमरों में स्थित संस्कृत विभाग के आचार्य पण्डित बटुकनाथ शर्मा से कुछ परामर्श करने स्वयं आ गये। आचार्य शर्मा जी ने कहा कि आपने क्यों कष्ट किया मुझे बुलवा लेते। इस पर डे बाबा मुसकुराने लगे और आवश्यक परामर्श कर ऊपर चले गये। विद्या और विनय की इस मूर्ति के मन में सम्भवतः यही बात सदा रहती थी कि विद्वानों का समुचित सम्मान होना चाहिए और उनके अध्यापन कार्य में प्रशासनिक व्यवसायों की बाधा उपस्थित नहीं की जानी चाहिए। डे बाबा वस्तुतः प्राचीन गुरुकुल के आचार्य एवं कुलगुरु के समान प्रतीत होते थे। सरलता तथा विनय के साथ ही वे वास्तव में त्यागमूर्ति थे। जीवन पर्यन्त विश्वविद्यालय की सेवा करते हुए उन्होंने इसे अपना सर्वस्व दान कर दिया था।

उन दिनों विश्वविद्यालय के कला, विज्ञान तथा प्राचीन विद्याओं के महाविद्यालयों में देश-विदेश की महान् प्रतिभाओं का अद्भुत संग्रह था। महामना मालवीय जी का ही यह प्रताप था कि देश के अपने-अपने विषय के महान् पण्डित तथा आचार्य विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों की शोभा वृद्धि कर रहे थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय काशी का ही नहीं, समग्र भारत का केन्द्रीय विश्वविद्यालय बन गया था। महामना ने अपने जीवन काल में ही विश्व प्रसिद्ध दार्शनिक डाक्टर राधाकृष्णन् को कुलपति पद पर प्रतिष्ठित किया। पण्डित इकबाल नारायन गुर्टू विश्वविद्यालय के उप-कुलपति बने। उन दिनों संस्कृत विभाग में आचार्य पण्डित बटुकनाथ शर्मा, पण्डित बलदेव उपाध्याय, पण्डित सीताराम जयराम जोशी, पण्डित वीरमणि उपाध्याय आदि विद्वानों का अपूर्व समागम था। आचार्य बटुकनाथ जी शर्मा की अध्यापन शैली अद्भुत थी। जब वे उत्तर रामचरित अथवा पण्डितराज जगन्नाथ की अन्योक्तियों को पढ़ाते तो सारा वातावरण ही करुण रस अथवा वीर रस से परिपूर्ण हो जाता था। श्लोकों को वे जिस ओजस्वी ढंग से प्रस्तुत करते थे, वैसी ही प्रभावशाली थी उनकी व्याख्या पद्धति।

वर्ण्य विषय का चित्र छात्रों के सपक्ष उपस्थित हो जाता था और सारा वातावरण ही झंकृत हो उठता था। आचार्य बलदेव उपाध्याय जी जब अभिज्ञान शाकुन्तलम के एक-एक श्लोकों की व्याख्या कर उसके सौन्दर्य एवं रस का परिचय बोध कराते तो हृदय आनन्द एवं रसानुभूति से उल्लसित एवं हर्षित हो जाता था।

इसी प्रकार विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग का नाम समस्त देश में विख्यात था। आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे। उनकी विद्वता तथा अध्यापन शैली से आकृष्ट होकर सारे देश से हिन्दी साहित्य का अध्ययन करने के लिए छात्र आते थे। कवि सम्राट श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', आचार्य पण्डित केशव प्रसाद जी मिश्र, डाक्टर जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पण्डित पद्मनारायण आचार्य हिन्दी विभाग को अलंकृत करते थे।

यह मेरा सौभाग्य रहा है कि मुझे रजत जयन्ती के बाद विश्वविद्यालय की स्वर्ण जयन्ती और इस वर्ष हीरक जयन्ती के विभिन्न शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक कार्यों में सम्मिलित होने का सौभाग्य मिला। इन सभी समारोहों की सुनहरी स्मृतियाँ मेरे अन्तरतम में आनन्द और उल्लास की रस धारा प्रवाहित कर रही हैं और मेरा मस्तक विश्व के इस महान विद्या-मंदिर के प्रति असीम श्रद्धा से नत हो उठा है।

वरिष्ठ सम्पादक, 'आज'
कबीरचौरा, वाराणसी।

'कीर्तिर्यस्य स जीवति'

वैद्य यदुनन्दन उपाध्याय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रातः स्मरणीय महामना पं० मदन मोहन मालवीय का अमर कीर्तिस्तम्भ है। उन्होंने न केवल विश्वविद्यालय के लिए अपितु समग्र भारतीय जनता, भारतीय संस्कृति, धर्म और राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर दिया था। अन्तिम दिनों में जब निश्चित प्राय हो गया था कि अब वे अपने पाञ्चभौतिक शरीर का त्याग करेंगे, तब उनके परिजनों ने यह आग्रह किया कि उन्हें काशी के केदार खण्ड में मोक्ष की प्राप्ति हेतु चलना चाहिए। तब महामना ने उत्तर दिया था 'मुझे मोक्ष नहीं चाहिए, अभी विश्वविद्यालय अधूरा है इसे पूर्ण करने और इसकी सेवा के लिए मुझे पुनर्जन्म लेना है।'

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत में अनेक देवकल्प महापुरुषों का आविर्भाव हुआ जिनमें लोकमान्य तिलक, महामना मालवीय जी एवं महात्मा गांधी जैसे युगपुरुष विशेष उल्लेखनीय हैं। उन विभूतियों के गुणों की चर्चा अपने स्व० पिता जी एवं वृद्धजनों से बराबर सुना करता था। मुझे महामना के साक्षात् दर्शन का सौभाग्य सन् १९३१ में राजर्षि बाबू पुरुषोत्तम दास टन्डन की अध्यक्षता में हो रहे उत्तर प्रदेशीय राजनैतिक सम्मेलन, मिर्जापुर में हुआ। पण्डाल में गरमागरम बहस चल रही थी। महामना जी के आते ही सर्वत्र शान्ति छा गयी और उपस्थित प्रतिनिधियों, दर्शकों और नेताओं ने खड़े होकर उनका अभिनन्दन किया। उनकी धवल आकृति, शुभ्र वेश भूषा एवं गौरव मंडित व्यक्तित्व ने सभी को मंत्रमुग्ध कर लिया। दर्शनोपरान्त महामना के प्रति मेरी श्रद्धा और भी दृढ़ हो गयी और उनके सतत दर्शन की प्रेरणा से अगले मास ही मैंने पिता जी एवं संबंधियों के विरोध के बावजूद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद महाविद्यालय में प्रवेश ले लिया। प्रवेश की तिथि से ही नियमपूर्वक जब भी महामना जी काशी में होते मैं दिन में एक बार अवश्य उनका दर्शन करता था। प्रारंभ में दूर से ही दर्शन कर लेता, कभी-कभी चरणस्पर्श का भी सौभाग्य प्राप्त हो जाता पर धीरे-धीरे उनके चरणों के समीप बैठकर सदुपदेश प्राप्त करने का भी अधिकारी हो गया। महामना का गुरुमन्त्र था—

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया।
देशभक्त्याऽत्मत्यागेन सम्मानार्हः सदाभव॥

महामनाजी 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे' वाले वर्ग के नहीं थे अपितु स्वयं आचरण द्वारा दूसरों को अनुसरण करने के लिए उदाहरण प्रस्तुत करते थे। देशभक्ति और आत्मत्याग के द्वारा सम्मान अर्जन करना उनके जीवन का चरम लक्ष्य रहा है।

महामना जी निर्धन ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के कारण गरीबी के अभिशाप एवं गरीबों की अभिलाषाओं और इसके समाधान से भली प्रकार अवगत थे। सत्य, ब्रह्मचर्य, व्यायाम और विद्या के अर्जन के साथ वे देशभक्ति और आत्मत्याग को सम्मान का साधन मानते थे। उनके दरबार में गरीब से गरीब का सहज प्रवेश संभव था, प्राणिमात्र की व्यथाओं की तीव्र अनुभूति उन्हें होती तथा वे उसके उपचार का उपाय सोचा करते। अन्य मनीषियों की भांति महामना

का भी पराधीनता को दूर कर स्वाधीनता प्राप्त करना परम लक्ष्य रहा है। किन्तु पराधीनता का कारण अविद्या एवं चरित्रहीनता है ऐसा उनका अभिमत था। अतः न केवल स्वाधीनता प्राप्ति बल्कि उसके प्राप्त होने पर उसकी रक्षा के लिए अविद्या एवं चरित्र हीनता के विनाश को वे आवश्यक मानते थे। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की योजना वनायी। स्वतंत्रता प्राप्ति के वाद देश की सुरक्षा के लिए योग्य एवं कुशल प्रशासक, अभियन्ता, चिकित्सक आदि के साथ, स्वस्थ एवं पुष्ट सैनिकों की भी आवश्यकता का वे अनुभव करते थे। विद्वान् एवं योग्य होते हुए भी चरित्र हीन व्यक्ति देशभक्ति की भावना से रहित होते हैं अतः वे चरित्र निर्माण के लिए सत्य और ब्रह्मचर्य की शिक्षा आवश्यक समझते थे। अस्तु इस विश्वविद्यालय में इन सभी विषयों के समावेश का उन्होंने प्रयास किया।

लोकमान्य तिलक ने स्पष्ट कहा था 'हमें ऐसी स्वतंत्रता चाहिए जिसमें भारतीयों का भारतीयत्व बना रहे। भारतीयता को विनष्ट कर प्राप्त स्वतंत्रता पराधीनता से भी अधिक कष्टदायक होगी। महामना जी तो मन, वचन और कर्म से भारतीयता के अवतार थे और आजन्म उसकी रक्षा और प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्न शील रहे। इसीलिए इस विश्वविद्यालय में प्राच्य विद्या विभाग को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। प्राचीन भारतीय संस्कृति और ज्ञान विज्ञान संस्कृत भाषा में सुरक्षित है अतः विश्वविद्यालय में अन्य विषयों के स्नातकों के लिए भी संस्कृत ज्ञान आवश्यक समझकर 'संस्कृत प्रवेशिका' परीक्षा में उत्तीर्ण होना अनिवार्य रखा गया था। खेद है कि उनके उत्तराधिकारियों ने उसे समाप्त कर दिया है। चरित्र निर्माण के लिए समय-समय पर कथाओं का आयोजन होता था। प्रति रविवार को गीता का उपदेश होता था। इन अवसरों पर महामना जी स्वयं उपस्थित होते और स्वयं भी कथा या गीता का उपदेश करते थे। पर्याप्त संख्या में विश्वविद्यालय के अधिकारी, अध्यापक, छात्र और कर्मचारी इसमें भाग लेते थे। समय-समय पर परीक्षाओं एवं प्रतियोगिताओं का आयोजन होता था। योग्य एवं सफल प्रतिभाशाली छात्रों को पुरस्कृत कर प्रोत्साहित किया जाता था। इनमें से कुछ कार्यक्रम आज भी होते हैं पर 'परोपदेशपाण्डित्यम्' के कारण आज यह सब व्यर्थ से प्रतीत होते हैं आज कोई इनका आचरण नहीं प्रस्तुत करता है।

महामना जी की हिन्दू धर्म एवं संस्कृति में परम आस्था थी, नित्य नियमित संध्योपासन और श्रीमद्भागवत का पाठ करते थे। नारायण कवच और गजेन्द्र मोक्ष प्रकरण में उन्हें पूर्ण विश्वास था। वे विपत्ति के समय स्वयं इनका पाठ करते या सुनते थे तथा दूसरों को भी उपदेश करते थे। स्वतंत्रता संग्राम में यात्रा से लेकर राउन्ड टेबुल कान्फरेन्स में लंदन तथा यूरोप के अन्य देशों की यात्रा पर्यन्त उनके वही नियम चलते रहे। रसोई के लिए, पीने और पूजन के लिए गंगाजल का ही प्रयोग करते थे। महामना में आडम्बर और कट्टरता नहीं थी। रेल यात्रा में भी समय पर रेल के डब्बे में ही संध्योपासन कर लेते थे। अछूतों को 'ॐ नमः शिवाय' आदि मन्त्रों की दीक्षा उन्होंने सार्वजनिक रूप से दी जिसका कट्टरपंथियों ने बड़ा विरोध भी किया था। अछूतोद्धार प्रसंग में महात्मा गांधी जी जब काशी आये और सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल के मैदान में महामना जी की अध्यक्षता में सभा हुई तो कुछ कट्टरपंथियों ने गांधी जी के भाषण में बाधा पहुँचाना प्रारम्भ किया। उस समय महामना

जी ने बड़े ही मार्मिक स्वर में भाषण कर सबको निरुत्तर कर दिया और बाद में महात्मा जी का भी भाषण सबने शान्ति से सुना और ५० हजार रुपये उसी सभा में चन्दे के रूप में अछूतोद्धार कोष के लिए एकत्र हो गए। महामना मर्यादा पालन में अत्यन्त तत्पर रहते थे। उनके पास आए किसी भी व्यक्ति को समुचित सत्कार मिलता था। लंगोटी लगाकर तेल मालिश कराते हुए भी वे छात्रों से मिल लेते थे, किन्तु बाहर बैठक में पूरी पोशाक के बिना कभी नहीं आते थे। विश्वविद्यालय के प्राणी मात्र ही नहीं ईंट-ईंट से उन्हें प्रेम था। नित्य भ्रमण के लिए निकलते और विश्वविद्यालय के प्रत्येक भवन में प्रायः सप्ताह में एक बार अवश्य पहुँच जाते थे। बरामदों, सीढ़ियों आदि पर धूल और मकड़ी के जालों को देखकर तत्काल उनकी सफाई का आदेश करते थे। विश्वविद्यालय के अध्यापक, छात्र और छोटे से छोटे कर्मचारी को भी वे अपने परिवार का सदस्य मानते थे। किसी के यहाँ पुत्री या पुत्र के विवाह या यज्ञोपवीत के अवसर पर मकान की रंगाई, सफेदी और आसपास की सफाई विश्वविद्यालय की ओर से मुफ्त की जाती थी। कुर्सी टेबुल आदि भी निःशल्क प्राप्त होते थे। अब यह प्रथा शिथिल हो गयी है कुर्सी आदि किराये पर मिलते हैं। चपरासियों और मेस के महाराजों तक की खोज खबर लेते थे, वे विश्वविद्यालय परिवार के 'बाबूजी' थे। विश्वविद्यालय और मलवीय जी में अभेद संबंध था।

चरित्र निर्माण की ओर उनका पूरा ध्यान रहता था। एक बार एक सभा में लड़कियों पर कागज के फूल फेंकने पर एक छात्र को निर्वासन दण्ड दिया गया था। एक वरिष्ठ अध्यापक ने अपनी एक छात्रा से अन्तरजातीय और अन्तर प्रदेशीय विवाह कर लिया तो बाबूजी ने कहा 'आपने जो किया अनुचित नहीं है और आपके मंगलमय सुखी जीवन के लिए आशीर्वाद देते हुए भी मैं कहूँगा कि आपने विश्वविद्यालय में अच्छा उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया है। अच्छा होगा कि आप विश्वविद्यालय छोड़ दें।' अध्यापक ने महामना के विचार का आदर किया और बाद में पति-पत्नी दोनों ही देश के उच्चकोटि के नेता हुए। अध्यापक महोदय भगवान की दया से आज भी जीवित एवं अत्यन्त आदरणीय हैं। परमात्मा उन्हें और भी आयु एवं स्वास्थ्य प्रदान करें।

लोकतांत्रिक पद्धति में उनकी पूर्ण आस्था थी। एक बार किसी समिति में विभागाध्यक्ष ने आकर अध्यापक को डॉटकर बैठ जाओ, कहा। महामना जी ने इसे अनुचित समझकर विभागाध्यक्ष से माँफी माँगने को कहा। उनके अस्वीकार करने पर कहा 'आपके लिए इस विश्वविद्यालय में स्थान नहीं है।

उसी प्रकार किसी अवर कर्मचारी अथवा छात्र की अनुशासनहीनता भी उन्हें असह्य थी। पहले समझाने और सुधारने का प्रयास करते और सफल भी होते थे अन्यथा समुचित दण्ड भी देते थे। महामना जी को क्रुद्ध होकर कटु वचन का प्रयोग करते तो हमने कभी नहीं देखा। मौन हो जाना उनके तीव्र रोष का परिचायक होता था। कोई व्यक्ति उनके पास जाकर कभी निष्फल नहीं लौटता था। 'विमुखान्नार्थिनः कुर्यात्'। भले ही उसका अभीष्ट फल न मिल पावे पर वह उनके सहानुभूति पूर्ण उदार व्यवहार, मृदुवचनों एवं उपदेशों से संतुष्ट और प्रसन्न हो उठता था।

महामना प्राचीन भारतीय ज्ञान विज्ञान में परम आस्था रखते हुए भी उसे अर्वाचीनतम ज्ञान से समन्वित करने के पक्षपाती थे। उनके विचारों का प्रस्फुट स्वरूप विश्वविद्यालय का आयुर्वेद महाविद्यालय था। वे चाहते तो मेडिकल कालेज खोल सकते थे, पर अपने देश के अनुरूप नवीनतम ज्ञान से समन्वित प्राचीन आयुर्वेद को ही उपयुक्त मानते थे। प्रारम्भ में अध्यापकों की अनुपलब्धि से प्राच्य और पाश्चात्य प्रणाली से दीक्षित विद्वानों द्वारा सहशिक्षा मिश्रित शिक्षा का प्रारम्भ किया। पर वह निरन्तर स्व० डा० पटवर्धन, श्री दामोदर गौड़ आदि तथा मुझसे भी कहते थे—मेरा लक्ष्य समन्वित पाठ्यक्रम (इन्टीग्रेटेड कोर्स) है जिसे तुम्हें पूरा करना होगा। खेद है कि वाद के अधिकारियों ने मिश्रित पाठ्यक्रम ही जारी रखा और उनकी दुरभिसन्धि से क्रमशः अर्वाचीन विषयों की वृद्धि और प्राचीन की उपेक्षा होती गयी और अन्ततः यह विद्यालय मेडिकल कालेज में परिणत हो गया। आँसू पोछने के लिए स्नातकोत्तर आयुर्वेद पाठ्यक्रम अब भी चल रहा है पर उसकी स्थिति आकाशवल्लरी की ही है।

आज विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भी विकासशील देशों के लिए इस प्रकार के समन्वित पाठ्यक्रम को ही उचित माना है जिसे स्वयं मालवीय जी ने ५० वर्ष पूर्व ही आँक लिया था। क्या मैं आशा करूँ कि अब भी महामना जी की मान्यतानुसार आयुर्वेद के शिक्षण की व्यवस्था के लिए आयुर्वेद महाविद्यालय पुनरुज्जीवित किया जायगा ?

'बाबूजी' युग पुरुष और भविष्य द्रष्टा थे। उनके दूरगामी विचारों के कतिपय उदाहरण निम्नांकित हैं।

सन् १९१६ में हिन्दू मुस्लिम ऐक्ट का कांग्रेस में यह कहकर विरोध किया गया कि इससे पृथकता के उस वीज का हम वमन कर रहे हैं जो देश के बंटवारे के बाद भी कष्ट देता रहेगा। आज उसके परिणामों को हम देख ही रहे हैं। वे सम्प्रदाय निरपेक्ष योग्यता प्रधान एवं सच्चे समाजवादी शासन को चाहते थे।

यावद् भ्रियते जठरं तावत् सत्यं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत् स स्तेनो बधमर्हति॥

श्रीमद्भागवत् का प्रस्तुत उदाहरण वे सुनाया करते थे। इससे बड़ा समाजवाद क्या हो सकता है ?

विश्वविद्यालय के लिए विशाल भूमि की अवाप्ति के विषय में लोग आक्षेप करते थे। आज अतिरिक्त भूमि की आवश्यकता अनुभूत हो रही है।

विद्यार्थियों में देशभक्ति की भावना और चरित्र निर्माण के साथ व्यावहारिक अनुभव के लिए 'छलक संसद' (Mock Parliament) आदि के द्वारा राजनीतिक प्रशिक्षण की योजना उन्होंने बनायी थी, किन्तु वे सविनय अवज्ञा या अनुशासन भंग को उचित नहीं मानते थे। क्योंकि अनुशासन भंग का अभ्यास हो जाने पर 'सविनय अवज्ञा' या सत्याग्रह के स्थान पर दुराग्रह की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो सकती है। यह स्थिति स्वतंत्रता को स्वच्छंदता में परिणत कर सकती है। आज हम इसे अक्षरशः सत्य पा रहे हैं। इस विश्वविद्यालय के अध्यापकों, छात्रों और स्नातकों ने स्वतंत्रता संग्राम में देश का नेतृत्व किया। पर आज की स्थिति क्या है ?

उन्होंने देश की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक आदि समस्याओं के आधार पर आवश्यकतानुसार प्रत्येक क्षेत्रों में कार्य किया। कांग्रेस (राष्ट्रीय महासभा) हिन्दू महासभा, सनातन धर्म सभा, गोरक्षिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा आदि में उनका योगदान सर्व विदित है। 'हिन्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तान' उनके प्रिय विषय थे। अछूतोद्धार कार्य में उन्होंने प्रमुख योगदान किया। देश के हित के लिए स्वयं जेल भी गये और अपने अनुयायियों को भी प्रोत्साहित किया। खेद है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ पूर्व ही उन्होंने अपने पांच भौतिक शरीर का त्याग किया। नोवाखाली के अविस्मरणीय साम्प्रदायिक संघर्ष ने उनकी मृत्यु को और भी निकट ला दिया।

आज महामना अपने पार्थिव शरीर से हमारे वीच नहीं हैं पर अपनी धवल कीर्ति के द्वारा वे अमर हैं। उनकी लोकयात्रा के लगभग ३० वर्ष पूर्ण हो चुके, विश्वास है अपनी अन्तिम इच्छा के अनुसार अधूरे विश्वविद्यालय की पूर्ति और पुष्टि के लिए उन्होंने अवश्य पुनर्जन्म ग्रहण किया होगा। परमात्मा से उनके शीघ्र प्रगट होने की हमारी प्रार्थना है। आज काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ही नहीं इस देश को उनकी नितान्त आवश्यकता है।

अवकाश प्राप्त आचार्य एवं अध्यक्ष
काय चिकित्सा विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

महामना मालवीय जी की वाराणसी नगर के प्रति सेवायें

श्रीपरमानन्द

महामना पंडित मदन मोहन मालवीय ने अपने विद्यार्थी जीवन से ही समाज सेवा और राजनीति में भाग लेना आरम्भ किया था और अपने जीवन के अंतिम क्षण तक देश और धर्म की चिन्ता करते रहे।

उनकी चिन्ता का मुख्य विषय हिन्दू धर्म और समाज की दशा थी जो उनके बाल्यकाल में दिनों-दिन गिरती जा रही थी। इस पतन को रोकने और हिन्दू धर्म और समाज को सुधार कर सुदृढ़ बनाने में उन्होंने अथक परिश्रम किया। तीर्थस्थानों का सुधार उनके इस कार्यक्रम का एक छोटा सा अंग था।

तीर्थ स्थानों और देवालयों में वे आस्था रखते थे। आधुनिक विद्वानों के इस मत को वे नहीं मानते थे कि मंदिरों, मस्जिदों और गिरजाघरों के निर्माण में जो धन व्यय होता है उसका कहीं अच्छा उपयोग पुस्तकालयों और वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं के निर्माण पर किया जा सकता है। विख्यात वैज्ञानिक डाक्टर मेघनाथ शाह ने सन् १९३१–३२ में जब विश्वविद्यालय में श्री विश्वनाथ मंदिर की नींव डाली गयी थी मालवीय जी से मौखिक प्रार्थना की थी और उस समय प्रकाशित होने वाले मालवीय स्मारक ग्रन्थ में एक लेख द्वारा आग्रह किया था कि मंदिर के स्थान पर एक योगशाला बनाई जाय जिसके द्वारा सृष्टि की विशालता और विभिन्नता को आँखों से देख कर व्यक्ति में ईश्वर के प्रति वह सच्ची भक्ति और श्रद्धा उत्पन्न होगी जो मंदिर में स्थापित प्रतिमा के दर्शन से नहीं हो सकती। मालवीय जी ने उनके परामर्श को नहीं माना और विश्वविद्यालय में ऐसा विशाल और भव्य मंदिर बना जैसा उत्तर भारत में कदाचित और कोई नहीं है।

इस देश में तीर्थों की बड़ी उत्कृष्ट व्यवस्था है जो हमारे पूर्वजों की बुद्धिमत्ता का परिचय देती है। सभी तीर्थ स्थान प्राकृतिक सौंदर्य की जगहों में स्थित हैं। वहाँ पहुँचने और टिकने की व्यवस्था ऐसी की गयी है जो जन साधारण के लिए भी सुलभ है। बद्रीनाथ, केदारनाथ और अमरनाथ जैसे दुर्गम स्थानो की यात्रा का भी गठन ऐसा किया गया है कि थोड़ा धन व्यय करने वाले भी वहाँ पहुँच सकें। इन स्थानों में यात्रियों के आवास और सुरक्षा की पूरी व्यवस्था वहाँ के तीर्थ पुरोहित (पंडे) करते हैं।

मालवीय जी ने देश के अधिकतर तीर्थों की यात्रा की। कई की एक से अधिक बार यात्रा की और कुछ में तो प्रति वर्ष ही जाते थे।

उत्तर भारत के बहुतेरे तीर्थस्थानों की दशा हिन्दू समाज की सी ही जीर्ण और गिरती हुई थी। उनके रख-रखाव के लिये कोई स्थाई व्यवस्था या तो थी ही नहीं या अनिश्चित थी। जगन्नाथपुरी के विशाल मंदिर की साधारण मरम्मत और सफाई के लिये कोई स्थायी निधि न थी। सरकारी अनुदान लगभग सं० १८३० तक मिलते रहें तदुपरान्त कोई राजा महाराजा सेठ

साहूकार जब लाख पचास हजार का दान इस काम के लिये दे जाता तो उसकी मरम्मत होती। यही दशा भुवनेश्वर के विशाल और सुन्दर मंदिरों की भी थी। उन कुछ को छोड़ कर जो पुरातत्व विभाग के संरक्षण में ले लिये गये थे।

काशी नगर (वाराणसी अथवा बनारस) हमारे तीर्थों में प्रमुख है। यद्यपि प्रयाग को तीर्थराज कहा जाता है और अतीत में वहाँ ऋषियों और विद्वानों का वृहद् समागम एक महीने से अधिक चलने वाले माघ मेले में होता था पर अब उसका रूप दूसरा ही है। काशी हिन्दू समाज की सांस्कृतिक राजधानी है। मालवीय जी ने तो उसे बहुत प्राचीन माना और एक भाषण में यहाँ तक कहा कि काशी तब से है जब श्रृष्टि हुई।

इस नगर में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना करके उन्होंने इसका महत्व और भी बढ़ाया और विश्वविद्यालय के कुल गीत की इन पंक्तियों को सार्थक सिद्ध किया।

'मधुर मनोहर अतीव सुन्दर यह सर्व विद्या की राजधानी'

यह विश्व विद्या की राजधानी। काशी के प्रति उनकी महानतम सेवा थी।

विश्वविद्यालय के इन्जीनियरिंग कालेज की प्रमुख शाखा उसका विद्युत विभाग था। उसके लिए ऐसी बड़ी और शक्तिशाली मशीनें क्रय की गयी थीं कि विश्वविद्यालय तथा उसके भवनों, सड़कों और आवासों की प्रकाश और ऊर्जा संबंधी सब आवश्यकतायें पूरी करने के उपरान्त इतनी क्षमता शेष रहती कि नगर और निकटवर्ती ग्रामों को बिजली पहुँचाई जा सके। इससे विश्वविद्यालय को अच्छी आय होती और जनता को सुविधा मिलती। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिये विश्वविद्यालय से पृथक एक कम्पनी का गठन और पंजीकरण भी हुआ पर सरकार की स्वीकृति न मिलने से यह योजना विफल हुई।

मालवीय जी वाराणसी नगर पालिका के किसी समय सदस्य नहीं रहे। न ही हो सकते थे क्योंकि नगर में उनका कोई निवास स्थान नहीं था। विश्वविद्यालय का प्रांगण जहाँ वे निवास करते थे पृथक टाउन एरिया समिति के अधिकार क्षेत्र में था। वे उस ट्रस्ट के भी सदस्य नहीं थे जो काशी तीर्थ सुधार ट्रस्ट के नाम से वहाँ के घाटों के संरक्षणं तथा जीर्णोद्धार के लिये सन् १९२६ में गठित हुआ था।

वे इलाहाबाद नगर पालिका के १५ वर्ष तक सदस्य और कुछ वर्षों तक अध्यक्ष भी रह चुके थे और उस नगर को स्वच्छ सुन्दर और स्वस्थ बनाने के लिए अनेक उपाय किये थे। इस अनुभव की पृष्ठ भूमि में उनका वाराणसी नगर की समस्याओं का ज्ञान रखना स्वाभाविक था। यहाँ के अनगिनत मंदिरों में से अधिकांश की जीर्ण-शीर्ण दशा, यहाँ की तंग गलियों में यातायात की कठिनाई, इन गलियों और सारे नगर की सफाई और इन सबसे बड़ी समस्या नगर की गंदगी का बीस नालों द्वारा पतित पावनी गंगा में गिरना जहाँ हजारों स्त्री-पुरुष स्थानीय निवासी और बाहर से आये यात्री नित्य स्नान करते हैं उनकी चिन्ता का विषय था।

यह अंतिम समस्या काशी की प्राकृतिक विशेषता से उत्पन्न हुई जिसका विश्व में कदाचित कोई जोड़ नहीं है। यह गंगा के तट पर दक्षिण से उत्तर तक ५ मील लम्बा अर्ध चंद्राकार टीला है। इसके पूर्व की ओर गंगा दक्षिण से उत्तर को बहती हैं और इस बने हुए पर्वताकार

मंदिरों और भवनों से गंगाजल तक पहुँचने और वहाँ स्नान करने के लिए लगभग १०० घाट भी बने हैं। ये घाट वाराणसी नगर की शोभा हैं।

नगर की कुछ आवादी टीले पर है पर उसका अधिकांश टीले से पश्चिम उतरती हुई भूमि पर बसा ह जो निरन्तर बढ़ रहा ह।

मुगल सम्राटों के समय में जब नगर आज से कहीं छोटा था उसकी गंदगी को नालियों द्वारा नदी में पहुँचाने के लिये टीले में सुरंगे खुदवाई गयी थीं जो आज भी काम दे रही हैं। अब शताब्दियों तक बढ़ते हुए नगर की गंदगी के बहने से इन नालों अथवा सुरंगों की भूमि सड़ कर कमजोर हो गई है। इनके ऊपर और समीप बने भवनों की नीवें धसने और अन्य कारणों से कितने ही भवन ध्वस्त हो गये हैं। इतनी गंदगी गंगा जल में पड़ने से गंगा जल का दूषित हो जाना मालवीय जी के लिए एक बड़ा चिन्ता का कारण था। वे चाहते थे कि यह गंदगी एक बड़े नाले द्वारा उत्तर को ले जाकर गंगा में नगर से दूर डाली जाय जसा कि हरिद्वार में किया गया है।

दूसरी जटिल समस्या उन सौ घाटों की सुरक्षा की थी। जिनके बिना काशी में किसी को गंगा जल स्पर्ष करने की सुविधा मिलना भी कठिन होता। इन घाटों को वर्षा काल में वाढ़ पर आई गंगा की धारा की चोट खानी पड़ती है जिसको सहन करने की शक्ति उनमें नहीं है क्योंकि उनका निर्माण वैसे कूपाकार पायों पर नहीं हुआ था जैसे विशाल पायों पर रेत के पुल बनते हैं जो बाढ़ पर आई नदियों के प्रवाह का सफलता-पूर्वक सामना कर सकते हैं।

काशी के नामी घाट लगभग दो सौ वर्ष पूर्व बने थे। उनमें से कई ध्वस्त हो चुके थे कुछ टूटे पड़े थे। सन् १९२६ में इन घाटों की सुरक्षा और जीर्णोद्धार के लिये काशी तीर्थ सुधार ट्रस्ट बनाया गया। उसके तत्वावधान में नदी और घाटों का सर्वेक्षण उच्च कोटि के इन्जिनियरों ने किया और सं० १९३१ में एक पुस्तिका प्रकाशित हुई जिसमें घाटों का इतिहास और उनके सुन्दर चित्र मुद्रित थे। इनके जीर्णोद्धार का काम कितना बड़ा था। इसका अनुमान इससे किया जा सकता है कि एक तुलसी दास घाट के जीर्णोद्धार का अनुमानित व्यय उन दिनों डेढ़ लाख (१,५०,०००) और मणिकर्णिका घाट का लगभग दो लाख लगाया गया था। यह दोनों घाट उतने क्षति ग्रस्त नहीं थे जितने और कई थे। प्रत्येक घाट के सुधार का औसत व्यय डेढ़ लाख मान लिया जाय तो १०० घाटों के लिये उस समय लगभग डेढ़ करोड़ रुपये की आवश्यकता थी। आज इससे कई गुने होगी।

तुलसी दास घाट हिन्दू विश्वविद्यालय के समीप है और ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक महत्व का स्थान है। उसके उपर स्थित भवन में निवास करते हुये गोस्वामी तुलसी दास ने अपने अमर काव्य राम चरित मानस के अंतिम चार कांडों और विनय पत्रिका सहित कई और ग्रन्थों की रचना की थी और यहीं उन्होंने सम्बत १६८० (१६२३ ई०) में शरीर त्याग किया था।

यह घाट काशी की वार्षिक पंच कोशी परिक्रमा के पथ पर पड़ता है जहां उस यात्रा में जाने वाले असंख्य यात्री स्नान करते हैं।

कालान्तर में घाट के नीचे की सीढ़ियाँ ध्वस्त हो जाने से इस घाट पर स्नान करना खतरनाक हो गया था और प्रति वर्ष दो एक जानें भी जाती थीं।

सन् १९३३ में महामना मालवीय जी ने इस घाट के जीर्णोद्धार के लिये जिसका अनुमानित व्यय डेढ़ लाख था एक अपील प्रकाशित की। वड़ौदा के महाराजा सयाजी राव गायकवाड़ ने जो मालवीय जी की सदा सहायता करते थे इस कार्य के लिए ५२,०००) दान दिये।

दूसरे नरेशों का ध्यान भी उनके पूर्वजों के वनवाये घाटों की ओर आकृष्ट हुआ और फलस्वरूप महाराजा ग्वालियर ने सिन्धिया घाट को जो अधूरा पड़ा था बनवा दिया।

तुलसी दास घाट के लिये अपील प्रकाशित करने के ३-४ वर्ष बाद बनारस मंडल के आयुक्त श्री पन्नालाल (अई० सी० एस०) के आमंत्रण पर मालवीय जी ने मणिकर्निका घाट के सुधार कार्य का शिलान्यास ११-१-१९३७ को किया। उनकी आज्ञानुसार यह उत्सव पूर्ण शास्त्रीय विधि से सम्पन्न हुआ। कार्यक्रम प्रातः ८ बजे घाट पर आरम्भ हुआ। लगभग ५० पंडितों ने उस समय मंत्रों का जप, ग्रन्थों का पाठ तथा हवन का काम आरम्भ किया। २६ पंडितों ने गायत्री मंत्र के २४००० जप किये। ११ ने रुद्राष्टाध्यायी का पाठ किया। पांच ने शतचंडी के दस पाठ किये। एक ने गंगा लहरी का पाठ किया। दो पंडितों ने महाभारत तथा वाल्मीकि रामायण का पाठ किया और पांच ने हवन किया।

इन पंडितों को मार्ग व्यय और पीने को दूध के अतिरिक्त दक्षिणा में एक धोती एक लोटा, आसन, माला पंचपात्र और जप माली भेंट की गयी।

शिलान्यास के निश्चित समय ३ बजे अपरान्ह से पहले ही नगरपालिका (जिस के तत्वावधान में घाट का सुधार होने को था) के अध्यक्ष, अधिकारी, सदस्य और कर्मचारी और नगर के धनी मानी व्यक्ति घाट पर उपस्थित हो गये थे। कमिश्नर श्री पन्ना लाल दशाश्वमेध घाट से मोटर वोट पर आये और उनके कुछ देर बाद महामना मालवीय जी कुछ पंडितों के साथ उसी वाहन से पधारे। उन्होंने कुर्सियों पर जो उनके लिये लगी थीं न बैठकर फर्श पर ही आसन ग्रहण किये।

संगमर्मर का बना नीव का पत्थर मालवीय जी ने ठीक ३ बजे चाँदी के उपकरणों से सीमेंट बिछाकर नीव में रखा। उसके नीचे निम्नलिखित वस्तुयें रखी गई थीं।

१—एक शीशे का पात्र जिसमें एक प्रति महादेव महात्म्य की, एक प्रति विश्व पंचांग, एक ताम्रपत्र पर संकल्प, एक कागज पर संकल्प, तथा रुपया, अठन्नी, चवन्नी, और पैसे की मुद्रायें।

२—६ तांबे के पात्र जिनमें मधु घृत पारा इत्यादि वस्तुयें रखी गई थीं।

श्री पन्ना लाल और महामना मालवीय जी ने अपने भाषणों में नगर के हित की कई योजनाओं की चर्चा की।

श्री पन्ना लाल ने बताया कि इस घाट तक पहुँचने के लिये एक चौड़ी सड़क के निर्माण के लिये वे प्रयन्त्न कर रहे हैं जिससे वर्तमान मार्ग (कचौड़ी गली) में होकर जहां भोजन की वस्तुयें विकती हैं शव न लाये जायँ। दशाश्वमेध घाट पर महिलाओं के स्नान की पृथक व्यवस्था

तथा नगर की गंदगी को नगर से हटकर नदी में डालने की योजना का भी उल्लेख किया। उन्होंने मणिकर्णिका घाट के सुधार के लिये ५०,००० का अनुदान सरकार से दिलाया था स्वंय नगरपालिका न ५७,००० का प्राविधान किया था। इस प्रकार १,०,७००० रु० की धनराशि इस काम के लिये उपलब्ध थी। पर मालवीय जी इस शव दाह के स्थान को सुन्दर और आकर्षक वनवाने के लिये वहां एक मंडप का निर्माण कराना आवश्यक समझते थे जिसमें निरन्तर भजन कीर्तन होता रहे और गत आत्माओं को पंचभूत से निर्मित शरीर को छोड़कर ब्रह्म में लीन होने में सहायता मिले। इस कार्य को मिलाकर घाट के सुधार पर दो लाख व्यय होने का अनुमान था जिसकी पूर्ति की आशा महामना के सहयोग से की जाती थी। मालवीय जी ने स्वंय अपने भाषण में यह संकेत किया। उनकी अपील पर तुलसी दास घाट के जीर्णोद्धार के लिये वड़ौदा दर्वार नें ५२०००) दिये थे और हिन्दू समाज से इन कार्यों के लिये धन प्राप्त करना कठिन नहीं होता ऐसा उनका विश्वास था।

उन्होंने आयुक्त महोदय श्री पन्नालाल की धर्म में निष्ठा और जन कल्याण के लिये उनके प्रयासों की भूरि-भूरि सराहना की और मुक्त कंठ से आशीर्वाद दिया कि वे यश और कीर्ति प्राप्त करें और धार्मिक कार्यों में उन की रुचि निरन्तर बढ़े।

---

३६ चैतम लाइन्स
प्रयाग

———

हिन्दू विश्वविद्यालय के वे दिन

डॉ० बी० एल० आत्रेय

हिन्दू विश्वविद्यालय का आरम्भ १९१६ में हुआ था। मैंने जब समाचार पत्रों में इसके खुलने का वृत्तान्त पढ़ा तो मेरी इच्छा यह हुई कि मैं इस नये विश्वविद्यालय का छात्र बनूं। मुजफ्फरपुर के गवर्नमेन्ट हाई स्कूल की एस०एल०सी० परीक्षा में अंग्रेजी की मौखिक परीक्षा के लिए मेरठ कालेज के सुविख्यात प्रिंसिपल परीक्षा लेने आये थे। वे मेरे उत्तरों से बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने मुझे इन्टरमीडिएट में पढ़ने के लिए अपने यहाँ निमंत्रित किया और यह प्रलोभन भी दिया कि वे मुझे निःशुल्क भरती कर लेंगे और एक छात्रवृत्ति भी देंगे। मैंने उनसे कहा कि मेरा संकल्प तो हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ने का हो गया है, मैं अब इसे बदलना नहीं चाहता। उन्होंने मेरे हेड मास्टर राय बहादुर राम शरण मिश्र से भी मुझे मेरठ जाने के लिए कहा, पर मैं नहीं माना। जब मेरा परीक्षा फल प्रकाशित हो गया और मैं प्रथम श्रेणी में पास हो गया तो मेरे एक मित्र ने जो सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में पढ़ चुके थे मुझे वहाँ के प्रधानाचार्य को तार देने के लिए कहा कि मैं उनके कालेज में पढ़ना चाहता हूँ। उनका तुरंत ही तार द्वारा उत्तर भी आ गया।

WILL ADMIT COME SOON

गरीब घर का होने के कारण, किसी तरह से ५०) कर्ज लेकर मैं ८ जुलाई १९१७ को बनारस आ गया और कालेज खुलते ही प्रिंसिपल साहब श्री शेषाद्रि के दर्शनार्थ उनके पास उपस्थित हुआ। शेषाद्रि साहब सफेद साफा, सफेद धोती और लम्बा काला कोट पहने हुए बहुत शानदार हिन्दू लगते थे। उनको देखकर मेरा मन गद्गद हो गया और उन्हें झुककर प्रणाम किया और अपना नाम पता बतलाया। वे बहुत प्रसन्न हुए और मुझे प्रथम वर्ष में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी। मेरे यह कहने पर कि मैं गरीब होने के साथ ही विवाहित भी हूँ और विवाहित विद्यार्थियों को आपके कालेज में दुगुनी फीस देनी पड़ती है उन्होंने मुझे एक चिट आफिस में देने के लिए दी जिस पर लिखा था :

ADMIT FREE

और मुझे कोई फीस नहीं देनी पड़ी, मेरा दाखिला हो गया। यह माफी मेरे लिए छः वर्षों तक, जब मैंने १९२३ में एम०ए० पास किया, चलती रही। शेषाद्रि साहब का मुझ पर बहुत स्नेह था। उन्होंने यह कभी न समझा कि मैं एक दीन विद्यार्थी हूँ।

प्रोफेसर शेषाद्रि अंग्रेजी भाषा और साहित्य के चोटी के विद्वान् थे। वे धारा प्रवाह अंग्रेजी बोलते थे, उनकी स्मरण शक्ति बहुत विलक्षण थी। यद्यपि वे हॉस्टल के वार्डन नहीं थे तो भी प्रति सप्ताह रविवार को १ बजे हॉस्टल में आकर अंग्रेजी वाद-विवाद कराया करते थे। वाद-विवाद का विषय, प्रोग्राम, वक्ताओं के नाम पहले से छपे हुए तैयार मिलते थे। उनका

अध्यक्षीय भाषण वहुत महत्व पूर्ण, ज्ञानप्रद और शानदार हुआ करता था। एम०ए० पढ़ाने के अतिरिक्त वे वी०ए० के अन्तिम वर्ष की कक्षा को भी पढ़ाया करते थे। प्रायः हर सप्ताह छात्रों को वे एक निवन्ध लिखने को दिया करते थे, जिसे भलीभाँति देखकर वे १० अंकों में से यथोचित अंक दिया करते थे। सर्वोत्तम निवन्ध जिस पर वे आठ से अधिक अंक देते थे, प्रतिमास सेन्ट्रल हिन्दू कालेज पत्रिका में प्रकाशित हो जाता था। इस प्रकार मेरे निवंव उस पत्रिका में छपे थे। शेषाद्रि साहव अच्छे मेधावी छात्रों को वहुत प्रोत्साहित किया करते थे। दक्षिणी (मद्रासी) होते हुए भी उनके हृदय में अन्य प्रान्तों के विद्यार्थियों के प्रति कोई दुर्भाव नहीं था। मैं उत्तर भारतीय होता हुआ भी उनका विशेष कृपा पात्र था। उनके द्वारा मुझे वहुत प्रोत्साहन मिला जिसके कारण मैं १९२१ की वी०ए० परीक्षा में सर्वप्रथम आया और विश्व-विद्यालय की योग्यता छात्रवृत्ति प्राप्त कर सका। आगे भी १९२३ में मैंने एम०ए० में भी सर्व प्रथम स्थान प्राप्त किया।

मेरे छात्रावास के वार्डन प्रोफेसर श्यामाचरण डे थे, जिनको सभी डे वावा या डे साहव कहकर पुकारते थे। वे कालेज में सर्वथा अवैतनिक रहकर काम करते थे। विद्यार्थियों के प्रति उनका व्यवहार अत्यधिक मधुर और स्नेहपूर्ण था। सभी के प्रति उनकी समान सहानुभूति थी। उनके सदय हृदय में करुणा और दया का अनवरत संचार होता रहता था। जव कोई विद्यार्थी रुग्ण हो जाता तो वे स्वयं रात-दिन उसकी देखभाल किया करते और दूसरे विद्यार्थियों को वारी-वारी से सेवामें लगा देते थे। जिससे विद्यार्थी, रोगियों की सेवा करना सीखें और उनमें भ्रातृभाव जागृत हो। डे साहव चीफ वार्डन, प्रिंसिपल, रजिस्ट्रार और उपकुलपति के रूप में वहुत दिनों तक विश्वविद्यालय की अवैतनिक सेवा करते रहे। उनका जीवन एक ऋषि और सन्त का जीवन था, उनके साहचर्य-सम्पर्क से मन प्रसन्न हो जाता था। उनके समान दूसरा व्यक्ति कोई दृष्टिगत नहीं होता।

विश्वविद्यालय के संस्थापक पूज्य मालवीय जी और सभी विश्वविद्यालय के कर्मचारी उनका बहुत सम्मान करते थे। मुझे पहले विद्यार्थी के रूप में और पीछे एक वार्डन एवं चीफ वार्डन के रूप में उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आने और उनकी कृपा प्राप्त करने का विशेष सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरा यह संवंध उनसे उनके अन्त समय तक वना रहा। वहुत वृद्ध और कृप हो जाने पर भी वे मेरे घर पर पधारने और कभी-कभी भोजन करने की कृपा करते रहे। मुझे उनका बहुत बड़ा आशीर्वाद प्राप्त है।

उस समय छात्रावास के विद्यार्थियों के चिकित्सक डा० मंगल सिंह बहुत उदार, कृपालु, स्वार्थहीन और दयालु, व्यक्ति थे। प्रभु कृपा से वे अब भी विद्यमान हैं। उनकी निष्ठा, सेवा भावना विस्मरण की वस्तु नहीं है। उनके सहयोगी कम्पाउण्डर पं० छोटे लाल शर्मा भी वैसे ही सेवापरायण व्यक्ति थे। उनकी प्रसन्न मुद्रा और तत्परता श्लाघ्य थी। आज ऐसे व्यक्तियों के दर्शन दुर्लभ हैं।

यद्यपि विश्वविद्यालय की आर्थिक स्थिति उस समय बहुत सोचनीय थी पर विश्व-विद्यालय के अध्यापकों, कर्मचारियों और विद्यार्थियों का पारस्परिक जीवन बहुत ही सामंजस्य

पूर्ण, सुखी और शान्त था। प्रोफेसर पढ़ाने में और विद्यार्थी पढ़ने के प्रति निष्ठावान थे। वह शान्ति आज दुर्लभ है।

सन् १९२१ में जब मैं तृतीय वर्ष में आया तो श्री शेषाद्रि के स्थान पर प्रसिद्ध गणितज्ञ डा० गणेश प्रसाद सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के प्रिंसिपल होकर आये। वे बड़े सरल और शुद्ध स्वभाव के व्यक्ति थे और विद्यार्थियों से बहुत प्रेम से मिलते, बात चीत करते थे। उन्हें विद्यार्थियों का नाम और सूरतें भी याद थीं। एक बार म उनसे एक हस्तलिखित मासिक पत्रिका निकालने की आज्ञा लेने गया था। उस समय से मुझे वे जब कहीं देख लेते तो हाथ जोड़ कर बड़े प्रेम से नमस्कार करते और बातचीत किया करते थे।

एकाध बार उन्होंने मुझे स्वयं अपने बंगले पर निमंत्रित किया था। वहाँ पर मैं उनके सादे और तपस्वी रहन-सहन को देखकर चकित हो गया था। उनके घर में कोई स्त्री नहीं थी केवल उनका एक छोटा भाई उनके पास रहा करता था। डा० गणेश प्रसाद जी विख्यात गणितज्ञ थे, उनसे प्रभावित होकर ही मालवीय जी उन्हें विश्वविद्यालय में गणित के आचार्य और कालेज के प्रिंसिपल के रूप में ले आये थे। पर वे अधिक दिनों तक विश्वविद्यालय की सेवा न कर सके, शीघ्र ही उनका स्वर्गवास हो गया।

उस ऋषि तुल्य विचार और सन्त तुल्य जीवन व्यतीत करने वाले प्रोफेसर के तिरोधान के पश्चात् मालवीय जी ने गुजरात से महात्मा गांधी की सिफारिश पर पं० आनन्द शंकर ध्रुव को संस्कृत के प्रधान अध्यापक और सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के प्रिंसिपल की हैसियत से आमंत्रित किया। उनका स्वरूप अत्यन्त भव्य था। गुजराती लाल पगड़ी, बन्द गले का कोट और ढीली धोती। उन्हें संस्कृत साहित्य और अंग्रेजी साहित्य का व्यापक ज्ञान था और वे प्राय: सब विषयों पर बोलने की क्षमता रखते थे। जब कोई बाहर से गण्यमान्य अतिथि विश्वविद्यालय में व्याख्यान देने आता था तो प्रिंसिपल ध्रुव ही उसका स्वागत करते और उसके व्याख्यान में सभापतित्व किया करते थे। उनके सभापति पद से कहे हुए वाक्य बहुत उपयुक्त, गम्भीर और ज्ञान वर्धक हुआ करते थे। उनमें उनकी बुद्धिमता और पाण्डित्य विद्यमान रहता था। उनकी कार्य कुशलता से प्रभावित होकर महामना ने उन्हें प्रो-वाइस चान्सलर का पद भी दे दिया था। दोनो ही पदों पर वे बड़ी कुशलता और गम्भीरता से वर्षों काम करते रहे। उनसे मिलकर बात चीत करने में मन बहुत प्रसन्न होता था, वे भी बहुत मिलनसार व्यक्ति थे।

१९२० में गांधी जी ने भारत को स्वतंत्र कराने के लिए असहयोग आन्दोलन चलाया और विद्यार्थियों से स्कूल कालिज और विश्वविद्यालय त्यागने का आग्रह किया। स्वयं गांधी जी और उनके अनुयायी अब्दुल कलाम आजाद, सत्यवती देवी आदि ने आकर सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के प्रांगण में बहुत ओजस्वी व्याख्यान देकर विद्यार्थियों से पढ़ाई छोड़ने की अपील की। बहुत से विद्यार्थी पढ़ाई छोड़ कर असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। यद्यपि वह समय बहुत उत्तेजना और संघर्ष का था, तो भी सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के भीतर परम शान्ति और सद्भावना का वातावरण बना रहा। कक्षाओं में पढ़ाई बराबर चलती रही और परीक्षायें

यथावत् यथासमय होती रहीं। गांधी जी और मालवीय जी दोनों ही देश को स्वतंत्र कराने के लिए प्रयत्नशील थे। दोनों ही एक दूसरे का आदर करते थे और परस्पर प्रेम करते थे, किन्तु मालवीय जी को यह पसन्द नहीं था कि विद्यार्थियों से उनकी पढ़ाई छुड़वाई जाय और उनसे असहयोग कराया जाय। फिर भी जो अध्यापक नौकरी छोड़ कर और जो विद्यार्थी पढ़ाई छोड़ कर जाने को तैयार होता था उसको वे आशीर्वाद के साथ विदाई देते थे। पं० मालवीय जी बड़े सदाचारी और शास्त्रविद् ब्राह्मण थे। हिन्दुत्व के प्रति उनकी बड़ी श्रद्धा और भक्ति थी। वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के एक महान् स्तम्भ थे और कई कांग्रेसों के प्रधान भी रह चुके थे और कुछ समय के लिए स्वराज्य आन्दोलन के कारण जेल भी जा चुके थे। वे हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक मात्र ही नहीं थे उसके प्राण भी थे। उनकी वेशभूषा शुभ्र और आकर्षक थी। विश्वविद्यालय के कण-कण से वे परिचित थे। सभी अध्यापकों और विद्यार्थियों से वे व्यक्तिगत रूप से परिचय प्राप्त करना चाहते थे। कोई अध्यापक और विद्यार्थी उनसे मिल सकता था और सहानुभूति की अपेक्षा कर सकता था। गरीब विद्यार्थी तो सदा ही उनकी कृपा के पात्र रहते थे ओर उनसे आवश्यकतानुसार सहायता प्राप्त करते रहते थे। उनका दरबार हर व्यक्ति के लिए हर समय खुला रहता था। उनका आदर्श प्राचीन काल के कुलपतियों और आचार्यों का था, जो अपने पासे से भोजन और वस्त्र देकर विद्यार्थियों को ऊँची से ऊँची शिक्षा देकर स्नातक बनाकर देश में विद्या और सदाचार का प्रचार करने के लिए भेजा करते थे। वे विश्वविद्यालय के प्राण ही नहीं, मन और आत्मा भी थे। विश्व-विद्यालय के साथ उनका पूर्ण तादात्म्य था। उनके दर्शन मात्र से चित्त में हर्ष और उत्साह का संचार होता था। आरंभ में वे विश्वविद्यालय के कुलपति नहीं थे। पीछे वे कुलपति चुने गये और २० वर्षों से ऊपर पदासीन रहे। उनके समय में विश्वविद्यालय की आर्थिक दशा उनके राजनीति में भाग लेने के कारण शोचनीय ही रही पर अपने त्याग और निष्ठा के बल पर उन्होंने इसके उत्कर्ष में बाधा नहीं आने दी।

आरम्भ के पाँच वर्षों तक विश्वविद्यालय सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में ही केन्द्रित रहा, वहीं इसके सब कार्य होते रहे। सेन्ट्रल हिन्दू कालेज कमच्छा में काशी नरेश की बिल्डिंग में था। इसका एक हाल काशी नरेश हाल कहलाता था जहाँ पर सारी सभायें आयोजित की जाती थीं और नित्य की प्रार्थनायें हुआ करती थीं। सड़क के पार सामने ही थ्योसोफिकल सोसाइटी का विशाल प्रांगण था जहाँ पर सुनाम धन्य श्रीमती एनी बेसेन्ट और उनके अनुयायी लोग रह कर अपनी सांस्कृतिक क्रियायें किया करते थे। हम लोग वहाँ बड़े चाव से और स्वतंत्रता के साथ जाया करते थे और व्याख्यान सुना करते थे। वहां थ्योसोफिकल विचारकों के सम्पर्क से बहुत कुछ सीखने का मौका मिला। विशेष कर मुझे तो बहुत आध्यात्मिक और मानसिक लाभ प्राप्त हुआ। वहाँ से थोड़ी ही दूर पर श्री रामकृष्ण परमहंस के नाम पर अद्वैत आश्रम और सेवाश्रम थे जहाँ हम लोग समय-समय पर जाकर ज्ञान और सदाचार की शिक्षा प्राप्त करते थे। वहाँ बड़े-बड़े आध्यात्मिक और विख्यात महात्माओं के सम्पर्क में आने और जीवन सुधार संबंधी शिक्षा हासिल करन का मौका मिला। मेरे लिए तो ये तीनो ही संस्थायें—सेन्ट्रल हिन्दू कालेज, थ्योसोफिकल सोसाइटी और रामकृष्ण मिशन अत्यन्त उपयोगी और

स्थायी लाभ दायक सिद्ध हुईं, जिनकी अमिट छाप मेरे जीवन पर पड़ी। मुझे उसका स्पष्ट परिणाम जीवन में अनुभूत हुआ जब मैं योरप, अमेरिका, चीन, जापान, स्याम, इन्डोनेशिया और बर्मा आदि देशों में यात्रा के लिए गया। इन सब संस्थाओं ने मुझे अपनी सदस्यता का प्रमाण पत्र देकर भेजा था जिसके कारण मुझे सब जगह सब प्रकार की सुविधायें प्राप्त हुईं।

विश्वविद्यालय की हीरक जयन्ती के पुण्य पर्व पर अतीत के इन अविस्मरणीय भाव-कुसुमों द्वारा महामना और उनके कीर्ति मंदिर अपने विश्वविद्यालय को बार-बार प्रणाम कर अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि निवेदित कर रहा हूँ।

अवकाश प्राप्त आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
निवास–अत्रे भवन, लंका वाराणसी।

पूज्य मालवीय जी के कुछ अविस्मरणीय संस्मरण

`पं० मूलशंकर शास्त्री

मेरी अवस्था संभवतः दस वर्ष की रही होगी। उस समय मैं ब्रह्मा घाट पर रह कर सांगवेद विद्यालय में संस्कृत का अध्ययन करता था। एक दिन सहपाठी छात्रों में यह बात चली कि देश के महान् नेता श्री मालवीय जी महाराज पं० नित्यानन्द जी से मिलने उनके दुर्गाघाट स्थित नाना फनिसवाड़ा में अभी आ रहे हैं। कुतूहल वश हम लोग वहाँ पहुँच गये। उनके दर्शन अनायास हो गये। करीव-करीव दो सौ विद्वान् एवं जनता की भारी भीड़ थी। बातचीत में नित्यानन्द जी महाराज उग्र स्वर में कह रहे थे कि आपके विश्वविद्यालय से भारतीय संस्कृत एवं पठन-पाठन की प्राचीन परम्परा रक्षित नहीं हो सकती, प्राचीन विद्वानों का वहाँ अनादर होगा इत्यादि। मालवीय जी महाराज अत्यन्त शान्ति से उनका समाधान कर रहे थे, परन्तु वे उस समाधान से अत्यधिक सन्तुष्ट नहीं दीख रहे थे। हम लोग मालवीय जी महाराज की शान्ति और नम्रता से अत्यन्त प्रभावित हुए। उस भव्य छवि का आकर्षण अंतः में अंकित हो गया।

उसके अनन्तर उनके भाषण आदि जो महती सभाओं में होते थे उसे अक्सर सुनते और प्रेरणा ग्रहण करते थे। एक बार संयोगवश प्रयाग के कुम्भ मेले में मुझे उनके साहचर्य का किञ्चित लाभ प्राप्त हुआ। मुझे उनके कल्पवास के लिए निर्मित कुटिया में दो तीन बार जाने का सुअवसर मिला।

उन वर्षों में मालवीय जी महाराज दशाश्वमेध घाट पर शिवरात्रि के पर्व पर सबको ऊँ नमः शिवाय का मन्त्रोपदेश देते थे। ऊँकार युक्त नमः शिवाय मंत्र का उपदेश शूद्रों को नहीं देना चाहिए, यह काशीस्थ प्राचीन विद्वानों का मत था। तदर्थ शास्त्रार्थ भी होते रहे, कुछ पत्रिकाओं में चर्चा भी चल पड़ी पर मालवीय जी महाराज उपदेश से विरत नहीं हुए। उनका हृदयगत भाव था कि इस विजय में सभी विद्वान् एक मत हों तो अच्छा।

मैं उस समय कुम्भ मेले के अवसर पर ब्रह्मलीन महा मण्डलेश्वर श्री स्वरुपानन्द जी के आश्रम में ठहरा था। वे असाधारण विद्वान् थे। जब मालवीय जी से वातचीत के सिलसिले में मैंने अपने ठहरने का स्थान वतलाया, तब उन्होंने मुझसे कहा कि इस कुम्भ मेले में बड़े-बड़े मण्डलेश्वर विद्वान् एकत्र हैं, अतः उनसे मन्त्रोपदेश के विषय में जो विप्रतिपत्ति चल रही है, उसका समाधान कर लेना चाहिए। गिर्वाण वाग्वर्धिनी सभा म इस समस्या तर विचार हो चुका था और रामघाट स्थित सांगवेद विद्यालय का छात्र होने के कारण मैं भी ऊँकार युक्त नमः शिवाय मन्त्र के उपदेश के विरुद्ध था, अतः मैंने उनसे झट कह दिया कि महाराज आपके सामने देश का महान् कार्य है आप भारत की महती सम्पत्तिके रुप में हैं। इस छोटे विवाद में क्यों उलझते हैं? आप जो ऊँकार युक्त नमः शिवाय का उपदेश शूद्रों को देते हैं, वह शास्त्र विरुद्ध है। उस समय उनके पास कुछ विद्वान व्यक्ति विद्यमान थे, उनमें श्री हीरावल्लभ जी शास्त्री भी थे। वे मेरे उत्तर से कुछ असन्तुष्ट भी हुए, परन्तु मालवीय जी महाराज ने यही

कहा ठीक है परन्तु यहां भी तत्सम्बंधी राय लेने म क्या हर्ज है। मैं कल ठीक अपराह्न चार बजे स्वरुपानन्द जी के यहां आऊँगा, तुम पहले से स्वामी जी से मेरे आने का संदेश कह देना और तुम भी वहीं रहना। दूसरे दिन यथा समय मालवीय जी महाराज, मण्डलेश्वर जी तथा मैं तीनों एकत्र हुए। मण्डलेश्वर जी से महाराज न ऊँकार युक्त नमः शिवाय मन्त्र के उपदेश की चर्चा की। मण्डलेश्वर जी ने श्रुत्यादि प्रमाणों के आधार पर धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों से पुष्ट उद्धरण द्वारा समझाया कि स्त्री एवं शूद्रों को ऊँ नमः शिवाँय मन्त्र का उपदेश नहीं देना चाहिए। उनका मत जानने के पश्चात् मालवीय जी महाराज अन्य मण्डलेश्वरों के पास भी गये, अन्त में उन्होंने अपना आग्रह त्याग दिया, और उस वर्ष की शिवरात्रि पर महामण्डलेश्वर स्वामी श्री स्वरुपानन्द जी से ही केवल नमः शिवाय का उपदेश दिलाया गया। यह बात मण्डलेश्वर जी ने ही मुझसे कही।

गुजरात के सूरत जिले के किसी हाई स्कूल के विद्वान् ने भागवत पर गुजराती भाषा में अनुसन्धानात्मक ग्रन्थ लिखा और उसे छपवाने के लिए अहमदाबाद के श्रेष्ठि श्री मंगल गिरवर से प्रार्थना की। उक्त सेठ ने उस विद्वान् से कहा कि यदि मालवीय जी महाराज आपके ग्रन्थ के पक्ष में अपना अभिमत देदें तो मैं छपाई का सारा खर्च वहन कर लूंगा। मैं मालवीय जी से आपके विषय में लिखूंगा, आप काशी जाइए और महाराज को ग्रन्थ दिखलाकर उनकी सम्मति ले लीजिए। गर्मी के अवकाश में वे महानुभाव आये और चौखम्भा में ठहरे। उन्होंने विश्वविद्यालय जाकर मालवीय जी का दर्शन किया। मालवीय जी को उनके आने का उद्देश्य पहले से ज्ञात ही था। उस समय वे काफी अस्वस्थ थे और पलंग पर लेटे रहते थे। उक्त विद्वान् को देखते ही मालवीय जी ने कहा कि तुम ठीक समय पर आये हो, मैं अपने अन्तिम समय में तुमसे भागवत सुनूंगा। विद्वान इस बात से अत्यधिक प्रसन्न हुए। मालवीय जी का उनसे श्रीमद्भागवत सुनना उनके परम सौभाग्य का सूचक था। गर्मी के दिन, अत्यन्त लू, ऐसे समय में नित्य विश्वविद्यालय जाना भी कष्टप्रद था।

मालवीय जी का दरबार जहां बड़े-बड़े विशिष्ट जन, राजनेता आदि उनके दर्शनार्थ नित्य ही आतेजाते थे। इसलिए उन विद्वान महोदय को काफी समय बाहर बैठना पड़ता था। छः सात रोज के बाद उनसे बातचीत हुई तो मालवीय जी ने कहा—भाई, तुमने गुजराती में लिखा है, तुम हिन्दी ठीक से बोल भी नहीं पाते, ऐसी स्थिति में एक ऐसे व्यक्ति को ढूढ़ों, जो गुजराती और हिन्दी दोनों भली प्रकार जानता हो, जिससे मैं तुम्हारे विषय को अच्छी तरह समझ सकूं। जहां वे ठहरे थे उस मकान मालिक से मेरा परिचय था, वे उन्हें मेरे यहां ले आये। मैंने उनकी बात स्वीकार कर ली। उन्होंने दूसरे दिन मालवीय जी के सम्मुख मेरा नाम लिया। महामना ने कृपापूर्वक स्वीकृति दे दी। दूसरे दिन तांगा लेकर वे महाशय मेरे यहाँ प्रातः दस बजे पहुँचे। लू चल रही थी साथ ही संयोग से उक्त पंडित जी को रात से ही पेट में महान् दर्द और आँव की शिकायत हो गई थी, वे अस्वस्थ थे। पर उन्हें तो अपना ग्रन्थ सुनाना था और अभिमत प्राप्त करना था। मुझसे मार्ग में बार-बार पूछ रहे थे कि आप कैसे सुनायेंगे। मैंने उन्हें केवल इतना ही उत्तर दिया देखिये, हरि इच्छा, वहां क्या होता है। सौभाग्यवश मालवीय भवन में मालवीय जी लेटे थे और उनके पास भूतपूर्व आयुर्वेदिक कालेज के प्रिंसिपल डा० बाल-

कृष्ण पाठक बैठे थे। मैंने वहाँ जाकर उनके चरण छुए। महाराज प्रसन्न मुद्रा में थे। मेरे मस्तक पर अपना हाथ रख दिया। फिर मालवीय जी ने कहा कि इनका भागवत पर जो अनुसंधान है, उसे कुछ रोज सुनाओ। मेरे मुख से अनायास निकल गया कि आपको क्या सुनाना है ? आप परम भगवत हैं, आपके शरीर का रोम-रोम भागवत रस से निर्मित है। आपका भागवत ज्ञान अगाध है, आपकी ज्ञानराशि के सामने ये पंडित महोदय जुगनू के सदृश हैं, अतः आप इन्हें आशीर्वादपत्र प्रदान कर दीजिए नहीं तो ब्रह्महत्या हो जायगी। मालवीय जी महाराज ब्रह्महत्या, शब्द सुनकर विचलित हो उठे। कैसी ब्रह्महत्या ? मैंने कहा—आपके दरबार में नित्य आते जाते हैं। इस लू में, इनके पेट में उथल-पुथल मची है, दस्त हो रहे हैं, यहाँ अधिक रोज रहेंगे तो ये बच नहीं सकते। आपको क्या सुनायेंगे। मेरे इतना कहने पर पाठक जी से मालवीय जी ने उन्हें दवा बतलाने को कहा। साथ ही गोविन्द जी को बुलाकर कहा ये पंडित जी गुजरात से आये हैं। ये अपने मेहमान हैं, इन्हें कल भोजन कराओ, और मैं जैसा कहूँ, वैसा लिख कर मुझसे हस्ताक्षर कराकर उन्हें दे दो। वे पंडित चकित हो गये कि यह क्या हो गया। पंडित जी ने मुझसे अत्यधिक कृतज्ञता व्यक्त की। उनके नेत्रों में आंसू झलक आए, मुझसे कहा कि पुस्तक छप जाने पर आपको एक प्रति भेजूंगा, पर न प्रति आई और न उनका नाम मुझे याद है, पर उस सेठ की सहायता से उनकी पुस्तक छप गई। इन स्मृतियों के साथ विश्वविद्यालय की हीरक जयन्ती के पावन पर्व पर उक्त मनीषी को शतशः नमन।

अवकाश प्राप्त प्रवक्ता, प्राच्य विद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
निवास—चौखम्भा, वाराणसी

ब्रह्मर्षि महामना मालवीय जी

पं० केदारदत्त जोशी

सन् १९३७ के जून समाप्ति की बात है जब मैंने गणित ज्योतिषाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की थी। मेरे प्रातः स्मरणीय पूज्य गुरुवर श्री पं० बलदेव जी पाठक तत्कालीन (हिन्दू विश्वविद्यालय स्थित) ज्योतिष विभाग के वरिष्ठ अध्यापकों में थे। उन्हें सार्वभौम, महामहोपाध्याय श्री पं० सुधाकर द्विवेदी की शिष्य परम्परा के प्रधान ग्रह गणितज्ञ शिष्य होने का भी सौभाग्य प्राप्त था। उक्त गुरुवर ने मुझे मेरे सुदूर पर्वतीय अल्मोड़े जिले के जुनायल ग्राम में पत्र भेजकर काशी बुलाया था। उसी साल दुर्दैव से पितृ-वियोग हुआ था। माता की दयनीय दशा एवं भाई-बहनों के पालन पोषण की अव्यवस्था से अत्यन्त दीन व सन्तप्त अवस्था में किसी प्रकार काशी विश्वेश्वर स्वरूप गुरुदेव के चरणों में पहुँचा।

आते ही पूज्य गुरु जी ने आदेश दिया कि कुलपति मालवीय जी से मिलने देहरादून (मंसूरी) जाओ। अपनी उस विपन्न अवस्था में माता के कुछ आभूषण विक्रय कर काशी तक पहुँच सका था। तत्काल गुरु आदेश पालन करने के लिए साधन विहीन मूकवत खड़ा था। अन्तर्वेदना के अनुभावक पूज्य गुरु चरणों ने मुझे तत्काल उदारता पूर्वक २०) देकर विदा किया। इसके पूर्व विद्यानुशीलन और आजीविका भावना से पूज्य मालवीय जी से साक्षात्कार कर चुका था। मिलते ही महामना ने एक प्रार्थना पत्र लिखने को कहा और उस पर पी०वी०सी०, शीघ्र २५) मासिक वृत्ति देकर इनके शोध कार्य में सहयोग दें, लिखकर मुझे दे दिया।

ऐसी थी महामना की करुणा और उदारता जिसने मुझ जैसे असंख्य निराश्रितों को आश्रय प्रदान कर न केवल जींविका प्रदान की अपितु आगे के अध्ययन का अवसर भी प्रदान किया।

एक दिन जब मैंने उनसे अन्यत्र गमन के लिए एक प्रमाण पत्र प्राप्ति की प्रार्थना की तो उन्होंने मुझसे कहा 'तुम धैर्य रखो तुम्हारे लिए प्रबन्ध हो रहा है।' १९३८ में कार्यकारिणी द्वारा मेरी नियुक्ति कर दी गयी। कार्यकारिणी से लौटने पर उनके बंगले पर मैंने उनके दर्शन किए। उन्होंने कहा 'अरे केदार दत्त ! जाओ आज से तुम विश्वविद्यालय के अध्यापक हो गये। निष्ठापूर्वक कार्य कर विश्वविद्यालय की प्रगति में सहायक होना।' इसके अनन्तर उनके जीवन के अंतिम क्षणों तक सायं उनके साहचर्य एवं दर्शन से जिस प्रेरणा एवं सुखानुभूति का अनुभव करता रहा उसका वर्णन वाणी का विषय नहीं है।

परम उदार, महान दयालु, मालवीय जी में केवल मानवीय गुणों की अप्रतिम प्रतिष्ठा न थी, अपितु वे ज्ञान विज्ञान एवं शिक्षा के विकास के लिए भी पूर्ण समर्पित थे। इसका ज्वलन्त उदाहरण काशी हिन्दू विश्वविद्यालय है। देश-विदेश के अनेकों विद्वानों को वे परिश्रम पूर्वक आजीवन एकत्र करते रहे।

हमारे देश की परम्परा में व्यक्ति की अपेक्षा उसके मानवीय आचरण, गुण एवं योग्यता की प्रतिष्ठा सर्वोपरि रही है। ऐसे युग पुरुष के लोकोत्तर गुणों के प्रकाश में ही लोक जीवन

को शक्ति, गति एवं स्फूर्ति प्राप्त होती है। महामना अपने इन्हीं अलौकिक गुणों के चलते जन-जन के कंठहार बन कर अमरता प्राप्त कर सके। उनके दर्शन मात्र से सम्पूर्ण ताप दग्ध हो जाते थे। श्रुति, स्मृति, से पुराण, काव्य, कला, साहित्य, अविज्ञान आदि उनके भीतर जैसे मूर्त हो उठे थे। महामना जब गद्‌गद् भाव से श्रीमद्‌भागवत् की कथा कहते, तब उनकी अमृतमयी वाणी के प्रवाह में समस्त श्रोतागण आह्‌लादित हो मंत्रमुग्ध हो उठते थे। उनके श्रीमुख से भक्तिरस की अखंड धारा उस वातावरण को रसमग्न कर देती थी। लीला कंद श्रीकृष्णचन्द के बाल लीला का दृश्य जब वे उपस्थित करते थे, तब उनके सजल नयनों में भगवद्‌भक्ति का रस उमड़ पड़ता था; श्रोता ठगे से, अपलक उनको देखते ही रह जाते थे।

महामना का समग्र जीवन विश्वविद्यालय के लिए तो सर्मपित था ही वे देश भक्ति में भी प्रथम पंक्ति में विद्यमान थे। विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा द्वारा वे देश के उन्नयन की दिशा में ठोस भावभूमि का निर्माण कर रहे थे।

हिन्दुओं की विच्छिन्न स्थिति को देख, अछूतोद्धार का कार्य भी मालवीय जी ने सम्हाला, परं उसमें कहीं भी श्रुति का सूत्र नहीं टूटने पाया। काशी म पतितपावनी भगवती गंगा के तट पर उन्होंने अछूतों को मंत्र दिया। संदेहवादियों ने उनके इस कर्म को चाहे जैसा भी समझा हो, पर पतितपावनी गंगा उनके लिए भी वैसी ही उदार थीं। पक्के सनातन हिन्दू धर्मावलंबी होते हुए भी वे अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु थे। उनका कहना था--

'सनातन धर्मी, आर्य समाजी, ब्रह्म समाजी, सिक्ख, जैन, और बौद्ध आदि सब हिन्दुओं को चाहिए कि वे स्वयं अपने विशेष धर्म का पालन करते हुए एक दूसरे के साथ प्रेम तथा आदर का व्यवहार करें। उनका विश्वास था---

विश्वासे दृढ़ता स्वीये परनिन्दाविवर्जनम्।
तितिक्षा मतभेदेषु प्राणिमात्रेषु मित्रता।।

विश्वविद्यालय की हीरक जयन्ती के पुण्य पर्व पर हम सब उस ब्रह्मर्षि के पावन चरणों में अपनी प्रणत श्रद्धाञ्जलि निवेदित कर अपने को बड़भागी समझते हैं।

अवकाश प्राप्त रीडर, ज्योतिष विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
निवास---नगवा, वाराणसी।

आधुनिक भारत का सामाजिक दर्शन और महामना मालवीयजी

डॉ० बशिष्ठ नारायण त्रिपाठी

भारतीय जन-मानस की जिन विक्षुब्ध परिस्थितियों ने साहित्य के क्षेत्र में छायावाद को जन्म दिया—राजनीति के प्रांगण में गांधीवाद को आविर्भूत किया, उन्हीं उद्वेलित और संक्रमण-कालीन विभीषिका से उत्प्रेरित होकर भारतीय चिन्तकों ने सांस्कृतिक जागरण को बहुमुखी विकास हेतु पाथेय समझा। महामना मालवीय का अवतरण सांस्कृतिक पुनर्स्थापना का जाज्वल्यमान उदाहरण है। जगत् के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी ऐसी रही है जब नवोद्भूत पाश्चात्य सभ्यता-सांस्कृतिक विजय के लिए पृथ्वी के कोने-कोने में बढ़ चली थी। भारत में अंग्रेजों का आगमन और अंग्रेजी राज्य की स्थापना कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। वह लहर थी, उस सांस्कृतिक उथल-पुथल की जो पश्चिम में नये वैज्ञानिक ज्ञान और प्रकाश के कारण उत्पन्न हुयी थी। जीवन के प्रति युग-युग से भारत के महर्षियों ने एक विशेष दृष्टि प्रदान की है जिसे आधार बनाकर भारत की अमर संस्कृति की अपूर्व अट्टालिका खड़ी हुई है। मालवीय जी उसी भारतीयदृष्टि के प्रतीक थे। उनका तपस्वी जीवन, उनका उदार हृदय, उनकी कठोर नैतिकता, मानवता के प्रति उनकी शुद्ध निष्ठा, भोगों के प्रति विरक्ति, त्याग और बलिदान में अनुरक्ति, पवित्र तथा ऊँचे आदर्शों की अमित पूजा, भला एक साथ कहाँ दिखाई देती है? ब्राह्मण शब्द में ऋषियों ने जितनी कल्पना भरी थी उन सबकी अजीब अभिव्यक्ति मालवीय जी में हुई थी। उनमें ज्ञान था, कर्म था, आदर्शके प्रति भक्ति और आत्मा के बल में विश्वास था। भावनाओं की उस त्रिवेणी में अवगाहन करके पूत हुआ उनका जीवन राष्ट्र को सदा अनुप्राणित करता रहा।[१]

हमारी दशा और हमारा मुख्य कर्त्तव्य :

पूर्ण संतोष ठहराव है और असंतोष प्रवाह। अभाव की पूर्ति ही रचना की प्रक्रिया है। महामना के अनुसार रचनाधर्मिता देश व्यापी होनी चाहिए। किसी मनुष्य अथवा किसी जाति की तब तक उन्नति नहीं हो सकती, जब तक वह उसकी वर्तमान दशा से असंतुष्ट होकर उसे सुधारने का यत्न न करे। वर्तमान अवस्था से असंतोष और उन्नति की इच्छा, ये दो उन्नति के मूल हैं। जाति की उन्नति और अवनति इतनी धीरे-धीरे होती है कि वह होती हुई दिखायी नहीं देती।[२] वर्तमान समय में हम राजनैतिक, सामाजिक और धर्म-सम्बन्धी कारणों से जितने कष्ट झेल रहे हैं, उनका पूरी तरह से अनुमान भी नहीं कर सकते; क्योंकि उनको सहते रहने का हमारा स्वभाव हो गया है। यह मनुष्य की प्रकृति है कि दुख सहते-सहते उसे दुख दुःसह नहीं रह जाता। महामना का संदेश है कि, "हम लोगों को अपनी वर्तमान दशा से जितना खिन्न और असंतुष्ट होना चाहिए, उतने हम नहीं हैं।" हमारे अधिकार सैकड़ों वर्षों से हमारे हाथ से जाते रहे और हम अपनी आँखों में अपने पास अधिकार नहीं देखे।[३]

---

१ महामना मालवीय वर्थ सेन्टेनरी कामेमोरेशन वाल्यूम, २५ दिसम्बर १९६१, पृष्ठ २०८

२ पद्मकान्त मालवीय : मालवीय जी के लेख, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, जून १९६२, पृ० ५१।

३ वही, पृ० ५१, ५२।

सन् १८९३ में कांग्रेस के अधिवेशन में महामना ने ब्रिटिश शासन का ध्यान देश के लाखों नर-नारियों की विपन्नता पर आकर्षित करने का प्रयास किया। उनका कथन था कि ब्रिटिश सरकार को चाहिए कि भारतीयों के रोजमर्रा की जिन्दगी को निकट से देखें। जैसे— "विदेशी शासनके पदाधिकारियों को चाहिए कि भारत-भूमि पर कदम रखकर गाँव-गाँव और नगर-नगर घूम कर भारतीय जन-जीवन की विपन्नता को निकट से देखें। यदि वे भगवान् की सत्ता पर विश्वास रखते हैं तो यहाँ के विपदग्रस्त श्रमिकों, शिल्पकारों, जुलाहों, और इसी तरह अन्य कला-कौशल के क्षेत्र में कार्यरत व्यक्तियों से मिलें। अब भारतीय कलाकार कहाँ रहे? उन्हें तो रोटी के लिए विदेशों की शरण लेनी पड़ी। आज भी सैकड़ों की मात्रा में प्रतिवर्ष उनका विदेश गमन जारी है।"[१]

मर्यादाबद्ध आन्दोलन :

एक प्रसिद्ध अंग्रेज राजनीतिज्ञ ने एक स्थान पर लिखा है "प्रत्येक देश के अभ्युदय का प्रथम चिह्न यह है कि उस देश के निवासी अपनी पतित दशा का ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त करें।" यह कथन पूर्णतया सत्य है। जब तक कोई मनुष्य अपनी खराब हालत को नहीं जान लेता, तब तक उसमें अपनी उन्नति करने के भाव का पैदा होना असंभव है। हम लोगों में एक बड़ा गुण अथवा अवगुण यह है कि हम हद से ज्यादा सन्तोषी तथा सहनशील हैं। अधिक संतोषी होना अच्छा गुण नहीं। वार्ली साहब ने अपनी पुस्तक 'उद्योगी भारत' में लिखा है—"हिन्दुस्तान में जिज्ञासा तथा आविष्कार के अभाव का एक कारण यह है कि यहाँ के लोगों की इच्छाएँ बहुत ही कम हैं। इससे एक हानि यह है कि, जो लोग स्वभाव से ही अन्वेषणशील हैं वे भी कला-कौशल की उन्नति की ओर ध्यान देने का मौक़ा नहीं पाते। एक समय वह था जबकि प्रत्येक देहात का एक साम्राज्य था और अपने निवासियों की सब आवश्यकताओं को पूर्ण करता था। परन्तु अब समय वह नहीं है। अब हिन्दुस्तान को अन्य जातियों के साथ शिल्प-युद्ध करना है, अब उसकी आवश्यकताएँ भी बढ़ गयी हैं। अब उसे संतोष को छोड़ नित्य नई कलाओं का प्रचार करना चाहिए।" हमारा यह संतोष जैसे हमारे शिल्प की उन्नति नहीं होने देता, वैसे ही हमें राजनीतिक स्वत्वों को पाने से भी रोकता है।"[२]

इतिहास साक्षी है कि बिना आन्दोलन के कभी किसी जाति का अभ्युदय न हुआ, न होगा। कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन में श्रीयुत् दादा भाई नौरोजी ने इस विषय पर जो कुछ कहा था वह याद दिलाने योग्य है। उन्होंने कहा था : "आन्दोलन ही विलायत के राजनीतिक, सामाजिक तथा औद्योगिक इतिहास का जीवन है। आन्दोलन के द्वारा ही अंग्रेजों ने अपने स्वत्व, अपनी सम्पत्ति, अपनी स्वाधीनता और संसार की जातियों में पहली श्रेणी पायी है।"[३] आन्दोलन दो प्रकार के होते हैं; एक नियम बद्ध और दूसरे नियम विरुद्ध। अनुभवी, विचारशील तथा राजनीति कुशल लोग यथा शक्ति नियमबद्ध आन्दोलन का सहारा लेते हैं। जापानियों ने इसी प्रकार के आन्दोलन के सहारे अपने देश का अभ्युदय किया है। अंग्रेज जिस स्वाधीनता

---

[१] महामना वर्थ सेन्टेनरी कामेमोरेशन, वाल्यूम, पृ० ३५।

[२] मालवीय जी के लेख, पृ० ८१–८२।

[३] वही, पृ० ८२।

का उपयोग कर रहे हैं उसे उन्होंने अधिकांश इसी प्रकार के आन्दोलन से पाया है। सर जान लवक ने लिखा है कि, "संसार में शस्त्रों द्वारा जितने परिवर्तन किये गये हैं, और जहाँ कहीं शस्त्र का प्रयोग भी किया गया है वहाँ पर अधिकांशत: लेखनी ने ही तलवार को घुमाया है। भालों की अपेक्षा विचार अधिक बलवान होता है।"[१]

दुनियाँ में जहाँ भी आम आदमियों पर अत्याचार हुआ है क्रान्ति भी वहीं हुई है। क्रान्ति का झंडा जिन लोगों ने फहराया है वे हमेशा ही मध्यम वर्ग के लोग रहे हैं। समाज का सबसे सजीव अंग मध्यम वर्ग ही है। महामना जी इस तथ्य से परिचित थे और इसीलिए स्वदेशी आन्दोलन के स्वरूप को प्रगट करते हुए उन्होंने अपना दृष्टिकोण इन शब्दों में व्यक्त किया है— "स्वदेशी आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य देश की आर्थिक दशा को सुधारना है। देश की आर्थिक दशा तभी सुधर सकती है जब देश में देशी चीजों का व्यापार बढ़े और नित्य की आवश्यक चीजें यहाँ बनने लगें। जिन देशों में स्वराज्य है, उन देशों में इनकी रक्षा गवर्नमेन्ट कर लगा कर और रुपया देकर करती है पर इस देश में इस सम्बन्ध में गवर्नमेण्ट से बहुत आशा नहीं की जा सकती; इसलिए आत्म-साहाय्य और स्वार्थ-त्याग से ही इनकी रक्षाकरनी पड़ेगी।"[२] महामना परिवर्तन लाने के लिए रचनात्मक कदम उठाना आवश्यक समझते थे। उनका कहना था, "हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम अपने देश-भाइयों में उनके अधिकारों का ज्ञान फैलाकर उनकी मिली हुई राय की शक्ति को जहाँ तक बढ़ा सकें, बढ़ाकर उसका पूरा जोर गवर्नमेण्ट पर डालकर उन प्रतिज्ञाओं के अनुसार काम करावें। इसमें भी हमको फल सिद्धि सहज में नहीं मिलेगी। माँगते ही हमको अधिकार नहीं मिल जायेंगे। इसके लिए हमको एक कठिन संग्राम करना होगा, और वह संग्रामबहुत दिनों तक करना पड़ेगा। उस संग्राम में हमको पौरुष, अपनी वीरता, अपने धीर, और सत्य और न्याय और कहीं-कहीं अपने सर्वस्व त्याग की योग्यता को स्थापित करना होगा। किन्तु यह संग्राम शान्ति का संग्राम होगा। न उसमें हमको न्याय का उल्लंघन करना पड़ेगा न किसी ओर से अस्त्र शस्त्र चलेगा और न रुधिर गिरेगा।[३]

स्वराज अथवा प्रतिनिधि शासन-प्रणाली

महामना लिखते हैं कि कांग्रेस का इतिहास देखन से दो वातें स्पष्ट हैं; एक यह कि जिस बात पर कांग्रेस ने पहले से अपनी दृष्टि रखी है वह यह है कि हिंदुस्तानियों को प्रतिनिधि-प्रणाली से सच्चे आत्म-शासन का वैसा ही पूर्ण अधिकार प्राप्त हो, जैसा कि इंगलैण्ड के अधीन आत्म-शासन करने वाले उपनिवेशों को प्राप्ता हुआ है। दूसरी बात यह है कि कांग्रेस के नेताओं ने बहुत बुद्धिमानी से पहले से ही यह सिद्धान्त मान्यकर रखा है कि यद्यपि देश आत्म-शासन का पूरा अधिकार पाने के योग्य भी है, तथापि हम लोग धीरे-धीरे अधिकार पाने से भी संतुष्ट रहेंगे, जिसमें गवर्नमेण्ट को, विदेशी होने के कारण, जो यह शंका होती है कि कदाचित् ऐसे अधिकार देने से कोई हानि हो, उसका भी निराकरण होता जाय। सन् १९०५ में काशी की

---

[१] मालवीय जी के लेख, पृ० ८३।
[२] वही, पृ० ८५।
[३] वही, पृ० १५–१६।

कांग्रेस में माननीय श्री गोखले ने इस बात की याद दिलायी भी थी : "कांग्रेस का लक्ष्य है कि भारतवासियों पर उनके कल्याण की दृष्टि से शासन किया जाय और समय आने पर इस देश में भी ऐसी सरकार की स्थापना हो जैसी ब्रिटिश साम्राज्य के स्वशासित उपनिवेशों में गठित हुई है।"[१] प्रायः यह कहा जाता है कि स्वराज्य या प्रतिनिधि शासन-प्रणाली के जारी करने के लिए यह आवश्यक है कि सर्वसाधारण में शिक्षा का प्रसार हो जाय। सर्वसाधारण में यह विचार फैल जाय कि स्वराज सबसे बड़ा वरदान है, सबसे बड़ी नियामत है। बहुत दिनों के अनवरत तप से स्वराज मिल सकता है। इसका पहला साधन देश में, प्राणी-प्राणी में, देश की भक्ति का भाव बढ़ाया जाय। दूसरा साधन है कि नगर-नगर, गाँव-गाँव लोगों को स्वराज का अर्थ, उसकी आवश्यकता और उसकी महिमा समझायी जाय, तीसरा साधन है, प्रत्येक नगर और गाँव में सभाएँ स्थापित हों जो स्वराज्य पाने के लिए न्याय पूर्वक लगातार आन्दोलन करें।[२]

महात्मा गांधी और महामना मालवीय :

इस स्थल पर महत्मा गांधी तथा महामना की नैतिक मान्यता और अहिंसा के सिद्धान्त पर तुलनात्मक प्रकाश डालना अप्रासंगिक नहीं होगा। महात्मा गांधी की दृष्टि में धर्म ही जीवन का केन्द्र-विन्दु था किन्तु यह परम्परागत हिन्दू-धर्म नही था जिसे वे स्वयं स्पष्ट करते हैं—"मैं जिस धर्म को मान्यता देता हूँ उसे अन्य धर्मों की तुलना में इसलिए सर्वोपरि समझता हू कि यह परम्परागत हिन्दू-धर्म का अतिक्रमण करता है, हमारे व्यक्तित्व मे परिष्कार लाता है, आन्तरिक सत्य से अटूट सम्बन्ध स्थापित करता है—मानव जीवन का यह शास्वत तत्व है। इस धर्म के अनुसार जब तक सार्वभौमिक ज्ञान का उदय नहीं हो जाता तथा ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी विलय नहीं हो जाती तव-तक जीवन में शान्ति का उद्रेक नहीं। धर्म का यहीं परिष्कृत स्वरूत है।"[३] गांधी जी का धर्म अहिंसा था जिसके अजस्र प्रेरणा-स्रोत ईसाई धर्म तथा टाल्सटाय के धर्मोपदेश थे जिसे काल-क्रम केअनुसार संशोधित और परिवर्धित स्वरूप प्रदान किया गया। गंगाधर राव देशमुख के शब्दों में कह सकते हैं—"अहिंसा, जिसका गांधी जी के जीवन और दर्शन से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध हो गया था, वह भारतीय दर्शन और धर्म में एक सर्वथा नवीन सिद्धान्त नहीं है। आत्म-शुद्धि के रूप में अहिंसा की स्थापना महर्षियों के द्वारा बहुत पहले ही हो चुकी थी किन्तु गांधी जी की दृष्टि में इसका मूल्य समग्र व्यक्तिगत तथा सामाजिक विषमताओं का परिहार है। गांधी जी ने इस अस्त्र का प्रयोग उन समस्त राज-नैतिक तथा आर्थिक समस्याओं की गुत्थिओ को सुलझाने मूं किया है जिससे समकालीन परिवेश आक्रान्त है।"[४] जहां तक मालवीय जी का दृष्टिकोण है, हिन्दू-धर्म के अन्दर मानव-जीवन

---

[१] मालवीय जी के लेख, पृं० ७०–७१।

[२] वही, पृ० ७८, ७९।

[३] द्रष्टव्य, महात्मा गांधी : एसेज एण्ड रेफ्लेक्शन्स ऑन हिज लाइफ एण्ड वर्क, पृ० १६–१७; सम्पादक : एस० राधाकृष्णन् (७० वें जन्म दिन पर समर्पित)।

[४] द्रष्टव्य, गांधी जी : हिज लाईफ एण्ड वर्क, पृ० ७६ (उनके ७५ वें जन्म दिन पर प्रकाशित)।

को सुनियाजित तथा सुसंस्कृत करने के लिए प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। अन्य धर्मों की तरफ किसी भी प्रकार से प्रेरणा तथा निर्देशन के लिए झांकने की आवश्यकता नहीं है। इसका तात्पर्य अन्य धर्मों में उपेक्षा तथा अनासक्ति नहीं अपितु स्वधर्म में अडिग आस्था है।

अक्टूबर १९१७ में काशी हिन्दू विष्वविद्यालय के द्वितीय दीक्षान्त समारोह में भाषण देते हुए वे कहते हैं, "विश्वविद्यालय की शिक्षा का उद्देश्य है युवकों में चरित्र-निर्माण करना, धर्म और सदाचार को जीवन का अभिन्न अंग बनाना। हमारा विश्वास है कि धर्म ही चरित्र-निर्माण और आनन्द का अजस्र स्रोत है। धर्महीन व्यक्ति को मनुष्य कहने का कोई औचित्य नहीं।" सन् १९४२ के आन्दोलन के प्रश्न पर महामना तथा गांधी जी में मतैक्य नहीं हो सका था। एक वार वातचीत के सिलसिले में उनके निकटवर्ती व्यक्ति श्री सुरेन्द्र नाथ वर्मा पूछ बैठे—"महाराज! देश में यह जो आंधी और तूफान इस समय उठ रहे हैं उनका हल क्या होगा?" मालवीय जी ने बहुत धीरे से तत्काल उत्तर दिया—"सुरेन्द्र नाथ! तूफान आकर जाने के लिए ही उठा करते हैं।" आन्दोलन में हिंसा का जो प्रदर्शन हुआ क्या वह गांधी जी के अहिंसात्मक विचारों के अनुरूप था? और क्या इसके लिए वह जिम्मेदार नहीं हैं? मालवीय जी ने तपाक से उत्तर दिया—"हां! गांधी जी अवश्य ही आन्दोलन की सारी वातों के लिए जिम्मेदार हैं। जो कुछ हुआ उसकी न केवल नैतिक जिम्मेदारी उन पर है वल्कि सम्पूर्ण, किन्तु यही आन्दोलन सफल हो जाय तो दुनियाँ कहती और इतिहास में लिखा जाता कि भारत ने क्रान्ति द्वारा अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली। आन्दोलन असफल हो गया; तो इसी का नाम शाँतिमय विद्रोह या जो चाहो दे सकते हो।"[१]

धार्मिक मान्यताएँ और विश्वबंधुत्व की अवधारणा :

कुछ व्यक्तियों का कथन है कि महामना इस्लाम-धर्म के कट्टर विरोधी थे। लेकिन उनके निकटवर्ती पर्यवेक्षकों के अनुसार महामना की आत्मा व्यापक थी। प्रयाग उच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश श्री शंकरशरण लिखते हैं—"समग्र भारत में मालवीय जी का सामाजिक जीवन श्रद्धा और विनम्रता का मूर्तिमान स्वरूप था, किन्तु उनके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में यह मिथ्या धारणा फैला दी गयी कि मालवीय जी इस्लाम विरोधी हैं किन्तु मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि उनमें इस्लाम-धर्म के प्रति उदार भावना थी। मैं उनके निकट सम्पर्क में रहा हूँ लेकिन मुझे उनमें कभी भी इर्ष्या और द्वेष की गंध नहीं मिली। स्वभाव से वे इतने दयालु थे कि एक मक्खी मारना भी पाप समझते थे फिर जीवधारी व्यक्ति को कष्ट देने की बात ही दूर है। महामना का हृदय मुसलमानों के लिए खुला था लेकिन जहां महात्मा गांधी एकता के नाम पर सर्वस्व समर्पण करने को तैयार रहते थे वहां महामना अपने वैयक्तिक स्वरूप को पृथक् रखने के पक्षपर।[२] एक दिन धर्म पर बोलते हुए महामना ने कहा था—"घर में हमारा

---

[१] पं० पद्मकान्त मालवीय (सम्पादक) : मालवीय जी : जीवन झलकियाँ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण मई, १९६२, पृ० ६–७।

[२] महामना मालवीय वर्थ सेन्टेनरी कामेमोरेशन, पृ० ३२, ३३।

ब्राह्मण धर्म है, परिवार में सनातन धर्म है, समाज में न्हिन्दू-धर्म है, देश में स्वराज (कांग्रेस) धर्म है—और विश्व में मानव-धर्म है ।"[१]

विद्यार्थी और राजनीति :

समाज शास्त्रियों तथा राजनेताओं के समक्ष यह ज्वलन्त प्रश्न सर्वदा उपस्थित है कि विद्यार्थियों को सक्रिय राजनीति में हाथ डालना चाहिए या नहीं ? महामना अपनी दूरगामी-दृष्टि से इस विषय पर संतोष जनक प्रकाश डालते हैं । सन् १८९४ में मद्रास की एक सभा में इस विषय पर विचार हुआ था । सुरेन्द्र नाथ बनर्जी तथा कई अन्य सज्जनों ने कहा था कि विद्यार्थियों को राजनीति में हाथ डालना चाहिए । कुछ अन्य व्यक्ति तथा महामना इसके विरुद्ध थे । गोखले भी यही चाहते थे । मालवीय जी शास्त्रीय साक्ष्य उपस्थित करके अपना विचार प्रस्तुत करते हैं । मनु भगवान ने लिखा है : "सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः—" अर्थात् विद्यार्थी को चाहिए कि उन सब कार्यों को छोड़ दे जो उसके स्वाध्याय में विघ्न डालते हैं ।" सामान्य दशा में यही नियम पालन करना उचित है । दशा विशेष में जब देश में कोई ऐसी भारी विपत्ति आ पड़े कि उसके हटाने के लिए तुरन्त उद्योग करना सब धर्मों में बड़ा धर्म हो जाय, उस समय बड़े-बूढ़ों के साथ विद्यार्थी और बालक को भी अपने सामान्य धर्म को छोड़ कर ,उसके लिए उद्योग करना चाहिए—"हम इसके विरुद्ध नहीं हैं, बल्कि सर्वथा अनुकूल हैं कि विद्यार्थी अपने नियत अध्ययन से जो समय बचा सकें, उसमें अपने देश का इतिहास अपने धर्म का इतिहास, अपने पूर्वजों के चरित्र, अपने देश की विगत और वर्तमान अवस्था, दूसरे देशों के इतिहास के ग्रन्थ, समाचार का अध्ययन करें—हमारी राय में इससे आगे जाकर विद्यार्थियों का राजनैतिक आन्दोलन में शामिल होना, किसी रीति से राजनैतिक बातों में हाथ डालना, उनके तथा देश के लिए अहितकर है ।"[२]

वर्णाश्रम धर्म :

भारतीय इतिहास में जैन और बौद्ध-धर्म के आविर्भाव के साथ ही वर्णाश्रम धर्म पर आघात होना शुरु हो गया था । आज के वैज्ञानिक युग में जन-जीवन में निकटता अधिक आ गयी है । प्राचीन मान्यता खंडित हो रही है और नवीन मूल्यों का प्रस्फुटन हो रहा है । परिणाम स्वरूप वर्णाश्रम व्यवस्था विवादास्पद बन गयी है । महामना की दृष्टि में वर्णाश्रम धर्म समाज के लिए उपादेय है । वे लिखते हैं, "लोगों का मत है कि वर्णाश्रम धर्म की प्रथा ही हमारी इस अवनति और परस्पर फूट का कारण है, हमारी समझ में वर्णाश्रम धर्म के पालन न होने से ही हमारी यह अधोगति हो रही है और आपस में फूट फैल रही है ।"[३] अर्थ शास्त्र का सिद्धान्त "श्रम का विभाजन" प्राचीन वर्ण व्यवस्था का ही प्रतिफल है ।

दलितोद्धार की समस्या :

मालवीय जी ने हरिजनोद्धार के उद्देश्य से हरिजनों को मंत्र-दीक्षा के सम्बन्ध में काशी तथा देश केअन्य भागों से प्रकाण्ड पंडितों को निमंत्रित कर सभा आयोजित की थी तथा युग-धर्म

---

[१] मालवीय जी, जीवन झलकियाँ, पृ० २०२ ।

[२] मालवीय जी के लेख, पृ० २०, २१ । [३] वही, पृ० १७४ ।

पर ध्यान देते हुए धार्मिक व्यवस्था देने की प्रार्थना की थी। जहाँ पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण जैसे विद्वानों ने मालवीय जी का समर्थन किया, वहाँ कुछ कट्टर सनातनी विद्वानों ने कड़ा विरोध किया। विरोध की सीमा पारकर उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि इस कार्य सेआपको नरकगामी होना पड़ेगा। मालवीय जी ने हँसते हुए उत्तर दिया था—"यदि हिन्दू धर्म की एकता के लिए मुझे एक बार नहीं, हजार बार भी नरक जाना पड़े तो भी मैं वहाँ के कष्टों को सहर्ष भोग लूँगा। इस समय तो आप लोग हमारा समर्थन कर दीजिए।"[१] चौधुरी गिरिधारी लाल लिखते हैं कि मंसूरी जाते समय सन् १९३५ में महामना से हरिजनों की दुर्दशा का जिक्र छिड़ गया। वे बतला रहे थे कि "मानव-नामधारी ये करोड़ों प्राणी जितनी दयनीय दशा से गुजर रहे हैं कि इन्हे एक वक्त का अन्न जुटाने के लिए असंख्य यंत्रणाओं का सामना करना पड़ता है फिर भी भोजन नसीब नहीं होता। मैंने अपनी आँखों से देखा है उन सैकड़ों हरिजन बालक और बालिकाओं को गाय के गोबर में से अन्न के दाने बीनते हुए, ताकि उनका वे अपनी क्षुधा-निवारणार्थ उपयोग कर सकें।" और यह कहते-कहते उस करुणा-सागर की आँखों से अजस्त्र अश्रु-धारा बह निकली। उपस्थित जन-समुदाय निस्पन्द हो गया।[२]

शिक्षा :

महामना का कोमल हृदय शिक्षा की ह्रासोन्मुख दशा देख कर द्रवीभूत हो उठता था, यही कारण है कि उन्होंने अपना समग्र जीवन शिक्षा के सम्वर्धन में समर्पित कर दिया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय उनके उत्सर्ग का मूर्तिमान स्वरूप है। शिक्षा की तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश डालते हुए महामना लिखते हैं—"भारत सरकार हमारी शिक्षा के लिए क्या व्यय करती है इसे सुनकर पाठकों को चकित और दुखित होना पड़ेगा। सरकार इस देश में शिक्षा-प्रसार के लिए एक आना के लगभग प्रति व्यक्ति व्यय करती है। जिस देश वासियों से सरकार एक अरब से कुछ अधिक धन वार्षिक वसूल करती है, उनकी शिक्षा के लिए इतना कम खर्च करना न्याय है अथवा अन्याय, इसे पाठकगण स्वयं सोच लें।"[३] महामना की दृष्टि में स्त्री-शिक्षा के प्रचार-प्रसार पर ध्यान नहीं दिया गया था। उनका कहना है कि हमारे जातीय जीवन में सैकड़ों वर्ष से अंध-विश्वास रूपी कुसंस्कार इकट्ठे होते गये हैं, जिनके कारण ही हमारी जाति प्राण-विहीन समझी जाती है। अतएव इन कुसंस्कारों को हटाने के लिए ब्रह्मचर्य और सुचरित्र रूपी पैने हथियारों का उपयोग करना ही जातीय जीवन के उत्थान का एक मात्र मार्ग है। परन्तु हमारा सुचरित्र होना, ब्रह्मचारी बनना अथवा अन्ध-विश्वास का परित्याग करना तभी हो सकता है जब हम अपने स्त्री-वर्ग को सुधार कर उसे अपने अनुकूल बना लें। जब तक हम इस वर्ग को अपने साथ लेकर नहीं चलते, तब तक हम कभी जातीय जीवन की लहलहाती हुई लता को देखकर आनन्दित नहीं हो सकते—"स्त्री-शिक्षा का जो अथ लोग साधारणतः आजकल कर लेते हैं; हम उस बारे में अपने पाठकों से कुछ भी अधिक निवेदन करना नहीं चाहते। शिक्षा से हमारा तात्पर्य हृदय और मन की सभी शक्तियों का सम्यक रूप से विकास और उनकी पूर्ण पुष्टि से है।"

---

१ मालवीय जी—जीवन झलकियाँ, पृ० १०३।
२ वही, पृ० २०।
३ मालवीय जी के लेख, पृ० १२९।

आधुनिक भारत के निर्माता :

पूज्य मालवीय जी आत्मशुद्धि, बंधुत्व-वृद्धि और विश्व-कल्याण को नैतिक सत्य मानते थे। वे नैतिक जीवन के लिए तीनों को जरूरी समझते थे। सनातन-धर्म का प्रचार, हिन्दू-संस्कृति की रक्षा, देश की स्वतंत्रता, गौओं की सेवा, सामाजिक कुरीतियों का विरोध, स्वयं-सेवकों का संगठन, ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि, शिक्षा का विस्तार आदि क्षेत्रों में उन्होंने समाज का नेतृत्व किया।[2] पंडित जवाहरलाल नेहरू का यद्यपि कई राजनैतिक मामलों में महामना से मतभेद रहा किन्तु उन्होंने जो लिखा है वह उल्लेखनीय है : "मालवीय जी एक महा-मानव थे। वे उन लोगों में से थे जिन्होंने आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता की नींव डाली।"[3] उपनिषद का एक वाक्य है—'अनिराकरणं मे अस्तु'—इसका तात्पर्य यह है कि जीवन और जगत् में कहीं किसी मोर्चे पर भी भागने का अवसर नहीं। जीवन को ऊपर उठाने के लिए जिस वस्तु का जितना उपयोग किया जा सके करना चाहिए। मालवीय जी जन्मसिद्ध सच्चे नेता थे जिनके कल्पनाशील मन में उज्ज्वल कर्म के नये-नये भाव आते रहे—वे आजीवन आत्माहुति के लिए कटिबद्ध रहे। 'हवि रस्मि नाम'—मेरा नाम हवि है, यह मन्त्र जिसे सिद्ध हो वही नेता है। जो समाज की वेदना को अपनी कसक बना लेता है वही नेता ह। सच्चे नेता के करुणापरक कर्म में भगवान् की शक्ति व्याप्त हो जाती है। उसकी प्रेरणा के स्रोत अमर होते हैं। वह मिट्टी के उपकरण से लोहे के व्यक्ति ढालता है। मालवीय जी में नेतृत्व का ऐसा ही अद्भुत गुण था। मालवीय जी राष्ट्र के कल्याण और हिन्दू जाति के कल्याण को सर्वथा अभिन्न मानते थे। जो भारत-माता को अपनी मातृ-भूमि समझे वही सच्चा हिन्दू है। हिन्दू की यही अटूट परिभाषा है, दूसरी नहीं। यही महामना का अभीष्ट था। 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।' जो इस राष्ट्रीय सच्चाई को सब काल में हृदय से मानता है वही भारतीय है और वही हिन्दू है।

महामना ने उसी अखण्ड ज्योति का साक्षात्कार किया था जो जीवन के शाश्वत मूल्य में आस्था रखती है और जिसका अखण्ड अनुभव ही भारतीय संस्कृति का चिरंतन प्रवाह है। 'मैं राज्य नहीं चाहता, स्वर्ग नहीं चाहता, और मोक्ष भी मुझे नहीं चाहिए, मेरी केवल एक ही अभिलाषा है कि जो बँधे हैं उनके बंधन दूर हों, जो दुखी हैं उन्हें शान्ति प्राप्त हो'—इन भावों से उमड़ता हुआ समुद्र मालवीय जी का हृदय था।[4] वे सच्चे अर्थों में संत थे। अस्तु उसी रूप में उन्हें शतसः नमन—

बंदउ संत समान चित हित अनहित नहिं कोउ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ॥

---

[1] मालवीय जी के लेख, पृ० १४३।
[2] कामेमोरेशन वाल्यूम १९६१, पृ० ६१।
[3] मालवीय जी—जीवन झलकियाँ, पृ० २४।
[4] कामेमोरेशन वाल्यूम १९६१, पृ० २४५।

महामना मालवीय जी

नीला पटेल

अनादि काल से ही मानवता के विकास में भारत भूमि का अप्रतिम योगदान रहा है। इसके पुण्यश्लोक साधकों एवं महर्षियों ने सारे जगत को अपनी अनुभूति और आध्यात्मिक विचार धारा से प्रभावित किया है। क्या प्राचीन क्या अर्वाचीन सदैव यहां के कर्मयोगियों ने आकुल विश्व को शान्ति प्रदान की है तथा अपने आदर्श व्यक्तित्त्व, प्रतिभा, कर्मनिष्ठा, त्याग और सेवा से संसार का सुधार और संघटन किया है। न जाने कितनी विभूतियों का सर्जन इस भारतभूमि ने किया है, न जाने कितने कर्मचारी कर्मवीरों और तपस्वियों के जीवन की धारा इसी पावन भूमि में बही है। भारत-माता के ऐसे ही देवपुत्रों में आधुनिक महर्षि महामना मदन-मोहन मालवीय जी थे। मानव-मूर्ति, बुद्धि और क्रिया का इतना अधिक अधिष्ठान प्राप्त करने वाला राष्ट्र पुण्यात्मा होता है। पूज्य मालवीय जी भारतीयता और हिन्दू धर्म के सच्चे प्रतीक थे। उनमें बुद्धि की सात्विकता के साथ ही करुणा और परायण त्याग युक्त सेवा मंगलमय स्वरूप का सहज ही बोध होता था।

ऐसे स्थिर जीवन की एक बड़ी विशेषता यह है कि वह सबको अपनी ओर खींच लेता है। महात्मा गांधी के शब्दो में "मालवीय जी में एक आकर्षण है। ये विरोधी और भिन्न मत वालों को भी अतने पास बुला लेते हैं। सभी धर्मचारियों को हमने कहते सुना है कि हमारा मन मालवीय जी से मिले चाहे न मिले पर हैं वे मानवीय महापुरूप। उनमें एक आकर्षण है—"मेल और शान्ति की मूर्ति"।

मालवीय जी की तरह आद्यन्त जीवन को सत्कर्मों की ओर लगाने वाला अमर प्राणी यदा कदा ही किसी राष्ट्र को प्राप्त होते हैं। चरित्र बल का ऐसा भव्य प्रसार स्यात् किसी में देखने को मिले। भारत के राष्ट्रीय एवं सामाजिक जीवन में जिस दिन से इस कर्मवीर ने पदार्पण किया उस दिन से लेकर अपने निर्वाण काल पर्यन्त एक रस, एक चित्त अटूट सेवा का व्रत इस निष्ठा से निभाना महामना के लिए ही सम्भव था। महामना की विविध क्षेत्रों में की गई बहुमुखी सेवाए देश की नवजागृति और उत्थान में स्वर्णाक्षरों में अंकित हैं। इनकी मंगलमयी स्मृति तब तक निरन्तर भावी राष्ट्र संचालकों को उत्साह प्रदान करती रहेगी जब तक हिन्दी-हिन्दू, हिन्दुस्तान जीवित रहेगा।

उन्हे हिन्दू-धर्म, हिन्दू देश और हिन्दू समाज पर नाज था। वे सदा कहा करते थे कि तुम देवों और ऋषियों की सन्तान हो। जिस हिन्दू बालक को अपने दिव्य और अमर सन्तान होने का मर्म मिल जाता है वह सदा प्रसन्न और अभय रहता है और वही अपनी मौन सेवा से "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का सन्देश और कार्य दोनों आगे बढ़ाता है। विश्व शान्ति का मौन

मार्ग यही है। हिन्दू किसी से डरता नहीं, किसी को मारता नहीं, सबको अपनी सेवा से अपना बनाता है और बढ़ता चलता है। क्योंकि, हमारा हिन्दू साहित्य स्वाभिमान और स्वत्व का जीवन है। हिंन्दू घर स्वंयं धर्मक्षेत्र है। मालवीय जी का पूर्ण विश्वास था कि "हमारी सब वस्तुएँ अच्छी हैं। हमारे शास्त्र अच्छे हैं, हमारी परम्परा और रूढ़ि सब अच्छी हैं।" हमे सेवक, साधक, शिष्य, प्रयोक्ता अथवा विद्यार्थी बनाना चाहिए। हम जो चाहें सो मिल सकता है। हमारे भारत में सब कुछ है।

"यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्" जो यहां नही है वह कहीं नहीं है। ऐसी ही श्रद्धा हमारे में सदा रहेगी तो हिन्दू जाति का नव जागरण होगा। छोटे से छोटे क्षेत्र से लेकर बड़े क्षेत्र तक इसी श्रद्धा की साधना और सेवा बढ़नी चाहिए। आज के युग में भी 'श्रद्धा' अभिनव सन्देश है।

मालवीय जी भी श्रद्धालु थे। वे इसी श्रद्धा की शिक्षा देना चाहते थे। हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी शिक्षा यही हैं। वैवस्तव मन्वन्तर की तो क्रान्ति हुई है। इसी श्रद्धा के बिन्दु से उसी मन्वन्तर में हम हैं। नित्य संकल्प में इसी मन्वन्तर का हम स्मरण करते हैं।

अपनी प्राचीन परम्परा ने जिस श्रद्धा का दर्शन और प्रचार किया है उसी श्रद्धा को मालवीय जी ने अपने ढंग से अपनाया और हमें सिखाने का प्रयत्न किया।

ऐसा श्रद्धामय हिन्दू धर्म विश्व के सब मानवों का धर्म हो सकता है, यही मानव धर्म है, यही शान्ति धर्म है और यही है विश्व शान्ति का राजमार्ग।

मालवीय जी विश्वात्मा पुरुष थे। उनके हृदय में सम्प्रदाय का भेद भाव नहीं था। हिन्दू मुसलमान, छूत-अछूत, पूर्वी-पश्चिमी सभी उनको प्रिय थे और वे हृदय से सबकी सेवा करते थे। वे अत्यन्त सरल—सुलभ थे—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय उनकी कर्म शक्ति का एक मूर्त्तरूप है। इसके निर्माण में उनके चित्त में अनेके भावनायें थीं। सम्पूर्ण भारत में ज्ञान के साथ ही प्राचीन संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने जो स्वप्न देखा था, उसी का मूर्त रूप—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय है। यह विश्वविद्यालय ईंट और पत्थरों का ढेर नहीं। इसका सच्चा स्वरूप उस तपःपूत आश्रम का है जिसकी स्थापना के मूल में पूजनीय मालवीय जी ने प्राचीन भारतीय ज्ञान साधकों के समस्त आदर्शों को बीज रूप में स्वीकार किया था। विश्वविद्यालय की मूर्त्ति उन्हीं आदर्शों से परिपूर्ण है। जो इन आदर्शों को नहीं देख पाते उनके लिए यह विश्वविद्यालय—'ईंट और पत्थरों का ढेर है'। इन आदर्शों का अनुभव कहीं बाहर नहीं स्वयं अपने अन्तःकरण की वस्तु है। किसी समय भी हम एकान्त में विचार करने लगें तो पूज्य मालवीय जी की मानस-ज्योति की कुछ किरणें हमें भी प्राप्त हो सकती हैं। आज यद्यपि मालवीय जी सशरीर हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु उनका यशः शरीर विद्यमान है। मन और प्राण के अमृत जल से जिन कार्यों को मानव सींचता है वे कभी पुराने नहीं पड़ते उन्हें जब चाहे हम अपने संकल्प शक्ति से पुनः जीवित कर सकते हैं। इस दृष्टि से

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पूज्य मालवीय जी का ऐसा यशः शरीर है, जो युगों तक सूर्य के समान ज्ञान रश्मि विकीर्ण करता रहेगा। इस विश्वविद्यालय की उस नित्य महिमा का हमें संवर्द्धन करना चाहिए। जैसे अग्नि उत्पन्न होती हैं वैसे ही नये तप के द्वारा पुराने तप को उज्जवल बनाया जाता है। ज्ञान के लिए सच्चा प्रयत्न ही विश्वविद्यालय की भूमि में किया जाने वाला तप है। आज विश्वविद्यालय की हीरक जयन्ती के शुभ अवसर पर प्रत्येक व्यक्ति की यही कामना होनी चाहिए कि हमारे कारण ज्ञान की श्रृंखला की कोई कड़ी अशक्त न होने पावे। यह उत्सव जहां एक ओर वाह्य उत्सव है, वहीं दूसरी ओर एक ऐसा अवसर है कि विश्वविद्या ग्य से सम्बंधित प्रत्येक व्यक्ति मालवीय जी के आदर्शों से नया चैतन्य ग्रहण करे।

सी० के० २५१ चौक, वाराणसी

महामना, सामाजिक परिवर्तन एवं नवमानव

डॉ० सत्येन्द्र त्रिपाठी

महामना पं० मदन मोहन मालवीय का समग्र जीवन भारतीय संस्कृति, चिन्तन और लोक मंगल की उपासना का गौरव स्तंभ है। वर्तमान समय के सामाजिक परिवर्तन एवं नव-मानव की भूमिका के संदर्भ में महामना की प्रासंगिकता पर विचार करना समीचीन होगा।

समाज एक परिवर्तनशील व्यवस्था है। वास्तव में 'स्थिरता' तथा 'परिवर्तन' दोनों ही समाज की अंतरंग विशेषताएँ हैं। अतएव इसके समुचित अध्ययन के लिए उसकी स्थिरता तथा गतिशीलता दोनों पहलुओं का इस प्रकार अध्ययन करने की जरूरत है कि समाज की संरचना और देश-काल की गतिविधि के कारण उसमें होने वाले परिवर्तनों का यथार्थ ज्ञान हो सके और साथ ही ज्ञात हो सके कि परिवर्तनशील समाज की प्रवृत्ति और दिशा क्या है।

किसी भी समाज अथवा संस्कृति को समग्र रूप में समझ पाने तथा सामान्यीकरण का उचित आधार प्राप्त करने के लिए उसके वर्तमान स्वरूप तथा गठन के अध्ययन के साथ ही पूर्ववर्ती अवस्थाओं से वर्तमान तक के उसके विकास क्रम को समझना भी आवश्यक होता है। विभिन्न कालक्रमों में घटित होने वाले परिवर्तनों तथा काल से अप्रभावित स्थायी पक्षों के स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन तथा परिवर्तन उत्पन्न करने वाली शक्तियों और परिवर्तित होने वाले पक्षों के सहसम्बन्धों का अध्ययन वास्तव में सामाजिक प्रक्रिया को समझाने के लिए जरूरी है।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था प्राचीन है। उसमें भी निरन्तर परिवर्तन होते रहे हैं। पाश्चात्य मानवशास्त्रियों एवं समाजवैज्ञानिकों ने इस व्यवस्था की स्थिरता पर काफी बल दिया है और परिवर्तनशीलता पर कम। परन्तु भारतीय मनीषियों ने युगों की कल्पना द्वारा एक चक्रीय सिद्धान्त की कल्पना करते हुए भारतीय सामाजिक व्यवस्था को गतिशीलता प्रदान की है। भारतीय विचारकों ने चार युगों की कल्पना की—सतयुग, त्रेतायुग, द्वापर युग एवं कलियुग। सामाजिक परिवर्तन एक व्यवस्था से होता हुआ दूसरे युग में पदार्पण करता है और कलियुग के वाद पुनः सतयुग में परिवर्तित होगा। इस प्रकार के चक्रीय सिद्धान्त भारत में ही नहीं, अपितु पाश्चात्य विचारकों सोरोकिन, स्प्रेगलंर आदि की विचारधारा में भी मिलते हैं। ऐसा लगता है, कि भारतीय विचारक निराशावादी थे। अतः सामाजिक व्यवस्था में समामाजिक मूल्यों और प्रतिमानों के ह्रास की ही कल्पना कर सके। अतः कलियुग की कल्पना में जटिलता के साथ-साथ औपचारिक एवं द्वैतीयक सम्वन्धों का जाल विछ जाता है। सामाजिक संस्थाएँ विघटित होने लगती हैं। राजनीतिक सत्ता का स्वरूप वदल जाता है और परिवर्तन में तीव्रता आ जाती है।

आधुनिक विचारक तथ्यात्मकता के आधार पर उपयुक्त सिद्धान्त को उचित नहीं मानते। उसके अनुसार कोई वस्तु लौट कर वास्तविक उसी स्तर एवं स्थान पर नहीं पहुँचती। इस प्रकार के तथ्य उपलब्ध हैं कि किसी वस्तु के विकास क्रम में वह वस्तु पुनः परिवर्तित होकर उसी स्तर पर नहीं पहुँचती। अतः समाज वैज्ञानिकों के अनुसार समाज का विकास परवलीय

(Parabolic) रूप से हो रहा है। उदाहरण के लिए आदिम समाज की तीन विशेषतायें हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति की अवधारणा नहीं थी, व्यक्ति नंगा रहता था तथा यौन साम्यवाद। परन्तु समाज के क्रमिक विकास में ये तीनों विशेषताए परिवर्तित हुई और उनका स्थान क्रमशः पूंजीवाद अथवा व्यक्तिगत सम्पत्ति, कपड़ों का प्रयोग और शरीर को कम से कम नग्न रूप से प्रदर्शित करना तथा एक विवाह अथवा एक पतित्व आदि मान्यताओं ने ले लिया। आधुनिक समाज की प्रक्रियाओं और नवीन उभरती हुई मान्यताओं, प्रतिमानों को यदि हम देखते हैं तो समाज फिर आदिम समाज की विशेषताओं की ओर जाता हुआ लगता है, परन्तु इनका परिवर्तितरूप दूसरे स्तर पर है। आधुनिक समाज के परिवर्तित रूप हैं—समाजवाद साम्यवाद (चेतना युक्त क्रियाओं द्वारा), हिप्पीवाद और नूडिज्म (नग्नवाद) अर्थात शरीर के प्रत्येक अंग का प्रदर्शन करना तथा सामूहिक विवाह एवं यौन सम्बन्धों में ढीलापन।

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि आधुनिक समाज की प्रक्रियाएँ पुनः अपने वास्तविक स्थान पर नहीं जा रही हैं। उनका स्तर एवं भावमयता अलग है। इस प्रकार समाज के परिवर्तनों को समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन करने के लिए बहुत से सिद्धान्तों की कल्पना की गयी। जिनमें विकासवादी, प्रकार्यवादी, संघर्षवादी आदि प्रमुख हैं। जहां तक भारतीय समाज के परिवर्तन की दिशा का प्रश्न है, उसका विश्लेषण ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही सम्भव है।

परम्परावादी भारतीय समाज की पांच विशेषताएँ प्रमुख कही जा सकती हैं :—(१) गुणात्मक—प्रदत्त सामाजिक व्यवस्था—इसके अन्तर्गत जाति, संयुक्य परिवार पंचायत और ग्रामीण जनतांत्रिक संस्थाओं का समावेश रहता है। (२) उत्पादन की व्यवस्था—यह हाथ के कामों और आत्म निर्भरता पर संचालित है। (३) मानव की प्रकृति एवं व्यक्तित्व की व्यवस्था—यह श्रेणीबद्धता से जुड़ी हुई है। इसके अंतर्गत मानव की क्रियाएँ परम्परावादी विधान द्वारा संचालित होती हैं। (४) सामाजिक एवं आध्यात्मिक मूल्य व्यवस्था—इस व्यवस्था में धार्मिक मूल्यों की प्रधानता है। व्यक्तियों की आवश्यकताएँ, व्यवसाय तथा रुचि अनुपयोगितावादी है। (५) आभिजात्य वर्ग की गतिशीलता—इसमें श्रेष्ठजन की गतिशीलता सीमित मानी गई है। इसमें कुछ जाति विशेष के श्रेष्ठजन ही सामाजिक व्यवस्था का संचालन करते हैं।

इस भारतीय सामाजिक व्यवस्था में दो प्रकार से परिवर्तन होते रहे। पहले आंतरिक दूसरे वाह्य। समाज में स्वयं इस प्रकार के आन्दोलन होते रहे। जिनसे उसका रूप बंदला है। वैदिक समय से लेकर बीसवीं शताब्दी तक हिन्दू धर्म शास्त्रीय परम्पराओं (Great Traditions) में परिवर्तन होता रहा है सुधारवादियों ने जो सांस्कृतिक नवोन्मेष (Cultural Innovation) किए हैं उनकी आधारशिला मुख्यतः प्राचीन शास्त्रीय परम्परा रही है। बुद्ध धर्म तथा जैन धर्म के प्रवर्तकों ने इस परम्परावादी व्यवस्था के कुछ स्वरूपों की आलोचना करके, हिन्दू धर्म में परिवर्तन लाने की चेष्टा की।

इस्लाम का प्रभाव निस्संदेह प्रवल रूप से भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर पड़ा था, लेकिन इसके परिणामस्वरूप हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृति, विचारधाराएँ तथा जीवन पद्धतियां प्राक्-

मुस्लिम काल से प्रमुख अर्थों में भिन्न नहीं थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि आदर्श रूप (Ideal Type) के स्वरूप में कोई विशेष परिवर्तन घटित नहीं हुआ होगा। यदि कुछ परिवर्तन हुआ तो केवल यही कि पिछले किसी भी युग की तुलना में इस युग में विरक्ति का प्राधान्य हो गया था। भक्ति सम्प्रदाय सामान्यतया पूर्ण ब्रह्म विष्णु, रामकृष्ण अथवा उनके अवतारों अथवा सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता पर ही आधारित था। उसका 'आदर्श रूप' केवल तादात्म्य एवं तन्मयता प्राप्त करना था। इस काल के साहित्य में नवीन समाज की झलक स्पष्ट नहीं है।

पश्चिम का पदार्पण एक भिन्न तथा विचलनवादी संदेश के साथ हुआ। इसने सुषुप्त भारतीय समाज को झकझोरा। पश्चिम के सामाजिक मूल्य, संस्थाएँ और आधारभूत तत्व भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं के विपरीत थे। सामूहिकता एवं श्रेणीबद्धता का स्थान व्यक्तिवादी और समझौतेवादी समाजिक सम्बन्धों ने लिया। कानून का रूप समानता और सार्वभौमिकता के आधार पर विकसित हुआ। पश्चिम के कर्मचारीतंत्र, प्रशासन, वैधानिक (legal) शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक नवोन्मेष (Innovation) द्वारा स्तरीकरण के नये आयामों को जन्म मिला। व्यक्तियों की योग्यता एव् निपुणता के आधार पर नये पदों को पाने में प्रतिस्पर्धाओं में तीव्रता आई। इस प्रकार भारतीय परम्परा की श्रेणीबद्धता एवं समग्र वादिता (Holism) के गुणों में परिवर्तन आया। धीरे-धीरे पश्चिम के प्रभाव से भारत के सांस्कृतिक प्रतिमानों (Patterns) में संस्कृति संक्रमण एवं नवोन्मेषात्मक (accultura-tive and innovatory) प्रवृत्तियां प्रारम्भ हुईं।

पश्चिम के नवीन संदेश को आत्मसात करने वाले लोगों में राजा राम मोहन राय प्रथम भारतीय थे। वे हिन्दू तथा इस्लामिक सिद्धान्तों को समान मानते थे तथा ईसाई धर्म का अध्ययन भी उन्होंने उसी उत्साह् के साथ किया था। सम्भवतः उनके सामने नवीन मनुष्य और नये समाज का स्वरूप स्पष्ट नहीं था और बौद्धिकता के प्रति उनका आग्रह भी हिन्दू तर्कों अथवा बौद्ध युक्तियों वाली बौद्धिकता से भिन्न था। प्राकृतिक नियमों, सुधार, अधिकतम लोगों की अधिकतम भलाई तथा मानव कर्म द्वारा निरन्तर प्रगति करते रहने में निष्ठा होने के नाते उनकी यह बौद्धिकता १७वीं तथा १९वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में प्रचलित पाश्चात्य बौद्धिकता के अधिक समकक्ष थी, साथ ही, यह बौद्धिकता हिसाव किताव एवं यांत्रिकता के प्रति आग्रहपूर्ण उस बौद्धिकता से भी भिन्न थी जो पूँजीवाद की सारभूत थी। राजा राम मोहन राय की तार्किकता निश्चित रूप से मानवीय स्वरूप की थी। उनकी दृष्टि में हिन्दू धर्म ने कई ऐसी उलझनो को जन्म दिया था, जिन्हें मानवीय बौद्धिकता के माध्यम से ही दूर किया जा सकता था। यह कार्य उन्होंने अद्भुत विद्वता तथा कुशलता के साथ किया। यद्यपि उन्होंने नवीन समाज की परिकल्पना प्रस्तुत नहीं की, लेकिन अभिवृत्ति की मूलता, तथा नवीन व्यवस्था का सामनाकर पाने का साहस प्रदान करने वाला नव बौद्धिक चिंतन तथा ऐसी अभिवृत्तियां जो कि घटित परिवर्तन में गतिशील तत्वों के रूप में मूल्यवान सिद्ध हुई थीं, प्रदान कीं।

इसके पश्चात अनेक सुधारक एवं सुधार आन्दोलन सामने आये। उनकी सामान्य प्रवृत्ति, परम्पराओं की ओर तनिक झुकाव के साथ ही समन्वयात्मक थी। आर्य-समाज, ब्रह्म समाज तथा प्रार्थना समाज के प्रवर्तक बड़े सप्राण व्यक्तित्व थे तथा पाश्चात्य विचारधारा

एवं कार्य प्रणाली की प्रमुख प्रवृत्तियों से भी भली-भांति परिचित थे। उनका मुख्य प्रयत्न इन्हें भारतीय भूमि पर प्रवाहित करना था, जिससे मार्ग अवरुद्ध करने वाली बाधाएँ छंट सके और पुनः प्राचीन स्रोत उन्मुक्त होकर प्रवाहित हो सकें। आर्य समाज ने वेदों की पुनः प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया तथा ब्रह्म समाज ने पुराणों तथा उनके बाद रूढ़ियों के स्थान पर उपनिषदों को प्रतिष्ठित करना चाहा। फिर भी इसमें से कोई भी पुनरोत्थानवादी नहीं था। प्रत्येक आन्दोलन ने नाम मात्र के लिए समाज शब्द का प्रयोग किया। कुछ समय बाद ही वे आन्दोलन एक लघुकाय सम्प्रदाय में सिमट गये।

मालवीय जी के परिवर्तन की धारणा सुधारवादी थी। वे आत्मशुद्धि, बन्धुत्व वृद्धि और विश्व कल्याण को नैतिक सत्य मानते थे। तथा आत्मशुद्धि के लिये भगवद् भक्ति, शुद्धाचरण और समाज सेवा आवश्यक मानते थे। उनकी सभी क्रियाओं में आस्तिकता की झलक थी। समाज सेवा उनका जीवन-प्राण था। उनके अनुसार समाजोन्नति व्यक्ति का प्रथम कर्तव्य है। इस प्रकार उनकी अवधारणा व्यक्तिवादी न होकर लोक मंगल से जुड़ी हुई थी। किसी भी समाज में जो मनुष्य अपने स्व को समाज के पीछे रखता है वही सदा समाज सेवा करता है। वह अपने निजी हित में कोई ऐसा काम नहीं करता जिससे समाज की हानि हो। वह समाज को ऊँचा उठाता है और समाजोन्नति के साथ ही साथ अपने व्यक्तित्व का भी विकास करता है। इसलिये उन्होंने निस्वार्थ सेवा को व्यक्तित्व के विकास का साधन बताया ह।

महामना जी ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जिसमें सामाजिक असमानतायें न हों। सामाजिक कुरीतियों और जाति व्यवस्था को तोड़ने का उन्होंने संकल्प किया था। वे चाहते थे कि सभी सवर्ण हरिजनोद्धार में लग जायँ और सभी हिन्दुओं का हरिजनों के साथ शिष्ट व्यवहार हो। किसी जाति या सम्प्रदाय से द्वेष को वे बुरा मानते थे। सब सम्प्रदायों का पारस्परिक मेल और 'अपने देश में अपना राज्य' का सिद्धांत ही उनका लक्ष्य था। अतः जीवन पर्यन्त स्वतंत्रता आन्दोलन के कर्णधार के रूप में राष्ट्र का उद्‌बोधन करते रहे। इसमें कोई संदेह नहीं कि महामना की राष्ट्रीयता सार्वभौम, उदार एवं मानवता की सहज अंग थी। वह विश्व शांति के समर्थक थे और उनका विश्वास था कि उसके लिए धार्मिकता एवं नैतिकता की वृद्धि आवश्यक है।

शिक्षा के माध्यम से वह एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करते थे जो संयमी, निर्भीक, कर्तव्य-परायण, उत्साही, सहनशील एवं गम्भीर हो। उसका आधार उदारता, विनय और धर्म हो। इस प्रकार व्यक्ति तार्किकता के साथ साथ अपनी संस्कृति व सभ्यता से नहीं कट सकता। उन्होंने देशकाल को देखते हुए केवल शास्त्रीय शिक्षा पर ही बल नहीं दिया अपितु प्राद्योगिकी एवं विज्ञान को प्रधानता दी। उनके अनुसार निर्धनता को दूर करने के लिये देश के साधनों का समुचित उपयोग होना चाहिए और वह केवल औद्योगीकरण, नये आविष्कार तथा प्राद्योगिक नवोन्मेषों द्वारा ही सम्भव है। इसीलिये सीमित साधनों के होते हुए भी उन्होंने आरम्भ से ही कृषि, विज्ञान तथा प्राद्योगिकी का विकास तीव्र गति से किया। वे नियोजन के पक्ष म थे और इसके द्वारा ही देश का विकास चाहते थे।

श्री रवीन्द्र नाथ टैगोर तीसरे महत्वपूर्ण व्यक्ति थे। उनका विश्लेषण प्रमुख रूप से समाज वैज्ञानिक था। यह कहा जा सकता है कि उनकी रुचि शहरों के आभिजात्य की अपेक्षा प्रकृत से तादात्म्य करते ग्राम्य समाज तथा लोक जीवन की जड़ों के शक्ति वर्धन में अधिक थी। उनका नूतन समाज आधा रूप में ग्रामीण, स्वतः विकासशील, विकेन्द्रित तथा सहकार प्रधान था। उन्हें स्वतंत्र तथा गतिमान भारत द्वारा पाश्चात्य संस्कृति को आत्मसात करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं दिखायी दी। उनकी दृष्टि में विज्ञान, मशीन एकवाद अथवा जनतंत्र कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे आत्मसात नहीं किया जा सकता। उनकी इच्छा थी कि ये सभी प्रवृत्तियां यहां आयें लेकिन व्यवित के चेहरे बदलने वाले रूपों में नहीं। उनकी राजनीति सामाजिक थी। लोगों ने उनके विचारों को काल्पनिक कहा है लेकिन उन्होंने किसी भी साहित्यिक स्वप्न लोक की सृष्टि नहीं की है। समाज-शास्त्रीय दृष्टि से वे यथार्थवादी थे।

पाश्चात्यीकरण की प्रोटेस्टैंट उप-संस्कृति का भारतीय समाज पर प्रभाव सीमित था। जो भारतीय इस उप संस्कृति की सांस्कृतिक वैचारिकी का प्रतिनिधित्व करते थे, वे स्वयं अलगाव महसूस करते थे। अतः इनका प्रभाव आधुनिक समाज पर कम पड़ा। बौद्धिक रूप से वे आंग्ल लोगों के वच्चे थे, परन्तु सामाजिक रूप से वेद परम्परावादी हिन्दू समाज से दूर हो जाते थे। इन व्यक्तियों के प्रति न तो अपने व्यक्तियों की सहानुभूति थी और न ब्रिटेन के व्यक्तियों की। इस प्रकार ये बौद्धिक व्यक्ति भारतीयता के मुख्य प्रवाह से अलग हो गये।

पाश्चात्य परम्पराएँ भारतीय समाज के सम्पर्क के समय औद्योगिक क्रान्ति एवं सामाजिक सुधारों के कारण वदल चुकी थीं। उनकी श्रेणीवद्धता का नियम, जो चर्च और सामंतता के साथ जुड़ा था, टूट गया। उसकी मध्यकालीन समष्टिवादी मूल्य संरचना प्रोटेस्टैंट के विकास के कारण कमजोर पड़ गयी। वहां की आर्थिक व्यवस्था एवं समाज में तार्किक व्यक्ति-वादिता का विकास हो रहा था। विज्ञान एवं प्राद्यौगिकी का विकास चरम सीमा पर था। इस समाज का प्रभाव भारतीय धर्म, संस्कृति एवं व्यवहार पर पड़ना आवश्यक था।

इस सामाजिक पृष्ठ भूमि के आधार पर ब्रिटेन के शासकों एवं प्रशासन के दृष्टिकोण ने भारतीय समाज के आधुनिकीकरण पर विशेष बल दिया। इसके अतिरिक्त दूसरा महत्व-पूर्ण कारण उपनिवेशवाद था। उपनिवेशवाद के समय में आधुनिकीकरण चयनात्मक (selcetive) एवं खण्डीय था। वह भारतीय परिवार, जाति एवं ग्रामीण समुदाय को अधिक प्रभावित नहीं कर सका। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण विकास और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में तीव्रता आयी। स्वतंत्रता आन्दोलन ने आधुनिकीकरण की नवीन राजनीतिक संस्कृति को जन्म दिया। इसके केन्द्र विन्दु महात्मा गांधी थे जो भारतीय परम्पराओं में गूढ़ आस्था रखते थे। उनके विचारों ने पाश्चात्यीकरण की प्रक्रिया को एक नया मोड़ दिया, जिसमें परम्परावादी संस्कृति का समन्वय था। गांधी जी ने बड़ी सफलता के साथ स्वतंत्रता आन्दोलन में व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त किया।

महामना, टैगोर एवं गांधी तीनों जानते थे कि भारत वर्ष में विकास एवं परिवर्तन की इकाई गांव ही हो सकता है क्योंकि भारत गांवों में बसता है। तीनों की इच्छा थी कि गांव

भारतीय विकास की आधारशिला बनें, तीनों का विश्वास विकेन्द्रित, अर्थव्यवस्था में था, तथा तीनों ही स्वायत्तता तथा स्वराज्य के इच्छुक थे। नकारात्मक रूप में भी तीनों समान थे। विज्ञान तथा विस्तृत पैमाने पर उत्पादन के लिए किये गए विज्ञान के उपयोग द्वारा पश्चिम ने जिन नवीन शक्तियों को जन्म दिया था उनको आत्म सात कर पाने का मार्ग निर्देशन करने में तीनों असफल रहे। टैगोर ने उन्हें सामाजिक चेतना तथा नैतिकता द्वारा अनियंत्रित शक्ति के रूप में देखा। गांधी जी ने कुछ मशीनों को आवश्यक समझते हुए भी बुराई के रूप में देखा था जब कि महामना ने नवीन प्राद्यौगिकी के प्रशिक्षण द्वारा भारतीय परिवेश में औद्योगीकरण को स्वीकार करने का यत्न किया। एक सामाजशास्त्री के लिए तीनों के द्वारा की गयी पारस्परिक प्रशंसा आश्चर्य का विषय नहीं है।

महामना का नवमानव संयमी, निर्भीक एवं कर्त्तव्य परायण के साथ सुधारवादी भी था जब कि टैगोर का नवमानव ईमानदार, रूढ़ि विरोधी, समृद्ध भावनाओं वाला, तार्किक तथा आदर्श के लिए प्राणोत्सर्ग तक कर सकने की दृढ़ता रखने वाला था। यह एक सकारात्मक-सृजनात्मक प्रकार का व्यक्ति था। लेकिन उनसे प्रभावित होकर जिस व्यक्ति रूप का उदय हुआ वह रुमानी था और उसका विश्वास आत्मानुशासन की अपेक्षा वैयक्तिक क्षमताओं की सहज अभिव्यक्ति में अधिक था।

गांधी जी का नव मानव कांग्रेसी व्यक्ति मूलतः नैतिक था। उसे मध्यवर्गीय भीरुता के परित्याग और तज्जन्य साहस में स्वावलम्वी तथा आत्म निर्भर, ग्रामों में सादगी से रहने वाला सामान्य मनुष्य बनना था। उसे विचारक होना आवश्यक नहीं था। ईश्वर में सहज विश्वास पर्याप्त था। गांधी जी की नैतिकता का सम्बन्ध इच्छा शक्ति से था। आधुनिक भारत ने गांधी जी से अधिक प्रबल इच्छा शक्ति सम्पन्न किन्तु अधिकार की वासना से इतना विरक्त कोई नेता उत्पन्न नहीं किया।

गांधी जी ने समाज का जो स्वरूप 'रामराज्य' में रखा वह अपरिपक्व अवधारणा में अवगुंठित था। वह केवल अनैतिहासिक ही नहीं इतिहास विरुद्ध भी था। किन्तु यदि समाज की वह स्थिति हो जैसी भारत में आज है, तब भारतीयों के लिए आशा तथा प्रेरणा का एकमात्र स्रोत ऐतिहासिक चेतना, सामाजिक शक्तियों तथा मानवीय गतिदिशा के प्रति तीव्र संवेदना रह जाती है। लेकिन इस चेतना तथा ऐसी अनुभूति के अभाव में गांधी जी के अनुयायियों में 'रामराज्य' केवल एक चुनाव का नारा बन कर रह गया। इधर अधिकांश भारतीय बुद्धिवादी जितने पाश्चात्य विचारों से प्रभावित थे उतने ही वे भारतीय संस्कृति तथा भारतीय वास्तविकताओं से गर्व और घृणा सहित अनभिज्ञ भी थे। यह भी सत्य है कि मध्यम वर्ग काफी समय तक एक प्रमुख वर्ग रहा है। इस बौद्धिक वर्ग की राजनीतिक आन्दोलन में, उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। परिणाम स्वरूप एक एकांगी व्यक्ति, लघुमानव, संकुचित मानव को जन्म मिला।

पंडित जवाहर लाल नेहरू को भी इसी संदर्भ में देखा जा सकता है नेहरू जी ने एक सुदीर्घ स्थायी सामाजिक व्यवस्था अवधारित की। नेहरू जी की सर्वश्रेष्ट भूमिका नवीन भारत के सृजन की योजना में है। यह योजना नवीन भारत का निर्माण करेगी, चाहे कुछ लोग भले ही

पर्याप्त उत्साहपूर्वक इसमें भाग न लें। जो लोग इसे कार्यान्वित करेंगें वे नये मानव के आदर्श स्वरूप का निर्माण करेंगे। यह मानव समाजवादी होगा। अतः भावी पीढ़ी के लिए कल्पनाशील यंत्रविद, जनतांत्रिक भावनाओं तथा नम्रता से युक्त अधिकारी, संक्षेप में एक मध्यवर्गीय कार्य-कुशल व्यक्ति का स्वरूप होगा।

तथ्य यह है कि यह योजना नवीन व्यवस्था के लिए उत्सुक है। यह सम्भव है कि इसकी उत्सुकता पर्याप्त रूप से शक्तिशाली न हो, लेकिन वह उत्सुक अवश्य है। अब प्रश्न यह है कि योजना को गति किस प्रकार दी जाय? वह गतिहीन हो चली है। वस्तुतः योजना स्वंय में एक संरचना है। अतः न तो यह समाप्त हो सकती है और न ही इसे समाप्त होना चाहिए। अधिकारी तंत्रवाद के दोषों को दूर करना होगा, जिससे विकास तीव्रतर हो सके। वास्तव में भारतीय अधिकारी तंत्र का दोष यही है कि यह स्वयं ही अपना पोषण तथा अपनी अभिवृद्धि करता है। फलस्वरूप यह वास्तविकताओं के जितना नजदीक जाना चाहता है उतना ही अधिक वस्तुस्थिति से दूर होता जाता है। कांग्रेस अथवा सत्ता समूह '(Ruling group) यदि चाहे तो नवीन सामाजिक नीतियों द्वारा इसमें मोड़ ला सकता है।

भारत में पुरानी व्यवस्था आज समापन के दौर से गुजर रही है तथा नवीन आगमन की प्रतीक्षा में है। एक वार इसे भली भांति समझ लेने तथा इस पर पूरी तरह दृढ़ हो जाने पर शेष काम अपने आप हो जायगा। किसी के भी सामने यह प्रश्न खड़ा हो सकता है कि क्या मार्क्सवाद के अतिरिक्त कोई व्यवस्था इस प्रकार के ऐतिहासिक विश्वास को जन्म दे सकती है। यदि, है, तो हमें हर प्रकार से स्वीकार कर लेना चाहिए। अगर नहीं तो विकसित करना चाहिए अथवा समाजवादी राष्ट्रों के अनुकूल नवीन व्यवस्था ढ़ालनी चाहिए जिसमें असमानताएं, दरिद्रता और कार्य करने की सुविधा प्रत्येक व्यक्ति को मिल सके।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में वयस्क मताधिकार तथा संघीय संसदीय राजनीतिक संरचना ने भारतीय सामाजिक संगठन के सभी तत्त्वों को प्रभावित किया है। सामाजिक कानूनों-हिन्दू विवाह अधनियम एवं सम्पत्ति के उत्तराधिकार के कानूनों ने भारतीय संयुक्त परिवार को अछूता नहीं छोड़ा है जिससे एकाकी परिवारों को जन्म मिला है। सामुदायिक विकास योजना के सांस्कृतिक प्रतिमानों और आधुनिकता के कारण व्यक्तियों की भूमिका संरचना(Role-structure) से परम्परावादी ग्रामीण संगठन में पविर्तन हुए हैं। भूमि सुधार अधिनियम और जनतांत्रिक विकेन्द्रीकरण ने शक्ति संरचना के नवीन रूप प्रस्तुत किये हैं। इसके साथ ग्रामीण व्यक्तियों ने प्रशासन एवं न्याय व्यवस्था में सहयोग प्रदान करना प्रारम्भ किया है। जाति की प्राकार्यात्मक एवं संरचनात्मक भूमिकाओं में कई प्रकार के परिवर्तन हुए हैं। जाति व्यवस्था के टूटने से आकांक्षाएं बढ़ी है और प्रकार्यत्मक सामंजस्य स्थापित हुए हैं। जनतांत्रिक व्यवस्था, उद्योगीकरण, नगरीकरण, धर्मनिरपेक्षता, आधुनिकीकरण एवं सार्वभौमीकरण की प्रक्रियाओं ने भारतीय संस्थागत व्यवस्था को प्रभावित किया है। इस आधुनिककरण की प्रक्रिया ने समाज में तनाव एवं संघर्षों को बढ़ाया है। प्राचीन मान्यताओं और मूल्यों में नवीन अविकसित मूल्यों में टकराव स्वाभाविक हो गया है। आधुनिकीकरण का भविष्य इन्हीं तनावों एवं संघर्षों के सुलझने पर निर्भर है। बहुत से विकसित समाजों में संरचनात्मक और सांस्कृ-

तिक व्यवधान (Breakdown) हुए हैं। जापान ही एक ऐसा देश है, जिसने विकास की प्रक्रिया को सुचारू रूप में संचालित किया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक प्रतिमानों के टूटते रहने पर भी समाज का विकास किस प्रकार किया जाय ? ऐसे कौन से संरचनात्मक पूर्वप्रतिबन्ध (pre-requisites) हैं, जिनके द्वारा समाज के संघर्षों एवं तनावों को कम करके आधुनिक परिवर्तनों को संस्थापित किया जाय। इन प्रश्नों का उत्तर इस बात पर निर्भर करता ह कि अधुनिकीकरण की प्रक्रिया को किस प्रकार प्रत्यायात्मक किया जाय।

भारत के सामाजिक परिवर्तनों के पीछे किसी स्पष्ट अथवा व्यवस्थित सिद्धान्त अथवा नवीन समाज की कल्पना निहित नहीं रही है और न ही नवीन मानव की रूपरेखा ही कभी स्पष्टतः अंकित की गयी है। अब भी समय है कि समाजवादी ढ़ांचे की रूपरेखा बनाकर उसे विकसित करने का यत्न किया जाय।

इस संदर्भ में महामना एवं महात्मागांधी के रामराज्य की उदार समाजवादी व्यवस्था के भी पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है। इन राष्ट्र-विभूतियों के अप्रतिम अवदान का विश्लेषण हमारी सामाजिक संरचना एवं नवमानव के ऐतिहासिक विकस को नयी दृष्टि प्रदान करने में सक्षम है। विश्वविद्यालय के हीरक जयन्ती वर्ष पर मैं इस पुनीतकार्य के लिए अपने कुल के सभी बुद्धिजीवी मित्रों से आगे आने का अनुरोध करते हुए महामना के प्रति अपनी अशेष श्रद्धाजंली निवेदित करता हूँ।

रीडर, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

पुण्यश्लोक मालवीय जी

डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

जिन विशिष्ट महापुरुषों के आदर में मेरा मस्तक नमित होता है उनमें महर्षिकल्प महामना मदन मोहन मालवीय जी का नमोल्लेख महत्त्वपूर्ण है। मुझे जब भी उनका स्मरण होता है मेरा अन्तःकरण आलोक से आपूर्ण हो उठता है और उनकी परम सात्विक मूर्ति जैसे मेरे सम्मुख सजीव हो उठती है। मैं उन्हें विद्यावारिधि और बुद्धि-विधाता मानता आया हूँ। और आज तो उनके कीर्ति-स्तम्भ के रूप में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को देखकर उनके आदर्श एवं कल्पना का भव्य प्रसार जीवन्त रूप में उद्भासित हो रहा है। उनका राष्ट्र प्रेम, हिन्दू समाज का कल्याण, हिन्दी के प्रति ऐकांतिक निष्ठा और ज्ञान-विज्ञान के अपरिमित विस्तार के लिए किए गए अथक परिश्रम का जितना भी गुणानुवाद किया जाय वह थोड़ा ही समझना चाहिए।

मैं उनके सम्पर्क में ई० सन् १९२० से आया था। तब मैं हिन्दू स्कूल का विद्यार्थी था और सामाजिकता का भाव उस समय मेरे भीतर मुकुलित हो रहा था। उनके प्रथम उपदेश की प्राप्ति मुझे उस समय हुई जब अपने कतिपय साथियों के साथ मैं उनके दर्शन के लिए पदयात्रा करते सेवा-उपवन में गया था। उन दिनों मालवीय जी वहीं टिकते थे। हम लोग स्कूल के तत्कालीन हेडमास्टर की कुछ शिकायत लेकर गए थे। अपनी मधुर वाणी से बहुत कुछ ऊँच-नीच बातें समझाने के उपरान्त उन्होंने आश्वाशन दिया कि वे अपने ढंग से हेडमास्टर से बातचीत करके सब ठीक कर देंगे। हम लोगों का परितोष हो गया और हम लोग संतुष्ट होकर लौट आए।

इसके उपरान्त तो फिर यदा-कदा उनकी वाणी-वैभव का प्रभाव और चमत्कार मिलता ही रहा। महात्मा गांधी उन्हीं दिनों मालवीय जी के साथ स्कूल में पधारे थे और काशी नरेश हाल में दोनों महापुरुषों के भाषण भी हुए। उस अवसर पर मालवीय जी के भाषण का सौन्दर्य देखकर मैं उनकी वाक्-पटुता से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। बीस मिनट की दौड़ में उन्होंने श्रोताओं को रुला दिया और फिर हँसा भी दिया। यह उनकी वक्तृता का अद्भुत चमत्कार था।

आचार्य नरेन्द्र देव के निवास पर निरन्तर पढ़-पढ़ कर किसी तरह मैंने ऐडमिशन परीक्षा पास की और बहुत दिनों से मन में समाई ललक पूरी की, हिन्दू विश्वविद्यालय में भरती हो गया। वहां प्रायः मालवीय जी के सामने पहुँचने का अवसर ताकता रहता था ऐसा दिव्य व्यक्तित्व था, उस महामना का। धीरे-धीरे उनकी कृपा मेरी ओर बढ़ती गई और मैं भी उज्ज्वल वस्त्र पहनने का प्रेमी बन गया। मेरी भेष-भूषा पर वे प्रसन्न दिखाई पड़ते थे। एक बार उन्होंने स्पष्ट कहा कि उज्ज्वल आच्छादन आन्तरिक सात्विकता घोषित करता है। इसका परिणाम यह हुआ कि आज तक मैं उजला ही रह गया। अपने पूज्य गुरुजनों से मुझे सदैव स्नेह मिलता गया और भले ही पढ़ने और परीक्षाएँ पास करने में मैंने विशेष योग्यता न दिखाई हो पर विश्व-विद्यालय के सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय क्रिया-कलापों में विशेष रुचि लेता रहा। इससे मालवीय जी भी बड़े प्रसन्न रहते थे और कभी-कभी अवसर मिलने पर तुलसी की विनय पत्रिका के अनेक पद सुनाकर अपनी स्मरण शक्ति का अद्भुत प्रकाशन करते थे, साथ ही मुझे उत्साहित

करते थे कि मैं भी कुछ उत्तम स्थलों को कण्ठाग्र करता रहूँ। यह उपदेश उन्होंने शायद इसलिए आवश्यक समझा क्योंकि उन दिनों मैं बी० ए० के विद्यार्थियों को केशवदास की रामचन्द्रिका पढ़ा रहा था और उन्होंने मुझसे जिज्ञासा की दो-एक रचना सुनाने की पर मैं सुना नहीं सका था। मैं अपनी कमी से लज्जित था।

मैं सदैव उनसे मिलने की आकांक्षा जगाए रहता था और प्रत्येक बार उनसे कुछ-न-कुछ मर्म की बात पाता रहा। मुझे पूरी तरह स्मरण है—एक दिन सायंकाल उन्हें कुछ अवकाश था इसलिए मुझे साथ लिए अपने बंगले के सामने फैले आयुर्वेदिक उपवन में टहलते-टहलते पहुँचे और एक पत्थर (जो कि बैठने के लिए वहां लगा था) पर अपने दुपट्टे की गेंडुली बनाकर लेट गए। फिर सहसा मुझे संबोधित करते हुए कहा—"देखो जगन्नाथ जी मनु भगवान ने कहा है कि—"अभिवादन शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्। इसमें कितना सार भरा है। जो जन अभिवादनशील हैं और नित्य अपने से बड़ों के समीप रहने का व्रत लिए रहते हैं उनकी उक्त चारों वस्तुओं की निरतंर वृद्धि होती है सो कैसे—अभिवादन करते ही गुरुजन आशीर्वाद देते हैं। इससे आयु की अभिवृद्धि होती है। उनके सामीप्य मात्र से नाना प्रकार की ज्ञान की बातें सुनने को मिलती हैं। इससे विद्या प्राप्तहोती है और सदैव श्रेष्ट लोगों के साथ रहने से लोग समझते हैं कि वह व्यक्ति भी कुछ विशिष्ट है। इससे उसके यश को प्रसार मिलता है और इन विशेषताओं के कारण उसे सामाजिक जीवन में बल प्राप्त होता रहता है। बात तो मैं समझ ही गया, साथ ही श्लोक भी याद हो गया। इसी सन्दर्भ में उन्होंने अपना अभिमत भी आगे प्रकट किया—"इसी से मैं चाहता हूँ कि नित्य विद्यार्थिओं को अपने यहां के धार्मिक आचार-विचार की बातों का कुछ स्मरण दिलाने से उनके भीतर सांस्कृतिक चेतना जाग्रत होती है। इसी निमित्त दो-दो अध्यापकों की नियुक्ति का विधान अपने विश्वविद्यालय में मैंने रखा है कि सप्ताह में दो एक घन्टे धार्मिक प्रवचन सुनाए जायें और इसी अभिप्राय से एकादशी की कथा का प्राविधान रखा गया है।

एक दिन बड़े प्रेम से महामना ने मुझे उपदेश दिया, 'जगन्नाथ जी? वालमीकि रामायण और श्रीमद्भागवत ध्यान से आद्यंत पढ़ डालो। एक बार भी मनोयोग पूर्वक पढ़ने से भारतीय आत्मा का सौन्दर्य झलक उठेगा। मैंने बिना अपनी प्रकृति पर विशेष ध्यान दिए उनकी आज्ञा शीरोधार्य कर ली, पर आज्ञा का पालन मैं उनके दिवंगत होने के पन्द्रह वर्षों के उपरान्त ही कर सका। भौतिक चाक्य-चिक्य में पड़ा रहा पर उस महापुरुष को दिए गए वचन का पालन करना भूला नहीं था। इस अध्ययन से मेरा भौतिक और आध्यात्मिक—दोनों प्रकार से लाभ हुआ है। इसी तरह एक दिन उन्होंने मुझसे कहा कि मैं कुछ उर्दू पढ़ूँ क्योंकि परिमार्जन की दृष्टि से उसमें शैलीगत विशेष सौन्दर्य है। मैं ईमानदारी से आज तक इस सलाह का अनुगमन नहीं कर सका। यों तो अपना नाम उर्दू में लिख लेता हूँ।

एक बात मालवीय जी में मैंने अद्भुत पाई थी। उनकी स्मरण शक्ति बड़ी दिव्य थी। यों तो गीतादि के श्लोक प्रायः उन्हें कंठाग्र थे ही श्री मद्भागवत, वालमीकीय रामायण और महाभारत के विभिन्न संदर्भ में सैकड़ों श्लोक क्रम से सुना जाते थे। तुलसी और सूरदास के अनेक पदों को भाव विमुग्ध होकर जिस समय वे सुनाने लगते थे तो मुझे तो बड़ा आश्चर्य-सा होता था—इसलिए कि जिस व्यक्ति का जीवन राजनीति और सांस्कृतिक कार्यों में इतना

अधिक व्यतीत होता था कि लोग यही कहते थे कि मालवीय जी छः महीने यदि जमीन पर रहते थे तो छः महीने उनके रेलगाड़ी में बीतते थे, वह इतना समय कहां से पाता था कि इन विषयों की ओर ध्यान दे। मेरे आश्चर्य की सीमा का विस्तार उस दिन और हुआ जिस दिन रात्रि में प्रायः नौ बजे वे अपने बंगले के बाहर बने हुए गोलम्बर पर आकर बैठे। उस समय एक कुर्सी पर भारतरत्न डा० भगवान दास बैठे थे और एक कुर्सी पर कविराज प्रताप सिंह आकर बैठे। सहसा मालवीय जी ने कविराज जी से शिकायत की 'भाई आपने जो अभ्रक तैयार कराया है उसकी पकान तो नम्बर एक के ईट के रंग की नहीं हो सकी। "कविराज जी ने अपनी सफाई दी पर उन्हें सफाई बहुत जंची नहीं और तुरंत उन्होंने पूछा कि उन्हें सुश्रुत के वे श्लोक याद हैं जहां उसे पकाने की विधि और रंगादि का वर्णन है। इस पर कविराज जी संदर्भित श्लोक सुना नहीं सके पर मालवीय जी ने करीब आठ-दस श्लोक सुना दिए। इस पर, विषय का वोध कर, बाबू भगवान दास जी ने स्वीकार किया कि" हां, ऐसा रंग तो आना ही चाहिए। 'भला, मालवीय जी को कहां चरक-सुश्रुत से इतना साबिका पड़ा—यही मेरे आश्चर्य का विषय रहा।

एक अवसर पर महामना का चारित्रिक सौन्दर्य और देखने को मिला। वे कितने शांत स्वभाव के और कितने सहिष्णु थे कि इसे देखकर मुझे उनके अपार गरिमामय और उदात्त स्वरूप का सच्चा बोध हुआ। एक दिन अपराह्न में मैं, यों ही पहुँच गया और अपने सहपाठी पं० त्रिलोचन पन्त से एक कमरे में बैठ कर बातचीत करने लगा। बगल के मुख्य कमरे में मालवीय जी किसी दाढ़ी वाले अयोध्या-निवासी बाबा जी से कुछ बातें कर रहे थे। उसमें उनकी वाणीं तो अधिक सुनाई नहीं पड़ रही थी पर बावा जी का उद्धत, उग्र और आक्रोश युक्त स्वर अवश्य अप्रिय रूप से सुनाई पड़ रहा था—"आप बिलकुल पाखण्डी, असत्यभाषी और मायावी हैं। आप विश्वासभाजन तो नहीं हैं, घातक और पापात्मा हैं।" आदि-आदि कटु वचनों की भरमार बाबा जी कर रहे थे। हम लोगों में बड़ा क्रोध उत्पन्न हो रहा था और इच्छा हो रही थी कि उन्हें उठाकर कमरे से वाहर फेंक दें पर मालवीय जी के भय से दिल मसोस कर बैठे रहे। मालवीय जी की शांत और मार्दवयुक्त वांणी हम सुन रहे थे। वे वार-वार ,थोड़ी-थोड़ी देर में केवल यही कहते जाते थे—'भाई ! आप क्रोध में आ गए हैं। आपके चित्त को कष्ट हुआ है—यह मैं समझ रहा हूँ पर मैं क्या करता। दिल्ली म बैठक एक दिन के लिए आकस्मिक रूप से बढ़ा दी गई और मैं चाहने पर भी विवश हो गया था। आपकी सेवा में नहीं पहुँच सका और आपकी सभा में उपस्थित नहीं हो सका। अब आप आज्ञा दें किस प्रकार मैं क्षति की पूर्ति कर सकता हूँ। आदि-आदि। उक्त कटु व्यवहार की तुलना से इस प्रकार का उद्वेगरहित और मधुर उत्तर केवल वे ही दे सके। वस्तुतः ऐसे ही अनेकानेक उदात्त व्यवहारों के आधार पर ही उन्हें महामना मानना पड़ता है। ऐसे कई और प्रसंगों में भी मैंने उनके इसी प्रकार के व्यवहारों को देखा था जिसके कारण मेरा मस्तक सदैव उनके चरणों में झुक जाता था और आज भी उनके दिव्य व्यक्तित्व के प्रति मेरे मन में अपार श्रद्धा भरी है।

भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।
निवास—औरंगाबाद, वाराणसी

महामना के आदर्श और चिंतन

श्याम जी त्रिपाठी

इस नश्वर जगत् में असंख्य मानव जन्म लेते और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं। इनमें बहुसंख्यक लोग मात्र स्वार्थ सिद्धि को ही जीवन का लक्ष्य समझते हैं। वस्तुतः ऐसे लोगों का जीवन भार सदृश होता है। मरने के बाद समाज और राष्ट्र की दृष्टि में वे सदा के लिए समाप्त हो जाते हैं। व्यक्ति की महानता समष्टिगत मानव मूल्यों की श्री वृद्धि से आंकी जानी चाहिए। जो पूरे राष्ट्र और समाज को अपना परिवार समझे और प्रत्येक व्यक्ति को उस अपने महान् परिवार का एक सदस्य वस्तुतः वही महामानव है।

महामना पं० मदन मोहन मालवीय का संपूर्ण जीवन आदर्शों के मधुर रस से ओतप्रोत था। उनके व्याख्यानों में सर्वत्र आदर्श की झलक दिखायी देती है। सच्चे अर्थ में वे कर्मयोगी थे।

गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्' पर पूरा विश्वास रखने वाले महामना ने इस तात्पर्य को विश्व के सामने 'सर्वविद्या की राजधानी' के रूप में प्रस्तुत किया। पृथ्वी पर ऐसे महामानव बड़े ही भाग्य से अवतरित होते हैं जिनका संपूर्ण जीवन परहित एवं राष्ट्रहित के लिए सर्मपित होता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—'जिसका हृदय दया, क्षमा, समता, संवेदनशीलता आदि महान् गुणों से परिपूर्ण हो वही महान कहलाने का अधिकारी है।' 'महामना' की उपाधि वस्तुतः इन्हीं गुणों के चलते मालवीय जी को प्राप्त हुई थी। उनका जीवन आदर्श की रश्मियों से परिपूर्ण था। यदि हम महामना मदन मोहन मालवीय को युग पुरुष एवं धर्मावतार कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। उनका समग्र जीवन राष्ट्र एवं धर्म के लिए सर्मपित था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय उनकी इसी भावना का ज्वलन्त प्रतीक है। महामना अपने किशोर काल में ही अपनी संस्कृति और देश के स्वप्न देखा करते थे। उन्हें अपने स्वप्नों पर विश्वास था, वे कहा करते थे 'मेरे स्वप्न अवश्य ही पूरे होंगे (My dreams must come to be true) यह उनकी अन्तरात्मा की आवाज थी। महामना के विश्वविद्यालय के निर्माण विषयक विचार को लोग प्रायः 'वाग विलास' ही समझते थे। किन्तु अपनी दिव्य शक्ति, अदम्य साहस तथा अनवरत तपस्या से मालवीय जी ने अपने स्वप्नों को साकार रूप दे ही दिया।

मालवीय जी ऐसे दृढ़ निश्चयी पुरुषों में थे जिनके हृदय में अंकुरित संकल्प का बीज कभी कुंठित नहीं हुआ अपितु प्रतिकूल परिस्थितियों में भी पल्लवित, पुष्पित होकर विशाल वट वृक्ष के रूप में उद्दीप्त हो उठा। अपने इन्हीं पुनीत संकल्पों के कारण लोक जीवन से तादात्म्य स्थापित कर महामना देश की आशा एवं विजय के प्रतीक बन गए। सन् १९०५ में उनके अन्दर एक नैसर्गिक शान्ति परिलक्षित हुई और ४५ वर्ष की अवस्था में भी वे लोक मंगल की उदार भावना जन्य साधना की ऊर्जा से मंडित दिखायी देने लगे। उन्होंने अपने जीवन के महत् सद-संकल्प काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के निर्माण का श्री गणेश किया। आश्चर्य है कि ऐसे महान्

कार्य के लिए इस अकेले योद्धा ने जिस मार्ग का आश्रय ग्रहण किया वह था अब तक का उपेक्षित एवं तिरष्कृत भिक्षाटन का मार्ग। महामना ने उस अपावन माध्यम को भी पावन बना दिया।

अपने अथक प्रयास, चरित्र की दृढ़ता और प्रतिभा के सफल प्रयोग द्वारा मालवीय जी ने थोड़े समय में ही लगभग डेढ़ करोड़ की राशि एकत्रित कर ली। अपने परिश्रम की अप्रत्याशित सफलता के पश्चात् उन्होंने तत्कालीन वायसराय से कांशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास की अपील की। ४ फरवरी १९१६ वसंत पंचमी का शुभ अवसर भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक अविस्मरणीय दिवस के रूप में देदीप्यमान रहेगा। वायसराय, राज्यपाल, राजकुमार तथा अन्य गणमान्य अतिथियों की उपस्थिति में मालवीय जी ने पुण्य सलिला गंगा के पावन तट पर वैदिक समारोह के मध्य विश्व विद्यालय की स्थापना द्वारा अपना स्वप्न साकार किया।

उस वक्त भी और आज भी कुछ लोगों के अन्तः में अनायास यह प्रश्न उठ जाता है कि महामना की जन्म भूमि प्रयाग थी और वहां न केवल पावनी भागीरथी अपितु त्रिवेणी का तट विद्यमान था फिर उन्होंने क्यों काशी में ही हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की योजना का सूत्रपात किया। प्रश्न स्वाभाविक ही है। इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व हमें महामना के उदात मानवीय भावों से परिचित होना चाहिए। ऐसे श्रेष्ठ पुरुषों की दृष्टि में तो वसुधैव कुटुम्वकम् का सिद्धान्त कार्य करता है और महामना तो 'निज प्रभुमय' जगत को देखने वाले मनीषी ही थे। उनमे भेद बुद्धि की कल्पना ही असंगत होगी। दूसरी बात है—प्राचीन परंपराओं को जीवित रखने एवं शताब्दियों से विद्वानों द्वारा ज्ञान केन्द्र के रूप में स्वीकृत और समादृत काशी नगरी को एक बार फिर विद्या-केन्द्र बनाने की भावना से ही उन्होंने यहां काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की। धर्म-प्रेमी को धर्म की राजधानी काशी ही अच्छी लगी जो 'सर्व विद्या की राजधानी' मे बदल गई। ढाई हजार साल पहले गौतम बुद्ध ने काशी के पास ही सारनाथ में दया और प्रेम का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। श्री शंकराचार्य ने भी काशी की इसी पवित्र स्थली पर वेदान्त की शिक्षा दी थी। विश्वकवि तुलसी दास की अमर रचना 'रामचरित मानस भी यहीं निर्मित हुई। तो क्योंकर भारतीय संस्कृति का यह अनन्य पुजारी नैसर्गिक पुरुषों की नगरी में अपनी कल्पना को साकार रूप न देता।

महामना की देव दुर्लभ कामना मानवता के इतिहास की अक्षुण्ण धरोहर है। अपनी मृत्यु के समय महामना मध्य काशी मे प्राण विसर्जन नहीं करना चाहते थे। उनका कहना था कि मुझे मोक्ष की इच्छा नहीं है। मैं पुनः इस पृथ्वी पर जन्म लेकर मानवता की सेवा करना चाहता हूँ—

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं ना पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

'मुझे न तो राज्य की कामना है और न स्वर्ग की और न मुक्ति की। दुःख से पीड़ित प्राणियों के कष्ट दूर करने में मैं सहायक हो सकूं यही मेरी कामना है।'

उनकी इच्छा थी कि का० हि० वि० वि० का स्नातक जाकर लोगों में ज्ञान का प्रकाश फैलाये—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षरेन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

कितना महान था उनका संकल्प जिसमें प्राचीन ऋषिकुल परम्परा और आधुनिकता का मणि-कांचन योग था । विद्यार्थियों के उन्नत भविष्य के प्रति महामना की कामना कितनी आदर्श-मयी थी—

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया ।
देशभक्त्यात्मत्यागेन सम्मानार्हः सदा भव ॥

सत्य- ब्रह्मचर्य, व्यायाम, विद्या, देशभक्ति और आत्म-त्याग द्वारा सदा ही सम्मान पाने योग्य बनो ।

महामना ने अध्ययन के साथ-साथ स्वास्थ्य की दृष्टि से व्यायामशाला, चिकित्सालय तथा गोशाला की भी स्थापना की थी । कितनी ममता, उदारता और दूरदृष्टि थी उस महा-मानव में । विकास के इस गत्वर युग में भी अभी तक हम महामना की आदर्शमयी वृहत् कल्पना से पीछे ही खड़े हैं । महामना का पार्थिव शरीर १२ नवम्बर १९४६ को तिरोहित हो गया लेकिन उनकी यशः काया युग युगान्तर तक मानवता के विकास का दिशा निर्देश करती रहेगी ।

विश्वविद्यालय से संबंधित हम सभी छात्रों, अध्यापकों एवं कर्मचारियों का यह पुनीत कर्तव्य है कि जिस उद्देश्य को लेकर महामना ने पुनीत गंगा तट पर इस महान् विश्वविद्यालय की स्थापना की है हम सतत् उनके आदर्शों पर चल कर ही इस विश्वविद्यालय का विश्व के सर्वोत्कृष्ट विश्वविद्यालय के रूप में मानवर्द्धन कर सकते हैं । विश्वविद्यालय के बहुमुखी विकास के लिए सभी का अपेक्षित सहयोग आवश्यक है । सभी अपने कर्तव्यों के प्रति जागरुक और सचेष्ट रहें तभी महामना की आत्मा को शांति मिल सकेगी और उनका स्वप्न साकार हो पावेगा । अन्त में महामना जिस आदर्श वाक्य को प्रायः अपनी सभाओं में दुहराया करते थे उसी लोक मंगल की कामना से हम महामना के आदर्शों पर चलने का व्रत लें यही महामना के प्रति सबसे बड़ी श्रद्धांजलि होगी ।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत् ॥

बी० ए० अंतिमवर्ष
विज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ।

महामना का पुनर्मूल्यांकन

डा० मोहनलाल तिवारी

औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के लिए संघर्ष करने वाले देशों में कई प्रकार के राजनीतिक विकास दिखाई पड़ते हैं। कहीं विभिन्न राजनीतिक विचारों का संयुक्त मोर्चा जन संघर्षों के रूप में आगे बढ़ा और यूरोपीय शक्तियों से सत्ता वापस ले सका, कहीं सैनिकों ने मिल जुलकर विद्रोह किया और सैनिक सत्ता के नाम पर तानाशाही कायम की और कहीं समाजवादी या साम्यवादी दल के नेतृत्व में जनता और सैनिकों की मिली-जुली शक्ति ने एक नए समाज के निर्माण के लिए शत्रुओं से सत्ता छीन ली। भारतीय भूखण्ड, एवं कतिपय अन्य देश शांतिपूर्ण सत्तान्तरण की सीमा रेखा में ही रह सके। भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, वर्मा, एवं इसी प्रकार कीनिया, साइप्रस जैसे देश इसके उदाहरण हैं। तुर्की, मिस्र, अलजीरिया, घाना, आदि सैनिक तानाशाही के रास्ते से आगे बढ़। वियतनाम, कंबोडिया, क्यूवा आदि ने एक दम नया रास्ता अपनाया।

भारत प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों में रहा, जहां धार्मिक, सामंतवादी, जमींदारी तथा पूँजीवादी और वहुत हद तक मध्यमवर्ग एवं उच्च जातियों म उत्पन्न श्रमिक एवं तथाकथित समाजवादी नेताओं ने मिल कर एक राष्ट्रीय मंच वनाया और आर्थिक व्यवस्था को स्पर्श किए विना राजनीतिक मुक्ति के लिए कभी तनकर कभी झुककर संघर्ष किया। तिलक, मालवीय, गांधी, डा० वेसेन्ट जैसे लोग इस तरह के आंदोलन के नेता थे। भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद और सुभाषचन्द्र वोस या एम० एन० राय का गुणगान किया गया, किन्तु उन्हें इतिहास में वास्तविक महत्व नहीं दिया गया। इस वड़े मोर्चे में हिन्दू मुसलमान, सिख, ईसाई आदि को भारतीय के रूप में, श्रमजीवी या सामंत या पूंजीपति के रूप नहीं वल्कि संप्रदाय के रूप में शामिल किया गया। धर्म एवं संप्रदाय के भेदभाव को बनाए रखा गया। नारेबाजी का एक सिक्का वाजार में चलाया गया—'हिन्दू-मुसलिम-सिख-ईसाई, आपस में सब भाई-भाई।'

महामना पं० मदनमोहन मालवीय 'हिन्दू-महासभा' के संस्थापक थे, पर वे इंडियन नेशनल कांग्रेस के दो बार अध्यक्ष भी चुने गए। गांधी जी उन्हें पूज्य गुरु जी कहा करते थे। पं० मोतीलाल नेहरू और जवाहर लाल नेहरू को वे परामर्श दिया करते थे। डा० एनीबेसेन्ट उन पर बहुत भरोसा करती थीं। कांग्रेस उनके व्यक्तित्व से प्रभावित रहती थी। गांधी जी और सरोजनी नायडू के साथ उन्होंने गोलमेज कांफ्रेस (लंदन) में कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किया था। 'अपने देश में अपना राज' उनका प्रमुख नारा था। कांग्रेस के भीतर राष्ट्रीयता, हिन्दूवाद, वर्णाश्रम, सनातन धर्म चलाते रहने में उन्होंने कभी कोई कठिनाई अनुभव नहीं की। समाज

व्यवस्था और अर्थ व्यवस्था को ज्यों का त्यों बनाए रखकर वे स्वराज्य के लिए संघर्षरत थे। मुस्लिम समुदाय की कट्टरता, गोवध एवं हिन्दू विरोधी आचरण, पाकिस्तान की मांग, नोआखाली (अब बंगलादेश) में हिन्दू विरोधी साम्प्रदायिक दंगे आदि से वे बड़े दुखी थे।

अपने शिष्य गांधी जी द्वारा चलाए गए प्रत्येक आन्दोलन के वे समर्थक थे। बाद में हरिजनों के मंदिर प्रवेश के भी वे समर्थक बन गए थे। वे धार्मिक विश्वासों के प्रति उदार एवं मानवतावादी महापुरुष थे। सिद्धान्त और आचरण की एकरूपता में विश्वास करते थे। १९३१ में भगत सिंह की मृत्यु के बाद चारों ओर मौखिक शोक व्यक्त करने की बाढ़ आ गई। १९३२ में करांची कांग्रेस में भी इसका दौर चला। मालवीय जी ने दो टूक कहा 'अगर भगत सिंह के प्रति ज्यादा प्रेम है तो भगत सिंह बनों।' जनमत के द्वारा शांति पूर्ण तरीकों से आन्दोलन चलाने का उनका मान्य सिद्धांत था। उग्रवाद या सशस्त्र क्रांति में उनका विश्वास नहीं था। वे मार्क्स और लेनिन से प्रभावितनहीं थे। वे अत्यधिक मुनाफाखोरी के विरुद्ध थे। सीमित लाभ एवं नियमित दान के माध्यम से आय के अंतर को कम करना चाहते थे। मनुस्मृति के इस सिद्धांत को डा० सम्पूर्णानन्द ने अपने 'समाजवाद' में भलीभांति स्पष्ट किया है, जिसमें बताया गया है कि 'वर्णाश्रम धार्मिक नहीं, आर्थिक व्यवस्था है और श्रम-विभाजन के आर्थिक उत्पादन-सिद्धान्त पर आधारित है।'

मालवीय जी कट्टर सनातनी होते हुए भी देश और जनता को विज्ञान, टेक्नालाजी, पाश्चात्य संस्कृति, बड़े उद्योग, एवं विदेशी शिक्षा से वंचित नहीं रखना चाहते थे, बल्कि 'काशी विश्वविद्यालय' जैसी महान् संस्था की स्थापना कर उन्होंने भारतीय युवकों-युवतियों के लिए नई जीवन पद्धति और अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति के उच्चतम मूल्यों को समझने एवं अंगीकार करने का महान अवसर प्रदान किया। महिला कालेज में स्नातक कक्षा तक शिक्षा की व्यवस्था और स्नातकोत्तर कक्षाओं में अध्ययन-अनुसंधान की सह-शिक्षा जैसी व्यवस्था कर उन्होंने पर्दा प्रथा का विरोध किया, 'स्त्रियों का स्थान, घर के अन्दर' के सिद्धान्त को ठुकरा दिया। प्राचीन समाज व्यवस्था के ढांचे के अन्दर स्त्री-पुरुष की समानता को स्वीकार किया, हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र आदि के लिए निर्बाध शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा देकर संप्रदायगत एवं जातिगत भेदभाव को समाप्त करने का प्रयत्न किया। साथ ही पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान का समन्वय कर अनेक प्रकार के अंधविश्वासों को समूल नष्ट कर इंजीनियरिंग एवं संबद्ध विभागों की स्थापना कर भारतीय जन जीवन में आधुनिक विज्ञान को अवर्णनीय महत्व प्रदान किया।

मालवीय जी का विश्वविद्यालय एवं उसमें विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रणाली का श्रीगणेश अपने आप में पृथक् कार्यक्रम नहीं माना जाना चाहिए, बल्कि राष्ट्रीय उत्थान या आन्दोलन के ही एक अंग के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। राजा राम मोहन राय ने 'ब्रह्म समाज' एवं उसके अन्तर्गत अनेक संस्थाओं की स्थापना, दयानन्द सरस्वती ने डी० ए० वी० कालेजों की स्थापना, रामकृष्ण परमहंस के शिष्यों ने रामकृष्ण सेवाश्रमों की स्थापना, गांधी जी ने 'हरिजन' के संचालन एवं गांधी आश्रमों की स्थापना तथा दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना आदि के द्वारा जिस प्रकार राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को आंदोलित और संगठित करने का

प्रयास किया, उसी प्रकार यह विश्वविद्यालय भी नए भारत के संचालन के लिए योग्य शिक्षाविद्, इंजीनियर, वैज्ञानिक, चिकित्सक, विधिवेत्ता आदि की महती आपूर्ति करने एवं नए भारत का निर्माण करने का एक आन्दोलन था, और इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन की एक धारा था। यही कारण है बुद्ध, शंकराचार्य, रामानुज, वल्लभाचार्य, दयानंद, डा० एनीबेसेंट आदि को आकर्षित करने वाली जीवन्त सांस्कृतिक नगरी काशी में उन्होंने इस महान विश्वविद्यालय की स्थापना की।

वे आधुनिक परिभाषा के अनुसार समाजवाद के मसीहा नहीं थे, किन्तु न्यायसंगत, सदाचारयुक्त, आत्मानुशासित तथा मानवतावादी समाज के निर्माता राष्ट्रीय महापुरुष थे, जो इतिहास में कभी-कभी पैदा होते हैं।

सेंट्रल हिंदू स्कूल, कमच्छा,
वाराणसी।

राम नाम

डॉ० मनोरंजन ज्योतिषी

प्रथम अणु-परीक्षण के परिणामों को देख कर विश्व के वैज्ञानिकों ने महसूस किया कि इस जगत् का संचालन करने वाली कोई महान् शक्ति है। इसी प्रकार गणित के विद्वानो की धारणा है कि विश्व का निर्माण, गणित के सिद्धान्तों के आधार पर हुआ है अतः विश्व की सृष्टि आकस्मिक नहीं अपितु किसी महान् गणितीय शक्ति के आयास का परिणाम है। यद्यपि वे प्रयोगशालाओं में प्रयोग के आधार पर उपयुक्त धारणा को सिद्ध करने में असमर्थ हैं किन्तु वैज्ञानिक प्रक्रियाओं के सूक्ष्म अन्वेषण से उन्हें इस तथ्य की प्रतीति होती है। महामहोपाध्याय डाक्टर गोपीनाथ कविराज जी का कथन है कि इस तथ्य का साक्षात्कार, योग और साधना के द्वारा ही मनुष्य कर सकता है। अब प्रश्न यह है कि इस शक्ति का स्वरूप क्या है? उत्तर है—'घट घट व्यापक'। इसका नाम क्या है? 'राम'। केवल पुस्तकों को उलट पलट कर अनुसंधान करने वाले विदेशी विद्वान् एवं उनका अन्धानुकरण करने वाले कहते हैं कि वेदों के प्राचीनतम अंशों में 'राम' शब्द उस अर्थ में उपलब्ध नहीं होता है जिस अर्थ में यह शब्द 'रामायण' में प्रयुक्त हुआ है। यहां यह विचारणीय है। निरुक्त, मीमांसा, इतिहास, पुराण के आधार पर वेदार्थ का बोध किया जाता है। किं पुनः "आध्यात्मिक साधना का रहस्य समझने के लिए साधक को अपनी व्यक्तिगत प्रकृति का अनुसरण करना चाहिए। साथ ही उस साधना की परम्परागत धारा और वह महाभाव के जिस दिग्विशेष की निर्देशक है, उसकी स्वरूपगत विलक्षणता और अखण्ड सत्ता में उसका निर्दिष्ट स्थान क्या है, यह जानना आवश्यक है। इस साधना की दो दिशाएँ हैं—एक है क्रिया की दिशा और दूसरी है भाव की दिशा। इनमें भाव अन्तरंग है और क्रिया वहिरंग। अन्तर्निहित भाव न समझने पर क्रिया व्यर्थ मालूम पड़ती है। उसी प्रकार क्रिया का त्याग करने से भाव में प्रवेश पाना असंभव हो जाता है। दोनों ही सत्य हैं और दोनों ही आवश्यक।"[१] इस परिवेष में निमग्न म० म० गोपीनाथ कविराज जी "राम नाम की महिमा" नामक अपने लेख में कहते हैं—"श्री भगवान् का नाम भी अप्राकृत और चिदानन्दमय है। नाम अलौकिक शक्ति-सम्पन्न है। नाम के प्रभाव से ऐश्वर्य, मोक्ष और भगवत्प्रेम तक की प्राप्ति हो सकती है। नामाभास को छोड़ कर गुरु प्रदत्त शक्ति से सम्पन्न नाम का यदि विधि पूर्वक अभ्यास किया जाय तो उससे जीव के सभी पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं। श्री राम नाम, श्री भगवान का एक विशिष्ट नाम है। इसकी महिमा अनन्त है। शास्त्रों ने इसी को 'तारक ब्रह्म' कहा है। यह प्रणव से अभिन्न है।"[२]

निष्कर्ष यह है कि राम नाम के संबंध में साधना-हीन व्यक्ति का मत सर्वथा अमान्य है। योग सूत्र में कहा गया है—'तज्जपस्तदर्थ भावनम्' भाव पूर्वक नाम का जप करने से ईश्वर का साक्षात्कार होता है। गोस्वामी तुलसीदास जी अपना अनुभव लिखते हैं 'नाम निरूपन नाम जतन तें, सो प्रगटत जिमि मोल रतन तें।।'[३]

---

[१] (भूमिका पृष्ठ १—भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खंड म० म० गोपीनाथ कविराज जी)

[२] (वही पृ० ४४९)।

[३] मानस, बालकाण्ड दोहा २२ चौपाई ४।

इसी पथ के साधक पूज्य महामना जी भी कहते हैं—'जप रे उद्बोधनार्थ संबोधन है 'रे'। 'जप' तात्पर्य है केवल बहस से तत्त्व का साक्षात्कार संभव नहीं, क्रिया में उतारो और वह क्रिया है 'जप'। नाम है 'राम' किन्तु 'घट-घट व्यापक' इस भाव से युक्त नाम का जप होना चाहिए। प्रश्न ह, इसकी आवश्यकता क्या है ? महान् शिक्षाविद् महामना जी इसका उत्तर देते हैं— "हम धर्म को चरित्र निर्माण का सीधा मार्ग और सांसारिक सुख का सच्चा द्वार समझते हैं। हम देश भक्ति को सर्वोत्तम शक्ति मानते हैं जो मनुष्य को उच्च कोटि की निःस्वार्थ सेवा करने की ओर प्रवृत्त करती है।"..."यह शरीर परमात्मा का मंदिर है। ईश्वर को सदैव अपने भीतर अनुभव करो और इस मंदिर को कभी अपवित्र न होन दो।"..."इस पवित्र मन्दिर का रक्षक ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य ही हमें वह आत्मबल देता है जिसके द्वारा हम संसार को जीत सकते हैं।...हिन्दू विश्वविद्यालय की संस्थापना विद्यार्थी के भीतर शारीरिक बल के साथ धर्म की ज्योति और ज्ञान का बल भरने के लिए हुई है, इसे सदैव स्मरण रखो।"[१]

विश्व में भौतिक सुखों की प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य नहीं बनाना है अपितु 'मत कर वैर'। झूठ मत भाषै—इसका अभिप्राय 'राजतरंगिणी' के इस छन्द से स्पष्ट हो जाता है—पूर्वप्रजासृज इवाद्भुतवस्तुतत्वव्यावर्णनेन कुतुकं जनयन्ति तज्ज्ञाः। बाला इवाल्पमतिहार्य धियश्च सन्ति प्रायः प्रज्ञावन्तो शून्यमनोऽनुभावाः। झूठी बातें गढ़ने में निपुण धूर्त लोग सृष्टि कर्ता की तरह अपनी स्वार्थभरी वा ों का जाल इस तरह फैलाते हैं कि लोगों के हृदय में उत्सुकता उत्पन्न कर देते हैं। तब उनके मायाजाल में बच्चों जैसी अल्प बुद्धि वाले लोग ही नहीं, अनियन्त्रित मनवाले बड़े-बड़े बुद्धिमान भी फँस जाते हैं। यही है 'झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना। ऐसा जीवन नहीं जीना चाहिए। मत परधन हर। मत मद चाख। जीव मत मार। उन जीवों को नहीं मारना चाहिए जो किसी पर चोट नहीं करते। मारना उनको चाहिए जो आततायी हों अर्थात् जो स्त्रियों पर या किसी दूसरे के धन वा प्राण पर आक्रमण करते हों और जो किसी के घर में आग लगाते हों। ऐसे लोगों को मारे बिना यदि अपना या दूसरों का प्राण या धन न बच सके तो उनको मारना धर्म है (महामना कृत हिन्दू धर्मोपदेश)। जुआ मत खेलै। मत पर तिय लख यही तेरो तप रे। अर्थात् उपयुक्त तप को जीवन का अभिन्न अंग बनाना चाहिए। यदि तप की ओर मन को उन्मुख न किया जाय तो मन भोग के चिन्तन में तल्लीन होने लगेगा इसका परिणाम है 'भोग रोगमय' अर्थात् निषिद्ध भोग का निरन्तर चिन्तन ही असंख्य जटिल मानसिक व्याधियों को उत्पन्न कर देता है जिससे व्यक्ति के मन में मानसिक ग्रन्थियों (कम्प्लेक्स) की ऐसी गूढ़ और स्थायी खामियां स्थान जमा लेती हैं कि वह व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण और संतुलित विकास करने में असमर्थ हो जाता है। अतः महामना जी उपदेश देते हैं कि—

घट-घट व्यापक राम जप रे।
मत कर वैर, झूठ मत भाषै, मत पर-धन हर, मत मद चाखै।
जीव मत मार जुआ मत खेलै, मत परतिय लख, यही तेरो तप रे॥

---

१ (वचनामृत पृ० ३२०, ३२३ "महामना मालवीय जी" लेख और भाषण, धार्मिक)।

क्वार्टर नं० ३४, प्रोफेसर्स कालोनी, मोदी नगर, (उ० प्र०)।

विश्वविद्यालय का सूत्रपात

स्व० शिवप्रसाद गुप्त

सन् १९१० के दिसम्बर मास में प्रयाग में बड़ी भीड़भाड़ हो रही थी। एक ओर विलियम वेडरवर्न की अध्यक्षता में काँग्रेस की बैठक हो रही थी और दूसरी ओर उसी के साथ सरकारी सहयोग में बृहत् स्वदेशी प्रदर्शनी हो रही थी। प्रान्तीय सरकार का लक्ष्य था कि सन् १९०४ की बम्बई की और सन् १९०६ की कलकत्ता की प्रदर्शनियों को नीचा दिखाया जावे, पर वास्तव में, कुछ लक्ष्य दूसरा ही था। एक मास के लगभग प्रयाग में रहकर भी मैंने अपने उस समय के विचार के अनुसार इस प्रदर्शनी को नहीं देखा।

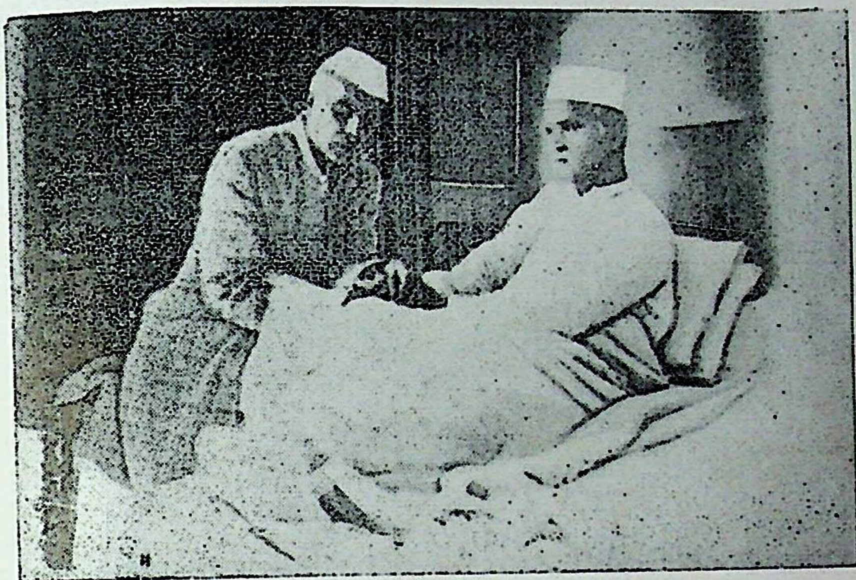
इसी वर्ष में पढ़ना छोड़कर बी० ए० में होता हुआ भी परीक्षा में नहीं बैठा। घर में मेरे सिपुर्द कोई काम नहीं था। समय, उत्साह और स्वास्थ्य की कमी न थी। पूज्यवर मालवीय जी महाराज से घनिष्ठता हो गई थी। मैंने उन्हें 'बाबू' पुकारना आरम्भ कर दिया था और उन्होंने भी पिता के सदृश प्रेम और शिक्षा आरम्भ कर दी थी। किन्तु इतना होते हुए भी बाबू के उदार राजनैतिक विचार से हम बालक लोग सहमत न थे और उनसे इस सम्बन्ध में प्रायः वाद-विवाद हो जाया करता था। वे बड़े प्रेम से समझाने का यत्न करते थे पर मेरी उस समय गदहपचीसी थी। बात क्यों समझ में आती। अस्तु।

यह वह समय था जब हिन्दू-कालेज के ट्रस्टियों में 'कृष्णमूर्ति' की बात लेकर आपस में वैमनस्य की नींव पड़ चुकी थी। हिन्दू-विश्वविद्यालय की चर्चा सन् १९०४-५ में उठकर एक प्रकार शान्त हो चुकी थी और १९०९ में अलीगढ़ में मुस्लिम यूनिवर्सिटी की चर्चा का आरम्भ होकर विचार स्वरूप पा चुका था। 'गुरु गुड़ ही रहे और चेला शक्कर हो गये' की कहावत इस सम्बन्ध में चरितार्थ हो चुकी थी। इसी समय हिन्दू-विश्वविद्यालय की चर्चा फिर उठ खड़ी हुई।

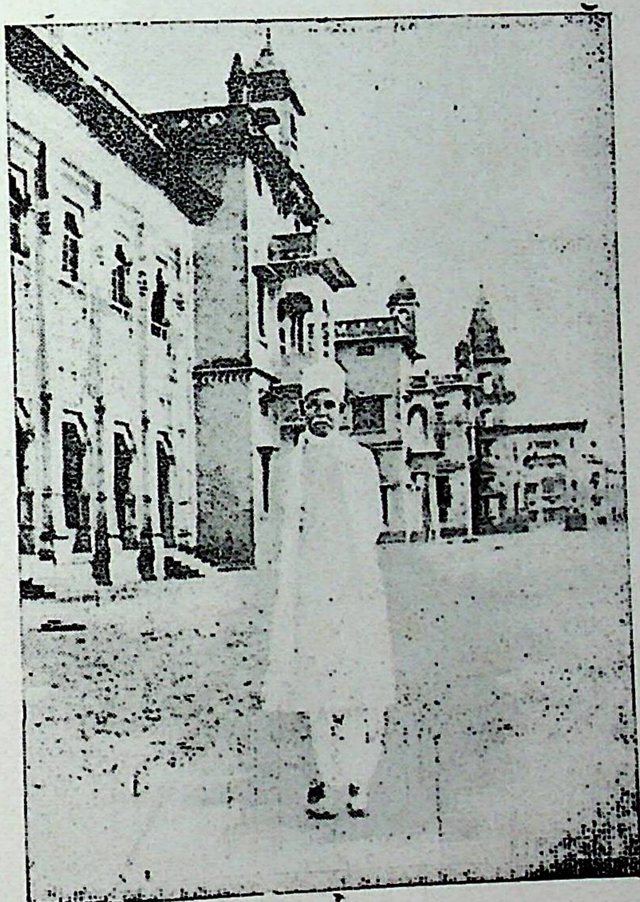
सिद्धान्तों को लेकर प्रस्ताव फिर उपस्थित हुआ। श्रीमती एनीबेसेंट देवी चाहती थीं कि बादशाह का चार्टर लेकर एक सार्वभौमिक भारतीय विश्वविद्यालय काशी में खोला जावे जिसके अन्तर्गत देश के सब प्रान्तों के कालेज रह सकें और सब जगह यहाँ की परीक्षा का केन्द्र बन सके। पर इस विचार का अन्त भी एक प्रकार से हो चुका था और उन्हें इस प्रयत्न में सफलता की आशा मिट चुकी थी। इसी अवसर पर मालवीय जी महाराज ने हिन्दू विश्वविद्यालय का नया विचार नये रूप में फिर से उपस्थित किया। प्रयाग में स्यात् इसकी प्रथम बैठक हुई। स्वनामधन्य परलोकवासी श्री पण्डित सुन्दरलाल जी से इस नई संघटित संस्था के मंत्रित्व के लिए विनती की गई। उनके पैरों पर सच्चे ब्राह्मण मालवीय जी की पगड़ी तक डाली गई पर उन्होंने हर प्रकार की सहायता का वचन देते हुए भी, और हर तरह से सहायता देते हुए भी, जब तक सरकार का रुख स्पष्ट न ज्ञात हो जावे तब तक खुलकर स्पष्ट रूप से मंत्रित्व ग्रहण करने से इनकार ही कर दिया। कुछ उपाय न देख बाबू ने अपने पैरों पर खड़ा होना ही विचारा और कलकत्ते के लिए प्रस्थान कर दिया।

में भी उठल्लू के चूल्हे की तरह बेकार होने के कारण उनके साथ हो लिया। कलकत्ता पहुँच कर बाबू तो हरिसन रोड पर श्री पं० सुन्दरलाल सारस्वत के गृह पर उतरे और मैं अपनी कोठी श्री शीतल प्रसाद खड्ग, ३०, बरतल्ला गली में जा उतरा। पूज्य मालवीय जी ने प्रचार प्रारम्भ कर दिया। परलोकवासी मेरे अत्यन्त प्रियवर वय में छोटे चाचा श्री मंगल प्रसाद, एम० ए० की परीक्षा की तैयारी कर रहे थे वा स्यात् परीक्षा दे चुके थे। उनके तथा श्री गोकुलचन्द के जो उनसे और मुझसे भी थोड़े बड़े थे, प्रयत्न और उत्साह से मेरी कोठी ने इस कार्य में सहायता देना स्वीकार कर लिया। कलकत्ता नगर के बड़े-बड़े महाजनों, साहूकारों और जनता ने भी दिल खोलकर इस कार्य में धन और मन से सहयोग दिया। स्वनामधन्य वर्तमान बीकानेर-नरेश ने भी इस सम्बन्ध में बड़ी सहायता का वचन दिया और गाड़ी चल निकली। इसी अवसर पर श्री हरकोर्ट बटलर जो उस समय बड़े लाट के शिक्षामंत्री थे, मालवीय जी महाराज से मिले और इनसे बहुत सी बातें की। आपने पहले ही कह दिया कि यदि प्रस्तावित संस्था में मातृ भाषा द्वारा पढ़ाने की व्यवस्था रही तो उसमें सरकारी सहायता और सहानुभूति की आशा रखना व्यर्थ है। उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि जिस समय तक आप अंग्रेजी भाषा में लिखते, बोलते, पढ़ते पढ़ाते हैं तब तक तो हमें शान्ति रहती है, क्योंकि उस समय तक हम आपकी सब बातों और चालों को भली भांति समझ सकते है और उसे संभाल सकते हैं, पर जिस समय आप अपनी भाषा में कार्य करना आरम्भ कर देते हैं तब उसका समझना हमारे लिए कठिन हो जाता है। इस कारण मातृभाषा द्वारा उक्त शिक्षा देने की अनुमति सरकार से किसी अवस्था में नहीं मिल सकती। न जाने क्या विचार करके कुछ मित्रों के विरोध रहते हुए भी बाबू ने श्री बटलर का इशारा समझ कर इस बात को स्वीकार कर लिया और मातृभाषा-द्वारा शिक्षा देने का विचार एक प्रकार से छोड़ दिया या यह कहिए कि कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दिया।

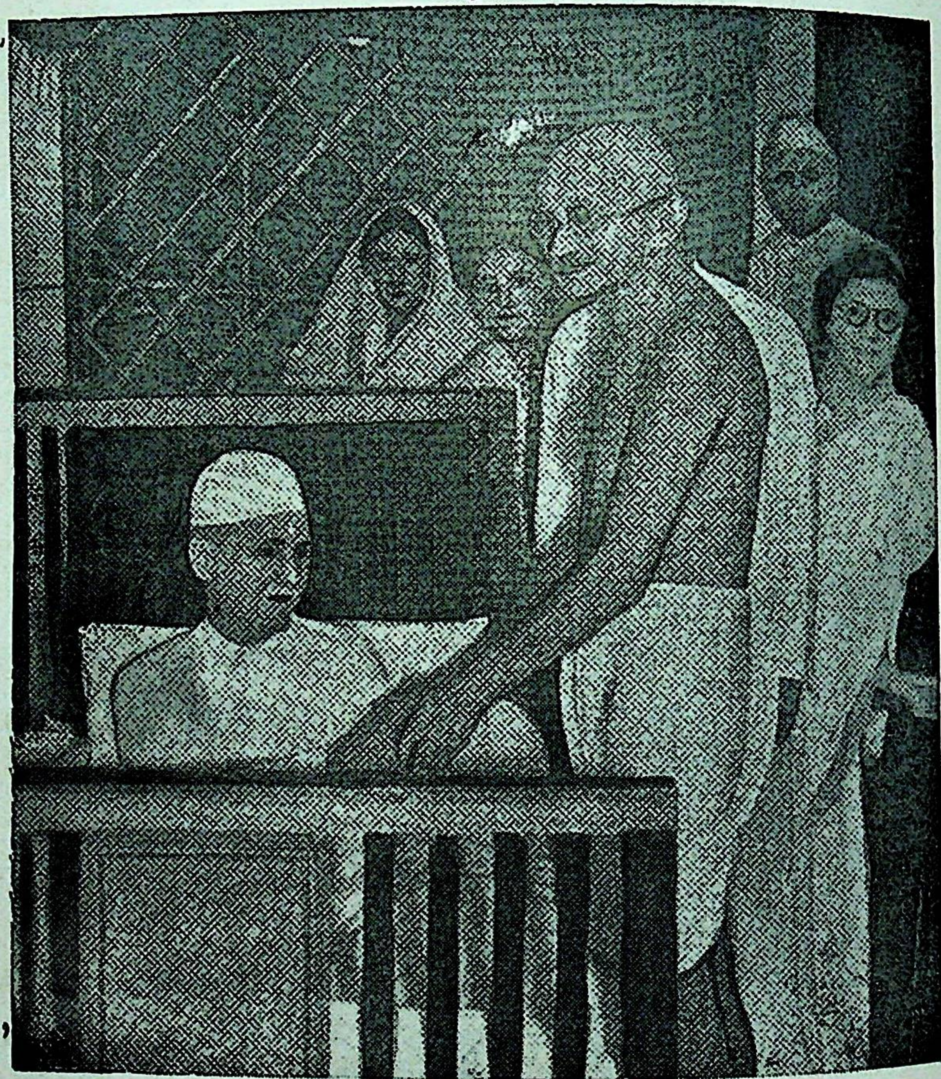
इसी समय श्रीमती एनीबेसेन्ट देवी के भी तीन व्याख्यान भारतीय विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में कलकत्ते में हुए। इसके उपरान्त एक सार्वजनिक सभा में विश्वविद्यालय की घोषणा की गई। कलकत्ते में जो आर्थिक सहायता का वचन मिला था वह प्रकट किया गया और प्रायः ५ लक्ष का वचन मिला और धन भी कुछ मिला। हमारी गाड़ी आगे खसकी। गौरीपुर के जमींदार श्री ब्रजेन्द्र राय किशोर चौधरी के मैनेजर श्री मनमोहन घोष बाबू, तथा श्री राधाकुमुद मुकरजी और श्री विनयकुमार सरकार की जो नेशनल काउंसिल आफ एडुकेशन के सदस्य थे और अन्तिम दो सज्जन यहाँ के अध्यापक भी हुए, सहायता से विश्व विद्यालय के विचार का प्रचार बंगाली सज्जनों में खूब हुआ और कुछ धन भी मिला। परलोकवासी श्री लंगट सिंह की सहायता और उत्साह से परलोकवासी श्री महाराजाधिराज दरभंगा से भी इस सम्बन्ध की चर्चा और सहायता की आशा हुई। बाबू के लंगोटिया यार और प्रान्त के वयोवृद्ध नेता और कार्यकर्ता परलोकवासी श्री बाबू गंगा प्रसाद जी वर्मा भी बाबू के साथ हो लिये और कलकत्ता आ गये। श्री ईश्वर सरन जी ने भी साथ दिया। परलोकवासी श्री पण्डित गोकरन नाथ मिश्र जी ने भी पूरा सहयोग का हाथ बढ़ाया और गाड़ी चल खड़ी हुई। प्रिय मंगल प्रसाद और मैंने बाबू के सफर का प्रबन्ध, धन के खजांचीका काम और इसी प्रकार से फुटकर कार्यों का कार्यभार अपने ऊपर ले लिया।



महामना एवं जवाहर लाल नेहरू



अतीत का पुण्य स्मरण



अविस्मरणीयक्षण-महामना एवं बापू

इतने समय के बाद ठीक क्रम में तो चूक हो सकती है पर जहाँ तक स्मरण है विश्वविद्यालय का दौरा बंगाल में मालदह और फरीदपुर में हुआ, बिहार में पटना, मुजफ्फरनगर, भागलपुर और दरभंगा में हुआ. युक्तप्रान्त में जौनपुर, काशी, प्रयाग, कानपुर, इटावा, पंजाब में अमृतसर और लाहौर में। इतने ही में प्रायः बीस लाख रुपयों की सहायता का वचन मिल चुका था। एक प्रकार से सारे भारत में विश्वविद्यालय के आगमन की दुन्दुभी बज चुकी थी। जनता के उत्साह का ठिकाना न था, मनुष्यों के हृदय में एक नया भाव, एक नई भावना और एक नवीन आशा की बाढ़ सी उमड़ पड़ी थी। कार्यकर्तागण फूले न समाते थे। भिन्न-भिन्न नगरों की सभाओं में दानियों की प्रतिस्पर्धा देखने योग्य होती थी।

मुजफ्फरपुर में एक भिक्षा माँगने वाली भंगिन ने अपने दिनभर की कमाई, एक पैसा या एक अधेला, जो उसे मिला था इस यज्ञ-वेदी पर समर्पण कर दिया और दर्शकों को 'शुक्लसत्र' की याद दिलाकर चली गई। इसी प्रकार एक व्यक्ति ने एक फटी कमीज जो उसके बदन पर थी, उतार कर प्रदान कर दी थी। इन चीजों को नीलाम करने पर सैकड़ों रुपये मिले थे और ये वस्तुयें भी वि० वि० को वापस कर दी गई थीं कि ये उसके संग्रहालय में विवरण के साथ सुरक्षित रखी जावें। यहाँ मुजफ्फरपुर में एक बंगाली महोदय ने स्यात् ५ हजार रुपया दान दिया था और पुनः उनके गृह पर जाने पर उनकी पत्नी ने अपना बहुमूल्य स्वर्णकंकण बाबू को भेंट दिया जिसे उनके पति ने उसके दूने से अधिक मूल्य देकर ले लिया और पत्नी को फिर वापस दे दिया और जिसे उनकी पत्नी ने संग्रहालय में रखने के लिए पुनः बाबू को दे दिया। यहीं मुजफ्फपुर की एक और घटना भी उल्लेखनीय है। रात्रि हो चली थी, सभा में धन एकत्रित हो चुका था, एक ओर उसकी गिनती हो रही थी, दूसरी ओर छोटी-छोटी चीजें नीलाम हो रहीं थीं, रोशनी जरा कम थी कि एक उचक्का दो थैलियां हजार-हजार की उठाकर चल दिया। पीछे दौड़ हुई पर वह यह जा वह जा नाले और झाड़ियों में होकर गायब ही हो गया।

सभी जगह कुछ न कुछ ऐसी घटनायें हुई हैं कि जिनका उल्लेख पाठकों के लिए शिक्षाप्रद और कौतूहल बर्द्धक हो सकता है पर उस ओर न जा मैं दूसरी ओर झुकता हूँ।

ऊपर लिखा जा चुका है कि विश्वविद्यालय की दुन्दुभी बजाते हुए बाबू और उनके साथी कलकत्ता से लाहौर पहुंच गये थे। २०, २५ लाख का वचन मिल चुका था। हिन्दू-विश्वविद्यालय का आन्दोलन ब्रह्मपुत्र की बाढ़ के सदृश समुद्र की ओर वेग से बह रहा था। उसके आगे का पथ रोकना असम्भव हो चुका था। जब शिमला-शिखर में बाबू के लिये बुलावा आया, बाबू और उनके साथ में भी शिमला पहुंचा। परलोकवासी राजा हरनामसिंह जी की कोठी में हम लोग ठहराये गये। बाबू उस समय के वाइसराय लार्ड हार्डिज से मिलने गये और वहाँ से बड़े प्रसन्न आये और मुझे बुलाकर कहा कि वाइसराय ने 'विश्वविद्यालय को अपनाने का वचन दे दिया है। मेरे काटो तो बदन में खून नहीं। मैं तो सन्न रह गया और मुख से हठात् निकल पड़ा कि—This is the death knell of the Hindu University. अर्थात् यह तो

हिन्दू-विश्वविद्यालय की मृत्यु घोषणा है। अस्तु हम लोग ऊपर से उतर कर फिर लाहौर वापस आये। लाहौर की वृहती सभा में स्वनामधन्य परलोकवासी लाला लाजपतराय ने कहा कि—"Charter or no charter", Hindu University must exist. जिसके उत्तर म वावू ने कहा कि—Charter and Eharter Hindu University must exist. इन वाक्यों से दोनों महान् व्यक्तियों की मनोवृत्ति का भलीभांति पता चल सकता है। अस्तु अब क्या था ? अब तो चारों ओर से लोगों की सहानुभूति आने लगी। राजा-महाराजा, उपाधिकारी और देश में अपने सर्वस्व समझने वाले लोग इधर झुक पड़े और जहाँ गरीव व साधारण लोगों की जेवों में से गाढ़ी कमाई का पैसा एक-एक दो-दो की संख्या में भी आता था वहाँ अब वड़े-वड़े लोगों का वड़ा-वड़ा दान लाखों की संख्या में आने लगा। विश्वविद्यालय जनता और गरीवों का न रहकर सरकारी छात्र छाया के नीचे मुट्ठी भर राजा-महाराजाओं व वड़े आदमियों की संस्था रह गई। लाहौर से डेपुटेशन आगे वढ़ा, मेरठ में वड़े समारोह से सभा हुई, १२ घन्टे तक का लम्वा जुलूस निकला, परलोकवासी महाराजा दरभंगा ने आकर शिरकत की और सभापति वनना स्वीकार किया और ५ लाख का दान भी दिया। इसी के पहले पूज्य पण्डित सुन्दरलाल जी ने भी श्री हारकोर्ट वटलर के कहने पर मन्त्रित्व स्वीकार कर लिया था। अव वहाव का रुख दूसरी ओर चला था और आगे क्या हुआ वह सभी जानते हैं।

'प्रज्ञा' के मालवीय जन्मशती विशेषांक से उद्धृत

महामना मालवीय जी और श्रीमद्भगवद्गीता

स्व० आचार्य शिवपूजन सहाय

वर्तमान बीसवीं शती की दूसरी और तीसरी दशाब्दी में अपने काशीप्रवास के समय मुझे कई वार हिन्दू विश्वविद्यालय के कला महाविद्यालय में एकादशी के दिन पूज्य मालवीय जी के गीता प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। काशी निवासी 'सुप्रभातम्' संपादक पंडित केदारनाथ शर्मा सारस्वत के साथ ही वहाँ जाता था। महामना जब व्यासासन पर विराजमान होते थे तब उनके तेजस्वी रूप की कांतिछटा देखते ही बनती थी। ललाट पर चंदनतिलक, रेशमी रामनामी चादर, पुष्पहार आदि से उनका दिव्य रूप साक्षात् वेदव्यास के समान ही जान पड़ता था। एक वार उन्होंने श्रोताओं को वतलाया था कि उनके पुण्यश्लोक पिता भी बड़े अच्छे कथावाचक थे और श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रसिद्ध वक्ता भी। अपने पिता के सम्बन्ध में संस्मरण सुनाते हुए उन्होंने कहा था कि पिता जी को भागवत का दशम स्कंध प्रायः समग्र कंठस्थ था और रासपंचाध्यायीप्रकरण का सस्वर पाठ करते हुए उनका अश्रुप्रवाह रुकता न था।

महामना मालवीय जी भी कभी-कभी भागवत की कथा कहा करते थे। उन्हें भी अधिकांश कथाप्रसंग के श्लोक कंठस्थ थे। पोथी देखे विना ही वे आनन्द गद्गद्कंठ से श्लोक कहकर उसकी व्याख्या में धाराप्रवाह भाषण करते चले जाते थे। एक-एक श्लोक पर उनकी अमृतमयी वाणी जो चमत्कारपूर्ण प्रवचन करती थी वह कर्णपुट को तो पवित्र करती ही थी. हृदय को भी आह्लादित करके तृप्त कर देती थी। जैसे हिमालय से धरातल पर उतर कर 'वसुधाश्रृंगारहारावली' गंगा का प्रखर प्रवाह समुद्राभिमुख प्रवाहित होता है, जान पड़ता था, वैसे ही उनके श्रीमुख से भक्तिरस की अखंड धारा श्रोतृवृंद में फैलकर सवको भक्तिभावना में रसमग्न कर देती थी। वैसी ललित और सरस भगवत्कथा कहीं फिर सुनने में न आई। बीच-बीच में सूरदास और नन्ददास के प्रकरणानुकूल पद भी कहते जाते थे, जिससे कथा की रोचकता और भी वढ़ जाती थी।

लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की वाललीला का दृश्य वर्णन करते समय उनके सजल नेत्रों में भगवद्भक्ति का रस उमड़ता दीख पड़ता था और श्रोता मंत्रमुग्ध होकर उनके भक्तिविह्वल रूप को अनिमेष नयनों से देखते रह जाते थे। उनकी भाषा और भावाभिव्यंजना में उनकी अनुभूति तथा तल्लीनता से विलक्षण माधुर्य और आकर्षण उत्पन्न हो जाता था। कभी-कभी ईश्वरानुराग की गहनता और भगवत्प्रेम की महिमा पर बोलते हुए वे अंगरेजी, फारसी और उर्दू की कविताएँ भी सुनाकर श्रोताओं को आनन्दविभोर कर देते थे। उनकी स्मृति शक्ति कितनी प्रवल थी। उनकी भावुकता कैसी चित्ताकर्षिणी थी। उनकी वाणी की मधुरिमा का तो कहना ही क्या?

प्रवचन की एक वैठक में गीता के दो चार श्लोकों का भाष्य करते-करते समय बीत जाता था। व्याख्यान के क्रम में आधुनिक समाज, धर्म और राजनीति के ज्वलंत प्रश्नों पर भी अपने सुचिंतित विचारों को व्यक्त किया करते थे। जिस अध्याय पर भाषण होता था

उसके कुछ प्रमुख श्लोकों के अंतर्निहित भावों का मर्मोद्घाटन करके संपूर्ण अध्याय का वास्तविक अभिप्राय समझा देते थे। और उस अध्याय में भगवान् ने कौन सा संदेश दिया है वह भी बतला देते थे। उनका मत था कि भगवद्गीता का प्रचार घर-घर में होना चाहिए। श्रोताओं को उनका यह सत्परामर्श बराबर मिला करता था कि प्रत्येक गृहस्थ परिवार में नित्य गीतापाठ का नियमित रूप से अभ्यास करना अत्यावश्यक है।

महामना के प्रवचन और व्याख्यान हिन्दू विश्वविद्यालय के अतिरिक्त विशुद्धानन्द महाविद्यालय (कलकत्ता) में, त्रिवेणीसंगम पर माघ मेले में, बनारस के टाउनहाल में दिल्ली की कांग्रेस में और हिन्दू महासभा (कलकत्ता) में अनेक बार सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यहाँ केवल विश्वविद्यालय के गीता प्रवचन से ही, अपनी स्मरणशक्ति के आधार पर, करीब-करीब महामना के ही शब्दों में जो आज भी हृत्पटल पर अंकित है, कुछ बातें लिखने की चेष्टा कर रहा हूँ :—

भगवद्गीता कर्मयोगशास्त्र तो है ही, भक्तियोगशास्त्र भी है। भगवान् श्रीकृष्ण ने द्वापर युग के अन्त के बाद ही आने वाले कलिकाल के मनुष्यों की प्रकृति और प्रवृत्ति का ध्यान रखकर उनके उद्धार का एकमात्र उपाय भगवदाश्रय ही बतलाया है। भगवद्भक्ति में हार्दिक अनुरक्ति ही गीता की मुख्य शिक्षा है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी गीता के भगवद्वचनों से प्रभावित होकर 'रामचरितमानस' में कलियुगी जीवों के निस्तार के लिये केवल ईश्वर भक्ति पर ही विशेष बल दिया। भगवान् ने अपने को उसी के लिये सुलभ बताया है जो सदा उनका स्मरण करता है। इसी कारण भगवन्नामस्मरण पर ही गोस्वामी तुलसीदास ने सर्वापेक्षा अधिक बल दिया ह। गीता के बल पर ही गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका में लिख दिया है कि जिसने अहर्निश रामनामामृत पान किया उसने तपस्या, यज्ञ, दान आदि सभी शुभ कर्म कर डाले। गीता में भगवान् ने भगवद्भक्त को योगी, तपस्वी, दानी आदि से भी बड़ा बतलाया है। अतः भगवत्प्राप्ति के सभी साधनों से बढ़कर भगवच्चरणारविंद में आत्मसमर्पण ही है। शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप अथवा यज्ञादि से भगवान् शीघ्र वैसे आकृष्ट नहीं होते जैसे अनन्य प्रेम से। भगवान् ने अपने विश्वरूप दर्शन का भी एकमात्र उपाय अनन्य भक्ति को ही घोषित किया है। यहाँ तक कि निर्गुण ब्रह्म भी अनन्य भक्ति से ही प्राप्तव्य है। अनन्य उपासक के योगक्षेम का सारा भार भगवान् स्वयं वहन करते हैं। पापजन्मा और पापजीवी भी यदि निश्चित संकल्प के साथ भगवान् की शरण में अपने आपको अर्पित कर देता है तो भगवान् उसका उद्धार कर देते हैं। अतः गीतानुसार भगवद्भजन ही आत्मोद्धार का सर्वोत्तम मार्ग है।

गीता प्रवचन में महामना विशेषतः ईश्वर भक्ति, ईश्वर प्रार्थना और ईश्वरोपासना पर ही जोर देते थे। गीता का अमर सन्देश यही बतलाते थे कि निष्कपट भाव से मनुष्य भगवद्भजन में दत्तचित्त हो रहे। साथ ही उनका यह भी कहना था कि भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करते हुए ही भजन सुमिरन होना चाहिए। जीवदया और लोकोपकार की प्रेरणा से किए हुए सभी कर्म भगवान् को संतुष्ट करते हैं। अत भक्ति और भजन के बहाने लौकिक कर्मों से उदासीन या विरक्त होना उचित नहीं। फलासक्ति को त्याग कर किए हुए लोकहितकर कार्य भगवान् द्वारा अवश्य पुरस्कृत होते हैं। सच्ची निष्ठा के साथ किया गया

कोई कर्म आजतक भगवान् से अपुरस्कृत नहीं रहा। जो कुछ करो धरो, भगवान् को समर्पित करते चलो, यही मानवजीवन की सार्थकता है।

गीता के श्लोकों के एक-एक शब्द और वाक्य पर उनकी उक्तियाँ अपूर्व उद्भावना शक्ति का परिचय देती थीं। जैसे 'सततं कीर्त्तयन्तो मां' में जो 'सततं' शब्द है उनके सम्बन्ध में उन्होंने बताया था कि इस शब्द का अर्थ 'निरन्तर' तो है ही, 'तत' का अर्थ 'वीणा' भी है, अतः वीणामृदंगादि के साथ संकीर्तन करने से भगवान् विशेष प्रसन्न होते हैं, क्योंकि संगीत द्वारा मनुष्य में तल्लीनता आती है और वह अनायास भगवदभजन में तन्मय हो जाता है। गीता के आरम्भ के प्रथम श्लोक में जो युत्सवः शब्द है उसका अर्थ योद्धागण तो है ही, उसमें 'युयुत्सु' मल्लविद्या का सूचक है, क्योंकि उस युग में सभी वीर पुरुष मल्लविद्या में निपुण होते थे और जापान में मल्लविद्या के लिए जो 'युयुत्सु' शब्द प्रचलित है वह भारतवर्ष की ही देन है, अतः सब लोगों को कसरत करना चाहिए और कसरती शरीर के लिए ब्रह्मचर्य पालन परमावश्यक है तथा ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए विशुद्ध गोदुग्धपान सर्वथा अनिवार्य है। गोरक्षा पर बोलते समय वे रोने लगते थे और महाकवि कालिदास के रघुवंश में वर्णित महाराज दिलीप की गोभक्ति तथा गोसेवा का उपाख्यान कहकर गोपालन की प्रेरणा सबको देते थे।

हिन्दू महासभा का विशेषाधिवेशन (कलकत्ता) पंजाबकेशरी लाल लाजपतराय की अध्यक्षता में हुआ था। मैं 'मतवाला' में उन दिनों काम करता था। लाहौर के उर्दू दैनिक 'वन्देमातरम्' के सम्पादक लाला रामप्रसाद ने प्रस्ताव उपस्थित किया कि ईश्वर की दी हुई रोशनी और हवा सभी प्राणियों को समान रूप से नसीब है तो फिर ईश्वर की वाणी कहा जाने वाला जो वेद है उससे शूद्रवर्ग क्यों वंचित रहें, अतः जैसे ईश्वरदत्त सभी प्राकृतिक साधन सबके लिए सुलभ हैं वैसे वेद भी शूद्रों के पढ़ने के लिए सुलभ कर दिए जाँय। इस प्रस्ताव का बड़ा ही जोरदार समर्थन स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने किया। दोनों ओजस्वी वक्ताओं के व्याख्यान का जादू सा असर हुआ। सारे पंडाल में सनसनी फैल गई। मतविभाजन की खलबली देख व्याख्यान वाचस्पति पंडित दीनदयालु शर्मा ने महामना मालवीय जी से मझधार पड़ी नैया का कर्णधार बनने की अपील की। हर्षोल्लासपूर्ण करतलध्वनि के बीच वे मंच पर आकर बोले—'ईश्वरदत्त सभी विभूतियाँ मानवमात्र को सुलभ हैं सही, पर वायु परमात्मा का श्वास है और प्रकाश परमात्मा की नेत्रज्योति है, इन दोनों से वाणी की महत्ता कहीं अधिक है, इसलिये ईश्वरीय वाणी का प्रसाद ग्रहण करने के लिए मनुष्य में विशिष्ट पात्रता होनी चाहिए। वेद के पठनपाठन के निमित्त घोर संयमशीलता की नितांत आवश्यकता है। वेदवाणी अतिशय गूढ और सूत्ररूपिणी है, उसका अध्ययन-मनन वही कर सकता है जो ब्रह्मचारी और तपस्वी हो, सबके लिये वह सुगम नहीं। कलि में ऐसे लोगों का टोटा होने की संभावना समझ भगवान् ने वेदों और उपनिषदों का सारभाग ग्रहण करके 'भगवद्गीता' को सर्वलोकोपरार्थं प्रकट कर दिया। अतः गीता भी भगवद्वाणी ही है। वह सबके लिए सुगम है। सभी वर्णों और आश्रमों के लोग उसे पढ़कर वेदशास्त्रों के पढ़ने का पुण्य अर्जित कर सकते हैं। भगवान् ने वैदिक वाङमय का विधिवत मंथन करके जो दिव्य नवनीत निकाला है वह उसमें संचित है। ज्ञान

विज्ञान के रहस्य के जिज्ञासुओं के लिये वह बोधगम्य भी है। देश की सभी भाषाओं में उसकी सरल टीका प्रकाशित करके जनता में प्रचारित किया जाय जिससे सब श्रेणी की जनता ईश्वरीय वाणी का अमृत पानकर लाभान्वित हो। इसके बाद तत्क्षण ही सेठ घनश्यामदास बिड़ला ने उठकर घोषित कर किया कि मूल और टीका के साथ गीता की लाखों प्रतियाँ छपवाकर नाममात्र मूल्य में सर्वसाधारण के लिए सुलभ कर दी जायेंगी। सारा सभामंडप महामना की जयजयकार से गूंज उठा।

मनामना के गीतोपदेश यदि लिपिवद्ध होते या 'रेकर्ड' में भरे गए होते तो आज भी सार्वजनिक समारोहों में अमृतवर्षा हो सकती। तब भी उनके प्रवचनों, वक्तव्यों, सन्देशों, व्याख्यानों और भाषणों तथा लेखों का संकलन तत्परता से करके प्रकाशित करना चाहिए, क्योंकि वे लोककल्याण के अमोघ साधन हैं और उन्हें साहित्य की अमूल्य निधि मानकर सुरक्षित रखने की आवश्यकता है। उनकी सनातनधर्म नामक पुस्तक भारतीय संस्कृति का सात्विक सन्देश सुनाती है और आधुनिक स्वेच्छाचारी युग में उसे सर्वजनसुलभ बनाने की आवश्यकता पदे-पदे अनुभूत होती है। मालवीय साहित्य के संरक्षण से भारत जैसे विशाल राष्ट्र के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक नवजागरण का इतिहास तैयार हो जायगा।

मालवीय जी महाराज इस युग के महर्षि थे। उनके बिना भारतीय संस्कृति आज अनाथ दीख पड़ती है। गोमाता के तो 'वे सचमुच मदनमोहन' थे। दिल्ली कांग्रेस में अध्यक्षपद से अन्तिम मौखिक भाषण करते समय स्वागताध्यक्ष हकीम अजमल खां के कंधे पर हाथ रखकर गोरक्षा की उपेक्षा पर बिलख-बिखल कर रो पड़े। कैसा कारुणिक हृदय था उनका हिन्दीमाता को भी उनका अभाव बहुत खलता है। सरकारी दफ्तरों में नागरी प्रचार के लिये उनका प्रयत्न सर्वविदित है। बम्बई में जब वे दूसरी बार अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष हुए तो परम्परागत रीति के अनुसार उनके मनोनीत नाम का प्रस्ताव उपस्थित करते हुए पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने ठीक ही कहा था कि 'मदन मोहन' अर्थात् मालवीय जी में मद या मोह नहीं है, निर्विकार महापुरुष हैं। वस्तुतः वह सौम्यमूर्ति दर्शनीय और वन्दनीय थी। श्री एंडरुज साहब ने अपने एक संस्मरण में लिखा था 'महात्मा गांधी के साथ मैं सिमला में टहल रहा था, आगे-आगे मालवीय जी और मद्रास उच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री शंकरन् नैयर चल रहे थे। मैंने महात्मा जी से कहा कि आपका असहयोग आन्दोलन खूब सफल हुआ। महात्मा जी ने मालवीय जी की ओर छड़ी से इशारा करते हुए कहा कि जबतक इस महापुरुष पर असहयोग का रंग नहीं चढ़ता तबतक चालीस करोड़ भारतवासियों के असहयोगी हो जाने से भी मैं अपनी सफलता नहीं मानूंगा।

सचमुच हिन्दुस्थान के करोड़ों निवासियों के ईश्वरदत्त प्रतिनिधि महामना मालवीय जी थे।

ना० प्र० पत्रिका के मालवीय शती विशेषांक से साभार

पं० मदनमोहन मालवीय का पुण्यस्मरण

स्व० अंबिका प्रसाद वाजपेयी

गत शती में देश में जो अनेक गण्यमान पुरुष उत्पन्न हुए हैं, उनमें पं० मदनमोहन मालवीय का विशिष्ट स्थान था। मालवीय संज्ञा मालवे में बसे उन श्री गौड़ ब्राह्मणों की है, जो वहाँ से 'उत्तर भारत में चले आये थे। मालवीय जी के पिता पं० ब्रजनाथ चौबे अन्य श्री गौड़ ब्राह्मणों की भांति प्रयाग राज में आ बसे थे। और भी कई मालवीय परिवार इलाहाबाद और लखनऊ में रहने लगे थे। गौड़ ब्राह्मणों का गौड़ बंगाल से कोई संबंध न था। उनके जो तीन भेद आदि गौड़, गुर्जर गौड़ और श्री गौड़ है, उनमें किसी के बंगाल में कभी रहने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। आदि गौड़ हरियाने और राजस्थान में रहते हैं और गौड़ ब्राह्मण कहाते हैं। गुर्जर गौड़ गुजरात में रहते और श्री गौड़ मालवे में रहने के कारण मालवीय या माल्लई प्रसिद्ध हैं।

पं० मदनमोहन के पिता कथावाचक पंडित थे और उनका आस्पद चौबे था। उन्होंने अपने पुत्र को उस समय के अनुसार अंगरेजी की उच्च शिक्षा दिलाई। इन्होंने कलकता विश्वविद्यालय से बी० ए० परीक्षा पास की। उन दिनों उत्तर में कलकत्ते के सिवा कहीं युनिवर्सिटी नहीं थी और आसाम से लेकर पंजाब तक के विद्यार्थी कलकत्ता युनिवर्सिटी की परीक्षाओं में बैठते थे। मालवीय जी ने बी० ए० परीक्षा पास कर कालाकांकर के ताल्लुकेदार राजा रामपाल सिंह के द्वारा संचालित हिन्दी दैनिक पत्र 'हिन्दोस्थान' का संपादकत्व स्वीकार कर लिया। इन्हीं के आग्रह पर बाबू बालमुकुन्द गुप्त उर्दू पत्रकार से हिन्दी पत्रकार बन गए और 'हिन्दोस्थान' के संपादकीय विभाग म प्रविष्ट हुए। कालांतर में पं० प्रतापनारायण मिश्र और पं० अमृतलाल चक्रवर्ती भा 'हिन्दोस्थान' के संपादकीय विभाग में पहुँच गए। मालवीय जी की इच्छा वकालत करने की हुई। इसलिए 'हिन्दोस्थान' छोड़कर वे इलाहाबाद चले गए और वहाँ एल-एल० बी० परीक्षा पास कर वकालत करने लगे। उस समय देश में हिन्दी की अवस्था बड़ी शोचनीय थी। अंगरेज सरकार ने शासन से फारसी को तो विदा करा दिया, पर उसका स्थान हिन्दी के बदले उर्दू को दे दिया था। उर्दू फारसी पढ़े लिखे कुछ लोगों की ही भाषा थी। इसके विरोध में हिन्दी के हामियों ने आन्दोलन किया और नागरी अक्षरों के प्रचार के लिए जगह-जगह नागरी प्रचारिणी सभाएं स्थापित कीं। परन्तु इनका कुछ फल न हुआ। सरकार उर्दू का ही पोषण करती रही।

१८९९ में मालवीय जी को एक उपाय सूझा। उन दिनों पश्चिमोत्तर प्रदेश व अवध को सरकारी लिखा पढ़ी में 'ममालिक मगरबी व शुमाली व अवध' की संज्ञा दी जाती थो। इसके लेफ्टनेंट गवर्नर या छोटे लाट एक आइरिश सज्जन सर ऐंटनी पेट्रिक मेकडेनल थे। आयरलैंड भी उन दिनों ब्रिटेन की सरकार के अधीन था। उसकी समस्याओं से भारतीय समस्याओं का कुछ साम्य था। मालवीय जी व्यावहारिक राज-

नीतिज्ञ थे। उन्होंने सोचा कि उर्दू को उसके स्थान से हटाने का यत्न करना दीवार से सिर टकराना है। इसलिए उन्होंने लाट साहब को एक स्मरणपत्र दिया, जिस पर कोई ५० हजार लोगों के हस्ताक्षर थे। इस लेखक का भी हस्ताक्षर था। इसमें प्रार्थना की गई थी कि संमन आदि पर उर्दू और हिन्दी दोनों लिपियों के फार्म रहते हैं। उर्दू लिपि के फार्म तो भरे जाते हैं, हिन्दी या नागरी फार्म खाली पड़े रहते हैं। प्रार्थना है कि वे भी भर दिए जाया करें जिससे उर्दू न पढ़ सकने वालों की कठिनाइयाँ दूर हो जांय। यह उपाय फलप्रद हुआ। लाट साहब ने आज्ञा तो दे दी पर उर्दू फारसी के पक्षपातियों ने इसे बेकार कर दिया। वकीलों के हिन्दू मुहर्रिर अपना हिन्दी प्रेम दिखाते, तो काम कुछ आगे बढ़ता। पर इससे रास्ता खुल गया।

मालवीय जी की अध्यक्षता में ही काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की नींव डाली थी और वह तब से ४० साल लगातार भारत के भिन्न-भिन्न भागों में प्रतिवर्ष होता रहा। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन ने बड़ा काम किया। पर हिन्दी के दुर्भाग्य से वहां भी दलबंदी ने डेरा जमा लिया।

पं० मदनमोहन मालवीय ने जो सबसे बड़ा काम किया, वह हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना थी। इसके लिये उन्होंने दिनरात एक कर डाला। यदि उन्हीं की लगन के और साथी होते, तो आज हिन्दू विश्वविद्यालय और हिन्दी की बहुत अधिक उन्नति होती। पर ऐसा नहीं हुआ।

मालवीय जी की अभिलाषा थी कि विश्वविद्यालय में हिन्दी द्वारा शिक्षा की व्यवस्था हो, पर वाइसराय लार्ड हार्डिंग्ज इसके लिए तैयार न थे। इसलिए मालवीय जी के सामने यह प्रश्न था कि हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित किया जाय या नहीं। हम लोगों के आग्रह पर उन्होंने कहा कि हिन्दी के लिए हठ करने से विश्वविद्यालय तो स्थापित हो ही गा नहीं, हिन्दी का भी कुछ उपकार न होगा। इसलिए विश्वविद्यालय स्थापित हो गया। इससे अखिल भारत के लोगों का हित ही हुआ। हिन्दी के हित-शत्रु जो उसके पक्षपाती ही निकले, जिन्होंने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को पंगु बना दिया।

हिन्दू विश्वविद्यालय मालवीय जी का सबसे बड़ा स्मारक है। हिन्दुस्तान के मेवों-फूट और बैर-से हमें इसकी रक्षा करनी चाहिए। मालवीय जी के नाम पर हमें अपनी पार्टीबन्दी बन्द करनी चाहिए।

ना० प्र० पत्रिका के मालवीय शती विशेषांक से साभार

महामना मालवीय जी का पुण्यस्मरण

स्व० वासुदेवशरण अग्रवाल

विश्व का ज्ञान-विज्ञान जिसका अव्यक्त मूल है, मालवीय जी का पुण्य संकल्प जिसका बीज है, अनेक यशस्वी आचार्य जिसके स्कन्ध हैं तथा तप और मेधा से संयुक्त ज्ञानार्थी छात्र जिसके पर्ण हैं ऐसा यह हिन्दू विश्वविद्यालय रूपी महान् वृक्ष इस समय पूर्ण वितान के साथ दिग्दिगन्त को व्याप्त करके स्थित है। बहुमुखी जिज्ञासा इसके सुरभित पुष्प हैं, जिनसे ज्ञान और विज्ञान के अनेक स्वादु फलों का जन्म होता है। ऐसे इस महान् सारस्वत् वट वृक्ष के अधिदेवता के प्रति सच्चे हृदय से प्रणामांजलि अर्पित करनी चाहिए, तभी विश्वविद्यालय में रहने का परमित या अपरमित फल प्राप्त हो सकता है।

विश्वविद्यालय ईंट और पत्थरों का ढेर नहीं। भवनों की संख्या विश्वविद्यालय के चिरंतन जीवन में विशेष महत्व नहीं रखती। विश्वविद्यालय का सच्चा स्वरूप उस तपः पूत आश्रम का है जिसकी स्थापना के मूल में महामना मालवीय जी ने प्राचीन भारतीय ज्ञान साधकों के समस्त आदर्शों को बीज रूप में स्वीकार किया था। विश्वविद्यालय की भूमि उन्हीं आदर्शों से पवित्र है। जो इन आदर्शों को नहीं देख पाते उनके लिए तो यह भूमि केवल मिट्टी का ढेर है।

आदर्श का अनुभव कहीं बाहर नहीं स्वयं अपने अन्तः करण में करने की वस्तु है। किसी समय भी हम एकान्त में विचार करने लगें तो मालवीय जी की मानस ज्योति की कुछ किरणें हमें भी प्राप्त हो सकती हैं। आज यद्यपि महामना जी सशरीर हमारे बीच में नहीं हैं, किन्तु उनका यशः शरीर तो अमर है। जीवन के प्राणात्मक कार्यों को भी यशः शरीर कहते हैं। भौतिक शरीर के विषय में तो कुछ भी आस्था नहीं रखी जा सकती वह आज है कल नहीं रहता। किन्तु मन और प्राण के अमृत जल से जिन कार्यों को व्यक्ति सींचता है वे कभी पुराने नहीं पड़ते। उन्हें जब चाहे हम अपने संकल्प की शक्ति से पुनः जीवित कर सकते हैं। इस दृष्टि से हिन्दू विश्वविद्यालय पूज्य मालवीय जी का ऐसा यशः शरीर है, जो बहुत वर्षों तक सूर्य के समान हमें दिखाई पड़ता रहेगा। इस विश्वविद्यालय की उस नित्य महिमा का हमें संवर्धन करना चाहिए। जैसे अग्नि उत्पन्न होती है वैसे ही नये तप के द्वारा पुराने तप को 'उज्ज्वल बनाया जाता है। ज्ञान के लिए सच्चा प्रयत्न ही विश्वविद्यालय की भूमि में किया जाने वाला तप है। प्रत्येक की यही साधना होनी उचित है कि हमारे कारण ज्ञान की श्रृंखला की कोई कड़ी अशक्त न होने पावे। पूज्य मालवीय जी की जन्म शताब्दी जहां एक ओर बाह्य उत्सव है, वहीं दूसरी ओर एक ऐसा अवसर है कि विश्वविद्यालय से संबंधित प्रत्येक व्यक्ति अपने मन को मालवीय जी के आदर्शों से नया चैतन्य प्रदान करे।

'प्रज्ञा' के मालवीय जन्मशती विशेषांक से उद्धृत

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय : साठ वर्षों की यात्रा

डॉ० लल्लनजी गोपाल

अदम्य आशावाद के प्रतीक एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक पं० मदन मोहन मालवीय के अन्त: करण में शीघ्र ही देश की स्वतंत्रता की प्राप्ति के विषय में कोई संशय नहीं था। विदेशी सत्ता के विरुद्ध संघर्ष के दौरान ही उन्हें स्वतंत्र भारत की सामाजिक पुनर्रचना एवं शैक्षणिक विकास सम्वन्धी समस्याओं का पूर्ण ज्ञान था। उनकी यह धारणा थी कि पारम्परिक मूल्यों को देश के सांस्कृतिक जीवन का आधार बनाये बिना, विज्ञान एवं प्राद्योगिकी द्वारा प्राप्त नये ज्ञान का समुचित उपयोग सम्भव नहीं है। अत: उन्होंने एक ऐसी शिक्षा प्रणाली की कल्पना की जो नये और पुराने तथा धार्मिक एवं वैज्ञानिक आदर्शों का स्वस्थ समन्वय प्रस्तुत कर सके।

काशी में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के प्रस्ताव की चर्चा सर्वप्रथम १९०४ में वहीं की एक सभा में हुई। जनवरी १९०६ में इलाहावाद में त्रिवेणी के संगम पर मालवीय जी नें प्रस्तावित विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए अपने जीवन को समर्पित करने का पावन व्रत लिया। डा० एनी वेंसेंट, जो भारत के राज्य सचिव के अधिकार पत्र (Charter) के अनुसार एक भारतीय विश्वविद्यालय (University of India) की स्थापना हेतु क्रियाशील थीं, और दरभंगा के महाराजा रामेश्वर सिंह, जो वाराणसी में इसी प्रकार एक शारदा विद्यापीठ (संस्कृत विश्वविद्यालय) की स्थापना का अभियान चला रहे थे, इनको अपनी अलग-अलग योजनाओं को छोड़कर अपने ही प्रयासों का समर्थन देने के लिए महामना ने राजीकर लिया। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय सोसाइटी का पंजीकरण १५ दिसम्वर १९११ में हुआ और हिन्दू विश्वविद्यालय ऐक्ट १९१५ में पास हुआ। विश्वविद्यालय की आधारशिला भारत के महा राज्यपाल लार्ड हार्डिंग के कर कमलों द्वारा ४ फरवरी १९१६ को रखी गयी। विश्वविद्यालय के अंगीभूत (Constituent) कालेज के रूप में सेंट्रल हिन्दू कालेज के साथ ही १ अक्टूवर १९१७ में विश्वविद्यालय विधिवत चलने लगा। १३, दिसम्बर १९२१ को प्रिंस आफ वेल्स ने विश्वविद्यालय का औपचारिक उद्‌घाटन किया।

विश्वविद्यालय बनारस के महाराजा प्रभुनारायण सिंह जी का अत्यन्त ऋणी है जिन्होंने विश्वविद्यालय के निर्माण के लिए दान के रूप में उदारता पूर्वक एक विशाल भू-खण्ड प्रदान किया। मालवीय जी के आह्वान पर भारतीय जनता के धनी एवं गरीब, सभी वर्गों ने जाति एवं धर्म निरपेक्ष होकर विश्वविद्यालय कोष में दान दिया। मिशनरी भावना से प्रेरित होकर महान शिक्षकों ने अल्प वेतन सहर्ष स्वीकार करते हुए अपने कठोर परिश्रम द्वारा इस नवोदित विश्व विद्यालय को विद्या के महान केन्द्र के रूप में प्रस्थापित कर दिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद विश्वविद्यालय केन्द्रीय विश्वविद्यालय के रूप में स्वीकृत हुआ और इस प्रकार विश्वविद्यालय के इतिहास में आर्थिक स्थायित्व के नये चरण का सूत्रपात हुआ।

मुदालियर और गजेन्द्रगड़कर कमीशनों ने विश्वविद्यालय को सुव्यवस्थित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। गजेन्द्रगडकर कमेटी के सुझाओं पर चलते हुए विश्वविद्यालय

ने अपने प्रशासन की धारा-रेखा निश्चित की। २८ कार्य संचालक वर्गों का गठन हुआ जिन्होंने विश्वविद्यालय के प्रशासन को कारगर करने के लिए रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत किये हैं। इन सुझावों को कार्यान्वित करने के लिए उनको प्रक्रियात्मक रूप दिया जा रहा है।

परिसर का मानचित्र सुव्यवस्थित नियोजन का प्रतिफल है। वाराणसी नगर भगवान शिव के ललाट पर प्रतिष्ठित अर्धचन्द्र की भाँति है। अर्ध चन्द्राकार विश्वविद्यालय परिसर इस तथ्य को प्रतिविम्बित करते हुए नगर की आधारभूत भावना से जुड़ जाता है। शिल्प शास्त्र के प्राचीन ग्रंथों में ऐसे समन्वय को 'कार्मुक' कहते हैं।

नगर से दक्षिण, पावन गंगा के दुकूल से आधा मील दूर १.३०० एकड़ भूमि के हरे भरे परिसर में विश्व विद्यालय स्थित है। एशिया का सबसे बड़ा आवासीय परिसर होने के साथ ही विश्वविद्यालय का अपना वह सब कुछ है जो एक आधुनिक नगर के पास होता है। विश्व-विद्यालय की पानी और बिजली की अपनी व्यवस्था के साथ टेलीफोन एक्सचेंज, बैंक, पोस्ट आफिस, स्वास्थ्य केंद्र, क्रय-केंद्र एवं रेलवे टिकट घर आदि सब कुछ अपना है। विश्वविद्यालय के विशाल परिसर में २२,००० लोग रहते हैं और २५,००० से ३०,००० तक लोग प्रतिदिन विश्वविद्यालय में आते और जाते हैं। अतः विश्वविद्यालय की सुरक्षा की अपनी व्यवस्था है जिसमें करीब १०० लोग सेवा रत हैं, जिनके ऊपर विश्वविद्यालय में सुरक्षा सम्बन्धी पूरी जिम्मेवारी होती है और जो यातायात से लेकर नियंत्रण संबंधी सारे कार्य संपादित करते हैं।

विश्वविद्यालय के मानचित्र का केन्द्र बिंदु विश्वनाथ जी का मंदिर ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों को आध्यात्मोन्मुख करने की महामना की कल्पनाका प्रतीक भी है। स्फटिक से बना सम्पूर्ण मंदिर २५२ फीट ऊँचा है जो कुतुब मीनार की ऊँचाई से अधिक है। इसके निर्माण में वीस वर्ष लगे हैं। प्रतिदिन करीब ६००० दर्शनार्थी मंदिर में आते हैं, किंतु किसी विशेष उत्सव के दिन दर्शनार्थियों की संख्या २०,००० तक होती है। मंदिर की दीवालों पर सम्पूर्ण गीता अंकित है। इसके अतिरिक्त वेद से लेकर गांधी जी एवं मालवीय जी तक विभिन्न कालों में हिन्दू धर्म के विविध रूपों को अभिव्यक्त करने वाले अनेक भित्तिचित्र, चित्र वल्लरियां और सूक्तियां जो हिन्दू धर्म के व्यापक एवं उदार स्वरूप को उजागर करती हैं, मंदिर की सभी दीवारों पर पूर्णतया बिखरी पड़ी हैं।

माइनिंग और मेटलर्जी, फार्मासेटिक्स और सिरामिक एन्जिनियरिंग के क्षेत्रों में पुरोगामी कार्य करने का गर्व विश्वविद्यालय को प्राप्त है। तकनीकी संस्थान के अनेक प्रतिभा सम्पन्न स्नातक देश के विभिन्न निजी एवं सरकारी औद्योगिक संस्थानों में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। इस क्षेत्र के कुछ निम्नलिखित प्रतिष्ठित विद्वान यहीं के छात्र रह चुके हैं: श्री वाई० नायूदम्मा-सी० एस० आई० आर० के डाइरेक्टर जनरल; श्री चारी, भारत सरकार के कोयला विभाग के सचिव; श्री पी० एल० अग्रवाल-राऊर केला इस्पात कारखाने के जनरल मैनेजर; श्री पी० के० घोष—कोयला बोर्ड के अध्यक्ष; श्री एस० आर० वालुरी-राष्ट्रीय वैमानिकीय प्रयोगशाला के निर्देशक; श्री वी० ए० अलतेकर–राष्ट्रीय धातुकर्मीय प्रयोगशाला के निदेशक; श्री वी० एन० वालिगा - अध्यक्ष उत्तर प्रदेश राज्य बिजली बोर्ड।

सम्प्रति संस्थान में नौ विभाग हैं। संस्थान में विद्यार्थियों का प्रवेश देश के पांच तकनीकी संस्थानों द्वारा संयुक्त रूप से संचालित सम्पूर्ण भारत प्रवेश परीक्षा (All India Entrance Examination) के आधार पर होता है। करीब ७५% विद्यार्थी वजीफा, छात्रवृत्ति या शिक्षावृत्ति पाते हैं। स्नातकोत्तर एवं उच्च शोध एवं विकास कार्य के लिए संस्थान में सर्वोत्तम सुविधायें उपलब्ध हैं। संस्थान के शिक्षकों में प्रोफेसर टी० आर० अनन्तरमण जी को सी०एस०आई०आर० का शांतिस्वरूप भटनागर पुरस्कार, एफ०आई०सी० सी० आई० पुरस्कार, होमी जे० भाभा पुरस्कार एवं विश्वविद्यालय अनुदानआयोग की राष्ट्रीय फेलोशिप मिल चुकी है। इनके अतिरिक्त इस संस्थान में बहुत से ऐसे शिक्षक हैं जिन्होंने अपने क्षेत्र में महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हासिल की हैं और देश एवं विदेशों में सम्मानित हैं।

संस्थान में शोध के अत्याधुनिक यंत्रों की बहुलता है। संस्थान की शोध एवं विकास संबंधी योजनाओं का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है, जैसे, आधुनिक यंत्र माध्यम और खाका (design) में स्केनिंग इलेक्ट्रान माइक्रोस्कोप का विकास, आयात प्रतिस्थापन में डीजल इंजनों के गति-नियंत्रक का विकास, हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड के सहयोग से विशेष प्रकार के इस्पात का विकास एवं मूल्यांकन, एक नई तकनीक द्वारा असामान्य धात्विक वस्तुओं का उत्पादन और नवीन ऊर्जा स्रोतों के महत्वपूर्ण क्षेत्र में सौर एवं वायु ऊर्जा का विकास एवं उपभोग।

डा० एस० एस० सलूजा संस्थान के निदेशक हैं। इनके नेतृत्व में संस्थान ने औद्योगिक सेवाओं पर विशेष बल दिया है, अतः इस संदर्भ में डीजल लोकोमोटिव वर्क्स, हिन्दुस्तान अलमुनियम कम्पनी, हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड एवं कोल इन्डिया लिमिटेड का संस्थान को योगदान उल्लेखनीय है। अपने स्नातकों में औद्योगिक उद्यमशीलता की सशक्त भावना पैदा करने का नया प्रयोग संस्थान ने किया है और इसीलिए संस्थान के द्वारा इन्जिनियरिंग चिकित्सालय एवं विकसित केंद्र के रूप में एक औद्योगिक समूह (Complex) की स्थापना का प्रयास संस्थान की ओर से हुआ है। संस्थान का संबंध उत्तर प्रदेश राज्य औद्योगिक सम्पर्क बोर्ड, जो पूर्वी उत्तर प्रदेश में लघु उद्योगों के विकास के लिए कार्य करता है, की गतिविधियों से संबद्ध है। इंगलैंड एवं जर्मन गणवादी संघ के संस्थानों के साथ कई सहकारी उद्यमों में तकनीकी संस्थान संलग्न है।

प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धति-आयुर्वेद के छः विभागों सहित चिकित्सा विज्ञान संस्थान में २७ विभाग हैं। प्राचीन एवं आधुनिक चिकित्सा पद्धतियों के स्वस्थ सहयोग के कारण विभिन्न चिकित्सा एवं शल्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण उपलब्धियां हुई हैं। हाल में इस संस्थान में एक योग शोध संस्थान की स्थापना हुई है। इस केंद्र के माध्यम से सामान्य एवं असामान्य व्यक्तियों पर प्रयोग के आधार पर योग क्रिया की उपादेयता के संबंध में वृहद् रूप में वैज्ञानिक शोध चल रहा है और इस प्रक्रिया में संतोष जनक परिणाम हासिल हुए हैं। संस्थान की दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि है न्यूक्लियर चिकित्सा-शास्त्र विभाग, (Department of Nuclear Medicine), जहां विभिन्न प्रकार के थायरायड एवं कैंसर सम्बन्धी रोगों के निदान एवं उपचार के लिए रेडियोधर्मी आइसोटोप्स (Radioactive isotopes) का व्यापक प्रयोग होता है। निरोधक एवं सामाजिक औषधि विभाग द्वारा सुन्दरपुर एवं चिरईगांव जैसे दो पड़ोसी ग्रामों में स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं पर-अध्ययन कार्य होता है।

न्यूरोलाजी, न्यूरोसर्जरी, कार्डियोलाजी, कार्डाइक सर्जरी, यूरोलाजी, नेफोलाजी, प्लास्टिक सर्जरी, कास्ट्रो एन्ट्रोलाजी, एन्डोक्राइनोलाजी, पेडियाट्रिक सर्जरी जैसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण विभागों के अगले पांच वर्षों में विशेष विकसित होने, चिकित्सालय के एक भव्य एवं विशाल भवन तैयार हो जाने, और आयुर्वेद एवं आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के विशिष्ट एवं प्रतिभा संपन्न चिकित्सकों के सहयोग से रूग्ण मानवता को वैज्ञानिक चिकित्सा प्रदान करने वाला यह संस्थान पूरे देश में एक अनोखा स्थान प्राप्त कर लेने में सक्षम होगा।

अपने विशिष्ट शोध कार्यों से संस्थान के बहुत से शिक्षकों एवं विद्यार्थियों ने चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में भरपूर ख्याति अर्जित कर ली है। हरी ओम ट्रस्ट का शल्यक शोध के लिए १०,००० का पुरस्कार इस वर्ष शल्य चिकित्सा विभाग की रीडर डा० (श्रीमती) सरोज गुप्ता को मिला है, जिन्होंने संस्थान के निदेशक डा० के० एन० उडुप्पा के निर्देशन में कार्य किया है। कई राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने संस्थान के कई विभागों के साथ सहयोग किया है, जैसे कम्यूनिटी मेडिसिन में भारत-ब्रिटिश सहयोग, साइकियेट्री में भारत-डच सहयोग एवं न्यूक्लियर मेडिसिन में भारत-जर्मन सहयोग।

१९३१ में कृषि संकाय का जन्म हुआ। यह संकाय उत्तर प्रदेश एवं पश्चिम बिहार के कृषि क्षेत्र में पिछड़े इलाकों के प्रति सतत जागरूक रहा है। यहां कृषि शिक्षा के तीन आयाम हैं: अध्यापन, शोध एवं शिक्षा। मिर्जापुर में २५०० एकड़ भूमि पर विश्वविद्यालय ने एक वृहद् शोध परियोजना का सूत्रपात किया है। संकाय के पास विश्वविद्यालय परिसर में १५० एकड़ का फार्म और दुग्धशाला है। दुग्धशाला में शाहीवाल नस्ल की २५० विशुद्ध-प्रजनित गायें हैं। प्रजनन में सुधार सम्बन्धी शोध भी निरन्तर चलता रहता है। संकाय का एक विकास खंड है जिसका कार्य क्षेत्र १० ग्रामों में फैला हुआ है। वार्षिक किसान मेला संकाय के शैक्षणिक कार्यक्रम का एक अंग बन चुका है। उत्तर प्रदेश सरकार एवं आई०सी०ए०आर० द्वारा प्रदत्त पर्याप्त सहायता से संकाय ने अपने विकास खण्ड को और अधिक सशक्त बनाने का प्रयास किया है। संकाय में होने वाले विशिष्ट शोध-अध्ययन के अंग हैं—दाल एवं गेहूँ के विविध किस्मों में विकास, सूखे इलाके में खेती करने की सम्भावनाओं की खोज, क्षेत्रीय फसलों की महामारी एवं रोगों की रोकथाम, क्षेत्रीय फलों की किस्मों का विकास तथा मिट्टी एवं खाद संबंधी अध्ययन।

मालवीय जी इस विश्वविद्यालय को सम्पूर्ण हिन्दू शास्त्रों के अध्ययन, अध्यापन एवं तत्संबंधी उत्कृष्ट शोध का केंद्र बनाना चाहते थे। अतः कला संकाय और प्राच्य विद्या एवं धर्म विज्ञान संकायों के अन्तर्गत प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति और पुरातत्व, संस्कृत एवं पाली और दर्शन जैसे विभाग हैं। हिन्दू शास्त्रों के अध्ययन के संदर्भ में इन संकायों का संयुक्त प्रयास अपने आप में महत्वपूर्ण है। कला संकाय में आधुनिक एवं प्राच्य विद्या संकाय में प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुसार अध्ययन, अध्यापन एवं शोध कार्य होते हैं। कला संकाय के संस्कृत विभाग को श्री रामावतार शर्मा, प्रमथनाथ तर्कभूषण, एस० के० बेलवालकर, पी० एल० वैद्य, बटुकनाथ शर्मा और भिक्षु जगदीश काश्यप जैसे प्रकाण्ड विद्वानों से समय-समय पर जुड़े रहने

का गौरव प्राप्त है। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन पहले व्यक्ति थे जिनकी नियुक्ति भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के सयाजीराव गायकवाड़ प्रोफेसर के रूप में हुई थी। एस० के० मैत्रा, हरीदास भट्टाचार्या, फणी भूषण अधिकारी, बी० एल० आत्रेय और टी० आर० वी० मूर्ती जैसे प्रख्यात दार्शनिकों की सेवायें दर्शन विभाग को मिली हैं। इसी विभाग के डा० एन० के० देवराज को यू० जी० सी० नेशनल फेलोशिप मिली है। इस विभाग में भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों दर्शनों की पढ़ाई होती है। १९२३ में स्थापित तथा प्राचीनता की दृष्टि से सम्पूर्ण भारत में द्वितीय स्थान प्राप्त, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग राखालदास बैनर्जी, ए० एस० अलतेकर, रमेश चंद्र मजुमदार और राजबली पाण्डेय जैसे मूर्धन्य विद्वानों की सेवायें प्राप्त कर गौरवान्वि हुआ है। इस विभाग में विषय के कई क्षेत्रों में विशेष अध्ययन की सुविधा है। भारतीय मुद्रापरिषद् समाज (The Numismatic Society of India) का मुख्य कार्यालय इसी विभाग में है। कला इतिहास विभाग (Department of History of Art) भी इसी संकाय का अंग है। इसके अन्तर्गत भी भारतीय कला और वास्तु कला के क्षेत्र में उच्चस्तरीय शोध होता है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल इसी विभाग से सम्बन्धित थे।

यद्यपि कला संकाय में साहित्य एवं मानविकी शिक्षा ही मुख्य रूप से दी जाती है फिर भी यहां पत्रकारिता, पुस्तकालय–विज्ञान एवं शारीरिक शिक्षा के विभाग हैं जहां इन विषयों की पढ़ाई होती है। केंद्रीय विश्वविद्यालयों में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ही एक ऐसी संस्था है जहां पत्रकारिता विभाग खुला है। इस विभाग का अपना टेलीप्रिंटर है जिसकी सहायता से एक दैनिक समाचार बुलेटिन और दो पत्रिकायें—कैम्पस (अंग्रेजी) और परिसर (हिन्दी) प्रकाशित होती हैं। इसी विभाग के माध्यम से विशेषकर हिन्दी भाषा पत्रकारिता सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति की योजना है।

अंग्रेजी विभाग श्री पी० सेशाद्री एवं प्रो० यू० सी० नाग जैसे महान शिक्षकों से महिमान्वित हुआ है। हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में हिन्दी विभाग का योगदान उत्कृष्ट एवं प्रशंसनीय है। श्याम सुन्दर दास, पं० रामचंद्र शुक्ल, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नन्ददुलारे वाजपेयी और हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे प्रख्यात विद्वान इस विभाग की गौरव गाथा के अलग-अलग स्तंभ हैं। विदेशी भाषा विभाग के अन्तर्गत जर्मन, फ्रेंच, एवं रूसी भाषाओं में डिप्लोमा एवं स्नातकोत्तर शिक्षा दी जाती है। बंगला, तेलगु, तमिल, मराठी जैसी भारतीय भाषायें भी इस संकाय में पढ़ाई जाती हैं। नेपाली भाषा भी यहाँ पढ़ाई जाती है। उर्दू, अरबी एवं फारसी विषयों के अध्ययन, अध्यापन एवं शोध पर विशेष वल दिया जाता है। भाषा विज्ञान भी इसी संकाय में है।

विश्वविद्यालय के हृदय, प्रसिद्ध सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के कला संकाय के रूप में परिवर्तित हो जाने के पश्चात् विज्ञान, समाज विज्ञान एवं वाणिज्य संकायों का जन्म हुआ। इतिहास विभाग ने अपने प्रथम अध्यक्ष सर यदुनाथ सरकार के नेतृत्व में देश की आजादी की लड़ाई के इतिहास के अध्ययन पर विशिष्ट योगदान दिया है। अर्थशास्त्र विभाग में पब्लिक फाइनेंस, भारतीय योजना और क्षेत्रीय आर्थिक विकास के क्षेत्रों में विशिष्ट अध्ययन की विशेष सुविधा

है। राजनीति विभाग में क्षेत्रीय राजनीतिक जीवन और प्रांतीय सरकारें एवं पड़ोसी देशों में राजनीतिक विकास के क्षेत्र में विशेष अध्ययन होता है। समाज विज्ञान विभाग में शोध प्रणाली और मनोविज्ञान विभाग में भारतीय जड़ी-बूटियों के मनोविज्ञान पर पड़ने वाले प्रभाव पर विशेष अध्ययन की व्यवस्था है।

नौकरी करने वाले विद्यार्थियों को विशेष सुविधा प्रदान करने के ख्याल से विश्वविद्यालय ने सांध्य विद्यालय की स्थापना की है जिसमें कला और सामाजिक विज्ञान के विषयों का अध्यापन होता है।

वाणिज्य संकाय ने अपने पाठ्यक्रम को आधुनिक रूप दिया है और यह देश की उन संस्थाओं में एक है जहां व्यवसाय प्रबंध (Business Management) में स्नातकोत्तर शिक्षा सर्वप्रथम प्रारम्भ हुई।

विज्ञान संकाय में चलने वाली कुछ महत्वपूर्ण योजनायें इस प्रकार हैं: तेल खनिज एवं जल संबंधी अन्वेषण और उपयोग, कृषि एवं अरण्य भूभाग का मूल्यांकन, संचारण एवं आणविक ऊर्जा विकास, जनसांख्यिकीय शोध एवं अंतरिक्ष विज्ञान के संदर्भ में व्यवहारिक गणित सम्बन्धी अध्ययन, दवा के लिए सूक्ष्म जैविकीय एवं सांश्लेषिक मिश्रण सम्बन्धी अध्ययन। अपने महत्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय कार्यों के कारण वनस्पति एवं जन्तु-विज्ञान विभाग यू०जी०सी० की विशेष सहायता योजना के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिए गये हैं। संकाय के विशिष्ट एवं प्रख्यात शिक्षकों में भारतीय विज्ञान सभा (Indian Science Congress) के भूतपूर्व अध्यक्ष डा० आर० एस० मिश्र, भटनागर पुरस्कार प्राप्तकर्त्ता एवं यू०जी०सी० के फेलो श्री एम० एस० कानूनगो एवं अन्तर्राष्ट्रीय भूगोलीय संघ के उपाध्यक्ष डा० आर० एल० सिंह हैं।

विश्वविद्यालय विधि संकाय की स्थापना १९२३ में हुई। बदलते हुए भारतीय समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वकीलों को प्रशिक्षित करने के लिए कानून की वर्तमान शिक्षा प्रणाली के क्षेत्र में इस संकाय का पुरोगामी योगदान रहा है। विधि क्षेत्र के सर रास बिहारी घोष और सर तेज बहादुर सप्रू जैसे प्रख्यात एवं प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति इस संकाय के डीन रह चुके हैं।

विश्वविद्यालय की स्थापना के दो वर्ष के भीतर ही शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय की स्थापना हो गई। विद्यालय के अति प्रारंभिक प्राचार्यों में श्री एस० तेजा सिंह प्रमुख रहे हैं। वे घोड़े पर सवार होकर विद्यालय आते थे।

संगीत एवं ललित कला संकाय की स्थापना सन् १९५० में हुई। इसके अन्तर्गत छः विभाग हैं। पं० ओंकार नाथ ठाकुर जैसे संगीत मार्त्तण्ड इस संकाय के प्रथम प्राचार्य रह चुके हैं। आज श्री लालमणि मिश्र और श्री के० एस० मिश्र जैसे लब्ध प्रतिष्ठित शिक्षक यहाँ सेवा रत हैं। सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के स्तर को ऊँचा करने एवं भावी पीढ़ी के निर्माण में नारी की भूमिका के विशेष महत्व को मालवीय जी ने अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष से बहुत पहले ही जान लिया था और इसीलिए उन्होंने नारी शिक्षा पर विशेष बल दिया। परिसर में विश्वविद्यालय का अपना महिला विद्यालय भी है। यहाँ पर आकस्मिक एवं वैयक्तिक

छात्राओं के लिए भी परीक्षा में बैठने की विशेष सुविधा है। गृह विज्ञान विभाग को एक पृथक संकाय के रूप में परिवर्तित करने के प्रस्ताव पर विचार किया जा रहा है।

अपने प्रारंभिक काल से ही विश्वविद्यालय को देश के प्रतिष्ठित विद्वानों की सहायता एवं उनका सहयोग मिलता रहा है। विश्वविद्यालय के शिक्षक समुदाय के सदस्य अपने विषय के विशिष्ट विद्वानों में स्थान प्राप्त कर चुके हैं। विश्वविद्यालय ने असंख्य प्रतिभा सम्पन्न एवं निष्ठावान स्नातक पैदा किये हैं जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य द्वारा अपनी मातृ संस्था का नाम ऊँचा किया है।

देश की राजनीतिक चेतना का स्नायुकेंद्र माने जाने वाले इस विश्वविद्यालय को देश के लिए महत्वपूर्ण कई महान नेताओं को पैदा करने का गौरव प्राप्त है। यहां के भूतपूर्व स्नातक एवं आज की भारतीय राजनीति के कुछ प्रमुख हस्ताक्षर हैं: जे० बी० कृपलानी, सुचेता कृपलानी, डी० के० बरुआ, जगजीवन राम, श्रीप्रकाश, एल० के० झा, गुरुमुख निहाल सिंह, के० एल० श्रीमाली, चंद्रजीत यादव, नर सिम्हा राव, हरदेव जोशी, केदार पाण्डेय, दुर्गाबाई देशमुख, महामाया प्रसाद, श्यामाचरण शुक्ल, धीरेन्द्र मजूमदार, सोहन लाल द्विवेदी, शेर सिंह, अब्दुल घानी दर, अच्युत पटवर्धन और राजेश्वर राव।

विश्वविद्यालय से जुड़े हुए कुछ अत्यंत ही महत्वपूर्ण नाम इस प्रकार हैं: सर्वश्री शांति स्वरूप भटनागर (जिन्होंने विश्वविद्यालय के कुलगीत की रचना की), इकबाल नाराणण गुर्टू, राजा ज्वाला प्रसाद, श्यामाचरण डे (जिन्होंने कई रूपों में विश्वविद्यालय की सेवा की), बीरबल साहनी, आत्माराम, बी० एस० दूबे, डी० डी० कोसाम्बी, ए० जी० झींगरन, ए० आर० वर्मा, वी ०वी० नार्लिकर, जयन्त नार्लिकर, के० ए० एन० शास्त्री, ओ० सी० गांगुली, ए० बी० ध्रुव, के० वी०आर० आयंगर, बी०आर० शिनाय, महादेव प्रसाद शास्त्री, सत्य नारायण शास्त्री, राजेश्वर शास्त्री, लेडी रानू मुकर्जी और के० एल० मिश्रा।

डा० कालूलाल श्रीमाली के कुलपतित्व के पिछले छः वर्ष विश्वविद्यालय के इतिहास में अत्यंत कठिन और निर्णायक रहे हैं। व्यापक सामाजिक असंतोष एवं सर्वव्यापी अनिश्चितता के बीच इसी विश्वविद्यालय ने अध्ययन और शिक्षण के कार्यों को बनाये रखने में उल्लेखनीय सफलता पाई। फलस्वरूप विश्वविद्यालय का मान और उसकी उपाधियों का गौरव पुनर्स्थापित हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा जगत में कुलपति के महत्वपूर्ण पदों जैसे—कामनवेल्थ विश्वविद्यालय संगठन के अध्यक्ष एवं अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय संगठन के उपाध्यक्ष—पर रहने के कारण अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर विश्वविद्यालय की भूमिका एकबार पुनः मुखर हो गयी है। खेल-कूद एवं कल्याणकारी समितियों के अतिरिक्त प्रशासन, पाठ्यक्रम निर्माण करने वाली समिति, परीक्षा एवं शुल्क मुक्ति सम्बन्धी समितियों में विद्यार्थियों का प्रतिनिधित्व स्वीकार कर विश्वविद्यालय ने एक नया और साहसिक प्रयोग किया है।

विश्वविद्यालय का लक्ष्य

(१) हिन्दू जाति एवं सम्पूर्ण विश्व के कल्याण के लिए भारतीय दर्शन, संस्कृति एवं सभ्यता के चिरंतन मूल्यों के प्रचार-प्रसार एवं उनकी सुरक्षा के लिए

हिन्दू धर्मशास्त्रों एवं संस्कृत साहित्य के अध्ययन-अध्यापन को प्रोत्साहित करना।

(२) विज्ञान एवं कला के क्षेत्र में अध्ययन एवं शोध को प्रोत्साहित करना।

(३) ऐसे वैज्ञानिक, तकनीकी, व्यवसायिक एवं व्यावहारिक ज्ञान को प्रसारित एवं उनके अध्ययन-अध्यापन को प्रोत्साहित करना जिनका महत्व देश के भौतिक एवं औद्योगिक विकास के लिए अपरिमित है।

(४) नीति शास्त्र एवं धर्म को शिक्षा का अंग बना कर भारतीय युवा-वर्ग का चरित्र निर्माण करना।

कुछ आंकड़े

छात्रावास	३५
विभाग	९६
विद्यार्थी	१४,३८८
कर्मचारी आवास गृह	९७७
पूरे वि०वि० परिसरमें रहने वाली जनसंख्या	१२,६२६
प्रोफेसर	१३४
रीडर	३३०
लेक्चरर	७६०
इन्सट्रक्टर एवं डिमान्ट्रेस्टर	८१
केन्द्रीय हिन्दू स्कूल (बालक) के शिक्षक	५८
केन्द्रीय हिन्दू स्कूल (बालिका) की अध्यापिकायें	६७
तृतीय श्रेणी के कर्मचारी	१,८४२
चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी	२,६४७
विश्वविद्यालय सम्पत्ति	१९,१०,६३,७००
विद्यार्थी सहायता	३,४६ लाख
वार्षिक वित्त बजट	५.७० करोड़
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से मिलने वाला सम्पूर्ण अनुदान	४.४५ करोड़
पिछले पांच वर्षों में विकास योजनाओं के लिए मिलनेवाला अनुदान	४.३० करोड़ अनावर्तक (non-recurring) २.७२ करोड़ आवर्तक (recurring)

कुलपति		कार्यकाल
१.	डा० सर सुन्दर लाल	१९१६–१८
२.	डा० पी०एस० शिवस्वामी अय्यर	१९१८–१९
३.	पं० मदन मोहन मालवीय	१९१९–३९
४.	डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन	१९३९–४८
५.	डा० अमरनाथ झा	१९४८–
६.	पं० गोविन्द मालवीय	१९४८–५१
७.	आचार्य नरेन्द्र देव	१९५१–५४
८.	सर सी०पी० रामास्वामी अय्यर	१९५४–५६
९.	डा० वेणी शंकर झा	१९५६–६०
१०.	न्यायमूर्ति एन० एच० भगवती	१९६०–६६
११.	डा० त्रिगुण सेन	१९६६–६७
१२.	डा० अमरचंद जोशी	१९६७–६९
१३.	डा० के० एल० श्रीमाली	१९६९–७७
१४.	डा० एम० एल० धर	१९७७–

कला संकाय प्रमुख, तथा आचार्य एवं अध्यक्ष
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

मन नमन नमन ; मन नमन नमन

स्व० 'रुद्र काशिकेय'

गंगाजल-सा नित निर्मल तन,
जसका यमुना-सा ऊर्मिल मन,
सारस्वत-तेज-दीप्त आनन,
'संगम' का जो सजीव 'दर्शन',

मन, उसे नमन ! मन उसे नमन !!

प्रलयाब्धिस्थित वट वृक्ष अचल,
अन्तस्तल कोमल किसलय दल,
(जिस पर बस बालकृष्ण केवल)
वह जंगम तीर्थराज पावन।

मन उसे नमन ! मन उसे नमन !!

दासी-सी जिसके घर की धृति,
'श्रुति' ही बन बैठी जिसकी 'स्मृति',
जिसके संस्कृत स्वप्नों की कृति—
यह विद्यामन्दिर, ज्ञान भवन।

मन, उसे नमन ! मन उसे नमन !!

वैदिक ऋषि के द्रष्टा लोचन,
पौराणिक मुनि के सरस वचन,
नव विज्ञानी के ज्ञान गहन,
तीनों जिसके तन, मन जीवन,

मन, उसे नमन ! मन, उसे नमन !!

कंचन काया, हीरा स्वभाव,
चित में युवकोचित स-चिर चाव,
शुभ कर्म-सुरसरित का बहाव—
जनहित कर गये मदन मोहन।

मन, उन्हें नमन ! मन उन्हें नमन !!

'सो सुख उमा जाइ नहिं बरना'

गिरधर मालवीय

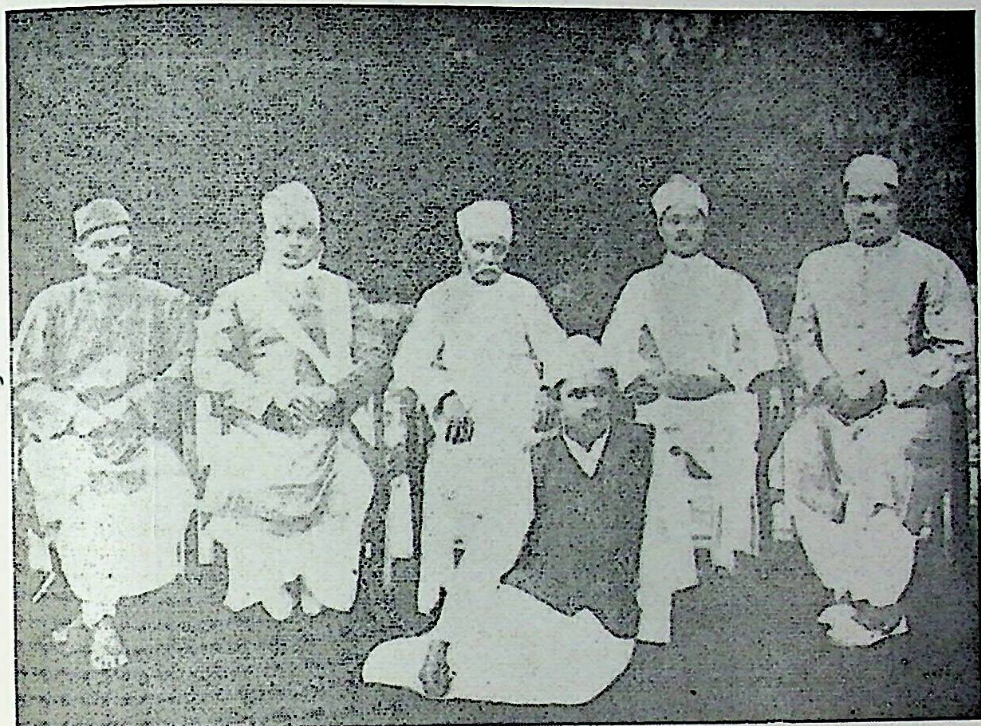
अत्यधिक हर्ष का विषय है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय शोध पत्रिका 'प्रज्ञा' का विश्वविद्यालय के हीरक जयन्ती वर्ष पर महामना स्मृति विशेषांक प्रकाशित हो रहा है। महामना और विश्वविद्यावय का अन्योनाश्रित सम्बन्ध है। मैं विश्वविद्यालय को उनकी जीवंत प्रतिमा के रूप में देखकर अभिभूत हो उठता हूं और मन ही मन उसे शतशः नमन कर अतीत की स्मृतियों में खो जाता हूं।

न केवल मुझे विश्वविद्यालय का प्राचीन छात्र होने का गौरव प्राप्त है अपितु मेरा जन्म भी इसी पुण्य भूमि के 'मालवीय भवन' में ही हुआ है। एक ओर जहाँ मालवीय कुल में उत्पन्न होने का सौभाग्य विधाता के अनुग्रह का फल है तो दूसरी ओर विश्वविद्यालय कुल का लाभ पूर्वजन्मार्जित सुकृत का।

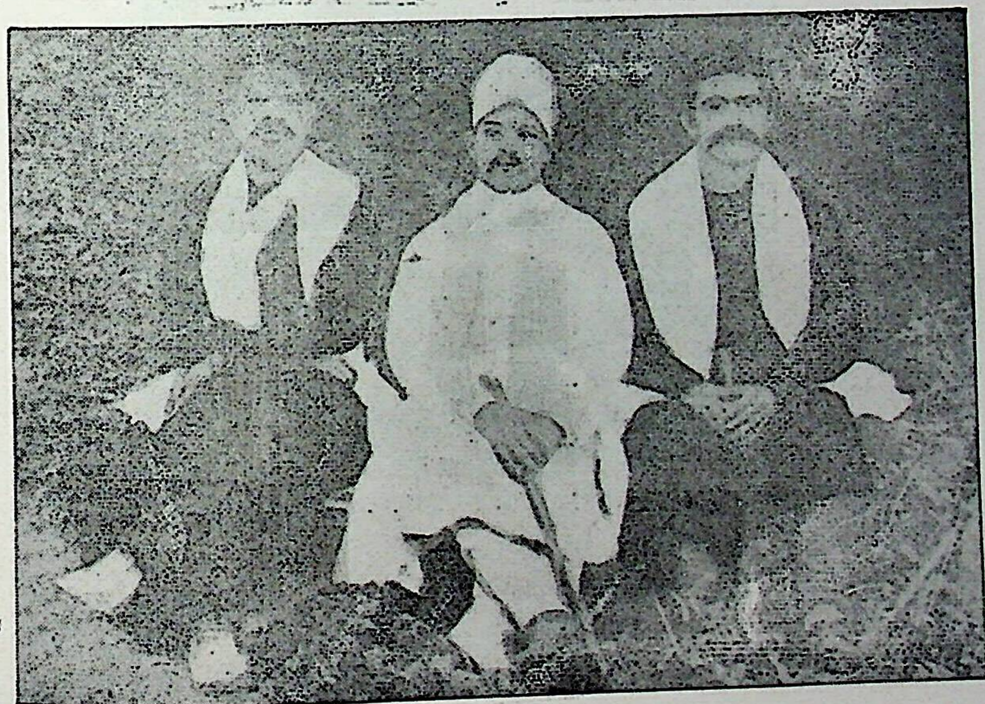
आज जब मैं कुछ लिखना चाहता हूँ तो अनेकों संस्मरण और भाव मेरे अन्तः को उद्वेलित कर रहे हैं। समयाभाव के चलते अपने पूज्य पिता एवं पितामह से सम्बद्ध एक संस्मरण प्रेषित कर इस पुनीत अवसर पर अपनी श्रद्धांजलि निवेदित कर रहा हूं।

मेरे पिता पं० गोविन्द मालवीय का प्रवेश म्योर सेन्ट्रल कालेज इलाहाबाद में हो चुका था। उन दिनों उक्त कालेज में प्रवेश पाना आसान नहीं था वहाँ अंग्रेजों और सरकारी उच्चाधिकारियों के लड़के ही लिए जाते थे। यह बात महामना मालवीय जी को पसन्द नहीं आई और उन्होंने उन्हें काशी बुलाकर उनका प्रवेश हिन्दू विश्वविद्यालय में करा दिया।

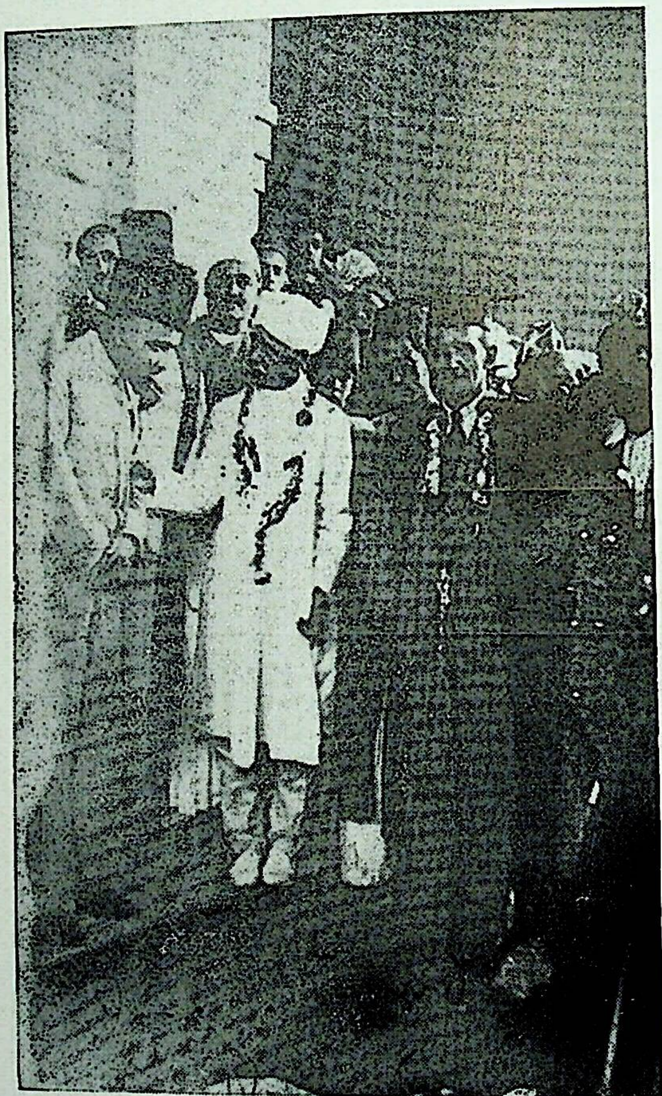
उन दिनों प्रथम वर्ष की पढ़ाई कमच्छा पर हुआ करती थी और के० ई० छात्रावास विद्यार्थियों के आवास के लिए उपलब्ध था। मेरे पिता जी को भी उसी छात्रावास में स्थान दिया गया। एक दिन स्वभावतः कुलपति महोदय भ्रमण करते हुए उक्त छात्रावास की ओर आए और विद्यार्थियों की सुख सुविधा के अवलोकनार्थ उसका निरीक्षण करने लगे। निरीक्षण क्रम में उन्होंने पिता जी का कमरा भी देखा। यह देखकर कि वे अपने कमरे में अकेले हैं, कुलपति जी ने दूसरे साथी के बारे में पूछा। उस समय छात्रावास में कमरों की कमी थी और एक कमरे में दो तीन विद्यार्थी रहा करते थे। उन्हें पिता जी के प्रति किया जाने वाला विशिष्ट व्यवहार सह्य नहीं हुआ। उन्होंने छात्रावास के संरक्षक डा० गनेश प्रसाद जी से इसकी आपत्ति की। वार्डेन भी असाधारण व्यक्तित्व सम्पन्न, मधुर और साहसी व्यक्ति थे। उन्होंने तत्काल कुलपति महोदय द्वारा उठायी गयी आपत्ति का निवारण किया। महाशय! छात्रावास की व्यवस्था मेरी जिम्मेदारी है, इस विषय में किसी प्रकार का प्रतिवाद संरक्षक का अपमान है। कुलपति जी ने सद्यः अपने इस आचरण के लिए क्षमा याचना की और गंभीर हो गए। वापस लौटते वक्त उन्होंने विनम्र



महामना पुत्रों के साथ



कॉलेज के तीन सहपाठी :—पं० हरिराम पाण्डेय, पं० मदनमोहन मालवीय एवं श्रीकृष्ण जोशी

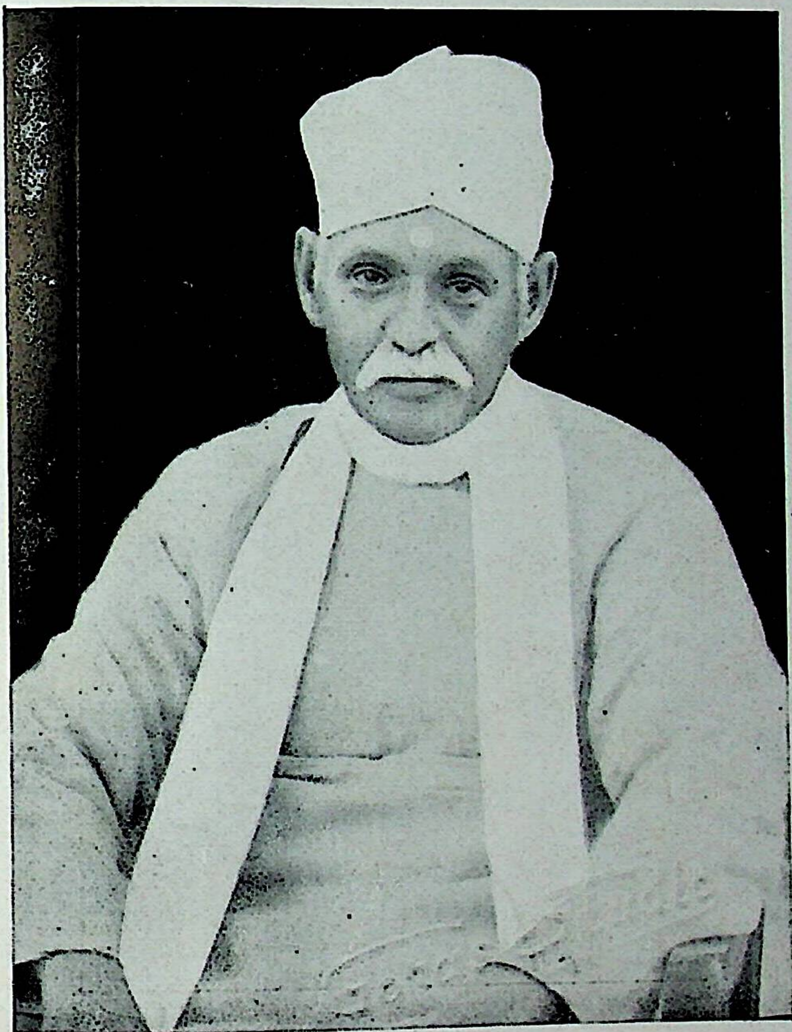


महामना इस्लामिया कालेज पेशावर में (अप्रील १९३४)

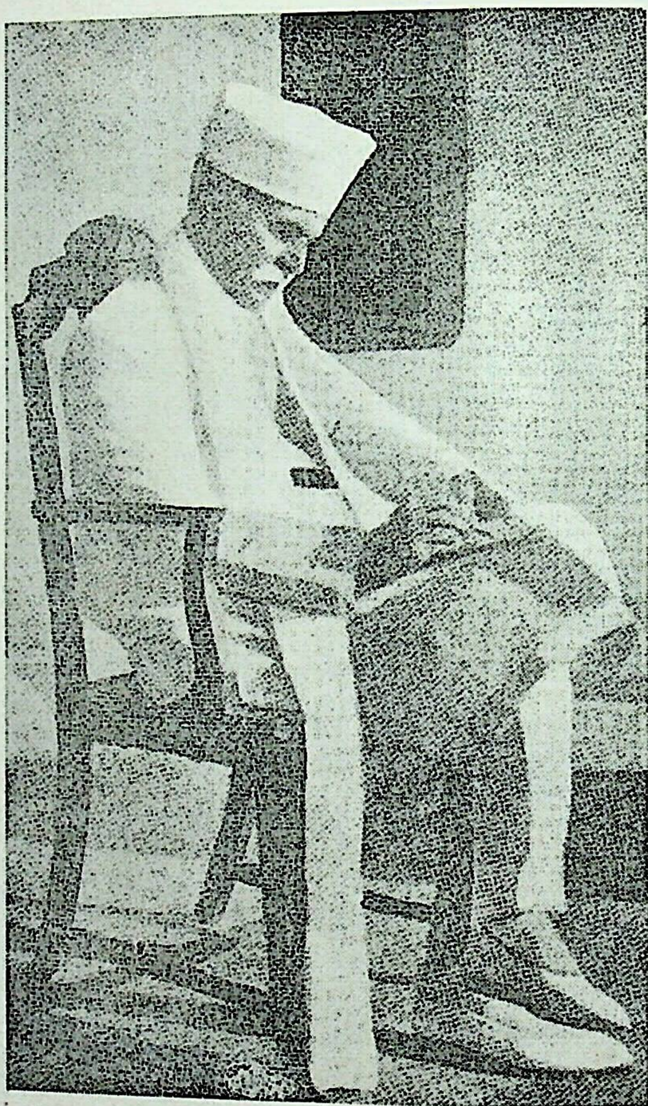
भाव से डा० प्रसाद से याचना की। महोदय ! मैं मदन मोहन मालवीय आपसे एक अर्ज करना चाहता हूं। मेरा लड़का गोविन्द मालवीय यहाँ छात्रावास में रहता है। मैं उसे वापस प्रयाग भेजना चाहता हूँ। पुत्र के प्रति पिता के अधिकार और दायित्व का मामला शुद्ध रूप से व्यक्तिगत है। आशा है इसमें आपको आपत्ति न होगी। डा० प्रसाद अवाक् रह गए। उहोंने हाथ जोड़कर कहा—महाराज ! आप यह क्या कर रहे हैं। पर उस पिता की दृढ़ता के आगे उनकी एक न चली और उन्हें पिता जी को भी सामान्य विद्यार्थियों की भांति स्थान देना पड़ा। ऐसे थे मेरे अविस्मरणीय पितामह महामना पं० मदनमोहन मालवीय।

२६, जार्ज टाउन
इलाहाबाद

स्मृति खण्ड (अंग्रेजी)



७० वर्ष की अवस्था म पूज्य मालवीय जी



महामना (१९३४)

"मनस्ते महदस्तु च"

V. V. NARLIKAR

Emeritus Professor of Mathematics Banaras Hindu University

I. Personal

My memories of the Banaras Hindu University (1932-1960) are so many, so rich and so happy that they make the University to me 'मधुर मनोहर अतीव सुन्दर'. My debt to the University is very heavy. I am happy because of the opportunity offered by the editors of 'प्रज्ञा' to record a few of the memories for the Journal.

I remember my first trip when I got down at the Banaras Cantonment station on the 15th or 16th of August, 1932 soon after midnight. I was received at the station by a few post-graduate students of mathematics and taken by taxi to the house of Dr. S. S. Joshi. The very next evening I gave a talk on "The Expanding Universe" in the New Physics Lecture Theatre. Acharya A. B. Dhruva, Pro-Vice-Chancellor, was in the chair. The hall was packed and my lecture was well received. The next day Pt. Malaviyaji who had met me at Cambridge in 1931 saw my reprints and the testimonial about the quality of my work that Professor Sir A. S. Eddington had given me for use in India. After two days Malaviyaji invited Dr. S. S. Joshi and me to see him in the evening. In the meanwhile I was shown the University. I met Dr. S. C. De, the Head of the Department of Mathematics and my old friend, Dr. S. D. Chowla, who was a Professor of Mathematics then in the Central Hindu College. I had no intention then of joining the University. I was an Isaac Newton Student at Cambridge, two years had yet to run out of the Studentship and I had a ticket for the return passage to London in September.

At 7.30 p.m., as we walked briskly to Panditji's quarters, Dr. Joshi and I could see the beauty of the campus in moonlight, the hostels, the playgrounds and the college buildings beyond. It was sufficient to set my mind thinking

about the sanctity of Banaras and of the holy Ganga, of the great teachers, saints and scholars that had visited or stayed at Banaras. With these thoughts uppermost in my mind we arrived at the destination where we saw the shining, smiling face of the venerable Panditji at the centre, in the front room, as we crossed the gate. I need not go into details. We talked and discussed many matters for about an hour. No one else was present. In the course of an hour I had signed a contract agreeing to serve the University for ten years. The terms offered were generous and exceeded the expectations of my friends and well-wishers like Sir R. P. Paranjpye. Thus I entered the service of the University on August 20, 1932.

Now I narrate the circumstances under which I left the University as Principal of the Central Hindu College, to take up the Chairmanship of the Rajasthan Public Service Commission in 1960. I liked keeping the administration clean and efficient. For this purpose I had to spend many hours at the college, meeting students, guardians, colleagues and visitors. There was a lot of committee work to attend to in the Central Office. That left very little time for me to attend to my research. I continued to give nine lectures a week to the postgraduate students and attended about three research seminars each week. I had a good number of research students then. The time that I devoted to my administration used to be spent earlier reading new papers and working out the problems that I had in mind. The loss of time for research seemed to be too great a sacrifice. Anticipating all this, I had given in writing a letter to the Deputy Secretary, Pt. Ghildyalji, much erlier that I would be grateful if the University could leave me out of consideration whenever any administrative post had to be filled up as I cared more for my teaching and research. But later, under very exceptional circumstances I had to be the Pro-Vice-Chancellor in 1951 and again in 1958, under peculiar circumstances, the Principal of the Central Hindu College. Thus, at the age of 50, when I was still capable of doing research in my own field vigorously I could not, for want of time; and then another problem arose. I had to find about

£600 p.a. for three years for my sons, a little for the son already doing excellent work at Cambridge and the rest for the other wanting to proceed there. I tried to find a way out and failed. It was at this stage that I received from an old colleague of the C.H.C., who was then the Governor of Rajasthan an appealing letter inviting me to Rajasthan as Chairman, R. P. S. C. as the state needed my services badly. The terms were very liberal. It was an appointment for six years with a pension. Besides my position demanded complete aloofness from the public after office hours. There was plenty of time for research and the Government College Ajmer and the Rajasthan University at Jaipur had fine libraries. There was an opportunity to select young men and women for all the State services etc. This seemed to be a new challenge. I accepted and I look back upon the six years during which I learnt so many new things as fruitful and rewarding. In the meanwhile the B.H.U. also conferred on me the distinction of an Emeritus Professorship. All that I had learnt at Banaras became of immense use to me in Rajasthan. All along, we all in the family have loved so much the B.H.U. My sons look upon Banaras as their home town. When my wife and I left Banaras on the atternoon of July 31st, 1960 there was a huge crowd of friends at the station. Our railway compartment was beautifully decorated with flowers and we were overwhelmed by the sadness of parting as the train started.

II. Three Great Vice-chancellors

During the period, 1928-1960, the University saw several Vice-Chancellors. I, myself, was on good terms with all of them as my primary interest was in serving the University devotedly, especially by teaching and research. Even then I had the very good fortune of coming eary in life into contact with three great Vice-Chancellors. I saw them from close quarters and came into intimate contact with them. They were most respected and honoured all over the country and they could talk with dignity and spoke on terms of equality with princes and the highest British dignitaries. In the pre-independence days very few

could do that. So, here I will confine my attention to these, three only.

(1) *Mahamana Pt. Madan Mohan Malaviyaji*

After all the admissions were over Panditji used to give in the first term, every year an address to the entire staff and students of the University. Within a few days of my joining the University I had the opportunity of hearing this address in August 1932. It was in the hall which became known later as the Shivaji Hall. The hall was packed. It was a hot afternoon. The address commenced at 3 p.m. and ended by 5.30 p.m. Panditji was at the height of his powers. "Always aim high in your studies, in your athletic and sports activities, in your social and cultural activities." This was the gist and to make the point effective, Panditji gave in his support a number of illustrations and cited effective quotations in Sanskrit and English. He spoke in simple Hindi. Early in the course of the address I was overwhelmed with embarrassment when he made me stand up and introduced me to the audience with some good words about me. The address seemed to be specially meant for me. I was expected to rise higher and higher in my profession by confining myself to teaching and research. It was probably in this address, or soon afterwards in another address, he summed up his exhortation with the verse:

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया ।
देशभक्त्याऽऽत्मत्यागेन सम्मानार्हः सदा भव ।।

To me, at the age of about 24 and in an impressionable state of mind, this was a tremendous experience. Years afterwards when Chowdhury Ramchandra introduced himself to me as a new colleague on the Rajasthan Public Service Commission he referred to this address and how enthusiastically the audience had cheered when I was introduced. He himself was present then as a student of the University in the hall.

Panditji used to remain present at the popular lectures on science arranged by Dr. S. S. Joshi or some other professor. If there was any disturbance in the crowd made by noisy students

it was immediate, quelled by a characteristic gesture. Panditji struck the palm of his left hand with two fingers of the right hand. The effect was immediate. It was indicative of the high regard in which Panditji was held by the students at the time.

On one occasion Panditji took me to a meeting of all the Jyotishi's of Varanasi. It was in a first floor hall of the Central Hindu School in the City. Pt. Ram Narayanji about whose concern for student welfare I had been hearing from my students, received Panditji and took us both to the meeting. The proceedings commenced immediately. Pandits differed on many points such as the actual time of birth of the baby. One pandit even suggested that the actual moment of conception was the relevant moment. From time to time Panditji whispered to me what his personal reactions were and I was giving the modern scientific view point. At 7.30 p.m., as we started back, Pt. Ram Narayanji gave Panditji an urgent message just received from the University Hospital. On the way back we got down at the Hospital. Dr. P. N. Mishra was called. He came running and reported on the condition of the university student who was seriously ill of cholera. As Panditji proceeded to the special ward where the student was, I insisted on accompanying him He rebuked me and prevented me. Within ten minutes he was back. He had cheered up the patient and assured him that everything possible was being done for his early recovery. He saw to it that Dr. Mishra had everything that he wanted at his disposal. I was so overswhelmed by Panditji's concern for students that one of the things that I did later was to visit regularly the students' ward and later the general wards also. I was for many years a member of the Executive Council and I am glad that I could be of some effective service to the students in the hospital from time to time. Panditji was thus a constant source of inspiration to those who had the good fortune of being associated with him.

One morning I accompanied Panditji in his walk. He was going to the new building of the Gaikwad Library. He told me about the donation out of which the library was built.

He was impressed by a visit to some European library in 1931 and he was keen on developing the Gaikwad Library on similar lines. The librarian received Panditji and we both went with him to the University-library top. Parts of the building were still incomplete. From the top one could have a grand view of the surroundings and of the University campus as a whole. Panditji was explaining his plans about the Temple that was yet to come into existence. In the meanwhile there appeared at the top before us Seth Narayan Das Bajoria of Calcutta by appointment. Sethji was charmed by the view and the morning atmosphere at the top. He casually expressed a desire to see through the university telescope at night. Panditji looked at me because I was in charge of the university telescope on the terrace of the Arts College. I immediately welcomed the idea and Sethji agreed to be at the telescope at about 9 p.m. at night. Accordingly I requested Dr. B. Dasannacharya of the Physics Department and Dr. Pran Nath, my colleague in the Mathematics Department (later, of the Engineering College, B.H.U.) to help me in checking that everything was O. K. with the telescope. All the polishing, cleaning, adjustments were done in the evening. Many postgraduate students of mathematics and physics and quite a few others assembled at 7.30 p.m. We three were already there from 7 p.m. with a number of books such as the Nautical Almanac, Star Catalogues and popular books containing beautiful pictures. As the students came we showed them through the telescope some stars, two planets and the moon. Later, in the electric light provided by special fittings of bulbs all the three of us, Dr. Dasannacharya, Dr. Pran Nath and myself were surrounded by groups of students asking interesting questions about planets and other heavenly bodies. When Mr. Trilochan Pant brought Sethji at 9.15 p.m. there was still a group of about fifty students about us. Sethji also saw through the telescope whatever he wanted to see in addition to what we showed. He was very happy with what he saw and expressed his thanks. He left after about half an hour and it was past 10 p.m. when we put the telescope back into its

shed and locked everything and returned home. When I met Panditji two days later in the Arts College he specially thanked me and my colleagues for what we had done to satisfy the curiosity of Sethji.

Once Dr. C. Y. Chintamani came to the B.H.U. and presided over a birthday celebration in honour of Panditji. He made a fine speech giving details of his many and varied services to the country and of his generous nature. He said that Malaviyaji was a धर्मात्मा and deserved to be recognised as such by all. It was years later that he began to be generally recognised as महामना. During the thirties I remember how he enjoyed demonstrations of physical culture feats and torch marches. He liked specially the addresses of the venerable म० म० पं० प्रमथनाथ 'तर्कभूषण' and म० म० पं० गिरधर शर्मा on the Gītā on Sunday mornings. He made surprise visits to science departments, hostels, the hospital and the colleges. He often visited the Shivaji Hall in the company of Seth Jugal Kishore Birla. On the campus, in those days there was no snobbery, no class distinction of any kind. Professors dined with students at the hostel messes. So many poor students received help from their teachers Malaviyaji himself once gave away some cash that he had for a journey to Allahabad and helped a student to pay his college dues. The administration was dominated by a humanitarian attitude. Yet there was discipline and peace everywhere. Many of us had much to learn from venerable seniors like Acharya A. B. Dhruva and Professor S. C. De. On the whole I feel that it was the happiest period of my life in the university.

In 1939, Professor Sir S. Radhakrishnan, who was the King George Professor of Philosophy at the University of Calcutta and who had to spend some time at Oxford, periodically, as the Spalding Professor of Philosophy was persuaded with great difficulty to accept the Vice-Chancellorship of the Banaras Hindu University. He agreed to come to Banaras, while in India, for a few days a week only. He would remain honorary as Vice-

chancellor. So he was appointed to the newly created Gaikwad Chair of Indian Civilization and Culture. He frankly told Panditji, who was doing everything possible to make him at home at Banaras that he did not know any body at Banaras and therefore he did not know whom to trust and whom not to trust. Panditji gave him in confidence a few names. It seems that I was lucky enough to be one of those whom Dr. Radhakrishnan could trust. This gave quite a new turn to my life in the University. In 1939 I was elected to the Executive Council, the Budget Committee and the Syndicate. I was soon on many important committees. Off and on I started receiving chits to meet the V. C. I did not mind it because I was seeing a great Vice-Chancellor in action and learning something new from him everyday. I had this experience continuously till 1948 when Dr Radhakrishnan left Banaras for good

When Panditji was at the helm of affairs I had taken no interest in the University administration He was generally present at my scientific addresses, my talks on the life and message of Lokamanya Tilak, on August 1st every year, in the C H C hall and sports demonstrations on one of playgrounds until his health had not broken down by a carbuncle or something else. Whenever Panditji presided, as on the Tilak Death Anniversary Day, his speech was both instructive and inspiring I rarely saw Panditji at his residence. I had no complaints, no grievances and my budget needs were few. Once, I felt I was specially favoured by him when he called me to his residence at about 9 p.m.—sometime, in 1938 He was bed-ridden and in his inner room. As I entered, the visitors were leaving, the last one, a professor hurrying away. Panditji welcomed me and muttered 'no music for conspirators'. Then he turned to the visiting musician to proceed with his devotional songs. The Gayanacharya, Shri Tripathiji and the मृदंगाचार्य (मन्नु महराज) were there. Pt. Trilochan was probably there. There were two or three others whom I did not know. The visitor entertained Panditji for an hour with good songs. As Panditji was feeling sleepy we all dispersed at about 10·15 p.m.

(2) *Dr. S. Radhakrishnan*

The first address given by Dr. S. Radhakrishnan in the Arts College Quadrangle was listened to with rapt attention by a vast crowd of the city elite and the University staff and students. The torrent of scholarship, epigrams, wit and wisdom was carried uninterrupted by a brilliant eloquence for about forty minutes. He had won the hearts of the audience by telling an Oxford anecdote suggesting that he would, rather than change Banaras be changed by Banaras for the better. It was an attitude of reverence and humility. Some time after this, when I had met Dr. Radhakrishnan a number of times, I saw him with a copy of his recently published "Eastern Religions and Western Thought" which I had purchased in Banaras and was reading with great interest. I said I was surprised to find that many of the passages of his inaugural talk were almost the same as certain passages from the book. How could he remember so precisely such long passages ? Then he explained to me how his speeches were well-thought out and planned up to the last minute of the delivery and how he saw words and sentences almost stamped on his memory so that the delivery was quite effortless. Soon afterwards the U.P. Governor (perhaps Sir Malcome Hailey) was coming for the inauguration of the Annual Session of the Indian Science Congress at the B.H.U.. The Governor enquired in advance how much time the V. C. would take to deliver his welcome address. Much to the Governor's surprise Dr. Radhakrishnan had replied that he would take just seven minutes for his say. I was also surprised that his speech would be so short. Then he explained to me what points he would emphasize in the talk and how, if he maintained a sense of proportion, he would complete his say within seven minutes. On the day of the inauguration everything passed off so far as his own speech was concerned, beautifully, and within seven minutes. On several occasions afterwards I had the opportunity to see how everything had passed off, correct to the minute, just as he had planned about his speech earlier.

Dr. Radhakrishnan suffered from low blood pressure. He used to take a number of medicines and he would spend most of the time, at home, lying horizontally in a relaxed condition in his bed. He met most of the visitors in his room, himself lying in his bed. Only at the appointed time of his public engagement he would stand up and would even get through a long meeting with all kinds of excitements with great zest and energy, remaining the complete master of the situation throughout. Once the meeting was over, he would quickly return to his residence and take complete rest for some time. In the course of a meeting it was wonderful to see how he met unexpected provocations and challenges in a truly philosophical fashion and with wit and wisdom. On one occasion at an E. C. meeting, a very respectable senior member from outside got very angry while making a speech condemning somebody for something. Dr. Radhakrishnan quietly interrupted him and recited the verse.

क्रोधाद् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।

On hearing this everybody, including the excited member, himself. started laughing. Dr. Radhakrishnan advised the member to see him about the matter referred to by him, sometime at his residence. As far as possible Dr. Radhakrishnan always had humanitarian considerations in mind while attending to a petition, request or demand but he was particular that everything was done within the framework of the regulation and ordinances concerned and without upsetting any of the long established conventions or traditions of the University.

Dr. Radhakrishnan had an extraordinary capacity for bearing pains while discharging his public duties. On the night previous to the Silver Jubilee Convocation of 1941, Dr. Radhakrishnan had a violent stomach ache. With great difficuly a hot water bottle was secured late at night. Apparently it gave him some relief but, evidently, he was not very strong when he stood up the next day to give his address for the great occasion. It was a great oration, short, inspiring, thought-provoking and

couched in beautiful words. None could have imagined that he was in a poor physical condition then. The chief address on the occasion was given by Mahatma Gandhi. There was a special interest in the presence and address of Mahatma Gandhi because he was also present at the foundation ceremony of the University in 1916 when his historic speech on that occasion had offended a number of princes and dignitaries present.

In 1942 the "Quit India" movement was started soon after the commencement of the new session of the University in July. I remember how many of us, returning one Sunday morning, from Dr. Radhakrishnan's weekly Gītā address in the Arts College hall encountered the student leader, Shri Rajnarayan, addressing students in front of the Birla-Broacha hostels and exhorting them to join the movement for the liberation of the country. Students responded enthusiastically to the call of Mahatma Gandhi. Telegraph poles, railway lines etc. were being damaged. There were fears that great damage would be done to the University laboratories and the Registrar's Office. There were rumours that Government wanted to close the University and make the campus a police camp. It was at this juncture that the Vice-Chancellor's leadership, extraordinary personal qualities and international reputation enabled the University to face the storm of hostile forces, within and without, with courage and dignity. There was a time when travelling by car or rail was quite risky. The train services were irregular and the trains, a few that ran, ran slow. Pt. Gurtu as P.V.C. accompained Dr. S. Radhakrishnan when he had to meet the Governor in Lucknow. For seven hours they were sitting in a crowded train bound for Lucknow. When they reached the Government House at Lucknow, the Governor had just returned from a hunting expedition and would have his bath first before meeting the visitors. He was good enough to give Dr. Radhakrishnan to peruse in advance a copy of the long C.I.D. report on the University, on the basis of which the talks were to take place later. Dr. Rādhakrishnan had half an hour only to peruse the report. He carefully noted the adverse comments made against several

teachers and students. On his return to Banaras he called each one of the teachers and students individually and warned everyone of the precise CID comments against him. Dr. Gurtu, speaking on a later occasion to some of us, mentioned this incident with reference to the extraordinary memory of Dr. S. Radhakrishnan. I was, myself, one of the teachers mentioned in the C.I.D. report as an ardent supporter of the political movement, who needed watching.

One has to remember that it was only after independence that the University started getting liberal grants from the Government of India, suited to the growing demands of the University. Even the principle of a well-calculated adequate block grant was accepted by the Education Department at the Centre only after 1950. Both Mālaviyaji and Dr. Radhakrishnan had to depend a good deal upon public donations for satisfying many of the legitimate demands of a growing University. When Dr. Radhakrishnan left in 1948 he had done everything possible to put the finances of the University in a sound position. He had faced many internal storms. Till 1946, the mere presence of Panditji on the campus was a source of strength for him. Panditji's wise counsel and experience were helpful to him in settling several controversial issues like the admission of Shrimati Kalyani Devi to the पौरोहित्य course of the College of Oriental Learning. After Panditji's passing away certain forces of opposition held under control by Panditji's personality grew in strength. It was a signal for Dr. Radhakrishnan to leave the University for other important assignments for which one of his status and distinction was needed. When the time of parting came students organized fasts at his residence, general strikes etc to dissuade Dr. Radhakrishnan from leaving. He himself was very touched but left with philosophical composure, a vast crowd seeing him off at the railway station.

Later, when Dr. Radhakrishnan visited Banaras next as Chairman of the Education Commission and stayed at the City Palace of the Mahārāja of Ramnagar we had the good fortune

of having him with all the members of the Commission for dinner at my place one night. At the commencement of the dinner, my two sons, Jayant (11 yrs) and Anant (9 yrs) recited the famous दशश्लोकी of Shri Shankaracharya. It created a profound impression on everybody. Dr. Radhakrishnan came in, met the boys and blessed them. Both of them have won many honours abroad and Dr. Radhakrishnan sent them letters of congratu lations on each occasion, when he was Vice-President and later President of India.

(3) *Acharya Narendra Deva*

There was a general feeling of relief in the University when Acharya Narendra Deva was elected Vice-Chancellor of the Banaras Hindu University in 1951. He was respected all over the country as a top congress leader who had to his credit a long record of suffering and self-sacrifice for the co untry and who was besides a great scholar of Buddhism. As a socialist he had differences with the congress in certain policy matters and he had broken away from the congress. All the same he commanded high respect in all congress circles.

Before 1951, I had the opportuity to work with him on an important committee appointed by the university to examine the grievaces of the class-4 servants of the university and make recommendations. Acharya Narendra Deva was the Chairman, Professor Mukut Behari Lal was the Secretary and I was the third member. We had many sittings, some at my residence and some at the residence of Professor M. B. Lal. It was then that I saw how simple he was and how generous but just, with a practical sense, in tackling every issue before us. We consulted the labour leaders and final recommendations were drafted only after reaching an agreement with them. The labour leaders showed their respect for Acharyaji by giving up their extravagant and unpractical demands. Then a mass meeting of the strikers was called. We, the nembers of the committee, were present there. On behalf of the committee Acharya Narendra Deva explained in simple Hindi how their grievances and demands

were considered and what remedies had been recommended by the committee. Everyone of them was pleased with the recommendations which were accepted by the Executive Council at the next meeting.

At the first meeting of the Executive Council, presided over by Acharyaji, the question of the appointment of a Pro. Vice-Chancellor as required by the new Act was taken up. The matter was entirely in the hands of the V. C. who had to select one in whom he had full confidence. Under the new Act the Pro-Vice-Chancellor exercised all the powers of the Vice-Chancellor in the latter's absence. There was great speculation about the likely candidate. None was thinking of me and I was the least prepared for any such assignment. And yet, Acharyaji selected me. He met me and found me very reluctant. He, himself, pointed out to me that he had agreed to be the Vice-Chancellor for two years only and that I would be allowed to do my work in the Mathematics Department as Professor and Head and that I should help him by accepting the responsibility *for two years only*. When I assented I was invited to the Executive Council where everybody was waiting for me. Thus I became the Pro-Vice-Chancellor, in the first instance, for two years only although the period was not explicitly mentioned in the Executive Council Resolution.

Acharyaji and I often discussed about the interesting books that we had read. In those days I had just finished reading Wu Ch'eng-en's extraordinary masterpiece, *Monkey*, so admirably translated by Arthur Waley. It was indeed a source of wonderful new stories with a profound meaning attached to them and I liked often to tell a story or two from the book in my numerous addresses to hostel students and other groups of students doing cultural or social activities. I asked Acharyaji if he had read the book, *Monkey*. He said he had very happy memories of that book. It was in the Ahmadnagar Jail, when he was under detention with Pt. Jawahar Lal, he found the latter reading the book. Pt. Jawahar Lal had liked the book and passed it on to Aharyaji with words of praise for the book.

I think I was the first to borrow the book from the University Library, which contained many such treasures undiscovered by the readers.

The meetings of the Executive Council and the Syndicate presided over by Acharyaji used to be very smooth. Before each meeting, Acharyaji, the new Registrar Dr. A. B. Misra and I used to study together every item on the agenda and arrive at a satisfactory decision in the light of the files on each issue. This meeting lasted many hours. We had all been reading and re-reading the New Act, the Revised Statutes, Ordinances and Regulations taking care that none was violated by our decisions. As far as possible the humanitarian outlook that dominated the administration under Mahamana Malaviyaji and Dr. Radhakrishnan prevailed and marked our decisions. We knew that we had a few critics waiting to see if there were any slips or lapses in our decisions. On one occasion Acharyaji found it advisable, contrary to the revised Ordinance on the subject, to select the experts for a Professor's post first and get the approval of the Syndicate later. This action was questioned by the Education Department. Acharyaji met the Education Minister and the Visitor personally and explained the circumstances under which he had to take the action so that a fair selection for the post of professor might be done. The matter ended there. As regards the discussions in the Executive Council and the Syndicate every one was free to speak on each item. Usually, the members, on their own, came to the decision which we had reached earlier at the meeting of the V.C., the P.V.-C. and the Registrar. Acharayaji was quite emphatic that every member should freely express himself and help the authorities to arrive at the right decision. He was equally emphatic that every student or employee of the University who had any grievance must be given a sympathetic hearing by the authority concerned. As a great fighter for social justice in public Acharyaji was quite sensitive to complaints from any quarters in the university.

Immediately after his appointment as Vice-Chancellor, Acharyaji surrendered a substantial amount of the statutory

salary of his post and it formed the nucleus of a student welfare fund which, with many other contributions, became a substantial amount. There was a committee of which the P.V.C. was the Chairman to dispose of all applications from students for help and to make the grants. Acharyaji kept himself aloof from all disbursements. A large number of needy students received help from the fund.

With Acharyaji at the helm of affairs student indisipline was generally unknown. He had a great hold on the student leaders of those days and the latter could control the students effectively. There was evidence of this on a few occasions when a disciplinary action had to be taken against some popular sportsmen and a research student. There were threats of a strike and a general protest. The public opinion was against and the student leaders saw to it that there were no demonstrations. Acharyaji took care that there was an effective internal audit, that the audited acounts with the auditor's reports were presented at the Annual Meeting of the Court as required under the New Act, that all departmental demands for more money from the Centre were properly screened before he took any responsibility for them and that the Centre provided everything that the University needed. It was a time for the all round prosperity of the University.

I had read and heard about the hostile forces that Malaviyaji had to struggle against in his University work and in his other work for political and social welfare. But in the case of Dr. Radhakrishnan and Acharyaji, who also encountered hostile forces in their university work, I witnessed how one's honest and sincere intentions in doing every good thing, even documentary evidence was necessary in support of one's intentions and acts. For there were always people who could invent ignoble intentions as responsible for good acts. The experience that people can always invent and attribute a wicked motivation was something like a nightmare to some of us and we felt that we had learnt a terrible lesson in life. Only our documentary evidence could save us in such situations.

III. The Sunday Morning Gita Lectures

After 1936-1937 Panditji was never in the best of health. Generally referred to as Malaviyaji Maharaj, he continued to be present at the Gītā lectures. "महामना: स्यात्, तद् व्रतम्।" (छांदोग्य उपनिषद् २. १. २) With malice towards none, with charity towards all' his large-heartedness was reflected in the great vision that he had not on by, of his creation, the university, but of every young man and woman studying on the campus. How often he had said in his appeals to the public that in his eyes the donation of a lac of rupees by a rich man and the well-meant offerings of a handful of grains by a poor woman were of equal value. Often the Gītā lectures themselves were of the routine type, not attracting a big crowd. Either the religion teacher or one of the lesser known Pandits of the College of Oriental learning spoke. Often Panditji himself was inspired to say a few words after the lecture. Whether he did or not his mere presence was quite heartening to some of us. On certain occasions pandit Vamdeviji spoke. He spoke in a dialect popular with villagers near about. His words and illustrations were simple and reached the heart of the common man. Pandit Vamdevji was not considered to be a great pundit but he was ideal for addressing any mass meeting of villagers on the Gītā, some of us liked his addresses very much.

Mrs. Jumna Devi Pathak ofthe Women's College was an excellent Hindi orator. Her speeches contained well-recited, apt Sanskrit quotations from the Upanishads and Sanskrit Literature. Her addresses on the Gītā were generally well prepared and impressive. Like some of the pundits and brilliant students of the college of Oriental Learning she could speak fluently in Sanskrit also. At times, Professor Yajnik, who had been a serious student of the Gītā gave good expositions.

A great truth, no matter how simple it is and however skillfully expounded, citing fine quotations from great authors, 'is no use unless it has become one's most personal experience'. It is not for nothing that Shri Bhagwan urges u'pon Arjuna that the most secret knowledge that He had imparted to him in the

the most secret knowledge that He had imparted to him in the end is not to be passed to an unworthy listener :

"इदं ते नातपस्काय, नाभक्ताय कदाचन।
न चाशु श्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥"

Among the distinguished visitors whom I personally requested to talk on the Gītā to the students on some Sunday there were some like Rao Bahadur K. V. Rangaswami Aiyangar (who was for some time the Principal of the Central Hindu College) who flatly resused. While some pleaded their own incompetence to speak on the subject others said that such addresses should be meant only for small study-groups of serious students of the Gītā. They seemed to be right in their own way.

And yet, I remember how a lot of good was done by the lectures that Dr. Annie Besant gave on the Bhāgwad Gītā in small towns like Kolhapur, where I was studying in a school, more than fifty years back. Her lectures created a new awakening to the treasures of wisdom contained in the Gītā. We learnt that it was a sacred book, not just for the old and the dying, but a book that provided new insights, new inspirations and new guidelines for the young in shaping their lives. Later we heard of the great work, "गीतारहस्य" written by Lokamanya Bal Gangadhar Tilak. For young men who were learning about social, economic and political injustice, quotations from the Gītā like "तस्माद् युद्धयस्वभारत" and "तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च" were mighty sources of inspiration. Learning by heart verses of the Gītā was quite fashionable with the college students in the twenties and thirties. Since I joined the University in 1932 I used to turn up at the Sunday Gītā lectures with great expectations.

M. M. Pt. Pramath Nath Tarkabhushan was often available for some years. He was rather aged. His voice was sweet but low. He had a smiling face. He often quoted Shri Madhusudan Saraswati and the saint Chaitanya Mahaprabhu. He was an ardent follower of the Bhakti cult. He touched the heart of everybody by his expositions. Venerable Malaviyaji also liked his addresses very much. Now and then

we had very learned and very impressive addresses from Pt. Mahadeva Shastry.

When Dr. Radhakrishnan arrived as Vice-Chancellor, his Gītā lectures were attended by vast gatherings. After the Gītā address was over he often spoke for about ten minutes either regarding the problems, duties and responsibilities of the students or about the social, economic and political conditions in the country and the world. Dr. Radhakrishnan's wide contacts in the outside world and his genuine desire for the welfare of the students made this part of his speech very popular with students. Everybody often looked forward to these remarks after the Gītā lecture with great expectations.

Dr. Radhakrishnan has rightly observed and emphasized in his writings the point of view: "For us Indians, a study of the Upanishads is essential, if we are to preserve our national being and character. To discover the main lines of our tradtional life, we must return to our classics, the Vedas and the Upanishads, the *Bhagwad Gītā* and the *Dharma-pada*". There was ample justification in his lectures of the relevance of the Sunday Gītā lectures and of their value.

I saw M. M. Pt. Giridhar Sharma first at the Triodosha Parishad in the B.HU.. in 1933 or 1934 and later, on Sundays during Convocation weeks when he delivered his Gītā addresses to large crowds. The University was fortunate in securing his honorary services from 1952 onwards after his retirement from Rajasthan. He gave systematic discourses on the Bhagawad Gītā, from the beginning to the end, in the course of some years. I had the good fortune of hearing him and getting many doubts removed.

Over the years I had been a voracious reader of H. G. wells, G. B. Shaw, C. G. Jung, Radhakrishnan, Tàgore, Commentaries on the Gītā by different authorities, popular science etc. etc. I had frequent occasions to address University audiences and I had something new to say on each occasion. In the course of some two years spent in the study of Buddha's

life, teachings and Buddhist legends I had come across something strange about Buddha's teachings. Tàgore had said that the inner secrets of the Upanishadic truths and of the Bhagawad Gītā were matters of deep inner experience—*they could be realized but they could not be known.* Language was too crude an instrument to convey and express a message from the Heart to a heart. What is the meaning of "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" ? Books and works like विष्णुपुराण, सनत्सुजातीय etc. and different Vedantic traditions and schools may have their interpretations. But its truth is a matter for realization and not a matter for wordy exposition. This fact is well illustrated by what Buddha says of his teachings as given by Mrs. Rhys Davids in her book "Gotam, The Man". He says that he had realized a fire within him, 'more-mandating, more-worthing, more-willing, more-working, more-worthy.' This Fire was burning in every man and it demanded from him that whenever he acted, he should act in a worthy manner, adopting a worthy method and with a worthy motivation. About the Fire Buddha says :

"I lay no wood, brahmin, for fires on altars :
Only within burneth the fire I kindle.
Ever my fire burns : ever tense and ardent,
Worthily I work out a life that is more worthy."

The Pali version runs as follows :

हित्वा अहम् ब्राह्मण दारुदाहम् अज्झत्तमेव जलयामि ज्योतिम् ।
निच्चाग्निको निच्चसमाहितात्मा अर्हन् अहम् ब्रह्मचर्यं चरामि ॥"

Words like ब्रह्मचर्यं were misinterpreted. His simple words were misunderstood and his message was misinterpreted by his learned and eloquent followers. The Eight-fold Way which was the basis for the simple formula, for everybody to lead an ever more worthy life, was also misrepresented. Buddha's simple formula for the conduct of life, if implemented, means continual self-transcendence, continual self-renewal. It is not very different from 'the walk on the razor's edge' from the egocentric state to the theocentric state, pursuing the ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग so well-expounded in Lokamanya Tilak's

'गीतारहस्य' and in the dialogue between King Nimi and the nine Yogeshwasra in the Bhāgawat (Ekadash Skanda).

As C. G. Jung has emphasized Life and the Spirit are the two realities. The demands of the Spirit on man are as pressing and need to be attended to as much as the daily needs of life. It is the Spirit that gives meaning, purpose and value to life and life in its turn becomes indispensable for the revelations of the Spirit and creative work in the realms of man and nature in the form of Love, Joy, Peace, Truth, Beaty, Goodness, Order and Harmony, Justice and Balance, Unity and Co-operation. Modern science, through the researches of Konrad Lorenz, Hans Selye and others has thrown light not only on the limitations and potentialities of man but also on the average man's uniqueness and indispensability, supporting, the spiritual form of साम्यवाद emphasized by Tilak in his commentary on the Gīta. If any further modern evidence is needed about the success of these ancient teachings in modern times one may find it in the religion of polarity, which is a modern version of continual self-transcendence and continual self-renewal, preached and lived so impressively by the martyr-thinker, Leo Baeck (1873—1956), 'a messenger of Him-Who-Is'.

When I spoke to University students and other groups I often referred to Buddha's authentic message and the psychological approach of C. G. Jung.

On the occasion of the Diamond Jubilee of the B.H.U. and ever afterwards, may everyone of the B.H.U. remember Kunti's last advice to her son Yudhishthir, given on the occasion of her farewell for the वानप्रस्थ आश्रमं :

"मनस्ते महदस्तु च"*

This advice was well-illustrated in the life of the Founder of the University. In his life and work one finds ample evidence for what Goethe says in "The Godlike" :

"Man and man only
Can do the impossible ;

* (P. 481 श्रीमद् भगवद् गीतारहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र by Lokmānya B.G. Tilak translated into Hindi by Shri Madhavarao Sepre, 1950)

He'tis distinguisheth
Chooseth and judgeth ;
He to the moment
Endurance can lend
Heand he only
The good can reward,
The bad can punish,
Can heal and can save ;
All that wanders and strays
Can usefully blend."

BHU THAT IS SARVA VIDYAKI RAJADHANI

H. J. ARNIKAR

Senior Professor of Chemistry, University of Poona

There are about one hundred Universities in India, but there can be only one Banaras Hindu University or BHU as She is lovingly referred to, founded 60 years back by the great Mahamana Pandit Madan Mohan Malaviya with the generous gift of 520 hectares of land beside the holy Ganges by the then Maharaja of Banaras and with the handing over of the historic Central Hindu College by the late Dr. Annie Besant with all the staff, building and equipment unconditionally to serve as the nucleus of the University. This last remains an unparalleled act of generous foresight of the nation's needs. To-day BHU is not merely the biggest University but has truly become the capital centre of all learning, Eastern or Western. Here had always gathered some of the masters of the highest learning in the service of the National University to provide the fruits of higher education in an atmosphere of Indian culture to thousands of pupils denied this facility in their own places.

As but one of this vast multitude, I can look back today with pride and satisfaction of the chance I had to learn and serve in this glorious Vidyapeeth, for 4 years as student (1932-1936) and the rest as teacher (1936-1962). Naturally, innumerable memories spread over this period of direct association spring to mind and it is hard to choose a few from this cherished treasure for being recorded here. The first thought most naturally goes to the great founder Malaviyaji. Always clad in spotlessly white rough Khadi in a style uniquely elegant, I can see him even now walking briskly all over the large campus, accompanied by a few devoted colleagues. Panditji, the Vice-Chancellor or Kulapati of the largest University, may it be remembered, never allowed a car or even a horse carriage, to be provided to him from the University's then meagre funds whose sustenance was his constant problem.

Having once seen, who could forget the warm affectionate smile on Panditji's face ? Many have truly discribed this charm of his as a type of personal magnetism responsible for drawing in large numbers of eminent professors and social workers in the service of the University on salaries much lower than anywhere else. Only a saintly person like Malaviyaj could take hard things and tragedies big or small cheerfully. I recall to mind one occasion when the University suffered a financial loss due to someone's misdeed. All that the Panditji said was "Thank Lord Vishwanath, the loss is not more". It was common knowledge how he would be moved to pity and tears on hearing some sad news of a student or an employee of the University We can only guess then how much his mind must have suffered on hearing of the inhuman attrocities of Naokhali which unfortunately preceded the partition of the Country. Alas, this was to be the end of the Mahamana who left us even before seeing the realization of his dream of 'Apna Desh : Apna Raj'.

As mentioned earlier, it was Malaviyaji's magnetic charm which drew around him so many great men who were scholars first and administrators next. Of this galaxy of selfless men in the service of the BHU comes uppermost to my mind, Pt. Anand Balakrishna Dhruvji, the Pro-Vice-Chancellor. He used to be also clad always in white Khadi, with a purple Gujrati pagdi and a large tilak on his forehead, being a very symbol of mastery of the ancient lore. While still new to Varanasi, I timidly dropped into his office with an application for a free-studentship. All he said was "the Division in the I.Sc. will be kept in mind", and it was.

Next to come to my mind is the unforgettable Prof. Shyama CharaniDe or simply De Baba to all. He had held all offices from Professor and Head of the Mathematics Department to Pro Vice-Chancellor and down again to various administrative posts, as the need arose, but all services were honorary. A life-long bachelor, lean and tall with a flowing white beard, he could be approached by one and all for paternal guidance. Every Sunday

morning De Baba could be seen driving in his old victoria (horse carriage) visiting colleagues on the campus just to enquire "Sab theek hain ?" Then there were the less noticed Gayanacharyaji and Malkham master, dressed in dignified impeccable Hindi and Marathi styles which commanded respect in all onlookers. Both, experts in their areas, came walking long distances every evening to teach their arts to willing students. A major part of their remuneration must have been in the form of Panditji's blessings. There was also the scientist poet Prof. Shanti Swarup Bhatnagar, who later after independence was destined to play a key role in the establishment of the CSIR and its chain of National Laboratories all over the country. It was he who composed and gave the tune to "Madhur Manohar......" the anthem of BHU which will ever remain dear to the alumnii. Of his several illustrious students was my Guru Shridhar Sarvottam Joshi who in his turn adorned the Chair of Chemistry of BHU and brought distinction by the discovery of the effect now known after him.

Those were the days when BHU was still growing with only one girls' hostel, two Engineering hostels at the farther end close to sugar cane fields and 3 other hostels in between, referred to as the I (Birla), II (Broacha) and IV (Ruiya). We could never understand where Hostel No. III was ! Walking along these mammoth hostels any evening, one could hear all the languages of India and catch strains of all types of Indian classical music, vocal and instrumental, emanating from amateurs perched on the roof of the Ruiya Hostel. The innumerable students' messes provided food of all regional tastes at prices varying from Rs. 10/- to 25 p.m., ghee being your own concern. Attending the annual days of BENCO, TECHNO and other unions one got glimpses of cultures of all states of India. In short, BHU had always been "India" on one campus. May She, by Lord Vishwanath's blessings, remain so for all time. This is the wish of all her children on the occasion of her Hirak Jayanti.

———

THE NEVER-TO-BE FORGOTTEN PERSONALITY OF PANDIT MADAN MOHAN MALVIYAJI

R. K. ASUNDI

In December 1930 I was asked by my esteemed friend Dr. S. S. Joshi to give a course of lectures on Spectroscopy in the Banaras Hindu University. After my work was finished, it was suggested that I should see Pandit M̃alaviyaji since there was a possibiity of my being employed in the University. At that time Panditji, having offerred Satyagraha at Bombay, was arrested and kept in the jail at Naini. Since this would be my first meeting with the great person I did not accept this suggestion. I did not want to see him in jail.

The next opportunity came when I visited Allahabad sometime in the beginning of 1937. The one person whom I used to pay respects in Allahabad without fail was Prof. R. D. Ranade whom I knew since 1913. When I met him, he told me that he was going to see Panditji that evening and asked me whether I would like to accompany him. Panditji was then convalescing after his Kayakalpa treatment in some garden bungalow in Allahabad. I considered it my privilege to accompany Prof. Ranade to meet Pandit M̃alaviyaji and went with him in the evening. The first sentence with which Panditji received me was the following :

> "Well Dr. Asundi, it seems there is telepathy between you and me. In the morning I was thinking of how to contact you. Then I got Prof. Ranade's message that he would like to bring you to see me. I am very glad, you came".

In the course of conversation, when he mentioned that he was in search of a good physicist to fill up a vacancy which was shortly

going to occur in his University, I said that in my opinion Prof. K. S. Krishnan was eminently suitable and should be persuaded to accept the Professorship in our National University, and that he would probably be the next F.R.S. in Physics in our country. Prof. Krishnan was then working in the Indian Association for the Cultivation of Science at Calcutta in succession to Prof. C. V. Raman who had moved to Bangalore as Director of the Indian Institute of Science. Panditji told me that since I was so keen on Krishnan's services being obtained for the University he would try to get Krishnan. I was then working as Reader and Chairman of the Physics Department in the Aligarh Muslim University.

A year passed and sometime in October 1938, I got a telegram from Banaras asking me to see Pandit Malaviyaji immediately. By this time, my contract with the Aligarh University had come to an end and I was enjoying my accumulated leave preparatory to the completion of the contract. I went to Banaras and saw Panditji who was then staying in Shiv Prasadji's bungalow on the banks of Gangaji. Panditji told me that on my suggestion regarding Prof. Krishnan, he consulted Prof. Santi Swarup Bhatnagar and was told that if he could only offer a maximum of the University Professors' Grade (which was then Rs. 750/- per month) he would easily get Prof. Krishnan to the University. Panditji agreed but Bhatnagar could not succeed in persuading Prof. Krishnan to leave Calcutta. Panditji then told me that the post was going to be advertised in a couple of weeks and that I should send my formal application to the post. In my innocence I asked Panditji, when I would be called for an interview for the post. He said "Why ? Have I not seen you sufficiently and heard about you ? You will not be called for interview. You send a formal application, that is enough". He asked me what salary I was drawing in Aligarh. I gave the figure but added that I shall be content with whatever Panditji proposed as my salary, for it was my early ambition to serve the Banaras Hindu University.

The next incident is also an unforgettable one for me. It happened sometime after 1942 when there was an All India Conference of Sanskrit Pandits in the Banaras Hindu University. My eldest brother was then living with me and his friend Pandit Ramacharya Galagali who was invited for the Conference, came to stay with us for a few weeks. At the end of the stay, he wished that he should pay his respects to the Vice-Chancellor Prof. Radhakrishnan and Mahamana Malaviyaji. Accordingly I fixed up appointments and accompanied my brother and Pandit Ramahcharya to both of them. Since Prof. Radhakrishnan expressed his inability to converse with the guests either in Sanskrit or Kannada, I acted as an interpreter. In introducing Pandit Ramacharya I referred to the illustrious, scholarly and spiritual family to which he belongs, to the Sanskrit monthly (Madhura Wani) which he has been editing for many years entirely on personl resources, to his being a popular poet gifted with a rare felicity of mellifluous and easy expression and, to his family tradition according to which he trains and imparts knowledge in Sanskrit and Vedanta, specialising in the Madhwa School of Philosophy to a few disciples who live with him as regular members of his family. However the desultory discussion that followed did not last long.

Then we went to Pandit Malaviyaji. I had previously informed Panditji of the personality and heritage of the illustrious family of Pandit Ramacarya. Panditji received us in his bedroom. On entering we found that he was sitting in his bed, wearing a turban, eager to receive Pandit Ramacharya and my brother. A series of exchanges of good wishes between them in Sanskrit was followed by a discussion on the glory and beauty of Shrimad Bhagawatam. Verses after verses came to be quoted by each of them and a most pleasant soul-stirring meeting continued for nearly an hour. We then took leave of Panditji in suitable terms.

There are several such memorable incidents which I am sure, others connected with them must be treasuring in their

hearts. I had the good fortune to be more or less intimately known to him during the last 7 years of his life and to derive inspiration in times of despondency which were not rare for me during those years. Panditji was one of the few great men who shaped my life and his sacred memory will ever inspire and remain with me.

---

12 Om Shanti, Main Avenue
16th Rd. Extention
Santa Cruz (W)
Bombay-400054

HOMAGE TO A GREAT SOUL

Dr. Smt. DURGABAI DESHMUKH

The Editors of Prajana have indeed done me a great honour by asking me to contribute an article for the souvenir they are going to publish on the occasion of the Diamond Jubilee Celebrations of the Kashi Hindu Viswavidyalaya founded by that great man, Pandit Madan Mohan Malaviya. I consider it my proud privilage to do so. It is not an exaggeration if I were to say that I owe to this famous University literally all that I am today.

The jail life of nearly a year and a half in various jails and, particularly, in Madura jail, where I was put under solitary confinement and that too in a room next to the gallows where there were several executions taking place every day had numbed my spirit. I completely broke down and was a physical wreck by the time I was released. I am proud that I did not give an apology or request them to release me but could complete my sentence there with all the difficulties including physical and mental.

I had no formal education till 1933. When I was released from Madura jail I had no knowledge of English. It was as a course of occupational therapy that the late Dr. Rangachari suggested that I should be allowed to forget the various tortures I had undergone in the jail and should be put on some course of study. I was then 24 years old. My friend, the late Shri Gora, offered to assist me to study for Banaras Admission examination and in a period of nine months I could complete the course and appear for the examination at Banaras. There were many hurdles in my way even here. When I was writing my examinations I had measles. I would not be permitted to enter the examination hall, owing to the kindness of Pandit Madan Mohan Malaviya some scribe was sent to assist me in completing the examination. To my surprise I found that I had not only

passed the examination but had secured distinction in two sub jects.

I decided to pursue the course of higher education because I felt that unless I equipped myself completely I would not be able to do any worthwhile work in any field for the socio-economic development of the country. With that end in view I proceeded to the Banaras Hindu University. I had neither money nor anyone to support my education. It was through the good offices of Pandit Madan Mohan Malaviya that I secured the studentships and various other scholarships to cover my fees and boarding and lodging expenses there.

I can never forget the kindness of Pandit Madan Mohan Malaviya towards the student community. Although then very frail in health he made it a point to visit the women's college every day. When ever he met us he only used to say this "Chana khao gud khao". Not a single student was turned out by him, but whoever approached him for any monetary or other help with regard to either admission or for staying in the university was adequately assisted.

I studied at the Women's College and I do not know how the two years' period passed. It was like a dream. I used to go for walks every day in the evenings with other friends which was allowed by the Mataji, the superintendent of the women's college. I was greatly inspired by the spacious and imposing buildings constructed with donations collected by Pandit Madan Mohan Malaviya. I do not know how he did it, but he approached rajas and maharajas personally and received encouraging response from them. The Birla, the Broacha and the Rajaputana hostels were some of the very big ones which he had constructed. He raised a big monumental university of which any one in India could be proud. There are thousands and thousands of students who have received their education from this university. Some of the departments like Metallurgy, Ceramics and Chemistry were very well developed and well equipped.

I could have continued in the university and taken a degree but for the fact that I wanted to do my B.A. in political science.

Pandit Madan Mohan Malaviya strongly disapproved and said that women students should not go to men's college and the women's college had no subject of political science at that time. I therefore had to leave the university and go to Andhra University where I took my B.A. (Hons) in political science standing Ist in the university.

I used to wonder whenever I went round the splendid buildings of Banaras Hindu University whether I could ever build even one small cottage in my life for the spread of women's education. It was due as much to the blessings of Malaviya as to my strenuous and devoted efforts that I could raise nearly Rs. 80 lakhs to Rs. 1 crore worth of buildings, in Madras, Hyderabad and other districts of Andhra Pradesh where we ultimately started not only classes for women in adult education but also high schools, leading to the establishment of colleges—the Arts and Science College and the College of Education. I remember Malaviyaji almost every day when I see my buildings of Andhra Mahila Sabha and I always feel that the inspiration behind the construction of the buildings was that of Malaviyaji.

Though I left the Banaras Hindu University in 1936 I had once more an opportunity of working there, but in a different capacity this time, when I was in the parliament as a member. I was in the chair presiding over the parliament session when Banaras Hindu University act, as also the Aligarh Muslim University, was piloted by the Education Minister, Maulana Abul Kalam Azad. Also I was in the cfommittee to examine the statutes of Banaras Hindu University and contributed my mite by suggesting some amendments.

I was also sent as a member of the governing body of the Banaras Hindu University representing the parliament. When I could not attend any session for one reason or the other I went through all the proceedings carefully and noted the progress.

The Banaras Hindu University recently had done me great honour in the International Women's Year by conferring on me status of the distinguished alumna of the university. Unfor-

tunatelly I could not go personally. I received the placque and citation which were sent to me through Dr. Gurubaksh Singh. I was overwhelmed by reading the citation which praised my good work in most generous terms.

Before I conclude this article I must narrate one event which was a landmark in my life and which would ever remain green in my memory.

When I was in the university, I was encouraged by my principal, Smt. Kamalabai Tilak to contest in the inter university elocution competition conducted that year. Though I was very nervous I ultimately made bold to participate in the contest and to my great surprise I found that I was declared as first in the competition. As a result at the convocation which was presided over by Mahatama Gandhi that year it was my proud privilege to receive a set of books worth Rs. 500 at the hands of Mhatama Gandhi. For a non-Hindi student it was really something to be proud of to win and stand first in the Hindi elocution competition in an inter-university competition of the northern universities. Pandit Madan Mohan Malaviya was very happy and he hugged me and kissed me to express his joy. Mahatama Gandhi also, whom I happened to know previously was very happy and he just said aloud "Oh ! Durga you are here". I told him ; "Bapu, I joined the university after I left you and I have now passed the university intermediate examination and am also going to complete my degree course. This is to equip myself to be able to serve the country in a better manner". Mahatama Gandhi thereupon said "you have done well".

Not only myself but my brother Narayana Rao also joined the Banaras Hindu University and he received his master's degree in political science from this university. Our connection with the university continues even till today. The Andhra Mahila Sabha sends every year not less than 80 to 100 women students to this university for the admission examination. So far 36 batches have appeared and we do hope that this con-

nection with the university will be continued for many more years to come.

I am very happy that the university is celebrating its Diamond Jubilee and how I wish I could particiapte personally. But I find it difficult to do so due to health reasons. I pay my homage to the Mahamana, Pandit Madan Mohan Malviya whom I shall ever remember with gratitude and reverence.

——

MAHAMANA MALAVIYA AS A MAN OF LETTERS

PARAMANAND

At the age of fifteen Malaviyaji wrote a doha[1] which reveals the intense love for literature and learned company which he had imbibed at that early age and sustained to the end of his life. That he was able to gratify this passion in the midst of his multifarious activities was due largely to a succession of favourable circumstances.

His two years' stay at Kalakankar as editor of *the Hindusthan* brought him into touch with the leading Hindi scholars of the day, many of whom visited the place, drawn by Raja Ram Pal Singh's reputation as a friend of men of letters. These contacts became more intimate and fruitful with the launching of the Hindi Sahitya Sammelan under his inspiration and guidance. In the National Congress he became a hot favourite with the top leaders of the nation, who were also the cream of Indian intelligentsia. He had some important tasks assigned to him which called for the exercise of mental and moral qualities of thehighest order. At the Hindu University he surrounded himself with the best intellects in the country on whom he could lay his hands and some from abroad out of a large number including Einstein[2] whom it was his cherished ambition to draw to the University. The stream of visitors-both Indian and foreign—to the University and particularly the Sanskrit scholars whom his love of Sanskrit brought there provided a rich intellectual feast and a constant stimulus. However busy he might be he would not miss oppor-

---

1 गुनी जनन को साथ रसमय कविता माहि रुचि ।
अवसि दीजियो नाथ जब-जब इहा पठाइयो ।।
(Ram Naresh Tripathi पूज्य मालवीय जी के साथ तीस दिन p. 175).

"Every time it pleases Thee to send me here, O Lord, grant me the company of men of genius and a taste in luscious poetry."

2 Dr. S. S. Joshi in Centenary Commemoration Volume, p. 105. The invitation to Einstein was pressed in 1935-36.

tunities of intellectual intercourse which came his way, even if it meant interrupting official business.

Edgar Snow who met him in his seventieth year, Ram Naresh Tripathi who stayed with him for three months nearly a decade later (on an assignment to record his biographical reminiscences) and Baldeva Upadhyaya[1] a dinstinguished member of the teaching staff who was in intimate touch with him for decades, give us first hand information about his literary tastes and attainments. There is a host of other competent witnesses, no less trustworthy,including his personal secretaries (Shyam Sunder Sharma, Chandra Bali Tripathi, Trilochan Pant) and associates like Vishwa Bandhu, Nardeva Shastri and Raja Rananjaya Singh.

His Reading : Sanskrit

Malaviya was by all accounts widely read in Sanskrit, Hindi and English. Sanskrit was to him the language of supreme excellence, a language without a rival ; it was the source of bliss (मंगलमय) ; and he claimed it to be his life breath (प्राण) as, he said, it was of the whole Hindu Society.[2]

In his convocation address at B.H.U. in 1921 he said: "As a language Sanskrit is acknowledged, by those most competent to judge, to stand pre-eminent among the languages of the world. It has been the medium of expression of the most sublime thoughts conceived by man and uttered in the most elegant and majestic forms. It has been elaborated with such a sense of the

[1] Honoured by the Varanaseya Sanskrit Vishwa Vidyalaya with its honorary doctorate, Vachaspati degree.

[2] This was how he described Sanskrit in conversation with Professor Shyama Charan De who had advanced the suggestion that the Sanskrit Department of the Central Hindu College stay behind in Kamachha when the rest of the college was moving (in 1921) to the University Campus where there was not yet room enough for all. Malaviya was firm that Sanskrit should be the first to be installed in the Campus, being as he said मंगलमय and his own and Hindu society's. प्राण (breath) (Ambika Prasad Upadhyaya in Centenary Commemoration Volume, p. 90).

laws of harmony that it stands unrivalled as the most economic means of recording, conveying and remembering knowledge. Its study, as remarked by Sir Monier Williams, involves a mental discipline not to be surpassed."

The atmosphere of Sanskrit learning which pervaded his home—his father a renowned *vyas*, two uncles of exceptional ability teaching Sanskrit in Government Schools, the discipline of the Pathshala, the inspiration derived from Hardeo Guruji and the affectionate encouragement of Professor Aditya Ram Bhattacharya, all contributed to his high proficiency in Sanskrit. His father's library and the priceless selection of gems of literature which Malaviya inherited from him were further aids.

In his early years he committed to memory numerous verses from well-known books. He devoted an hour or two every morning to the reading of the *Ramayana*, the *Mahabharata*, the *Bhagwat* or other classics. Many passages from these and other oft-read literature were thus committed to memory and many he collected under seprate headings in note-books which he carried with him on his journeys. He thus had a fund of appropriate quotations always at his command from which he used to cite copiously in his public speeches as well as in private gatherings and in conversation with scholars. The *Bhagwat Purana* was his particular favourite. He doubted if there was anything to compare with it in the entire range of the world's literature. He took delight in giving public recitation of it in large gatherings and frequently recited it at the Magh Mela at the confluence at Allahabad and also at Hardwar. During his voyage to England he entertained his motley audience on board the SS. *Rajputana* by occasional recitation of it. Mastery of the *Bhagwat*, the recognized hall-mark of a Sanskrit Pandit, Malaviya possessed with distinction and therefore enjoyed high respect among Pandits. Whether this amounted to scholarship in the current sense has been doubted.[1]

[1] J. B. Kripalani, in Centenary Commemoration Volume, p. 43.

He was able to converse freely in Sanskrit which few even among scholars of Sanskrit can do ; he engaged in discussions in it, (called Shastrarth) with high personages like the Shankarcharya.[1] p. 43.)

In the *Mahabharat* he liked most the discourse of Bhishma on morals in the *Shanti Parva* which he read repeatedly and recited with genuine delight.

His reading was no less extensive in the secular branches of Sanskrit literature. Early in life he won applause for his superb acting in the role of Shakuntala. During his practice as a lawyer at the Allahabad High Court he showed deep and extensive knowledge of the numerous Sanskrit authorities on Hindu law, which impressed the most learned judges and checkmated the eminent counsel who appeared against him.

His Reading in Hindi :

In Hindi he was specially fond of the devotional poetry of Surdas, Tulsidas, Kabir and M̃eerabai but he was not averse to reading amorous poetry of which Hindi possesses a great wealth in the works of Bihari, M̃ati Ram, Kesho Das, Rahim and a host of others. Indeed he showed a marked leaning towards the latter kind of verse in his adolescence, writing some himself as we shall presently see. He learnt up numerous fine specimens of both kinds and occasionally recited them to his wife. In later life his preference shifted to devotional and inspirational poetry but he never lost his zest for aesthetic verse. This is shown by the fact that he entered the lists in a discussion in defence of the poet Behari[2] and as late as his eightieth year he discussed with Tripathi the poetry of Abdur Rahim Khan-i-Khanan and recited

[1] He replied in Sanskrit to the address presented to him at Almora during his tour to collect funds for the Hindu University (June 1912) and agreeably surprised learned audiences in the South by his unblemished Sanskrit speeches during his sojourn at Bangalore in the summer of 1925.) (Ram Chandra Sastri, Principal Sanskrit Mahavidyalya, B.H.U., in B.H.U. Gazette, Dec. 21, 1963).

[2] Rai Krishna Das in B.H.U. Gazette 23 December, 1961.

some of the *Barwes*[1] ascribed to him. He similarly participated in and enjoyed the recitation of aesthetic poetry in Sanskrit. There is an episode recorded by Baladeva Upadhyaya[2] when Malaviya put off office work (which he was doing with his secretary, Shyam Sunder Sharma) to enjoy the learned company of Batuk Nath) Sharma, Professor of Sahitya (literature). At one stage of the interchange of verses, failing to recollect part of a line in a certain sloka, he called on his Secretary to complete it, which Batuknath did for him.

Malaviya had immense liking for folk songs. The dialects of eastern Uttar Pradesh with which he was familiar from early life are particularly rich in such songs. They are set to many tunes appropriate to different seasons, occasions and purposes. There are songs for the spring in totally different metre from songs of the rainy season; similarly there are different varieties of songs for festive occasions like the birth of a child, the sacred-thread ceremony and the various stages of the marriage ceremony and feasting. There are again songs suitable for singing by women engaged in grinding corn, enjoying a swing or walking on a pilgrimage.

Malaviya greatly appreciated the work of Ram Naresh Tripathi in making and publishing a collection of folk-songs and frequently called on him to recite them.[3] Some which he liked specially were frequently repeated. Malaviya would stop in his walk or slacken his pace to listen to, or catch, a tune wafted on the air and found much in it to appreciate. He read in the following lines of one of his favourite songs an exhortation to youth to build up physical strength to oppose the conqueror or the oppressor :

येई दूध पीअई बिरन मोरा बिरना लड़ई मुगलवा के साथ[4]

---

[1] It is unlikely that Rahim composed these *barrwas* himself. They must be the work of one of his eminent contemporary Hindi poets (Mati Ram, perhaps, whom he patrionized.)

[2] Baldeva Upadhyaya in Centenary Commemoration Volume p. 218.

[3] Tripathi पूज्य मालवीय जी के साथ तीस दिन pp. 31, 86

[4] Ibid, p. 193.' My brother drinks this milk and he fights with the Mughal.'

The following deeply pathetic description of the hard lot of women greatly moved Malaviya. He had it recited again and again :

वावा निमिया क पेड़ जिनि काटेउ निमिया चिरैया वसेर
वावा विटिया क जिनि केउ दुःख देउ विटिया चिरैया की नाई
वावा सब रे चिरैया उड़ि जइहैं रहि जइहैं निमिया अकेलि
वावा सब रे विटियवा जइहै सासुर रहि जइहैं माई अकेलि

Malaviya's mastery of the local dialect enabled him to converse with the common people and to address gatherings of them in their own language. By this means he succeeded remarkably in conveying to them both religious teahings and political ideas which would pass over their heads if delivered in any other manner. We have an account of a wonderful feat of this kind from the pen of his close associate Venkatesh Narayan Tivary.[1] During the Kumbh Mela of 1918 at Allahabad Malaviya addressed a gathering at the Sangam, of about 2000 members of the conservancy staff of the mela (sweepers) in the local dialect, giving them this simple definition of dharma : 'Serve humanity, not mankind alone but also the quality of being humane ; do not speak harshly or in anger to anybody ; keep your temper under control for anger lies at the root of all sin ; serve others with affection and take pleasure in rendering service to creatures of all kinds."

We have no record of this speech but those (like Tivary) who heard it testify that its vocabulary was superb in its purity and simplicity and there was not a word in it which would be unintelligible to the illiterate audience to which it was addressed. Ramjidas Sharma, a Hindi litterateur of repute who was also present, was charmed and exclaimed, "Blessed are we to have listened to this speech."[2]

---

[1] Vishwa Jyoti, January 1962, p. 20 ; also Nardeva Shastri in Centenary Commemoration Volume, p. 233.

[2] Reported ny Nardeva Shastri in Centenary Commemoration Volume, p. 233.

C. B. Rao[1] relates how Malaviya translated into simple Hindi Vithalbhai Patel's English speech at a crowded public meeting at Allahabad and thereby quietened the audience which was getting restive because it could not follow the translation of it earlier given by a scholarly person.

Malaviya's Reading in English :

Malaviya held the English language in high esteem because of the richness and variety of its literature and specially because it enshrines noble ideas of liberty, human dignity, fair dealing and tolerance. He paid his homage to these qualities of English in many fine passages[2] in his speeches and also by diligently acquiring mastery of its vocabularly, grammar, idiom and accent. He spoke and wrote it with almost the same ease and fluency as his native tongue. His high regard for those who could speak English with correct English intonation is illustrated by his seeking introduction to and cultivating the friendship of Pandit Mathura Prasad a distinguished retired teacher of English and sometime Principal of Queen's College, Banaras, who had this accomplishment.[3] Firmly convinced, as he was, that however hard one may try he cannot wield a foreign language with the same efficiency as his mother tongue,[4] he yet agreed to make English the medium of instruction in Banaras Hindu University, recognizing that in those vital branches of modern knowledge—advanced science and techno-

---

[1] C. B. Rao, son of C. Y. Chintamani (renowned editor of the *Leader*, entered the I.C.S. and subsequently rose to be Vice-Chancellor of the Gorakhpur and Agra Universities. He was eminent also as a Hindi poet.

[2] "Many of us have drunk freely at the fountain of freedom which runs through the glorious literature of England."

[3] Ram Narain Mishra in Malaviya Centenary Commemoration Volume, p. 1071.

[4] Malaviya's Convocation address to B.H.U. 1929 where he says :

> "I began to learn English when I was only seven years old. I have been learning it and using it for 61 years now. I have used it a good deal. But I frankly confess that I am not able to use it with half as much confidence as I am able to use my own mother tongue."

logy—in which we were most deficient, knowledge would for a long while have to be acquired and imparted through English which was also the one modern language understood, to a smaller or larger exent, throughout the country.

The American journalist Edgar Snow wrote of him in 1931 : "He is extra-ordinarily well-read but though he has carefully studied the most profound western philosphers he still finds, on the whole, loftier solace in the Indian sages. One of the exceptions to this are the works of Smiles. He carries copies of them with him whenever he travels[1]." He occasionally quoted English writers of this class.

The volume of his writings and published speeches in English is immense. All his speeches in the legislative bodies, of which he was a member for nearly thirty years, at sessions of the National Congress (very few of which he missed for over half a century) and at meetings of the Court and Convocation of the Banaras Hindu University, were delivered in English.

Some of his English writings rank as authoritative treatises on the subjects with which they deal. The Memorandum on the '*Court Character and Primary Education in the North-West Provinces and Oudh*', in the preparation of which he spent three years' hard labour and patient research was published by the Indian Press, Allahabad in 1897. It is a comprehensive treatise on the subject worthy to rank as a research thesis. So was the minute of dissent appended to the Report of the Indian Industrial Commission headed by Sir Thomas Holland (1918), and his presidential address at the All India Oriental Confrence at Tirupati 1940.[2] The minute of dissent was a learned dissertation on the ruin of the once flourishing Indian industries as a result of Britain's domination and was recommended by the Calcutta University for study by candidates for the M.A. degree in Economics.

---

[1] Centenary Commemoration Volume, p. 155.

[2] Text in Report of the Conference ; also in the B.H.U. Journal 1940, pp. 1-12.

The appeal he issued along with a dozen other Hindu leaders of the Province on May 30, 1903 for contributions to a fund of three lakhs for the construction and endowment of the Hindu Boarding House at Allahabad is the first document setting out his educational ideals. It was written when Curzon's University Bill was engaging public attention and not long after his memorandum on Hindi had been presented to Government. It resembles the memorandum in being studded with quotations from the report of the University Commission of 1882 and from the reports of the Principals of the Muir Central College and other writers of acknowledged authority in support of the importance of proper residential and disciplinary arrangements for students pursuing higher studies away from their homes and removed from parental control. It embodies certain fundamental ideas about education which we shall notice elsewhere in reviewing his educational philosophy. He urged that the cost of putting up and subsidizing the maintenance of hostels should be borne by the enlightened public, and not be thrown entirely on the State; (2) that religious instruction which colleges were debarred from imparting (in pursuance of the policy of religious neutrality) should be imparted in hostels. He defended the establishment of denominational hostels on this ground.

The scheme of the Hindu University which he propounded in a pamphlet entitled, "*The Hindu University, Why it is wanted and What it Aims At*" issued in 1911 is fit to rank with the Hindi memorandum as a work of research and as a comprehensive scheme of education. His addresses at convocations of the B.H.U. (1920 and 1929), the Kashi Vidyapitha (1925 in Hindi) and the Allahabad University (1937) and to various learned conferences partake of the excellence we find in the celebrated Hindi memorandum and the supplementary Minute to the report of the Industrial Commission. So do the presidential addresses he delivered at the All India Oriental conference at Tirupati in December 1930, at the All-Asia Educational Conference at B.H.U. (1931) and at sessions of the Hindi Sahitya

Sammelan at Banaras (October 10, 1910) and Bombay (April. 19, 1919).

He wrote articles on current political topics in English journals, the earliest being published in the Hindustan Review which his friend Sachchidanand Sinha started at Allahabaed in 1903[1]. He wrote also in the *Indian Review* and at a later date in the *Hindustan Times*, The *Leader* and other papers.

His literary Output in Hindi : Poetic Works :

Malaviya's earliest compositions were in Hindi verse. The inspiration for these came doubtless from the atmosphere of his home which was dominated by the cult of Bhakti, the deity worshipped being Lord Sri Krishna. The doha was the favourite metre of the first exponents of the *Bhakti* cult who preached in Hindi. Malaviya composed a considderable number of dohas[2]. Most of these contained prayers which he frequently recited in his religious discourses and some of them were printed and distributed free. Some gave expression to his personal emotions like the one in which he mourned the death of his uncle Gadadhar in his prime and the one in wich he expressed his deep anguish at his inability to be present at his father's bedside when the latter breathed his last.[3] He was busy with the foundation laying ceremony of the Minto Memorial when messages calling him home were received, but could not be complied with. In a different metre he composed two farces entitled '*Gentleman*' and '*Phakkar Singh*' depicting the grotesque side of contemporary society. These bear the stamp of immaturity.

---

1 He does not seem to have patronized the Modern Review which too was born in Allahabad in 1908 when its distinguished editor Ramanand Chatterji was Principal of the Kayastha Pathshala College.

2 A number of these are printed at pp. 175-79 of Tripathi's book" "पूज्य मालवीय जी के साथ ३० दिन"

3 Text in Tripathi p. 79. The occasion was his father's death, not his mother's as erroneously stated by Tripathi.

His poetry attained its height in a number of *Sawaiyas* which he submitted to Bharatendu Harishchandra about the time of his graduation. The poet had founded a literary club styled *Kavi Darbar* in 1873 and started a monthly journal, the *Harischandra Chandrika* in which poetry adjudged to be meritorious was published. According to established usage poets were invited to compose verses on themes set for them and in conformity with a prescribed mode or model. Malaviya's first contribution was four 'Sawaiyas' written under the pseudonym of '*Makrand*' to the tune of "रीझि लटू भई राधिका रानी". These, coming from a kindred spirit—fervent devotee (like himself) of Lord Krishna—were highly appreciated, as they deserved to be, by Bharatendu. Bharatendu is said to have invited Malaviya to the *Kavi Darbar* and expressed a desire to know more about the budding poet.[2] Malaviya was unable to go to meet the poet personally but conveyed to him his eagreness to receive guidance in writing poetry. He was encouraged to send more of his compositions which he did.[3] These like his earlier *Sawaiyas* were published in *Harischandra Chandrika*. The descipleship, however, ended all too soon by Baratendu's death in 1885 at the early age of 35. The *Sawaiyas* are reproduced here :

(१)

इन्द्र सुधा वरस्यो नलिनीन पैये वे न विना रवि के हरखानी ।
त्यों रवि तेज देखायो तऊ विनु इन्दु कुमोदिनि ना विकसानी ।।
सो तो भयो सव ही 'भकरंदजू' दाखहि चाखिके वैर विसारन ।
जापर चीर चुराय चढ़े वह भूलिहैं कैसे कदम्ब की डारन ।।

(२)

वे कवके उत ठाढ़े अहैं इति वैठि अहो तुम नारि चुपानी ।
थाकी तुम्हें समुझावत सामते ऐसी मैं रावरी बानि न जानी ।।
मोहि कहा पे यहे मकरन्दजु जो कहूं खीझ के रुसन ठानी ।
आजु मनाये न मानती हो कल्ह आपु मनाइहो राधिका रानी ।।

---

[1] Text printed in Tripathi, op. cit. pp. 178-9, also in B.H.U. Gazette, Dec. 23, 1961.

[2] Madan Gopal, in the *Dharmayuga* dated 24th December, 1961.

[3] Sawaiyas on the Samasya "डारन" (Tripathi, op. cit. p. 179).

(३)

धूम मची ब्रज फागुरी आजु वजैं डफ झांझ अवीर उड़ानी ।
ताकि चलैं पिचुका दहुं ओर गलीन में रंग की धार वहानी ॥
भीजे भिगोवें ठढ़े मकरन्दे दुहूं लखि सोभा न जात वखानी ।
ग्वालन साथ इते नन्दलाल उते संग ग्वालिन राधिका रानी ॥

(४)

भूलिहैं सो हंसि मांगिवो दान को रन्च दही हित पानि पसारन ।
भूलिहैं फागु के रागु सवे वह ताकहि ताकिके कुंकुम भारन ॥
सो तो भयो सवहीं 'मकरन्दजू' दाखहि चाखिके बैर बिसारन ।
जापर चीर चुराय चढ़े वह भूलिहें कैसे कादम्व की डारन ॥

(५)

ढूढ़यो चहूं झझरीन झरोखन ढूढ़यो किते भर दाव पहारन ।
मञ्जुल कुंजन ढूढ़ि फिरयो पर हाय मिल्यो न कहूं गिरिधारन ॥
लावति नहि तऊ परतीति सह्यो इतनो दुःख प्रीति के कारन ।
जानत स्याम अजो उतही चित चौकत देखि कादम्ब की डारन ॥

The development of his poetic genius, of which he gave clear promise in these pieces, was arrested by his triumphant *debut* into po.itics at the next years's session of the Indian National Congress at Calcutta 1886, as a result of which he found himself in charge of a daily newspaper and in the thick of the political arena where the springs of poetry were bound to dry up. What poetry he composed hereafter was utilitarian in purpose, furnishing a motto here for a social service organization or a slogan there for a popular movement. As he advanced in years and became engrossed in educational work, he exhorted poets[1] to write didactic and inspirational verses (such as those ascribed to Guru Govind Singh) which would fire the youth of the nation with zeal for the service of the country and for cultivating physical fitness and mental and moral strength therefor.

36. Chathamlims
Allahabad-2

---

[1] Ibid, p. 180.

MALAVIYAJI'S PHILOSOPHY OF EDUCATION

J. K. TIWARY & J. R. SINGH

Research Scholar Department of Sociology, B,H.U.

"Perhaps no age has thought its education good enough. Life itself is never good enough; and the job of education, which is to remedy the defect, doubtless cannot be done. If life were perfect there would be no need of education; there is none in Utopia. But life remains imperfect, and so does education."[1]

The rich treasure of Indian Philosophical thought owes greatly to a galaxy of philosophers, thinkers and educationsts that crowd the annals of Indian history. Pandit Madan Mohan Malaviya was, undoubtedly, one resplendent star of this 'Galaxy'. Generations may pass, men may come and go, but the name of Malaviyaji will remain vivaciously among the philosophers of education.

No Indian philosopher or thinker of modern times has taken greater pains and made more sacrifices to clarify the functions and objectives of education than Mahamana Malaviya. Education, to him, is no mere incident of social existence, but an essential function of the cosmic order. The present paper is a modest attempt to dicuss Malaviyaji's philosophy of education, interwoven with his conception of social welfare, which furnishes an apt response to the moral question raised by the social order.

An ideal society is not possible unless various individuals, that constitute it, are perfectly rational in their outlook and behaviour. Education, thus, subserves the basic needs of human society and it is, indeed, the "Sine-qua-non of all social existence"[2]

Pandit Malaviyaji was basically an educationist, but seeing the socio-political-economic and cultural situations, he could not restrain himself, and participated in different roles

---

[1] Mark Van Doren, 'Liberal Education', Becon Press, Boston, 1962, p. 2.

[2] Joshi, N. V., 'Social Philosophy', Bombay, 1957, p. 79.

in restructuring the Indian society. Therefore, his main nucleus was to reform education, and ultimately, it aimed at directing the other processes of social change and development in Indian Society.

Malaviyaji's philosophy of education is hardly separable from any aspect of life, any problem of society. Religion and ethics are integral part of education. He believed in the interconnection of social phenomena and tried to have a 'synoptic view' of social life. He wished to raise the edifice of a human society which is based on the granatic foundation of ethical order. His conception of a harmonious social order tallies with that of Hob House[1] who points out a compromise between self and society in such a way that, on the one hand, the individual gets full opportunity to develop his personality; while, on the other, the idea of social welfare is also pushed up to its highest stage.

II

Malaviyaji was socialized in a traditional orthodox brahmin family, and hence, he had developed a strong faith in Indian classics and spiritualism. Added to it, it was the 'Bhāgvad touch' in him which had the effect of humanising his administration. His father Pandit Braj Nath Vyas was a great devotee of Lord Krishna and was always absorbed in studying and preaching the gospel of srimad Bhāgvata. Pandit Malaviya had received his early education in Pandit Hardevji's Dharmopadesha Pāthshāla and Vidya Dharma Pravardhini Sabhā Pāthshāla which sowed the seeds of religion in his mind. At the College level, he had the good fortune to meet Mahāmahopādhyāya Pandit Aditya Ram Bhattacharya, Professor in Sanskrit in Muir College, Allahabad. He had a great hand in moulding the life of Pandit Madan Mohan Malaviya. All these socio-historic forces, curiously blended together, played a dominant role in evolving Malaviyaji's philosophy of education.

[1] Ahmed Zeyauddin, 'Social Philosophy of L. T. Hobhouse,' Novelty & Co., Patna, 1965, 199.

Malaviyaji read widely the Indian religious texts and agreed with ancient Law-giver Manu on his five important qualifications which earn for a man the respect of others. Among these five; the first four are wealth (वित्त), relations (वन्धु), age (वय) and good deeds (कर्म), the last in succession i.e., education (विद्या) is the highest qualification and the most time honoured value as against the wealth, which is first in succession yet the lowest in value. He himself has said:

"वित्तं वन्धुर्वय कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥"[1]

He dreamt a new kind of curriculum tought by a new kind of school. This made him to provide tentative patterns of vocational studies in which the cultivation of initiative and self-helf[2] are dominant objectives. His realistic attention was very keen to grasp the idea that the appropriate system of education for a poor country like India was one geared to its most urgent social and economic needs. Banaras Hindu University is a glorious epitome of Malaviyaji's idealism and realism. It was not just an imitation of other universities. Rather, Malaviyaji had certain distinct motives and fundamental ideals in his mind while establishing this institution. The burning desire to restore India to its past glory, the urge to combine religion with education for the purpose of developing the 'national spirit,—which was the foremost and the pressing need of the time, the necessity of reorganising the utterly disintegrated Hindu Society—all these stirred the great mind of Malaviyaji. The ashramas of ancient rishies, the forest universities, the Gurukula, the university of Takshila and, the famous seat of learning-Nalanda, all reeled in a flash before his eyes, and thus, led him to conceive the idea of a University which would revive together the best traditions of ancient Gurukulas of India and of the modern universities of the West where highest instructions in Arts, Science and Technology were anxiously

[1] Report of the Presidential Address, XXIV Indian National Congress, Lahore, Dec., 1909; The Leader Office, Allahabad, p. 13.
[2] Costle, E. B., 'Education for Self-Help,' O.U.P. Delhi, Nairobi, 1972.

being imparted. Col. J. C. Wedgewood became very profound when he overwhelmingly eulogised Mālaviyaji "as the greatest constructive statesman in India", and Banaras Hindu University "as a single individual's Creation,.........the grestest thing in Asia."[1]

During his extensive tours of the country, Mālaviyaji had the opportunity of observing the conditions in different spheres existing in the country. He felt that religion was neglected everywhere. He believed that patriotism was impossible without religion. The basis of morality and of all true patriotism was the 'unity of life', and the unity of life, in the mind of Mālaviyaji, was the essence of religion. He held that education integrated with religion alone could develop the spirit of unselfishness. This brought him to the conclusion that in order to revitalize India as a nation, it was necessary to feed her youth with the old spiritual and moral food.

Deeply attracted by the philosophies of ancient rishies of India, he devoted his whole life to serve the Motherland in a true spirit of humanity. He realized that the needs of India were among others the development of national spirit through an education founded on Indian ideals. He wished to enrich this national spirit by thought and culture of the West but at the same time he was never ready to accept any domination of the latter. Like the true ancient teachers, Mālaviyaji regarded his profession as nobler and higher than any other profession. He also recognised the filial character[2] of relationship between the teacher and the taught.

Besides these traditional agents, Mālaviyaji was inspired by the Western as well as modern elements characterized by the knowledge and cultivation of the physical sciences and their increasing application to the method of economic life. With

[1] Quoted by Joshi, S. S., in an article "A Reminescences" in Nandlal Singh (ed) 'Mahamana Malaviyaji birth Centenary Commemoration Volume,' B.H.U. Press, 1961, p. 107.

[2] Altekar, A. S., 'Education in Ancient India' Nandkishore & Bros., Bansphatak, Varanasi, 1965, p. 56.

this view in mind, Malaviyaji favoured that a university should be composed of practical faculties as those of technology, applied chemistry, agriculture and commerce. In fact, Malaviyaji wanted to produce trained talents for the development of country's vast and varied material resources and, thus, wanted to pave the way for a sound economic advancement through which the country could boldly face the international industrial struggle. It is significant to note here that in his industrial spirit, Malaviyaji was far advanced in comparison to Gandhi. It was just the manifestation of this spirit that, for the first time in India, a Technological Institute saw the light of the day in Banaras Hindu University in 1918.

Malaviyaji wanted to make education "Universal and better."[1] Illiteracy and ignorance, to him, lay really at the root of every trouble. He was sad at heart to find out that the provisions made for education were woefully short of the needs of the country. As a Karmayogi, while giving due importance to educational roles, Malaviyaji cared less for immediate moksha (Salvation). This becomes evident from the writings of Sri Jyoti Bhushan : "About ten or twelve days prior to his death, Malaviyaji, though ailing and with fever, was on his way to a village outside the limit of Kashi for addressing some religious gathering. It was then that Malaviyaji told Sri Jyoti Bhushan that in case he became seriously ill on the way, he should not be carried back to Kashi ; and when asked why, his answer was that he did not wish to die in Kashi and thus attain moksha immediately, as he wished to be reborn to complete his unfinished works in the University and his other works outside." It was this very desire which the great humanitarian Malaiviyaji expressed in :

'न मोक्षास्याकांक्षा भव-विभव-कांक्षापि च न मे · '[2]

---

[1] Report of the Thirty Third Session or Indian National Congress, Delhi, 1918 ; I.M.H. Press, Dejhi, 1919, p. 36.

[2] पद्मकांत मालवीय (संपादित), 'मालवीय जी की जीवन झलकियाँ', दिल्ली, १९६२, पृ० १०० ।

To his mind, elementary education was one foundation upon which the progress of people could be built. It was one of the most important questions which affect the well being of the people. Because the elementary education was made free and compulsory in England and Japan by 1870, had very long been compulsory in America, Germany and France, in all the civilized countries of the West, it had its indelible imprint upon the mind of Malaviyaji and he emphatically questioned the authorities: "Why should India alone be denied to the great advantages which accrue from a system of free and compulsory education ?"[1]

III

Malaviyaji's philosophy of education is co-ordinated with his conception of social welfare. Although a graphic description of a social order in the works and oral evidences of Malaviyaji is not available to us, it will be unjust on our part to maintain that a unique personality like Malaviya would have striven and struggled after nothing. Like Mahatma Gandhi, he, too, had a dream of a 'sarvodaya Samāj'. But the difference lies in means. Whereas, Gandhi tried to establish a sarvodaya samaj through 'trusteeship'; Malaviyaji, on the other hand, attempted through 'educational imperatives' to establish a society in which all enjoy happiness, all be the source of happiness to others, all see auspicious days and no one suffers any injury :

"सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःख भाग्भवेत् ॥"[2]

Malaviyaji realized the truth of ancient teaching. And it is simply for this reason that he used to test the validity and reality of his ideas in the light of the ethical disciplines of Sāstras. He felt that in order to develop true Indian nationality and

---

[1] Report of the Presidential Address, XXIV Indian National Congress, 1909, The Leader Office, Allahabad, p. 19.

[2] Quoted by Pandit Malaviyaji in his Presidential Address, XXIV Indian National Congress, Lahore, Dec. 1909 ; The Leader Office, Allahabad, p. 28.

spirituality, religion must be the part of training of every child, must be the basis of ethics, the spring of patriotism, the inspirer of ideals, the soul of self sacrifice.

He wanted to promote such a social consciousness in which every individual binds himself with the higher ideals of service in the cause of social upliftment. Malaviyaji seems to agree with Durkheim who "sees everything as rooted in a social nexus and as subserving a social need."[1] But this is not all. A noteworthy point is the ideal zeal of service which is complety free from any materialistic motto, as he says :

"न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं ना पुनर्भवम् ।
कामये दुःख तप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।"

Service to those bent with grief is, thus, a 'right desire' for which Malaviyaji definitely stands as against the 'higher aspirations' moored in materialistic colours.

The incessent love for learning brought Malaviyaji on the brink of most aired question concerned with the contemporary India's problems. It was for this 'truth', that Malaviyaji sued with politics. He was impressed by liberal ideas of England. From the study of his speeches it is quite evident that the task of revival and rebuilding of the Indian nation was undertaken by him not for the sake of India alone but in the interest of whole humanity. Certainly, because of his idealism, Malaviyaji was able to infuse a new spirit and awakening, a new dynamism in the languishing and lingering life of India at that time. His political action was all the time inspired by a lofty idealism which he never got compromised. He did not believe in the politics ever changed. He had idealogical differences even with Gandhi. Here he can best be paralleled with Sri Aurobindo, who was against any compromise "even though he had to adopt for a while an extremely drastic programme for the swift successful realization of India's pressing need of the hour."[2] He had a perfectly clear idea

---

[1] Daya Krishna, 'Social Philosophy : Past and Future', Indian Institute of Advanced study, Simla, 1969, p. 10.

[2] Gandhi, Kishore, 'Social Philosophy of Sri Aurobindo and the New Age.' Aurobindo Society, Pondichery, 1965, p. 13.

of the line on which nation building activities needed to be carried out. Addressing the students in a convocation, 14th Dec., 1929, he implied: "the responsibility to make or mar the future of India lies largely upon you. I wish to play you an honourable part in producing natural confidence, harmony and goodwill among persons and parties, agreement among whom is essential, to establish self-government in India.........Let us be determined to be just to all and fear nothing. If you do this you will deserve well of the Motherland."[1]

Malaviyaji implicitly believed in the equality of all. Equality, to him, is a postulate of the metaphysical unity of all living beings. "While loathing the present significance of that most ancient division of labour" Edgar Snow rightly opines, 'the caste system, he (Malaviyaji) believes that in its purest original form, which he hopes to see revived, it embodies certain essential varieties that have never been surpassed as the basic structure of a harmonious society."[2] It shows that Malaviyaji was very keen to revive the old form of social stratification which was prevalent in ancient time. He found it a functional division of labour which fits according to abilities and aptitudes of individuals irrespective of any ascriptive or particularistic norm.

Malaviyaji was also an internationalist and did. not believe in regional and sectarian identities. His philosophy of education transcends the boundries of geographical limitations and integrates the other philosophies. He himself has said: "I shall be a false Hindu and I shall deserve less to be a Brahmin if I desired that Hindus or Brahmins should have any unfair advantage as such over Mohammadens, Christians, or any other community in India. ......What a fall is there when we begin to think of furthering the sectarian interest of any particular class or

[1] Dhar, S. L. & Somaskandan, 'History of Banaras Hindu University', B.H.U. Press, 1966, p. 578.

[2] Edgar Snow in an article "A Tribute" in Nandlal Singh (ed) 'Mahamana Malviyaji Birth Centenary Commemoration Volume', B.H.U. Press, 1961, p. 155.

creed at the expence of those of others."[1] It clearly shows that he believed in the philosophy of 'वसुधैव कुटुम्बकम्' which conceives a global social order where everybody interacts with brotherhood, love and affection irrespective of their differentiation in socio-cultural background.

---

[1] Report of the Presidential Address, XXIV Indian National Congress ; The Leader Office, Allahabed, P. 28.

MORE THAN HALF A CENTURY AT THE BANARAS HINDU UNIVERSITY

PROF. S. S. GAIROLA,

Honorary Professor of Civil Engineering, B.H.U., Formerly Dean of the Faculty of Engineering, B.H.U.

The foundation stone of this great seat of learning was laid on Vasant Panchami of 1916. The writer of this article had the good fortune of serving under all Vice-Chancellors from Mahamana Pandit Madan Mohan Malaviya to Dr. A. C. Joshi and as an Honourary Professor of Civil Engineering under the present Vice-Chancellor.

The writer Joined the Banaras Hindu University in July 1923 as a student of I.Sc. at a very early age. Dr. Mangal Singh, the then Medical Officer in B.H U was his local guardian and with him the writer had the good luck of visiting and having the "Darshan" of Mahamana Malaviyaji and Acharya Anandshankar Bapubhai Dhruva within one week of the writer's entering the university. It was the most awesome and pleasant experience of the writer.

Acharya A. B. Dhruva was the Pro-Vice-Chancellor of the Banaras Hindu University, the Principal of the Central Hindu College, which included the Faculties of Arts and Science, and also the University Professor of Sanskrit in the University. He Presented this young boy, "Hindu Dharmni Bal Pothi" written by Acharya Dhruvaji in Gujrati for school students. Although written in Gujrati the writer could follow some parts of the book. The above will show the great affection which the learned scholars of those days in B.H.U. bestowed on young students. During the next few years the writer had the opportunity of attending the general lectures by great and learned men from all over India and also from foreign countries. The Presidential remarks by Acharya Dhruvaji were soul elevating. When the writer joined the Banaras Hindu University as an

Assistant Professor of Mechanical Engineering in 1932, Acharya Dhruvaji advised him (the writer) to work devotedly and to work hard. Acharyaji gave his own example explaining that when he was appointed a lecturer of Sanskrit in Government College, Ahmedabad, he had a teaching load (of lectures alone) of 33 periods per week. In addition to Sanskrit he had to teach English and Philosophy to I.A. and B.A. students. His early training made him a Profound scholar.

Malaviyaji on one occasion while introducing his teaching staff to Foreign Dignitory Said, "I have a devoted band of great scholars. I have no money to pay high salaries but I can certainly give my respects to all teachers".

When the writer was a student of I.Sc. he got a seat in the Engineering College Hostel, then called Hostel No. 2, and now designated Broacha Hostel. Prof. Shyama Charan De (known as De Baba) was the Chief Worden of all hostels including Engineering Hostel. Whenever Mahamana Malaviyaji was on the Campus he used to visit the hostels and if he found any student in the hostel during sports hours, he advised the student to go to the playground and on return from games wash himself, offer prayers, then have meals and after meals devote a few hours to studies. Malaviyaji would get the old dirty water pitchers changed into new ones. Whenever he could find time Mahamanaji visited the Playgrounds and Shivaji Hall to encourage the students to build up their bodies and become physically also strong. He laid great stress on hygiene and sound health to become a good student and a scholar.

Mahamanaji had great compassion for all. In this connection an incident of June 6, 1938 may be mentioned. Malaviyaji was not keeping good heealth at that time. Therefore, he went to Mussoorie for rest for a few weeks during the Summer of 1938. He stayed in "Highlands" owned by Late Shri Jyoti Bhusan Gupa. Late Shri Trilochan Pant, P.A. to Malaviyaji, Late Shri Shridhar Malaviya, grandson of Mahamanaji, and the writer were also staying with Mahamanaji. On 6th of June 1938; a very severe storm swept over Mussoorie. The intensity of the

wind blowing was so great that the G.I. sheets of the roof of a large and sturdy building in Mussoorie were thrown away 14 miles from the building. Mahamana Malaviyaji was resting in his best and the three young persons, named above, were in the kitchen. The storm caused very heavy damage to the doors and windows of "Highlands". Glass panes cracked and splinters were scattered all over the floors. Electric supply to the city failed. Mahamanaji got anxious about us and in spite of his physical alertment he walked bare footed across the rooms in darkness without caring about the broken glass splinters and enquired about our safety. He did not care about himsef but always thought of others, welfare. His creed was:

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं ना पुनर्भवम् ।
कामये दुःख तप्तानां प्राणिनां दुःख नाशनम् ।।

Mahamana Malaviyaji had been helping many poors students in all faculties from his personal funds. Thousands of examples of the great compassion which Malaviyaji had for all can be cited. It must be remembered that during those days the Vice-Chancellor, the Provice-Chancellor and the Treasurer of the University were Honorary.

Malaviyaji believed in the education of "Harijans' also. He personally gave the first lesson in the series of literary programme for Harijans. His photograph teaching Harijans is given in the Golden Jubilee Souvenir of B.H.U.

The tradition of 'Vasant Panchami Procession' to the Foundation stone of the B. H. U. is as old as the University and its sanctity shall ever remain fresh and vivid in vivid in our hearts.

The Alma Mater Song of the University मधुर मनोहर अतीव सुन्दर was composed at Gangotri by Sir Dr. S. S. Bhatnagar, F.R.S. in the Summer of 1924 and was for the first time sung at the Science Congress Session in B.H.U. in 1925.

On the 1st of January 1919, the Engineering College of the Banaras Hindu University started functioning with Professor Charles A. King as Prinncipal. The College had the blessings of

Malaviyaji. This was the first college in India producing graduate engineers in Mechanical and Electrical Engineering, which had four year sandwitch course, leading to the degree of B.Sc. (Engg.) Students were drawn from all over India. Malaviya had established a quota system for admission of students in the Engineering College from each Province and Princely State in India. Admission was on merit basis from each Province and state. Students from foreign countries were also drawn.

The writer joined the Engineering college in July 1925 and passed the final examination in April 1929. At that time it was essential for a graduate in Engineering to have a full one year's Post-Graduate Practical training in a recognised Engineering Undertaking in Private or Government sector, before a degree could be awarded at the University Convocation. The writer of this article was awarded a scholarship for Post-Graduate Practical training in the U. K. On return from the U. K., the writer was appointed Assistant Professor of Mechanical Engineering in 1932 in B.H.U.

The Engineering College, Banaras Hindu University had its own traditions. It provided trachers and Principals for most of the Engineering Colleges in India before and after Independence of the country. The syllabi of Engineering College B.H.U. became models for other Colleges.

When the British Engineers left India after the Country's independence, many people feared that there would be a vacuum in the Indian Industry, but the B.H.U. Engineering graduates accepted the challenge and manned the industries in India and kept them not only in good working order but also established new sucessful industrial vertures. Today they are at the top of engineering positions in many Government and private undertakings. Even in the U.S.A. and some other foreign countries our graduates have established fine reputations.

The Engineering College, Banaras Hindu University celebrated its College Day with grandeur and dignity. The programme started with the inspection by the Vice-Chancellor

at 8 A.M. sharp of the ceremonial College Day Parade of the staff and students of College in formation classwise in the Principal Charle A King Memorial Pavilion ground. Then the parade would march past the Hostels Road upto Malaviya Bhawan to pay homage to the founder of the University. On one of the ceremorial Parades Mahamana Malaviyaji advised the students of the Engineering College to work devotedly for the happiness and prosperity of the people. His closing remarks were :—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखाभाग्भवेत् ॥

In the evenings, dinner or tea was served to the students of the College and the College Day Guests. There were occasions when dinner covers were laid for nearly 2000 persons in Rajputana Hostel Compound.

Next day the students from different parts of India gave a variey show depicting the special songs and scenery of their respective areas. Principal C.A. King as long as he was alive personally guided and coached the students to prepare their items.

On the third day the Engineering Model Exhibition and Principal King Memorial Fine Arts Exhibition were thrown open to visitors. Students put their own inventive ideas in the preparation of Engineering Models. They worked for days in their hostel rooms and for three days before the exhibition was to open the students worked day and night in Rampur Hall to set the models in working order. It was very encouraging for the students to find Dr. V. S. Jha and also justice N. H. Bhagwati Vice-Chancellors of B.H.U. inspecting the students at work at nights.

Principal King was a great adminstrator, an excellent teacher, an actor, a fine painter, a practical engineer and an adminer of Shrimad Bhagwat Gita. Principal C.A. King took regular classes of 1st and 2nd yr. Degree students in Heat Engines and Applied Mechanics, the foundation of Engineering Sciences. He always took the first period in the morning and also after lunch in the afternoon, and never missed a single lecture class. He died in

harness in B.H.U. in May 1936. He was succeded by Professor H. P. Philpot another great scholar and teacher. On retirement of Principal H. P. Philpot, Principal M. Sengupta became the Principal of E. C., B.H.U.

It is significant to note that the old students of the Engineering College when they went out of the University, always exhibited their loyalty to the University and not only to a College.

It may be mentioned here that the "Sunday Gita lecture Series" were started in Rajputana Hostel Common room in 1932 as a congregational prayer. The first lecture of this series was delivered by Mahamana Malaviyaji and the second by Acharya A. B. Dhruvaji Later on the venue of Sunday Gita lectures was shifted to Arts College Hall and finally to Malaviya Bhawan. In this University several religious discourses were held from time to time

Sir S. Radhakrishnan took over the Vice-Chancellorship in 1939. His lectures, as is well known to all, were enchanting. This great philosopher piloted the University in the most difficult times. During the 1942 "Quit India" movement when the University was closed for several months, the Vice-Chancellor used to visit the power house in the Engineering college at nights to see that all the teachers on duty were there and alert. Sir S. Radhakrishnan often went round the hostels and also in the playgrounds.

Pandit Govind Malaviiya was elcted as the Pro-Vice Chancellor in 1947-48, when Dr. A. N. Jha was the Vice Chancelor of B.H.U. During those days the B.H.U. had its own house supplying electric energy on the University Campus. The workmen in powerhouse declared a strike. Pandit Govind Malaviya, the P.V.C., joined the students of the Engineering College in night shift duty to see that the electric supply to the campus was maintained. Pandit Govind Malaviya was elected the Vice Chancellor in 1949.

When in 1962 the Chinese invaded North-Eastern Himalayan frontier of India, the entire staff and students of the Banaras Hindu University stood solidly behind the Government of India, offering their services for the defence of the country. Students and Staff of the University assembled in military formation on the Parade ground weekly, justice N. H. Bhagwati, the Vice-Chancellor, leading the parade, at which our loyalty to the country was reaffirmed. Lectures in civil defence and first aid were delivered by experts. It was a wonderful sight when the entire B.H.U. family was prepared to sacrifice its life for the defence of the Country.

Mahamana Malaviya's Birthday Centerary was celebrated with great enthusiasm and dignity in December 1962 in the Banaras Hindu University. Pandit Jawahar Lal Nehru was the president of the Celebrations Committee and the Vice-Chancellor its Secretary. Pandit Nehru and Shri U. Nu, the then Prime Minister of Burma, delivered speeches on the occasion. Sir S. Radhakrishnan, the President of the Indian Republic, unveiled the statue of Mahamana Malaviyaji in front of the University gate.

The Banaras Hindu University is an All India Institution in the true sense of the word. Students and staff are drawn from all over India. In the Banaras Hindu University one develops the qualities of National Integration and loyalty to the Country. Old students of the Banaras Hindu University and many scholars all over the world consider the visit to the Banaras Hindu University as a pilgrimage.

YOGA AS SCIENCE

T. R. ANANTHARAMAN

Professor of Metallurgy, Director, Centre for Yoga, and Rector, Banaras Hindu University

> *"Yoga is really one of the grandest of sciences...Take up the study of this science as you would any other science of a material nature and remember there is no mystery and no danger in it."*
>
> —*Swami Vivekananda*

The discipline of Yoga is without any doubt among the oldest and most important constituents of Indian culture. Its origins seem to go back well over 5000 years to the Indus valley civilization and yet even today, as in earlier generations, it is a very live tradition in India, its votaries there outnumbering by far those of any other humanistic, scientific or technological discipline. In recent decades the theory and practice of Yoga has attracted considerable attention in the affluent Western countries. All the same, Yoga has not yet been officially included as an integral and essential part of any school or university curriculum even in India. This glaring exclusion of Yoga from all governmental instructional programmes in the land of its birth is a paradox that will need a lot of explaining. In fact, as Swami Vivekananda saw it clearly over 80 years ago even as the foundations of modern Science and Technology were being laid in the West, Yoga can well be developed as a scientific discipline and taught as such in educational institutions. And it will definitely prove to be more relevant than many of the humanistic disciplines cultivated assiduously in our Universities today.

Before examining the possible approaches to Yoga as Science, it is necessary to be clear about the definition and scope of the word Science, as also its disctinction from Tech-

nology. Among the few powerful forces that hold the key to the future of mankind, Science is perhaps the only important one that enjoys the unique position of being accepted by all, practically without exception. Even in the case of those rare individuals who seem to entertain an antipathy to Science, a casual conversation with them will bring out the fact that they are actually opposed not to Science, but to Technology which is concerned with the applications of the findings of Science to satisfy diverse human needs. The English word "Science" is derived from the Latin root "scire" which means "to know". Thus the original meaning of Science is simply "knowledge", although it is today understood in a somewhat restricted sense. The English word "Technology" is derived from the Greek root "techne" meaning "art" and is thus translated as "knowledge of the industrial art." This distinction between Science and Technology is not generally borne in mind by those who tend to dub the former as a curse on humanity.

By Science we mean today the fundamental knowledge of our world and its environment, the controlled and steady pursuit of that knowledge in all its aspects, without necessarily any desire to use it for public ends. And by Technology we refer to the numerous ways of pressing Science into human service, the concentrated study of the ways in which things may be made or changed for human ends. To make a concrete differentiation between the two one can cite examples from the presently highly popular fields of nuclear science and technology. It is Science here when measurements are made of the number and nature of particles emitted in the break-up or fission of the nucleus of the heavy metallic element uranium. It is, however, Technology when this scientific knowledge is used either to design and build an atomic power station for generating electricity or to design and make an atomic bomb. As such, it is Technology which acquires ethical overtones and can be labelled as moral or immoral. Science is neutral or a-moral and can never be opposed to ethics or human welfare, although a scientist as a human being and technologist can be.

Spirituality is another word that is relevant to our discussion of Yoga as Science. This word is yet to find acceptance as a popular idiom in the English language, although it is increasingly used in philosophical, inter-religious and even socio-political forums, thanks to the strong and eloquent advocacy of the concept underlying it by two of India's great sons in recent times, Sri Aurobindo and Acharya Vinoba. Spirituality refers naturallly to the quality of *spirit*, as opposed to that of *matter*. The relevant Latin root here is "spirare" meaning "to breathe". Spirit is the very breath of life and Spirituality may thus be taken to connote fundamental qualities deeper than those of the body, mind or intellect. According to Vinoba, genuine Spirituality begins where Science based only on the intellect comes to an end and it will never contradict Science. In going beyond the intellect, Spirituality inevitably poses some problems in comprehension and communication at the intellectual level. All the same, it is generally conceded that the assimilation of spiritual knowledge gets reflected in the human personality in several tangible ways through awareness of and sensitivity to every thing in creation, through love and understanding for others and through service of all without exception. In Aurobindo's words, "Spirituality is in its essence an awakening to the inner reality of our being, to a spirit, self, soul which is other than our mind, life and body......and a turning, a conversion, a transformation of our whole being as a result of the aspiration, the contact, the union, a growth or waking into a new becoming or new being, a new self, a new nature."

Science and Spirituality are generally dealt with as separate entities and hence the so-called conflict between them as well as the great need for their integration has formed the theme of many a conference or seminar in recent decades. The author himself participated in 1963 in an All-India Seminar jointly sponsored in Patna by the World Union and Sarva Seva Sangh "to explore a keynote of the new age, the creative collaboration of Science and Spirituality". In a message to this

Seminar the Mother at Sri Aurobindo Ashram said, "Do not divide what is one. Both Science and Spirituality have the same goal—the Supreme Divinity. The only difference between them is that the latter knows it and the other not." While sending his good wishes to this Seminar Prime Minister Nehru wrote: "The future of the world is tied up with the growth of Science, and life becomes more and more dependent on Science. At the same time, life with Science only as its guide and without a spiritual basis is very likely to lead to disaster for humanity". In an interview shortly after this Seminar Acharya Vinoba conveyed his views as follows: "To me Science is equal to Spirituality. One is more concerned with the *outer* aspect of the world; the other with the *inner* aspect, and both combined will give us *the whole world in ourselves*". As he later put it in a different way, "Science has force, speed and action, but *no direction*". Obviously this direction has to be imparted by Spirituality. The unanimous view of the Patna Seminar was expressed unambiguously in the following words: "Although in popular view Science refers to the knowledge of the outer world and Spirituality to the knowledge of man's Spirit or Self, this Seminar is of the considered view that knowledge is one and indivisible. Science has to be understood in its original meaning of "knowledge", and as such must include both knowledge of the outer world and of man's own nature. The spectrum of Truth has to be recognised as extending on the one hand into the sensory world, which has been the chief concern of the scientist so far, and on the other hand into the world of Spirit. The unwavering pursuit of Science in this sense, and the cultivation of the scientific spirit or approach, even with regard to the study of the nature of man, provides, in the view of this Seminar, the only antidote to the maladies affecting mankind today".

Can Yoga be considered Science as defined by the Patna Seminar? As every one knows, the word Yoga is derived from the Sanskrit word "yuj" meaning "to unite", "to combine" or "to integrate" and thus may be considered to refer to a

"state of union or integration". Yoga is widely understood as the union of the individual soul with the cosmic, divine or supreme soul, that constitutes the ultimate fulfilment of man. Yoga has also been interpreted as the ultimate integration of the human personality or as the onset of the brightest spiritual illumination or as the attainment of the highest level in consciousness or even as the end-point of the evolutionary process. The ways, methods and practices adopted consciously by the votaries of Yoga to attain this highest possible objective or even intermediate goals have also come to be referred to as Yoga and as such we are concerned today in the Yoga tradition with *a transcendental goal* as well as *countless ways leading towards this goal.* Yoga may thus be approached as a theoretical and applied Science of Man in Depth or as a Science of Conscious Evolution or as a Science of Human Possibilities. It will touch upon many diverse areas of study and research of today like Anatomy, General and Neuro-Physiology, Biology and Medicine, Psychology and Psychiatry, Physical Education, Philosophy, Metaphysics etc. Whatever may be the connotation we give to the Science of Yoga, it will have to be dealt with as a unique discipline encompassing matter, life and consciousness in one sweep and merging Science as it is narrowly understood today with Spirituality.

Until recently, the physical and natural sciences, even biology and medicine, have dealt with matter and energy on the one hand and mind and consciousness on the other as two separate realms of study, forever rigidly compartmentalized with a seemingly insurmountable barrier between them. Modern Physics has perhaps come some way from this traditional standpoint following the development of the quantum theory and the recent findings of biophysics. Neurophysiology and depth psychology are slowly coming to grip with the fascinating complex of the brain and the nervous system and it looks as though Science will leave some of its earlier rigidities and inhibitions behind and evolve a unified approach to Man and Nature. Such an approach is the *sine quo non* of the Science of Yoga.

From the earliest times the regular and systematic practice of some physico-psychological yogic exercises has been claimed in India to lead to an expansion of human consciousness and the emergence of a superior or higher mode of cognition. Besides inference based on sensory observation and the testimony of other individuals, direct cognition or spiritual illumination has been recognized in the Yoga tradition as a third source of knowledge. In the well-known Yoga Sutras of Patanjali, which are perhaps over 2000 years old and may be considered to constitute the foundation of the Science of Yoga, we have the following two remarkable statements on the nature of the higher knowledge attained in Samadhi experience by advanced Yogis:

Ṛtambharā tatra Prajñā (I.48)

The illumination here (in the higher states of Samādhi) is Truth-bearing.

Śrutānumāna-prajñābhyām anya-viṣāyā viśeṣṣārthatvāt (I. 49)

This direct knowledge (obtained in the higher states of Samādhi) is different from the knowledge derived from inference and testimony in that the former pertains to the unique and the particular.

These two statements have been interpreted in many different ways down the centuries, but there has been universal agreement on the availability of a higher, surer, more vivid and less fragmented knowledge than the normal one to advanced practitioners of Yoga. The communication of such subjective knowledge at the intellectual level will naturally pose problems and have to be approached with caution and circumspection.

Knowledge in Yoga will thus be based on *both* objective, intellectual study and subjective, intuitive experience. As hinted earlier, the latter is not ideally suited for unambiguous intellectual communication. Difficulties will arise not only because of its transcendental character, but also because of the unique nature and personality of every individual.

An analysis of possible human experiences shows easily that they pertain to the physical, the emotional, the intellectual and also the spiritual levels. They become increasingly complex and subtle as they comprehend a higher level or an increasing number of levels. A dialogue on or a discussion of human experiences generally takes place at the intellectual level and there is no difficulty in communicating to others experiences at this level or the lower levels. When the spiritual or the fourth level is involved, we have, so to say, *to bring them down or adapt them* to the intellectual or the third level for purposes of communication to others. One has perhaps to concede the possibility of *more than one* adaptation for such communications, exactly as there are many ways of representing a three-dimensional object in two dimensions. As students of solid geometry know, no two-dimensional drawing can fully represent a three-dimensional object, although each of the various possible representations is faithful and true to the original. The intellectual descriptions of spiritual experiences transcending the intellect may thus display variety without any being unfaithful to or wholly representative of the concerned experience. When this rather special point about the Science of Yoga is grasped, there will be a gradual end to the so-called conflicts between the findings of modern Science and the teachings of traditional Yoga. The practising Yogi will also then shed his disinclination, if any, in facing the facts of Science that are mostly obtained through experiences in the first three levels of human personality. The professional scientist will likewise shed his reluctance, if any, in discussing the fourth-level experiences of mystics at the level of the intellect.

Yoga as Science will naturally have to be dealt with on a global basis, openly as well as objectively. This has unfortunately not always been the case so far. As Aurobindo rightly put it, "Science is a thing common to all men in its conclusions, open to all in its methods, available to all in its results; it is international in its very nature; there can be no such thing as a national science, but only the nations' contributions to the

work and growth of Science, which are the indivisible inheritance of all humanity". Indians may well derive satisfaction from the fact that India has been the *special* home of Yoga for some millennia, but Yoga as Science should belong to all humanity'. The Tibetan Lama, the Japanese Zen and the Sufi mystic traditions deserve as much one's study today as Kundalini Yoga, Anasakti Yoga or Integral Yoga, And the scientific method has to be applied equally fearlessly to the pronouncements of all mystics and saints, irrespective of their nationality or social status or the nature of their following. Neither secrecy nor dogmatism should any more be permitted to pollute the tradition of Yoga.

The fact that Yoga has not until recently been dealt with like the other modern scientific disciplines is perhaps not altogether surprising. Many branches of Science and Technology had their origins thousands of years ago as arts or techniques or empirical concepts, but have been subjected only during the last century or more to the scientific methods of experiment and observation, systematisation and inference, verification and confirmation. As a professional scientist-technologist concerned with the study and applications of metals and alloys, the author can point out in this regard to the development of metallurgy as a science and science-based technology in recent decades. Metals like gold, silver, copper, iron, lead and zinc have been known and used by Man for thousands of years. These were extracted from ores, converted to alloys, cast into different shapes and even fabricated as tools and ornaments in ancient times by methods of trial and error or through accidental discoveries. The scientific basis of metal extraction, alloying and metal working has been well established only in the course of the last two hundred years, particularly during the last few decades. New concepts had to be developed as well as tested and new instruments like the Optical Microscope, the X-ray Camera and the Electron Microscope had to be conceived as well as fabricated to provide a sound scientific basis for old metallurgical processes and to improve as well as extend them for newer scientific-

technological breakthroughs in the field of metallurgy. The Science of Yoga stands today where the Science of Metals stood perhaps a century ago. As the pioneer in Yoga practice, India could well have been the pioneer in further developing and modernizing the Science of Yoga, but, as in so many other branches of Science and Technology, India seems unfortunately to wait for some developments in Western countries before embarking on its own studies and experiments, as it has done in most other disciplines so far.

Just as metallurgy acquired a new personality and expanded its scope rapidly by becoming a Science, Yoga will also in the coming years gain a great deal and grow in scope by the application of scientific methods and techniques. Although systematic and comprehensive researches in the field of Yoga are still in their infancy and may well require more sophisticated, subtle and sensitive instruments than in case of physical or material sciences to register significant breakthroughs, the few results already available in the area of physical and mental health of Man justify guarded optimism as regards the success of scientific methods in this area of knowledge as well. The developing Science of Yoga will doubtless lead to the birth of a Technology of its own with perhaps more awesome possibilities and more mighty challenges than the technologies based on other highly developed sciences. There is no going back, however, on that account. Man with his indomitable spirit should face this prospect with courage, confidence and calmness.

Looking into the immediate future one can identify the areas where the ancient tradition of Yoga stands to gain substantially by the application of modern scientific techniques and methods. A systematic, critical, and yet sympathetic study in depth of all available transcendental experiences recorded by individuals in different ages, different cultures and different languages will first provide a large volume of subjective evidence amenable to objective analysis on a truly global scale and in the right historic perspective. The cobwebs of superstition, the dust of prejudices, the darkness of ignorance and bigotry, the over-

growths of meaningless rituals and the stifling air of mystery and black magic can then be got rid of once and for all from the great and noble edifice of Yoga. This will be the first and immediate gain. As Matter and Spirit on the one hand and Science and Spirituality on the other, are more widely accepted as inter-related and as sharing things in common, striking similarities between natural and spiritual phenomena will inevitably be uncovered and get recorded in modern scientific phraseology, thus bridging gradually today's gulf between physical and natural Sciences and the Science of Yoga. This will be the second big step that will take the theory and practice of Yoga quite close to modern scientific disciplines. Overcoming today's reluctance to study Man in his totality, i.e., his body, mind *and* consciousness as an integral whole, the scientist of tomorrow will start looking for measurable or detectable changes in the mental, vital and physical levels in Man caused by transcendental Yogic experiences like Samādhi. He will then conceive of, design, build and operate highly sophisticated instruments to record the more subtle of these changes quantitatively. This will be the third big leap forward that will give Yoga its rightful and honoured place in the world of Science.

YOGA : THE MECHANICS OF CONSCIOUSNESS

Dr. RAMA KANT PANDEY

The vast coglomeration of the objects around us, from tiny atoms to the magnitudinous metagalaxies, is the play and display of the cosmic force-field. The whole manifest creation is just an outcome of the soft stir of the unmanifest. The knower, be he a scientist or a seer, projects his perception on the objects, the reflection of which is recorded as knowledge. This reflection depends on the purity of perceptual organs which, in turn, is a dependent variable of the degree of individual's alertness. Thus, the knowledge of the phenomenal world ultimately reduces to the state of consciousness. Higher the state of consciousness clearer is the conceptual cognition and deeper is the access to knowledge. Vedic sages have put it in bold words :

Yō jāğārah taṃ ṛçā kāmayanté.
Tasmin devah adhiviśwé nisedhuh.
Yaśçanna véda kiṃ ṛçā kariṣyati ?

[Knowledge comes to those who are wide awake. In that state the effulgent light dwells. For those who know it not, what the knowledge will do ?]

Yoga is the supreme knowledge of divine reality. It is supreme in the sense that in the process of gaining knowledge through yoga the subject and his evaluation of the object both are raised to their apex value of infinity. Yoga combines the subtlest substratum of the boundless with the expressed surface layers of the boundaries, it unifies the 'small still voice' within an individual with the grand melody of the cosmic symphony and, to cap it all, it glorifies the charm of the absolute with the grace of the eternity. Yoga refers to a state of mind where all its vibrational characteristics and undulatory tendencies ebb out into the supramental essence of undifferentiated continuum. It is not a bundle of abstract theorization or a

mere rigmarole of words or even a dogmatic adherence to certain doctrins preaching one's petty or pet ideas. On the contrary, the principles of yoga are based on the adamantine and universal bed-rock of direct experience. This wisdom flows from the tower of sapience of ancient Indian seers who, in their fine moments of jubilant ecstasy, have rolled down the dazzling nuggets of truth that remain untarnished by the dust of time. It is a technique of driving the mental forces down into the unfathomable sea of blissful consciousness. Not unlike any practical technique yogic methodology entails the law of least action and imbibes the spirit of doing less and accomplishing more. Yoga opens our awareness to the pure field of divine brilliance and, as a result, human mind gains the ability for better appreciation of the environment and acquires a fillip to jump into effective action. Effective action forms the basis of better achievement which ultimately leads to fulfilment. Thus, yoga paves the way for the fulfilment of life and eliminates suffering in a most natural and effcacious manner.

Yoga : The Science of Consiousness

Yoga is a science of internal states of myriad mental events. It is a science in the true sense of the term. Every science takes recourse to the process of observations which are systematically verified by repeatable experiments and at last generalised to draw universal conclusions. There is nothing mysterious or secret about yoga. Any sort of mystery-mongering or dwelling upon hideous manipulations makes our mind weak and crippled whereas yoga firmly holds that this science can never be grasped by a feeble mind, nor by any amount of dense veribiage, nor by hearing alone, nor even by intellectual gymnastics. In fact, it is the science of soul which requires a constant probing into the internal world, a sustained suspension of outer distractions and an honest practice to validate the personal experiences in the light of one's own supervision. Just as merely going through big volumes of books on

swimming will not make a swimmer, only reading authentic commentaries on yoga or listenting to a learned master alone will not do. One has to be courageous enough to muster strength and take a plunge into the bottomless, roaring ocean of mind and get deep down to pick up the pearls of eternal truth. Once the intermittent experiences get stabilized into permanent attitudes, the tremendous power of the unmanifest finds spontaneous expression in our wordly actions. It is for the enhancement of our activities in the relative field of life that yoga lays utmost emphasis on keeping in perpetual touch with the absolute bliss-consciousness. Here, more than anywhere else, it is true that an ounce of experience is better than tons of intellectual exercises. Yoga is a perfectly delineated and logically formulated method of psychodynamics deemed necessary for individual soul to move into the realm of the cosmic consicousness. While going ahead on the path of yoga, not only our nervous system is purified, but also the dusty cobwebs of ratiocinative doubts are automatically cleared away. During the process of gaining experiential momentum the dark patches of ignorance are gradually removed giving way to the full blaze of resplendent reality. Like any other science, yoga has its own methodclogy which must be strictly followed by any seeker of truth. Centuries of testable results have proved it, beyond doubt, that the technique of yoga is based on a practical knowledge of universal application. Physical sciences begin from the observation of the objective phenomena and aim at finding a sense of coherence and conformity in the world of chaos and confusion. Yoga, on the other hand, starts from an introspection into the vast panorama of subjective space teeming with psychophysical events, with a view to lead our vascillating mind from a state of jarring perplexity to that of profound peace and harmony. Delving deep into the mysterious forces of nature and rendering them serviceable to the mankind is the innate motive of material sciences whereas yoga aspires to unfold the full potential of human mind and holds the inner fulfilment of humanity at large as its foremost end. Apart from accelerating the growth

of human evolution yoga dissolves the dichotomy between matter and spirit and reveals the unambiguous unity between the two in its supra-intellectual, ultramystic strokes.

It is in the fitness of things that science treats the subjective approach of gaining knowledge as treacherous and unreliable and makes a headway to attain an irrevocable system of explaining the natural phenomena. Subjective means of gaining knowledge, on the other hand, finds the scientific interpretations as dull, inspid and inappropriate to deal with the things throbbing with life. It is undeniably true that for knowledge to be useful and fulfilling it must be based on certain non-variable and reliable methods. In fact, in a gentle stroke of pen or pestil, the artist can put forth the glory of infinity and, in a single flash of observation, the scientist can whisper the song of eternity being incessantly revealed in the rising ripples of relativity. But paradoxically, none of them does any justice to the totality of existence. Their views being parochial and prejudiced, they give vent only to the fragmentary and distorted pictures of reality as they express not the total value of the observables but just a few aspects of them. It is no wonder then that science suffers from the stubborn and persistent malady of relativity whereas the art is afflicted with the hazy and bizarre outlook. As matters stand, it is impossible to explore the totality of objective reality by scientific methods of intellectual analysis. The present day physics faces the impenetrable barrier of uncertainty principle which puts a limit to the precision of determining simultaneously the exact value of velocity and momentum of the nuclear particles. On the other side, artistic appreciation of nature by direct subjective perception is obstructed by certain limitations on our aesthetic sensibility. The parameters of human susceptibility and sensitivity rest entirely on the level of consciousness. If our conscious mind is narrow, turbulent and ruffled, it cannot mirror the true image of the subtle natural events.

The practical application of yoga removes these limitations of human mind by expanding our consciousness to its fullest extent. Through frequent contact with the pure, unbounded consciousness and then, swinging back to the boundaries, the flexibility of mind increases which, at last, culminates into opening our awareness to the entire range of objective reality. Yoga tells us the technique as to how one can get stabilized in the state of cosmic consciousness which is the state of an unpolluted, unbounded and non-variable subjectivity. Thus, yoga provides a non-changing, steady and boundless background in which the infinite celestial value of the objects of perception shine on the surface of the boundaries. When the mind expands to the level of super consciousness the objective reality fuses with the integral mental construction, the mind-born differences between the material objects and their subjective cognition, merge into a single whole and the knower and the objects of knowledge become one and the same. It is evident, therefore, that yoga reveals the ultimate truth by enriching all the aspects of the individual and the environment by raising both of them to their supreme value.

Unless the process of knowing brings about a harmonious blending between the knower and the object of knowledge, and until a lively connection is established between the two, the thirst for knowledge can never be quenched. Yoga promotes the process of purification of the knower thereby raising his evaluation of the object to its highest point, where he cognizes the subtlest stratum of the object along with its surface level. Thus, he becomes aware of the vertical as well as the horizontal layers of objective reality which are spontaneously structured on the non-variable state of transcendental consciousness. If the knower's consciousness attains perfect purity, the projection of his perception on the object meets no obstacle to cast any shadow of uncertainty and the knowledge in this case is said to be comprehensive and complete. Only complete knowledge is fulfilling which infuses in the seeker of knowledge a sense of absolute freedom and makes him unbending and

invincible. Yoga offers an opportunity to get in tune with the highest octaves of complete knowledge of the ubiquitous reality which flowers into benign fulfilment.

Man alone in all the creation is endowed with a will to peep into the abstract, with a tendency to go beyond himself and with a power to transform his individuality into impersonality All other creatures, right below man, keep contented with their urge of stomach and gross sensual desires. They do not find any utility in looking beyond their nose, be it a twinkling star in the sky or a fragrant morning-glroy in the garden. Man has been given the gift of intellect not only to probe the mysteries of nature but also to look within himself and descend into the ineffable depth of everlasting charm. As a man of science, he tries to explore the whole range of the cosmos, from vacuum of the little microparticles to the vast plenum of pulsars and quasars. As a man of arts, he transmits the indistinct tune of eternity through soft impulse of sound and gentle flash of colour. But in spite of his best efforts, the scientist fails to present the unique and exact formulation of the objective world and the artist fumbles in expressing the intricacies of the creation in a genuine and unambiguous way. Each of them feels, there is something hideous, something mysterious and supersensual before which they feel constrained to bow. Quantum mechanics tells us that there are layers within the layers of existence *ad infinitum* which can never be explored in toto by scientific experimentation or logical deductions. The whole universe is an open system governed by innumerable variables. When we consider certain secluded and closed systems we, no doubt, put out a lot of them but, then, some hidden variables bring in the unpredictability in the quantum processes. The scientist accepts, in all humility, that the ultimate nature of things, even when viewed through the finest instruments and analysed by the sharpest intellct, remains dubious and dark. The artists, infleunced by superficial impressions and unable to dig out the weeds of conceptual distortions, fall a poor victim to the fanciful unrealities. They are satisfied with a sort of shoddy

substitute for the transparent truth and their attempts to grasp the intangible grace of nature ends in smoke. The ancient seers have fitfully noted that this type of illusion is quite pardonable in situations where mind sinks by its own weighty reasons and the heart is smeared with the dust of wild fancies and pallid visions. Therefore, knowledge gained by means of mere objective analysis or by sheer subjective contemplation will never be complete and fulfilling. They keep the human mind far from achieving the final goal of education. Yoga in its delicate psychical operation carries our mind suavely beyond the intellect and cultures our heart putting them at the zenith of perfection whence to appreciate the pageant of cosmic exuberance. Yoga enriches both the mental and the material aspects of life and brings a happy union between the emotional exaltation and the intellecual enlightenment.

***Yoga* : *The Quelling of Mind-waves* :**

Depending upon the different degrees of aptitude and attitude of an individual, yoga has been defined in a number of ways referring to the process of synthesis in various fields of activity viz., the union between the matter and mind, the merger of mind into the spirit and the total absorption of the individual soul into the universal soul. However, it must be borne in mind that the real meaning of yoga should not be lost in unclear notions or a haze of vague thoughts. It often happens in the history of human thought that the intended meaning of some pregnant terms is mistaken for their accepted meaning which not only makes an accurate transmission of true idea impossible but also gives rise to grave problems of baffling obsucurity. To pretend to understand yoga by academic deliberations, discussions or argumentations is to put on mental blinkers or at best to linger in a state of wishful complacency. That is why some people suppose that yoga is mere acrobatics or just intellectual mood-making. Standing on the head, twisting of the spine and numerous body postures are only an insignificant part of yoga. Some are siezed even with the

fantastic idea of self-torture-sleeping on the nails, swallowing glass pieces, drinking acid or burying onself underground-as yoga. Far beyond all these jugglaries and miracles, away from hedonism, paganism, palamistry or astrology, yoga standas as a unique science of self-culture based on the experiential verification and universal application for the total transofmation of human personality. It may be applied within or beyond any religious framework. It is a mechanics of consciousness that laps into its wide sweep the believer and the non-believer alike and carries them far off from the world of boundaries and limitations to the unbounded space of supreme bliss. The aim of yoga is to strike a balance between mind and matter and later, in one's own being, between the different levels of his physical, psychological, intellectual and spiritual set-up. The more one approximates to the unitary forces of nature ranging from the external transient objects to the enduring internal subjectivity, the more nearer he andvances to the holistic precinct of yoga. Once he becomes aware of the mysterious wholeness of life and learns the technique of psychological adjustment with what is really real, external joy dawns on his still consciousness and he radiates happiness, love and grace all around. The whole existence becomes a lake of bliss for the yogi and he experiences an unspeakable ecstasy rising in every wave of his mind. Serene tranquillity and supreme delight become a living reality for such a man of expanded consciousness. Yoga claims that by meditative introversion any man under the sun can get the dimness and darkness of ontological illusions dissolved in the unquivering glow of his inner divine light.

The great seer Pātanjali has defined yoga as the quelling of mind-waves. In his yogic aphorisms he has mentioned "yōgah çittavṛtti nirōdhah"—yoga is restraint of çitta-vṛttis. It is worth the point to go deeper into its meaning. In order to understand the nature of *çitta* we have to analyse the procss of perception. Every object, soft as a rose or hard as a granite rock, that comes within the ambit of our sense-experience, is invariably associated with a corresponding act of thought. An

objcct is just a shadow of our sense-impressions on the screen of awarness. What happens, for example, when we see a rose ? The photons from the sun falling on its petals are reflected by them and strike our retina. The stimulations produced in the fibrous tissues of the retina are propagated as commotions through the optic nerves and the impressions are passed on to the back of the brain. There, the part of the brain, called cerebral cortex, registers the vibrational pattern of the interaction between the retina and the photons hitting the complex atomic structure of the retinal cells. The mind further presents these impressions to the determinative faculy—*buddhi* (intellect)—which analyses and sorts out the details of the sense reports. Intellect reacts to these external stimuli transmitted to the brain through the triple cooperation of the organ, the nervous system and the mind. In the reactions of the intellect sprouts the seed of egoism. The finer conflux of these actions and reactions are finally scanned by the *puruṣ* (soul) who perceives the end-all attributes of the object and we become aware of the external reality in terms of terminal subjectivity. According to yogic classification the organs (*indriyās*) lower mind (*manas*) determinative faculty (*buddhi*) and egoism (*ahankār*) all these factors combined together are called *antahkaraṇa* (internal equipment). These different steps of cognition are but the various denominators of *çitta*—or the mind-stuff. The tendency of *çitta* finds experession in the creation of thought-waves which is known as *vṛtti*. Every event in the external world impinging on the mind-stuff sets in motion the minute scintillations and a train of imperceivable vibrations comes into being which is cognizable as thought on the surface level of consciousness. Any form of thought, however tenuous, is strong enough to ensnare our awakening consciousness in its complex nexus. Human mind is tossed about in the turbulence of outer physical actions and mental reactions thereof and gets lost in the mist of hazy thoughts. Yoga addresses the subjective response to the undisturbed calm of the absolute stillness. In order to achieve this goal an attenuation of impressions and

the refinement of thoughts is the prime requirement. Yoga provides a direct method to subdue the senses when thoughts are completely calmed down or, at least, they remain no longer rampant.

In the light of its distinct functional activities the mind is compartmentalised, as it were, into different chambers. The sensations received by the body are transmitted through the senses onward to the mind which further transfers the sense-data to the discriminative faculty—the intellect. The lamentable part of the ego is that it takes the intellectual analysis of the sense-impressions as final and produces the seeds of illusion that grow into ignorance and become in, the long run, the cause of suffering. Yoga is a means to reveal the wholeness of life within and without and thus finds the limited view of reality, illuminated by the bull's-eye-lantern of intellect, not only useless but also detrimental to the full evolution of human consciousness. Intellect, no doubt, as an instrument of proof clothes our decisions in the mantle of logic and convincing rationality but ultimately it makes us understand that all is incomprehensible. Therefore, yoga strives to take us out of the prison of reason into the wider field of non-dualistic freedom. The range of intellect keeps us confined to the limited domain of the opposites and our mind, engaged in the dual nature of things, abstains itself from going beyond the realm of the lower self. When thoughts are allowed to gradually die out, intellectual judgements are automatically suspended and the higher self is clearly reflected in the calm lake of the quietened mind. Yoga points its fingers towards something transcending the intellect where the individuated nodality of smaller being coalesces into the absolute being, where the self merges into the Self and I-ness fuses into the He-ness.

The two fundamental abstract bases of the mind are known as *mahattattva* (pure I-nss) and *ahaṃtattva* (doer I or ego) The first mental stratum manifests itself as the undefined existence of mind and the other is expressed as the part of mind

employed in performing action. Every physical object being in a state of continuous vibration emanates a particular wave-pattern which is received by the *citta* on the same wavelength and it plays the role of a subjective action for the outer substantiality. In that event, *citta* assumes the shape of internal physicality becoming, in turn, an object for the ego or *ahamatattva*. Here, we see that *citta* may rightly be deemed as the objective mind and the ego as its witnessing subject. But the *ahaṃtattva* itself gets involved with the mental constructs transferred by çitta and is further watched by the *mahattattva*. The impressions processed by the *mahattattva* are finally validated by the integrated mind consisting of the three fundamental strata of mental functioning (viz. *mahat*, *ahaṃ* and *çitta*) which is termed as *puruṣa* or unit conscousness. The supreme subjectivity or the ultimate reality is boxed up in this transcendental unit consciiusness. Following the technique laid down by yoga we can bring our awarness to this state of consciousness by the cessation of mental fluctuation which is the net resultant of thought-waves. It is only then that the duality is dissolved in the unified absolute and the differences are healed in undifferentiated wholeness. This state of affairs is variously depicted in the symbolic language of Vedas and early Upaniśads. *Udvayaṃ tamasaspari, swah paśyanti uttaraṃ* (rising above the darkness we see the divine light of the soul), *Budhisça na viçestati* (when the intellect itself does not flicker) *Sthirām indriya dhāranam* (a steady suspension of sense distractions) etc. are some diverse versions of the same truth that roughly describe the unspeakable glory of divine consciousness.

By gradual quietening of the thought impulses we descend below the surface level of consciousness down into the depth of unruffled ocean of pure awarness and get a glimpse of the inexpressible charm of the unmanifest. It is only in the state of internal coherence and from the citadel of unstirred silence that we hear the melody of the infinite being played on the

flute of time. Our body and mind are two inter-dependent entities. When the mind is stilled there is a corresponding bodily reaction as ther is always a physiological correlate to every mental activity. When the body gets deep rest, the stresses and strains, accumulated in our nervous system by our past fretful activites, are subsequently released. The release of stresses not only removes the foreign matter that blocks the flow of psychic current but also simultaneously purifies our nervous system and makes it more flexible, thereby, enabling it to adjust more efficiently with the environment. Thus yoga presents a practical aspect of contacting the deeper levels of consciouness and induces higher degree of adaptability in our nervous system. Consequently, it unfolds our full mental and biological potential. This results in inner enrichment, enlivening the frayed-up nerves and instilling in our mind unfading freshness, tremendous vigour and mercurial vitality. Dwelling on the finer levels of thought, the mind moves towards the intense glow of greater charm like a moth and at last gets lost into the dazzling light of supreme bliss-consciousness. Regular practice of yoga softens our brain-waves, synchronizing them into a smooth pattern which culminates into a perfect resonance between our biological rhythm and the cosmic pulsation. Lord Krishna has rightly referred to this situation as '*samattva*' (balance of mind) which is a synonym for yoga. After attaining to this state, the sharp differentiation between the pairs of the opposites spontanously evaporates and we get established in yoga. In fact, the primary object of yoga is to prepare a man to take a dive in the abyss of his own being in order to keep him in tune wih the cosmic wavelength in a gentle and certain way.

Yoga : Skill in Action

In Gīta, the song of divinity, Lord Krishna has driven the fact home that yoga is not just getting tied to the noose of illusion or a state of hibernation in abstract inanity. Yoga, on the contrary, is a process of conversion of the tremendous poten-

tial derived from the unmanifest into the dynamism of action in the relative field of existence. Gita categorically states that skill in action is yoga-'*yogah karmaśu. kauśalam*'. From the peripheral point of view it may sound paradoxical as to how yoga which, in essence, stands for an indistinguishable merger with the absolute silence can, in any way, add to our worldly activity. But a deeper view brings it to light that yoga, which appears to be incompatiable with the *karm a*, is in reality *fons et origin* of all sensible and successful actions. A dip in the inner silence enhances our perceptual ability which is a must for any right and precise action. Our normal daily activities, in point of fact, belong to the horizontal plane of life whereas the unseen evolutionary forces emerging from the depth of divine stillness form the vertical layers of life. Not much unlike the energy levels of an atomic spectrum every vertical level is associated with a number of horizontal levels. Yoga lays emphasis on the vertical penetration down into the transquantum state of creative intelligence leaving us assured that the horizontal levels of surface activities will take care of themselves exactly in accordance with the natural trend of evolution.

Every action is an outcome of our mental input into what we have at heart. If the mind is not at its highest potential we cannot offer maximum momentum to our motivations. Consequently, our actions will be ineffective and the results are bound to be inadequate. Yoga tells us in unequivocal terms that, first, one should get established in the subtle field of superconsciousness and then jump into gross phases of activity with clear insight and full vigour. In the expanded state of mind we are equipped with a better sense of appreciation of the individual and the enrironmental factors which determine the functional parmeters of dexterity in action delivering the crowning achievement. With increased perceptual ability and a powerful motive force we work out the finer details of the problems and look well before we leap. Obviously, we hit the target at the right point with unfailing certainty and our actions are bound to bear fruitful results. The unbroken

inward absorption into the absolute is the fountain-head of lasting contentment which sustains us in a balanced state of mind in all possible circumstances of truimph or disappointment. Yoga sets forth the mechanics of effective action through which we not only execute our plans in right earnest with the least effort but also rise above the petty complexities and agonizing trivialities of life.

Having emphasized the fact that 'there is no freedom from action but there is freedom in action' Lord Krishna asserts, with prophetic vision, to perform actions with profound skill. It is only the men of benighted wisdom who think to shirk from action under the spell of neurotic self-abasement. The seeds of *karma* are rooted so deep within us that our very existence is inextricably interwoven with the gossamer of their invisible hairs. The impulse of *karma* is linked with the prānic vibrations in an untearable fashion and it is hardly possible to dissociate one from the other. Yoga suggests the way to rise above them by bringing our mind back to the unmanifest field of 'being' where the question of ought or nought automatically drops out. Just as in order to remove darkness we have to bring in light, to get rid of the effects of *karma* we have to remain in constant touch with the absolute bliss-consciousness. Thus, it is possible to glorify the whole range of action by stabilizing our mind in the state of no-action. Skill in action lies in the technique to reduce our external sense-activities to nil by transcending the boundaries of thought, getting our mind established in the state of least excitation and to start action from the point of zero perturbation.

The state of no-action does not mean inertia of rest or inaction but a state of self-sustained dynamism which begets no opposition. No-action is a serene detatchment which entails the tendency neither to oppose nor to give way but to be resilient like a reed swaying in the balmy breeze. The pliancy of mind keeps us away from the excitement over success, or, depression against failure and we remain untouched by the oddities of

action. To enjoy the fruits of action, good or bad, and yet to be unaffected by the binding influences of action is the basic theme of yoga. This happens spontaneously when, through regular practice of yoga the cosmic consciousness becomes a steady and inalienable feature of our conscious mind. Thus, yoga not only eleminates the dragging influences of action on human endeavour but also offers the method that leads mankind from bondage to freedom adding grace and dignity to every aspect of life. Actions or their eventual effects are not in themselves the cause of grief or bondage. It is the inability of the human mind to embrace the eternal freedom flowing from the divine consciousness that results in bondage and suffering. If our mind is weak, simple problems defy an easy solution which in turn produce negative impressions that further enfeeble the mind and erode its vitality. The desire for gain serves as the basic incentive to action but when we incur any loss of any kind our mind is adversely affected . This generates some grave impressions that shape themselves, on the surface of mind, as a desire for compensating the loss and we are constrained to persue the action. This chain of impression, desire, action and reaction keeps us tied to the cylcle of cause and effect, birth and death which is commonly called as the bondage of *karma*. With a view to ride over this perplexing situation Gītā tells us to adopt yoga as the integral way of life by virtue of which the actor appreciates the actions from the field of motionless eternity whence springs the whole world of motion and actions. When actions are entertained at their origin in the restful state of mind, they cease to capture the mind in their grips and instead of becoming the bondage, they become the means of liberation. 'Skill in action' lies in performing the task with minimum expenditure of energy for delivering the maximum good. This is possible only when the doer employs himself in action, with ultimate insight, from the state of enlightenment when our surface consciousness is in spate with unbounded pure awarness. It keeps us off the slough of despond and leaves in our mind no room for abundant gloom. When the

doer is established in the Self, the total reaction-mass of his being begins to surge with the cosmic fire, the seeds of impression are burnt up (*jnyānagani dugḍh karmani*) and they do not have even a ghost of chance to germinate into any future action. It does not mean, however, that the man relaxes his efforts or abstains from doing anything. On the contrary, it implies that the fruits of action do not leave any effect on his mind and even while engaged in the field of activity he remains beyond the bounds of the binding influences of actions. Thus, perched on the peake of lofty awarness he enjoys eternal freedom of the absolute existence along with the pictorial bloom of the phenomenal field.

Yoqa : The Divine Union

Yoga, in its universal approach to sweep all mankind in its fold, recognises the fact that for certain type of individuals the call of heart is more puissant than the powers of intellect and, therefore, accepts divine love as one of the all-embracing creative energies operating throughout the manifest creation. Realization of this cosmic power which brings order and harmony in the midst of chaos and discordance is the grand ideal of yoga. The force of love not only binds the whole humanity with the unseen threads of "unconscious mutualism', but also expresses itself as an invisible relation between a grain of dust and the shining sphere of a star in a sort of unrelated mutuality. In order to grasp the cosmic notion of love, the culture of the heart is essential which consists in a smooth coordination between the tendermost thoughts of the mind and the zero-point fluctuctions of the absolute existence. Divine love is the most delightful employment of the human soul and once it swings in unision with the manifold expressions of the infinite, the personality of the spiritual aspirant is expanded to a sense of abiding unity with the whole play and display of diversity. Such an individual, for whom it is said "*Ekatvam anupaśyati*", starts radiating from his *elan vital* the impulses of compassion on the cosmic wavelenth and actualises his fundamental right of freedom. Being

established in *sattva* he neither imposes anything on the object of love, nor demands anything in return, and goes on softening the crude elements in his surrounding thereby raising the value of the environment. Universal goodness is an indispensable byproduct of this process. Divine love makes no distinction between pretty or cute and ugly or uncomely. In fact, a man who follows the emotional principle of devotion looks at every object in creation as an express image of the same celestial glow.

Strife, hatred and repulsion are the indications of a tragic lack of the force of harmony, love and attraction. They are generated by the egocentric tensions when the thirst for taking in gets an upper hand over the tendency of giving away. Every man in the world has a kinship with every other man, though not of blood and seed but of mind and soul, which can only be recognised on the subtle levels of consciousness (*eṣoṇurātmā cētasā vēditavyaṃ*). The hidden idea behind this fact is that we are born to assist each other as a single whole. Any deed or will against our fellow beings goes against the harmony of nature and is the very essence of discord and aversion. Love is the finest force that brings about perfect balance between existence and activity and combines the deepest within the universe with the highest within the man. When the will-to-live of one mingles without hindrance with the will-to-live of all, the undreamt of state of transcendental monism is breathed in as a living reality. The spirit of unbounded affinity is bottled up within the very texture of our nervous system, which once allowed an opening, stops at nothing short of its potential best. The fretfulness and dissension of the human mind hazard the unfoldment of sublime susceptibilty to the tender undulations of universal love tending to blend with our consciounsess from all directions. Yoga provides a distinct contrivance of emotional mechanism to do away with the impediments that block our nerve-cells and to purge ourselves by taking a dip in the cosmic waters of divine love. For a man who follows the path of devotion every object in the world turns into a sacred idol of worship and every move-

ment of his mind or body is a prayerful offering to the blissful divinity. His cravings for carnal pleasures gives place to the unutterable delight of divine union with the absolute and even in the ordinary act of holding his beloved against himself he feels, in existential terms, 'the joy that descends from the sky to the sea'. This situation should not be viewed as evanascent ripples of imgaination rising in the tiny corner of space-time but the permanent possibility of a purple dawn of the infinite glory on our spiritual horizon. Yoga asserts that devotional intensity raises our attention to the supreme self–the bliss absolute–already within and is not merely a projection of private phantasy.

It is quite natural and common that our vital energy flows into the direction of whatever our conscious mind thinks fit, howsoever trivial and vain the object of attraction might be. It is no surprise, then, that our mind moves towards greater and greater enchantment, towards deeper delight and enduring sweetness—and once it comes in contact with the never-changing charm of the absolute bliss-consciousness, it intends to settle there for ever, established in the state of divine contentment. This happens only when the self gets lost for the sake of everlasting happiness. When the devotee incurs the loss of self and gains at-one-ment with the absolute reality the Love is born and the whole spectrum of human personality merges in the white light of divine consciousness. Devotion to the supreme reality consists in emptying the self of all its past vanities and disappointments together with the hopes and aspirations of the days unborn. It lies in squeezing the self out of existence so that the fullness of nothingness grows into the fullness of everything-ness. Divine love begins with the unimpeded diffusion of the ego into the all-pervasive totality and the devotee knows not how with a knock of blinding bliss he takes an' 'existential jump' into the maddening beatitude of '*śunya*' Yoga treats love as the blissful loss of the lower self into the elegant blossom of divine fulfilment.

The normal attitude of such a devotee is that of love and

reverence to all forms of animate or inanimate objects of nature. The narrow-minded rationality appears to him quite dull and dry and, at best, an intellectual fanaticism. Having discovered the mechanism of ultra-rapid transcendence of intellect he frees himself from the tangle of likes an dislikes, greed and anger and gets rid of the tyranny of duality. As the sense of 'I' vanishes, the clouds of confusion get dissolved into the azure space of pure existence and the tension of the opposites ceases to hold sway. The yoga of divine union is not a wishful lapse into a sort of soft sentimentalism but a recognition of the fact that love is the only force, knit into the matrix of space, time and existence that represents the first impulse of the unmanifest-"*kāmastadagré samavartātadhih, vishwè retah prathamam yadāsit.* Thus, to be in rhythm with the gentle waves of love, is to be in tune with the bliss infinite. Every action for the man on the path of devotion is an expression of the finest taste and grace. To cite the words of Swami Vivekanand "Wherever there is any love, it is He, the Lord is present there; where the husband kisses the wife, He is there in the kiss; where the mother kisses the child, He is there in the kiss; where friends clasp hands, He, the Lord is present as the God of Love——Wherever the heart expands, He is there manifested."

In sum, yoga is a mental technique precisely postulated and methodically worked out to bring men of both the intellectual as well as the emotional turn of mind into absolute union with the ultimate reality-call it God, One Existence or Bliss-Consciousness. Yoga lays down the mechanics of pure consciousness and shows the way as to how to enable our conscious mind to catch the glimpse of, or get established in, the blissful state of cosmic consciousness. Yoga demands an integral co-ordination of the intellect of Shankara, the wisdom of the Buddha and the dexterity of Janak for the full growth of divinity in human life. The divine disclosure of the ultimate reality is a veritable fact of human experience and our

response to it brings glroy and grace to every individual action, and edifies the assessment of our environs. The seeds of bondage and of freedom as well, are planted in the human mind. Yoga affirms the distinct theory of transcendental consciousness and mentions the device of going beyond mind in order to make the supreme bliss a lively fact of life. Whether one is bereft of faith or, devoid of doubt, yoga is applicable to all alike. It brings fulfilment in the relative field of activity and perfect harmony in the realm of the absolute so that, even while performing actions, one rests with perfect ease in the field of unbounded freedom.

Assistant Director
Physics Cell B. H. U.
Varanasi

योग का स्वरूप

श्री केदारनाथ मिश्र

'दुःखाभावो सुखञ्चेति पुरुषार्थद्वयं मतम्' की परम्परा के अनुसार दुःखनिरोधपूर्वक आनन्दोपलब्धि को भारतवर्ष में पुरुषार्थ माना जाता रहा है। भारतीय मनीषी शुष्क तत्त्वज्ञान की प्राप्ति से सन्तुष्ट नहीं होते थे अपितु उसे तत्त्वानुभूति तक ले जाने वाले मार्ग का प्रदीप मात्र समझते थे। उपनिषदों के अनुसार अर्थ, विज्ञान (अर्थात् अनुभव) से सुनिश्चित होता है केवल ज्ञान से नहीं[1]। इसीलिए गीता में ज्ञान के साथ ही विज्ञान को ब्राह्मणों का स्वभावज कर्म बताया गया है[2]। सारे भारतीय शास्त्रों की[3] यहाँ तक कि गौतमीय न्यायशास्त्र एवं आयुर्वेद की भी[4] रचना का प्रमुख उद्देश्य शान्ति की प्राप्ति रहा है। इसीलिए यहाँ केवल वही ज्ञान उपयोगी माना गया है जिसका पर्यवसान अनुभूति में हो। जैसा कि 'हतं ज्ञानं क्रियाशून्यम्' एवं 'ज्ञानं भारः क्रियां विना' आदि प्रसिद्ध उक्तियों से स्पष्ट है भारतीय दार्शनिक तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने को नहीं अपितु उसका अनुभव करने को लक्ष्य मानते थे। उनकी आत्मा केवल ज्ञान से नहीं प्रत्युत ज्ञानानुसारी विज्ञान या स्वानुभूति करके ही तृप्त होती थी[5]। भारतीय परम्परा का लक्ष्य ज्ञानप्राप्ति नहीं विज्ञान-प्राप्ति है। भगवान् कृष्ण ने गीता में विज्ञानसहित गुह्यतम ज्ञान को मोक्ष का साधन बताते हुए उसका उपदेश दिया है[6] और भागवत में ब्रह्मा को अपने अनुग्रह से 'तत्त्वविज्ञान' होने

---

१ वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
(मुण्डकोप० ३।२।६; कैवल्योप० १।४)।

२ ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्। (गीता १८।४२)।

३ शमार्थं सर्वशास्त्राणि विहितानि मनीषिभिः।
स एव सर्वशास्त्रज्ञः यस्य शान्तं मनः सदा ॥

४ यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः ॥ (न्यायवार्तिक १।१।१)।
भगवता अक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते···। (न्यायवा० तात्पर्यटीका १।१।१)।
तद् ब्रूहि मे शमोपायं यथावदमरप्रभो।
तस्मै प्रोवाच भगवानायुर्वेदं शतक्रतुः ॥ (चरक सं० १।१।२१-२२)।
अनन्तो मोक्षः पारम् उत्कृष्टं फलं यस्य आयुर्वेदस्यासावनन्तपारः।
(चरक सं० चक्र० १।१।२४)।

चिकित्साप्रस्तावेन सकलदुःखहारिणीं चिकित्सां मोक्षफलामाह—चिकित्सा तु इत्यादि। निष्ठा अत्यन्तदुःखमोक्षरूपा, तदर्थं भूता नैष्ठिकी।···मोक्षफला भवतीत्यर्थः। (चरक सं० चक्र० ४।१।९२)।

५ ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ (गीता ६।८)।

६ ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ (गीता ७।२)।

का आशीर्वाद दिया है[१]। श्रीमद्भागवत में सांख्योपदेष्टा कपिल के रूप में भगवान् के अवतरित होने की बात बताते हुए ब्रह्मा देवहूति से कहते हैं कि ज्ञान एवं विज्ञान के योग से कर्मों की वासनाओं का मूलोच्छेद करने के लिए भगवान् विष्णु ने तुम्हारे गर्भ में प्रवेश किया है[२] और ज्ञानविज्ञाननिधि भगवान् श्रीकृष्ण[३] कहते हैं कि 'ज्ञानविज्ञान यज्ञ से मेरा यजन कर मुनियों ने संसिद्धि प्राप्त की है[४]', 'ज्ञानविज्ञान से संसिद्धि प्राप्त कर चुके मुनि ही मेरे श्रेष्ठ पद को जानते हैं[५]', 'ज्ञानविज्ञानसम्पन्न व्यक्ति शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेता है[६]', 'ज्ञानविज्ञानसम्पन्न होकर भक्तिपूर्वक मेरा भजन करो[७]', 'ज्ञानविज्ञानसंयुक्त व्यक्ति अन्तरायों से विहत नहीं होते[८]।'

ज्ञान एवं विज्ञान में अन्तर स्पष्ट करते हुए श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि ज्ञान का तात्पर्य है शास्त्रों से अथवा आचार्य से आत्मादि पदार्थों का अवगम और विज्ञान का अर्थ है उस ज्ञात पदार्थ का उसी रूप में स्वानुभव करना। कभी-कभी योग शब्द से भी वही अर्थ सूचित किया जाता है जो विज्ञान शब्द से ऊपर सङ्केतित किया गया है। यह श्रीशङ्कराचार्य के **'ज्ञानं शास्त्रोक्तपदार्थानां परिज्ञानं, विज्ञानं तु शास्त्रतो ज्ञातानां तथा एव स्वानुभवकरणम्'** (गीता शाङ्क० ६।८) तथा **'ज्ञानं शास्त्रत आचार्यतश्च आत्मादिपदार्थानाम् अवगमः। अवगतानाम् इन्द्रियाद्युपसंहारेण एकाग्रतया स्वात्मसंवेद्यतापादनं योगः'** (गीता शाङ्क० १६।१) इत्यादि वाक्यों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है। उनके अनुसार विज्ञान सहित ज्ञान का अर्थ है अनुभवयुक्त ज्ञान[९]।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ (गीता ९।१)।

१ ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया॥ (भागवत २।९।३०)।
यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥ (भागवत २।९।३१)।

२ ज्ञानविज्ञानयोगेन कर्मणामुद्धरञ्जटाः।...
एष मानवि ! ते गर्भं प्रविष्टः कैटभार्दनः॥ (भागवत ३।२४।१७-१८)।

३ ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
अगुणायाविकाराय नमस्तेऽप्राकृताय च॥ (भाग० १०।१६।४०)।

४ ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिष्ट्वात्मानमात्मनि।
सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन्॥ (भाग० ११।१९।६)।

५ ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः पदं श्रेष्ठं विदुर्मम। (भाग० ११।१९।३)।

६ ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो न चिरात् समुपैति माम्॥ (भाग० ११।१८।४६)।

७ ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः॥ (भाग० ११।१९।५)।

८ ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम्।
आत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे॥ (भाग० ११।७।१०)।

९ विज्ञानसहितम् अनुभवयुक्तम्। (गीता शाङ्क० ९।१)।

इस विज्ञान या स्वानुभव रूप लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शतपथ ब्राह्मण एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने श्रवण, मनन और निदिध्यासन के क्रम से आत्मदर्शन, आत्मसाक्षात्कार या आत्मानुभूति करने का उपदेश दिया है[१] और याज्ञवल्क्य स्मृति में 'योग के द्वारा आत्मदर्शन' को परम धर्म कहा गया है[२]। वेदान्त परम्परा में श्रुतिवाक्यों से तत्त्व के स्वरूप के श्रवण, उसके बाद उपपत्तिपूर्वक मनन एवं तदनन्तर उसके निरन्तर ध्यान को तत्त्वदर्शन के कारण के रूप में माना गया है[३]। इस प्रकार निदिध्यासन या ध्यान --जिसे योग भी कहा गया है—स्वानुभूति का सबसे अधिक समर्थ साधन माना जाता रहा है। महाभारत की 'नास्ति योगसमं बलम्' (महाभा० १२।३१६।२) इस उक्ति का यही तात्पर्य है और इसीलिए कृष्ण अर्जुन को योगी होने के लिए प्रेरित करते हैं[४]।

विज्ञान या स्वानुभव के साधन के रूप में योग के उपयोग का वैदिक साहित्य में अनेकशः उल्लेख मिलता है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि नचिकेता ने यम से सारी योगविधि सीखी और वे ब्रह्मसाक्षात्कार कर अमर हो गये। अन्य लोग भी इसी प्रकार अमृतपद प्राप्त कर सकते हैं[५]। वहाँ बताया गया है कि धीर व्यक्ति अध्यात्मयोग के अधिगम द्वारा परमात्मा का मनन कर हर्ष एवं शोक से मुक्त हो जाते हैं[६]। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार ध्यान करता हुआ व्यक्ति उस निष्कल आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है[७]। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ब्रह्मवेत्ताओं द्वारा 'ध्यानयोग' का अनुवर्तन कर देव (अर्थात् परमात्मा) की स्वरूपभूत, अस्वतन्त्र शक्ति अथवा देवात्मना अर्थात् ईश्वररूप से स्थित शक्ति का जगत् के मूल कारण के रूप में साक्षात्कार किये जाने का उल्लेख किया गया है[८]। वहाँ अपनी देह को अरणि तथा प्रणव को उत्तरारणि बना कर ध्यान रूपी मन्थन के अभ्यास से उस देव का साक्षात्कार करने का उपदेश देते हुए[९] बताया गया है कि उसके अभिध्यान से,

---

१ आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। (शतपथ ब्रा० १४।५।४।५; १४।७।३।६; बृह० उप० २।४।५; ४।५।६)।

२ अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्
(याज्ञ० स्मृति १।८; बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति ११।३४)।

३ श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय. एते दर्शनहेतवः॥

४ तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ (गीता ६।४६)।

५ मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिञ्च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव॥ (कठोप० २।३।१८)।

६ अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥ (कठोप० १।२।१२)।

७ तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥ (मुण्डकोप० ३।१।८)।

८ ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्। (श्वेत.० १।३)।

९ स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवञ्चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥ (श्वेता० १।१४)।

चित्त का उसमें योजन करने से माया की निवृत्ति होती है और व्यक्ति आप्तकाम हो जाते है[१]। 'युक्त' होकर दीप के समान आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्त्व का दर्शन करने वाले व्यक्ति उस देव को जानकर सभी बन्धनों से मुक्त हो जाते है[२]। परवर्ती उपनिषदों में 'ध्यानयोग' का अनेकशः उल्लेख एवं निरूपण मिलता है[३]।

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि कभी तत्त्वविज्ञान या तत्त्वानुभूति की स्थिति को भी योग कहते थे और उसकी प्राप्ति के लिए जिस विधि या साधना-पद्धति का आश्रय लिया जाता था वह भी योग कही जाती थी। व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से भावव्युत्पन्न योग शब्द को विज्ञान या अनुभव रूप साध्य का वाचक तथा करणव्युत्पन्न योग शब्द को उस अनुभव की साधक विधि या साधनापद्धति का वाचक कहा जा सकता है। यह योग और इसकी विधि वैदिक परम्परा में अनेकशः उल्लिखित हैं। कालान्तर में योग का क्षेत्र वहुत विस्तृत हो गया और आधुनिक युग में तो 'योग' इतना व्यापक एवं बहुप्रचलित शब्द हो गया है कि इसकी एक ऐसी परिभाषा देना जिसमें योग शब्द से जो कुछ भी समझा जाता है उस सबका समाहार हो जाये उसी प्रकार दुःशक है जिस प्रकार दर्शन की एक सर्वमान्य परिभाषा देना। योग साधन के रूप में भी समझा जाता है और साध्य के रूप में भी। इसके वैदिक योग, जैन योग और बौद्ध योग आदि भेदों के साथ ही अन्य कई प्रकार के भेद भी माने जाते हैं। कभी इसे कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग इन तीन रूपों में विभाजित किया जाता है तो कभी मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग इन चार रूपों में। योग उपनिषद् कहे जाने वाले कुछ अनतिप्राचीन उपनिषदों में से त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में ज्ञानयोग और कर्मयोग के भेद से योग को द्विविध कहा गया है[४]। वाराहोपनिषद में मन्त्रयोग, लययोग और हठयोग इन तीन योगों का उल्लेख मिलता है[५]। योगतत्त्वोपनिषद्[६], योगशिखोपनिषद्[७] तथा योगराजोपनिषद्[८] में मन्त्रयोग, लययोग,

---

१ तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥
(श्वेता० १।१०)।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥ (श्वेता० १।११)।

२ यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ (श्वेता० २।१५)।

३ तस्मै स होवाच पितामहश्च श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि ॥ (कैवल्योप० १।२)।
यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम् ।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥ (ध्यानबिन्दूप० १)।

४ ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगो द्विधा मतः। (त्रिशिखिब्रा० उप० २३)।

५ लयमन्त्रहठा योगाः। (वाराहोप० ५।१०)।

६ योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः ।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः ॥ (योगतत्त्वोप० १९)।

७ मन्त्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात् ॥
एक एव चतुर्द्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते। (योगशिखोप० १।१२९-१३०)।

८ मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा ॥
योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः। (योगराजोप० १-२)।

हठयोग एवं राजयोग के भेद से योग को चतुर्विध बताया गया है और योगशिखोपनिषद् में कहा गया है कि ये चारों एक ही महायोग की क्रमिक अन्तर्भूमिकाएँ हैं[1] तथा योगराजोपनिषद् के अनुसार आसन, प्राणायाम, ध्यान एवं समाधि को इन सभी योगों में समान रूप से स्वीकार किया जाता है[2]। किसी-किसी ने (उदाहरणार्थ स्वामी आत्मानन्द ने अपनी कृति 'The Four Yogas' में प्राचीन भारतीय योग के कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग और ज्ञानयोग ये चार भेद माने हैं।

वैदिक संहिताओं एवं उपनिषदादि प्राचीन ग्रन्थों में योग,[3] निदिध्यासन,[4] अध्यात्मयोग[5], ध्यानयोग[6] और योगविधि[7] आदि पदों का प्रयोग मिलता है। योग शब्द की घटक धातु अपने अन्य अनेक रूपों में भी संहिताओं में अनेकशः प्रयुक्त हुई है। 'युञ्जते मन उत युञ्जते धियो' इत्यादि मन्त्र संहिताओं में अनेकत्र आया है[8]। इसी प्रकार 'युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः[9]', 'युक्तेन मनसा वयम्[10]', 'युजे वां ब्रह्म पूर्व्यम्[11]' एवं 'युनज्मि ते ब्रह्मणा[12]' इत्यादि मन्त्रों में भी उसी धातु का प्रयोग प्रायः उसी अर्थ में हुआ है। इन उद्धरणों की संख्या और बढ़ायी जा सकती है। योजन या मेलन अर्थ वाली युजिर् धातु जिससे योग शब्द निष्पन्न होता है—संहिताओं म इसी अर्थ में अनेकशः प्रयुक्त हुई है। इसके 'युञ्जन्ति[13]', 'युजे[14]', 'युजानो[15]', 'युनक्त[16]' आदि अनेक

---

१ देखिए, ऊपर पृष्ठ १९१ टिप्पणी ७

२ आसनं प्राणसंरोधो ध्यानं चैव समाधिकः ॥
एतच्चतुष्टयं विद्धि सर्वयोगेषु सम्मतम् । (योगराजोप० २-३)।

३ ऋक् सं० १।३०।७; तैत्ति० सं० ४।१।२।१; शुक्लयजुः सं० ११।१४; साम० सं० १६३; ७४३; अथर्व० सं० २०।२६।१; तैत्ति० आरण्यक ८।४।१; तैत्ति० उप० २।४।१; कठोप० २।३।११; श्वेता० उप० २।११; ६।३; ६।१३ आदि।

४ देखिए, ऊपर पृष्ठ १९० टिप्पणी १

५ कठोपनिषद् १।२।१२

६ श्वेताश्वतरोपनिषद् १।३

७ कठोपनिषद् २।३।१८

८ ऋक् सं० ५।८१।१; तैत्ति० सं० १।२।१३।१ तथा ४।१।१।१; शुक्लयजुः० सं० ५।१४; ११।४; ३७।२ तथा तैत्ति० आरण्यक ४।२।१ एवं श्वेता० उप० २।४ आदि।

९ शुक्लयजु० सं० ११।१

१० वही ११।२

११ ऋक् सं० १०।१३।१; शुक्लयजु० सं० ११।५; तैत्ति० सं० ४।१।१।२; अथर्व० सं० १८।३।३९; श्वेता० उप० २।५

१२ ऋक् सं० १।८२।६

१३ ऋक् सं० १।६।१-२; ८।९८।९; १०।१०१।४; तैत्ति० सं० ४।२।५।५; ७।४।२०।१; शुक्लयजु० सं० १२।६७; २३।५,६; साम० सं० ७१२; १४६८; १४६९; अथर्व० सं० २०।२६।४,५; २०।४७।१०,११; २०।६९।९,१०; २०।१००।३ आदि।

१४ ऋक् सं० ७।२३।३; अथर्व० सं० २०।१२।३

१५ ऋक् सं० ६।४७।१९ तथा १०।२२।४

१६ ऋक् सं० १०।१०१।३; तैत्ति० सं० ४।२।५।५; शुक्लयजु० सं० १२।६८; अथर्व० सं० ३।१७।२

रूप संहिताओं में मिलते हैं। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण एवं बृहदारण्यकोपनिषद् में 'रथयोगाः[1]' शब्द का प्रयोग रथ में योजित किये जाने वाले अश्वादि के लिए किया गया है[2]। प्राचीन उपनिषदों में योग के बोधक 'ध्यायमानः[3]', 'ध्यान[4]', 'अभिध्यान[5]' आदि पद भी अनेकत्र मिलते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में उसे योगशास्त्र कहा गया है और प्रत्येक अध्याय का नाम योगान्त बताया गया है। प्रथम अध्याय से लेकर अठारहवें अध्याय तक का नाम क्रमशः १. अर्जुनविषादयोग, २. साङ्ख्ययोग, ३. कर्मयोग, ४. ज्ञानकर्मसंन्यासयोग, ५. कर्मसंन्यासयोग, ६. ध्यानयोग ७. ज्ञानविज्ञानयोग, ८. तारक ब्रह्मयोग, ९. राजविद्याराजगुह्ययोग, १०. विभूतियोग, ११. विश्वरूपदर्शन-योग, १२. भक्तियोग, १३. क्षेत्रक्षेत्रज्ञ (विभाग) योग, १४. गुणत्रयविभागयोग, १५. पुरुषोत्तमयोग, १६. दैवासुरसम्पद्विभागयोग, १७. श्रद्धात्रयविभागयोग और १८. मोक्षसंन्यासयोग है। प्रायः इन अठारह योगों को योग के अठारह भेद न मानकर गीता के अठारह अध्यायों को कर्म, ज्ञान और भक्ति के तीन षट्कों में विभक्त कर गीता को इन तीन योगों की निरूपिका माना जाता है। गीता में विभिन्न स्थलों पर योग,[6] योगबल,[7] योगयज्ञ,[8] योगसेवा,[9] योगधारणा,[10] योगयुक्त,[11] योगवित्तम,[12] योगी,[13] योगेश्वर,[14] महायोगेश्वर,[15] आदि पदों के प्रयोग के साथ ही अभ्यासयोग,[16]—जिसका परवर्ती उपनिषदों में अनेकशः उल्लेख मिलता है[17]—ध्यानयोग,[18] ब्रह्मयोग,[19] अनन्ययोग[20] अविकम्पयोग,[21] संन्यासयोग[22], बुद्धियोग,[23] सांख्ययोग,[24] ज्ञानयोग,[25]

---

[1] शतपथ ब्रा० १४।७।१।११ तथा बृह० उप० ४।३।१०
[2] रथेषु युज्यन्ते इति रथयोगा अश्वादयः। (बृह० उप० शाङ्कर भाष्य ४।३।१०)।
[3] देखिए, ऊपर पृष्ठ १९० टिप्पणी ७
[4] देखिए, ऊपर पृष्ठ १९० टिप्पणी ९
[5] देखिए, ऊपर पृ० १९१ टिप्पणी १
[6] गीता ६।१२, १९, ३६ आदि।
[7] गीता ८।१०
[8] गीता ४।२८
[9] गीता ६।२०
[10] गीता ८।१२
[11] गीता ५।६,७; ८।२७ आदि।
[12] गीता १२।१
[13] गीता ५।२४; ८।२५,२७ तथा २८ आदि।
[14] गीता ११।४; १८।७५ तथा ७८
[15] गीता ११।९
[16] गीता १२।९; ८।८ तथा ६।३५
[17] जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासना।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥ (मुक्तिकोप० २।१४)।
द्रष्टव्य, क्षुरिकोपनिषद् १२ आदि।
[18] गीता १८।५२; १३।२४
[19] गीता ५।२१
[20] गीता १३।१०; १२।६
[21] गीता १०।७
[22] गीता ९।२८
[23] गीता २।४९; १०।१०; १८।५७
[24] गीता १३।२४
[25] गीता ३।३; १६।१

भक्तियोग[1] तथा कर्मयोग[2] का उल्लेख एवं निरूपण हुआ है। परवर्ती ग्रन्थों म समाधि-योग,[3] क्रियायोग[4] हंसयोग[5], स्पर्शयोग तथा सुरतियोग आदि का भी उल्लेख मिलता है। आधुनिक मनीषी श्री अरविन्द ने पूर्णयोग का प्रतिपादन किया है।

ऋक्संहिता[6], तैत्तिरीय आरण्यक[7], तैत्तिरीय उपनिषद्,[8] कठोपनिषद्,[9] एवं गीता[10] आदि में योग शब्द का प्रयोग अलभ्यलाभ या अप्राप्त की प्राप्ति के अर्थ[11] में भी हुआ है। इसी प्रकार 'योगवासिष्ठ' ग्रन्थ के नाम में प्रयुक्त योग शब्द भी अवधेय है।

योग की एक ऐसी परिभाषा दे सकना दुःशक है जो उपर्युक्त सभी योगों पर लागू हो सके अथवा जिसमें योग के पूर्वोल्लिखित सभी अर्थों का समाहार हो सके।

उपनिषदों एवं श्रीमद्भगवद्गीतादि प्राचीन ग्रन्थों में योग की क्रिया और उसके फल आदि के जो वर्णन मिलते हैं उन्हें भी वर्णन और लक्षण या परिभाषा में भेद समझने वाले सुधीजन योग का लक्षण नहीं कह सकते। योग की एक निश्चित परिभाषा देने में एक और कठिनाई यह है कि यदि कहीं योग का स्पष्ट लक्षण मिलता भी है तो वह या तो उस कृति के प्रतिपाद्य योग के भेद-विशेष का लक्षण होता है या उस कृति के उस प्रसङ्ग विशेष में विवेचित हो रहे योग के भेदविशेष का लक्षण होता है। सम्भवतः योग के परस्परभिन्न एकाधिक लक्षणों की उपलब्धि का एक प्रमुख कारण यह है कि वे योग के किसी एक भेद, वैशिष्ट्य या रूपविशेष की परिभाषायें या असाधारण धर्मनिरूपक वर्णन हैं। अतः योग के किसी एक भेद या किसी एक रूप या आयाम के इन लक्षणों को योग-सामान्य का लक्षण मान लेना उचित न होगा, क्योंकि यह लक्षण अव्याप्त होगा।

हमारा उपर्युक्त अभिप्राय विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होने वाली योग की परिभाषाओं के अधोलिखित विवेचन से और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा। कठोपनिषद् के अनुसार जिस स्थिति में मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापार से निवृत्त होकर आत्मनिष्ठ हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती वह 'परमगति' की स्थिति है। 'स्थिर इन्द्रियधारणा' की इस स्थिति को योग कहा गया है[12]। श्रीशङ्कराचार्य की व्याख्या

---

[1] गीता १४।२६

[2] गीता ३।३; ३।७; ५।२; १३।२४

[3] गीताशाङ्करभाष्य ४।३८

[4] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २४

[5] नादविन्दूपनिषद् ५

[6] ऋक् सं० १०।१६६।५

[7] तैत्तिरीय आरण्यक ९।१०।२

[8] तैत्तिरीय उपनिषद् ३।१०।२

[9] कठोपनिषद् १।२।२

[10] गीता ९।२२

[11] योगोऽनुपात्तस्योपादानम्। (तैत्ति० उप० शाङ्क० ३।१०।२)।
योगः अप्राप्तस्य प्रापणम्। (गीता शाङ्क० ९।२२)।
द्रष्टव्य कठोप० शाङ्क० १।२।२

[12] यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ (कठोप० २।३।१०-११)।

के अनुसार यह स्थिति सारे अनर्थों के संयोग से वियोग की अवस्था है, फिर भी इसे योग कहते हैं[१]। गीता में भी कहा गया है कि दुःख के संयोग से वियोग रूप योग को जानना चाहिए और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए[२]। श्रीशङ्कराचार्य ने गीता के अपने भाष्य में गीता के इस श्लोक का अर्थ कठोपनिषद् के उपर्युक्त मन्त्र के अर्थ के अनुरूप ही किया है[३]। विष्णुपुराण में केशिध्वज ने मन की आत्मप्रयत्नसापेक्ष विशिष्ट गति के ब्रह्म में संयोग को योग कहा है[४]। योगसूत्रों की भोजवृत्ति के प्रारम्भ में कहा गया है कि पतञ्जलि मुनि की वाणी अपूर्व है, जिसमें पुरुष एवं प्रकृति के वियोग—जो समस्त दुःखों के संयोग से वियोग का हेतु हैं—को योग कहा गया है[५]। चरकसंहिता के अनुसार आत्मा एवं मन, मन तथा इन्द्रियों एवं इन्द्रियों और पदार्थों के सन्निकर्ष या संयोग के फलस्वरूप सुख-दुःख होते हैं। जब इन्द्रियाँ अपने ग्राह्य विषयों से सन्निकर्ष के लिए अपेक्षित व्यापार से निवृत्त हो जाती हैं और मन विषयों से निवृत्त हो कर आत्मा में ही निश्चल रूप से स्थिर हो जाता है तो व्यक्ति के सारे सुख-दुःख, अपने कारण के निवृत्त हो जाने के कारण, निवृत्त हो जाते हैं। योग जानने वाले ऋषियों ने इसी स्थिति को योग कहा है[६]। योगसूत्रकार पतञ्जलि ने योग का लक्षण चित्तवृत्तिनिरोध बताया है[७] और योगभाष्यकार व्यास ने योग का लक्षण समाधि को बताते हुए दोनों को अभिन्न माना है[८]। श्रीशङ्कराचार्य ने इस लक्षण को स्वीकार करते हुए अनेकशः योग का अर्थ समाधि,[९] समाधान,[१०] मनःसमाधान[११] एवं चित्तसमा-

---

१ ताम् ईदृशीं तदवस्थां योगम् मन्यन्ते वियोगमेव सन्तम्। सर्वानर्थसंयोग-वियोगलक्षणा हीयमवस्था योगिनः। (कठोप० शाङ्क० २।३।११)।

२ तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। (गीता ६।२३)।

३ तं विद्याद् विजानीयाद् दुःखसंयोगवियोगम् दुःखैः संयोगो दुःखसंयोगः तेन वियोगो दुःखसंयोगवियोगः तं दुःखसंयोगवियोगं योग इत्येव संज्ञितं विपरीत-लक्षणेन विद्याद् विजानीयाद् इत्यर्थः। (गीता शाङ्क० ६।२३)।

४ आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ॥ (विष्णुपु० ६।७।३१)।

५ पतञ्जलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ।
पुंप्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यया ॥ (भोजवृत्तिः १।१)।

६ आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते।
सुखदुःखम्, अनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे ॥
निवर्तते तदुभयं, वशित्वञ्चोपजायते।
सशरीरस्य, योगज्ञास्तद्योगमृषयो विदुः ॥ (चरकसं० ४।१।१३६-१३७)।

७ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (योगसूत्र १।२)।

८ योगः समाधिः (योगसूत्रभाष्य १।१)।

९ योगः समाधिः (गीता शाङ्क० ५।२१)। योगेन समाधिना। (गीता शाङ्क० १८।३३)।

१० योगो युक्तिः समाधानम् ...। समाधानं योगः। (तैत्ति० उप० शाङ्क० २।४।१)।

११ योगं युञ्जन् मनःसमाधानं कुर्वन्। (गीता शाङ्क० ७।१)।

धान[1] किया है। भारतभावदीप में श्रीनीलकण्ठ ने भी इसी का अनुसरण करते हुए योग का अर्थ मनःसमाधान एवं समाधि किया है[2]। मैत्रायण्युपनिषद् में दिये गये योग के लक्षण में भी इन्द्रियादि की अपने व्यापार से निवृत्ति एवं मन की आत्मनिष्ठा या आत्मा से एकता पर ही बल दिया गया है[3]। योगशिखोपनिषद् में भी ऐक्य पर ही बल देते हुए कहा गया है कि अपान एवं प्राण, रजस् एवं रेतस्, सूर्य एवं चन्द्र और जीवात्मा एवं परमात्मा आदि रूप द्वन्द्वसमूहों के ऐक्य या संयोग को योग कहते हैं[4]। इस परिभाषा में प्रयुक्त रजस्, रेतस्, सूर्य और चन्द्र आदि पद पारिभाषिक हैं।

गीता में मिलने वाली योग की परिभाषाओं में से एक की चर्चा हम अभी कर चुके हैं। दूसरी परिभाषा के अनुसार योग कर्मों में कुशलता को कहते हैं[5]। यह बहुत अधिक उद्धृत की जाने वाली परिभाषा है, किन्तु इसके समझने में कई बार भूल की जाती है। प्रायः इसका अर्थ यह समझा जाता है कि किसी भी कार्य को तद्विषयक विशेषज्ञता एवं निपुणता अर्जित कर इस प्रकार सम्पादित करना कि कर्ता को शीघ्र ही निश्चित रूप से पूर्ण फल प्राप्त हो जाये, यही कर्म की कुशलता है और इसे ही योग कहते हैं। किन्तु गीता के एतदर्थक श्लोक में उल्लिखित कर्मों की कुशलता का तात्पर्य इस प्रकार की विशेषज्ञता से नहीं है। गीतोक्त कर्म-कुशलता का अभिप्राय यह है कि कर्म इस प्रकार किये जायें कि वे बन्धन का कारण न बनें[6]। तृष्णारहित होकर विना फल की कामना के समत्वबुद्धि से किये गये कर्म बन्धन एवं तज्जन्य दुःखों के हेतु नहीं बनते। इसीलिए इस विशिष्ट कौशल से कर्म करना योग है[7] जिसे कर्मयोग और निष्काम कर्मयोग भी कहा जाता है। 'योगः कर्मसु कौशलम्' (गीता २।५०) के उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि गीता के

---

[1] योगः चित्तसमाधानं, स यस्यास्ति स योगी। (गीता शाङ्क० ६।१)।

[2] योगं···मनःसमाधानं यः तत्त्वतो वेत्ति···योगेन···समाधिना युज्यते। (गीता भारत-भावदीप १०।७)।

[3] एवं प्राणमथोङ्कारं यस्मात्सर्वमनेकधा।
युनक्ति युञ्जते वापि तस्माद्योग इति स्मृतः॥
एकत्वं प्राणमनसोरिन्द्रियाणां तथैव च।
सर्वभावपरित्यागो योग इत्यभिधीयते॥ (मैत्रायण्युप० ६।२५)।

[4] योऽपानप्राणयोरैक्यं स्वरजोरेतसोस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः॥
एवं तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते। (योगशिखोप० १।६८-६९)।

[5] योगः कर्मसु कौशलम्। (गीता २।५०)।

[6] तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये।
आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्॥ (विष्णुपु० १।१९।४१)।

[7] कर्मसु वर्तमानस्य या सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वबुद्धिः···तत् कौशलम्। तद्धि कौशलं यद् बन्धस्वभावान्यपि कर्माणि समत्वबुद्ध्या स्वभावान्निवर्तन्ते।
(गीता शाङ्क० २।५०)

उन वाक्यों से होती है जिनमें यह कहा गया है कि योगी वही है जो कर्मों को उनके फलों की कामना न रखता हुआ करता है और जिसने फलविषयक सङ्कल्पों का (अर्थात् किये जाने वाले कर्मों के फल की इच्छा का) त्याग न किया हो ऐसा कोई भी कर्म करने वाला व्यक्ति योगी नहीं हो सकता[१]। गीता की एक अन्य उक्ति के अनुसार फल की तृष्णा से रहित होकर किये जाने वाले कर्मों की सिद्धि और असिद्धि में समत्वबुद्धि रखना योग है। कर्म इस योग में स्थित होकर ही करना चाहिए[२]। वस्तुतः यह समत्वबुद्धि योग ही कर्मों में कौशल रूप योग है।

शब्द कोषों एवं विभिन्न शास्त्रों में मिलने वाले योग शब्द के विभिन्न अर्थों[३] में से प्रकृत प्रसङ्ग में (१) उपाय, साधन या मार्ग, (२) संयोग या मेलन तथा (३) ध्यान या समाधि, ये तीन अर्थ विशेष रूप से विवेचनीय हैं।

महाभारत में अनेकशः योग शब्द का प्रयोग उपाय के अर्थ में हुआ है। वहाँ योद्धाओं के वध के लिए धर्मयुद्ध का मार्ग छोड़ कर छल-प्रपञ्चपूर्ण विभिन्न उपायों का अवलम्बन करने को 'योग का आश्रय लेना' कहा गया है। पाण्डवों को द्रोणाचार्य के बाणों के प्रहार से त्रस्त देख कर श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि 'जब तक द्रोणाचार्य के हाथ में धनुष रहेगा इन्द्रसहित सारे देवता भी इन्हें युद्ध करके जीत नहीं सकते, किन्तु यदि ये हथियार रख दें तो मनुष्य भी इन्हें युद्ध में मार डाल सकते हैं, अतः हे पाण्डवो! युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए धर्म छोड़ कर योग (द्रोणाचार्य के वध के उपाय) का आश्रय लो[४]।' अर्जुन के यह पूछने पर कि 'हमारे हित के लिए आपने किस प्रकार, किन योगों (उपायों) से जरासन्ध आदि राजाओं का वध कराया है[५]?' श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'हे अर्जुन! जिन योगों (उपायों) से उन राजाओं का वध किया गया है उन्हें मुझसे सुनो।

---

१ अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च···॥ (गीता ६।१)।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन। (गीता ६।२)।

२ योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा, समत्वं योग उच्यते॥ (गीता २।४८)।

३ योगः संनहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु। (अमरकोष ३।३।२२)।
योगोऽपूर्वार्थसम्प्राप्तौ सङ्गतिध्यानयुक्तिषु।
वपुःस्थैर्यप्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे॥
विश्रब्धघातके द्रव्योपायसंनहनेष्वपि। कार्मणेऽपि च। (मेदिनीकोष २।१८-१९)।

४ नैष युद्धेन संग्रामे जेतुं शक्यः कथञ्चन।
सधनुर्धन्विनां श्रेष्ठो देवैरपि सवासवैः॥ (महाभा० ७।१९०।१०)।
न्यस्तशस्त्रस्तु संग्रामे शक्यो हन्तुं भवेन्नृभिः।
आस्थीयतां जये योगो धर्ममुत्सृज्य पाण्डवाः॥ (महाभा० ७।१९०।११)।

५ कथमस्मद्धितार्थं ते कैश्च योगैर्जनार्दन।
जरासन्धप्रभृतयो घातिताः पृथिवीश्वराः॥ (महाभा० ७।१८१।१)।

विना योगों का आश्रय लिये युद्ध में इन राजाओं को देवता भी नहीं जीत सकते थे[1]।' कर्ण को अप्रतिम पराक्रम प्रदर्शित करते देख चिन्तित अर्जुन से श्रीकृष्ण ने कहा था कि कर्ण को इस प्रकार घटोत्कच का वध करते और अद्भुत शौर्य प्रकट करते देखकर तुम्हें विषण्ण नहीं होना चाहिए। मैं तुम्हें उस उपाय का उपदेश दूँगा जिससे तुम कर्ण का वध कर सकोगे[2]। इसके वध का एक ही योग (उपाय) है और वह यही कि जब इसके रथ का पहिया फँस जाये और यह उसको निकालने में गाफ़िल हो तो सावधानी से इसकी हत्या कर दो[3]। कृष्ण कहते हैं कि इसी प्रकार 'एक-एक कर इन सभी कौरवपक्षीय योद्धाओं को उन-उन योगों अर्थात् उपायों से हमने ही तुम्हारे हित के लिए मरवा डाला है[4]। कृष्ण को योगेश्वर कहने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि विभिन्न योगों (उपायों) द्वारा पाण्डवों के शत्रुओं के वध की योजना को कार्यान्वित करते हुए वे अर्जुन की रक्षा करते रहे और उसे विजय दिलाते रहे[5]। इसीलिए कहा गया है कि जहाँ योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धारी अर्जुन होंगे वहाँ विजय एवं श्री की प्राप्ति निश्चित है[6]।

उपनिषदों में योग को तत्त्व की अनुभूति या आत्मदर्शन का उपाय या साधन मानने के प्रसङ्गों का उल्लेख हम ऊपर कर ही चुके हैं। गीता में 'आत्मविशुद्धि' के उपाय के रूप में योग को स्वीकार करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि आसन पर बैठकर, मन को एकाग्र कर आत्मशुद्धि के लिए योग का साधन करना चाहिए[7]। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के इस कथन से कि 'मैंने मनुष्यों के कल्याण के लिए ज्ञान, कर्म और भक्ति इन तीन योगों (उपायों) का उपदेश दिया है। उनके कल्याण का इन तीन उपायों के अतिरिक्त

---

[1] यौगैरपि हता यैस्ते तन्मे शृणु धनञ्जय।
अजय्या हि विना योगैर्मृधे ते दैवतैरपि॥ (महाभा० ७।१८१।६)।

[2] न विषादस्त्वया कार्यः कर्णं वैकर्तनं प्रति॥ (महाभा० ७।१८१।३०)।
तस्यापि च वधोपायं वक्ष्यामि तव पाण्डव। (महाभा० ७।१८१।३२)।

[3] एको हि योगोऽस्य भवेद्वधायच्छिद्रे ह्येनं स्वप्रमत्तः प्रमत्तम्।
कृच्छ्रं प्राप्तं रथचक्रे विमग्ने हन्याः पूर्वं त्वं तु संज्ञां विचार्य॥
(महाभा० ७।१८०।३१)।

[4] एकैकशो निहताः सर्वे एते योगैस्तैस्तैस्त्वद्धितार्थं मयैव।
(महाभा० ७।१८०।३३)।

[5] साश्वध्वजरथः सञ्जये धृतराष्ट्र! पतेद् भुवि।
विना जनार्दनं पार्थो योगानामीश्वरं प्रभुम्॥ (महाभा० ७।१८२।१४)।
तैस्तैरुपायैर्बहुभी रक्ष्यमाणः स पार्थिव।
जयत्यभिमुखः शत्रून् पार्थः कृष्णेन पालितः॥ महाभा० ७।१८२।१५)।

[6] यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ (गीता १८।७८)।

[7] तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये॥ (गीता ६।१२)।

कोई अन्य उपाय नहीं है[१]।' यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग पदों में योग शब्द का प्रयोग परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के उपाय या मार्ग अर्थात् आध्यात्मिक साधना की पद्धति के अर्थ में हुआ है और इसीलिए इनके लिए कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग शब्दों का भी निर्बाध प्रयोग होता है।

व्याकरण की दृष्टि से संयोग या मेलन अर्थ में योग शब्द की निष्पत्ति रुधादिगणी उभयपदी अनिट् योगार्थक धातु 'युजिर्'[२] से होती है। वैदिक संहिताओं में इस शब्द एवं धातु के इस अर्थ में प्रयोग के स्थलों का उल्लेख हम कर चुके हैं[३]। **'तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्'** (श्वेता० ६।३) आदि वाक्यों में योग शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। योगशिखोपनिषद् के पूर्वोद्धृत वाक्य में अपान-प्राण, रजस्-रेतस्, सूर्य-चन्द्र तथा जीवात्मा-परमात्मा आदि के संयोग को ही योग कहा गया है[४]। सर्वदर्शनसंग्रह के अनुसार याज्ञवल्क्य 'जीवात्मा एवं परमात्मा के संयोग को योग कहते हैं,' यद्यपि वहाँ उनका एक अन्य वचन उद्धृत करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि याज्ञवल्क्य के अनुसार योग समाधि को ही कहते हैं[५]।

वेदान्त में योग का अर्थ है परमात्मा और जीवात्मा का संयोग, ब्रह्म एवं जीव की एकता या ब्रह्मात्मैकत्वानुभूति। इस योग का अर्थ, जीव को परमात्मा से दीर्घकाल से वियुक्त मानने वाले[६] वैष्णव वेदान्त में, जीव का परमात्मा से संयोग है और वेदान्त का प्रयोजन आत्मैकत्वप्रतिपत्ति मानने वाले[७] शाङ्कर सम्प्रदाय में जीवात्मा की ब्रह्म से एकता की अनुभूति, ब्रह्मात्मैकत्वानुभूति, 'तत्त्वमसि' 'सोऽहम्' आदि महावाक्यों के अर्थ का अनुभव।

आयुर्वेद में योग को संयोगार्थक मानते हुए इससे उन सभी संयोगों को ग्रहण किया जाता है जो सुख-दुःखात्मक संवेदन के कारण हैं। आत्मा एवं मन, मन एवं इन्द्रिय तथा इन्द्रिय एवं पदार्थ के संयोग या सन्निकर्ष से पदार्थों का संवेदन या अनुभव होता है इस न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के अनुरूप मत प्रतिपादित करते हुए चरकसंहिता में योग शब्द को संयोग या सन्निकर्ष का पर्याय मानकर इसके क्षेत्र को व्यापक बना दिया गया है जिससे इसमें सुखदुःखजनक इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का भी समाहार हो जाता है[८]।

---

१ योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ (भाग० ११।२०।६)।

२ युजिर् योगे। (धातुपाठ १४६९)।

३ द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ १९२ टिप्पणी ८।१६ ४ द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ १९६ टिप्पणी ४

५ उक्तं याज्ञवल्क्येन, 'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।' इति।...
नापि याज्ञवल्क्यवचनव्याकोपः, तत्रस्थस्यापि योगशब्दस्य समाध्यर्थत्वात्।
'समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः।
ब्रह्मण्येव स्थितिर्या सा समाधिः प्रत्यगात्मनः॥'
इति तेनैव उक्तत्वाच्च। (सर्वदर्शनसङ्ग्रह, पृष्ठ ३४६-३४७)।

६ सहस्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्दतिरोभावोऽहम्...

७ आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते। (अध्यासभाष्य)

८ द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ १९५ टिप्पणी ६

समाध्यर्थक योग शब्द की निष्पत्ति व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से दिवादिगणी आत्मनेपदी अनिट् समाध्यर्थक धातु 'युज'[१] से होती है। ऋग्वेद एवं यजुर्वेद संहिताओं आदि में अनेकत्र उपलब्ध होने वाले 'युञ्जते मन उत युञ्जते धियो'[२] तथा 'युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः'[२] इत्यादि मन्त्रों में प्रयुक्त 'युञ्जते' एवं 'युजे' पदों को कभी-कभी समाध्यर्थक 'युज' धातु से निष्पन्न माना जाता है[३]। विभिन्न उपनिषदों एवं गीता में आये योग शब्द को श्रीशङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में कई स्थलों पर समाध्यर्थक 'युज' धातु से निष्पन्न माना है[४]। पातञ्जल योग सूत्रों के अपने भाष्य में व्यासदेव ने 'योग' शब्द का अर्थ 'समाधि' ही किया है[५]। सर्वदर्शनसंग्रह के 'पातञ्जल योगदर्शन' प्रकरण में याज्ञवल्क्य के,

'समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः।
ब्रह्मण्येव स्थितिः या सा समाधिः प्रत्यगात्मनः॥'

इस वचन को उद्धृत करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि याज्ञवल्क्य के अनुसार भी योग समाध्यर्थक ही है[६]।

एकाग्र मन या चित्त का ध्येय पदार्थ से संयोजन या संयोग होने पर ही समाधि सिद्ध हो सकती है इस बात को दृष्टिगत रखने पर योग को संयोगार्थक एवं समाध्यर्थक मानने में कोई विरोध नहीं प्रतीत होता[७]।

महाभारत में योग को सनातन शास्त्र कहा गया है[८]। कहीं-कहीं योग का प्रथम प्रवक्ता हिरण्यगर्भ को बताया गया है[९]। श्रीमद्भागवत में हैरण्यगर्भ योग का उल्लेख है[१०] और विष्णुपुराण के 'हिरण्यगर्भवचनं विचिन्त्येत्थम्' (विष्णु पु० २।१३।४४) इत्यादि वाक्य के आधार पर इसके पूर्ववर्ती दो श्लोक[११] हैरण्यगर्भ योगशास्त्र से उद्धृत माने जाते हैं।

---

[१] युज समाधौ। (धातुपाठ १२०२)।

[२] द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ १९२ टिप्पणी ८ तथा ११

[३] मनो युञ्जते···विषयेभ्यो निवर्त्य समाहितं कुर्वन्ति।
(तैत्ति० आ० सायणभा० ४।२।१)।
युजे वां समादधे ···। (श्वेता० उप० शाङ्क० २।५)।

[४] द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ १९५ टिप्पणी ९-११ तथा पृष्ठ १९६ टिप्पणी १

[५] द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ १९५ टिप्पणी ८ [६] द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ १९९ टिप्पणी ५

[७] योगो युक्तिः समाधानम्। (तैत्ति० उप० शाङ्क० २।४।१)।

[८] साङ्ख्यञ्च योगञ्च सनातने द्वे। (महाभा० १२।३४९।७३)।

[९] हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।
(बृहद् योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिः १२।५)।
हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः। (महाभा० १२।३४९।६५)।

[१०] इदं हि योगेश्वर! योगनैपुणं हिरण्यगर्भो भगवाञ्जगाद यत्।
(भाग० ५।१९।१३)।

[११] सम्मानना परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः।
जनेनावमतो योगी योगसिद्धिञ्च विन्दति॥
तस्माच्चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन्।
जना यथाऽवमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम्॥ (विष्णुपु० २।१३।४२-४३)।

इस शास्त्र के कुछ वचन परवर्ती ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। अतः कुछ लोगों की धारणा है कि महर्षि पतञ्जलि से पहले हैरण्यगर्भयोग प्रचलित था[१]। सर्वदर्शनसंग्रहकार 'अथ योगानुशासनम्' (योगसूत्र १।१) इस सूत्र में प्रयुक्त 'अनुशासन' पद के घटक 'अनु' उपसर्ग के प्रयोग का स्वारस्य बताते हुए वृद्धयोगियाज्ञवल्क्यस्मृति का वह वाक्य उद्धृत करते हैं जिसमें यह कहा गया है कि योग के प्रवर्तक हिरण्यगर्भ हैं कोई अन्य प्राचीन ऋषि नहीं उनके अनुसार विभिन्न पुराणों में यत्र-तत्र प्रसङ्गानुसार योग के कुछ विषयों का वर्णन मिलता है। विप्रकीर्ण होने के कारण उसे जनसाधारण द्वारा दुर्ग्राह्य समझकर महर्षि पतञ्जलि ने उसे संगृहीत कर उसका अनुशासन किया है[२]। उन्होंने अपने समय में उपलब्ध हैरण्यगर्भ योग एवं अन्य योगविषयक सिद्धान्तों को आत्मसात् कर उन्हें एक सुसम्बद्ध एवं व्यवस्थित सूत्रग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया। उनकी यह कृति योग का सर्वाधिक प्राचीन और सर्वश्रेष्ठ उपलब्ध ग्रन्थ है। इसमें प्रतिपादित योग प्रायः राजयोग के नाम से प्रसिद्ध है। उनकी इस कृति को इतनी अधिक प्रतिष्ठा मिली कि साधारणतया योग का अर्थ उनके इस ग्रन्थ में प्रतिपादित अष्टाङ्ग योग ही समझा जाने लगा और उन्हें योग का प्रवर्तक माना जाने लगा[३]।

कर्म, ज्ञान एवं भक्ति योगों का विशद विवेचन भगवद्गीता में उपलब्ध होता है। विशेषतः गीता का तृतीय अध्याय कर्मयोग, सप्तम अध्याय ज्ञान-विज्ञानयोग और बारहवाँ अध्याय भक्तियोग के नाम से प्रसिद्ध है। छठे अध्याय में ध्यानयोग का निरूपण किया गया है।

मन्त्रयोग में ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव आदि के मन्त्र का जप कर वत्सराज आदि के समान सिद्धि प्राप्त की जाती है[४]। योगतत्त्वोपनिषद् में कहा गया है कि मन्त्रयोग की साधना अल्पबुद्धि और अधम कोटि के साधक करते हैं[५]।

---

१ द्रष्टव्य, डॉ० रामशङ्कर भट्टाचार्य सम्पादित 'पातञ्जल योगदर्शनम्' की 'भूमिका' पृष्ठ २८-२९

२ ननु, 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः' इति याज्ञवल्क्यस्मृतेः पतञ्जलिः कथं योगस्य शासिता इति चेत्? अद्धा। अत एव तत्र तत्र पुराणादौ विशिष्य योगस्य विप्रकीर्णतया दुर्ग्राह्यार्थत्वं मन्यमानेन भगवता कृपासिन्धुना फणिपतिना सारं सञ्जिघृक्षुणा अनुशासनमारब्धं न तु साक्षाच्छासनम्। (सर्वदर्शन स० पृष्ठ ३४३)।

३ अथ सेश्वरसाङ्ख्यस्य वक्ष्ये पक्षं पतञ्जलेः।
पतञ्जलिरनन्तः स्याद्योगशास्त्रप्रवर्तकः॥ (सर्वदर्शनसिद्धान्तसङ्ग्रह १०।१)।
साम्प्रतं सेश्वरसाङ्ख्यप्रवर्तकपतञ्जलिप्रभृतिमुनिमतमनुवर्तमानानां मतमुपन्यस्यते। (सर्वदर्शनस० पृ० ३३१)।

४ ब्रह्मविष्णुशिवादीनां मन्त्रं जाप्यं विशारदैः।
साध्यते मन्त्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा॥ (योगराजोप० ३-४)।
मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत्।
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम्॥ (योगतत्त्वोप० २१-२२)।

५ अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः। (योगतत्त्वोप० २२)।

नवचक्रों में लीन होकर कृष्णद्वैपायन आदि की भाँति योग की सिद्धि करना लययोग है[१]। योगतत्त्वोपनिषद् एवं योगशिखोपनिषद् में लययोग का स्वरूप 'चित्तलय' बताया गया है[२]।

हठयोग में शरीरनिग्रह पर बल दिया जाता है। योगतत्त्वोपनिषद् में हठयोग का विस्तार से वर्णन किया गया है। हठयोगप्रदीपिकाकार स्वात्माराम योगीन्द्र ने आसन, प्राणायाम, मुद्रा एवं नादानुसन्धान को हठयोग का प्रमुख अङ्ग मानते हुए राजयोग की सिद्धि होने तक इनका अभ्यास करने का मत प्रतिपादित किया है[३]। उन्होंने विशेषतः मोटे व्यक्तियों के शरीरशोधन के साधन के रूप में विहित[४] षट्कर्मों धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति[५] का भी निरूपण किया है[६] और यह बताया है कि कुछ योगाचार्य इन्हें अनावश्यक मानते हैं[७]। उनके अनुसार लययोग, हठयोग आदि सभी योग अन्ततः राजयोग की सिद्धि के उपाय या साधन मात्र हैं[८]। हठयोग उन्नत राजयोग की ऊँचाई पर पहुँचने के इच्छुक व्यक्ति के लिए सीढ़ी का काम करता है,[९] किन्तु केवल

---

१ कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसंज्ञितः।
नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः॥ (योगराजोप० ४-५)।

२ लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः।
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्भुञ्जन्ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम्।
स एव लययोगः स्यात्। (योगतत्त्वोप० २३-२४)।
द्रष्टव्य, योगशिखोपनिषद् १।१३४-१३६

३ हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते। (हठयोग प्र० १।१९)।
आसनं, कुम्भकं चित्रं, मुद्राख्यं करणं तथा॥
अथ नादानुसन्धानमभ्यासानुक्रमो हठे। (हठयोग प्र० १।५८-५९)।
पीठानि, कुम्भकाश्चित्रा, दिव्यानि करणानि च।
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि॥ (हठयोग प्र० १।६९)।

४ कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम्। (हठयोग प्र० २।२३)।
मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत्।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः॥ (हठयोग प्र० २।२१)।
षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति॥ (हठयोग प्र० २।३६)

५ धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते॥ (हठयोग प्र० २।२२)।

६ द्रष्टव्य, हठयोगप्रदीपिका २।२४-३५

७ प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत्कर्म न सम्मतम्॥ (हठयोग प्र० २।३७)।

८ सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये। (हठयोग प्र० ४।१०३)।

९ श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव॥ (हठयोग प्र० १।१)।

हठयोग के अभ्यास में ही जीवन खपा देने वाले राजयोग से अनभिज्ञ व्यक्तियों को योगाभ्यास का फल नहीं मिलता[१]। अतः उन्होंने राजयोग न जानने वाले लोगों के लिए हठयोग प्रदीपिका की रचना की है[२]। हठयोग का उपदेश देने या प्रतिपादन करने में उनका प्रयोजन यही है कि उसके द्वारा साधक राजयोग की उपलब्धि कर सकें[३]।

राजयोग के इस अभिधान का कारण योगशिखोपनिषद् के अनुसार इस योग में रजस् और रेतस् का योग होना है[४]। श्री बी० के० एस्० आयंगर ने 'राजयोग' पद का अनुवाद 'The royal union with the Universal Spirit' किया है। उन्होंने राजयोग के घटक 'राज' पद का अर्थ 'राजा' किया है और इससे मन—जो इन्द्रियों का राजा है—का ग्रहण करते हुए राजयोग को मनोविजय का योग बताया है[५]।

साधारणतया राजयोग शब्द का प्रयोग पातञ्जल योगसूत्रों में प्रतिपादित योग के लिए किया जाता है और इस शब्द का अर्थ 'योगों का राजा या सर्वोत्कृष्ट योग' समझा जाता है। किन्तु इस सम्बन्ध में दो बातें अवधेय हैं। प्रथम तो यह है कि स्वयं पतञ्जलि ने अपने सूत्रों में प्रतिपादित योग को राजयोग कहीं नहीं कहा है और दूसरी यह कि 'योगों का राजा' इस अर्थ में 'योगानां राजा' इस विग्रह वाले समस्त पद का रूप 'योगराज' होता है तथा 'योगराजोपनिषद्' आदि में इस अर्थ में 'योगराज' पद का ही प्रयोग हुआ है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार 'दन्तानां राजानः' इस विग्रह में 'राजदन्तादिषु परम्' (अष्टा० २।२।३१) इस पाणिनीय सूत्र से 'राजदन्ताः' पद बनता है उसी प्रकार 'योगानां राजा' इस विग्रह में योग की उत्कृष्टतम स्थिति के लिए 'राजयोग' पद का प्रयोग शक्य है। इस सम्बन्ध में अवधेय है कि उपलब्ध गणपाठ में राजदन्तादि गण में 'राजयोग' शब्द नहीं आया है अतः साधारणदृष्ट्या उपर्युक्त विग्रह में उक्त सूत्र के बल से 'राजयोग' शब्द निष्पन्न नहीं होता। किन्तु महर्षि व्यास ने अपनी भगवद्गीता में 'राजविद्याराजगुह्ययोग' नामक नवम अध्याय में 'राजविद्या' एवं 'राजगुह्य' पदों का प्रयोग किया है जो 'राजयोग' पद के ही समान हैं और राजदन्तादिगण में उपलब्ध नहीं होते। गीता (९।२) के श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीवल्लभ, गोस्वामी श्रीपुरुषोतम, श्रीवेङ्कटनाथ, श्रीनीलकण्ठ एवं श्रीहनुमत् कृत भाष्यों में 'राजविद्या' पद का

---

[१] राजयोगमजानन्तः केवलं हठकर्मिणः।
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान्॥ (हठयोग प्र० ४।७९)।

[२] भ्रान्त्या बहुमतध्वान्ते राजयोगमजानताम्।
हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः॥ (हठयोग प्र० १।३)।

[३] प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते॥ (हठयोग प्र० १।२)।

[४] योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसंनिभम्॥
रजो वसति जन्तूनां देवीतत्त्वं समावृतम्।
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः॥ (योगशिखोप० १।१३६-१३७)।

[५] 'Light on Yoga', Introduction p. 24.

विग्रह 'विद्यानां राजा' ही उपलब्ध होता है। इसी प्रकार श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तम, श्रीवेङ्कटनाथ एवं श्रीनीलकण्ठ ने गीता ९।२ के अपने भाष्यों में 'राजगुह्य' पद का विग्रह 'गुह्यानां राजा' किया है। वेदान्तदेशिक 'राजविद्या' पद का समावेश राजदन्तादिगण में मानते प्रतीत होते हैं[1] और ब्रह्मानन्दगिरिव्याख्या के लेखक श्री वेङ्कटनाथ[2], तत्त्वदीपिकाकार श्रीवल्लभ[3] तथा भारतभावदीपकार श्रीनीलकण्ठ[4] को भी यही अभिप्रत लगता है। श्रीनीलकण्ठ के अनुसार 'राजयोग' पद में उपसर्जन का परनिपात 'राजदन्तादिषु परम्' (अष्टा० २।३।३१) सूत्र से ही हुआ है[4]। अतः आकृतिगण मानकर राजदन्तादि गण में राजयोग पद का समावेश करके 'राजदन्तादिषु परम्' (अष्टा० २।२।३१) सूत्र से 'योगानां राजा' इस विग्रह में 'राजयोग' शब्द की निष्पत्ति मानी जा सकती है और तब 'राजयोग' का अर्थ होगा 'सर्वश्रेष्ठ योग।' इसे योगों में श्रेष्ठ होने के अर्थ में राजयोग कहने का आशय यही प्रतीत होता है कि हठयोगादि अन्य योग अन्ततः इसी में पर्यवसित होते हैं[5]।

पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार योग चित्तवृत्तियों के निरोध को कहते हैं[6]। चित्तवृत्ति से तात्पर्य चित्त के विषयाकार में परिणमन से है। चित्तवृत्तियों का विभाजन प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति में किया जाता है[7]। इन वृत्तियों के प्रवाह का अपने कारण चित्त में लीन होकर रुक जाना ही चित्तवृत्तिनिरोध है। इनका निरोध योगसूत्रकार के अनुसार अभ्यास एवं वैराग्य से होता है[8]। गीता में भी कृष्ण ने अर्जुन को प्रमाथी एवं चञ्चल मन को निगृहीत करने के उपाय या साधन के रूप में अभ्यास और वैराग्य का ही उपदेश दिया है[9]। द्रष्टा पुरुष की स्वरूपावस्थिति की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला प्रयत्न ही अभ्यास कहलाता है[10]। पातञ्जल अष्टाङ्गयोग इस अभ्यास की ही व्याख्या है।

---

[1] राजदन्तादिषु वा पाठो द्रष्टव्यः (गीता तात्पर्यचन्द्रिका ९।२)।
[2] राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य परनिपातः। (गीता ब्रह्मानन्दगिरिकृता व्याख्या ९।२)।
[3] राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य परत्वम् (गीतातत्त्वदीपिका ९।२)।
[4] 'राजदन्तादिषु परम्' (अष्टा० २।३।३१) इत्युपसर्जनस्य परनिपातः (गीता भारतभावदीपव्याख्या ९।२)।
[5] द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ २०२ टिप्पणी ८-९ तथा पृष्ठ २०३ टिप्पणी १-३
[6] योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (योगसूत्र १।२)।
[7] योगसूत्र १।५,६
[8] अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (योगसूत्र १।१२)।
[9] चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ (गीता ६।३४)।
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते॥ (गीता ६।३५)।
[10] तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। (योगसूत्र १।३)।
तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (योगसूत्र १।१३)।

भाष्यकार व्यास ने प्रथम योगसूत्र के योगभाष्य में कहा है कि चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग समाधि को कहते हैं। अवधेय है कि वृत्तिनिरोध चित्त का सभी भूमियों में होने वाला धर्म है[1]। चित्तकी पाँचों भूमियों में वृत्तियों का कुछ न कुछ निरोध अवश्य रहता है। क्षिप्तावस्था में तमोगुण तथा सत्त्वगुण का, मूढावस्था में रजोगुण तथा सत्त्वगुण का, विक्षिप्तावस्था में केवल तमोगुण का, एकाग्रावस्था में केवल चतुर्भुज आदि ध्येयाकार वृत्ति को छोड़कर बाह्य एवं आभ्यन्तर सारी वृत्तियों का निरोध तथा निरुद्ध अवस्था में उक्त ध्येयाकार वृत्ति का भी निरोध और इस प्रकार निखिल वृत्तियों का निरोध होता है।

यद्यपि सभी भूमियों में कुछ न कुछ निरोध होता है, फिर भी योग सभी वृत्तियों में होने वाले चित्तवृत्तिनिरोध को नहीं केवल एकाग्र और निरुद्ध भूमियों में होने वाले चित्तवृत्तिनिरोध को ही कहते हैं। योग का लक्षण 'चित्तवृत्तिनिरोध' है और लक्ष्य 'एकाग्र तथा निरुद्ध अवस्था का निरोध।' यदि सारी चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहें तो यह लक्षण सम्प्रज्ञात समाधि पर लागू न होने से अव्याप्त होगा और यदि आंशिक निरोध को भी योग मान लें तो क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त पर भी लागू होने से लक्षण अतिव्याप्त हो जायेगा। प्रथम सूत्र के भाष्य के अनुसार जो चित्तवृत्तिनिरोध क्लेश, कर्म तथा आशय के नाश का हेतु हो उसे योग कहते हैं[2]। इसी भाष्य के आधार पर वाचस्पति मिश्र ने क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त अवस्थाओं के चित्तवृत्तिनिरोध में अतिव्याप्ति और एकाग्रावस्था के निरोध (सम्प्रज्ञात) में अव्याप्ति का उद्धार किया है।

योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षु ने **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधस्तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** इन दोनों सूत्रों की एकवाक्यता मानकर 'जो निरोध द्रष्टा पुरुष की स्वरूपावस्थिति का हेतु हो उसे योग कहते हैं' यह लक्षण करके प्रथम तीन भूमियों में अतिव्याप्ति और एकाग्र में (सम्प्रज्ञात समाधि ध्येयाकारवृत्ति वर्तमान होने के कारण पुरुष की स्वरूपावस्थिति का साक्षात् हेतु न होते हुए भी परम्परया—निरुद्ध अवस्था की असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा—स्वरूपावस्थिति का हेतु है) अव्याप्ति का उद्धार किया है। परस्पर अन्वय की योग्यता न होने से पूर्वोक्त दोनों सूत्रों की एकवाक्यता असम्भव है, और हो भी जाये तो एकाग्र में अव्याप्ति दुर्वार है। विज्ञानभिक्षु का समाधान भाष्यविरुद्ध भी है, अतः उपेक्षणीय है।

हम कह चुके हैं कि राजयोग से आजकल उपलब्ध पातञ्जल योग दर्शन का ग्रहण किया जाता है और पातञ्जल योग सूत्र में इसका लक्षण 'चित्तवृत्ति-निरोध' बताया गया है। योगभाष्यकार व्यास ने योग का लक्षण समाधि को बताते हुए दोनों को अभिन्न माना है। योग तथा समाधि को अभिन्न मानने में कभी-कभी यह कहकर सन्देह प्रकट किया जाता है कि योगसूत्रकार योग को अङ्गी अर्थात् साध्य एवं समाधि को उसका अङ्ग अर्थात् साधन मानते हैं और अङ्गी योग तथा उसकी अङ्गभूत समाधि का तादात्म्य सम्भव

---

१ योगः समाधिः। स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः।

२ यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति, सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते।...सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसम्प्रज्ञातः समाधिः। (योगसूत्रभाष्य १।१)।

नहीं है। इस प्रकार का सन्देह करने वालों का आशय यह है कि स्वयं योगसूत्रकार एवं योगभाष्यकार योग को अङ्गी या साध्य और समाधि को उसका अङ्ग या साधन कहते हैं तथा योग को अष्टाङ्ग अर्थात् आठ अङ्गों वाला बताते हुए उसके आठवें अङ्ग के रूप में समाधि का निरूपण करते हैं अतः योग और समाधि शब्दों को परस्पर भिन्न अर्थों का वाचक न मानकर पर्यायवाची या समानार्थक मानने में साध्य और साधन में विद्यमान भेद की उपेक्षा होगी।

इस सम्बन्ध में अवधेय है कि पातञ्जल योगदर्शन में प्रयुक्त योग शब्द 'समाधि' का समानार्थक ही है यद्यपि शास्त्रकारों ने योग और समाधि दोनों शब्दों का प्रयोग कभी भावव्युत्पन्न रूप में और कभी करणव्युत्पन्न रूप में किया है। इस प्रकार 'योग' को अङ्गी या साध्य और 'समाधि' को अङ्ग या साधन कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक ठीक होगा कि पातञ्जल योगशास्त्र में भावव्युत्पन्न रूप में प्रयुक्त 'योग' या 'समाधि' को अङ्गी या साध्य एवं करणव्युत्पन्न रूप में प्रयुक्त 'योग' या 'समाधि' को अङ्ग या साधन मानकर दोनों शब्दों के समानार्थक होने का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है।

भावव्युत्पन्न 'योग' शब्द की निष्पत्ति समाध्यर्थक (दिवादिगणी, आत्मनेपदी, अनिट्) 'युज' धातु ('युज' समाधौ धातुपाठ १२०२) से 'योजनं योगः' इस विग्रह में 'भावे' (पाणिनीयसूत्र ३।३।१८) सूत्र से भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय करके होती है और करणव्युत्पन्न 'योग' शब्द की निष्पत्ति उपर्युक्त 'युज' धातु से ही 'युज्यते चित्तमनेन इति योगः' इस विग्रह में 'करणाधिकरणयोश्च' (पाणिनीय सूत्र ३।३।११७) से प्राप्त 'ल्युट्' का बाहुलक दृष्टि से बाध कर 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (पाणिनीयसूत्र ३।३।१९) सूत्र से करण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय करके होती है। इसी प्रकार भावव्युत्पन्न 'समाधि' शब्द की निष्पत्ति 'सम्' तथा 'आङ्' उपसर्गपूर्वक, धारणार्थक (जुहोत्यादिगणी, उभयपदी, अनिट्) 'धा' धातु ('डुधाञ् धारणपोषणयोः'—धातुपाठ १११७) से 'समाधानं समाधिः' इस विग्रह में 'उपसर्गे घोः किः' (पाणिनीयसूत्र ३।३।९२) सूत्र से भाव अर्थ में 'कि' प्रत्यय करके होती है, और करणव्युत्पन्न समाधि शब्द की निष्पत्ति उपर्युक्त धातुप्रत्ययादि से ही 'समाधीयते चित्तमनेन इति समाधिः' इस विग्रह में उपर्युक्त प्रकार से ही होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि योग और समाधि शब्द पर्यायवाची एवं समानार्थक हैं तथा दोनों ही शब्द भावव्युत्पन्न रूप में अङ्गी या साध्य के लिए एवं करणव्युत्पन्न रूप में अङ्ग या साधन के लिए प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (योगसूत्र १।२) सूत्र में योग शब्द तथा 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' (योगसूत्र १।५१) सूत्र में 'समाधि' शब्द का प्रयोग भावव्युत्पन्नरूप में तथा योगसूत्र २।२९ आदि में समाधि शब्द का प्रयोग करणव्युत्पन्न अर्थ में किया गया है।

विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों एवं आयुर्वेद में स्वीकृत योग के स्वरूप में साधर्म्य-वैधर्म्य समझने के लिए हमें दर्शन एवं आयुर्वेद शास्त्रों के स्वरूप, प्रयोजन एवं पारस्परिक सम्बन्ध को दृष्टि में रखना होगा। यद्यपि दुःखोपशम को सभी शास्त्रों में पुरुषार्थ माना

गया है[1] किन्तु दुःखोपशम के स्वरूप को लेकर आयुर्वेद एवं दर्शन शास्त्रों में भेद हो जाता है। आयुर्वेद का प्रमुख लक्ष्य व्याधियों आदि के रूप में प्रकट होने वाले दुःख की सामान्य निवृत्ति है और दर्शन शास्त्र आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष पर बल देता है। यद्यपि कभी-कभी आयुर्वेद को भी मोक्षप्रद कहा जाता है और चरक-संहिता में निरूपित नैष्ठिकी चिकित्सा को मोक्ष का साधन बताते हुए चक्रपाणि ने भी कहा है कि आयुर्वेद मोक्षफलक शास्त्र है[2] तथापि जैसा कि चरक संहिता में आयुर्वेद की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में कहा गया है सभी प्राणियों को कष्ट देने वाली व्याधियों के उपशम का उपाय जानने के लिए ऋषियों के प्रतिनिधि के रूप में भरद्वाज इन्द्र के पास गये और उनसे आयुर्वेद सीखा[3]। आयुर्वेद में संसार एवं जीवन को सुख-दुःखमय माना जाता है और रोगों के रूप में होने वाले दुःख के उपशम पर बल दिया जाता है जब कि दर्शन शास्त्र संसार को दुःखरूप मानकर चलता है और भोगारूढ दुःखों के उपशम की चिन्ता करने की अपेक्षा अनागतावस्थ सूक्ष्म दुःख, भावी जीवन में होने वाले, पुनर्जन्म एवं तज्जन्य दुःख से आत्यन्तिक मुक्ति पाने पर अधिक बल देता है[4]। इसीलिए जनसाधारण को आयुर्वेद दर्शन की अपेक्षा अधिक उपयोगी लगता है और उससे जनसाधारण को एवं दार्शनिक को समान रूप से लाभ पहुँचता है। रोगी और निर्बल व्यक्ति न तो योगसाधना कर सकता है और न आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है[5] अतः आयुर्वेद की उपयोगिता निर्विवाद रूप से सभी के लिए है। आज स्वास्थ्यलाभ के लिए यौगिक क्रियाओं के उपयोग की सर्वत्र चर्चा होते देखकर कुछ लोगों को यह भ्रम हो सकता है सम्भवतः योगी स्वास्थ्यलाभ के लिए योगसाधना का आश्रय लेते रहे हैं और साधारण लोग आयुर्वेद का, किन्तु वास्तविकता यह है कि स्वस्थ शरीर योगसाधना की प्रथम आव-

---

[1] द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ १८८ टिप्पणी ३-४

[2] द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ १८८ टिप्पणी ४

[3] चरकसंहिता १।१।१७-२२

[4] यावच्चित्तसत्ता तावदेवानागतदुःखसत्तानुमीयते, तन्निवृत्तिश्च पुरुषार्थः। (सांख्यसूत्रभाष्य १।१)।

स्थूलं दुःखं वर्तमानावस्थं तच्च द्वितीयक्षणादुपरि स्वयमेव नङ्क्ष्यति, अतो न तत्र ज्ञानापेक्षा; अतीतं तु प्रागेव नष्टमिति न तत्र साधनापेक्षा इति परिशेषाद् अनागतावस्थसूक्ष्मदुःखनिवृत्तिरेव पुरुषार्थतया प्रकृते पर्यवस्यति तथा च योगसूत्रम्—'हेयं दुःखमनागतम्' (योगसूत्र २।१६) इति। (सांख्यसूत्र भाष्य १।१)।

दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्तते, वर्तमानं च स्वक्षणे भोगारूढम् इति न तत् क्षणान्तरे हेयतामापद्यते। यदेवानागतं दुःखं तदेवाक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति, नेतरं प्रतिपत्तारं, तदेव हेयतामापद्यते। (योगसूत्रभाष्य २।१६)।

[5] नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः। (मुण्ड० उप० ३।२।४)।

श्यकता है। योगी आयुर्वेद का उपयोग न केवल स्वास्थ्यलाभ के लिए करते रहे हैं अपितु उन्होंने ओषधियों के प्रयोग से सिद्धियाँ भी प्राप्त की हैं। योगसूत्रों में ओषधियों के प्रयोग से होने वाली सिद्धियों का उल्लेख है[१] और योगभाष्यकार ने भी असुरभवनों में रसायनों के प्रयोग से होने वाली सिद्धियों की चर्चा की है[२]। यद्यपि ये सारी सिद्धियाँ भी अन्ततः योग का लक्ष्य नहीं हैं। सच्चे योगी की अभिरुचि आत्मदर्शन में होती है आत्मप्रदर्शन या सिद्धिप्रदर्शन में नहीं।

आयुर्वेद एवं दर्शन में उपर्युक्त अन्तर होने के कारण ही जहाँ जीवन को दुःखरूप मानने वाले दर्शनों में योग को दुःखनिवृत्ति का साधन मानते हुए उसका अर्थ मन या चित्त का आत्मनिष्ठ होना, समाहित होना, या जीवात्मा एवं परमात्मा का संयोग आदि माना जाता है वहीं जीवन को सुखदुःखमय मानने वाले आयुर्वेद में योग को दुःखों (एवं सुखों) का जनक मानते हुए उससे इन्द्रियार्थसन्निकर्षसहित उन सभी संयोगों का ग्रहण किया जाता है जो सुखदुःखात्मक संवेदन के कारण हैं। इसीलिए चरकसंहिता में अतिदुर्लभ समयोग को सुख का कारण तथा अनायास सुलभ विषमयोग—जो अतियोग, मिथ्यायोग और हीनयोग (या अयोग) के भेद से त्रिविध है—को दुःखों का कारण कहा गया है[३]। इस प्रकार दर्शन के लिए योग आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने की साधना-पद्धति, मार्ग या उपाय है और आयुर्वेद के लिए सुख-दुःखात्मक लौकिक संवेदन की सामान्य प्रक्रिया का एक अङ्ग।

दर्शन विभाग, कला संकाय
का० हि० वि० वि०

———

१ जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः। (योगसूत्र ४।१)।

२ ओषधिभिः असुरभवनेषु रसायनेन इत्येवमादि। (योगसूत्रभाष्य ४।१)।

३ मिथ्यातिहीनयोगेभ्यो यो व्याधिरुपजायते।...
सुखहेतुः समस्त्वेकः समयोगः सुदुर्लभः।
नेन्द्रियाणि, न चैवार्थाः, सुखदुःखस्य हेतवः।
हेतुस्तु सुखदुःखस्य योगो दृष्टश्चतुर्विधः॥
सन्तीन्द्रियाणि, सन्त्यर्था, योगो न च, न चास्ति रुक्।
न सुखं, कारणं तस्माद्योग एव चतुर्विधः॥ (चरकसंहिता ४।१।१२६-१२९)।

योग में ध्वनि और संगीत

श्रीमती विमला मुसलगाँवकर

योगसाधना भारत की श्रेष्ठतम देन है। मानव देह को ही प्रयोगशाला बनाकर 'चितवृत्तिनिरोध' के माध्यम से जिन सत्यों की उपलब्धियां योगी को हुईं, उनमें से 'नाद और संगीत' की उपलब्धियां महत्त्वपूर्ण हैं। विज्ञान ने जिन सत्यों को जाना और माना है, उसे आज से हजारों वर्ष पूर्व भारतीय योगी ने जान लिया था, तथा उसीको साधन बनाकर 'आत्मसाक्षात्कार' की अपूर्व उपलब्धि से वह जीवन्मुक्त हुआ था।

शब्द की शक्ति और सार्थकता का विचार कर योग के प्रसंग में 'ध्वनि' शब्द से नादात्मक अर्थ का ग्रहण करना ही उचित प्रतीत हो रहा है, क्योंकि युगचेतना शब्दों के माध्यम से ही मौलिक अभिव्यक्ति सदा किया करती है। वैयाकरणों ने जिसे 'स्फोट' शब्द से कहा, साहित्यिकों ने उसे ही 'ध्वनि' शब्द से अभिव्यक्त किया, उसे ही योगियों ने 'नाद' कह कर अभिव्यक्ति को एक नवीन शक्ति और दिशा प्रदान की।

लोकव्यवहार में साधारणतया दो पृथक् वस्तुओं के संयोग को ही 'योग' कहते हैं। जैसे—रवि-चन्द्र का योग। अभावपूर्ति होना भी 'योग' है। जैसे—'धनयोग', यहां भी संयोग के अर्थ में ही योग शब्द आया है। साधारण बोलचाल में तथा शास्त्रीयभाषा में भी 'योग' शब्द का अर्थ 'मेल' ही है। गणितशास्त्र में 'योग' का अर्थ 'जोड़ना' प्रसिद्ध ही है। किन्तु पारिभाषिक भाषा में 'योग' शब्द उस दर्शनशास्त्र के लिये रूढ़ हो गया है, जिसका ध्येय व्यष्टि चेतन का समष्टिचेतन के साथ सम्बन्ध स्थापित करना है। 'योग' वह शक्ति है, जिसके प्रभाव से यह जीवात्मा उस परमात्मा के साथ युक्त होता है।

योगीश्वर याज्ञवल्क्य की स्मृति के अनुसार योगविद्या के आदि आचार्य महर्षि हिरण्यगर्भ हैं।[१] किन्तु आज तो हमें महर्षि पतञ्जलि का प्रामाणिक शास्त्रीयग्रन्थ 'योग-सूत्र' ही उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में योगविद्या का सूत्रों के माध्यम से दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। योग के चार विभाग—मंत्रयोग, लययोग, हठयोग, तथा राजयोग, के नाम से उपनिषदों में भी उपलब्ध होते हैं।[२] लोकजीवन में 'हठयोग' ही योग के नाम से रूढ़ है। अतः 'राजयोग' की आधारभूमि तथा मंत्र और लययोग के विलयस्थान-रूप 'हठयोग' को ही सामग्री के रूप में ग्रहण किया है। 'राजयोग' का प्रारम्भ 'मन' से और 'हठयोग' का सीधा संबंध 'शरीर' से है। सम्पूर्ण सृष्टि को सूक्ष्मरूप से सहेजे 'नरदेह' का पूर्ण उपयोग तथा दर्शन 'राजयोग' में वैसा नहीं जैसा 'हठयोग' में है।

---

१ 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नाऽन्यः पुरातनः।'

२ 'योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः॥'

यो० त० उ० श्लो० १९, पृ० ३६७]

भारतीय हठयोगी तथा संगीतकार दोनों ने ही जिसे अपने प्रयोग का क्षेत्र चुना वह 'नरशरीर' ही था[1]। जो समग्र ब्रह्माण्ड का ही लघुरूप है। वही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन है। जन्म-जन्मान्तरों के संचित-संस्कारों के भोग का उपाय भी एक मात्र वही 'नरदेह' ही है। उसी देह को साधना की भूमि बनाकर उसमें (अचेतन-शरीर में) 'चेतन' की स्थिति कहाँ और कैसे है? उसकी खोज करते हुए स्वानुभूतियों के आधार पर जिन अपूर्व तथ्यों को पाया, उन्हें ही सामाजिक जीवन के पोषण तथा उन्नति के हेतु इन योगियों ने दे दिया। उन उपलब्धियों में से 'नाद तथा संगीत' महत्त्व-पूर्ण हैं।

अपने सुदीर्घ आध्यात्मिक अनुभवों से इन योगियों ने 'नादतत्त्व' की शक्ति तथा उसके स्वरूप का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और विशद विवेचन किया है। किसी भी पदार्थ का पूर्ण ज्ञान प्रत्यक्षदर्शन से बढ़कर अन्य किसी साधन से नहीं हो सकता। प्रयोगात्मक होने से 'योग' ही एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा 'चक्रभेदन' और कुण्डलिनी जागरण'[2] की प्रक्रियाओं के मध्य साधक-योगी ने शब्द, ध्वनि तथा स्फोट के सूक्ष्मभेदक तत्त्व को आकार-प्रकार, वर्ण, रूप-रंग के साथ देखा है, तभी उसे (शब्द को) एक नई संज्ञा 'नाद' प्रदान की।

प्रकाश से भी अधिक उपयुक्त पथ-प्रदर्शक, अप्रतिहत गतिमान् नादतत्त्व है। अतएव अध्यात्ममार्ग के बीहड़, सकरे, अटपटे, रपटीले अनजान पथ का एकमात्र निर्देशक 'नाद' को

---

[1] 'एवं विधे तु देहे······प्रसाधयन्ति धीमन्तो भुक्ति मुक्तिमुपायतः॥
संगी० रत्ना० १।२।१६३½] पृ० ६१

[2] 'मेरुदण्ड' के भीतर 'ब्रह्मनाड़ी' में पिरोये हुए छह (सात, आठ और नौ) कमलों या चक्रों की कल्पना की जाती है, इन्हीं का नाम षट्चक्र हैं। ये षट्चक्र शरीर के जिन अवयवों के सामने मेरुदण्ड में स्थित हैं, उन्हीं अवयवों के नाम से संबोधित किये जाते हैं। प्रत्येक का अपना रंग, दलसंख्या, स्थान, दल-अक्षर तथा गुणादि कहे गये हैं। इन चक्रों के केन्द्रों से ऊपर के चक्रों के दलों पर जब प्राणवायु अभ्यास के क्षणों में शनैः शनैः क्रमशः स्थिर होती है, तब उसे 'चक्रभेदन' कहते हैं। कुण्डलिनी जागरण—मेरुदण्ड के निचले नुकीले कन्द भाग में महाशक्ति की प्रतिमूर्ति कुण्डलिनी का निवास है। शरीर-स्थित प्रमुख चौदह नाड़ियों में से भी तीन 'इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना' प्रमुखतम हैं। मेरुदण्ड के बायीं, दाहिनी और मध्य में स्थित ये नाड़ियां जीव को जीवत्व देने के लिये सूक्ष्म से सूक्ष्मतर छिद्रों में प्रवेश कर जाती हैं। सुषुम्ना नाड़ी में कदलीस्तम्भ की तरह वज्रा, चित्रिणी तथा ब्रह्म नाड़ी हैं। योग-क्रियाओं द्वारा जागरित कुण्डलिनी-शक्ति, इसी ब्रह्मनाड़ी के द्वारा कपाल में स्थित ब्रह्मरन्ध्र में जाकर पुनः लौट आती है, तब सम्पूर्ण स्नायुमण्डल दिव्य आलोक से जग मगा उठता है। मेरुदण्ड में स्थित यही भास्वर नाड़ी सर्पाकार सी प्रतीत होती है, इसी कारण उसे काव्यमयी भाषा में 'कुण्डलिनी' कहा गया है। कुण्डलिनी-जागरण दो रूपों में दृष्टिगोचर होता है—१. प्राणोत्थान के रूप में और २. अपूर्व प्रकाशमयी तथा क्रियामयी अवस्था के उत्पन्न होने के रूप में। दूसरी अवस्था एक अकल्पनीय, अवर्णनीय अवस्था है।

ही चुना। नादविन्दूपनिषद्[1] में मन को संयमित करने की अपूर्व शक्ति का नाद में होना बताया गया है। वहीं पर यह भी उल्लेख किया गया है कि नाद में आसक्त हुआ चित्त नाद के अतिरिक्त किसी विषय को नहीं चाहता। अर्थात् नादपाश से बंधा हुआ निरुच्छ्वास चित्त चांचल्यरहित होकर बाहरी भीतरी विषयों को भूलकर स्तब्ध हो जाता है। तब योगी की नादोपासना उसके चित्तरूपी अश्व के लिये परिधा बन जाती है। संसार में गजबल तथा अश्वबल प्रसिद्ध ही है। मन की शक्ति का अनुमान लगाया जा सके इसलिये उपनिषद् में ऐसी उपमा देकर उपमेय 'नाद' की लोकोत्तर शक्ति की ओर संकेत किया है। मृग, भुजंग और कुरंग के दृष्टान्त से योगी के चित्त की विरक्ति, तन्मयता और उसके आत्मोत्सर्ग की ओर संकेत किया है। योगशिखोपनिषद्[2] में भी नाद के स्वरूप तथा उत्पत्ति का विवरण बड़ी सुन्दरता के साथ किया है—परब्रह्म की इच्छाशक्ति ही ब्रह्मनाद है, उसे अविनाशी 'शब्द-ब्रह्म' कहते हैं। मूलाधार में स्थित नाद की आधारभूत अव्यक्त शक्ति 'विन्दु' रूप है। उससे 'नाद' उत्पन्न होता है। उसीको 'पश्यन्ती' के रूप में लोग जानते हैं। योगी लोग उसीसे समस्त विश्व को देखते हैं। 'नास्ति नादात् परो मन्त्रः' अर्थात् नाद से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है। नाद की उत्पत्ति के क्रम में 'नाद' ही 'पश्यन्ती' वाक् है ऐसा कह कर उसकी दर्शन शक्ति की ओर संकेत कर दिया है। उष्णता का दृश्यरूप 'प्रकाश' है। संगीत रत्नाकर में भी 'प्राणाग्निसंयोग' को नादोत्पत्ति का कारण कहा गया है[3]। 'नाद' अपने श्रव्यरूप के साथ गति का दृश्यरूप भी है। उष्णता, नाद और गति परस्पर सापेक्ष हैं। नाद के लियें गति आवश्यक है, और गति के होते ही प्रकाश उत्पन्न होता है। "ब्रह्मप्रणवसन्धाननादोज्योतिर्मयः शिवः[4]" अथवा "ज्योतिर्मयः शिवो नादः[5]" आदि वचनों से उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

योग में 'नाद' का फल 'परमपद या विदेहकैवल्य' का लाभ बताया गया है। योगियों ने अनादिप्रवाहरूप इस 'नाद' का उपयोग तीन रूपों में किया है—

---

१ 'मकरन्दं पिबन् भृङ्गो गन्धान् नापेक्षते यथा।
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि कांक्षते ।।'
नियामनसमर्थोऽयं निनादो निशिताङ्कुशः।
नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ।।
ना० बिं० उ० श्लो० ४२।४५, पृ० २२३-२२४]

२ 'अक्षरं परमोनादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते।
मूलाधारगता शक्तिः स्वाधारा बिन्दुरूपिणी ।।
तस्यामुत्पद्यते नादः सूक्ष्मबीजादिवाङ्कुरः।
ताम्पश्यन्तीं विदुर्विश्वं यया पश्यन्ति योगिनः।। (यो० शि० उ० ३।२-३, पृ० ४३२)

३ 'नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः।
जातः प्राणाग्निसंयोगात्तेन नादोऽभिधीयते।। सं० रत्ना० १।३।६, पृ० ६४।

४ ना० बिं० उ० श्लो० २९, पृ० २२०।२९३, पृ० २२०।

५ 'ब्रह्मप्रणवसँल्लग्ननादो ज्योतिर्मयात्मकः। ना० बिं० उ० श्लो० ४६, पृ० २२४।

१—प्रकाशकत्व धर्म से युक्त होने के कारण शरीरस्थित अनेक गुह्यतथ्यों का ज्ञान प्राप्त किये योगी ही वेद के उक्त कथनों का विवेचन कर सकते हैं।[१] कुण्डलिनी स्वरूप आदि-शक्ति के दर्शन, षट्चक्र[२] दर्शन, पञ्चकोषों[३] की स्थिति, उनके व्यापार तथा उनका परस्पर सम्बन्ध, पञ्च महाभूतों[४] के वर्ण, शक्ति और व्यापार, ध्यान, धारणा, बुद्धि आदि का विशिष्टज्ञान करानेवाला 'नाद' ही है। 'निर्विचार या सबीज-समाधि तथा 'असम्प्रज्ञात या निर्बीज-समाधि' के स्वरूप का ज्ञान उसी से हो पाता है।[५]

२—गन्तव्यमार्ग की प्राप्ति के उपाय रूप में 'नाद' का उपयोग किया है।[६]

३—प्रतीक रूप में भी उस नाद को स्वीकार किया है। साधक योगी को स्वात्मोन्नति की विभिन्न अवस्थाओं में जो नाद सुनाई दिया और उसे जिस देश काल तथा व्यक्ति के संदर्भ में रखा गया उसी की कल्पना के लिये उस 'नाद' को देशज प्रतीकों के रूप में उसने कहा। भारतीय योगी ने जिस ध्वनि को घण्टे, भेरी, शंख आदि के तुल्य कहा, उसे पाश्चात्य योगी किसी भिन्न आतोद्य के माध्यम से भी रख सकता है।

वैष्णवी मुद्रा में नादानुसन्धान के लिये अन्तर्मुख हुए योगी ने दाहिने कान से जिन नादों को सुना उसे ही नादबिन्दूपनिषद् तथा योगशिखोपनिषद् में क्रम से कहा गया है।[७] प्रारंभिक अवस्था में वह योगी अनेक प्रकार के महान्, गंभीर, घन और तीव्र नाद सुनता है। ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वह सूक्ष्म-सूक्ष्मतर नादों को भी सुनने लगता है। इस कथन से यह स्पष्ट है कि योगी ने स्थूलध्वनि से लेकर सूक्ष्म-सूक्ष्मतर ध्वनि तक क्रमशः सुना है। वस्तुतः सृष्टि की रचना में चेतनाशक्ति का अवतरण हुआ। उस समय चेतना

---

[१] 'अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानाम्पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोषः स स्वर्गोज्योतिषावृतः॥ अथर्व. १०।२।३१। तथा—
'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'
(यो० सू० सा० पा० सू० १८)

[२] (१) मूलाधारचक्र, (२) स्वाधिष्ठानचक्र, (३) मणिपूरचक्र (४) अनाहतचक्र, (५) विशुद्धिचक्र, (६) आज्ञाचक्र।

[३] अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय—पांचकोष हैं।

[४] आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी—पांचमहाभूत हैं।

[५] 'सवितर्क-निर्वितर्क, सविचार-निर्विचार।
'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्वीजः समाधिः'।
(यो० सू० पा० १ सू० ५१)
'ता एव सबीजः समाधिः'—(यो० सू० पा० १ सू० ५६)

[६] 'मूलाधारात्……………चतुर्द्वारस्य मध्यमे'
(ध्या० विं० उ० श्लो० १०१-३, पृ० २११)
तथा—'घंटादिनादसक्तस्तब्धान्तः…………प्रवीणश्चेत्'॥
(हठयो० प्र० उपदे० ४ श्लो० ९९)

[७] 'सिद्धासनस्थितोयोगी……………सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने॥
(ना० विं० उ० श्लो० ३१-३६½, पृ० २२१-२)

शक्ति क्रमशः अधिक से अधिक स्थूल के सम्पर्क में आई और वह विविध, विचित्र, तथा अनेक हो गई, किन्तु इस प्रक्रिया में उसका रसांशः अथवा आनन्दांश क्रमशः क्षीण होता गया। समुद्रगर्जन और मेघगर्जन में स्वरव्यंजना नहीं है। भेरी में केवल एक स्वर की अभिव्यक्ति होती है तथापि इनमें क्रम है। अन्य ध्वनियों की अपेक्षा मधुर निर्झर की झर्झरध्वनि को सुनने पर तथा उन ध्वनियों के श्रवणक्रम को पढ़ने पर तुरन्त ही इस तथ्य की ओर ध्यान जाता है कि उन नादों के सुनने में सृष्टि का विलोम अथवा आरोही क्रम ही है। सृष्टि का अनुलोम क्रम अवरोही है, अर्थात् सूक्ष्म का क्रमशः स्थूल में अवतरण है। किन्तु उनके दर्शन के समय स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने से आरोही क्रम रहता है। अवनद्धवाद्य[1] स्थूल-महान् तथा घन-तीव्र नाद के जनक हैं, किन्तु उनमें स्वरवैचित्र्य नहीं है।

इन नादों के अनन्तर आसन पर बैठे हुए योगी ने अभ्यास के मध्य में मर्दल (अवनद्ध) की ध्वनि, उसके बाद घण्टे की टन-टन ध्वनि और तब काहल (सुषिर) की ध्वनि सुनी। इन ध्वनियों के श्रवण में भी स्वर-व्यंजना की दृष्टि से (जो सांगीतिक ध्वनि का प्राण है) वही स्थूल से सूक्ष्मनादों की ओर जानेवाला क्रम है।

अभ्यास के अन्त में योगी जिन नादों को सुनता है, वे नाद क्रमशः किंकिणी (घनवाद्य), वंशी (सुषिर), वीणा (तत) तथा भ्रमर की गुंजार हैं। यहां पर यह जिज्ञासा हो सकती है कि अन्तिम ध्वनि को जब भ्रमर की गुंजार (नाद) से प्रकट किया है, तब पूर्ववर्ती अन्य सुने हुए नादों को पशु पक्षियों की बोलियों से ही क्यों नहीं कहा? जबकि संगीत के ग्रंथों में पशु-पक्षियों की बोलियों में संगीत के सातों स्वरों का उल्लेख प्राप्त है।[2] इसका समाधान यह हो सकता है कि शरीर के भीतर सुनाई देने वाले नादों में जो रंजकता विविधता तथा मधुरता है, उसकी व्यंजना वाद्यों के द्वारा ही सम्भव हो सकती हो, जो किसी एक पक्षी की बोली में संभव नहीं हो सकती। अन्य एक कारण यह भी संभव है कि पशु-पक्षी की बोली में एक स्वर की तो अभिव्यक्ति हो सकती है, किन्तु प्राणि मात्र के नादों का श्रावण प्रत्यक्ष ही हो सकता है, वाद्यों के नादों की तरह उनका निदर्शन अर्थात् चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। डॉ० बी० सी० देव का अनुमान है कि 'भ्रमर-गुञ्जन' में आवर्तन की विपुलता है, जो अन्य पक्षियों की बोलियों में नहीं प्राप्त होती। संभवतः इन्हीं सब कारणों से हमारे यहां के योगियों ने स्वानुभव के बल पर भीतरी नाद का सादृश्य, वाद्यों के माध्यम से प्रकट किया हो। पशु पक्षियों के नाद में उसके प्रकाशन की असमर्थता को वे अवश्य जानते होंगे। इस प्रसंग में कतिपय बातों का विश्लेषण करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है—

१—शारीरी वीणा में नादानुसन्धान का जो क्रम है, वह स्वर व्यंजना के अवरोही क्रम में है।

---

१ 'चर्मावनद्धवदनमवनद्धम्' (सं० रत्ना० श्लो० ५½, पृ० २२८)

२ 'मयूर-चातक-च्छाग-क्रौञ्चकोकिलदर्दुराः।
गजश्चसप्तषड्जादीन् क्रमादुच्चारयन्त्यमी॥

—सं० रत्ना० १।३।४६-२, पृ० ९१]

२—गात्रवीणा में ही स्वर प्रथमतः प्रकट हुए हैं, पश्चात् वे दारवी वीणा में आये।[१]

३—गात्रवीणा में देवी देवताओं की स्थिति का उल्लेख योगियों ने किया है।[२] संभवतः इसी कारण दारवी वीणा के विभिन्न अंगों में भी देवी और देवताओं की कल्पना की गई ह। संगीत रत्नाकर के वाद्याध्याय में एक तंत्री वीणा की निर्माण विधि के अनन्तर कहा है[३]—"प्रकृतिः सर्ववीणानामेषा", 'दण्डः-शंभुः', 'तन्त्री–उमा', 'ककुभः–कमलापतिः; 'पत्रिका–इन्द्रः, 'तुम्वः–ब्रह्मा', 'नाभिः–सरस्वती', 'दोरकः–वासुकिः', 'जीवा—सुधांशुः' 'सारिका–रविः—इस प्रकार सर्वदेवमयी समस्त मंगलों को देनेवाल. यह वीणा है।[४]

भारतीय योगी ने जीवन को समग्रता से देखा है। अतएव उन्होंने एकता में अनेकता का दर्शन किया है। यहाँ कभी भी ऐसी दृष्टि नहीं रही कि पर्वतों, जंगलों अथवा कन्दराओं में ध्वनि सुनी और तब उसी के आधार पर वाद्य-निर्माण किये गये हों। यहाँ का साधक और दार्शनिक तो अपने भीतर से आरंभ करके ही वाहर की ओर चला है।

आज भी संगीत के क्षेत्र में वजाये जाने वाले वाद्यों को देखकर तथा सुनकर इस तथ्य का ज्ञान होता है कि अवनद्ध-वाद्य व्यंजन-ध्वनि प्रधान होते हैं। स्वर-व्यंजना की अभिव्यक्ति के क्रम में 'तत' तथा 'सुषिर' की अपेक्षा से वे अन्तिम पड़ते हैं। स्वरोन्मेष की व्यंजना का श्रेष्ठतम प्रकाशक तन्त्रीवाद्य या वीणा ही है। वीणा और अवनद्ध के मध्य में सुषिर आते हैं। सुषिर-वाद्यों का प्राणवायु से सीधा संवंध रहने पर भी सुषिर-वाद्य वंशी आदि, शरीर के हाथों की अंगुलियों की सहायता से वजता है, इसीलिये उसे मध्य में रखा गया है। भीतरी नाद-श्रवण आज के वाद्यों के विकास और क्रम की रूपरेखा को स्पष्ट करता है। आज के वाद्यों के विकास के मूल में स्वरव्यंजना का वैचित्र्य ही एक मात्र कारण है।

४—नादानुसंधान से समस्त संचित पापों का क्षय हो जाता है और चित्त तथा प्राणवायु निरंजन में विलीन हो जाता है।[५] योग में नादानुसंधान का प्रयोजन तो मोक्ष प्राप्ति ही है। वह एक शक्तिशाली सनातन साधन है, जो मोक्ष प्राप्ति में सहयोग प्रदान करता है। नाद की चर्चा करते हुए योगियों ने उसे अनाहत और आहत के रूप में दो प्रकार का सुना। श्वासोच्छ्वास की गति में जिस 'नाद' का उन्होंने श्रवण किया, वह

---

१ 'पूर्वं शरीरादुद्भूतास्ततो गच्छन्ति दारवीम्।
ततः पुष्करजञ्चैवमनुयान्ति घनं (ध्वनिं) पुनः (युताः)॥
—ना० शा० IV अ–३१, पृ० ४१०]

२ षट्चक्र निरूपण पुस्तक में देखिये।

३ सं० रत्ना० ३।६।५३–५५३/४, पृ० २३७]

४ 'सर्वदेवमयी तस्माद् वीणेयं सर्वमङ्गला'
—सं रत्ना० वाद्याध्या० VI ५६, पृ० २३७]

५ 'सदानादानुसन्धानात् क्षीयन्ते पापसञ्चयाः।
निरञ्जने विलीयेते निश्चितं चित्त-मारुतौ॥
—हठयो० प्रदी० श्लो० १०५, पृ० ७२]

'सोऽहं' था। वह हृदय के स्पन्दन के साथ सम्बद्ध था। इसीलिये उसे 'अनाहत' नाम दिया। उपनिषदों में उसे 'अनाहत' संज्ञा देने में दो हेतु 'हृज्जत्वात् नित्यत्वाद्वा' बताये गये हैं। आजीवन हृदय के स्पन्दन के साथ आबद्ध रहने के कारण ही उसे हृदय से उत्पन्न कहा गया है, किन्तु आत्मा की तरह 'नित्यत्व' तो उसका स्वरूप ही है (योगियों का अनाहत-नाद तो स्पन्दमात्र है)। 'सोऽहम्' इस अनाहत नाद को योगियों ने अर्थोत्पादक कहा है। 'स:'=वह, 'अहम्'=मैं='सोऽहम्'=वह मैं हूँ। किन्तु 'आहतध्वनि' भी अर्थोत्पादक है ऐसा योगियों ने कहीं भी नहीं कहा है। 'सोहं' ध्वनि अव्यक्त रूप से 'आज्ञाचक्र' में मन के द्वारा अनुभूत हुई। उपनिषद् में भी कहा है कि जितने नाद हैं उतने जीव हैं। जब तक नाद है तब तक मन है।[१]

नि:श्वास की गति के साथ होने वाले 'सोऽहम्' नाद का नियमन कर योगी दीर्घायु तथा शक्तिमान् होते हैं। उपनिषदों में 'बिन्दु' से नाद की उत्पत्ति चतुर्विध 'वाक्' के रूप में बताई गई है। इसके अतिरिक्त अन्य दो अर्थों में भी विन्दु का प्रयोग उपनिषदों में प्राप्त है।

१ - प्रथम सशब्द बीजाक्षर 'प्रणव' के द्वारा जिसका ध्यान किया जाता है वह ध्येय वस्तु ही 'विन्दु' है।[२]

२—'विन्दु' शब्द का दूसरा प्रयोग 'पौरुष' अर्थ में प्राप्त है। यह 'वज्रोली मुद्रा' के गुणवर्णन के प्रसंग में कहा है।[३]

योगसाधना की अन्तिम प्रयोगात्मक परिणति 'तंत्र' है। तन्त्र में तो 'नाद' से 'विन्दु' की उत्पत्ति बताई है। शारदातिलक में सच्चिदानन्द विभव परमेश्वर से शक्ति हुई, उससे 'नाद' और 'नाद' से 'विन्दु' उत्पन्न हुआ।[४] तन्त्र शास्त्र का बिन्दुतत्त्व गणित के विन्दु '0' से विलक्षण है। गणित-शास्त्र के बिन्दु के समान परिमाणातीत होता हुआ भी वह स्थानरहित है। यह 'विन्दु', शक्तिकी वह अवस्थाविशेष है, जहाँ से उसकी सृष्टिक्रिया प्रारंभ होती है। तंत्र में 'विन्दुतत्त्व' को ईश्वरतत्त्व के नाम से भी पुकारते हैं। वह अनादि और अनन्त (परिमाणहीन) होता हुआ भी उसका कल्पित अथवा अकल्पित किसी प्रकार का भी स्थान नियत नहीं है।

नादतत्त्व की अभिव्यक्ति के लिए 'पिण्ड' में प्राणतत्त्व सहायक होता है। 'नादाभिव्यक्ति' के लिए उत्पादक, ग्राहक और वाहक तीनों उपकरणों की आवश्यकता होती है

---

१ 'नादो यावन्मनस्तावत्'—नाद-बिं० उ०, श्लो० ४८, पृ० २२४]

२ 'बीजाक्षरं परं विन्दु नादं तस्योपरिस्थितम्।
सशब्दश्चाक्षरे क्षीणे नि:शब्दं परमं पदम्'॥
(ध्यान-बिं० उप० श्लो० २, पृ० १८६)

३ 'एवं संरक्षयेद् विन्दुं मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात्॥'
(हठयो० प्र० श्लो० ८८, पृ० ४९)

४ कल्याणविशेषाङ्क—यो० अं०

यह संगीत से सिद्ध ही है।[1] प्रकृति ने क्रियारूप इस नाद को 'प्राणरूप वाहन' दिया है, जिस पर आरूढ़ होकर यह अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति करता है।

वायुमहाभूत से उत्पन्न यह 'प्राणवायु' भी अपने कारण के समान अदृश्य है। केवल 'स्पर्श' से ही उसका अनुभव होता है। यह 'प्राणवायु', वायुमहाभूत के सात्विक अंश से बना है। शरीरविशेष से मिलकर वह उसी के रूप-रंग और आकार-प्रकार का प्रतीत होता है। शरीर में वह दसभागों में विभक्त रहता है।[2] अपने जीवनदाता पवन के समान वह सदा ही गमनशील है।[3] जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति किसी भी समय उसका व्यापार रुकता नहीं है। वह सदा क्रियाशील रहता है। प्राणिमात्र के जीवन का आधार होने से ही उसे प्राण कहते हैं। 'प्राणयति अथवा जीवयति'—इति प्राणः। प्राणोत्थान-काल में जब वह 'प्राण' विभिन्न चक्रों पर अपना कार्य प्रारंभ कर देता है, उस समय केवल एक आनन्दमय सुखदस्पर्श की ही अनुभूति होती है। चक्रों पर प्राणवायु की गति का दर्शन तो केवल वे ही सौभाग्यशाली योगी कर पाते हैं, जिनकी कुण्डलिनी जागरित हो गई है। कुण्डलिनी-जागरण तो आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान के अनुष्ठान से परिपूत हुए योगी के पिण्ड में ईश्वर के अनुग्रह से घटित होने वाली एक घटनाविशेष है। जागरित हुई कुण्डलिनी अपने दिव्यप्रकाश से समस्त देह के आभ्यन्तर संस्थानों (चक्रों) को तथा अवयवों को जगमगा देती है। इस अपूर्वप्रकाश में देहगत विलक्षण क्रियाओं तथा सूक्ष्मतत्त्वों के यथावत् दर्शन से विशिष्ट विज्ञानों का साक्षात्कार होने लगता है। ध्यानस्थ-योगी गुप्तरहस्यपूर्ण आध्यात्मिक पदार्थों का विज्ञान सहज ही प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार का विशिष्टज्ञान यह 'षट्चक्रदर्शन' या कमलदर्शन भी है।' उसका सर्वप्रथम दर्शन योगियों को ही हुआ है, जिसके फलस्वरूप प्रवृत्तिमूलक तान्त्रिक उपासना पद्धति को एक ठोस आधार प्रदानकर भारतीय-उपासना पद्धति में एक अपूर्व क्रान्ति का उद्भव हुआ।

नाद को ही एकमात्र अपने लक्ष्य (पुरुषार्थ) प्राप्ति का साधन बनाने वालों में योगियों के बाद संगीतसाधक ही आते हैं। अपने युग के सामाजिक जीवन में बिखरे आध्यात्मिक तथा भौतिक तथ्यों की ये लोग उपेक्षा नहीं कर सके। उन स्वानुभूतियों ने संगीतसाधकों की अभिव्यक्ति को बल और विकास के साथ मौलिकता प्रदान की। योग की भाँति 'संगीत' का भी शरीर से ही सीधा संबंध है। उससे ही वह शुरू होता है।

---

[1] सं० रत्ना० १।२।६०-६१

[2] 'अथवर्णास्तु पञ्चानां·········समप्रभः॥'

(अमृतनादोप०, श्लो० ३५-३७, पृ० २४)

तथा—'प्राणापानौ तथा व्यान·········नाभिकन्दादधः स्थितः॥'

(सं० रत्ना० I, २।५९-६०।पृ० ४१)

[3] जीव की तीन अवस्थायें—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति होती हैं। जाग्रत् अवस्था वह है, जिसमें सब व्यवहार चलते रहते हैं। स्वप्न अवस्था वह है, जिसमें असत्य भी सत्य सा प्रतीत होता है। सुषुप्ति अवस्था वह है जिसमें, कोई ज्ञान ही नहीं होता।

नारदीय शिक्षा तथा भरत के नाट्यशास्त्र में 'गात्र' (शरीर) वीणा कही गई है। उसका तात्पर्य यही है कि 'स्वर' सर्वप्रथम शरीर में ही प्रकट हुए, पश्चात् वीणा, वेणु और अवनद्धवाद्यों में आये। नाट्यशास्त्रकार भरत के कथन से भी यही सिद्ध होता है कि 'शरीर' ही संगीत के स्वरों का प्रथम जन्मदाता है।[१]

नाट्यशास्त्र का ध्वन्यर्थक 'शब्द' शब्द 'वाग्वात्मको भवेच्छब्दः' के द्वारा जो बताया गया, वही आगे चलकर मतंगमुनि के 'बृहद्देशी' में 'नाद' हो गया।[२] 'नाद' संज्ञा में जिस विशिष्टता का ज्ञान इन योगियों ने कराया था, उसका पूर्ण लाभ संगीतकारों ने उठाया। मतंगमुनि से 'नाद' शब्द संगीत में एक विशिष्ट अर्थ से प्रयुक्त होने लगा। मतंग के परवर्ती सभी संगीत-ग्रन्थों में 'नाद' की स्तुति तथा महिमा गायी जाने लगी। 'संगीत-रत्नाकर' में तो 'नाद' को नादब्रह्म कहकर ही ग्रन्थकार सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने 'नाद' को ब्रह्मा-विष्णु तथा महेश रूप से कहकर सृजन, धारण और विलय तीनों शक्तियां उसे एक साथ प्रदान कर दीं।[३] लोक–व्यवहार में संपूर्णवाणी के व्यवहार का एकमात्र नियामक 'नाद' है। संगीत के तीन अंग 'गीत, वाद्य तथा नृत्य' नाद के अधीन हैं।[४] मतंगमुनि नें भी बृहद्देशी में 'नाद' की महिमा तथा उसकी लोक-व्यापिनी शक्ति का वर्णन किया है।[५] मतंगमुनि के 'बृहद्देशी' पर योगदर्शन का विशेष प्रभाव है। इसीकारण शास्त्र-

---

१ 'शारीर्यामेव वीणायां स्वराः सप्त प्रकीर्तिताः।
तेभ्यो विनिःसृतास्चैवमातोद्येषु द्विजोत्तमाः॥
पूर्वं शरीरादुद्भूतास्ततोगच्छन्ति दारवीम्।
ततः पुष्करजन्चैवमनुयान्ति घनं (ध्वनिं) पुनः (युताः)॥
नाο शाο अο ३४।३०-३१)

२ बृहद्देο नादोत्पत्तिप्रकरण, श्लोο १९½, पृο ३]

३ 'चैतन्यं सर्वभूतानां विवृत्तं जगदात्मना।
नादब्रह्म तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे ॥१॥
नादोपासनया देवा ब्रह्म-विष्णुमहेश्वराः।
भयन्त्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः॥२॥
—संο रत्नाο १।३।१-२, पृο ६२,६३]

४ गीतं नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्त्या प्रशस्यते।
तद्द्वयानुगतं नृत्तं नादाधीनमतस्त्रयम् ॥१॥
नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात् पदाद्वचः।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत्॥२॥
—संο रत्नाο १।२।१-२]

५ 'न नादेन विना गीतं, न नादेन विना स्वराः।
न नादेन विना नृत्तं तस्मान्नादात्मकं जगत्॥
नादरूपः स्मृतोब्रह्मा नादरूपो जनार्दनः।
नादरूपा पराशक्तिर्नादरूपो महेश्वरः॥

निरूपण के पूर्व ग्रन्थ के आरम्भ में वे नादतत्त्व की व्याख्या करते हैं।[1] मतंग की बृहद्देशी में ही नहीं 'संगीतरत्नाकर' में भी नादस्थान, नादोत्पत्तिविधि, नादभेद, नादों के नाम तथा श्रुतियों की संख्या बाईस ही होने का कारण जिस शैली से बताया गया है, वह शैली मूलतः 'योग' से ही प्रभावित है।[2] 'संगीतसमयसार' में भी "त्रीणि स्थानानि हृत्कण्ठशिरांसीति समासतः।......द्विगुणः क्रमात्" ॥ बात तो वही है, शब्दावली मात्र भिन्न है। मतंगमुनि ने अपने ग्रन्थ में नादोत्पत्ति के प्रसंग में 'नाद' की जो व्युत्पत्ति तथा निरुक्ति दी है, वह भी 'योग' से प्रभावित है।[3] संगीतरत्नाकर में भी नाद की निरुक्ति ऐसी ही कही गई है।[4]

मोक्षप्राप्ति में 'नाद' सहायक है, उससे उपयुक्त पथप्रदर्शक अन्य कोई नहीं है, क्योंकि उसमें 'रूप और श्रव्यता' दोनों ही हैं। इसीलिए 'संगीत रत्नाकर' में शार्ङ्गदेव ने कहा है कि 'शाश्वताय च धर्माय कीर्त्यै निःश्रेयसाप्तये'[5] अर्थात् शाश्वत धर्म, कीर्ति और

---

[1] यदुक्तं ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मग्रन्थिश्च यः स्मृतः।
तन्मध्ये संस्थितः प्राणः प्राणाद् वह्निसमुद्गमः॥
वह्निमारुतसंयोगान्नादः समुपजायते।
नादादुत्पद्यते बिन्दुर्नादात् सर्वं च वाङ्मयम्॥
कन्दस्थानसमुत्थो हि सच पञ्चविधो भवेत्।
सूक्ष्मश्चैवातिसूक्ष्मश्च समीरः सञ्चरन्नधः॥
ऊर्ध्वं च कुरुते सर्वां नादपद्धतिमुद्धताम्।
सूक्ष्मश्चैवातिसूक्ष्मश्च व्यक्तोऽव्यक्तश्चकृत्रिमः॥
सूक्ष्मोनादो गुहावासी हृदये चातिसूक्ष्मकः।
कण्ठे मध्ये स्थितो व्यक्तः अव्यक्तस्तालुदेशके॥
कृत्रिमो मुखदेशे तु ज्ञेयः पञ्चविधो बुधैः॥—बृहद्देशी, नादोत्पत्ति—पृ० २-३।

[2] आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः।
देहस्थं वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सोऽथक्रमादूर्ध्वपथे चरन्।
नाभिहृत्कण्ठमूर्धास्येष्वाविर्भावयतिध्वनिम्॥
सं० रत्ना० १।३।श्लो० ३-४, पृ० ६४
"एवं कण्ठे तथा शीर्षे श्रुतिर्द्वाविंशतिर्मता॥"
सं० रत्ना० १।३। श्लो० ९½ पृ० ६७

[3] 'नकारः प्राण इत्याहुर्दकारश्चानलो मतः।
नादस्य द्विपदार्थोऽयं समीचीनोमयोदितः॥२२॥
नादोऽयं नदतेर्धातोः स च पञ्चविधो भवेत्॥२२½॥
—बृहद्दे० नादोत्पत्तिप्रकरण-पृ० ३

[4] नकारम्प्राणनामानं दकारमनलं विदुः।
जातः प्राणाग्निसंयोगात्तेन नादोऽभिधीयते॥६॥
—सं० रत्ना० १।३। पृ० ६४

[5] १।१। श्लो० १३½, पृ० ११

मोक्ष तीनों को ध्यान में रखकर ही 'संगीतरत्नाकर' का निर्माण कर रहा हूँ। 'संगीत' की परिभाषा करते हुए 'गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते'[१] में 'नृत्त' की सार्थकता तथा 'संगीत' के अन्तर्गत तीनों के संगम की पुष्टि, 'योग की उपलब्धियों' के माध्यम से ही हो पाती है।

'गात्रवीणा' में 'अवरोही' और 'दारवीवीणा' में 'आरोही' क्रम क्यों है? इस प्रश्न का समाधान 'योग' ही करता है। योगशास्त्र में यह प्रसिद्ध है कि 'मूलाधार चक्र'—पृथ्वीतत्त्वप्रधान, 'स्वाधिष्ठानचक्र'—जलतत्त्वप्रधान, 'मणिपूरचक्र—अग्नि या तेजस्तत्त्व-प्रधान और 'अनाहतचक्र'—वायुतत्त्वप्रधान, एवं 'विशुद्धिचक्र'—आकाशतत्त्वप्रधान है। यहां यह ज्ञातव्य है कि शरीर के निचले भागों में स्थूलतत्त्वों की प्रधानता है और ऊपरी भागों में सूक्ष्मतत्त्वों की प्रधानता प्रकट हुई है। 'आकाश' शब्द का आधार है। वह पाँचों तत्त्वों में सूक्ष्मतम है। शब्द के उत्पादन और प्रसार में पृथ्वी और जलतत्त्व स्थूल माध्यम हैं, जब कि शब्द के लिये उन दोनों की अपेक्षा वायु को सबसे अधिक उपयुक्त साधन या माध्यम माना गया है। 'सांगीतिक ध्वनि अथवा नाद' अग्नि और प्राणवायु के संयोग से उत्पन्न होता है और शरीर के भीतर 'मणिपूरचक्र' से 'विशुद्धिचक्र' तक यानी नाभि से कण्ठतक ही इसका क्षेत्र है।

आज के विज्ञान ने भी यही सिद्धान्त निकाला है कि शब्द का उत्पादक माध्यम जितना ही स्थूल होगा उतनी ही 'शब्द की तारता' कम होगी। ठीक इसके विपरीत उत्पादक सूक्ष्म द्रव्यों में 'शब्द की तारता' अधिक होगी। यह सिद्धान्त योग की दृष्टि से 'गात्रवीणा' में स्वरों के अवरोही क्रम को स्पष्ट करता है। इस विवेचन से एक अन्य निष्कर्ष यह भी निकलता है कि 'स्वरों की तारता का संबन्ध कम्पित तार की लम्बाई से भी है।' 'तार की लम्बाई जितनी कम होगी उतना ही ऊँचा शब्द होगा'—यह सिद्धान्त भी योगियों ने ही खोज निकाला। 'गात्रवीणा' के झङ्कृत-अवयव यानी उच्चारण यन्त्र की स्थिति शरीर में ऊपर की ओर है। यह गात्रवीणा ऊपर की ओर ही बजाई जाती है, जबकि दारवीवीणा नीचे की ओर छेड़ी जाती है। इसीलिये दारवीवीणा में स्वरों का 'आरोही क्रम' है।

इसके अतिरिक्त 'योगशास्त्र' का दूसरा महत्त्वपूर्ण-प्रभाव, वर्णों में लक्षित होता है। संगीतरत्नाकर के नाद, स्थान, श्रुति, जाति, कुल, देवता, ऋषि, छन्द और रस के प्रकरण में ग्रन्थकार ने स्वरों के वर्ण, रंग, जाति की चर्चा की है,[२] यह योगशास्त्र के प्रभाव से ही वह कर पाया। अभिव्यक्ति का एक प्रभावशाली माध्यम रंग है। अतएव प्राचीन शिक्षा-ग्रंथों में तत्त्वों और स्वरों' के साथ 'रंगों' का वर्णन मिलता है। नारदीयशिक्षा में स्वरों के जो रंग दिये हैं, लगभग वे ही अन्य स्थलों पर भी मिलते हैं। ज्यौतिषशास्त्र भी वर्ण (रंग-जाति) पर बहुत अधिक बल देता ह। मिस्टर C. W. Lead beater ने अपनी थियोसोफिकल पुस्तक 'Thoughtform' में रंगों को भावों (Emotions) से जोड़ा है।

---

[१] १।१।२१, पृ० १३

[२] सं० र० १।१।५३-५४½ पृ० ९६।

जैसे—'क्रोध, राग' आदि का रंग-लाल। 'हरा रंग' सर्वग्राहकता (Adaptability) के लिये होता है। इतना ही नहीं, उसका तो कहना है कि 'रंगों की चमक और गहराई प्राय: भावों की शक्ति और सक्रियता को व्यक्त करती है। 'नाद' में ज्योतिस्तत्त्व है, तभी उसमें रूप या रंग को पा सकते हैं। 'सातस्वरों' से जिन 'सातरंगों को जोड़ा गया है, वे ही रंग न्यायशास्त्र में 'पृथ्वी' के भी वताये गये हैं। 'रूप' अग्नि का गुण है और 'अग्नि' नाद के दो उत्पादक तत्त्वों में से एक है और दूसरा तत्त्व 'वायु' है। प्रत्येक महाभूत में अन्य चार महाभूतों का भी अंश रहता है। 'अग्नि और वायु' ये दोनों शब्द के उत्पादक तत्त्व हैं। अत: यह समझ में आता है कि पृथ्वी में जो रंग कहे हैं, वे स्वरों में भी हो सकते हैं।

कतिपय संज्ञाओं का प्रयोग संगीत के ग्रन्थों में ऐसा हुआ है, जिसका अर्थ समझने के लिये 'योग और तंत्रशास्त्र' का सहारा लेना पड़ता है। जैसे—बिन्दु, कला, मात्रा, काल' प्राण, वीजाक्षर, आदि।[१] शक्ति के प्रतीकात्मक बीजाक्षर, ('अ', और 'इ'), स्वरों के क्रम 'स, रि, ग, म, प, ध, नि, स' में तान्त्रिक प्रभाव को ही अभिव्यवत करते हैं। 'अ' विष्णु (हरि) का प्रतीक है और 'इ' शक्ति का प्रतीक है। इस सन्दर्भ में यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि इन्हीं कारणों से संगीत को ललित कलाओं में सबसे महत्त्व-पूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। आर० सत्यनारायण ने अपने निबन्ध 'गणपति और कर्नाटक म्यूजिक' म स्पष्ट रूप से कहा है कि संगीत की पारिभाषिक-शब्दावलि और ग्रामों पर योग और तन्त्र का विशेष प्रभाव पड़ा है।[२] 'गणपति'—शब्द की व्युत्पत्ति ब्रह्मवैवर्तपुराण में—'ग' विवेक को और 'ण' मोक्ष को बताता है, यह दी गई है। 'अथर्वशीर्षोपनिषद्' में भी 'ग' 'ब्रह्म' का अथवा 'मन' का और 'ण' 'ध्वनि' का द्योतक है। श्री आर० सत्यनारायण ने बताया है कि 'षड्ज' का जन्मस्थान 'मूलाधारचक्र' है, जिसके संचालक 'गणपति' हैं। इस कथन में भी योग का प्रभाव लक्षित होता है।

---

१ बिन्दु—बिन्दु, शक्ति की घनीभूत अवस्था का ही नाम ह। ब्रह्म में 'चित्' रूप से जो शक्ति सत्त्वमयी है, 'नादतत्त्व' के क्रिया रूप में वही शक्ति रजोमयी है, 'विन्दुतत्त्व' में घनीभूत होने से वही तमोमयी हो जाती है। मतंगमुनि ने नाद से बिन्दु की उत्पत्ति कही है "नादादुत्पद्यते बिन्दुस्तत: सर्वं च वाङ्मयम्।"

कला—कला, शक्ति की एक विशेष विभूति है। (शक्ति की लीला है) यह दो प्रकार की है—बाह्य और अन्त:। बाह्य कला के १६ भेद हैं। शक्ति की १६ वीं कला अमाकला योनिरूपा और पाश (बन्धन) स्वरूपा है। 'कलाविमर्शशक्ति:'

बीजाक्षर—तान्त्रिक पद्धति की एक संज्ञा है। मन्त्रों को एक एक अक्षर में घनीभूत किया जाता है। उन्हीं एक एक अक्षरों को बीजाक्षर यह संज्ञा दी गई है।

२ Journal of the Indian Musical Society Vol. 5, No. 2, 1974.

सृष्टि के व्यापारों में प्रमुख पाँच गतियां दृष्टिगत होती हैं—उत्क्षेपण' अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण तथा गमन।[१] इनका उपयोग ताल के सन्दर्भ में संगीतकारों ने किया है। संगीत के विद्वानों ने ताल के प्रसंग में **'निःशब्द'** और **'सशब्द'** दो क्रियाएँ कही हैं।[२] **निःशब्दक्रिया** के प्रकारों में 'आवाप, निष्क्राम, विक्षेप तथा प्रवेश' और **सशब्दक्रिया** के प्रकारों में 'गमनगति' का ताल की आवर्तनगति' (Cyclic) में प्रयोग किया है। तालों में जो 'चतुरस्र' तथा 'त्र्यस्र' की धारणा है, उस पर भी योग दर्शन का प्रभाव लक्षित होता है। प्राणोत्थान की गति, नाद तथा प्रकाश के एक साथ (समवेत) होने वाले व्यापारों का दर्शन **'मूलाधारचक्र'** पर ही सर्वप्रथम योगियों ने किया। बहुत सम्भव है कि वहीं से 'चतुरस्र-तालों' की कल्पना आई हो, क्योंकि **'मूलाधारचक्र'** कमलाकार और चार दल वाला है, तथा उसमें स्थित **'यन्त्र'** भी चारकोण वाला (चतुष्कोण) है। संगीत में 'गति' की यह मूलधारणा है, उसीसे अन्य अनेक तालों को जन्म मिला। **'स्वाधिष्ठान'** से आगे नाभि के समीप **'मणिपूर'** नाम का जो चक्र है, वह है तो 'दशदलवाला', किन्तु प्राणवायु की गति वहां त्रिकोणरूप में भ्रमण करती है। तालों के मूल में दूसरी **'त्र्यस्र'** की धारणा, भी इसीसे प्रभावित प्रतीत होती है।

आरम्भ में नाडियों का शोधन न होने से 'प्राणवायु की गति' अवरुद्ध तथा मन्द होती है, किन्तु आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा से शोधित देह में प्राण की गति बड़ी तीव्र होती है। उस समय चक्र चलते हुए दृष्टिगत होते हैं। ताल में गति, लय के प्रकार और स्वरूप के निर्धारण में अवश्य ही योगियों की अनुभूतियों का योगदान रहा होगा।

अवनद्ध और घनवाद्यों की प्रेरणा तो **'मणिपूरचक्र'** तक ही मिली। यहां तक ही **'पृथ्वी और जलतत्त्व'** की प्रधानता है। उसके ऊपर 'वायुतत्त्व' की प्रधानता होने से **'सुषिर और तत'** वाद्यों की उपज संभव है। **'आहत अथवा घातज नाद'** के विकास का पूर्णतम स्वरूप हमें आज संगीत के रूप में प्राप्त है। योगियों का मान्य नाद, अनाहत है, जिस अनुभूति में शब्द और प्रकाश की संवेदना एकीभूत होकर आती है। उनकी यह अनुभूति, परोक्ष या अतीन्द्रिय है। इस अनाहतनाद की पूर्णतम परिणति ही **'योग'** है। उसी की सामाजिक अनुष्ठान में उपासनाबद्ध क्रियात्मक पूर्णता ही **'तन्त्र'** है। चिन्तन, अनुभव और प्रयोग ये तीनों ज्ञानमय अनुभूतियों को शाश्वत सत्यों में परिवर्तित कर देते हैं। योग की अनुभूतियां, जो गूंगे के गुड़ की नाईं व्यष्टि की उन्नति में व्यष्टि तक ही सीमित थीं, वे ही मूलचेतनाएँ संगीत की बहुमुखी अभिव्यक्ति को पाकर गूंज, झनकार, घोष तथा टङ्कार से दिगन्त को स्तब्ध करने की सामर्थ्य पा गईं।

---

१ उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनं तथा।
प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पञ्च च॥
न्या० सि० मु० प्र० खं० का० ६

२ निःशब्द—शब्द हीन क्रिया ही निःशब्द क्रिया है। तथा शब्द युक्त क्रिया सशब्द क्रिया कहलाती है। यथा—ताली बजाना या चुटकी आदि।
सं० र० ३।५।४-१ पृ० ४-५

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नादतत्त्व के दो विभिन्न भेदों का पूर्णतम विकास हीं योग और संगीत है। अनाहतनाद के न रहने पर आहतनाद की सत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव 'योग में संगीत और ध्वनि' की इस विशद विवेचना से योग और संगीत में स्थित अनाहत तथा आहत नाद का रहस्य और उसकी उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है।

संगीत शास्त्र विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भारतीय संस्कृति और योग

डॉ० (कु०) विमला कर्णाटक

संस्कृति का अंग्रेजी अनुवाद 'कलचर' है। संस्कृति का अर्थ क्या है, इसकी जानकारी के लिये सर्वप्रथम 'संस्कृति' शब्द का निर्माण कैसे हुआ यह जान लेना आवश्यक होगा। 'संस्कृति' संस्कृत-भाषा का शब्द है। व्याकरण की पद्धति से 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में 'सुडागम' पूर्वक 'क्तिन्' प्रत्यय करने से 'संस्कृति' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि अभ्युदय के उपयुक्त देहेन्द्रिय (मन, बुद्धि, अहंकारादि) की भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ एवं हलचलें ही संस्कृति हैं। शब्दान्तर में इसका अर्थ 'संस्कृत' अर्थात् शुद्ध करने की क्रिया है। कहा जाता है कि आचार एवं विचार की रेखाएँ बनती और मिटती रहती हैं। जो बनता है, वह निश्चित मिटता है। किन्तु मिटकर भी जो अमिट रहता है, अपना संस्थान छोड़ जाता है, वह संस्कृति है।

वास्तव में किसी भी राष्ट्र का अस्तित्व उसकी 'संस्कृति' के कारण ही बना रह सकता है। क्योंकि संस्कृति ही किसी राष्ट्र या जाति का आत्मा अर्थात् प्राण है। संस्कृति के उदयास्त से ही राष्ट्र का उदयास्त होता है। इसके द्वारा किसी जाति के उन संस्कारों का बोध होता है, जिनके सहारे वह अपने सामूहिक या सामाजिक जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है।

भिन्न-भिन्न देशों की संस्कृतियों का पर्यवेक्षण कर आधुनिक विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारतीय संस्कृति को छोड़कर कोई ऐसी दूसरी संस्कृति नहीं है, जो मनुष्य की उत्पत्ति के समय से लेकर आज तक अखण्ड धारा से चलती आई हो। भारत में जिस संस्कृति की अभिव्यक्ति हुई है, जगत् के अन्य किसी देश से उसकी उपमा नहीं है। मिश्र, फिनिशिया पार्थिया, क्रीट, भूमध्यसागर की प्राच्य-प्रान्त-भूमि, ग्रीस, प्राचीन चीन- किसी भी देश की संस्कृति गम्भीरता, व्यापकता, विरोध-समन्वय सामर्थ्य और सर्वतोमुख विकास के विषय में भारतीय संस्कृति के साथ तुलना के योग्य प्रतीत नहीं होती। इतना ही नहीं, यह अखण्डनीय ऐतिहासिक सत्य है कि नानाविध देशों की संस्कृतियाँ भारतीय संस्कृति से ही अनुप्राणित हैं। एक प्रदीप से जैसे सहस्र प्रदीप प्रज्वलित किये जाते हैं, वैसे ही एक भारतीय संस्कृति के प्रभाव से अनेक उपसंस्कृतियों का विकास हुआ है।

तात्त्विक दर्शन भारतीय संस्कृति का अनुपम मणि है। अपने दीर्घ अनुभव, तपः पूतज्ञान और चिन्तन द्वारा भारत के आत्मदर्शी ऋषि इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आत्मानुभव, आत्मसाक्षात्कार, आत्मदर्शन ही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है। जीवन और जगत् में दो प्रकार के तत्त्व हैं। एक वह जो नित्य परिवर्तनशील है, जो प्रतिक्षण बदल रहा है। दूसरा वह जो इस परिवर्तन के मूल में है, अव्यक्त है या उसी के कारण और उसी को लेकर जगत् के सम्पूर्ण व्यक्त पदार्थों का अस्तित्व है। कहा जाता है कि आत्मलाभ

होने पर और किसी वस्तु की प्राप्ति शेष नहीं रह जाती है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की चरम अभिलाषा निरतिशय आनन्दलाभ करने की होती है, जो ब्रह्मसाक्षात्कार से परिपूर्ण हो जाती है। भारतीय संस्कृति का अनुभूति के द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है, तर्क के द्वारा उसका चित्र नहीं खींचा जा सकता, दर्शन नहीं कराया जा सकता है। इसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये भारतवर्ष में नानाविध दर्शनशास्त्रों का निर्माण हुआ। यद्यपि सभी दर्शनों की प्रणालियों में भिन्नता है, परन्तु उनके प्रतिपादित तथ्यों में भिन्नता कदापि नहीं है। क्योंकि सभी दर्शनों का उद्गम स्थान वेद है। इसीलिये सभी में मौलिक एकता है।

अब हमें यह विचार करना है कि भारतीय संस्कृति के मूलभूत उद्देश्य आत्मसाक्षात्कार के लिये यौगिक-क्रियाएँ कहाँ तक सफल हुई हैं। योगविद्या-अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक युग से लेकर आज तक इसकी निरवच्छिन्न धारा चली आ रही है। दर्शनयुग इस विद्या की अभिव्यक्ति, प्रचार एवं प्रसार का स्वर्णयुग रहा है। इस काल में आकर ही योग ने स्वतन्त्र दर्शन का रूप धारण किया। इसका श्रेय महर्षि पतञ्जलि को है। इन्होंने ही सर्वप्रथम शास्त्रान्तरों में विकीर्ण योगसम्बन्धी तत्त्वों को सारगर्भित सूत्रों के चौखटे में समाविष्ट कर चिरानुभूत कमी को दूर किया। यद्यपि पातञ्जल-योग के अतिरिक्त योग की अन्य शाखाएँ भी उपलब्ध होती हैं, जैसे—पाशुपतयोग, माहेश्वर योग, अहोरात्रयोग आदि। इसी प्रकार तन्त्र मार्ग भी है। लेकिन योग की ये सभी शाखाएँ प्रसिद्धि प्राप्त न कर सकीं। इसका कारण यह है कि इनमें योग के सभी पक्षों पर प्रकाश नहीं डाला गया है। ये अपूर्ण प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर पातञ्जल योग एक ऐसा महायोग है जिसमें क्रियायोग, चर्यायोग, कर्मयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, ज्ञानयोग, अद्वैतयोग, लक्ष्ययोग, ब्रह्मयोग, शिवयोग, सिद्धियोग, वासनायोग, लययोग, ध्यानयोग, और प्रेमभक्तियोग आदि सभी योगों का सम्मिश्रण है।[1] इसी व्यापकता एवं उपादेयता के कारण पातञ्जलयोग पर अनेक टीकाएँ, उपटीकाएँ एवं वृत्तियाँ लिखी गईं।[2]

लोक में 'योग' शब्द अनेक अर्थों में प्रचलित है। उनमें से एक अर्थ 'संयोग' है। किन्तु यहाँ 'योग' शब्द 'संयोग' के विलोम 'वियोग' के अर्थ में परिभाषित है। 'वियोग' का तात्पर्य 'चित्त की वृत्तियों का निरोध' है।[3] अर्थात् विषय-ग्रहण के वियोगपूर्वक चित्त को निर्वृत्तिक बनाने का प्रयास ही योग-साधना का मुख्य उद्देश्य है। ऐसा क्यों? उत्तर है कि योगशास्त्र की मान्यता के अनुसार विषयभोग में संलग्न चित्त योगोपयोगी नहीं होता

१. निदिध्यासनञ्चैकतानतादिरूपो राजयोगापरपर्यायः समाधिः तत्साधनं तु क्रियायोगः चर्यायोगः कर्मयोगः हठयोगः, मन्त्रयोगः ज्ञानयोगः अद्वैतयोगः लक्ष्ययोगः ब्रह्मयोगः शिवयोगः सिद्धियोगः वासनायोगः लययोगः ध्यानयोगः प्रेमभक्तियोगश्च नारायणतीर्थकृत योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ० २।

२. द्रष्टव्य स्वलिखित ग्रन्थ—व्याख्याकारों की दृष्टि से पातञ्जल योग-सूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन'।

३. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः—योगसूत्र १/२

है। वृत्तियाँ चित्त की मल हैं। अतः वृत्तिसंकुल मलिन चित्तदर्पण में प्रतिबिम्बित विषय का स्फुरण यथार्थ एवं सम्पूर्ण (अशेषविशेष) रूप में नहीं हो पाता है। यही कारण है कि चित्त अपने में प्रतिबिम्बित चेतनात्मा से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। दूसरी तरफ यही दशा पुरुष की होती है। वह चित्तगत सुख-दुःख से अपने को अभिन्न समझता है।[१] यही भेदाग्रह जीवन के चरम पुरुषार्थ मोक्ष का अवरोधक होता है। फलतः प्राणी जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करता रहता है।

पातञ्जलयोगशास्त्र की उपर्युक्त सारभूत पारिभाषिक शब्दावली से जिज्ञासु को यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि चित्त क्या है, उसकी वृत्ति कितनी हैं, वृत्तिनिरोध किसे कहते हैं, कौन सा चित्त योगसाधनोपयोगी है और वह कैसे संस्कृत बनाया जा सकता है? पुरुष क्या है, किस पद्धति से उसे मोक्ष प्राप्त होता है तथा मोक्ष का स्वरूप क्या है? इत्यादि।

चित्त क्या है? यह प्रश्न योगदर्शन की तत्त्व-मीमांसा से सम्बन्धित है। चित्त का दूसरा नाम बुद्धि है। यह अपने सजातीय जड़ प्रकृति से सर्वप्रथम उत्पन्न होता है तथा अहंकार को उत्पन्न करता है। अहंकार से एकादश इन्द्रिय एवं पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। पञ्चतन्मात्राएं पञ्च महाभूतों को उत्पन्न करती हैं। इसके आगे सांख्ययोगशास्त्र में सृष्टि-क्रम नहीं बताया गया है। और जो भूतों से घट, पट आदि उत्पन्न होते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, वे उन्हीं के अन्तर्गत हैं। वे तत्त्वान्तर नहीं हैं।[२] उक्त सभी तत्त्व सत्त्व, रजस् तथा तमोगुण से अनुस्यूत हैं। योगशास्त्र की तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत जड़वर्ग के अतिरिक्त एक चेतनवर्ग भी है। इसमें असंख्य पुरुष एवं अद्वितीय पुरुषविशेष ईश्वर[३] आता है। पुरुष को अपना स्वरूपज्ञान होने के लिये अपने विरोधी उक्त समस्त जड़ पदार्थों का ज्ञान अपेक्षित रहता है। यह अपरोक्षात्मक ज्ञान समाधिजन्य है।

योगशास्त्र की उपर्युक्त सर्गोत्पत्ति परिणामवाद पर आधारित है। योग के अनुसार प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण परिणाम को प्राप्त होता है। चित्त की वृत्ति भी परिणाम के सिद्धान्त पर आधारित है। चित्त का विषय के आकार में परिणत होना ही चित्त की वृत्ति है। चित्त के इस विषयाकार परिणाम में इन्द्रियाँ प्रणालिकया सहायक होती हैं।[४]

---

१ अस्मादेव परस्परप्रतिबिम्बरूपाद्दोषादेकताभ्रमोऽहं कर्त्ता सुखी जानामीत्यादिरूपः

—नागेशभट्टकृत बृहद्योगसूत्रवृत्ति, पृ० २२४।

२ …गवादयो बीजादयो वा न पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरम्

—वाचस्पतिमिश्रकृत, सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ० ३७।

३ क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः—योगसूत्र १।२४।

४ इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया

—व्यासदेवकृत, व्यासभाष्य, पृ० २७।

चित्त के विषयाकार परिणाम का प्रभाव पुरुष पर प्रतिबिम्वविधया पड़ता है। फलस्वरूप पुरुष अपने को तत्तद् विषयों का अनुभविता समझता है।[१]

चित्त का वृत्त्यात्मक परिणाम-प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति रूप से पाँच प्रकार का है।[२] प्रमाणवृत्ति के तीन अवान्तर भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम।[३] ये ही पाँच वृत्तियाँ चित्त की नानाविध वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। सच पूछा जाय तो इनके अतिरिक्त वृत्ति है ही नहीं। पृथग् दृश्यमान अन्य समस्त वृत्तियाँ इन पांच वृत्तियों के ही अन्तर्गत हैं। चित्त की वे वृत्तियाँ जो क्लेश उत्पन्न करती हैं, 'क्लिष्ट' कही जाती हैं। इसके विपरीत सुखोत्पादक वृत्तियों को 'अक्लिष्ट' कहा गया है। महर्षि पतञ्जलि ने क्लिष्ट वृत्तियों की भाँति अक्लिष्ट वृत्तियों को भी निरोद्धव्य बतलाया है। चित्तरूप समुद्र में वृत्तिरूप उद्दाम तरङ्गों का अभिव्यक्त न होना ही वृत्ति-निरोध है।

किसी एक विषय के ग्रहणकाल में यद्यपि चित्त का अन्य विषयों से सम्पर्क नहीं रहता है तथापि इस प्रकार के सामयिक वृत्तिनिरोध को योगशास्त्र में योग नहीं कहा गया है। अन्यथा सहज प्राप्त उपर्युक्त अवस्था के लिये योगसाधना का उपदेश करना व्यर्थ सिद्ध होगा। चित्त की एकाग्रावस्था से प्रारम्भ होकर निरुद्धभूमि में समाप्त होने वाला वृत्ति-निरोध ही योग की श्रेणी में परिगणित है। चित्त की क्षिप्त, मूढ एवं विक्षिप्त अवस्था का वृत्तिनिरोध योग के साम्राज्य से वहिष्कृत है।[४]

अब विचारणीय यह है कि जन्म-जन्मान्तर से विषय-वाटिका में विचरणशील अभ्यस्त चित्त को किस प्रकार योगसाधना के लिये सक्षम बनाया जा सकता है। चित्त का यह शोधन-व्यापार दुरुह अवश्य है, लेकिन असम्भव नहीं। इसी दुरुहता को दृष्टिपथ में रखते हुए महर्षि पतञ्जलि ने भिन्न-भिन्न स्तर के साधकों के लिये भिन्न-भिन्न मार्ग की साधना प्रशस्त की है। उन्होंने सर्वप्रथम साधकों को तीन कोटियों में विभक्त किया है—मन्द, मध्यम तथा उत्तम।[५] उत्तम साधक वे हैं, जिनकी चित्तभूमि योग के संस्कारों से पूर्णतया आप्लावित है। ये पूर्व जन्म में ही अष्टाङ्गमार्गीय योगसाधना के पाँच अंगों (बहिरङ्ग योग) तक रास्ता तय कर चुकते हैं। अतः यमनियमादिनिष्ठ उत्तम साधकों को वर्तमान जीवन में पुनः यमादि का अभ्यास नहीं करना पड़ता है। अतः पतञ्जलि

---

१ प्रमा चाज्ञातार्थावगाही पौरुषेयो बोधो वृत्तौ प्रतिबिम्बः। तत्रार्थाकारायां वृत्तौ चिदात्मनो यः प्रतिबिम्बः सोऽपि वृत्तिद्वारा अर्थाकारः सन् फलं भवति
—रामानन्दयतिकृत, मणिप्रभा पृ० ५।

२ प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः—यो० सू० १।६।

३ प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि—वहीं १।७।

४ …तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीयभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्त्तते—व्यासभाष्य पृ० ८।

५ तत्र मन्दमध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधा योगाधिकारिणो भवन्त्यारुरुक्षुयुञ्जानयोगारूढ-रूपाः—योगसारसंग्रह।

मुनि ने योगमार्ग पर समारूढ उत्तम साधकों के लिये 'अभ्यास-वैराग्य'[1] को योगप्राप्ति का मुख्य सोपान निर्धारित किया है। वे वानप्रस्थी, जो वर्तमान जीवन से योगसाधन में रत हैं, मध्यम कोटि के साधक पुकारे जाते हैं। इनके लिये 'क्रियायोग'[2] की साधना उपदिष्ट है। तथा अत्यन्त चंचल स्वभाव वाले गृहस्थाश्रमियों के लिये 'अष्टाङ्गयोग'[3] की साधना कही गई है। क्योंकि विषय-वासनाओं से परिव्याप्त मन्द अधिकारियों का चित्त 'अभ्यास-वैराग्य' एवं 'क्रियायोग' जैसे दुःसाध्य उपायों को सहज ही क्रियात्मक रूप नहीं दे पाता है। जो भी हो प्रत्येक साधक को 'अष्टाङ्गयोग' के मार्ग से चलना ही पड़ता है। अष्टाङ्गयोग की साधना वृत्तिनिरोधार्थ कैसी अचूक औषधि है, इसका आस्वाद इस मार्ग के अवलम्बियों को ही मिल सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त उपाय द्वारा चित्त को एकाग्र बनाने पर ही साधक को समाधि प्राप्त हो सकती है। समाधि का दूसरा नाम 'योग' है। समाधि दो प्रकार की होती है—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि के पश्चात् असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। सम्प्रज्ञात विषयसाक्षात्कार की अवस्था है। इसमें साधक को योगसम्मत पदार्थों का अपरोक्ष ज्ञान होता है। लेकिन ये पदार्थ साधक को अशेषविशेष के साथ युगपत् स्फुरित नहीं होते, अपितु पदार्थों के साक्षात्कार का एक निश्चित क्रम है। इसी के आधार पर सम्प्रज्ञात के चार भेद हैं—वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता। 'वितर्क' में पञ्च महाभूतों का साक्षात्कार होता है। 'विचार' में भूतों की अपेक्षया सूक्ष्म तन्मात्र, बुद्धि एवं प्रकृति का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। 'आनन्द' इन्द्रिय विषयक है। 'अस्मिता अहंकारविशिष्ट पुरुषविषयक है। सम्प्रज्ञात की किस दशा में कौन से विषय का साक्षात्कार होता है—इस सम्बन्ध में योग के प्रतिष्ठित व्याख्याकारों के मतभेद का दिग्दर्शन असामयिक है। ज्ञातव्य इतना ही है कि किसी एक विषय में चित्त को एकाग्र कर साधना द्वारा साधक–बीज में निहित वृक्ष की भांति–मूल कारण प्रकृति पर्यन्त समस्त पदार्थों का क्रमशः साक्षात्कार करता है। अभिप्राय यह है कि सम्प्रज्ञात के अवस्था भेद से ध्यान के विषय का भेद नहीं होता है। अन्यथा उपासना में पूर्व-पूर्व विषय के त्याग और उत्तरोत्तर विषय के ग्रहण की आपत्ति आयेगी। अतः साधक को सर्वात्मक एक ही वस्तु में कार्य-कारण की अभेद पद्धति से समस्त पदार्थ भासित होते हैं। विषय साक्षात्कारवती सम्प्रज्ञात समाधि का पौनः पुन्येन अभ्यास करते हुए समाधि के पराकाष्ठा (विजित) काल में साधक में 'विवेकज्ञान' जागरित होता है। इसे 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' भी कहते हैं। सम्प्रति साधक को जड़वर्गीय बुद्धि आदि से पूर्णतया पृथक् चेतन पुरुष की सत्ता का अवभास होता है। अब वह जागतिक प्रपञ्चों से प्रभावित नहीं होता है। उदीयमान ऋतम्भरा-प्रज्ञा के माहात्म्य से उसे पुरुष की

---

[1] अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः—योगसूत्र १।१२

[2] तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः—योगसूत्र २।१

[3] यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि —योगसूत्र २।२९

असङ्गता तथा बुद्धि की सङ्गता का पृथक्तया भान होता है। एक समय ऐसा भी आता है जब उसमें वैषयिक वृत्तियों की भांति विवेकात्मक वृत्ति के प्रति भी हेय बुद्धि जागरित होती है और साधक इस विशिष्ट वृत्ति के निरोध के लिये प्रयत्नशील हो जाता है। इस प्रयास के फलस्वरूप साधक की समस्त चित्त-वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। यही असम्प्रज्ञात समाधि है। चित्त की एकाग्रावस्था में होने वाली सम्प्रज्ञात समाधि से भिन्न यह असम्प्रज्ञात समाधि चित्त के निरुद्धभूमि में प्रतिष्ठित होने पर होती है। असम्प्रज्ञात समाधि के उत्तरकाल में साधक अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँच जाता है।

पुरुष का कैवल्य उसके अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना है।[1] जिस प्रकार जपाकुसुम के सन्निधान से स्फटिक में लौहित्य प्रतीत होता है, उसी प्रकार संसार दशा में अविद्याग्रस्त पुरुष बुद्धि के धर्म सुख-दुःख से अपने को सुखी-दुःखी समझता है। लेकिन जपाकुसुम के अपसारण से जिस प्रकार स्फटिक अपने श्वेतिम रूप को प्राप्त करता है, उसी प्रकार अविद्या-कृत आवरण के नाशपुरःसर पुरुष को प्रभावितकरने वाली चित्तवृत्तियाँ अपसरित (निरुद्ध) होने पर पुरुष अपने ज्ञानात्मक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यही है कि योगशास्त्र भारतीय-संस्कृति के मूलभूत उद्देश्य आत्मा का साक्षात्कार कराने में नितान्त समर्थ है। भारतीय संस्कृति के इस चरम उद्देश्य को सिद्ध कराने में ही योगशास्त्र की पूर्णता नहीं है, अपितु वह जीवन के समस्त लौकिक आदर्शों एवं मान्यताओं का भी वाहक है। क्योंकि दर्शन और जीवन वस्तुतः एक ही उद्देश्य के दो परिणाम हैं। दोनों का लक्ष्य इहलोक और परलोक को संवारना है। उसी का सैद्धान्तिक रूप दर्शन है और व्यावहारिक रूप जीवन। योग में कर्मप्रधान, धर्म प्रधान, आदर्श प्रधान, आचार प्रधान, समन्वय प्रधान आदि सभी अवान्तर संस्कृतियाँ सुरक्षित हैं। कर्म-भावना, जो प्रत्येक व्यक्ति को कर्तव्यनिष्ठ होने तथा दायित्व वहन करने की ओर प्रवृत्त करती है, योगशास्त्र में विवेचित है। कर्म पर इतनी दृढ़ आस्था शायद ही विश्व के किसी साहित्य में अभिव्यक्त हुई हो। इसमें शुभाशुभ कर्मजन्य फलोपभोग का कालविभाजन वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत कर पुनर्जन्मवाद की स्थापना की गई है।[2] यह भारतीय संस्कृति का मूलभूत अंग कर्मयोग जन-जीवन की प्रेरणा का स्रोत रहा है। यह कर्मयोग धर्मभावना से अनुस्यूत है। क्योंकि धर्म के धरातल पर ही शुभ कर्म किये जाते हैं। भारतीय संस्कृति रूप माला का एक मणि 'अहिंसा' है। अहिंसा का वास्तविक अर्थ तथा उसका स्वरूप क्या है? इसे पतञ्जलि ने स्पष्ट किया है।[3] अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर मान्यता प्राप्त भारत का पञ्चशील का सिद्धान्त भी भारतीय संस्कृति के अहिंसा रूप धर्मभावना का उद्घोष कर रहा है। मानव के जो आदर्श, किसी नागरिक

---

[1] तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्—योग सूत्र १।३

[2] क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः—योगसूत्र १।१२

[3] वितर्का हिंसाऽऽदयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्—योग सूत्र २।३४

को सुसंस्कृत बनाने में सहायक हो सकते हैं, योगशास्त्र में दृष्टिगोचर होते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने सुखी, दुःखी पुण्यात्मा एवं पापी व्यक्ति के प्रति क्रमशः मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा भावना को अपनाने का उपदेश देकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्व बन्धुत्व (वसुधैव कुटुम्बकम्) की बात कही है।[१] आचारप्रधान संस्कृति मानव के चारित्रिक उत्थान से सम्बन्धित है। आचरण की शुद्धि के लिये पतञ्जलि ने यम-नियम रूप अमृतपान का उपदेश किया है।[२] निष्कर्ष यही है कि योगशास्त्र भारतीय संस्कृति के आदर्शों का प्रयोगात्मक दर्पण है।

प्रवक्ता संस्कृत एवं पालि विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

— —

---

[१] मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्
—योगसूत्र १।३३

[२] अहिंसासत्यमस्तेयब्रह्मचर्यपरिग्रहा यमाः, शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः—योगसूत्र २।३०, ३२

कुण्डलिनी योग : एक सुगम विवेचन

डॉ० हरिश्चन्द्र शुक्ल

प्रत्येक प्राणी पूर्णतः दुःख रहित एवं सुख युक्त होने की आकांक्षा करता है। सुख की कामना रहते दुःख रहित होने की सम्भावना विचार करने पर असम्भाव्य प्रतीत होती है। कारण, दोनों ही सापेक्ष एवं वेदना अथवा अनुभव (Sensation or experience) रूप हैं तथा अनुभव जनकों के स्वाभाविक अस्थायित्व के कारण ये दोनों भी अस्थायी स्वभाव वाले एवं आपस में एक दूसरे की उत्पत्ति के कारण बनते हैं। ऐसी अवस्था में यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि सुख की प्राप्ति से दुःख के अभाव की सम्भावना निश्चित रूपेण ही नहीं रहती, क्योंकि अनुभवों के चल स्वभाव के परिणाम स्वरूप, सुख रहित अवास्था में दुखानुभूति अवश्यभावी है। किन्तु यदि सुख हीन अवस्था में दुख से भिन्न किसी अन्य ऐसे अनुभव की प्राप्ति हो सके जिसका कोई अस्थिर कारण न हो तो दुःखानुभूति की सम्भावना नहीं होगी। तब प्रश्न उठता है कि क्या विश्व में कोई ऐसा तत्त्व भी है जो स्वभावतः स्थिर हो और अनुभवोत्पादक हो तथा साथ ही उससे उत्पन्न होने वाला अनुभव चाहे सुख कारक हो या न हो, दुःखजनक कदापि न हो। ऐसे तत्त्व के विषय में भारतीय ऋषि प्रणीत शास्त्रों में स्पष्टतः उल्लेख है और साधारणतः शिक्षित समाजको इसका शाब्दिक परिचय भी है। इसे अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है जैसे, आत्मा, पुरुष, परमात्मा, ब्रह्म, शिव, शक्ति इत्यादि। यदि यह तत्त्व अनुभव गम्य हो सके तो तज्जनित अनुभव के भी स्थायी होने की सम्भावना है—यदि अनुभव कर्ता एवं अनुभवजनक दोनों का स्थायी सम्बन्ध स्थापित हो सके तो। हम यहाँ इस विवाद से दूर रहेंगे कि अनुभव कर्ता कौन है ? आत्मा (पुरुष) अथवा अहंकार इत्यादि। जन साधारण को भी अवगत है कि विभिन्न प्रकार के सुख दुःख रूप अनुभव होते हैं और किसी अनुभव कर्ता को होते हैं। इसको समझने के लिए विशेष बुद्धि एवं विशिष्ट शिक्षा की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न उठता है कि क्या यह सम्भव है कि इस स्थिर तत्त्व से वैसा ही सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है जैसा कि साधारण रूप के अनुभव जनक पदार्थों से प्राणियों का होता है। यदि यह सम्भव है तो, जो इस सम्बन्व को स्थापित करने में सफल होंगे वे, सुख दुःख से भिन्न किसी स्थिर तृतीय प्रकार की वेदना अथवा अनुभव, जो सुख दुख दोनों से भिन्न होगा, को प्राप्त करने में समर्थ होंगे, यह सम्भावना स्पष्ट प्रतीत होती है।

प्राचीन भारतीय विचारधारा के अनुसार इस प्रकार के स्थिर तत्त्व से नित्य सम्बन्ध स्थापित करने की प्रक्रिया एवं प्राप्ति को योग कहा जा सकता है। इस नित्य सम्बन्ध को भारतीय वाङमय में अनेक नामों से सम्बोधिता किया गया है। जैसे जीवात्मा और परमात्मा का संयोग, प्राण और अपान का संयोग, चन्द्र और सूर्य का मिलन, शिव और

शक्ति का सामरस्य, चित्त वृत्ति का निरोध, सत्त्वार्थ क्रिया वस्था या बुद्ध की भगवत्ता प्राप्ति उन्मनी अवस्था प्राप्ति, चिदानन्द स्वरूपस्थिति, भगवत् सायुज्य, दुःख संयोग वियोग, समत्व प्राप्ति, पश्यन्ति वाक् प्रवेश पूर्वक परावाक् में स्थिति, षोडशी कलाप्राप्ति, नादातीत अवस्था प्राप्ति, अहंब्रह्मास्मि बोध इत्यादि।

उपर्युक्त नित्य सम्बन्ध मुख्यतः दो प्रकार का हो सकता है (१) सुख दुःख रूप वेदनाओं (Sensations or expriences) से किसी प्रकार मुक्ति प्राप्त करके, नित्य या स्थिर तत्त्व से क्रमशः सम्बन्ध स्थापित किया जाय अथवा (२) नित्य तत्त्व से सीधा इतना गाढ़ सम्बन्ध स्थापित किया जाय कि सुख दुःख रूप वेदनाओं का स्वतः अभाव हो जाय।

उपर्युक्त नित्य सम्बन्ध के महत्त्व को आयुर्वेद के द्रष्टा महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने भी स्वीकार किया है जैसा कि चरक सहिता के निम्नलिखित श्लोक को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है—

योग मोक्षे च सर्वासा वेदनानामवर्तनम् ।
मोक्षे निवृर्त्तिनिः शेषा योगो मोक्ष, प्रवर्तकः ।। च. शा. ९।१३७

अर्थात् योग और मोक्ष में सभी वेदनाओं का नाश हो जाता है, किन्तु मोक्ष म वेदनाओं का आत्यन्तिक नाश होता है। योग मोक्ष को दिलाने वाला होता है।

कुण्डलिनी शक्ति जागरण रूप प्रक्रिया अथवा योग भी एक, उपरिनिर्दिष्ट स्थिर तत्त्व से सम्बन्ध स्थापित करने का साधन माना गया है। कहना अनुचित न होगा कि चाहे जिस भी पद्धति, प्रक्रिया या प्रणाली, जैसे हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग इत्यादि का अवलम्बन लियाजाय, उसके द्वारा प्रथम प्रसुप्त कुण्डलिनी का जागरण होगा तथा जाग्रत कुण्डलिनी के द्वारा ही उस स्थिर तत्त्व से सम्बन्ध की स्थापना होगी। कुण्डलिनी जागरण के बिना अन्य किसी प्रकार से इस सम्बन्ध की स्थिर स्थापना करने की कल्पना मृगमरीचिकावत् ही होगी।

कुण्डलिनी शक्ति स्वरूप :—

जीवित मनुष्य के शरीर में जितने भी शारीरिक एवं मानसिक व्यापार सम्पन्न होते हैं वह सब जिस एक मूल शक्ति की उपस्थिति के कारण प्रवाहित होते हैं एवं आवश्यकतानुसार जिससे विशिष्ट शक्ति प्राप्त करते हैं, उसे ही कुण्डलिनी शक्ति कहना अनुचित न होगा। स्पष्ट है कि मूल शक्ति एक होते हुए भी आवश्यकतानुसार क्रिया भेद के लिए क्रियानुरूप विभिन्न शक्तियों के रूप में परिवर्तित होने की क्षमता रखती है। वह मूल स्वरूप में नित्य एवं चिदानन्द (चित+आनन्द) स्वरूपणी है, एवं स्वातत्र्य उसका स्वभाव है। इसी स्वातंत्र्य के प्रभाव से वह अपने को ही ज्ञाता एवं ज्ञेय के रूप में विभक्त करने में समर्थ होती है। वह अपने मूलरूप में अनुभव जनक विषयों के उपादान रूप में एवं अनुभवकर्ता के रूप में अवस्थित रहती है तथा अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से इच्छानुरूप विश्व को प्रकट या उत्पन्न करती ह जैसा कि निम्नलिखित शिव सूत्र से स्पष्ट है—

चितिः स्वतंत्रा विश्व सिद्धि हेतुः।
स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्व उन्मीलयति ॥

यह प्रत्येक चेतन अथवा अचेतन पदार्थों के केन्द्र विन्दु में मूलशक्ति के रूप में स्थित है। यह सम्पूर्ण वैचित्र्यमय विश्व के रूप में परिवर्तित होने में समर्थ है, निज स्वातन्त्र्य वशात् स्वय अपनी ही इच्छा से अपने ही उपादान से विश्वरूप में परिवर्तित हो जाती है।

कुण्डलिनी की सुषुप्ति एवं जागरण—

इसकी सुषुप्ति वहिर्मुखता जननपूर्वक वैचित्र्यमय जगत् के अनुभव (उत्पत्ति) का कारण होती है तथा इसका जागरण अन्तर्मुखी वृत्ति (जनन), एवं जगत् वैचित्र्य के नाश तथा उसके मूल स्वरूप के परिज्ञान का कारण वनता है। अनुभूत विश्व के मूल स्वरूप के ज्ञान के साथ ही मूल शक्ति कुण्डलिनी निज मूल स्वरूपानुभव की ओर अग्रसर होती है। प्रत्यक विचार कर्ता जानता है कि एक साथ दो अनुभव नहीं होते। एक अनुभव अथवा अनुभव वर्ग से मुक्त हुए बिना दूसरे अनुभव का प्रश्न ही नहीं उठता।

ऊपर कुण्डलिनी की सुषुप्ति एवं जागरण की जो बात कही गई है वह समझने समझाने के लिए ही है। अन्यथा कुण्डलिनी शक्ति तो नित्य जाग्रत ही है। यदि वह नित्य जाग्रत न हो तो मनुष्य के किस प्रयास से वह जगाई जा सकेगी? पहले ही कह चुके हैं कि प्राणी के प्रत्येक व्यापार के लिए उसी मूल शक्ति से शक्ति प्राप्त होती है। अथवा यों कहे कि मूल शक्ति स्वयं ही कर्ता, वोद्धा के रूप में समस्त व्यापार भी करती है और उन्हें अनुभय भी करती है। तब फिर यह कुण्डलिनी शक्ति जागरण रूप योग क्या है और इसकी आवश्यकता ही क्या है यह एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है। कुण्डलिनी शक्ति के स्वातन्त्र्य के कारण ही स्वेच्छातिरिक्त अन्य किसी उपाय से उसे अपने मूल स्वरूप की विस्मृति हो ही नहीं सकती—क्योंकि वह स्वातन्त्र्य वशात् सर्वशक्ति सम्पन्न भी होनी ही चाहिए।

अथ च स्वेच्छाधीन ही उसकी सुषुप्ति है एवं स्वेच्छाधीन ही उसकी निज मूल स्वरूप ज्ञानेच्छा भी है और जिसे जागरण की प्रथमावस्था कहा जा सकता है। तन्त्रशास्त्र वर्णित विभिन्न चक्रादि स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवाह मान शक्ति की ही विभिन्न रूपान्तरित अवस्थायें हैं। मूल स्वरूप ज्ञानेच्छा रूप जागरण एवं तज्जनित गति विशेष में क्रम से शास्त्र वर्णित षटचक्रों या शक्त्यवस्थाओं का अनुभव हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है, क्योंकि यह प्रणाली एवं साधन पर आश्रित है। तीव्र गुरु कृपा जनित शक्ति पात के प्रभाव से कुण्डलिनी शक्ति अक्रम से ही पूर्ण स्थूलावस्था से परमसूक्ष्मावस्था जो कि उसका मल नित्य रूप ही है, को प्राप्त कर सकती है।

जहाँ क्रम से अभ्यास होता है वहाँ षट् अथवा उससे भी अधिक शक्ति चकों (Energy fields) का अनुभव हो सकता है। शास्त्र में जन साधारण की सुविधा के लिए अनेक चक्रों का वर्गीकरण करके प्रधान वर्गों का ही निर्देश किया है। षट्चक्र ही क्यों है? इसलिए कि मन को लेकर छः ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। नीचे के पाँच चक्र विशुद्ध अनाहत, मणिपुर, स्वाधिष्ठान एवं मलाधार शास्त्रोक्त भूत तन्मात्र शरीरी हैं। मन

त्रिगुणात्मक होते हुए भी शब्द तन्मात्र से सीधा सम्पर्कयुक्त एवं सम्बन्धित है। मन के आधार स्थल भ्रूमध्यस्थित आज्ञाचक्र के ऊपर अथवा बहिरंग भाग में अन्य सूक्ष्मतर शक्ति चक्र (Energy fields) योगियों को प्रकट हैं। साधारण मनुष्य में तो, कहा जा सकता है कि गन्ध तन्मात्र शरीरी मूलाधार चक्र भी सुषुप्त रहता है, अर्थात नहीं ही होता है। क्योंकि जबतक कोई शक्ति जाग्रत होकर बोधम्य न हो तब तक वह नहीं होने के बरावर ही है। प्रक्रिया विशेष से चक्र मुकुलित होते हैं, आयत्त होने पर विशिष्ट गुणाधान, प्राणियों में करते हैं। मूलशक्ति अनन्त विशिष्ट शक्तियों में रूपान्तरित होने की क्षमता युक्त है—इसलिए यह कहना कि, रूपान्तरित होने के पूर्व ही वह अमुक विशिष्ट शक्ति है, असंगत होगा। इसीलिए विभिन्न धर्मों के विभिन्न ग्रन्थों में मत वैचित्र्य दृष्टिगोचर होता है। प्रक्रिया वैभिन्य से शक्ति प्राकट्य विभिन्नता अवश्यम् भावी है। तन्त्र, मनुष्य (असाधारण) संकलित शास्त्र हैं इसलिए इन्द्रियों की संख्यानुसार चक्रों, भूततन्मात्राओं एवं भूतों की संख्या निर्धारित की गई है। वैसे सांख्य शास्त्रोक्त तत्त्वानुसार चक्र संख्या भी ग्रन्थों में स्पष्ट मिलती है, एवं उनपर ध्यान करने की प्रक्रिया एवं तज्जन्य विशिष्ट अनुभवों का वर्णन भी मिलता है।

शास्त्र ने मूलशक्ति को विचार या शब्द रूपा भी स्वीकार किया है। विचार शब्द रूप में ही प्रकट होते हैं। भाव भी शब्दरूप है एवं शब्द के द्वारा ही व्यक्त होते हैं। शब्द से केवल कानों से सुनाई पड़ने वाले शब्द को ही नहीं समझना चाहिए। शास्त्र में शब्द का प्रयोग गत्यर्थक हुआ है, गतिमात्र शब्द है। चित्त की गति अनुभवजनक है। सृष्टि अनुभवमलक है। इसलिए सृष्टि के विश्लेषण करने का एक ही सरल उपाय है—चित्त की गतियों का विश्लेषण एवं अध्ययन।

प्रक्रिया सिद्धान्त :—सिद्ध योगियों के मत से चित्त की मिश्रित गतियों को पहले षटचक्र क्रम से एक विशिष्ट गति में रूपान्तरित करना चाहिए। जब यह रूपान्तरण पूर्ण रूपेण सिद्ध एवं आपत्त हो जायगा तो प्रतीत होगा कि चित्त भी एक अनुभव का विषय है। क्योंकि सम्पूर्ण चित्त उस समय उस चक्र रूप में रूपान्तरित हो जाता है और अनुभव ग्रस्य हो जाता है। यह अभ्यास निम्न स्थूल चक्र से क्रमशः ऊपर-ऊपर के सूक्ष्म चक्रों में करना चाहिए। एक मूलाधार चक्र की क्रिया सम्यक रूप से सम्पन्न हो जाने से उससे ऊपर के स्वाधिष्ठान चक्र की क्रिया अधिक सुगमता से सम्पन्न हो जाती है। उसी प्रकार अन्य चक्रों के विषय में भी समझना चाहिए। चक्रों की क्रिया प्रारम्भ करने से पूर्व कुछ के मत में कुण्डलिनी जागरण होना आवश्यक है। इसी बात को दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि बहिर्मुखी बृत्ति का अन्तर्मुखी होना आवश्यक है। क्योंकि अन्तर्मुखी वृत्ति के बिना ध्यान क्रिया सम्भव ही नहीं होगी। योगी समाज जानता है कि कुण्डलिनी जागरण एवं अन्तर्मुखी वृत्त्युत्पत्ति समानार्थक हैं। यह अनेक प्रकार से हो सकती है और इसके लिए किसी चमत्कारिक क्रिया कौशल की आवश्यकता नहीं है। यह हठयोग की क्रियाओं अथवा अन्य ग्रन्थों में वर्णित इतर क्रियाओं से भी हो सकता है अथवा पूर्ण चैतन्यमय कुण्डलिनी युक्त महापुरुष के सम्पर्क अथवा आशीर्वाद से भी हो सकता है। अपने आप भी परमेश्वर

की इच्छा या कृपा से हो सकता है। इसका अन्य सरल उपाय गुरु प्रदत्त उत्कृष्ट वीर्य, मन्त्र जप भी है। ऐसा भी देखने में आया है कि सिद्ध महापुरुष के मुख से उच्चरित किसी ध्वनि या शब्द विशेष कां ही उस महापुरुष के प्रति हार्दिक श्रद्धा रखते हुए जप करने से तुरन्त कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो गई। शांम्भवी मुद्रा के सम्यक् अभ्यास से भी कुण्डलिनी का अत्यल्प समय में जागरण देखा गया है, इत्यादि।

इस अवस्था में चित्त को लाए बिना चित्त सत्ता का परिज्ञान तो क्या चित्त के विभिन्न इच्छा, द्वेष, चिन्तन, मननादि कार्य भी निज से पृथक रूपेण नहीं समझे जा सकते। चित्त के मूल रूप के परिज्ञान के प्रारम्भ से ही द्रष्टा दृश्य भेद सम्बन्धी विमर्श करना होता है। काल के परिपाक से किसी भी क्षण दृश्य रूप मूल चित्त सत्ता जो समष्टि अनुभवो का भी मूल अव्यक्त रूप है, चिदानन्द रूप दृष्टा में विलीन हो जाता है। उसी क्षण यह ज्ञान उदय होता है कि दृश्य द्रष्टा से भिन्न नहीं है एवं द्रष्टा ही एकांशेन दृश्य अथवा अनुभव जनक पदार्थों में रूपान्तरित हो जाता है। यही ज्ञान कुण्डलिनीचैतन्य का एक पुष्प है और उसका परिपक्व फल है आत्मतृप्ति। इस प्रकार तृप्त व्यक्ति में समस्त क्रियायें होती रहती हैं। साधारण व्यक्तियों सा व्यवहार करता हुआ भी वह असाधारण क्षमता युक्त होता है। इस पथ में इच्छा दमन की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती—क्योंकि किसी कारणवश तृप्ति भंग कारक इच्छा के उदय होने का अर्थ ही है कि वह पूर्ण हो ही जायगी—चाहे इसके लिए प्रकृति को अपना नियम ही बदलना पड़े।

आचार्य एवं अध्यक्ष, मौलिक सिद्धान्त विभाग
चिकित्सा विज्ञान संस्थान
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

———

भारतीयसंस्कृति और योग

श्रीकेदारनाथ त्रिपाठी

भिन्न-भिन्न देश और समाज की संस्कृति अपनी निजी विशेषता लिये हुए रहती है और वह उस देश और समाज की आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के साथ निखार को प्राप्त करती है। उस संस्कृति का प्रभाव इतना व्यापक होता है कि उसमें जन्मे हुए व्यक्ति अनायास ही उससे प्रभावित होते रहते हैं। इसकी व्यापकता के कारण ही बनी हुई किसी भी संस्कृति के बिगड़ने तथा विगड़ी हुई संस्कृति के बनने में सदियां लग जातीं हैं। भारतीय संस्कृति इसका ज्वलन्त उदाहरण है, जिसके उन्मूलन के लिये कितने ही दुष्प्रयास निष्फल हुए।

भारतीय संस्कृति के आदिम स्रोत वेद हैं, जो सभी विद्याओं के अक्षय भण्डार हैं। हम इन्हें अनादि मानते हैं। अनादि भी कई अर्थों में। मीमांसक की दृष्टि में महाप्रलय होता ही नहीं और परम्परागत रूप में सृष्टि के साथ ही वेद भी आ रहे हैं। जो नैयायिकादि महाप्रलय होना मानते हैं, उनके अनुसार भी सूर्य और चन्द्र के समान वेद भी मानव कल्याण के लिये सृष्टि के आदि में ईश्वर ने रचे। जो पाश्चात्य विद्वान् इन्हें अनादि नहीं मानते, वे भी यहां तक अवश्य स्वीकार करते हैं कि ये तीसों हजार वर्ष पूर्व के हैं या इनकी रचना का अन्दाज नहीं लगाया जा सकता।

धर्मशब्द के समान संस्कृतिशब्द भी ऐसा शब्द है जिसका अर्थ अङ्गुलिनिर्देश द्वारा नहीं बताया जा सकता है। सच तो यह है कि सभ्यताशब्द के समान धर्मशब्द कुछ स्पष्ट चित्र हमारे सामने उपस्थित करता भी है। किन्तु संस्कृतिशब्द बिलकुल अस्पष्टार्थक है। इसका कारण है कि संस्कृति का सम्बन्ध हमारे आभ्यन्तर से है। जो सभ्यता और धर्मरूपी गङ्गा-यमुना से मिलकर त्रिवेणी का रूप देनेवाली अन्तःसलिला सरस्वती के समान है।

संस्कृतिशब्द सम् उपसर्गपूर्वक कृधातु से भाव में क्तिन्प्रत्यय लगकर बना है। संस्कारशब्द भी सम्पूर्वक कृधातु से ही भाव में घञ् प्रत्यय लग कर बनता है। यौगिक दृष्टि से इन दोनों शब्दों के अर्थों में कोई अन्तर नहीं है। तथापि संस्कारशब्द न्याय में भावना, वेग एवं स्थितिस्थापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है, तथा और दर्शनों में वासना के अर्थ में, जो भावना ही है, प्रयुक्त होता है। जैसे खरादने से सुवर्ण में संस्कार पैदा होता है, वैसे ही विभिन्न अनुभूतियों से आत्मा में संस्कार उत्पन्न होते हैं। हिन्दुओं के सोलह संस्कार भी आत्मा को साक्षात् या परम्परया संस्कृत करते हैं। संस्कृति भी इसी तरह की वस्तु है। अन्तर यही है कि व्यष्टिगत रूप से जो संस्कार है, वही सम्पूर्ण देश या समाज की दृष्टि से संस्कृति है। व्यष्टि एवं समष्टि के भेद को स्पष्ट करने के लिए ही संस्कार एवं संस्कृति शब्द के स्वतन्त्र प्रयोग किये जाते हैं। अब मैं भारतीय संस्कृति में योग की धारणा के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत करना चाहूंगा।

पातञ्जल योगदर्शन का दूसरा सूत्र है—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"। अर्थात् चित्त की पञ्चविध वृत्तियों का निरोध ही योग है। ये पांच वृत्तियां हैं प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। हमारे व्यावहारिक जीवन में ये वृत्तियां बड़े ही काम की हैं और अनिवार्य भी हैं। जैसे, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ही हमारे सारे ज्ञान उत्पन्न होते हैं। प्रमाणों में दोष आने पर विपर्यय यानी भ्रान्ति होना अनिवार्य है। ऐसे ही 'राहोः शिरः' ऐसे शब्दज्ञान के माहात्म्य से "यह जानते हुए भी कि शिर ही राहु है" हमें 'राहु का शिर' ऐसी भेदबुद्धि होती है। यही विकल्प है। निद्रा भी जीवन की एक आवश्यक वृत्ति है और स्मृतिरूप ज्ञान भी। इन सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध योग है। परन्तु इन वृत्तियों का निरोध होने पर जीवन का सारा व्यवहार ही ठप्प हो जाता है। यहां यह प्रश्न उठता है कि क्या इस प्रकार की अवस्था (असम्प्रज्ञातसमाधि की अवस्था) हमें अभीष्ट है? साधारण रूप से जो जीवन का लक्ष्य जीवन तक ही सीमित मानते हैं, उनके लिए तो यह स्थिति अभीष्ट नहीं ही होगी। किन्तु जो जीवन का लक्ष्य त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति मानते हैं, उनके लिये तो यह अवस्था अत्यन्त अभीष्ट है और परम पुरुषार्थरूप मोक्ष का साधक है। और हमारी भारतीय संस्कृति निरन्तर इसी ओर उन्मुख है। इस तरह की संस्कृति हमें वेदों और उपनिषदों से प्राप्त है। यद्यपि सांसारिक व्यवहारों में पड़े रहने के कारण यह सर्वगम्य नहीं मालूम देती है तथापि उसके जो स्फुट स्वरूप हैं वे प्रत्येक भारतीय के रग रग में प्रवाहित हो रहे हैं और वे योगाङ्गों के वर्णन प्रसङ्ग में योग दर्शन के सूत्रों द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं।

सर्वप्रथम चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग की सिद्धि के लिये अभ्यास और वैराग्य को उपाय बताया गया। अनन्तर उनके विकल्प के रूप में "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" इस सूत्र द्वारा ईश्वर की उपासना या भक्ति को चित्तवृत्तिनिरोध का सुलभ साधन बताया गया। इस प्रकार की आस्तिक्यभावना भारतीय संस्कृति का सार्वजनीन स्वरूप है, जिसे उक्त योगसूत्र ने इङ्गित किया है। गीता में भी कहा गया है "अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव"। इतना ही नहीं, आगे चलकर "यथाभिमतध्यानाद्वा" इस सूत्र द्वारा अपने अपने अभीष्ट देव की उपासना का समर्थन करते हुए परकीय उपासना पद्धति के प्रति सहिष्णुता सूचित की गई है।

जिनकी चित्तवृत्तियां सतत विषयप्रवण होकर उच्छृङ्खल होती हैं, उनकी उन वृत्तियों के दमन के लिये तपश्चरण स्वाध्यायाभ्यास एवं ईश्वरप्रणिधानरूप क्रियायोग का विधान किया गया है। इसी आधार पर हमारे यहां उपवासादि विविध प्रकार के तपोऽनुष्ठान की सार्वत्रिक मान्यता है। अनित्य एवं अपवित्र शरीरादि में नित्यता पवित्रता आदि की बुद्धि को, अहङ्कार, राग, द्वेष और अभिनिवेश अर्थात् मरणभय को योग ने क्लेश की संज्ञा दी है। ये क्लेश ही वासनाद्वारा इस जन्म एवं जन्मान्तर में नाना भोगों के कारण बनते हैं। *भोग में यद्यपि दुःख के साथ सुख भी है तथापि वह सुख भी वस्तुतः दुःख ही

* क्लेशमूलः कर्माशयः दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः, परिणाम-ताप-संस्कार-दुःखैर्दुःखमेव सर्वं विवेकिनः (यो० द० पा० २ सू० १२,१५)

है। इस प्रकार की भावना को विकसित करता हुआ योग रागद्वेष मिथ्याभिमान आदि क्लेशों से बचने का उपदेश देता है, जिसकी स्पष्ट झलक यहां के महापुरुषों में हम पाते हैं, जो भारतींय संस्कृतिके के मूर्त रूप है।

"हेयं दुःखमनागतम्" (३-१६) यह सूत्र अनागत दुःख को ही हेय बताते हुए वर्तमान दुःख अवश्य भोगने होंगे, क्योंकि तदनुरूप कर्म हम कर चुके हैं। जैसे, धनुष से छूटा हुआ बाण वापस नहीं होता। अतः वर्तमान दुःखका हेतु स्वयं अपने आपको समझो किसी अन्य को दोषीं न ठहराओ। और भविष्य में दुःखों की पुनरावृत्ति न हो, एतदर्थं स्वयं सत्प्रवृत्ति अपनाओ। यह भारतीय संस्कृति के लिये योग की वहुत वड़ी देन कही जा सकती है।

अब हम योगाङ्गों पर दृष्टि दें। योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि। यम पांच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। तप आदि पूर्वोक्त तीन क्रियायोगों में शौच (पवित्रता) एवं सन्तोष को मिलाकर पाँच नियम हैं। योग के वहिरङ्गों मे ये प्रमुख हैं। भारतीय संस्कृति में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

"मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि, सत्यं वद, मा गृधः कस्यस्विद्धनम्, ब्रह्मचर्येण देवा मृत्युमुपाघ्नत" आदि श्रुति वचन हैं। ये ही देश काल या किसी शर्त के बन्धन से मुक्त होकर सभी स्थान में सभी समय में और सभी परिस्थितियों में सेवन किये जाने पर महाव्रत हो जाते है। यमों में पांचवां अपरिग्रह है, जो भोग के साधनों के संग्रह की भावना को वर्जित करता है। यह कितनी बड़ी उदात्त भावना है। इसे व्यक्ति में उद्बुद्ध करते हुए पूरे समाज को उपकृत करता हुआ योग हमारे वैदिक समाजवाद को वनाता है।

अहिंसा की भावना समाज में स्नेह प्रेम और श्रद्धा को विकसित करती है। इसे महावीर, वुद्ध और गान्धी ने प्रयोग द्वारा दिखा दिया। सदा सत्य भाषण करना, किसी की कोई भी वस्तु बिना मांगे न लेना, ये भारतीय संस्कृति के मूल्यवान् तत्त्व हैं। ब्रह्मचर्य की महिमा को भारत ने ही समझा। "मातृवत् परदारेषु" यह हमारी संस्कृति है। यह चीज़ और देशों में दुर्लभ है।

शौचका अर्थ है, बाह्य पवित्रता। इसका फल योगसूत्र मे बताया गया है— "शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः"। अर्थात् शौच से अपने शरीर के प्रति घृणा उत्पन्न होती है और दूसरे के संसर्गदोष से बचा जाता है। अपने शरीर के प्रति घृणा इसलिये कि यह देह स्वतः अपवित्रता का भण्डार है। बार बार जल से पवित्र करने पर भी पुनः अपवित्र बनी रह जाती है। ऐसी भावना शरीर के प्रति अनासक्ति और आत्म तत्त्व के प्रति उन्मुखता को बढ़ावा देती है। जो आत्मतत्त्व स्वतः तो नित्य एवं शुद्ध है और वृत्तियों के कारण उसमें आरोपित अशुद्धि आती है तथा योग द्वारा उसे निर्मल किया जाता है। इस प्रकार जब अपने ही शरीर के प्रति घृणा की भावना उत्पन्न होती है, तब दूसरे से संसर्ग क्यों कर वढ़ायेगा। भारतवर्ष में स्पृश्यास्पृश्य भावना का यही रहस्य है, जो एक उत्तम एवं शाश्वत लक्ष्य को लेकर शास्त्रों में वर्णित है और वह एक साधनमात्र है

साध्य नहीं। भारतीयसंस्कृति में यदि इसने स्थान प्राप्त किया है तो पूर्वोक्त उदात्त लक्ष्य ही इसका मूल है। जिसे आज अभिशाप माना जाने लगा है। इस मान्यता का कारण है, इसके मूल में उदात्त लक्ष्य का न होना। किन्तु योग-दर्शन इसे उदात्त लक्ष्य की दृष्टि से स्पष्ट मान्यता प्रदान करता है।

सन्तोष का योगदर्शन में फल बताया गया है—"सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः।" व्यक्तिगत रूप से सन्तोष वस्तुतः अनुत्तम सुख प्रदान करता है। साथ ही सामाजिक दृष्टि से समाज में अतृप्त भोग की प्रवृत्ति के बढावा को रोकता है। जिससे राष्ट्र भोग के लिये पारस्परिक कलह से उन्मुक्त होकर शान्ति के वातावरण में अपनी उन्नति करता है।

योगदर्शन के विभूतिपाद में धारणा ध्यान और समाधि के प्रभाव से होने वाली अनेक सिद्धियों का वर्णन आया है। कहीं मट्टी आदि के हुए पिण्ड कपाल घट आदि धर्मपरिणाम के संयम से तथा घट की अनागतावस्था से वर्तमानावस्था की प्राप्तिरूप लक्षणपरिणाम के संयम तथा वर्तमानावस्था को प्राप्त घड़े की नवीनता पुराणता आदि अवस्थापरिणाम के संयम से अतीत और अनागत ज्ञान की सिद्धि प्राप्त होती बतायी गयी है। कहीं शब्द अर्थ और उसके ज्ञान के प्रविभाग के संयम से सभी प्राणियों की बोली का अभिप्रायज्ञान होना बताया गया है। इसी प्रकार विविध संयमों से पूर्वजन्मज्ञान, परचित्तज्ञान, अन्तर्धान, सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्टज्ञान, भुवनज्ञान, कायव्यूहज्ञान, क्षुत् पिपासा की निवृत्ति, चित्त का परशरीरप्रवेश, (जैसे, शङ्कराचार्यजी को हुआ था) जल कण्टकादि पर स्वच्छन्द विहरण जैसे पृथिवी पर, आकाशगमन, अणिमा आदि की प्राप्ति आदि सिद्धिओं का होना वर्णित है।

योयदर्शन ने परमलक्ष्य की प्राप्ति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने की दृष्टि से इन सिद्धियों का प्रतिपादन एवं विस्तृत वर्णन किया है, न कि इन्हें प्राप्त कर अपने को कृतकृत्य मानने के लिये। इसीलिये कहा गया है—"ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः" (३।३७)। अर्थात् ये व्युत्थान (व्यवहार) की दृष्टि से ही सिद्धियां हैं, समाधि की दृष्टि से तो उपसर्ग अर्थात् विघ्नरूप ही हैं। इसका अभिप्राय है कि योगजन्य सिद्धियों का अहङ्कार आदि न होना चाहिये, क्योंकि इससे परम पुरुषार्थ की प्राप्ति का प्रयास अवरुद्ध हो जाता है। यह है, हमारी भारतीय संस्कृति, जो ऊँची सिद्धियों को परम पुरुषार्थ के समक्ष न्योछावर कर देती है। योगदर्शन के चतुर्थपाद में कैवल्य का वर्णन है, जिसे भारतीय संस्कृति में परमपुरुषार्थ के रूप में मान्यता प्राप्त है।

अतः इस प्रकार के तत्त्वों से निखरी हुई हमारी भारतीय संस्कृति क्यों न विश्व के लिये गौरवास्पद एवं आदर्श रूप हो, जिसकी निखार में योगदर्शन का महत्त्वपूर्ण योगदान है

दर्शनविभागाध्यक्ष,
प्रा० वि० ध० वि० संकाय,
का० हि० वि० वि०, वाराणसी

योगीनां बलमैश्वरम् (अष्ट-सिद्धियाँ)[१]

डॉ० जनार्दन उपाध्याय

सिद्धि साधना-प्रक्रिया की अनेक रूपता से योगियों की अष्टसिद्धियाँ जनसामान्य को स्पष्ट प्रतिभासित नहीं हो पातीं। अतः स्पष्टीकरण के लिए सिद्धियों के वर्गीकृत रूप एवं प्रकृति को समझना आवश्यक है।

सिद्धिः (सिध्+क्तिन्) का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ किसी वस्तु या शक्ति की प्राप्ति का द्योतक है। इस संदर्भ में सभी सिद्धियाँ एक सी प्रतीत होती हैं। पर प्रकृति एवं साधनात्मक प्रक्रिया के आयामों की विभिन्नता के कारण सिद्धियों की दो श्रेणियाँ की जा सकती हैं :—

(१) उदात्त (उत्कृष्ट) सिद्धियाँ :—इसके अन्तर्गत दैवी प्रेरणा प्रदत्त अतिमानवीय शक्ति; योगाभ्यास से प्राप्त अष्टसिद्धियाँ, आदि हैं।

(२) अनुदात्त (निकृष्ट) सिद्धियाँ :— इसमें जादू, टोना, मारण, मोहन, उच्चाटन, आभिचारिक कृत्यों द्वारा चमत्कार प्रदर्शन, आदि आते हैं।

'उदात्त-सिद्धियाँ' योगी की आत्मा के आरोहण अवरोहण की दिव्य यात्रा का प्रतिफलन है। इसकी सभी क्रियाएँ योगी की भौतिक काया से परे अतिसूक्ष्म अदृश्य देह (अस्ट्रॉल बॉडी) की मानस कल्पना का प्रत्यक्षीकृत विम्ब है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के जड़ विकारों, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि से परे अतीन्द्रिय एवं वायवीय (ईथरीयल) "अति संवेद्य-सूक्ष्म-सत्त्व-तत्त्व" (सुपर सेन्जटीव सबस्टेन्स) से है। इसका अनुशीलन प्रसंगानुकूल आगे किया जायेगा।

'अनुदात्त-सिद्धियाँ' भौतिक देह की ही मानसिक शक्तियों की देन हैं। इन्हें मनोविज्ञान और शरीर रचना विज्ञान के माध्यम से समझा जा सकता है। इस प्रकार की सिद्धियों में व्यक्ति के शरीर के सभी नाड़ी तन्तुओं की क्रियाशीलता बनी रहती है। ये सभी सिद्धियाँ व्यक्ति की विशेष बोधवृत्ति का परिणाम हैं। इस बोध का जागरण कर्मकाण्डीय संस्कारों (रीचुअल्स) अभिचारों, मन्त्रों के प्रयोग द्वारा होता है। इन सांसारिक कृत्यों से व्यक्ति विशेष मानसिक शक्ति से आधानित होकर कुछ चमत्कारिक कार्य करने में समर्थ हो जाता है। कभी-कभी मस्तिष्क के किसी अंग पर तीव्र आघात होने से व्यक्ति इस प्रकार की मानसिक शक्तियों से युक्त होकर अदृश्य बातें बताने लगता है। सामान्य जन के लिए यह सिद्धि हो सकती है, पर यह स्नायविक आघात जन्य मस्तिष्क किसी कोषाणु का उद्वोधन और उल्लास मात्र ही है।

---

[१] चरक १।१४०।४१।

आदिम मानव प्रारम्भ में चमत्कार भरी जादुई क्रियाएँ काम में लाता था, जिसे उसकी सिद्धि कही जा सकती है। पुरावृत्तात्मक चिन्तन (मिथिक कांसेप्ट) में सभी जादुई (मैजिकल) शक्तियों का आधार बाह्य जगत की वास्तविकता को मानवीय इच्छाओं एवं आवश्यकताओं के अनुरूप ढालना है। ये सभी क्रियाएँ प्रयोजनवती हैं, जो चिदात्मा को आवेष्टित करने वाले जड़विकार :—इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि को तुष्ट करती हैं। 'अनुदात्त-सिद्धियाँ' या तो बाह्य इन्द्रियों की तृप्ति के लिए हैं, या उनसे मन, प्राण, बुद्धि की परितृप्ति होती है।

इन सिद्धियों की पहली अवस्था में स्थूल रूप से जादू, टोना, मारण मोहन, उच्चाटन आदि को ले सकते हैं। दूसरी अवस्था सम्प्रदायगत सिद्धों, पीरों, औलियों, फकीरों के चमत्कारिक कार्य को व्यक्त करती है।

योगसिद्धियाँ वायवीय देह की उच्चस्तरीय वोधवृत्ति हैं। ये सभी प्रयोजनातीत हैं। प्रयोजनातीत सत्वस्थ होकर वना जा सकता है। स्पष्ट है कि आध्यात्मिक यौगिक सिद्धियाँ आदिम अतिमानवीय जादुई शक्तियों की पुरावृत्तात्मक मिथकीय अवधारणा का विकसित शास्त्रीय रूप नहीं हैं। सभी पुरावृत्तात्मक जादुई शक्तियाँ आध्यात्मिक सिद्धियों से सर्वथा भिन्न हैं। अगर पहली मानव की भौतिक देह की उपज हैं, तो दूसरी अति सम्वेद्य-वायवीय-सत्व-तत्व से निर्मित मानस की दिव्यतम उपलब्धि है।

योगियों की अष्टसिद्धियों की व्याख्या शरीर रचना विज्ञान एवं मनोविज्ञान से परे की वस्तु है। उसकी व्याख्या के लिए "परा-मनोविज्ञान" और "पराफिजियॉलजी" की कल्पना करनी पड़ेगी। उदात्त सिद्धियाँ इस भौतिक देह से परे अतिदिव्य अतीन्द्रियदेह (अस्ट्रॉल बॉडी) की उपज है।[1] उस वायवीय शरीर की संक्षिप्त रचना समझना आवश्यक है। योगदर्शन में इस शरीर के चारों तरफ उसी प्रकार की एक अतिमानवीय एवं वायवीय शरीर की कल्पना है। यह शरीर अपने विधायक तत्वों की अतिसूक्ष्मता के कारण अदृश्य है। इसकी रचना ऐसे ईथरीय तत्त्व से है, जो स्थूल तत्त्वों की अपेक्षा अधिक स्पन्दनशील (वाइब्रेरिंग) है। पदार्थ में अणु-परमाणु का वेग, (वेलासिटी) कम्पन (वाइब्रेशन) और उल्लास (वेरासिटी) होता है। आकाश तत्व से निर्मित यह वायवीय शरीर भी अति संवेदनशील है। इसमें पदार्थीयगुणों-वेग, कम्पन एवं उल्लास के होते हुए भी न तो इसे पूर्णतः पदार्थ कह सकते हैं और न मात्र यह ऊर्जा (एनर्जी) ही है। यह शरीर अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व से बने पदार्थ की अपेक्षा अधिक दृढ़ग्राही है। तत्त्वविज्ञान में इस ब्रह्मस्वरूप शरीर का निर्माण आकाश तत्व से माना गया है, जो "अति संवेद्य सत्व-तत्व" है। यह हर दिकाकाश (स्पेस) और हर मानव शरीर में सहज प्रवेश्य है। यह योग-शरीर ऐसी तात्विक सूक्ष्म देह है, जो काल और आकाश (टाइम और स्पेस) की सीमा से परे है। योगी देश-काल पात्रता की सीमा में सीमित नहीं है। वह अपनी निर्विकल्प समाधि में अपनी आत्मा को ब्रह्मारन्ध्र से मुक्त कर इस ईथरीय देह में प्रवेश कराता है। पुनः आत्मा

---

[1] संकेतसूत्र के लिए "मिस्टीरियस-कुंडलिनीः" वसन्त रेले का द्रष्टव्य है।

वहाँ के सूक्ष्म तन्तुओं को अपने साथ लेकर इस भौतिक शरीर में प्रत्यागमन करती है। इस काल में अगर किसी प्रकार की दुर्घटना से तंतुओं का विखंडन हो गया तो अतिवायवीय-शरीर में स्थित आत्मा भौतिक शरीर में पुनः प्रवेश नहीं कर सकती। योगियों का परकायाप्रवेश इसी अवस्था की उपलब्धि है।

योग दर्शन का स्पष्ट उद्घोष है कि इस पिण्ड से बाहर कोई वस्तु नहीं है। देह रूप अणु ही ब्रह्माण्ड रूप विराट की लघुतम उपलब्धि है। जो भी हमें अद्भुत या आश्चर्यजनक प्रतीत हो रहा है, वह हमारी अज्ञानता का फल है। मूलतः सब कुछ सहज है। इसी से संवेदनशील बोध वृत्ति का स्फुरण आवश्यक है। योगी के लिए जगत का रहस्य रहस्य नहीं है "अष्ट सिद्धियों" की स्थिति मानव शरीर के भीतर ही है। साधना के द्वारा उन्हें पहचान कर प्राप्त किया जा सकत है। महत्व की बात यह है कि ये सभी सिद्धियाँ परस्पर विरोधी है। उदाहरण के लिए हम 'अणिमा-महिमा', 'लघिमा-गरिमा' को ले सकते हैं। परस्पर विरोधी गुण से ही जीवन में गति आती है, और संसार की हर वस्तु, हर शब्द, ध्वनि द्वन्द्वात्मक संघर्ष से ही प्रगतिशील है। जहाँ द्वन्द्व नहीं है, वहाँ मृत्यु और अगति है। अगति और स्पन्दन हीनता जीवन सौन्दर्य नहीं है। योगी अपनी ही सुप्त शक्ति का जागरण कर उसमें गतिमयता लाता है। वह गतिशील होकर ही धर्म अधर्म, गति-अगति, नृत्य-अनृत्य, देश-काल, पात्रता से ऊपर उठ जाता है। उसके लिए हर समय, हर स्थान, प्रत्येक व्यक्ति, एक समान स्फुरित हैं।

उदात्त सिद्धियाँ योगियों की ऐश्वर्य शक्ति हैं :—

आवेशश्चेतसो ज्ञानार्थानां छंदतः क्रिया
दृष्टिः श्रोतं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्
शुद्ध सत्वसमाधानतं सर्वमुपजायते ।[1]

'अष्ट-सिद्धियाँ' योगी के सत्वस्थ मानस की प्राप्ति हैं। समाधिनिष्ठ होकर सत्वस्थ हुआ जा सकता है। समाधि निष्ठता का अर्थ ही है इन्द्रियों से विमुखता और अपनी चेतना शक्ति का अन्तर्मुखी-प्रयाण। योगी को आत्मा की शिथिल समाधि चित्त, वासना और प्राण के कंचुकों से मुक्त नहीं होने देती। कुण्डलिनी शक्ति पर पूर्ण रूपेण नियन्त्रण करने वाले योगी की चैतन्यात्मा चित्त, वासना, प्राण के पाश का खण्डन कर—ब्रह्मरन्ध्र से बाहर निकलने के लिए स्वतन्त्र हो जाती है। ब्रह्मरन्ध्र से बाहर आकर आत्मा मानवीय देह से अतिमानवीय देह में प्रवेश करती है। योगी निर्विकल्प समाधि में अनिर्वचनीय विज्ञान (इन्फीनिट इन्टेलीजेन्स) से तादात्म्य स्थापित करता है। ज्ञान-विज्ञान की इसी अनिर्वचनीय अवस्था में उसे आध्यात्मिक शक्तियों की प्राप्ति होती है, जिन्हें 'अष्ट-सिद्धियाँ' कहते हैं। ये 'अष्टसिद्धियाँ' अधोलिखित है :—

(१) अणिमा (२) महिमा (३) लघिमा (४) गरिमा
(५) प्राप्ति (६) प्राकाम्य (७) वशीत्व (८) ईशत्व

---

[1] चरक : १।१४०;४१।

(क) अणिमा :—योगीध्यान, चित्त की एकाग्रता और संयम द्वारा आत्मा के अणुत्व का प्रत्यक्षीकरण करता है। इसके द्वारा वह अपनी ही अदृश्य शक्ति को दूसरे के शरीर में प्रविष्ट करा सकता है। इसी अवस्था में पर काया प्रवेश भी किया जा सकता है। शंकराचार्य का पर काया प्रवेश इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

(ख) महिमा :—विराटता भी आत्मा का एक महान गुण है। इस सिद्धि में योगी श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया द्वारा वायु को अपने अन्दर इतना प्रविष्ट कराता है, जिससे उसका शरीर विराटतम रूप को धारण कर ले। कृष्ण ने अर्जुन को विराट रूप का दर्शन इसी योग प्रक्रिया से कराया था।

(ग) लघिमा :—इसमें योगी अपनी काया को पूरक प्राणायाम द्वारा अधिक से अधिक वायु लेकर इतना हल्का कर लेता है, जिससे वह जल तथा वायु में चल तथा उड़ सकता है। इस सिद्धि द्वारा वह सहस्त्रों मील की यात्रा मिनट या सेकेण्ड में कर सकता है।

(घ) गरिमा :—गुरुत्व आत्मा का चौथा गुण है। योगी अधिक से अधिक वायु खींच कर उसे अपनी नाड़ी तन्तुओं की शून्यता में भरकर दबाता है, जिससे उसका शरीर पूर्वापेक्षा गुरु गम्भीर हो जाता है। कृष्ण ने सत्यभामा के गर्व को चूर करने के लिए शरीर में गुरुता इसी द्वारा लायी थी।

(च) प्राप्ति :—इस सिद्धि से अभीप्सित वस्तु को प्राप्त किया जा सकता है। इससे आध्यात्मिक शक्ति एवं दैवी सक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। यह ऐसी सिद्धि है जो योगी को अनेक अज्ञात भाषाओं को समझने, बोलने की शक्ति देती है। इसी के माध्यम से योगी अदृश्य घटनाओं, भविष्य की बातों एवं दूसरों के अव्यक्त विचारों को समझ कर कह सकता है। महाभारत कालीन संजय इस दृष्टि से युक्त थे। जिससे बिना देखे ही युद्ध का यथा तथ्य वर्णन धृतराष्ट्र को सुनाते थे।

(छ) प्रकाम्य :—इसके द्वारा कामना से अधिक की प्राप्ति की जा सकती है। साथ ही साथ इसके द्वारा ही योगी अनिश्चित काल तक युवा बना रह सकता है।

(ज) वशीत्व :—इस सिद्धि से सभी के ऊपर नियन्त्रण रखा जा सकता है। जगत के हर प्राणी, हर तत्त्व और सभी क्रियाएँ व्यक्ति की इच्छा के अनुकूल कार्यरत हो सकती हैं। इसी प्रकार की सिद्धि से व्यक्ति सभी को अपने वश में रखता है।

(झ) ईशत्व :—यह इसी शरीर द्वारा दैवी शक्ति (डिवाइन पावर) की प्राप्ति है। इसके द्वारा अणोरणियान महतो महीयान् की अनुभूति होती है। योगी ब्रह्म में लीन होकर इसी शरीर से तादात्म्य स्थापित करता है।

समग्रतः ये सभी सिद्धियाँ अणु से विराट तत्व की ओर उन्मुख हैं। अणु को जानकर ही विराट को पहचाना जा सकता है। विराट की पहिचान ही सर्वव्यापी ऋत का प्रत्यक्षीकरण है। 'ऋत' के विराट रूप 'सत्य' की अनुभूति 'ऋतम्भरा' के बिना असम्भव है। क्योंकि 'ऋतम्भरा' ही योगी की 'निर्विकल्प समाधि' की दिव्यतम

उपलब्धि है। वही उसकी वह निर्मल प्रज्ञा है जिससे उसे पदार्थ से ऊर्जा तक की चेतन शक्ति के संचरण का बोध होता है। 'ऋतम्भरा' के रागात्मक साहचर्य से ही योगी जगत के सभी अणु-परमाणुओं के पूर्व स्थापित रागात्मक सम्बन्ध एवं समन्वय की चिरन्तन क्रिया-शीलता की अनुभूति करता है। सिद्धियाँ इसी दिव्यतम ज्योति स्वरूप 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' की हीं देन है। 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' विहीन योगी की साधना निष्फल और तपस्या खंडित है। इसी का संयोग-संभोग योगी को परम विद्या, परम अध्यात्मपद दिला सकता है। सभी दिव्य उदात्त सिद्धियाँ उसी के मनोमय रूप का ही तो प्रतिफलन हैं।

क्या योगी के लिए अपनी शक्तियों एवं विभूतियों का वाह्य प्रकाश एवं प्रदर्शन उचित है। वस्तुतः अहंकार से वचने के लिए योग मार्ग में प्रथम प्रविष्ट पुरुष को वह नहीं करना चाहिए। परन्तु जो योगी अखण्ड सत्ता से नित्य युक्त हो गया है, उसमें अहंकार की सम्भावना नहीं होती। क्योंकि उसके लिए उक्त सिद्धियाँ एवं शक्तियाँ निष्प्रयोजन हैं। योगी तो प्रयोजनातीत प्राणी हैं। इस संदर्भ में एक प्रश्न और महत्वपूर्ण है। क्या योग मार्ग में 'शक्ति' का विकास या "सरल विश्वास" आवश्यक है। सामान्यतया दोनो सिद्धान्त उचित हैं। क्योंकि बिना प्रत्यक्ष देखे मनुष्य के चंचल चित्त में शान्ति नहीं आती अतः निष्ठा एवं विश्वास के लिए आवश्यक है कि 'विभूतियां का वाह्य प्रदर्शन हो। विभूतियों में कान सी विभूति श्रेष्ठ है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्ति का त्रिविक्रम ही सर्व श्रेष्ठ है। इच्छा शक्ति सर्वोपरि है। "ज्ञान शक्ति" के प्राप्त होने से अशेष विशेष लाभ 'ज्ञान-लाभ' होता है। परन्तु क्रिया—शक्ति के आगत होने पर सर्व कर्तृत्व की उपलब्ध हाती है। यहां ता याग शास्त्र मे "विशोका सिद्धि" है जिसका स्वरूप ही 'सर्वज्ञातृत्व' और 'सर्वभावाधिष्ठातृत्व' है। फिर भी इसके ऊपर है 'इच्छा शक्ति'। यह "विशोकासिद्धि" से भी ऊपर है। 'इच्छाशक्ति' की प्राप्ति पर क्रिया और ज्ञान शक्ति की भी प्राप्ति हा जाती है। इसकी प्राप्ति पर प्राकृतिक उपादान से लेकर 'ज्ञान' तथा क्रिया शक्ति काम कर सकती है।

क्या 'इच्छा-शक्ति' और 'इच्छा' में भेद है? इन दोनों में निश्चित ही भेद है। 'शक्ति' का अर्थ 'चैतन्य' है। जव तक आत्मा अचेतन अवस्था में रहती है, अर्थात् ज्ञान का प्राप्त नहीं करती, तब तक उसकी इच्छा, मात्र 'इच्छा' है, वह 'इच्छा शक्ति' नहीं हो सकता। परन्तु आत्मा की चैतन्यावस्था अर्थात् पूर्णज्ञान प्राप्त करने पर आत्मा की इच्छा ही 'इच्छा शक्ति' वन जाती है। ज्ञान प्राप्त करने का अर्थ है आत्म साक्षात्कार और ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार। पर क्या इस साक्षात्कार के बाद भी 'इच्छा' रहती है। "इच्छा" रहती अवश्य है, पर वह "महाइच्छा" के रूप में रहती है। क्योंकि इसके रहने से ब्रह्म का ब्रह्मत्व और ईश्वरत्व साकार हाता है। योगीपुरुष "इच्छा-शक्ति" सम्पन्न होता है। वह उसे प्राप्त कर लिया हाता है। सामान्य जन केवल इच्छा सम्पन्न हैं। पर जब उस 'इच्छा' पर। 'इच्छा-शक्ति' सम्पन्न योगी का शक्तिपात होगा तो व्यक्ति अपनी इच्छा की वस्तु प्राप्त कर लेगा। एक उदाहरण आवश्यक है। एक व्यक्ति अपनी अभिप्सित वस्तु की इच्छा करके मुट्ठी बन्द कर सकता है। पर कुछ देर बाद वह उसे खोलता है। उसमें उसकी इच्छा की वस्तु उपलब्ध नहीं होती। एक योगी पुरुष इसपर

अपनी इच्छा शक्ति का आधान करता है और पुनः बन्द मुट्ठी खोलने पर व्यक्ति को उसकी इच्छित वस्तु मिल जाती है। यही 'शक्ति' है। व्यक्ति में महाज्ञान का उद्भव होने पर इस शक्ति संचार की आवश्यकता नहीं पड़ती। क्योंकि वह तो स्वयं महाशक्ति से नित्य युक्त हो गया रहता है। यही कारण है कि सिद्ध योगियों के लिए कोई भी वस्तु असम्भव नहीं है। योग शास्त्र का प्रमुख वाक्य है—"सर्वंसर्वात्मक"। रहस्य मयी विपुला प्रकृति एवं सृष्टि प्रक्रिया में सर्वत्र सभी तत्त्व विद्यमान हैं। परन्तु सबके होते हुए भी जिस तत्त्व का आधिक्य होता है उसी पर उसका नामकरण हो जाता है। उस वस्तु की गुण क्रिया भी उसी 'तत्त्व प्राधान्य' के अनुसार ही सम्पादित होती है। उदाहरण के लिए 'गुलाब' पुष्प में 'कमल' है। पर गुलाब के तत्त्व अधिक हैं, उसका प्राधान्य है, अतः वह गुलाब है। पर योगी अपनी शक्ति से "गुलाब" में 'कमल' पुष्प के तत्त्वों का प्राधान्य आधानितकर उसे ही 'कमल' पुष्प बना सकता है। यह उसकी शक्ति है। इसे आप जादू कह लें, मन्तर कह लें, टोना कह लें, सब चल जायेगा योगी के लिए तो कुछ भी असम्भव नहीं है।

योगी का समूचा व्यापार 'इच्छा शक्ति' का ही खेल होता है। फिर भी 'इच्छा-शक्ति' ही चरम नहीं है। बहिर्मुखी शक्तियों में यह सर्वश्रेष्ठ है। पर महायोगी की परमावस्था यहीं तक नहीं है। उसके लिए आवश्यक है कि वह अन्तर्मुख होकर अपनी 'इच्छा शक्ति' को भी श्री भगवान के चरणों में अर्पित कर दें। 'इच्छा शक्ति' के अर्पण होने पर ही आह्लादिनी या परमानन्दास्वरूपा शक्ति का अभ्युदय होता है। योगी 'इच्छा शक्ति' कीं निवृत्ति के बाद महाशक्ति के पूर्णानन्दमय अंक में प्रवेश करता है अनुकूल प्रतिकूल भाव की साम्यावस्था पर 'आनन्द' का भेदन होता हैं। यहीं पर वह 'चैतन्य राज्य में प्रवेश करता है। अन्ततोगत्वा वह शिव शक्ति के अभेद ज्ञान से उसी के साथ अपने स्वरूप का तादात्म्य कर लेता है। इसी 'शिव-शक्ति' एवं योगी के आत्मस्वरूप तादात्म्यावस्था में 'स्वातंत्र्य' का उन्मेष होता है। यही पूर्णता है। इसी से योगी का अर्थ ही है अखण्ड सत्ता से नित्ययुक्त होना। वह देश कालावच्छिन्न है। इसी शरीर से वह सर्वत्र एवं सर्व काल में विद्यमान रहता है।

'ऋतम्भरा' मझौली कोठी
अस्सी, वाराणसी

आत्म विज्ञान के सोपान शम और दम

डॉ० स्वामी आत्मानन्द परमहंस,

आत्मजिज्ञासुओं के लिये वेदान्त एक मात्र शरणीकरणीय है ।[1] साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारी ही आत्मज्ञानसम्पादन में सक्षम होता है—इस बात की चर्चा वेदान्तग्रन्थों में बहुधा की गयी है । ये चारों साधन हैं—विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता। छः सम्पत्तियाँ हैं -शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान एवं श्रद्धा । इनमें शम से मनोनिग्रह एवं दम से इन्द्रियनिग्रह अभिप्रेत है । मनोनिग्रह और इन्द्रियनिग्रह में पौर्वापर्य तथा दम की आवश्यकता पर प्रस्तुत लेख में विचार किया गया है ।

कुछ लोगों का कथन है कि शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धा[2], इसी क्रम से छः साधन प्रायः सभी ग्रन्थों में वर्णित हैं । अतः इन साधनों में सफल होने का क्रम भी यही है । अर्थात् पहले मनोनिग्रह होता है और बाद में इन्द्रियनिग्रह । यह बात अनुभवविरुद्ध प्रतीत होने पर वे लोग यह भी कल्पना करते हैं कि शम के लिये इन्द्रियनिग्रह आवश्यक भले ही हो पर वह कृत्रिम इन्द्रियनिग्रह है । वास्तविक दम तो शम के पश्चात् ही होता है । इसीलिये शम के पश्चात् दम का उल्लेख प्रत्येक ग्रन्थ में है । किन्तु गम्भीरता से विचार करने पर पता यह चलता है कि इन लोगों का विचार भ्रमात्मक है और उसे पुष्ट करने के लिये की गयी कल्पना कोरी कल्पना ही है जैसा कि भगवत्पूज्यपाद श्रीशंकराचार्य जी का वचन[4] है कि—

पूर्वोत्तरांगसद्भावे शमः सिद्धयति नान्यथा ।
तीव्राविरक्तिः प्राच्यांगमुदीच्यांगं दमादयः ॥

अर्थात् शम के पूर्वांग और उत्तरांग सिद्ध हो जाने पर ही शम सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं। तीव्र वैराग्य पूर्वांग है एवं दमादि उत्तरांग हैं ।

और भी[5]—

'बाह्येन्द्रिये साधु निरुध्यमाने बाह्यार्थभोगोमनसा वियुज्यते ।'

अर्थात् (किसी विषय से) बाह्येन्द्रिय को निरोध कर लेने पर (संयम द्वारा बलात् हटा लेने पर) मन का (उस) बाह्य विषय से सम्पर्क समाप्त हो जाता है ।

---

१ भट्टपाद जी का वचन है कि 'दृढत्वमेतद्विषयस्तु बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ।' मीमांसाश्लोकवार्तिक में पञ्चमसूत्रगत आत्मवाद का अन्तिम श्लोक पृ० ७२७-७२८ ।

२ वेदान्तसार, ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य एवं पञ्चीकरणादिग्रन्थ द्रष्टव्य हैं । विवेक चूड़ामणि तथा सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहादि प्रकरण ग्रन्थ भी द्रष्टव्य हैं ।

३ वेदान्तसार पृ० १० । रेवड़ीतालाब वाराणसी-प्रकाशन, दिसम्बर १९५८ ।

४ सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह ॥ १०० ॥

५ सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह ॥ १३२ ॥

इसीलिये भगवान् ने गीता में कहा है कि—

'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः[१]।'

अर्थात् बलवती इन्द्रियाँ हठात् मन को खींच ले जाती हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियसंयम नहीं है तो मनः संयम बड़ी दूर की बात है। इसी कारण भगवान् ने आगे[२] कहा है—

'तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।'

[३]मुक्तिकोपनिषद् में भी—

"हस्तं हस्तेन सम्पीड्य दन्तैर्दन्तान् विचूर्ण्य च।
अङ्गान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः॥"

इस वचन द्वारा इन्द्रियनिग्रह पूर्वक ही मनः संयम होता है—इसे स्पष्ट रूप से बताया गया है।

अनुभव भी है कि किसी पदार्थ से मन और इन्द्रिय दोनों को हटाना हो तो पहले इन्द्रिय से उस पदार्थ को दूर कर देना चाहिए। उदाहरण के लिये धूम्रपान करने वालों को ले लीजिये। पहले देखी देखा शौक से धूम्रपान कर लेते हैं। बाद में आदत पड़ जाने पर उसके लिये व्याकुल होकर इधर-उधर खोजते फिरते हैं। छोड़ने का क्रम भी सामन्यतया यही है कि पहले धूम्रपान बलात् छोड़ देते हैं। कुछ दिनों बाद मन भी उस पर जाना बन्द कर देता है। यही क्रम सभी विषयों के लिये है। अतः दमपूर्वक ही शम सिद्ध होता है—इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं। इसलिये कहा है कि—

"इन्द्रियेषु[४] निरुद्धेषु त्यक्त्वा वेगं मनः स्वयम्।
सत्त्वभावमुपादत्ते प्रसादस्तेन जायते॥"

उपर्युक्त विवेचन का यह तात्पर्य नहीं कि इन्द्रियसंयम पर ही ध्यान देकर मनःसंयम की उपेक्षा की जाय अपितु तात्पर्य यह है कि मनः संयम के लिए इन्द्रियसंयम अनिवार्य सोपान है।

कुछ विचारक यह भी तर्क रखते हैं कि इन्द्रियसंयम के अभाव में भी उत्कृष्टतर कोटि के विषय आने पर सामान्य विषय अपने आप छूट जाते हैं। अतः दिव्य दर्शनस्पर्श-रसादि प्राप्त होने पर सामान्य अपने आप छूट जायँगे। पर यह भी कोरी कल्पना ही प्रतीत होती है। विषयों का चिन्तन-सेवन करने से वे छूटेंगे—यह केवल आशामात्र ही है। मनु वचन है कि—

"न[५] जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥"

मानस में भी—

"छूटइ मलकि[६] मलहि के धोये। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोये॥"

---

[१] श्रीमद् भगवद् गीता ॥ २ ॥ ६० ॥, ॥ २।६७ ॥ भी द्रष्टव्य है।
[२] " " " ॥ ३ ॥ ४१ ॥
[३] मुक्तिकोपनिषद् ॥ २।४२ ॥
[४] सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह ॥ १३१ ॥
[५] मनुस्मृतिः ॥ २।९४ ॥
[६] श्रीरामचरितमानस ॥ ७।४८।५ ॥

और भी—

"सेवत[1] बिषय बिबर्ध जिमि नित नित नूतन मार ॥"

देवताओं को दिव्यभोग तो संकल्प से ही प्राप्त होते हैं—

'यन्न[2] दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं तत्सुखं स्वः पदाऽऽस्पदम् ॥'

तथापि मानसकार के शब्दों में—

'इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सोहाई ।
विषयभोग पर प्रीति सदाई[3] ।'

इसीलिए मानसकार ने दम की परमावश्यकता देखते हुए यहाँ तक प्रतिपादन किय कि 'दम के विना शम नहीं होता'—इतना ही नहीं अपितु शम के पूर्व कहा हुआ सावन 'वैराग्य' भी दम के आधार पर ही सिद्ध होता है—

'दम[4] अधार रजु सत्य सुबानी ।
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता । बिमल विराग सुभग सुपुनीता ॥'

ऊपर कह चुके हैं कि विवेक चार साधनों में से एक है और प्रथम है। श्रीशंकर-भगवत्पाद का वचन है कि विवेक का विरोधी अविवेक, जो कि बुद्धि का धर्म है, वह दम से निवृत्त हो जाता है—

'ब्रह्मचर्यादिभिर्धर्मै[5] र्बुद्धेर्दोषनिवृत्तये ।
दण्डनं दम इत्याहुर्दमशब्दार्थकोविदाः ॥'

इस वचन से तो यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि दम केवल शम या वैराग्य में ही नहीं, अपितु इन सबके मूल 'विवेक' में भी कारण है।

दम के लिये किन उपायों का अवलम्बन अपेक्षित है इस विषय में आचार्य ने देश काल एवं परिस्थिति के अनुकूल प्राणायाम का निर्देश किया है—

'प्राणायामाद्भवति[6] मनसो निश्चलत्वं प्रसादो
यस्याप्यस्य प्रतिनियतदिग्देशकालाद्यवेक्ष्य ।
सम्यग्दृष्ट्या क्वचिदपि तया नो दमो हन्यतेत
त्कुर्याद्धीमान् दममनलसश्चित्तशान्त्यै प्रयत्नात् ॥'

---

[1] श्रीरामचरितमानस ॥ ६ ॥ ९२ ॥
[2] सांख्यतत्त्वकौमुदी के अन्तर्गत द्वितीयकारिका के अवतरण में उद्धृत।
[3] श्रीरामचरिनमानस ॥ ७।११७।१५ ॥
[4] श्रीरामचरितमानस ॥ ७।११६।१५-१६ ॥
[5] सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह ॥ १२८ ॥
[6] " " " ॥ १३५ ॥

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि आत्मज्ञानसम्पादन के लिए आवश्यक जो साधनचतुष्टय हैं वे प्राणायाम से दमादिनिष्पत्तिपूर्वक साधक को प्राप्त होते हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर न्यायमञ्जरीकार ने कहा[१] है—

'अध्यात्मविदश्च ज्ञानकाण्डौपयिकमेव क्रियाकाण्डमन्यत् ।'

यहाँ अन्यत्क्रियाकाण्ड से प्राणायामादि ही अभिप्रेत[२] हैं। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर आचार्य पाद ने ब्रह्मचिन्तन की इच्छा करने वालों को प्राणायाम का निर्देश किया है —

'प्राणायामेन[३] क्षपितमनोमलस्य चित्तं ब्रह्मणि स्थितं भवतीति प्राणायामो निर्दिश्यते। प्रथमं नाडीशोधनं कर्त्तव्यम् ।'

अपरोक्षानुभूतिग्रन्थ में तो उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिनका मन परिपक्व है अर्थात् जो निर्मलान्तःकरण हैं उनके लिये केवल ज्ञानमार्ग (भी) सिद्धिदायक है—

'परिपक्वं[४] मनो येषां केवलोऽयं च सिद्धिदः ।'

(किन्तु) जिनका अन्तःकरण कुछ निर्मल (अर्थात् पूर्ण निर्मल नहीं है) उनके लिये हठयोग संवलितज्ञानयोग सिद्धिदायक है—

'किञ्चित्पक्वकषायाणां[५] हठयोगेन संयुतः ।'

आजकल देखा जाता है कि मनःशान्ति तथा आत्मज्ञान की खोज में बहुतेरे लोग हैं किन्तु दम पर ध्यान दिये बिना ही मनःशान्ति (या शम) को अनेक औपचारिक उपायों से प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। परिणाम भी विपरीत ही दीख रहा है कि कुछ सुविधा जनक पदार्थ भले इकट्ठे कर लिये जाँय तथा बड़े-बड़े संस्थान भले खोल दिये जाँय पर शान्ति दूर भागती चली जाती है।

अतः मनःशान्ति के लिये यह आवश्यक है कि दृढ़निश्चयी होकर प्राणायाम के साहाय्य से दम की साधना में उन्नतिशील बनें—

दमेन[६] चित्तं निजदोष जातं विसृज्य शान्ति समुपैति शीघ्रम् ॥'

गणित विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

---

[१] न्यायमंजरीप्रमेयप्रकरण पृ० ९१।

[२] न्यायसूत्र ४।२।४६ के भाष्य में कहा है कि—'योगशास्त्राच्चाध्यात्मविधिः प्रतिपत्तव्यः। स पुनस्तपः प्राणायामः प्रत्याहारों ध्यानं धारणेति।'

[३] श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥ २।९ ॥ शांकर भाष्य।

[४] अपरोक्षानुभूति ॥ १४४ ॥

[५] अपरोक्षानुभूति ॥ १४३ ॥

[६] सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह ॥ १३४ ॥

उद्बोधन

महात्मा गांधी

पूज्य मालवीय जी, सर राधाकृष्णन्, भाइयों और बहनों,

तीर्थ-यात्रा

आप सब जानते हैं कि आजकल मुझमें न तो सफर करने की ताकत ही रही है और न इच्छा ही, लेकिन जब मैंने इस विश्वविद्यालय के 'रजत महोत्सव की बात सुनी और मुझे सर राधाकृष्णन् का निमन्त्रण मिला तो मैं इनकार न कर सका।

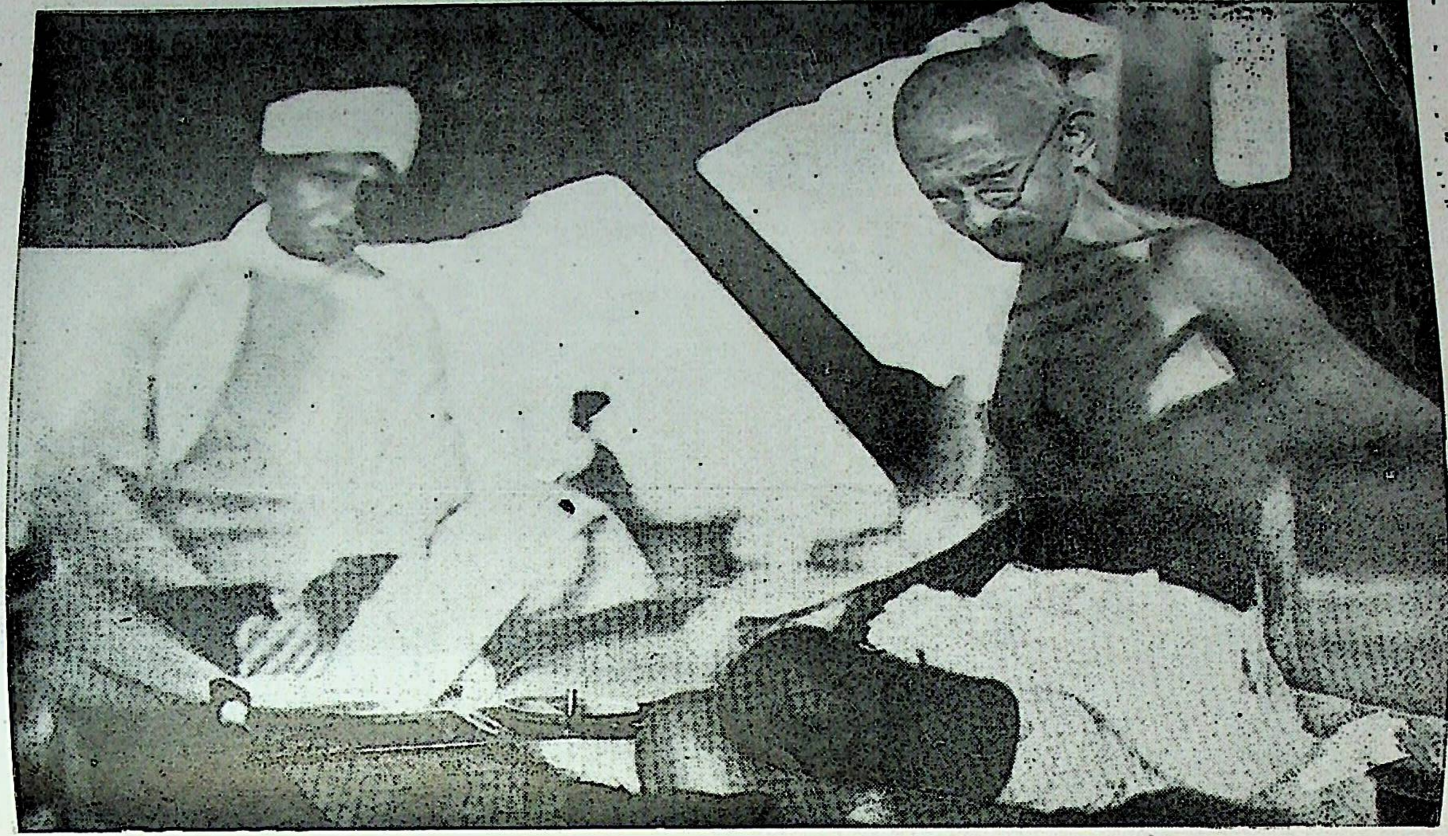
आप जानते हैं कि मालवीय जी के साथ मेरा कितना गाढ़ सम्बन्ध है। अगर उनका कोई काम मुझसे हो सकता है तो मुझे उसका अभिमान रहता है, और अगर मैं उसे कर सकूं तो अपने को कृतार्थ समझता हूँ। इसलिए जब सर राधाकृष्णन् का पत्र मुझे मिला तो मैंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। यहां आना मेरे लिए तो एक तीर्थ में आने के समान है।

यह विश्वविद्यालय मालवीय जी महाराज का सबसे बड़ा और प्राण प्रिय कार्य है। उन्होंने हिन्दुस्तान की बहुत-बहुत सेवायें की हैं, इससे आज कोई इनकार नहीं कर सकता। लेकिन मेरा खयाल यह है कि उनके महान् कार्यों में इस कार्य का महत्व सबसे ज्यादा रहेगा। २५ साल पहले, जब इस विश्वविद्यालय की नींव डाली गई थी, तब भी मालवीय जी महाराज के आग्रह और खिचाव से मैं आ पहुँचा था। उस समय तो मैं यह सोंच भी न सकता था कि जहां बड़े-बड़े राजा, महाराजा और खुद वाइसराय आने वाले हैं, वहां मुझ जैसे फकीर की क्या जरूरत हो सकती है। तब तो मैं 'महात्मा' भी नहीं बना था। अगर कोई मुझे 'महात्मा के नाम से पुकारते भी थे तो मैं यही सोच लेता था कि महात्मा मुंशीराम जी के बदले भूल से किसी नें पुकार लिया होगा। उनकी कीर्ति तो मैंने दक्षिण अफ्रीका में ही सुन ली थी। हिन्दुस्तान से धन्यवादऔर सहानुभूति का सन्देश भेजने वालों में एक वे भी थे, और मैं जानता था कि हिन्दुस्तान की जनता ने उन्हें उनकी देश सेवाओं के लिए महात्मा की उपाधि दी थी। उस समय भी मालवीय जी महाराज की कृपादृष्टि मुझ पर थी। कहीं भी कोई सेवक हो, वे उसे ढूंढ़ निकालते हैं, और किसी न किसी तरह अपने पास खींच ही लाते हैं। यह उनका सदा का धन्धा है।

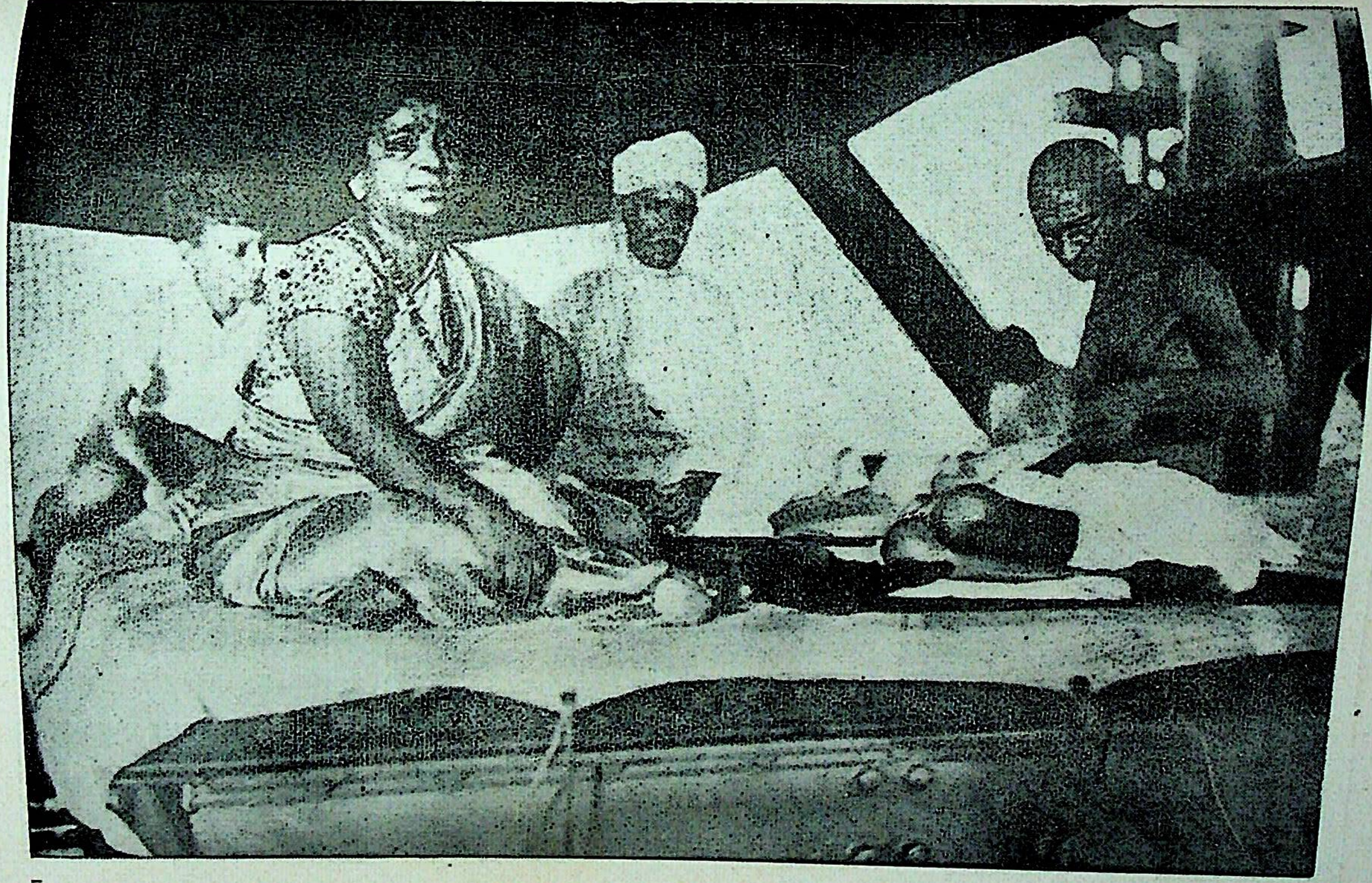
"भिक्षां देहि"

लोग मालवीय जी महाराज की बड़ी प्रशंसा करते हैं। आज भी आपने उनकी कुछ प्रशंसा सुनी है, वे सब तरह उसके लायक हैं। मैं जानता हूँ कि हिन्दू विश्वविद्यालय का कितना बड़ा विस्तार हैं। संसार में मालवीय जी से बढ़कर कोई भिक्षुक नहीं। जो काम उनके सामने आ जाता है, उसके लिए अपने लिए नहीं उनकी भिक्षा की झोली का मुंह हमेशा खुला रहता है, वे हमेशा मांगा ही करते हैं। और परमात्मा की भी उन पर बड़ी दया है कि जहां

विश्वविद्यालय की रजत जयन्ती के अवसर पर महात्मा गांधी का उद्बोधन वसन्त पंचमी, २१ जनवरी १९४२।



विश्व को दो विभूतियाँ—महामना एवं महात्मागांधी



श्रीमती सरोजनी नायडू, महामना एवं महात्मा गांधी (गोलमेज सम्मेलन में जाते समय जहाज पर—अगस्त १९३१)

जाते हैं, उन्हें पैसे मिल ही जाते हैं। तिसपर भी उनकी भूख कभी नहीं बुझती। उनका भिक्षा पात्र सदा खाली रहता है। उन्होंने विश्वविद्यालय के लिए एक करोड़ इकट्ठा करने की प्रतिज्ञा की थी। एक करोड़ की जगह डेढ़ करोड़ दस लाख रुपया इकट्ठा हो गया, मगर उनका पेट नहीं भरा। अभी-अभी उन्होंने मुझसे कान में कहा है कि आज के हमारे सभापति महाराजा साहेब दरभंगा ने उनको एक खासी बड़ी रकम दान में और दी है।

तीर्थस्वरूप मालवीय जी

मैं जानता हूँ कि मालवीय जी महाराज स्वयं किस तरह रहते हैं। यह मेरा सौभाग्य है कि उनके जीवन का कोई पहलू मुझसे छिपा नहीं। उनकी सादगी, उनकी सरलता, उनकी पवित्रता और उनकी मुहब्बत से मैं भलीभांति परिचित हूँ। उनके इन गुणों में से आप जितना कुछ ले सकें, जरूर लें। विद्यार्थियों के लिए तो उनके जीवन की बहुतेरी बातें सीखने लायक हैं। मगर मुझे डर है, कि उन्होंने जितना सीखना चाहिए, सीखा नहीं है। यह आपका और हमारा दुर्भाग्य है। इसमें उनका कोई कुसूर नहीं। धूप में रह कर भी कोई सूरज का तेज न पा सके तो उसमें सूरज बेचारे का क्या दोष? वह तो अपनी तरफ से सबको गर्मी पहुँचाता रहता है, पर अगर कोई उसे लेना ही न चाहे, और ठण्ड में रहकर ठिठुरता फिरे तो सूरज भी उसके लिए क्या करे? मालवीय जी महाराज के इतने निकट रहकर भी अगर आप उनके जीवन से सादगी, त्याग, देशभक्ति, उदारता, और विश्वव्यापी प्रेम आदि सद्गुणों का अपने जीवन में अनुकरण न कर सकें, तो कहिये, आपसे बढ़कर अभागा और कौन होगा?

कैसी गुलामी

अब मैं विद्यार्थियों और अध्यापकों से दो शब्द कहना चाहता हूँ :

मैंने तो सर राधाकृष्णन् से पहले ही कह दिया था कि मुझे क्यों बुलाते हैं? मैं वहां पहुँचकर क्या कहूँगा? जब बड़े-बड़े विद्वान मेरे सामने आ जाते हैं, तो मैं हार जाता हूँ, जब से हिन्दुस्तान आया हूँ, मेरा सारा समय कांग्रेस में और गरीबों, किसानों, और मजदूरों वगैरा में बीता है। मैंने उन्हीं का काम किया है। उनके बीच मेरी जबान अपने आप खुल जाती है। मगर विद्वानों के सामने कुछ कहते हुए मुझे बड़ी झिझक मालूम होती है। श्री राधाकृष्णन् ने मुझे लिखा कि मैं अपना लिखा हुआ भाषण उन्हें भेज दूं। पर मेरे पास उतना समय कहां था। मैंने उन्हें जवाब दिया कि वक्त पर जैसी प्रेरणा मुझे मिल जायगी, उसी के अनुसार मैं कुछ कह दूंगा। मुझे प्रेरणा मिल गई है। मैं जो कुछ कहूँगा, मुमकिन है, वह आपको अच्छा न लगे। उसके लिए आप मुझे माफ कीजिएगा। यहां आकर जो कुछ मैंने देखा, और देखकर मेरे मन में जो चीज पैदा हुई, वह शायद आपको चुभेगी। मेरा खयाल था कि कम से कम यहां तो सारी कार्रवाई अंग्रेजी में नहीं, बल्कि राष्ट्रभाषा में ही होगी। मैं यहां बैठा यही इन्तजार कर रहा था कि कोई न कोई तो आखिर हिन्दी या उर्दू में कुछ कहेगा। हिन्दी उर्दू न सही, कम-से-कम मराठी या संस्कृत में ही कुछ कहता। लेकिन मेरी सब आशायें निष्फल हुईं।

अंग्रेजों को हम गालियां देते हैं कि उन्होंने हिन्दुस्तान को गुलाम बना रखा है, लेकिन अंग्रेजी के तो हम खुद ही गुलाम बन गए हैं। अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को काफी पामाल किया है।

इसके लिए मैंने उनकी कड़ी-से-कड़ी टीका भी की है। परन्तु अंग्रेजी की अपनी इस गुलामी के लिए मैं उनको जिम्मेदार नहीं समझता। खुद अंग्रेजी सीखने और अपने बच्चों को अंग्रेजी सिखाने के लिए हम कितनी-कितनी मेहनत करते हैं? अगर कोई हमें कह देता है कि हम अंग्रेजों की तरह अंग्रेजी बोल लेते हैं, तो मारे खुशी के फूले नहीं समाते। इससे बढ़कर दयनीय गुलामी और क्या हो सकती है? इसकी वजह से हमारे बच्चों पर कितना जुल्म होता है? अंग्रेजी के प्रति हमारे इस मोह के कारण देश की कितनी शक्ति और कितना श्रम बरबाद होता है? इसका पूरा हिसाब तो हमें तभी मिल सकता है, जब गणित का कोई विद्वान् इसमें दिलचस्पी ले। कोई दूसरी जगह होती, तो शायद यह सब बरदास्त कर लिया जाता, मगर यह तो हिन्दू विश्व-विद्यालय है। जो बातें इसकी तारीफ में अभी कही गई हैं, उनमें सहज ही एक आशा यह भी प्रकट की गई है कि यहां के अध्यापक और विद्यार्थी इस देश की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के जीते-जागते नमूने होंगे। मालवीय जी ने मुंह-मांगी तनख्वाहें देकर अच्छे-से-अच्छे अध्यापक यहां आप लोगों के लिए जुटा रखे हैं। अब उनका दोष तो कोई कैसे निकाल सकता है? दोष जमाने का है। आज हवा ही कुछ ऐसी बन गई है, कि हमारे लिए उसके असर से बच निकलना मुश्किल हो गया है। लेकिन अब वह जमाना भी नहीं रहा, जब विद्यार्थी जो कुछ मिलता था, उसी में सन्तुष्ट रह लिया करते थे। अब तो वे बड़े-बड़े तूफान भी खड़े कर लिया करते हैं। छोटी-छोटी बातों के लिए भूख हड़ताल तक कर देते हैं। अगर ईश्वर उन्हें बुद्धि दे, तो वे कह सकते हैं, 'हमें अपनी मातृभाषा में पढ़ाओ।' मुझे यह जानकर खुशी हुई कि यहां आन्ध्र के २५० विद्यार्थी हैं। क्यों न वे सर राधाकृष्णन् के पास जायें और उनसे कहें कि यहां हमारे लिए एक आन्ध्र-विभाग खोल दीजिए और तेलुगु में हमारी सारी पढ़ाई का प्रबन्ध करा दीजिए? और अगर वे मेरी अक्ल से काम करें, तब तो उन्हें कहना चाहिए, कि हम हिन्दुस्तानी हैं, हमें ऐसी जबान में पढ़ाइये, जो सारे हिन्दुस्तान में समझी जा सके। और, ऐसी जबान तो हिन्दुस्तानी ही हो सकती है।

कहां जापान, कहां हम?

जापान आज अमेरिका और इंग्लैण्ड से लोहा ले रहा है। लोग इसके लिए उसकी तारीफ करते हैं। मैं नहीं करता। फिर भी जापान की कुछ बातें सचमुच हमारे लिए अनुकरणीय हैं। जापान के लड़कों और लड़कियों ने यूरोप वालों से जो कुछ पाया है, अपनी मातृभाषा जापानी के जरिये ही पाया है, अंग्रेजी के जरिये नहीं। जापानी लिपि बड़ी कठिन है, फिर भी जापनियों ने रोमन लिपि को कभी नहीं अपनाया। उनकी सारी तालीम जापानी लिपि और जापानी जबान के जरिये ही होती है। जो चुने हुए जापानी पश्चिमी देशों में खास किस्म की तालीम के लिये भेजे जाते हैं, वे भी जब आवश्यक ज्ञान पाकर लौटते हैं, तो अपना सारा ज्ञान अपने देशवासियों को जापानी भाषा के जरिये ही देते हैं। अगर वे ऐसा न करते और देश में आकर दूसरे देशों के जैसे स्कूल और कालेज अपने यहां भी बना लेते, और अपनी भाषा को तिलांजलि देकर अंग्रेजी में सब कुछ पढ़ाने लगते तो उससे बढ़कर बेवकूफी और क्या होती? इस तरीके से जापान वाले नई भाषा तो सीखते, लेकिन नया ज्ञान न सीख पाते। हिन्दुस्तान में तो आज हमारी महत्वाकांक्षा

ही यह रहती है कि हमें किसी तरह कोई सरकारी नौकरी मिल जाय, या हम वकील, बैरिस्टर, जज, वगैरह बन जायें। अंग्रेजी सीखने में हम बरसों बिता देते हैं, तो भी सर राधाकृष्णन् या मालवीय जी महाराज के समान अंग्रेजी जानने वाले हमने कितने पैदा किये हैं? आखिर वह एक पराई भाषा ही न है? इतनी कोशिश करने पर भी हम उसे अच्छी तरह सीख नहीं पाते। मेरे पास सैकड़ों खत आते रहते है। इनमें कई एम० ए० पास लोगों के भी होते हैं, परन्तु चूंकि वे अपनी जबान में नहीं लिखते, इसलिए अंग्रेजी में अपने खयाल अच्छी तरह जाहिर नहीं कर पाते।

चुनांचे यहां बैठे-बैठे मैंने जो कुछ देखा, उसे देखकर मैं तो हैरान रह गया। जो कार्रवाई अभी यहां हुई, जो कुछ कहा या पढ़ा गया, उसे जनता तो कुछ समझ ही नहीं सकी। फिर भी हमारी जनता में इतनी उदारता और धीरज है कि चुपचाप सभा में बैठी रहती है और खाक समझ में न आने पर भी यह सोचकर सन्तोष कर लेती है कि आखिर हमारे नेता ही न हैं? कुछ अच्छी ही बात कहते होंगे। लेकिन इससे उसे लाभ क्या? वह तो जैसी आई थी, वैसी ही खाली लौट जाती है। अगर आपको शक हो, तो मैं अभी हाथ उठाकर लोगों से पूछूं कि यहां की कार्रवाई में वे कितना कुछ समझे हैं? आप देखियेगा कि वे सब कुछ नहीं, कुछ नहीं, कह उठेंगे। यह तो हुई आम जनता की बात। अब अगर आप यह सोचते हों कि विद्यार्थियों में से हर एक ने हर बात को समझा है, तो वह दूसरी बड़ी गलती है।

आज से पच्चीस साल पहले जब मैं यहाँ आया था, तब भी मैंने यही सब बातें कहीं थीं। आज यहाँ आने पर जो हालत मैंने देखी, उसने उन्हीं चीजों को दोहराने के लिए मुझे मजबूर कर दिया।

शारीरिक ह्रास

दूसरी बात जो मेरे देखने में आई, उसकी तो मुझे जरा भी उम्मीद न थी। आज सुबह मैं मालवीय जी महाराज के दर्शनों को गया था। बसन्त पंचमी का अवसर था, इसलिये सब विद्यार्थी भी वहां उनके दर्शनों को आये थे। मैंने उस वक्त भी देखा कि विद्यार्थियों को जो तालीम मिलनी चाहिए, वह उन्हें नहीं मिलती। जिस सभ्यता, खामोशी और तरतीब के साथ उन्हें चलते आना चाहिए, उस तरह चलना उन्होंने सीखा ही नहीं था। यह कोई मुश्किल काम नहीं, कुछ ही समय में सीखा जा सकता है। सिपाही जब चलते हैं, तो सिर उठाये, सीना ताने, तीर की तरह सीधे चलते हैं, लेकिन विद्यार्थी तो उस वक्त आड़े-टेढ़े, आगे-पीछे, जैसा जिसका दिल चाहता था, चलते थे। उनके उस 'चलने' को चलना कहना भी शायद मुनासिब न हो, मेरी समझ में तो इसका कारण भी यही है कि हमारे विद्यार्थियों पर अंग्रेजी जबान का बोझ इतना पड़ जाता है, कि उन्हें दूसरी तरफ सर उठाकर देखने की फुरसत नहीं मिलती। यही वजह है कि दरअसल उन्हें जो सीखना चाहिए, वे सीख नहीं पाते।

बौद्धिक थकान

एक और बात मैंने देखी। आज सुबह हम श्री शिवप्रसाद गुप्त के घर से लौट रहे थे। रास्ते में विश्वविद्यालय का विशाल प्रवेश द्वार पड़ा। उस पर नजर गई तो देखा,

नागरी लिपि में 'हिन्दू विश्वविद्यालय' इतने छोटे हुरुफों में लिखा है कि ऐनक लगाने पर भी नहीं पढ़ पाते पर अंग्रेजी Benares Hindu University ने तीन चौथाई से भी ज्यादा जगह घेर रखी थी। मैं हैरान हुआ कि यह क्या माम्मला है ? इसमें मालवीय जी महाराज का कोई कसूर नहीं। यह तो किसी इन्जीनियर का काम होगा। लेकिन सवाल तो यह है कि अंग्रेजी की वहां जरूरत ही क्या थी ? क्या हिन्दी या फारसी में कुछ नहीं लिखा जा सकता था ? क्या मालवीय जी, और क्या सर राधाकृष्णन्, सभी हिन्दू-मुस्लिम एकता चाहते हैं। फारसी मुसलमानों की अपनी खास लिपि मानी जाने लगी है। उर्दू का देश में अपना खास स्थान है। इसलिए अगर दरवाजे पर फारसी में, नागरी में या हिन्दुस्तान की दूसरी किसी लिपि में कुछ लिखा जाता, तो मैं उसे समझ सकता था। लेकिन अंग्रेजी में उसका वहाँ लिखा जाना भी हम पर जमे हुए अंग्रेजी जबान के साम्राज्य का एक सबूत है। किसी नई लिपि या जबान को सीखने से हम घबराते हैं, जब कि सच तो यह है कि हिन्दुस्तान की किसी जबान या लिपि को सीखना हमारे लिये बायें हाथ का खेल होना चाहिए। जिसे हिन्दी या हिन्दुस्तानी आती है, उसे मराठी, गुजराती, बंगाली वगैरा सीखने में तकलीफ ही क्या हो सकती है ? कन्नड़, तामिल, तैलगू और मलयालम का भी मेरा तो यही तजरबा है। इनमें भी संस्कृत से निकले हुए काफी शब्द भरे पड़े हैं। जब हममें अपनी मादरी जबान या मातृभाषा के लिए सच्ची मुहब्बत पैदा हो जायगी तो हम इन तमाम भाषाओं को बड़ी आसानी से सीख सकेंगे। रही बात उर्दू की, सो वह भी आसानी के साथ सीखी जा सकती है। लेकिन बदकिस्मती से उर्दू के आलिम यानी विद्वान् इधर उसमें अरबी और फारसी के शब्द भर रहे हैं। नतीजा ठूँस-ठूँस कर भरने लगे हैं—उसी तरह, जिस तरह हिन्दी के विद्वान् हिन्दी में संस्कृत शब्द इसका यह होता है कि जब मुझ जैसे आदमी के सामने कोई लखनवी तर्ज की उर्दू बोलने लगता है, तो सिवा बोलने वाले का मुंह ताकने के और कोई चारा नहीं रह जाता।

अपनी विशेषता चाहिए

एक बात और। पश्चिम के हर एक विश्वविद्यालय की अपनी एक न एक विशेषता होती है। केम्ब्रिज और आक्सफोर्ड को ही लीजिये। इन विश्वविद्यालयों को इस बात का नाज है कि इनके हर एक विद्यार्थी पर इनकी अपनी विशेषता की छाप इस तरह लगी रहती है कि वे फौरन पहचाने जा सकते हैं। हमारे देश के विश्वविद्यालयों की अपनी ऐसी कोई विशेषता होती ही नहीं। वे तो पश्चिमी विश्वविद्यालयों की एक निस्तेज और निष्प्राण नकल भर हैं। अगर हम उनको पश्चिमी सभ्यता का सिर्फ सोख्ता या स्याही-सोख कहें, तो शायद बेजा न होगा। आपके इस विश्वविद्यालय के बारे में अकसर यह कहा जाता है कि यहाँ शिल्प-शिक्षा और यंत्र-शिक्षा का इंजीनियरिंग और टेक्नालाजी का देश भर में सबसे ज्यादा विकास हुआ है, और इनकी शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध है। लेकिन इसे मैं यहाँ की विशेषता मानने को तैयार नहीं। तो फिर इसकी विशेषता क्या हो ? मैं इसकी एक मिसाल आपके सामने रखना चाहता हूँ। यहाँ जो इतने हिन्दू विद्यार्थी हैं, उनमें से कितनों ने मुसलमान विद्यार्थियों को अपनाया है ? अलीगढ़ के कितने छात्रों को

आप अपनी ओर खींच सके हैं ? दर असल आपके दिल में चाह तो यह पैदा होनी चाहिए कि आप तमाम मुसलमान विद्यार्थियों को यहाँ बुलायेंगे और उन्हें अपनायेंगे।

हिन्दुस्तान की पुरानी संस्कृति का सन्देश

इसमें शक नहीं कि आपके विद्यालय को काफी धन मिल गया है, और जब तक मालवीय जी महाराज हैं, आगे भी मिलता रहेगा, लेकिन मैंने जो कुछ कहा है, वह रुपये का खेल नहीं। अकेला रुपया सब काम नहीं कर सकता। हिन्दू विश्वविद्यालय से मैं विशेष आशा तो इस बात की रखूंगा कि यहां वाले इस देश में बसे हुए सभी लोगों को हिन्दुस्तानी समझें, और अपने मुसलमान भाइयों को अपनाने में किसी से पीछे न रहें। अगर वे आपके पास न आयें, तो आप उनके पास जाकर उन्हे अपनाइये। अगर इसमें हम नाकामयाब भी हुए तो क्या हुआ ? लोकमान्य तिलक के हिसाब से हमारी सभ्यता दस हजार बरस पुरानी है। बाद के कई पुरातत्वशास्त्रियों ने उसे इससे भी पुरानी बताया है। इस सभ्यता में अहिंसा को परम धर्म माना गया है। चुनांचे इसका कम से कम एक नतीजा तो यह होना चाहिए कि हम किसी को अपना दुश्मन न समझें। वेदों के समय से हमारी यह सभ्यता चली आ रही है। जिस तरह गंगा जी में अनेक नदियां आकर मिली हैं, उसी तरह इस देशी संस्कृति-गंगा में भी अनेक संस्कृतिरुपी सहायक नदियाँ आकर मिली हैं। यदि इन सबका कोई सन्देश या पैगाम हमारे लिए हो सकता है तो यही कि हम सारी दुनियाँ को अपनायें और किसी को अपना दुश्मन न समझें। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह हिन्दू विश्वविद्यालय को यह सब करने की शक्ति दे। यही इसकी विशेषता हो सकती है। सिर्फ अंग्रेजी सीखने से यह काम नहीं हो पायेगा। इसके लिए तो हमें अपने प्राचीन ग्रन्थों और धर्मशास्त्रों का श्रद्धापूर्वक यथार्थ अध्ययन करना होगा, और यह अध्ययन हम मूल ग्रन्थों के सहारे ही कर सकते हैं।

आखिरी बात

अन्त में एक बात मुझे और कहनी है। आप लोग रहते तो महलों में हैं, क्योंकि मालवीय जी महाराज ने आपके लिए ये महलों जैसे छात्रालय वगैरा बनवा दिये हैं, पर इसका यह मतलब नहीं कि आप महलों म रहने के आदी बन जायें। आप मालवीय जी महाराज के घर जाइये और देखिये, वहाँ आपको इनमें से कोई चीज न मिलेगी न ठाठ-बाट होगा, न साजो-सामान और न किसी तरह का कोई दिखावा। उनसे आप सादगी और गरीबी का पाठ सीखिये। आप यह कभी न भूलिये कि हिन्दुस्तान एक गरीब देश है और आप गरीब माँ बाप की सन्तान हैं। उनकी मेहनत का पैसा यों ऐशो आराम में बरबाद करने का आपको क्या हक है ? ईश्वर आपको चिरजीवी करे और सद्बुद्धि दे कि जिससे आप मालवीय जी महाराज की त्याग-शीलता, आध्यात्मिकता और सादगी से अपने जीवन को रंग सकें और आज जो कुछ मैंने आपसे कहा है, उस पर समझदारी के साथ अमल कर सकें।

———

आभार

महामना पं० मदनमोहन मालवीय

देवियों और सज्जनो,

मैं अपने भाई गांधी जी का बहुत अनुग्रह मानता हूं कि उन्होंने अनेक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी इस अवसर पर यहां आने का कष्ट उठाया और हमें अपने उपदेशों का लाभ पहुंचाया।

यह भगवान का परम अनुग्रह है कि इस विश्वविद्यालय के स्थापित करने का विचार उठा और उन्हीं की कृपा से इसकी उन्नति हुई। विश्वविद्यालय ने अब तक जो उन्नति की है, उसका कुछ हाल आप सुन चुके हैं। अब तक एक करोड़ साठ लाख रुपया इस विश्वविद्यालय के लिए इकट्ठा हो चुका है। दूसरा करोड़ भी पूरा होना चाहिए। मैं आशा करता हूं कि वह शीघ्र ही पूरा हो जायेगा। एक अव्वल नम्बर की यूनिवर्सिटी चलाने के लिए कम से कम पांच करोड़ रुपया चाहिए।

मैं उन सब भाइयो का जिन्होंने धन से, अपने विचारों से अथवा अन्य प्रकार से इस विश्वविद्यालय की सहायता की है, धन्यवाद करता हूं। एक-एक का नाम लेकर धन्यवाद देना मेरे लिए संभव नहीं है। मै किन शब्दों में उनका धन्यवाद करुं जिन्होंने इस विश्वविद्यालय की किसी भी तरह की सहायता की है उन सबका परमात्मा भला करे और जैसी इस विश्वविद्यालय की इधर उन्नति हुई है, उससे भी अधिक भविष्य में हो।

मेरे भाई गांधी जी ने आपसे कहा है कि अपनी भाषा द्वारा शिक्षा न मिलने से हमारे देश की कितनी हानि हुई है। कितने साल हमको विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा पाने मे बिताने पड़ते हैं, यह हम सबको मालूम है। हिन्दी के द्वारा ऊंची से ऊंची पढ़ाई का प्रबन्ध करना इस विश्वविद्यालय का एक उद्देश्य रहा है। सेठ घनश्यामदास बिड़ला ने ५०,०००) हिन्दी में पुस्तकें तैयार कराने के लिए विश्वविद्यालय को दिया है और हमने कुछ पुस्तकें तैयार भी की हैं। हम में से लगभग सभी यह मानते हैं कि मातृभाषा द्वारा पढ़ाई हो, पर हम पर अंग्रेजी भाषा का ऐसा जादू चढ़ा है कि हमको अपनी भाषा को उसके स्थान पर बैठाने में कुछ समय लगेगा। आज के कन्वोकेशन का यह उपदेश है कि भविष्य में हिन्दुस्तान की उन्नति हिन्दी को अपनाने से ही हो सकती है। मैं गांधी जी को विश्वास दिलाता हूं कि जैसे-जैसे हिन्दी में पुस्तकें तैयार होती जावेंगी, हम हिन्दी को अपनाते जावेंगें।

महात्मा जी ने विद्यार्थियों को सादगी से रहने का उपदेश दिया है। उन्होंने स्वयं खद्दर के प्रयोग और प्रचार से देश भर को सादगी का पाठ पढ़ाया है। हर भाई और बहिन को सादगी से प्रेम होना चाहिए। पर विद्यार्थियों को तो विशेष कर सादा जीवन बिताना चाहिए मैं आशा करता हूं कि गांधी जी के इस उपदेश को हमारे विद्यार्थी अपनावेंगे।

अन्त में मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूं कि हम सबमें धर्म की भावना दृढ़ रहे। हम में अपने देश का प्रेम बढ़े और जिस प्रकार अब तक विश्वविद्यालय को सहायता मिलती रही है, वैसे ही बराबर मिलती रहे।

———

महामना का धन्यवाद प्रकाश
वसन्त पंचमी, २१ जनवरी १९४२

महामना का अविस्मरणीय अध्यक्षीय भाषण

मुझको बहुत से लोग जानते हैं कि मैं वाचाल हूं लेकिन मुझको जब काम पड़ता है तब मैं देखता हूं कि मेरी बाँणी रुक जाती है। यही दशा मेरी इस समय हो रही है। प्रथम तो जो अनुग्रह और आदर आप लोगों ने मेरा किया है उसके भार से ही मैं दब रहा हूँ, इसके उपरान्त मेरे प्रिय मित्रों और पूज्य विद्वानों ने जिन शब्दों में मेरे सभापतित्व का प्रस्ताव किया है उसने मेरे थोड़े से सामर्थ्य को भी कम कर दिया है। सज्जनों! मैं अपने को बहुत बड़भागी समझता यदि मैं उन प्रशंसा वाक्यों के सवें हिस्से का भी अपने को पात्र समझता जो इस समय इन सज्जनों ने मेरे विषय में कहे हैं। हां, एक अंश में मैं बड़भागी अवश्य हूँ। गुण न रहने पर भी मैं आपकी मंडली में गुणी के समान सम्मान पाता हूँ। इसी के साथ मुझको खेद होता है कि इतने योग्य और विद्वानों के रहते हुए भी मैं इस पद के लिए चुना गया। फिर भी मैं आपके इस सम्मान का धन्यवाद करता हूँ, जो आपने मेरा किया है। मेरा चित्त कहता है कि इस स्थान में उपस्थित होने के लिए हमारे हिन्दी संसार में अनेक विद्वान् थे और हैं जिनमें कुछ यहां भी उपस्थित हैं और जिनको यदि आप इस कार्य में संयुक्त करते तो अच्छा होता और कार्य में सफलता और शोभा होती। अस्तु, बड़ों से एक उपदेश सीखा है। वह यह है कि अपनी बुद्धि में जो आवे उसे निवेदन कर देना। मित्रों की आज्ञा, मित्रों की मंडली की आज्ञा पालन करना मैं अपना परम धर्म समझता हूँ। अनुरोध होने पर अन्त में मैंने अपने प्यारे मित्रों से प्रेमपूर्वक निवेदन किया कि साहित्य सम्मेलन जिसका सभापति होने का सौभाग्य मुझे प्रदान किया गया है उसके कर्तव्य का पालन मेरा परम धर्म है। मैं आपसे दूर रहता हूँ। सो भी मैं कदाचित् निर्भय कह सकता हूँ कि हिन्दी साहित्य का रस पान करने में मुझको अन्य मित्रों की अपेक्षा कम स्वाद नहीं मिलता। उसके स्वाद लेने में मैं अपने किसी मित्र से पीछे नहीं। किन्तु अनेक कामों में रुका रहने के कारण मैं आपके बाहरी कामों का करने वाला सेवक हूँ। इस काम के लिए मैं अपने को कदापि योग्य नहीं समझता हूँ और इस अवसर में जिसमें आपको पूर्व उन्नति के दृश्यों को देखना चाहिए था, जिनमें हिन्दी की भावी उन्नति का पथ प्रशस्त करना चाहिए था,. किसी और ही मनुष्य को स स्थान में बैठना चाहिए था, इसके योग्य मैं किसी प्रकार नहीं। अब यदि मैं इस स्थान में आकर आपकी आज्ञा पालन करने का यत्न न करूं तो उससे अपराध होता है। केवल इसी कारण मैं इस सम्मान का धन्यवाद देता हूँ और इस समय इस स्थान में आप लोगों की सेवा करने को तैयार हुआ हूँ।

प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से दिया गया महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जी का भाषण।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के विषय में जो मतभेद हो रहा है, जैसा कि मेरे प्रथम वक्ता महाशय ने कहा, इसमें कोई सन्देह नहीं, उसे स्वीकार करना चाहिए। हठधर्मी अच्छी नहीं। अनेक विद्वानों के मत से यह समय सम्मेलन के लिये उपयुक्त नहीं। नवरात्र दुर्गा देवी के पूजन का समय है, नवरात्र में सरस्वती शयन करती हैं। प्राचीन रीति के अनुसार तीन दिन सरस्वती शयन के दिन हैं। यह नियम आर्य जाति ने इसलिए रखा कि तीन सौ सत्तावन दिन संसार के व्यवहार करो, अपने मस्तिष्क को पीड़ा दे लो, किन्तु जाति की रक्षा के लिए उन तीन दिनों में लेखनी मत उठाओ, पत्रा मत पढ़ो, इन दिनों सरस्वती शयन करती ह। ऐसे समय में मेरे मित्रों ने आप महाशयों को इधर उधर से खींचकर वुलाया है और इसके लिए मेरी वुद्धि में आता है कि मुझको आपके सामने उनकी ओर से उत्तर देना चाहिए। इसमें मैं इतना ही कहूंगा कि जितना मतभेद हो उसे आपको स्वीकार करना चाहिए। और जिन लोगों का मत नहीं मिलता उनके मत का आदर करके उनसे यही कहना चाहिए कि अब से यह समय उन्नति का होगा। इसके विचार में यह मेरी वुद्धि में आता है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन के लिए यह समय बहुत ही उपयुक्त है। हिन्दी की दशा इस समय शोचनीय हो रही ह। हिन्दी साहित्य के इस शयन की अवस्था में सरस्वती शयन कैसा ? इस ध्यान से हमारे हिन्दी प्रेमियों में बहुत से लोगों का यदि यह विचार है कि सरस्वती शयन कर रही हैं तो इससे क्या होता है ? हम लोग इस सम्मेलन मे उपयुक्त यत्न कर सरस्वती को जगाएं। वात भी ऐसी ही है। जहां रात होती है वहीं सूर्यनारायण की लालिमा दिखाई देती है। रात के अंधकार के पश्चात् प्रातःकाल होता है तो उसको देखना अच्छा लगता है। ऐसी अवस्था में इस सरस्वती शयन का समय मुझको आशा देता है कि हिन्दी भाषा के शयन के समय में जब साहित्य सम्मेलन होता है तब इस सरस्वती शयन के समय के उपरान्त जैसे विजयादशमी का दिन आता है वैसे ही, मुझको विश्वास है कि सोई हिन्दी भाषा, हिन्दी साहित्य के जागने का समय निकट है। प्राचीन समय से लोग दुर्गा अष्टमी में विद्या की वृद्धि के लिए देवी की उपासना करते आते हैं। जिस तरह पहले उसी तरह आज भी हिन्दुस्तान में हिमालय के ऊंचे शिखर और लंका के छोर तक सहस्रों करोड़ों हमारे भाई इस नवरात्र में दुर्गा जी की स्तुति करते हैं। एक ही विद्या है, एक ही भाव है, केवल भाषा इसे पृथक् करती है। तो इससे क्या हो सकता है जब हम अपनी भाषा के साहित्य की उन्नति के दुःख में पड़े हुए हैं तब हमें क्या उचित नहीं कि इसकी उन्नति के लिए सब तरह के यत्न करें और उनके फल उपलब्ध कर उनका प्रकाश करें ? (हर्षनाद) मुझे आशा और विश्वास है कि आपके चित्त में मेरी बातें आ गई होंगी। और वातों में यह वात भी निवेदन करना है कि इसके उपरान्त विजयादशमी का दिन आता है। यह विजयादशमी वही विजयादशमी है जिसमें भगवान् रामचन्द्र जी ने राक्षसों का नाश करके देश में फिर से सुखशांति की मंदाकिनी बहाई थी। यह वही विजयादशमी है जिसकी गूँज आज भी हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक सुनाई पड़ती है, जिसकी प्रतिमा का अनुकरण आज भी हिन्दुस्तान के नगर में लीलाओं द्वारा किया जाता है। देशी राज्यों में उसका अनुकरण किया जाता है जो कुछ पहले होता था, वही आज भी हो रहा है। पुराने समय में भगवान् जी ने किया, अब वह देशी राज्यों में होता है। वहीं

मारु बाजा बजता है, वही आर्यों के राजा महाराजाओं के विजय का डंका बजता है। अब विजय नहीं है, उसका शब्द है उसे तो सुन लीजिये। आज भी केसरिया जामा पहिन राजे महाराजे अपने गढ़ों से निकलते हैं। शक्ति के बढ़ाने में आज भी इस समय की प्रतिमा आपको दिखाई देती है। शक्ति ही ने यह बातें कीं और मेरे दुर्बल शरीर और चित्त में बल का संचार किया। मैं आशा करता हूं कि मेरे और भाइयों के चित्त में भी इसी तरह बल का संचार हुआ होगा। ऐसी दशा में हम लोग मिले हैं। मैं आशा करता हूं कि जो विरोध इस समय के ठन जाने का हुआ है उसको अब इसी वक्तृता के साथ समाप्त कर दीजिये। हम सब यही आशा करते हैं कि संकट के समय में बड़े कार्य हो जाते हैं और इस दृष्टि से जो कुछ भूल चूक हुई हो उसको भुलाकर एक स्वर से एक उद्देश्य से, हिन्दी की उन्नति के विचार से सम्मेलन होना चाहिए।

सम्मेलन हुआ है सम्मेलन के लिए। इसमें विजयादशमी का उत्सव मनाने का कुछ प्रयोजन नहीं। इन दिनों जितनी लीलाएँ होती हैं, उनका उद्देश्य यही है कि एक दिन भारतवर्ष में ऐसा था कि विजय का डंका बजता था। इस दशहरे में इस सम्मेलन का भी यही उद्‌देश्य है और बहुत कुछ संभावना इस बात की होती है कि कोई रोग इस देश में यदि आ गया हो तो सब एकत्र हो उसे मिटाने का प्रयत्न करें। गाँव-गाँव और जिले-जिले के बाहर लोग एक स्थान में बैठकर परामर्श करें कि किस प्रकार ऐसी बला टल सकती है। दूसरा सम्मेलन इस श्रेणी का होता है कि काम चल रहा है लेकिन अच्छी तरह नहीं चल रहा है इसलिए यद्यपि कुछ सन्तोष का विषय है तथापि विशेष रूप से एकत्र होकर इस बात का विचार किया जाता है कि कार्य कैसे चले। मेरी बुद्धि में तो हिन्दी का ऐसा सौभाग्य नहीं है। हमलोग वर्तमान समय में जो मिले हैं वह इस दूसरी श्रेणी का सम्मेलन है। कुछ लोगों के मत में हमारी उन्नति कुछ भी सन्तोषजनक नहीं है। अन्य लोगों के विचार ऐसे हैं कि यह कहना ठीक-ठीक है। फिर भी प्रत्येक दशा में यह सम्मेलन आवश्यक हो गया है अब इस सम्मेलन में यदि हम मिले हैं तो दूसरी या तीसरी कक्षा, जिसको ले लीजिये, उसी के अनुसार पहले यह विचार कीजिये कि हमारी अवस्था क्या है। जब कोई वैद्य बुलाया जाता है तब निर्दिष्ट स्थान में पहुँचकर पहले वह यह जानना चाहता है कि रोगी की दशा क्या है, रोग कहाँ तक बढ़ा है, कितनी आशा है, कितना घटा है, रोगी में कितना बल आया है। यह आवश्यक है कि हम पहले हिन्दी की दशा विचारें। किन्तु इससे पहले कि हम इस बात का विचार करें हमारे एक मित्र ने प्रश्न किया है कि पहले यह तो बतलाइए कि हिन्दी है क्या? यह बड़ा टेढ़ा प्रश्न उठा है कि हिन्दी क्या है। ऐसी दशा में पहले मैं इसी को लेता हूँ। मुझको दुःख है कि मैं न संस्कृत का ऐसा विद्वान् हूँ कि इस विषय में प्रमाण के साथ कह सकूँ, न भाषा का ऐसा विद्वान् हूँ कि इस विषय की चर्चा चलाऊँ। किन्तु मैं आपके सम्मुख निवेदन करता हूँ कि जब प्रमाण की रीति से कोई कुछ न कह सके तो उसका धर्म है कि वह अपने विचारों को उपस्थित करके जो प्रमाण दे सकता हो उन्हीं को दे। हिन्दी के विषय में बहुत सा विवाद है। हिन्दी के सम्बन्ध में हमारे देश के लिखने वालों में जो हुए वह तो हुए ही, हमारे यूरोपियन लिखने वालों में विलायत के डाक्टर ग्रियर्सन एक बड़े शिरोमणि हैं (हर्षध्वनि) आपने हिन्दी की

बड़ी सेवा की है और हिन्दी की उन्नति में बड़ा यत्न किया है आपने एक स्थान में लिखा है कि हिन्दी यूरोपियन सन् १८०३ ई० के लगभग लल्लूलाल जी से लिखवाई गई। और भी लोगों ने इसी प्रकार की बात कही है। जो विदेशी हिन्दी के विद्वान् हैं, वह तो यही कहते आए हैं कि हिन्दी कोई भाषा नहीं है। इस भाषा का नाम उर्दू है। इसी का नाम हिन्दुस्तानी है। यह लोग यह सब कहेंगे, किन्तु यह न कहेंगे कि यह भाषा हिन्दी है (लज्जा)। लज्जा तो कुछ नहीं है, विचार की बात है सज्जनों! ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित कितने ही अंगरेजी अफ़सरों ने मुझसे पूछा था कि हिन्दी क्या है? इस प्रान्त की भाषा तो हिन्दुस्तानी है। मैं यह प्रश्न सुन दंग रह गया। समझाने से जब उन्होंने स्वीकार नहीं किया तब मैंने कहा कि जिस भाषा को आप हिन्दुस्तानी कहते हैं, वही हिन्दी है। अब आप कहेंगे कि इसका अर्थ क्या हुआ? इसका अर्थ यह है कि न हमारी कही आप मानें, न उनकी कही। इसमें न्यायपूर्वक विचार कीजिए। डाक्टर ग्रियर्सन का क्या कहना है। मैं उनका सम्मान करता हूँ किन्तु उनकी बात पर न जाकर हमें यह देखना चाहिए कि यथार्थ तत्त्व क्या है? यहाँ इस मंडली में बड़े-बड़े विद्वान् और विचारवान् पुरुष हैं, वह इसे अच्छी रीति से कह सकेंगे। इसके विचारने में हमको अपने विचारों का दिग्दर्शन करना चाहिए। इसमें बहुत कुछ अन्तर हो सकता है। किन्तु मूल में कोई अन्तर हो नहीं सकता। हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में विचार करते हुए सबसे पहले संस्कृत की आकृति एक बार ध्यान में लाइए, हिन्दी भाषा की आकृति को ध्यान में लाइए। इसके पीछे आप विचारिए कि हिन्दी कौन भाषा है और उसकी उत्पत्ति कहाँ से है। संस्कृत की जितनी बेटियाँ हैं इनमें कौन सी बड़ी बेटी है। संस्कृत की बेटियों में हिन्दी का कौन सा पद है। इसका संस्कृत से क्या सम्बन्ध है। संस्कृत, जैसा कि शब्द कहता है, नियमों से बाँध दी गई है। जो व्यर्थ बातें थीं, वह निकाली गईं, अच्छी-अच्छी बातें रखी गईं, नियमों और सूत्रों से बँधे शब्द रखे गए, जो शब्द नियमविरुद्ध थे उनके लिए कह दिया गया कि यह नियम से बाहर है। नियमबद्ध शब्दों का व्याकरण में उल्लेख हो गया। आप जानते हैं कि संस्कृत से प्राकृत हुई। जो लोग यह कहते हैं कि संस्कृत कभी बोली नहीं जाती थी, वह संस्कृत को नहीं जानते। वे थोड़ी, प्राकृत पढ़ें तो उनको मालूम हो जायगा कि प्राकृत तो बोली जा नहीं सकती। सस्कृत के बोले जाने में कोई सन्देह नहीं। संस्कृत से प्राकृत हुई। उसके पीछे सौरसेनी, मागधी और महाराष्ट्री। कदाचित् आपके ध्यान में होगा कि दंडी ८वीं शताब्दी में थे। अपने समय में उन्होंने यह लिखा था कि भारत में चार भाषाएँ हैं, महाराष्ट्री, सौरसेनी, मागधी और भाषा। यही चार भाषाएँ चली आई हैं।

अब आपको मालूम हो गया होगा कि जो महाराष्ट्री भाषा थी, मागधी भाषा थी, इनके बीच में बहुत भेद था। मेरे शब्दों पर ध्यान दीजिए इन भाषाओं में संस्कृत भाषा के शब्दों के रूप का अनुरूप आपको मिलता है। यह जितना हिन्दी भाषा में मिलता है, उतना दूसरी किसी भाषा में नहीं मिलता। संस्कृत के शब्दों को ले लीजिए। अब देखिए कि हिन्दी में यह बात कहाँ से आई। संस्कृत से इन भाषाओं का क्या सम्बन्ध था। शकुंतला में 'तुक मणि दबे बलीयममणाणि' कहाँ से आया होगा। एक शब्द को आप

लीजिए। उसको देखिए कि प्राकृत में उसका क्या रूप है और भाषा में क्या हुआ। इस प्राकृत को देखने से आपको मालूम होगा कि संस्कृत शब्दों का प्राकृत रूप क्या से क्या हो गया। भाषा के कितने ही रूप आपको मिल सकते हैं। परन्तु यह बात मेरे कहने से न मानिए। मेरे सामने इस समय चंद कवि के रासों में बहुत से रूप ऐसे हैं जिनको इस मंडली में पंडित सुधाकर जी और दो तीन को छोड़कर बहुत कम लोग जानते हैं। मैं तो इसका चौथाई भी समझ नहीं सकता। मैं जो देखता हूँ वह आपके सामने उपस्थित करता हूँ। आप ही देखकर यह कहें कि कौन ठीक है। संस्कृत से पाली, पाली से प्राकृत और प्राकृत से तीसरा रूप हिन्दी दिखाई दिया। अब आप थोड़े से शब्दों पर विचार करें। अग्नि का आग और योग का याग हो गया। चंद के काव्य में तुलसीदास की एक चौपाई को बीच में यदि मैं रख दूँ तो बहुत सज्जनों को यह न मालूम होगा कि दोनों के बीच कितना अन्तर है। संवत् ११२५ में चंद कवि ने इसको लिखा। उनकी भाषा में जितने रूप देखते हैं वह रूप इस भारतवर्ष की किसी दूसरी भाषा के रूप से नहीं मिलते। मिलते हैं, हिन्दी से और उतने ही जितनी आज की अंगरेजी चौसर की अंगरेजी से मिलती है। ऐसी दशा में यह कहना कि हिन्दी भाषा क्या है, इसका उत्तर यह है कि हिन्दी भाषा वह है जिसमें चंद कवि से लेकर आज तक हिन्दी के ग्रन्थ लिखे गये। यह सही है कि पहले इसका नाम भाषा था, हिन्दी भाषा या सूरसेनी।

क्या आप भाषा की उत्पत्ति पूछते हैं। कितने ही लोगों को अपनी मां का नाम नहीं मालूम। बहुत सी औरतें ऐसी हैं जिनको अपने लड़कों का नाम नहीं मालूम। प्रयाग और वनारस के कितने ही बालकों का नाम सिर्फ बच्चा है। पिता और दादा के नाम का पता लगाना और भी कठिन है। नाम रखते हैं किंतु उसको याद नहीं रखते। अस्तु, देखना चाहिए कि चंद के समय से जो भाषा लिखी जाती है वह एक है, उसी को हम हिन्दी भाषा कहते हैं। कभी-कभी लोग उसका नाम बदल देते हैं। भीष्म को लीजिए देवव्रत उनका नाम था। जब उन्होंने पिता की प्रसन्नता के लिए राज्यत्याग किया, ब्रह्मचर्य अंगीकार कर कहा कि हम विवाह न करेंगे, केवल इसलिए कि पिता प्रसन्न होंगे, तब उस दिन से उनका नाम भीष्म हुआ, छठी के समय नहीं हुआ था। इसी तरह भाषा का भी नाम बदलता है। पहले कुछ था, अब कुछ है। भाषा का नाम पहले और था पर अब तो हिन्दी कह के इसे पूजते हैं प्रेम करते हैं। इस हिन्दी भाषा का दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होगा कि हिन्दी भाषा की और भाषाओं के साथ तुलना करने से क्या पता लगता है। इसमें भी मैं इतना कहूँगा कि हिन्दी सब बहनों में मां की बड़ी और सुघर बेटी है। संस्कृत के वंश की बेटियों के २२ करोड़ बोलने वाले हैं, उनमें पांच या छः करोड़ मद्रास में तामिल और तेलगू बोलते हैं। उनकी भाषा में संस्कृत का भांडार भरा हुआ है। उनके वाक्यों में संस्कृत की लड़ी की लड़ी आती है। फलतः संस्कृत की महिमा इस देश में गूँज रही है और बहुत दिन तक गूँजेगी। अब रहा कि इन बहनों में कौन बड़ी और कौन छोटी है। यह पक्षपात है कि हमारी भाषा हिन्दी है और हम हिन्दू हैं, हिन्दी का पक्ष करें या हमारा यह विचार है कि (छोटे मुँह बड़ी बात होती है, मगर चित्त में जो कुछ है कह देंगे) दंडी कवि ने भी उसमें पक्षपात किया है। किन्तु हिन्दी भाषा को यदि मैं आप के सामने यह कहूँ कि यही सब

बहनों में मां की अच्छी पहली पुत्री है, अपने पिता और माता की होनहार मूर्ति है, तो अत्युक्ति न होगी। सौरसेनी में शब्द बंधे हुए हैं, फलते नहीं, महाराष्ट्री में उखड़ते पुखड़ते नाचते-कूदते जाते हैं। आपको अनेक शब्द हिन्दी भाषा मे मिलते हैं जिनके सात-सात रूप हैं। भारतीय सभी भाषाओं में हिन्दी शब्दों की न्यूनाधिक झोली की झोली भरी पड़ी है। हां, यह मानना पड़ेगा कि इनके रूप में बड़ा परिवर्तन है। जैसे कि बनारस से नीचे बंगाल में चलिये तो आगे चलकर विहार में बिहारी मिलेगी, बंगाल में जाइए तो लकारों का संगीत पाया जाता है। हरिद्वार से जब गंगा चलीं और उनके संग में जो पत्थर के टुकड़ बहते हुए चले तो हरिद्वार से काशी आते-आते रगड़ते झगढ़ते कोमल और चिकने हो गए। इसी प्रकार यह विहार में गाजीपुर और बनारस से नीचे रगड़कर प्रिय कोमल स्वरों के हो गए। जब आप बंगाल में पहुँचे तब आपको कोमलता का घर मिला। वहाँ आपकी भाषा भी अधिक कोमल दिखाई दी। यहां की भाषा का रूप देख हमारे यूरोपियन विद्वान् और देशी विद्वान् भी भ्रम में पड़ गए हैं कि क्या हिन्दी महाराष्ट्री और सौरसेनी, पंजाबी और बंगला, सब वस्तुतः एक हैं। हमें भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि इनके बीच बड़ा अंतर हो गया है। संस्कृत शब्दों का हिन्दी ही में कितना परिवर्तन हो गया है। जो कर्ण था वह कान, नासिका थी वह नाक है, जो हस्त था वह हाथ है। पानीय का पानी है। यह परिवर्तन सभी जगह दिखाई देता है। लक्ष्मी को भाषावालों ने लिखा लच्छमी या लक्खी। लच्छमी कहने में जो प्रेम आया वह लक्ष्मी कहने में नहीं। जैसे-जैसे भाषा बंगाल की ओर बढ़ी वैसे-वैसे कहा गया कि इसमें जितना कर्कशपन है उसे काट दो। अब बेटियों में बड़ा रूपांतर हुआ। यहाँ तक यह कह दिया कि भाषा की उत्पत्ति क्या है। सिवाय इसके यह निवेदन करता हूँ कि जितने और प्रमाण हैं जिनसे भाषा की अवस्था को जान सकते हैं, अब उसको जांचना चाहिए। भाषा के रूप की शब्दमाला क्या है ? इन दोनों के विचारों से हिन्दी भाषा ही प्राचीन है। डाक्टर ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि हिन्दी संस्कृत की बेटियों में सबसे अच्छी और शिरोमणि है। आप कहेंगे कि इसमें कौन फूहड़ मालूम होती है। यह मेरा कहना आवश्यक भी नहीं है। यह समझा जा सकता है कि मैं हिन्दू हूँ और पक्षपात से कहता हूँ।

आज मैं अपने बंगाली, हिन्दुस्तानी, गुजराती भाइयों से पुकार कर कहता हूँ कि भाषा एक चली आई और संस्कृत भी एक है। जब प्राकृत हुई तब अंग की प्राकृत हो गई किंतु मूल में एक ही रही। जितनी भाषाएं हैं, हमारी हैं। बंगाली हमारी भाषा, पंजाबी हमारी भाषा और गुजराती हमारी भाषा है। अब इसके विचार से कौन किसको कहे कि कौन बुरी है।

हिन्दी अपनी बहनों में सबसे प्राचीनतम और बड़ी बहन है और माता की रूप आकृति इससे बहुत मिलती-जुलती है। यह सब जो बड़ी छोटी बातें मैं आपसे निवेदन करता हूँ इसका दूसरा प्रमाण मिलना चाहिए। शब्दमाला, शब्दों की रचना यह तो हो गया। दूसरा प्रमाण है ग्रन्थमाला। अधिक हिन्दी ग्रन्थमाला का, भाषाओं की ग्रंथमाला का शिवसिंह जी ने जैसा कि मालूम होगा, इन बातों को दिखाया है। प्रथम हिन्दी भाषा का काव्य ७७० में हुआ। भाषा के ग्रन्थों में राजा मान की सहायता और आदेश से

दूसरा जो हमें मिलता है, वह पूज्य कवि ८०२ में हुआ और तीसरा लेख जो मिलता है, वह राव खुमान सिंह ने एक ग्रन्थ हिन्दी में लिखा। ९०० में खुमानरासो, पृथ्वीराजरासो प्रसिद्ध किया। चौथा ग्रन्थ, जैसा कि मैं अभी आपसे निवेदन कर चुका हूं, चंद कवि कृत रासो है। जो भाषा के विद्वान् हैं और जो भाषा की रूप रचना जानते हैं, वह विना शंका के यही कह देगें कि जिस भाषा में चंद कवि ने ग्रन्थ लिखा है वह भाषा बहुत पहले से हुई है। यह नहीं हो सकता कि जिसकी भाषा प्रिय होने लगी उसी में ग्रन्थ लिख डाला। चंद कवि से पहले अनेक कवि हो चुके थे। उन्होंने उर्दू में लिखा, हिन्दी में नहीं। हिन्दुओं में ब्राह्मण और कायस्थ उर्दू अधिक पढ़ने वाले थे। पर हमारे क्षत्रिय भाइयों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। उनमें पढ़ने का प्रचार कम हुआ। वह इसके बदले जमींदारी और खेतीवारी में रहे और उसी से प्रेम रहा और विद्या को कम पढ़ा। वैश्य जो हमारे भाई हैं उन्होंने कहा, कि जिसको नौकरी करना हो वह पढ़ने जाय, उन्हें इतनी फुरसत कहाँ। वह दूसरी ओर उन्नति करते रहे। आपको उर्दू के ज्ञाता मिलेंगे—ब्राह्मण और कायस्थ। ब्राह्मणों में काश्मीरी ब्राह्मण बुद्धि में प्रखर, भाषा के विशेष योग्य थे। इनका प्रेम उर्दू की ओर बढ़ गया और वे इसी तरफ झुके। कायस्थ भाइयों का भी यही हाल हुआ कि सरकारी दफ्तरों में उर्दू गाजं रही थी, हिन्दी सभ्य भाषा भी नहीं समझी जाती थी। हमारे पंडित मथुराप्रसाद, राजा शिव प्रसाद कह गए हैं कि हिन्दी भाषा को यह कहना कि हिन्दी कोई भाषा ही नहीं अनुचित है। यह दशा थी। इसी कारण से हिन्दी की उन्नति न हुई। अब क्या होता है। इसी बीच में और प्रान्तों में उन्नति हुई। बंगाल में जैसा कि मैं आपसे निवेदन कर चुका हूं भाषा का बड़ा सुधार हुआ। एक अंश में सर माइकल मधुसूदन को लीजिए। हेमचन्द्र, बंकिमचन्द्र इत्यादि बंगाली बड़े-बड़े कवि हुए हैं। उन्होंने उपन्यास, इतिहास, और काव्य से अपनी भाषा को बनाया, सजाया। इसके उपरान्त कबीरदास हुए, १५४० में मलिक मुहम्मद जायसी हुए। गोस्वामी तुलसीदास जी, श्री केशवदास जी, दादूदयाल जी, गुरु गोविंदसिंह जी, बिहारी लाल को ही देखिए। हर एक की भाषा में हिन्दी के पुष्ट रूप दिखलाई पड़ रहे हैं। यह सिद्ध है कि भाषाओं में मरहटी भाषा में, जो सबसे पुष्ट है, नामदेव १३ वीं सदी में थे। बंगला भाषा में, जिसे आज देखकर आनंदित होते हैं और यदि सच कहूं तो ईर्ष्या भी होती है, चंडीदास जी बड़े प्रसिद्ध १४ वीं सदी में हुए। चंद के समय तक मराठी में, न बंगला में, न गुजराती, में तीनों में इतना बड़ा काव्य नहीं था जितना बड़ा काव्य चंद कवि का हिन्दी में मिलता है। इस प्रकार से हिन्दी भाषा आरम्भ हुई। यदि यह जानना चाहते हैं कि किसका भण्डार किसका रूप और कौन अधिक थी, तो इसके देखने के लिए मैं आपके सम्मुख कुछ बातें उपस्थित करता हूँ। यह जो सन् १८५७ ई० में विप्लव हुआ, उस समय से भाषाओं की ओर उन्नति हुई। १८३५ ई० में बंगाल में, पंजाब में फारसी भाषा दफ्तरों में था। अंगरेजो गवर्मेन्ट ने इसको मिटाकर मराठी, गुजराती, बंगाली और उर्दू को इनके स्थान में किया। वहीं से देशी भाषाओं की उन्नति की रेखा बँधी। अब इस बात का विचार कीजिए कि सन् १८३५ के पूर्व और १८५८ के उपरांत इन सब भाषाओं का कैसा भंडार था, इनमें

ग्रन्थमाला कैसी थी ? ७७० से लेकर आप केवल बड़े-बड़े कवियों को लीजिए। उनके ग्रन्थ आज तक हिन्दी भाषा का भंडार भर रहे हैं। चंद कवि के रासों को ले लीजिए। लल्ल जी, कबीरदास, गुरुनानक जी, मलिक मुहम्मद जायसी, भीमदेव, तुलसीदास, सूरदास, अष्टछाप, केशवदास, दादूदास, गुरु गोविन्द सिंह जी, बिहारीलाल, किस किसके नाम गिनाऊँ। मुझे सब गिनाना भी नहीं। बिहारीलाल को ले लीजिए। इन्होंने १६५० के लगभग ग्रन्थ लिखा है। बहुत वृक्ष वाटिकाओं में उगते हैं, कितने ही आपसे आप उगते हैं, उसका झाड़ भी बड़ा फैला हुआ होता है। जैसे-जैसे वे ऊपर उठते हैं वैसे-वैसे उनकी छाया अधिक होती जाती है। कुछ ऐसे होते हैं, जिनको आप काटकर मिट्टी बनाकर किसी स्थान में लगाते हैं और अपनी वाटिकाओं में उगाते हैं। इसी तरह भाषा में जो बहुत शब्द हैं, जैसे कर्ण से कान, हस्त से हाथ संस्कृत से उत्पन्न हुए हैं वे प्राकृत रूप में अपने से आप उपजे। जो शब्द संस्कृत के उठाकर रख दिए हैं, वह वैसे ही हैं जैसे कि गुच्छा, कितने ही वृक्ष थोड़े समय में सूख जायेंगे, फिर उनमें शक्ति नहीं कि वह दूसरे फल उत्पन्न करें। जहाँ यह मुरझाए, फिर उन्हें हटाना ही पड़ेगा। इसी प्रकार से हिन्दी भाषा के तद्भव शब्द जो हैं वह निज की संपत्ति हैं, उसके निज के अवयव पुष्ट हैं, वह फूले फलेंगे और अपने आप बढ़ते चले जायेंगे। यह सब प्रबल और पुष्ट होते हैं। किन्तु जिन शब्दों में किसी का पैवंद लगा दिया जाता है, वह बनने को बन जाते हैं किन्तु पुष्ट नहीं होते। जो लिए हुए शब्द हैं, उनमें भाषा की शक्ति नहीं। बच्चा माता के दूध से जितना पुष्ट होता है, ऊपरी दूध से उतना पुष्ट नहीं होता, जो बच्चा धीरे-धीरे माता का दूध पीता है वह पुष्ट होता जाता है और अंत में संसार में काम करने योग्य होता है। फिर भी हरेक भाषा में हर एक तरह के शब्द मिलेंगे ही, जसे भोजन में दाल भात रोटी इत्यादि। और संस्कृत की जितनी बेटियाँ हैं, वह सब भी मां के गहनों को पहनेगी, चाहे वह अच्छा हो चाहे बुरा, सब मां का गहना है। उनमें एक गहना दो गहना चार गहना मां का है। मां के गहने से बड़ा प्रेम होता है। उस समय उनको धारण करने में विशेष आनंद होता है। किन्तु जो सब गहने मां के ही हों तो सब कहेंगे कि यह सब मां की संपत्ति है। इसलिए हिन्दी भाषा का यह सौभाग्य है कि उसके जो शब्द हैं वह सब माता के ही प्रसाद हैं। किन्तु माता ने कहा, हे बेटी ! यह तेरे हैं, तू इसका व्यवहार करना। बिहार में बंगाल में विद्यापति जी ने हिन्दी भंडार से फूल पत्ते ले जाकर अपने काव्य ग्रंथ को भरा है। इस प्रकार आप देखेंगे कि दक्षिण में मराठी में भी जो शब्द का मेल है, उसमें जो कुछ तद्भव शब्द व्यवहार में लाए जाते हैं वह यहीं के हैं। हम आप, 'मुझे, तुझे' कहते हैं मराठी में 'मुझा तुझा' कहते हैं। हाँ यह मानना पड़ेगा कि इन शब्दों का उच्चारण बंगाल में और है, महाराष्ट्र में और। हमें इस बात की ईर्ष्या नहीं है, अगर वह सबकी मां नहीं तो मौसी है। हम तो सबके बालक हैं। सबके पैरों पर लोटेंगे। माँ ने भोजन दे दिया तो ले लेंगे, मौसी ने दे दिया तो ले लेंगे। वह हमारी, हम उनके हैं। आप देखेंगे कि हिन्दी भाषा में शब्दों का अधिक भंडार है, यह बड़ा प्रबल है और हिन्दी की यह बड़ी संपत्ति है। इस प्रकार से आपकी ग्रन्थमाला की शब्दावली का भंडार भरा हुआ है। सन् १८३५ से १८५८ तक महाभारत का प्रथम अनुवाद हुआ। इसके उपरान्त एक विशेष दशा आई।

आप जानते हैं कि रीति जो पड़ जाती है, वह छोड़े नहीं छूटती। जब-जब जिस-जिस स्थान में आप देखेंगे, लता वृक्ष के सहारे फैलती पायेंगे। सबसे बड़ा सहारा प्रत्येक भाषा का राजा ही होता है। बिहारी ने जयपुर के महाराज के यहाँ जाकर अपनी कविता शक्ति का चमत्कार दिखाया। शिवाजी महाराज के आश्रय में भूषण कवि ने अपनी कविता शक्ति का परिचय दिया। एक ओर युद्ध में तलवार नाचती थी, दूसरी ओर उनकी कविता नाचती थी। राजा का आश्रय दो प्रकार का होता है। एक तो प्रत्यक्ष, दूसरा गुप्त। इन दोनों की आवश्यकता है, किन्तु इस समय में प्रत्यक्ष ही लूंगा। जब अंगरेजी गवर्मेन्ट इस देश में आई, तब उसने बड़ी ही सुव्यवस्था की जिसके लिए उसे सच्चे हृदय से धन्यवाद देना चाहिए। इसने इस देश में ऐसा नियम स्थापित किया जिससे आज इतना बड़ा समारोह हो रहा है। याद रहे कि कोई व्यक्ति चाहे वह ऊँचे घर का बालक ही क्यों न हो, जब गिरता है, तब बुरा लगता है। यह पवित्र आर्यजाति जो अपनी प्राचीन महिमा से गिरी तो ऐसी गिरी कि फिर से उसका पुनरुद्धार न हुआ। इस आर्यजाति के पतन के कारण इससे महाराष्ट्रों और सिक्खों का अलगवा हुआ। जब से अंगरेजी गवर्मेन्ट आई तब से आप देखते हैं कि विद्या की चर्चा बढ़ गई। यंत्रालय आया, साथ ही साथ बड़ी भारी शिक्षा आई। आपने देखा होगा कि अंगरेज लोग अपनी भाष की कैसी उन्नति करते हैं अंगरेजी गवर्नमेन्ट ने यहां आ अंगरेजी विद्या के प्रचार का उपाय किया, साथ-साथ आपकी संस्कृत भाषा की उन्नति का भी पथ प्रशस्त किया। इस काशीपुरी में सबसे पहले क्वींस कालेज और संस्कृत कालेज स्थापित हुआ, जिससे हिन्दुओं की भाषा की रक्षा हुई। गवर्नमेंट के उत्तम कार्यों का धन्यवाद हम हिन्दू किसी प्रकार कर नहीं सकते और आज जो आपके भारतवर्ष में कुछ जनों में संस्कृत का प्रचार देख पड़ता है, इस काशी में ही धुरंधर पंडित मिलते हैं जिनका सम्मान बड़े बड़े लोग करते हैं, उसका अन्यतम कारण अंगरेज सरकार का संस्कृत प्रचार है। मैंने आपसे इसको सुनकर नहीं कहा है। डा० वालेंटाइन जब प्रिंसिपल थे तब उन्होंने लेख लिखा था कि हमको केवल संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद करके हिन्दी भाषा में प्रचार करना चाहिए, सो उन्होंने अपने समय में जो आवश्यक था वह कर डाला। किन्तु खेद की बात है कि इतना अवसर पाने पर भी हम जगाए जानें से भी आपसे आप नहीं जागे। गवर्नमेंट की सहायता से भी नहीं जागे। इस प्रांत में भाषा की उन्नति का बीज सबसे पहले बोया गया था, किन्तु आज भी उसी प्रांत की हिन्दी भाषा अपनी और बहनों के सामने मुंह मोडे खड़ी है। अब १८३५ के लगभग आ जाइए। उस समय गवर्नमेन्ट के सरकारी दफ्तरों में फारसी में काम होता था। गवर्नमेन्ट ने १८३५ में यह आज्ञा दी कि हिन्दुस्तान की भाषाएँ भी काम में लाई जायँ। इस आज्ञा के फल से इस प्रांत में उर्दू जारी हो गई, हिन्दी जारी नहीं हुई, इसका फल यह हुआ कि हिन्दी की बड़ी अवनति हुई। यह सत्य है कि सन् १८४४ ई० में जब टामसन साहब लेफ्टिनेन्ट गवर्नर थे, सरकार ने हिन्दी भाषा का पढ़ना-पढ़ाना आरंभ किया। यदि यह न हुआ होता तो आज आपको हिन्दी के जानने वाले इतने भी न मिलते जिनसे लोगों को पढ़ाने का अवसर मिलता। फिर भी अदालतों में हिन्दी के प्रवेश न करने से हिन्दी की उतनी उन्नति नहीं हुई। उर्दू सरकारी दफ्तरों में जारी थी उसी का प्रचार था। फिर भी उर्दू का वैसा

प्रचार नहीं हुआ जैसा होना चाहिए था। उर्दू पुस्तकों की उतनी उन्नति नहीं हुई जितनी बंगाली, महाराष्ट्री और गुजराती की। मैं जानता हूँ कि मुसलमान अब आगे हैं, किन्तु पचास साठ वर्ष तक उन्होंने उर्दू की वैसी उन्नति नहीं की जैसी करनी चाहिए थीं। उर्दू की उन्नति में बाधा पड़ने का एक कारण यह है कि उर्दू, विशेष करके वह उर्दू जिसे अधिकतर उर्दू के प्रेमी लिखते हैं, अरबी और फारसी शब्दों से भरी होती है, जिसके जानने वाले लोग कम हैं और जिसके लिखने वाले लोग भी कम हैं। सन् १८५८ में जब गवर्नमेन्ट ने विद्या के विभाग के नियम बनाए, उन्हीं दिनों स्कूल के लिए हिन्दी पुस्तकें छपवाईं और बहुतेरे विद्वानों की संमति ली। गवर्नमेन्ट आफ इंडिया ने १८७३ के लगभग २३१ पुस्तकों का संचय किया। गवर्नमेन्ट की सहायता से आदित्यराम जी ने एक दो अनुवाद अंग्रेजी पुस्तकों के किए, राजा शिव प्रसाद जी से संपत्ति ली गई। लोगों को इस पर ध्यान देना चाहिए कि हिन्दू मुसलमान दोनों की तरफ से जहाँ तक मुझको मालूम हुआ है, इन पुस्तकों के पढ़ने वाले अधिक नहीं थे, इसीलिए दोनों की उन्नति नहीं हुई। और प्रांतवालों ने जिन्होंने अँग्रेजी पढ़ी, उनकी दूसरीं भाषा मातृभाषा थी, बंगालियों ने अंग्रेजी पढ़ी उनकी दूसरी भाषा बंगला थी। बंगालियों को ले लीजिए, चार विद्वानों ने बंगाली भाषा को जन्म दिया। पचास वर्ष में बंगला ने ऐसी उन्नति की कि उसको देखकर न केवल संतोष ही होता है बल्कि ईर्ष्या भी होती है। मराठी में ऐसा ही हुआ कि जिन्होंने अंग्रेजी पढ़ी उन्होंने साथ-साथ अपनी भाषा भी पढ़ी। गुजरात में वर्नाक्यूलर सोसाइटी बनी। संस्कृत से अनुवाद करना आरंभ किया गया, उनकी भाषा की पुस्तकें जितनी बिकने लगीं, वह सभी को मालूम है। अनुवाद का अंत नहीं। आज ऐसा होता है कि अंग्रेजी भाषा में जो अच्छी पुस्तकें छपती हैं, उनका अनुवाद हो जाता है। इधर हिन्दू, मुसलमान, काश्मीरी, कायस्थ हमारे सब भाइयों ने सिर्फ उर्दू लिखना आरंभ किया। 'गुलजारे नसीम' पंडित दयाशंकर नसीम ने लिखी। हिन्दुओं को यह तो शौक हुआ कि वह लिखें लेकिन हिन्दी में लिखने का शौक नहीं हुआ। पंडित रतन नाथ सरशार ने 'फिसानये आजाद' लिखकर उर्दू भाषा को अनमोल हार पहना दिया। पर हिन्दी जानने वालों को उस हार का पता नहीं कि वह कैसा है, मूँज का हार है या किसका। यह सत्य है कि मुसलमान कवियों ने हिन्दी भाषा की भी सेवा की है। मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत लिखा है, जब तक हिन्दी भाषा रहेगी उनका नाम रहेगा। किन्तु मैं आपको यह दशा दिखलाता हूँ कि काश्मीरी भाइयों ने जो लिखा वह उर्दू में। हमारे हिन्दू भाइयों में कायस्थ भाइयों ने बहुत समय से बहुत कुछ लिखा किन्तु वह भी उर्दू में। उन्होंने विज्ञान काव्य की कितनी ही पुस्तकें लिखीं। हिन्दू मुसलमानों द्वारा उर्दू की उन्नति का यत्न किया गया सही, किन्तु हमें तो बंगला की उन्नति और वृद्धि से संतोष होता है। मराठी गुजराती से भी ऐसा ही होता है। वहां विद्या सरस्वती आप ही आप चली आई। इधर हिन्दी के लिए काम करने वाले नहीं। यह दशा आपकी है। १८३५ और ५८ से पहले आपकी हिन्दी भाषा अपनी माँ की सुन्दर छवि को लिए हुए अपने भंडार को भरे आनन्द के साथ बैठी हुई आपको देखती हैं। १८३५ और ५८ के बाद इसकी और बहनें आगे बढ़ गईं, यह जहाँ की तहाँ रह गई। कहते हुए दुःख होता है कि जिस हिन्दी के लिखने वालों में चंद कवि, तुलसीदास, सूरदास, बिहारीलाल

हो गए हैं, बबुआ हरिश्चन्द्र हो गए हैं, वह हिन्दी आज अपनी बहिनों के सामने आँखें नीची किए खड़ी है । हिन्दी के प्रेमियों ! तुम्हारे और हमारे लिए यह बड़ी ही लज्जा की बात है। यह सच है कि अंगरेजी कार्यालयों में हिन्दी का प्रचार अधिक नहीं । १८५८ में जब राजा शिवप्रसाद विद्यमान थे, उस समय अनेक सज्जनों ने इस बात को कहा था कि सरकारी दफ्तरों में हिन्दी भाषा का प्रवेश हो, किन्तु उस समय यह बात बातों ही में रह गई ।

अंत में सर एंटनी मेकडानल का भला हो, उन्होंने यह आज्ञा दी कि कचहरियों में जो दरख्वास्तें दी जाव वह हिन्दी उर्दू दोनों में लिखी जावें । उस समय से हम लोग हिन्दी भाषा की विशेष उन्नति करने लगे हैं । जब रोगी दुर्बल हो सन्निपात की दशा को पहुँच जाता है, तब पहले उसका ज्वर छुड़ाया जाता है, फिर उसका आहार आदि ठीक किया जाता है, अंत में यह पहाड़ हट गया । किन्तु बड़े धिक्कार और बड़े लज्जा की बात है कि यद्यपि यह पहाड़ हमारे मार्ग से काटकर हटा दिया गया, तो भी हम लोगों ने आज तक इससे पूरा लाभ न उठाया । हम वकील, हम मुख्तार, हम व्यवहार करने वाले महाजन और वह लोग जो कचहरी में वकालत करते हैं और अपने हिन्दू भाइयों के मुकदमें में उनका धन व्यय कराते हैं, वह लोग भी हिन्दी भाषा की ओर से उदासीन हैं । कितने लोग हैं, जो जाति का उपकार करते हैं । कहते हैं कि जाति बिना भाषा जीवित नहीं रह सकती, जैसे कि नाल के बिना बालक नहीं जीवित रह सकता । किन्तु क्या यह बात सत्य है ? जरा बंगाली मराठी आदि को देखिए । हिन्दी भाषा के कितने लोग हैं जिनको इस बात से दुःख और लज्जा होती है कि यह आर्यावर्त देश, जहाँ कि आप देखेंगे कि लाखों लोग ऐसे हैं जो अपनी माँ की बोली से परिचय नहीं रखते । सब आशा उन्नति को छोड़ दीजिए। उन्नति करने वालों के सामने खड़ा होना छोड़ दीजिए । जब तक आप इस लज्जा को न मिटायें, अपनी माँ की बोली न सीखें तब तक आप मुँह न दिखावें । मातृभाषा के सीखने में कौन लज्जा करता है ? अब आप लोग अपने हृदय में आज से इस बात का प्रण कर लें कि जब तक आप मातृभाषा को सीख न लेंगे तब तक आप मस्तक ऊँचा न करेंगे । कोई अंगरेज जो अंगरेजी भाषा से परिचित न हो या कोई और देश का पुरुष जो अपने देश की भाषा न जानता हो, क्या कभी गौरवान्वित हो सकता है ? जब हमारी यह दशा है तब क्यों न इस भाषा की दुर्दशा होगी और क्यों न हमको औरों के सामने दुर्बलता स्वीकार करनी पड़ेगी ? यह सत्य है कि कुछ लोग अपनी मातृभाषा का काम करते हैं, किन्तु ऐसे लोग कितने हैं ? मेरा यह प्रस्ताव नहीं है मेरा यह निवेदन है कि सरकारी दफ्तरों से जो नकलें दी जाती हैं, उनको आप हिन्दी में लें, जो डिगरियाँ तजवीजें आदि मिलती हैं, उनको आप हिन्दी में लें । यह सब आपके लिए आवश्यक है । गवर्नमेन्ट ने आपको जो अवसर दिया है, उसे आप काम में नहीं लाते । इसके उपरांत यह भी सत्य है कि आज तक इस कारण से आपके अंगरेजी पढ़नेवालों में केवल उर्दू का अधिक प्रचार है । अब मैं यह आशा करता हूँ और सोचता हूँ कि जब तक यह प्रचार रहेगा, तब तक हिन्दी भाषा की उन्नति में बड़ी रुकावट रहेगी । उर्दू भाषा रहे, कोई बुद्धिमान पुरुष यह नहीं कह सकता कि उर्दू मिट जाय । यह अवश्य रहे और इसके मिटाने का विचार वैसा ही होगा, जैसा हिन्दी भाषा के मिटाने का । दोनों भाषाएँ अमिट हैं, दोनों रहेगी । उर्दू भाषा के प्रेमी करोड़ों

हैं और इस पचास वर्ष में उन्होंने बहुत कुछ उन्नति की है। मौलवी जकाउल्लह साहब, मुहम्मद हुसेन आजाद और देहली के नजीर अहमद को लीजिए, उस शब्दकोष को लीजिए, जो निजाम हैदराबाद से छपकर तैयार हो गया है। हैदराबाद में मुसलमान भाई २५ वर्ष से उर्दू की उन्नति का बड़ा यत्न कर रहे हैं। हमको संतोष और सुख होता है कि मौलवी शिवली के काम से उसकी उन्नति में अधिकता हुई है और उसकी उन्नति हमारे देश की उन्नति है। हम इसकी भलाई चाहते हैं, किन्तु इसी के साथ-साथ हमें यह भी कहना चाहिए कि हिन्दी जानने वाले इस प्रांत में बहुत हैं। पिछली मनुष्यगणना से जान पड़ा है कि एक उर्दू जानने वाला है, तो चार हिन्दी जाननेवाले। हमारे मुसलमान भाई जिनको इसका प्रेम है और जो देशभक्त हैं जिनसे हमारे देश की सब तरह की उन्नति है, वह उर्दू की उन्नति का यत्न करें और हिन्दी जानने वाले हिन्दी की उन्नति का। इस देश में हिन्दी भाषा जानने वालों की कमी नहीं, कोई दस बारह करोड़ हैं। इनकी हिन्दी भाषा की उन्नति करने के लिए हमें क्या उपाय करना चाहिए ? जितना अब विचार हो चुका है, उससे आपने यह देख लिया कि भाषाओं की अवस्था में कैसा उलट फेर हुआ और हिन्दी ज्यों की त्यों रही। यह दशा जो हमारी है, उसमें क्या करने की आवश्यकता है। इस बात के विचारने में मैंने आपसे कहा कि राजा के सहारे से बड़ा सहारा होता है। यदि आपको जैसा कि नागरीप्रचारिणी सभा के लिए गवर्नमेन्ट सहारा देती चली आई है, राजसाहाय्य मिले तो काम बहुत कुछ बन जा सकता है। किन्तु बड़े दुःख की बात यह है कि अंगरेजी गवर्नमेन्ट ने इसका जितना प्रचार करना चाहा था, हमारी उपेक्षा से उसका उतना प्रचार नहीं हुआ। हम लोगों को जितना करना चाहिए था, उसका सिर्फ कुछ अंश हमने किया। अब यह सम्मेलन ही विचार करे कि इसकी उन्नति का क्या उपाय होना चाहिए।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का यह अधिवेशन सभा के तत्त्वावधान में १०, ११, १२ अक्टूबर १९१० को सम्पन्न हुआ था।

दीक्षान्त भाषण

डा० जयप्रकाश नारायण

आदरणीय कुलाधिपति महोदय, आदरणीय कुलपति महोदय, उपस्थित विद्वत्जन, स्नातक बन्धु, भगिनियों, देवियों एवं सज्जनों।

सर्वप्रथम मैं आपके सुप्रतिष्ठित कुलपति, मित्रवर डा० श्रीमाली जी का अत्यन्त आभार मानता हूँ कि उन्होंने इस सुविख्यात विश्वविद्यालय के ५२ वें दीक्षांत समारोह के अवसर पर भाषण देने के लिए मुझे आमन्त्रित किया। अपनी अयोग्यताओं का ध्यान करके बड़े संकोच के साथ आपके समक्ष उपस्थित हुआ हूं और यह केवल इसलिए कि डा० श्रीमाली जी के स्नेह की अवज्ञा न कर सका।

इस अवसर पर मेरे संकोच का एक अन्य कारण भी है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि दीक्षांत भाषण अब केवल एक कर्मकांड बन कर रह गया है, जिसकी ओर किसी का भी ध्यान जाता नहीं, विशेषकर उनका जो परम्परावश उसे सुनने को बाध्य होते हैं। जैसा भी हो, अब तो इस रस्म को निभाना ही पड़ेगा। हां ! यह कोशिश जरूर करूँगा कि आपको श्रवण कष्ट अधिक न दूँ।

इस विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय तथा विद्वत्परिषद् का एक बार पुनः अत्यन्त नम्र भाव से आभार मानता हूं कि उन्होंने (Doctor of Laws) की उपाधि से मुझे सम्मानित किया है। इस सम्मान के लिए अपनी अपात्रता का स्मरण करके इस अवसर पर ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूं कि ऐसा न होने पाये कि मेरे कारण इस उपाधि का अवमूल्यन हो।

अब सर्वप्रथम उन सभी स्नातकों को हृदय से बधाई देता हूं जिन्होंने अपनी उपाधियां अभी प्राप्त की हैं। मेरा विश्वास है कि आप सब इस बात पर किंचित गर्व अनुभव कर रहे होंगे कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसे प्रख्यात विद्यापीठ के आप विद्यार्थी रहे हैं और उसकी उपाधियों से विभूषित हुए हैं। यह सही है कि पिछले कुछ वर्षों में इस विश्वविद्यालय के प्रांगण में कतिपय ऐसे कृत्य हुए जिनसे इसका धवल नाम कुछ कलुषित हुआ। परन्तु अच्छाई के साथ-साथ बुराई कहां नहीं पाई जाती ? और यह मानना होगा कि जहां तक इस विश्वविद्यालय का प्रश्न है, इसकी अच्छाइयों का पलड़ा बुराइयों के पलड़े से कहीं ज्यादा भारी पाया जायेगा। इसलिए आप अवश्य महसूस कर रहे होंगें कि आज एक अत्यन्त गौरवपूर्ण अतीत की स्मृति लेकर आप जा रहे हैं। और लेकर जा रहे हैं पूजनीय महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी के निर्मल, उदात्त जीवन की स्मृति और उनका मंगल संदेश। यह गौरवमय समृद्ध परम्परा, जिसके उत्तराधिकारी आज आप घोषित हुए हैं, आपके जीवन को सदा आलोकित और प्रेरित करती रहे यही परमात्मा से मेरी प्रार्थना है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के बावनवें समावर्तनोत्सव के अवसर पर डा० जयप्रकाश नारायण का अध्यक्षीय भाषण (१८ फरवरी १९७०)

इतना कह लेने के बाद दीक्षांत वक्ता का मेरा कर्त्तव्य पूरा हो जानाँ चाहिए था, परन्तु परम्परा इसकी अनुमति नहीं देती। इस शताब्दी के एक नये दशक के प्रारम्भ में आप विश्वविद्यालय के सुरक्षित सरोवर से निकल कर सांसारिक जीवन के अनजाने मार्ग में प्रवेश करने जा रहे हैं। इसलिए इस दशक की सम्भावनाओं तथा चुनौतियों के संबंध में दो शब्द निवेदन कर दूं तो स्यात् वह आपके लिए कुछ प्रयोजनीय सिद्ध हो। यह तो स्पष्ट है कि १९७०–८० के भारत का भविष्य, जैसे कि आपका अपना भविष्य, इस बात पर भी निर्भर करेगा कि आप स्वयं इन सम्भावनाओं का क्या उपयोग करते हैं तथा इन चुनौतियों का किस प्रकार मुकाबिला करते हैं।

पिछला दशक कुल मिला के असंतोषजनक रहा है, यद्यपि उसी दशक में 'हरित क्रान्ति' का भी प्रादुर्भाव हुआ तथा ग्रामदान आन्दोलन तेजी से आगे बढ़ा। उस दशक में हमने अपने दो प्रिय प्रधान मंत्रियों को खोया, दो युद्धों से गुजरे, दो भयंकर दुष्काल झेले। उसी दशक में राजनीतिक अस्तव्यस्तता तथा विघटन फैले, कांग्रेस का सत्ता एकाधिकार (Power Monopoly) खंण्डित हुआ, शासकीय अस्थिरता फैली, कांग्रेस का अपना घर फूटा, राजनीतिक आचरण का घोर नैतिक पतन हुआ, दलबदल का रोग संक्रामक बना, राजनीतिक अनुशासनहीनता बढ़ी, व्यक्तिगत स्वार्थ, पदलोलुपता आदि का बोलबाला हुआ, विधायकों की खरीद-बिक्री का बाजार गर्म हुआ, मतदाओं (ideologies) का अवमूल्यन हुआ। उसी दशक में आर्थिक विकास की गति, जो पहले ही धीमी थी, और भी धीमी पड़ी, और कहीं-कहीं तो रुक गई या पीछे की ओर मुड़ी। १९५०–६० के दशक में जहां प्रति व्यक्ति आय १.५ प्रतिशत बढ़ी थी वहां पिछले दशक मे वह घटकर मात्र आधा प्रतिशत प्रतिवर्ष रह गई। तथापि जैसा कि पहले कहा है, पिछले दशक में कृषि ने एक आशाजनक मोड़ लिया, यद्यपि यह मोड़ ग्रामीण समाज के पूर्वावस्थित ध्रुवीकरण पर सान चढ़ाने का भी काम कर रहा है। स्पष्ट है कि "हरित क्रान्ति" का योग्य लाभ यदि छोटे किसानों, रैयतों तथा भूमिहीन खेतिहरों को शीघ्र प्राप्त नहीं कराया गया तो असंतोष की ज्वाला हजारों गाँवों से फूट पड़ेगी। वर्तमान दशक की यह एक बड़ी से बड़ी चुनौती होगी। पिछले दशक में यद्यपि औद्योगिक प्रतिसरण (recession) हुआ, तथापि दशक के अन्त होते-होते औद्योगिक विकास-रेखा ऊपर उठने लगी। यदि राजनीतिक अयोग्यताओं ने इस उत्थान को रोक या नीचे की ओर मोड़ नहीं दिया तो ऐसा मानना पड़ेगा कि पिछला निराशा भरा दशक प्रस्तुत दशक के आरोहण के लिए एक सीढ़ी बन गया।

परन्तु राजनीति ही तो इस दशक का सबसे बड़ा प्रश्न चिह्न बन गयी है। इसकी कुछ प्रवृत्तियां (trends) स्पष्ट दीखती हैं। राजनीतिक विघटन जारी रहेगा। दलों के सैद्धान्तिक ध्रुवीकरण के बदले स्वार्थ-प्रेरित अपखंडन चालू रहेगा। मतवादों का अवमूल्यन कायम रहेगा। जातीय भावना एवं निजी स्वार्थ के अभिप्राय से दल-बदल, विधायकों की खरीद-बिक्री, दलों की आन्तरिक अनुशासन हीनता, सिद्धान्त विहीन संविदों का अवसरवादी गठन, शासकीय अस्थिरता—यह सब कायम रहेंगे।

यह परिस्थिति आप सबके लिए, देश के हम सब नागरिकों के लिये एक चुनौती है और एक सम्भावना भी। यदि हम सब किसी चमत्कार की अपेक्षा में बैठे रहेंगे कि कोई

प्रतिभावन नेता आकर हमारा उद्धार कर देगा, कोई अधिनायक या नया राजनीतिक दल जन्म लेकर यह सब कूड़ा कचरा साफ कर देगा, तो मैं नम्रतापूर्वक यही निवेदन करूंगा कि हम सबने अपनी बुद्धि ताख पर रख दी है और अपने नागरिक धर्म को तिलांजलि दे दी है।

तब प्रश्न है कि हमें क्या करना चाहिए। उत्तर स्पष्ट है। एक लोकतांत्रिक राष्ट्र के नागरिकों का जो कर्तव्य है उसे हमें समझना तथा निभाना चाहिए। आज राजनीतिक नेता, विधायक, मंत्री आदि निरंकुश बन रहे हैं। जनमत का उन्हें भय नहीं। अपने मतदाताओं का भय नहीं क्योंकि वे प्रबुद्ध तथा संगठित नहीं। राजनीतिक दल अपना-अपना प्रचार अवश्य करते हैं, पर उससे स्वस्थ, निष्पक्ष जनमत नहीं बन पाता—ऐसा जनमत जो दल से ऊपर उठकर अच्छे बुरे के सम्बन्ध म, नीति-अनीति के सम्बन्ध में, न्याय-अन्याय के सम्बन्ध में प्रभावकारी रूप से प्रकट हो सके। ऐसे स्वस्थ जनमत का निर्माण करना हम सबका परम राष्ट्रीय कर्तव्य हैं। दुर्भाग्य से विद्वत् समुदाय पिछले वर्षों मे इस कर्तव्य से विमुख रहा है, यद्यपि कुछ शिक्षक तथा विद्यार्थी दलगत राजनीत में भाग लेते रहते हैं। वैसा करना जिसको रूचेगा वह तो करेगें ही, परन्तु उससे दल निरपेक्ष एक ऐसे जनमत का निर्माण नहीं होगा जिसका प्रभाव सभी दलों पर पड़े। दलमत तथा जनमत के महत्वपूर्ण भेद को हमें समझना और समझाना पड़ेगा। इस हेतु नगर-नगर में लोकतंत्र रक्षण सभाएं (Societies for the Defence of Democracy) कायम की जा सकती हैं।

इस सन्दर्भ में दूसरा कार्य, जो कुछ माने में पूर्वोक्त कार्य से भी अधिक महत्व रखता है, यह होगा कि मतदाताओं से व्यापक सम्पर्क तथा उनका उद्बोधन किया जाय। लोकतंत्र में मतदाता भाग्यविधाता माने गये हैं, परन्तु व्यवहार में मतप्रार्थी ही उनके भाग्यविधाता बन गये हैं व्यापक अशिक्षा मतदाताओं की प्रबुद्धता में बाधक अवश्य हो रही है, परन्तु इसके माने यह नहीं कि जब तक वह शिक्षित नहीं हो जायेंगे तब तक वह विचारपूर्वक मतदान कर ही नहीं पायेंगे। भारत में श्रवण से ज्ञानों पार्जन की परम्परा रही है, इसलिए अशिक्षित भारतीय जनता मे अप्रत्याशित रूप से बौद्धित प्रौढ़ता पायी जाती है। आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें जाग्रत किया जाय, मतदान के अपने अमूल्य अधिकार का उचित उपयोग बताया जाय। यह प्रशिक्षण इस प्रचार से कहीं अधिक महत्व का है कि किस दल या उम्मीदवार को मत दिया जाय। मतदाता रुपयों के लिए वोट न दें, जाति के नाम पर, किसी प्रकार के प्रलोभन अथवा दवाव के वश होकर वोट न दें। उम्मीदवारों में जो चरित्रवान हों, जिन्होंने दल बदल न किया हो, जो शराबी न हों, जो जातिवादी या सम्प्रदायवादी न हों, जो बेदखली आदि करके गरीबों को सताते न हों तथा जिनके कार्यक्रम और नीति (Programme and policy) उन्हें उपयुक्त लगे ऐसे उम्मीदवारों को मतदाता अपना मतदान करें। परन्तु हम सभी जानते हैं कि आज वस्तु-स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न है। इस दशक में यदि यह कार्य हम नहीं करेंगे तो हमारे देश तथा लोकतंत्र का भविष्य अन्धकारमय बन जायेगा।

इतना ही नहीं। मतदान सूची की जांच करनी होगी और उसकी अशुद्धियों को दुरूस्त कराना होगा। निर्वाचन के समय मतदान कक्ष पर नागरिकों के जत्थे, जिनमें प्रौढ़ विद्यार्थी भी हों, जाने चाहिए जिनका यह दायित्व हो कि वहां किसी प्रकार का अनैतिक

कृत्य कोई न करने पाये, जैसे बल प्रयोग, बोगस वोट आदि। जाहिर है कि यह सब वही नागरिक कर सकते हैं जो निष्पक्षता तथा प्रामाणिकता का निर्वाह कर सकते हों। अब जब कि आम चुनाव एक-एक दो-दो दिन में होने लगे तब न (Presiding officer) न उनके सहायक (agent) इस दर्जे के मिल पाते हैं, न पुलिस की चौकसी ही ऐसी हो पाती है कि चुनाव उचित रीति से सम्पन्न हो सके। चुनाव के समय झूठ का बाजार गर्म हो जाता है और गाली गलौज आम बात हो जाती है। दलों की चुनाव घोषणाओं 'तथा उम्मीदवारों की कृतिओं की प्रामाणिक जानकारी मतदाताओं को देना आवश्यक होता है। यदि विश्वविद्यालयों तथा अन्य विद्यालयों के शिक्षक एवं विद्यार्थी निष्पक्ष भाव से यह सब कार्य अपने हाथों में लें और सामान्य नागरिकों का सहयोग उन्हें प्राप्त हो तो वर्तमान राजनीति में जो दुर्बलता, अस्थिरता, अवसरवादिता, स्वार्थपरता आदि दोष पैदा हो गये हैं उनको दूर किया जा सकता है। क्या इस देश के शैक्षिक समाज से इतनी सेवा अपेक्षित नहीं है ? इस कार्य को यदि (दलगत) राजनीति में भाग लेना माना जाय तो वह अन्याय होगा। यह तो लोकशिक्षण का एक उत्तम कार्यक्रम होगा।

इस सिलसिले में एक और बात कह दूं। जहां आजकल राजनीतिक गिरावट और भ्रष्टाचार की इतनी चर्चा है कि वहां क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि किसी निर्वाचन क्षेत्र में मतदाताओं ने इकट्ठे होकर अपने प्रतिनिधि के भ्रष्टाचार की निन्दा नहीं की है; विधायकों पर अंतिम अंकुश तो मतदाताओं का मत प्रकाशन ही हो सकता है। इसके लिए भी आवश्यक है कि निष्पक्ष नागरिक मतदाताओं को जाग्रत और उद्यत करें। इन महत्वपूर्ण राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मतदाता उद्बोधन सभाएं (Voters' Education Societies) व्यापक रूप से देश भर में बनाई जा सकती है।

अन्त में स्वयं राजनीतिक दलों का हाल देखिए। पार्टियां कतिपय राजनीतिक खिलाड़ियों का अखाड़ा बनी हुई हैं। आम तौर पर उनके पीछे सदस्यों अथवा वर्गों या जनसमूहों का कोई उपार्पित (Committed) बल नहीं है जो उनको सीधे मार्ग पर चला सके। इसलिए पार्टियां थोड़े से लोगों के स्वार्थ सेवन का माध्यम बनी हुई हैं। पार्टियों को समुचित विचाराधारित संगठन करना हमारे आपके हाथों में नहीं है। परन्तु हमारे पास यह शक्ति अवश्य है कि मतदाता उद्बोधन-संगठन तथा गणतंत्र रक्षण कार्यक्रमों तथा संस्थाओं के द्वारा उन्हें हम सही मार्ग पर चलने को बाध्य कर सकें।

अब तक इस दशक की राजनीतिक चुनौतियों एवं संभावनाओं तथा उनके प्रति आप तथा सर्वसाधारण के उत्तरदायित्वों की चर्चा करता रहा। मुझे विश्वास है कि यदि हम सबने इन दायित्वों का भलीभाति निर्वाह किया तो यह दशक भारतीय लोकतंत्र के इतिहास में सबसे सृजनात्मक एवं युगान्तरकारी अध्याय सिद्ध होगा।

एक और विधायक वार्ता। आप जानते हैं कि प्रारम्भ से ही अन्य पिछड़े देशों की भांति इस देश की दो समस्याएं हैं: परिवर्तन एवं विकास (Change and development) इन दोनों समस्याओं के संबंध में आरम्भ से ही एक बड़ी भूल हुई चली आती है। उस भूल को गांधी जी ने सुधारने का प्रयत्न किया था, परन्तु उन्हें यथेष्ट समय नहीं मिला।

भूल यह थी, और है, कि परिवर्तन एवं विकास दोनों ही राज्यशक्ति के द्वारा सम्पादित हो सकते हैं। केवल गांधी जी राज्यशक्ति की मर्यादाएं जानते थे, इसलिए उसमें जनशक्ति का पुट डालना चाहते थे। साथ-साथ वह यह भी जानते थे कि इस देश की जनता का परम्परागत सहज अभिक्रम ब्रिटिश काल में सोच बूझ कर नष्ट कर दिया गया था जिसके फलस्वरूप स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी जाग्रत, संगठित विधायक जनशक्ति का देश में अभाव बना रहा, जनमानस में आत्मविश्वास और स्वावलंबन के भावों के बदले 'सरकार मां बाप' का परावलम्बी भाव भरा था। उसके पूर्व के भारत में हजारों बरस पुरानी ग्राम संस्थाएं थीं, नगरों में व्यापारियों तथा कारीगरों की श्रेष्ठियां थीं, जाति पंचायतें थीं, शासन से स्वतंत्र जनाश्रित ऋषिकुल, गुरुकुल, विहार थे, साधु-संत भिक्षुओं की परम्परा थी। इन सबके चलते राजनीतिक उथल-पुथल के बावजूद राष्ट्र जीवन का विविध प्रवाह सदा बहता रहा। ब्रिटिश काल में यह संस्थाएं, परम्पराएं या तो तोड़ दी गईं या निर्वीर्य बना दी गईं। यह सब गांधी जी के ध्यान में था, इसलिए जनशक्ति को जाग्रत संगठित करने की योजना वह कर रहे थे। राष्ट्रनिर्माण के लिए कुल भारतीय जनता को संचालित करने के उपाय सोच रहे थे। परन्तु वह सब उनके साथ चला गया। उनको गये २२ वर्ष बीते। विनोवाजी ने उनकी इंगित दिशा में कुछ कार्य किया है। परन्तु अभी तो बहुत कुछ करना है।

प्रश्न उठ सकता है कि परिवर्तन और विकास के सन्दर्भ में राज्य सत्ता की क्या मर्यादाएं हैं? एक तो यह कि केवल हुक्म से, कानून से, पैसों से परिवर्तन नहीं हो सकता। उसके लिए लोगों को समझाकर उनका मानस परिवर्तन करना आवश्यक है। अस्पृश्यता, शराब बंदी, तिलक दहेज, भूमि सुधार, अधिकतम ब्याज, न्यूनतम मजदूरी, आयकर, मूल्य नियंत्रण, कंट्रोल आदि विषयक अनेक कानून बने पड़े हैं। परन्तु उनका कितना भाग कार्यान्वित हुआ है? पूंजीवाद साधारणजन के मानस में बैठा है। समाजवाद केवल कानून से नहीं स्थापित हो सकता। वह एक जीवन पद्धति है, एक मूल्य प्रणाली (Value system) है जो कानून के दबाव से नहीं परन्तु एक व्यापक शैक्षिक प्रयास (Educative effort) से ही प्रस्थापित हो सकते हैं। यह तो स्वैच्छिक सेवक और संस्थाएं ही कर सकती हैं।

विकास के संबंध में भी यही स्थिति है और इसे तो सत्ता वाले भी मान्य करते हैं। यानी वह कहते हैं कि जन सहयोग के अभाव में विकास योजनाएं उतना सफल नहीं हुई जितना अपेक्षित था। बात वास्तव में जन सहयोग की नहीं बल्कि जनता के अभिक्रम को जगाने की है। यदि वह हो जाय तो जनता स्वयं सम्मिलित हो अपना कार्य करने लगेगी और प्रश्न जन सहयोग का न होकर जनता के साथ सत्ता के सहयोग का बन जायेगा। परन्तु जनता का अभिक्रम हुक्म और हाकिम, ऊपर की बनी योजनाओं और ऊपर के पैसों के द्वारा नहीं जगाया जा सकता। इसका सबूत तो सामुदायिक विकास योजनाओं ने स्वयं किया जब कि उनके कारण गांवों का रहा सहा पारम्परिक सहयोग भी लुप्त हो गया। यह कार्य भी स्वैच्छिक सेवक ही जनता के बीच जाकर उनकी सेवाकर, उनकी बातें समझ कर और उन्हें समझाकर कर सकते हैं।

इस प्रकार परिवर्तन तथा विकास दोनों ही के लिए हजारों लाखों स्वैच्छिक सेवकों की आवश्यकता है। परन्तु कहाँ से ऐसे युवक, ऐसे नागरिक जो अपना खाली समय भी राष्ट्र निर्माण के कार्यों में लगाये ? राजनीति का वीभत्स नग्न रूप सामने है, परन्तु उसी का अधिक आकर्षण है, उसी की चर्चा है, उसी की धूम है जैसे देश का भविष्य उसी पर अवलंबित है। मित्रो ! स्नातकों ! क्या मैं आशा करूँ कि आप लोग कुछ नये ढंग से सोचेंगे, कुछ नया और ठोस काम करेंगे ? प्रस्तुत दशक प्रारम्भ में ही यह चेतावनी दे रहा है कि परिवर्तन तथा विकास की गति तीव्रतर और पुनः तीव्रतर नहीं हुई तो यह देश उठ न पायेगा। ५४ करोड़ की वर्तमान जनसंख्या १९८० में ६६ करोड़ ५० लाख हो जायेगी, और वह भी यदि परिवार नियोजन का काम सफलता से चलता रहा। १ करोड़ ३० लाख जो बेकारों की वर्तमान संख्या है वह चतुर्थ पंचवार्षिक योजना की समाप्ति पर दूना से भी अधिक बढ़कर २ करोड़ ७० लाख हो जायेगी। इतने ही आँकड़े यह चेतावनी देने के लिए काफी हैं कि अब समय नहीं है कि शासनकर्ताओं की ओर अपनी जिम्मेदारी टाल कर हम राष्ट्र ऋण से मुक्त हो जाँय। इस राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के स्नातक के नाते आप से अपेक्षा है कि भारत जननी का ऋण आप अवश्य उतारेंगे।

इस दशक की राजनीतिक सम्भावनाओं तथा चुनौतियों के सन्दर्भ में दो शब्द राजनीतिक नेताओं तथा सत्ताधारियों से निवेदन करना चाहता हूँ। १९६७ में लोकसभा ने एक प्रस्ताव के द्वारा केन्द्रीय शासन को आदेश दिया था कि दल बदल के रोग का इलाज ढूढ़ने के लिए एक सर्वदलीय समिति नियुक्त की जाय। जैसा आपको विदित होगा वह समिति श्री यशवंतराव चह्वाण के नेतृत्व में गठित हुई और पिछले वर्ष के पूर्वार्द्ध में उसने अपना प्रतिवेदन भी समर्पित कर दिया। उस समिति के एक सदस्य तथा नागरिक के नाते मेरा आग्रह है कि उस प्रतिवेदन के आधार पर भारत सरकार लोक सभा के अगले सत्र में विधेयक अवश्य उपस्थित करे।

वर्तमान जन प्रतिनिधित्व अधिनियम (Peoples' Representation Act) में कुछ संशोधन आवश्यकीय मालूम होते हैं। चुनाव बहुत खर्चीला हो गया है और अधिकतर खर्चीला होता जा रहा है। इसकी चर्चा बराबर होती रहती है, परन्तु कोई उपाय नहीं किया जाता। बहुत वर्ष पूर्व ही स्वर्गीय राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद जी ने इसकी ओर पंडित जवाहरलाल जी का ध्यान खींचा था। चुनाव के दर्म्यान जो अनीतियाँ होती हैं वह भी बढ़ती जा रही हैं। पार्टियों की संख्या में भी वृद्धि होती जा रही है जिसके परिणाम स्वरूप अन्य दुर्गुणों के साथ-साथ यह भी, यदि सामान्यतः नहीं तो अक्सर, हो रहा है कि विधान सभाओं के प्रतिनिधि कुल मत-पत्रों के बहुत थोड़े शतांश के आधार पर निर्वाचित हो जाते हैं। अन्य भी दोष निर्वाचन पद्धति में प्रकट हुए हैं। यह समुचित नहीं होगा कि इन दोषों के उपाय यहाँ सुझायें जाँय। परन्तु यह सुझाव अवश्य रखना चाहता हूँ कि लोक सभा अथवा भारत सरकार एक उच्च स्तरीय समिति वर्तमान अधिनियम के संशोधन के लिए अविलम्ब नियुक्त करे। अच्छा हो कि यह समिति अपना प्रतिवेदन शीघ्र दे ताकि अगले आम चुनाव के पहले अधिनियम में संशोधन किया जा सके।

एक और भी समस्या है जो दिन पर दिन स्पष्टत: सामने आ रही है, और जिसके समाधान के लिए संविधान में संशोधन लाजमी लगता है। आधे से अधिक राज्यों में राजनैतिक अस्थिरता की मैं बात कर चुका हूँ। यही समस्या कांग्रेस के दो खंडों में बटने से अब केन्द्र की सरकार अभी-अभी टूटने वाली नहीं है। पर निकट भविष्य में ऐसी भी समस्या इस देश में सामने आ सकती है इस तथ्य से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। अगर अभी से इस प्रकार की आपत्तिकालीन समस्या के लिए संविधान में वैधानिक एवं संस्थात्मक व्यवस्था न की गई तो, राज्यों की व्यापक अस्थिरता के साथ-साथ केन्द्रीय अस्थिरता के परिणाम राजनीति एवं आर्थिक दृष्टि से भयंकर हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति शासन की व्यवस्था है, परन्तु केन्द्र में इस शासन का क्या स्वरूप हो इसकी स्पष्टता संविधान में नहीं है। १९६७ के आम चुनावों से उत्पन्न परिस्थिति के संदर्भ में एक सर्व दलीय परिषद् का आयोजन हुआ था (Council for national conventions) जिसमें स्वतंत्र पार्टी को छोड़कर सभी राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों का सहयोग था। अन्य सुझावों के साथ-साथ परिषद् ने यह भी सुझाव दिया था कि केन्द्रीय स्तर पर एक परामर्शदात्री परिषद् का गठन होना चाहिए। जिसे (President's Council) कहा गया है। ऐसी परिषद् के कार्य क्षेत्र दर्शाने का भी प्रयास किया गया था जैसे (१) राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करना, (२) राज्य विधान मण्डलों को भंग करना, (३) राज्यपालों की नियुक्ति इत्यादि पेचीदे तथा महत्वपूर्ण विषयों पर राष्ट्रपति को परामर्श देना। यह स्पष्ट कर दिया गया था कि इस परामर्शदात्री परिषद् का उद्देश्य किसी प्रकार केन्द्रीय सरकार के अधिकारों को सीमित करना नहीं है परन्तु जनमानस में उत्पन्न शंकाओं तथा संशयों का समाधान करना है कि केन्द्र में सत्तारूढ़ राजनैतिक दल राज्यापालों को अपने पक्षीय हित की दृष्टि से, परोक्ष रूप में ही सही, उपयोग कर सकता है।

इस परिषद् के गठन के विषय में भी कुछ सुझाव रखे गये थे—इनमें कहा गयां था कि उपराष्ट्रपति इसके संयोजक (Convener) हों और इनके सदस्य हों—प्रधान मंत्री या उनकी अनुपस्थिति में उनके मनोनीत व्यक्ति एक भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश और पांच अन्य व्यक्ति जो अपनी निष्ठा एवं समदृष्टि से जाने-माने हों। इन पांच व्यक्तियों का मनोनयन या तो लोक सभा के अध्यक्ष के सभापतित्व में गठित राज्य विधान सभाओं के अध्यक्ष-गणों का निर्वाचक मण्डल करे या राष्ट्रपति, केन्द्रीय संसद में विभिन्न दलों के नेताओं के परामर्श पर (सर्वसम्मति के आधार पर) इनका मनोनयन करें। मुझे ऐसा लगता है, और यह जाहिर भी हो गया है कि आज की राजनैतिक परिस्थिति में इस प्रकार की व्यवस्था जरूरी हो गई है। जिस सुझाव का मैंने अभी तक ज़िक्र किया वह अपने में सम्पूर्ण या अन्तिम नहीं है। यह तो एक सुझाव मात्र है जो इस समस्या की ओर इंगित करता है। जब यह सुझाव रखा गया था, तब की और आज की राजनैतिक परिस्थिति में दो वर्षों के बीच ही अनापेक्षित उतार आए हैं अतः इस दिशा में शीघ्र ही निश्चित कदम उठाने चाहिए। इस बात पर बार-बार बल देना मैं ज़रूरी नहीं समझता।

आगे चलकर मैंने भारतीय संविधान की धारा संख्या २६३ को संशोधित कर केन्द्र और राज्य के बीच के विवादों पर निर्णय लेने के लिए एक संवैधानिक परिषद् की भी बात कही है। इन दोनों का भेद मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। संवैधानिक परिषद् के निर्णय उच्च न्यायालयों के निर्णयों की भांति बाध्य होंगे और वह विवादास्पद मामलों पर निर्णय करेगी। राष्ट्रपति परिषद् एक परामर्शदात्री परिषद् होगी। हाँ मैं सोचता हूँ कि उसे सबल बनाने के लिए यह जरूरी होगा कि उसे समय-समय पर जो भी परामर्श यह राष्ट्रपति को दे उन्हें लाजमीं तौर पर जनसाधारण की सूचना के लिए प्रकाशित किया जाय।

प्रस्तुत संदर्भ में मेरे तीन अन्य छोटे-छोटे सुझाव हैं, यद्यपि मुझें वह महत्वपूर्ण लगते हैं। एक तो प्रशासनिक सुधार के विषय में है। स्वराज्य के प्रारम्भ से अगरेजों की विरासत के रूप में जो प्रशासन व्यवस्था हमें प्राप्त हुई उसकी कटु आलोचना जवाहर लाल जी से लेकर इन्दिरा जी तक सबने की है। उसके विषय में "out datied" विशेषण का प्रयोग तो अति सामान्य है। परन्तु विस्मय इस बात पर होता है कि यद्यपि इस व्यवस्था में सुधार लाने के लिए कई समितियों ने सुझाव दिए हैं, यह आत्मा की तरह अपरिवर्तनीय है। जब कभी यह प्रश्न उठाया जाता है, एक समिति गठित कर दी जाती है, वह विद्वतापूर्ण प्रतिवेदन यथा समय पेश कर देती है और वह प्रतिवेदन वैताल की तरह पीपल के डाल पर फिर जा लटकता है। कल ही आकाशवाणी सुनी कि एक नूतनतम मुख्यमंत्री ने घोषित किया है कि वह गम्भीरतापूर्वक सोच रहे हैं कि अपने प्रदेश में एक प्रशासनिक जांच समिति शीघ्र नियुक्त करें। यदि यह महोदय समिति की रिपोर्ट आने तक अपने पद पर कायम भी रहते हैं तो भी मुझे सन्देह नहीं कि उसकी अनुशंसाओं का भी वही हाल होगा जो ऐपलबी कमेटी से लेकर आजतक की कमिटियों की सिफारिशों का हुआ है। आवश्यकता इस बात की नहीं है कि इस विषय का बार-बार अध्ययन किया जाय, बल्कि इस बात की है कि अब तक के अनुभवों तथा अध्ययनों के आधार पर साहस के साथ आवश्यक मूलगामी सुधार अविलम्ब किये जांय। एक लोक सेवक की हैसियत से अपने अनुभवों के आधार पर यह निःसंकोच कह सकता हूँ कि यदि ऐसा शीघ्र नहीं किया गया तो देश का विकास, अच्छी से अच्छी सरकारी नीतियों का कार्यान्वयन, लोक कल्याण के कार्य, सब मन्द पड़े रह जायेंगे।

दूसरा सुझाव है कि राज्यों के परस्पर विवादों तथा राज्य और केन्द्र के बीच के विवादों के विषय में। वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति में, जिसके विश्लेषण की पुनः आवश्यकता नहीं, यह राष्ट्रहित में अत्यन्त अवांछनीय होगा कि इन विवादों के फैसले दलगत राजनीति के अवसरवादी हाथों में छोड़े जांय। इसके लिए उत्तम यह होगा कि भारतीय संविधान की धारा २६३ को संशोधित करके एक संवैधानिक परिषद् गठित कर दी जाय जो इन सभी विवादों पर विचार कर निर्णय दिया करे जो उसी प्रकार मान्य हों जिस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय। यदि ऐसा नहीं किया गया तो राष्ट्र की एकता राजनीति के दल-दल में डूब जा सकती है।

मेरा अंतिम सुझाव है विकास कार्यों को राजनीतिक उलटफेर से अलग रखने के संबंध में। मेरा निजी अनुभव है कि मंत्रिमण्डलों के बार-बार टूटने और बनने के कारण विकास के कार्य कुंठित हो जाते हैं। बिहार में सन् १९६६-६७ के भयंकर दुष्काल के कारण वहाँ के 'किसानों में जो जागृति हुई थी उसका लाभ प्रदेश को इसलिए नहीं मिल सका कि शासन बार-बार बदलता रहा। इस कारण से प्रशासन ठप पड़ गया, नीतियाँ अनिश्चित हो गईं। यही हाल औद्योगिक विकास का, शिक्षा आदि का हुआ। मुझे लगता है, जैसा पहले कह चुका हूँ, कि यह शासकीय अस्थिरता घटने के बजाय बढ़ने वाली है। इसलिए मेरा सुझाव है कि हर प्रदेश में एक-एक औद्योगिक विकास और कृषि विकास निगम कायम किये जांय जो ईमानदारी से स्वायत शासित (autonomous) हों। इस प्रकार के निगम आज भी कुछ प्रदेशों में कायम हैं परन्तु उनका स्वायत्त शासनाधिकार एक बहाना मात्र है। इनसे कोई लाभ नहीं सिवा इसके कि अफसरों के लिए कुछ और ऊँचे पद उपलब्ध हो जाते हैं और मंत्रियों के लिए कृपा भाजन बनाने (patronage) के अवसर। यदि राजनीतिक नेता और ऊँचे पदाधिकारी सच्चाई से अपना अधिकार छोड़ने को तैयार हों तो ऐसे स्वायत्तशासित निगम गठित करना कठिन नहीं होगा जो सरकारी विभाग की तरह नहीं बल्कि स्वतंत्र व्यवसायी संस्थाओं की तरह काम करें।

संकल्प किया था कि श्रवण कष्ट कम दूंगा, परन्तु आपको कष्ट तो बहुत दिया। इसके लिए क्षमा प्रार्थी हूं।

दीक्षान्त भाषण

डा० कर्णसिंह

कुलपति महोदय, श्री काशीनरेश, उपस्थित महानुभाव तथा मेरे युवा मित्रों !

महामना का साकार स्वप्न काशी हिन्दू विश्वविद्यालय आज अपने जीवन के ५० वर्ष पूरे कर स्वर्ण जयन्ती मना रहा है और विश्वनाथ की रंग भरी राजधानी काशी अपने अनन्त इतिहास के इस आधुनिक सृजन को अभिमान से निहार रही है। निर्मला गंगा भाव विभोर हो इसके चरण धोती है, जिसने सत्य की अंतिम कसौटी पर परखकर हरिश्चन्द्र को सदा के लिये आदर्श बना दिया, जिस धरती पर तथागत का धर्म-चक्र सर्वप्रथम चला, जिसे तांडव में रमे शंकर की सती को स्पर्श करने का सौभाग्य मिला, उसी उत्तराधिकार के रुपहले संगम वाराणसी को मेरे सादर नमन।

इस स्वर्ण जयन्ती के ऐतिहासिक अवसर पर मैं आपको हार्दिक बधाई देता हूँ, न केवल उन विद्यार्थियों, अध्यापकों और कर्मचारियों को जो इस समय यहाँ उपस्थित हैं वरन् उन सबको जिनका पिछले ५० वर्ष में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से संबध रहा है। मैं इसे अपना सौभाग्य समझता हूँ कि मेरा परिवार तीन पीढ़ियों से इस महान विद्या-केन्द्र से संबंध रखता चला आ रहा है।

आप सरस्वती के उपासक हैं, ज्ञानोदय की आराधना आपका ध्येय है। आज अब बसंत पंचमी के शुभ अवसर पर शारदापीठ काश्मीर की सारस्वत परम्पराओं का बहुरंगी आकर्षक गजरा आपको भेंट करता हूँ। आप वरण करें काश्मीर का, माँ सरस्वती के उपासक गले मिलें और एक ऐसी कंचना भाव-भूमि की रचना करें जिसके वातावरण में राष्ट्र का अभ्युदय हो ओर सर्जना हो महामना की मूर्त कल्पना की।

वह कल्पना क्या थी ? वे कौन से रत्न थे जिन्हें भारतीय संस्कृति से बटोरकर उन्होंने हमारे चरित्रों में जड़ना चाहा और रचना चाहा एक ऐसा भव्य विद्या-भवन जिसमें कर्मठ राष्ट्र निर्माता ढाले जा सकें ? कौन थे वे आदर्श जिनसे प्रेरित हो उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की ? धर्म का कौन सा स्वरूप उन्हें प्रोत्साहित कर रहा था ? आइये हम मिलकर आज मालवीय जी के इस क्रान्तिदर्शी सृजन को नवीन परि-प्रेक्ष्य से देखें।

इसी विश्वविद्यालय के बारहवें दीक्षांत समारोह में बोलते हुए उन्होंने छात्रों से कहा था :

"सत्य कहो, सत्य पर आचरण करो······
और सत्य को ही अपने मानस में उतारो।"

कुलाधिपति डा० कर्णसिंह का काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्वर्ण जयन्ती समावर्तन समारोह के अवसर पर दिया गया दीक्षान्त भाषण, मंगलवार, १४ फरवरी १९६७ ई०।

सर्वव्यापक सत्य ही पूर्ण प्रकाश है। समय अथवा स्थान की सीमाएँ इसे कभी नहीं बाँध पाई। आदर्श बदल सकते हैं, सिद्धान्त ढल सकते हैं, मान्यताएँ परिवर्तित हो सकती हैं परन्तु विश्व नापने वाला सत्य उस विराट मनोहर के अस्तित्व में लीन हो केवल वही होकर रह जाता है। सत्य पर किसी विशेष मत या संप्रदाय का एकाधिकार नहीं। यह तो "वह ज्योति पुंज है जिसका यश गान उपनिषदों में मुखर है :

"तमेव भान्त मनुभाति सर्वं
तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति ॥

यही कारण है कि हमारी संस्कृति में सत्य के विभिन्न स्वरूपों को मान्यता प्रदान की गई है। इसी प्रेरणा से अभिभूत हो ऋग्वेद ने पुकारा :

'आ नो भद्राः क्रत्वो यन्तु विश्वतः'

और हमें हर दिशा से आने वाले उत्तम विचारों की अभ्यर्थना करने को प्रेरित किया। इसे इष्ट मान यहाँ समय-समय पर महान आत्माएँ अवतरित हुईं और भारतीय चिंतन को बरदायी मोड़ दे नए-नए चिरन्तन सत्यों के केन्द्र विन्दु का उद्घाटन हुआ। यह सत्य हमें शिव की ओर ले गया, शिव हमें सुन्दर की ओर ले गया और सुन्दर ले गया एक त्रिमुखी आधारभूत की ओर जिसने हमारी धार्मिक परम्परा को जन्म दिया।

महामना भारत की नेतृत्व प्रतिभा को पहिचानते थे। एक सुनहले भविष्य की रूपरेखा उनकी कल्पना में उभर चुकी थी जिसे साकार करने के लिए समाज के सर्वाधिक क्रियाशील अंग के सहयोग की आवश्यकता थी। उन्होंने अनुभव किया कि आदर्श चरित्रों के अधिकारी युवक-युवतियाँ ही भविष्य का सामना कर सकते हैं, परन्तु उन्हें ऐसी शिक्षा के माध्यम से तैयार करना होगा जो आधुनिक होने के साथ-साथ धर्म और नीति पर भी पर्याप्त बल दे। स्वराष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के लिये, अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव की वृद्धि के लिए और निखिल मानवता को आध्यात्मिक गंगा में नहलाने के लिये ही मालवीय जी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की थी।

आज अंतरराष्ट्रीय ख्याति का यह विद्या केन्द्र उस पुण्यात्मा का जीवित स्मारक है जिसने इसके माध्यम से भारत माँ को स्वतंत्र कराने का स्वप्न देखा था। महामना के ही शब्दों में :

"यह तुम्हारा अपना देश है—औरों से न्यारा सबसे बढ़ चढ़ कर—तुम्हारा सर्वस्व इसे समर्पित हो—तुम्हारा जीवन इसकी सांस्कृतिक एकता की रक्षा करने में काम आए—तुम सार्वजनिक कल्याण के लिये उत्सर्ग हो—तुम तन से, मन से, धन से राष्ट्र को स्वाधीनता की ओर अग्रसर करो।"

पिछले ५० वर्ष प्रमाण हैं कि यह विश्वविद्यालय अपने संस्थापक की अपेक्षाओं को पूरा करने में सफल रहा है। देश के स्वतंत्रता संग्राम में आपने जो महान् योगदान दिया वह इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जायेगा। हमारे आदरणीय राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने इस विश्वविद्यालय के कुलपति पद को सुशोभित किया तथा इनके अतिरिक्त अन्य कई महापुरुष भी इससे संबंधित रहे।

आपकी तरुणाई ने देश को झंकार ही नहीं दी वरन् शिक्षा के क्षेत्र में भी नए प्रतिमान स्थापित किए हैं। दूरदर्शी महामना ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को धार्मिक आधारों पर स्थापित करते हुए वैज्ञानिक और टेक्निकल शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जो अतीत को वर्तमान से जोड़ने का महनीय प्रयास था। वह इस तथ्य से भली प्रकार परिचित थे कि बीसवीं शताब्दी में भारत की विकास संभावनाएँ तभी साकार हो सकती हैं जब हमारी युवा पीढ़ी का मानसिक रुझान वैज्ञानिक रूप से परिष्कृत हो और हम नई परम्पराओं में भी उतने ही दक्ष हों जितने सुनहले पुरातन में। वास्तव में नए भारत के निर्माण में दर्शन की गंगा और विज्ञान की जमुना का संगमं ही कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है। दोनों की मनहर आभा से निखरा व्यक्तित्व ही आज की आवश्यकता है, जिस पर हमारे भविष्य का संतुलित संचालन निर्भर है। मेरा विश्वास है कि इस विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राएँ इस दृष्टि से पूर्णतया संपन्न हो देश को नेतृत्व देने की अपनी भव्य परम्परा जारी रखेंगें।

प्रतियोगिता के आधुनिक युग में आपको हर चरण पर अपनी परिपक्वता का प्रमाण देना है। भविष्य को अपने अनुकूल बनाने के लिए हमें अपनी हर निर्बलता को जड़-मूल से निकाल फेंकना होगा ताकि आने वाली पीढ़ियाँ हमारे योगदान का मूल्यांकन करते समय गौरव का अनुभव करें। इस संदर्भ में देश में फैलती उच्छृंखलता एक गंभीर रोग का लक्षण है। युवा रक्त का वह गर्म उफान जिसे नए भारत के निर्माण में योगदान देना चाहिए था पारस्परिक झगड़ों में सूख रहा है। कैसी विडंबना है यह? अपने मूल्यों में इतनी रचनात्मक शक्ति होते हुए भी अपनी ही निर्बलता से हम व्यवस्थित लोकतंत्री जीवन को भंग करने पर तुल से गए हैं। परन्तु केवल निन्दा ही पर्याप्त नहीं। इस झुंझलाहट और अनुशासन हीनता के कारण हमें अपने अन्दर तलाशने होंगे। वे युवक जिन्हें भारत के रचनात्मक नव-निर्माण म नींव के पत्थर बनना है, जिन्हें आदर्शवाद और समर्पण का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करना है, जिन्हें भविष्य का निर्माण करना है उनकी रचनात्मक शक्तियों में यह कैसी विकृति।

स्पष्ट ही इस समस्या के दो प्रमुख कारण हैं। प्रथम राजनैतिक दलों का छात्र जीवन में हस्तक्षेप जिसके परिणामस्वरूप विद्यार्थी प्रायः शतरंज के मोहरे मात्र बनकर रह जाते हैं। परतंत्र भारत में छात्रों द्वारा राजनीति में भाग लेने का जो भी औचित्य रहा हो, आज की हमारी आवश्यकता कुछ और ही है। राष्ट्र का सर्वांगीण विकास आज का लक्ष्य है और उसके लिये हमें प्रश्रय देना होगा प्रथम श्रेणी के प्रशासकों और नेताओं को। यह तभी सभव है जब देश का छात्र वर्ग राजनीति की सक्रिय सदस्यता में अपनी शक्ति का अपव्यय न कर अध्ययन द्वारा अपने सर्वतोमुखी विकास में व्यस्त रहे। इसका यह अर्थ नहीं कि वे अपने चारों ओर घटने वाली सामयिकी से आँखें मूंद लें। वे देखें सब कुछ, उसका अध्ययन करें और तैयार करें अपने आपको भविष्य में उनके व्यवहारिक पक्ष से जूझने के लिये।

विद्यार्थी समस्या का -दूसरा कारण समाज की जर्जरता है। जिन विकारों का पोषण आधुनिक समाज कर रहा है, वही प्रतिबिंब के रूप में शिक्षण संस्थाओं में लक्षित हो

रहे हैं। क्या यह सत्य नहीं कि हमारा राष्ट्र उत्तरोत्तर अनुशासनहीनता से त्रस्त होता जा रहा है ? आचार और व्यवहार में एकता का अभाव ही समाज में छाए भ्रष्टाचार का अभिशाप है। छात्र अपने चारो ओर जो देख रहा है, वही सीख रहा है और उसी का प्रदर्शन कर रहा है। यह होते हुए भी मुझे भारत की युवा पीढ़ी में पूरा विश्वास है। मैं तो यह चाहूँगा कि यदि समाज आपका सही पथ-प्रदर्शन नहीं करता तो आप स्वयं आगे आकर समाज को नया रास्ता दिखलाइये।

चुनौतियों के असंख्य अम्बार युवा बुद्धिजीवियों को ललकार रहे हैं। 'जन गण मन' का सुरम्य देश आशा से आपको निहार रहा है। हम भारत माता की जय का उद्घोष तो कर रहे हैं परन्तु इसको यथार्थ रूप देने के लिए प्रयास भी करने होंगे। जागृति की इस उषा वेला में हमें सावधान होना होगा। इतिहास कहीं अपने को पुनः न दुहराए। जो बहारें हमसे रूठ गईं उनकी चिन्ता नहीं परन्तु आनेवाला कल हमारा हो। राजनीतिक अखंडता, आर्थिक संपन्नता, विकासोन्मुख समाज और आध्यात्मिक चेतना से सज्जित भारत ही हमारा लक्ष्य है। इन चारों पक्षों का सामुदायिक विकास ही समय की पुकार का सही उत्तर हो सकता है।

और वह उत्तर देगी भारत की नई युवा पीढ़ी। आपका उत्तरदायित्व गंभीर है। नए भारत के निर्माण में आपका सक्रिय सहयोग ही देश की विभिन्न धार्मिक और भाषाई इकाईयों को भावात्मक एकता के सूत्र में पिंरो सकता है। आपको शक्ति और नवल उत्साह का अपना सारा कोष देश पर न्योछावर करना होगा, विभिन्न मतों को एक सूत्र में बाँधने वाले सत्यमय धर्म का आविष्कार करना होगा। आज इस स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर हम सब शपथ लें राष्ट्रीय व्यक्तित्व में विलय होने की—यही महामना को हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी, यही वीणावादिनी सरस्वती की सच्ची आराधना।

———

ऐतिहासिक विवरण
एवं
उपलब्धि खण्ड

पूज्य महामना



हिताय सर्वलोकानां निग्रहाय च दुष्कृतां
धर्मसंस्थापनार्थाय प्रणम्य परमेश्वरम् ।
प्रसादाद्विश्वनाथस्य काश्यां भागीरथीतटे
विश्वविद्यालयः श्रेष्ठः हिन्दूनां मानवर्धनः ॥
हिन्दूराज्याधिपतिभिर्धनिकैर्धार्मिकैस्तथा
मिलित्वा स्थापितः सद्भिर्विद्याधर्मविवृद्धये ॥

जन्म :—वि० सं० १९१८ पौषकृष्ण ८ (२५-१२-१८६१)

देहावसान :—वि० सं० २००३ मार्गशीर्षकृष्ण ४ (१२-११-१९४६)

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का अभ्युदय

४ फरवरी १९१६ को एक विशेष समारोह के रूप में इस पवित्र विद्या मन्दिर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की आधार शिला रखने का पुनीत कार्य सम्पन्न हुआ। यह वह दिन था जब कि कई देश-भक्तों को अनेक वर्षों की कठिन तपस्या, कर्तव्यनिष्ठा, दौड़-धूप, कठोर श्रम, सुनियोजन तथा अँग्रेज शासकों के प्रतिनिधियों से औपचारिक वार्ता के बाद 'माँ-सरस्वती' ने महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी का स्वप्न साकार करके, उन्हें इसके संस्थापक होने का श्रेय प्रदान किया। इस सुअवसर पर उपस्थित असंख्य जनसमुदाय द्वारा 'माँ-सरस्वती' की आराधना की गई। महामना के इस लक्ष्य की वास्तविक प्राप्ति हेतु इस लम्बे तथा कंटकाकीर्ण मार्ग के पाँच प्रमुख आधार स्तंभ इस प्रकार थे: १९०४ में बनारस (अब वाराणसी) के 'मिण्ट हाउस' में निर्धारित एक समिति में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करने के प्रस्ताव पर विचार-विमर्श, १९११ में हिन्दू विश्वविद्यालय संघ (सोसाइटी) का गठन तथा उसका पंजीकरण, १९१२ में अध्यापन एवं आवासीय विश्वविद्यालय बनाने के आदर्श विचार की भारत के तत्कालीन ब्रिटिश सेक्रेटरी आफ स्टेट द्वारा स्वीकृति, १९१५ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का विधेयक पारित होना तथा १९१६ में इस नवीन विश्वविद्यालय में सेण्ट्रल हिन्दू कालेज के विलीन करने की स्वीकारोक्ति।

भारतवर्ष में उस समय कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, लाहौर तथा इलाहाबाद नामक केवल पाँच विश्वविद्यालयों द्वारा विश्वविद्यालय-स्तरीय परीक्षा का प्राविधान था। ऐसे समय में शिक्षा के क्षेत्र में एक नए प्रयोग के रूप में इस आवासीय विश्वविद्यालय का अभ्युदय होना संस्थापकों की विशेष सूझ-बूझ एवं सामयिक आवश्यकता का ज्वलंत उदाहरण है जिससे शिक्षा में रुचि रखने वाले लोगों का केवल व्यक्तिगत लाभ न होकर, यह संस्था सम्पूर्ण समाज के लिए एक वरदान सिद्ध हो। उन्होंने पहले से ही इस तथ्य का आभास कर लिया था कि ऐसे संस्थान की स्थापना से हिन्दू धर्म की अमूल्य निधियों की रक्षा होकर, हिन्दू संस्कृति एवं सभ्यता के निखार के साथ अपने देश कीप्राकृतिक मिट्टी में आधुनिक विज्ञान एवं कला का समावेश होगा।

उक्त कार्य के लिए एक ऐसे उपयुक्त स्थान का चयन करना जिसमें विश्वविद्यालय प्रारम्भ करके, भविष्य में होने वाले प्रसार तथा आधुनिक जीवन की विभिन्न प्रकार की अनगिनत माँगों एवं आवश्यकताओं का ध्यान रखना संस्थापकों के लिए एक विशेष चुनौती का विषय था। विश्वविद्यालय की रजत-जयंती के अवसर पर अपने दीक्षांत भाषण में स्व० डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने इस स्थान तथा इसके संस्थापक के बारे में व्यक्त किए गए विचारों में कहा था कि "शिलान्यास का यह पाषाण; केवल संगमरमर पत्थर का एक टुकड़ा मात्र न होकर, भविष्य में होने वाले सम्पूर्ण नयन गोचर प्रक्षेत्र का द्योतक है। प्रकृति यदि अपनी गोद में जीवन एवं स्मृति का संचय करने की क्षमता रखती है तो काशी के ये पाषाण वेदव्यास के शब्दों, उपनिषद् के वाक्यों, भगवान बुद्ध के उपदेशों, गीता के कथानकों तथा इस पवित्र स्थान के समीपवर्ती अनेक साधु एवं गुरुजनों की कहावतों को मूर्त

रूप देने में सक्षम होंगे। हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना एवं विकास के लिए क्या हमलोग इससे अधिक, अच्छे एवं उपयुक्त स्थान की मीमांसा कर सकते हैं ? और क्या पण्डित मदन-मोहन मालवीय जैसे दूरदर्शी, विनम्र, दृढ़प्रतिज्ञ तथा पर्वतीय वायु की तरह निर्मल विचार-धारा एवं लगन वाले व्यक्तित्व के साथ एक अच्छे पथ-प्रदर्शक, रक्षक तथा समस्त क्रिया-कलापों के निदेशक के रूप में किसी अन्य व्यक्ति को भी इतना उत्कृष्ट सोच सकते हैं ? उन्होंने यहाँ एक ऐसी ज्योति जगाई है जिसका प्रकाश, भगवान की कृपा से, जब तक धरा पर सभ्यता कायम है, जल, स्थल तथा अम्बर तक को समय-समय पर देदीप्यमान करता रहेगा। यहाँ पर यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि जहाँ मनुष्य प्रयासरत हों और देवता उनके सहायक हों, वहाँ विश्वविद्यालय के लिए इससे अधिक अच्छे स्थान तथा संस्थापक की कल्पना करना भी दुरूह होगा।"

प्रत्यक्ष रूप से संगमरमर के टुकड़े के रूप में दिखाई देने वाला विश्वविद्यालय के शिलान्यास का यह भव्य पाषाण; इसके ऐतिहासिक विकास, विलक्षण प्रेरणा शक्ति तथा भारतवर्ष के उन इने-गिने महान् सपूतों के प्रभाव को इंगित करता है जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त इस विशाल विश्वविद्यालय की संरचना में अनेक कठिनाइयों के बाद भी अपना बहुमूल्य योगदान किया है।

भारत के तत्कालीन वायसराय द्वारा स्थापित आधार-शिला पर संस्कृत एवं अंग्रेजी अभिलेख इस प्रकार हैं :

ॐ

काशीविश्वविद्यालयः।

माघे शुक्ले प्रतिपदि तिथौ शुक्रवारे शिलाया न्यासं काश्यां ह्यगनवमहीसम्मिते विक्रमाब्दे।
प्राञ्चं धर्मं परिफलयितुं विश्वविद्यालयस्याकार्षीत् सम्राट् प्रतिनिधिधरो लार्डहार्डिङ्ग सुकीर्तिः॥

ॐ

BENARES HINDU UNIVERSITY

THIS FOUNDATION–STONE WAS LAID BY
H. E. THE RIGHT HONORABLE CHARLES
BARON HARDINGE OF PENSHURST,
P.C., G.C.B., G.M.S.I., G.C.M.G., G.M.I.E., G.C.V.O., I.S.O.
VICEROY & GOVERNOR–GENERAL OF INDIA
FEBRUARY 4. 1916

In a cavity, under the marble stone, was laid a copper box containing current coins of the British Government and of various Indian States, copies of the Reports of the H. U. S., that day's issue of "The Leader" and "The Pioneer" and a large copper plate with the following Sanskrit inscription :

काशीविश्वविद्यालयस्य ताम्रपत्रलेखः ।

ॐ

धर्मं सनातनं वीक्ष्य कालवेगेन पीडितम् ।
भूतले दुर्व्यवस्थं च व्याकुलं मानवं कुलम् ॥
कलेः पञ्चसहस्राब्दे गते भारतभूमिषु ।
आरोपयितुमुद्धारबीजमस्य पुनर्नवम् ॥
काशीक्षेत्रे पवित्रेऽत्र गङ्गातीरे महोदया ।
शुभेच्छा पुण्यसंपन्ना संजाता जगदात्मनः ॥
संगमय्याथ पाश्चात्याः प्राच्याश्चापि प्रजा निजाः ।
तच्छ्रेष्ठानां विधायैकमत्यं सुमति-लक्षणम् ॥
विश्वनाथपुरे विश्वजनीनो विश्वभावनः ।
विश्वात्माऽऽकारयद् विश्वविद्यापीठव्यवस्थितिम् ॥
निमित्तमात्रमत्राभूत् समीहायाः परेशितुः ।
मालवीयो देशभक्तो विप्रो मदनमोहनः ॥
निधाय वाङ्मयं तेजस्तस्मिन्नुद्बोध्य भारतम् ।
प्रह्वीकृत्यापि तच्छास्तॄनस्मिन्नर्थे व्यधात् प्रभुः ॥
अन्ये चापि निमित्तानि प्राभवन्नन्तरात्मनः ।
बीकानेरनृपो वीरो गङ्गासिंहो महामनाः ॥
श्रीरामेश्वरसिंहश्च दरभंगामहीपतिः ।
प्रधानः कार्यकारिण्याः सभाया मानवर्धनः ॥
सुधीः सुन्दरलालश्च मन्त्री कोषाभिरक्षकः ।
गुरुदासादित्यरामौ वासंती वाग्मिमनी तथा ॥
तथा रासविहारी च वृद्धा ये देशवत्सलाः ।
दासा अन्ये भगवतो यथाशक्यं सिषेविरे ॥
विक्टोरियामहाराज्ञ्याः पौत्र एड्वर्डदेहजे ।
सम्राजि पञ्चमे ज्यार्जे भारतं परिशासति ॥
मेवार-काशि-काश्मीर - मयसूरालवराधिपान् ।
कोटा - जयपुरेन्दौर - जोधपुरादि - भूमिपान् ॥
तथा कपूर्थला - नाभाग्वालेरादिनरेश्वरान् ।
ईरयित्वा सहाय्यार्थं सज्जनानपरांस्तथा ॥
गर्भस्य सर्वधर्माणां रक्षायै प्रचयाय च ।
प्रसाराय स्वलीलानां स एवैकः परः प्रभुः ॥
लार्डहार्डिङ्गः सुविख्यातं सम्राट्प्रतिनिधिं वरम् ।
धीरं वीरं प्रजाबन्धुं जनानां हृदयंगमम् ॥
विश्वविद्यालयस्यास्य शिलान्यासे न्ययोजयत् ॥

संप्राप्ते नेत्र-भूभृद्-ग्रह-धरणिमिते वैक्रमेऽब्दे च मासे
माघे पक्षे च शुक्ले प्रतिपदि च तिथावह्नि शुक्रे क्षणेऽच्छे।
श्रीकाश्यां श्रीलसम्राट्प्रतिनिधिकरतो यच्छिलान्यास आसीद्
यावच्चन्द्रार्कतारं विलसतु स महाविश्वविद्यालयोऽयम्॥
सरस्वती श्रुतिमहती महीयतां ततः स्नुता ज्ञानसुधा निपीयताम्।
सदा मतिः शुभचरिते विधीयतां रतिः परा परमगुरौ प्रचीयताम्॥

काशी विश्वविद्यालय के ताम्रपत्र लेख का हिन्दी अनुवाद

समय के वेग द्वारा (भारत के) सनातन धर्म को पीड़ित तथा पृथ्वीतल पर दुर्व्यवस्था और मानवकुल को दुखी और व्याकुल देखकर, कलियुग के पाँच हजार वर्ष के व्यतीत हो जाने पर भारत भूमि में इसके उद्धार के लिए नये वीज को आरोपित करने के लिए पवित्र काशीक्षेत्र में गंगातीर पर पुण्यशाली शुभेच्छासंपन्न संसार की मंगलकामनावाले, पाश्चात्य और प्राच्य महापुरुष सुविचारित रूप से एकमत होकर एकत्रित हुए। विश्वनाथ की नगरी वाराणसी में विश्वजनीन विश्वमानव और विश्वात्मा भगवान् विश्वनाथ ने विश्वविद्यापीठ की स्थापना करवाई। भगवान् की इस इच्छा के निमित्त देशभक्त मालवीय ब्राह्मण मदनमोहन थे। इन महामना पं० मदनमोहन मालवीय को जगन्नियन्ता भगवान् ने वाक्शक्ति प्रदान की और उनकी वाणी के माध्यम से, देश के नेतृवर्ग और शासकों को इस उद्देश्य के लिए प्रेरित किया। अन्तरात्मा भगवान् ने इस महान् कार्य के लिए और लोगों को भी निमित्त बनाया, जिनमें वीर और मनस्वी बीकानेरनरेश गंगासिंह और दरभंगानरेश रामेश्वर सिंह इसकी कार्यकारिणी सभा के सम्मानित अध्यक्ष थे। इसके मंत्री कोषाध्यक्ष पं० सुन्दरलाल थे और श्री गुरुदास, पं० आदित्यराम, कुशल वक्त्री वासन्ती, श्री रासबिहारी जैसे वृद्ध देशभक्त भी थे जिन भगवद्भक्तों ने इस कार्य में यथाशक्ति सेवापूर्ण योग दिया है।

महारानी विक्टोरिया के पौत्र तथा एडवर्ड सप्तम के पुत्र सम्राट् जार्ज पंचम के भारत का शासन करते समय मेवाड़, काशी, काश्मीर, मैसूर, अलवर, कोटा, जयपुर, इन्दौर तथा जोधपुर आदि रियासतों के राजाओं तथा कपूरथला, नाभा, ग्वालियर आदि रियासतों के नरेशों को तथा अन्य दूसरे सज्जनों को सहायता के लिए प्रेरित कर समस्त धर्मों के बीजभूत तत्त्व की रक्षा और अभिवृद्धि के लिए और अपनी लीलाओं के प्रसार के लिए उस परम पुरुष भगवान् ने ब्रिटिश सम्राट् के प्रतिनिधि लार्ड हार्डिंग को जो धीर तथा वीर पुरुष हैं, और प्रजाओं के प्रतिपालक हैं, इस विश्वविद्यालय के शिलान्यास के लिए नियुक्त किया। विक्रम सम्वत् १९७२ की माघ कृष्ण प्रतिपदा शुक्रवार के पवित्र क्षण में वायसराय द्वारा यह शिलान्यास किया गया। यह महाविश्वविद्यालय पृथ्वीतल पर तवतक सुशोभित रहे जबतक सूर्य और चन्द्रमा विद्यमान हैं।

ज्ञान से महनीय सरस्वती विकसित हो, उसके वक्षस्थल से प्रवाहित होता ज्ञानामृत ज्ञानार्थियों द्वारा पान किया जाय। लोगों की बुद्धि सत्कार्य में लगे और परम गुरु भगवान् के प्रति भक्ति अभिवृद्ध हो।

प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान-संकाय

प्रोफेसर सीताराम शास्त्री

"वेदवाङमय-महागिरि से प्रादुर्भूत भारतीय-सभ्यता-संस्कृति-पोषिका आर्षज्ञान की यह निर्मलधारा भारतवर्ष में यावच्चन्द्र-दिवाकर अविच्छिन्न रूपेण प्रवाहित होती हुई एतद्देश-प्रसूतजनों के अंतः करणों को सदा पवित्र करती रहे" इस उदात्त भावना से प्रेरित हो, भूतभावन भगवान् श्री विश्वनाथ की त्रैलोक्य न्यारी ज्ञानखानि नगरी काशी में पुण्य सलिला भगवती भागीरथी के सुरम्य तट पर एक विशाल विश्वविद्यालय की स्थापना का महनीय संकल्प लेकर महामना श्रीमालवीयजी ने तत्कालीन धर्मानुरागी राजाओं, महाराजों, एवं श्रेष्ठिजनों को अपने शिवसंकल्पविषयीभूत विश्वविद्यालय के संस्थापनरूप पवित्र ज्ञानमहायज्ञ में मुक्त हस्त से विपुल धन प्रदान कर मनसा वाचा कर्मणा सर्वविध हार्दिक सक्रिय सहयोग करने के लिए प्रोत्साहित करते हुए सम्पूर्ण भारतवर्ष की परिक्रमा की।

अपने इस सदुद्देश्य की पूर्ति हेतु धन संग्रहार्थ जहाँ भी महामनाजी जाते थे, उनका प्रथम उपदेश यही होता था कि "आपके दिये हुए धन से संस्थापित इस विश्वविद्यालय में आपकी ही दी हुई छात्रवृत्ति को प्राप्त कर विद्याभ्यासतप में संलग्न संस्कृताध्येता दशसहस्र छात्रगण प्रातः काल ब्राह्ममुहूर्त में पतितपावनी गंगा की निर्मल धारा म यथाविधि स्नान कर संध्यावंदन-सूर्य्योपस्थान करते हुए वेद मन्त्रों का उच्चारण करेंगे तो वह कैसा मंगलमय दृश्य होगा' जरा आपलोग इसकी कल्पना करें। अनन्त पुण्यप्रद इस श्लाघ्योदात्त कार्य में दिये हुए आपके धन एवं क्रियात्मक सहयोग का आपको क्या प्रतिफल प्राप्त होगा इसे भी शास्त्र दृष्टि से अवश्य विचारें। नश्वर धन को अक्षय पुण्य एवं स्थिर यश से बदल लेना ही बुद्धिमानी है। महामना जी की तपः पूत वाणी में विचित्र ओज, अलौकिक आकर्षण एवं विलक्षण माधुर्य होता था, जिसके कारण आकृष्ट होकर धार्मिकजन अहमहमिकया मुक्त हस्त से धन प्रदान कर इस 'लोकोत्तर भिखारी' की झोली भर देने में अपना परम सौभाग्य समझने लगे।

फलतः महर्षिकल्प महामनाजी का सत्संकल्प शीघ्र ही साकार हुआ। आज से प्रायः साठ वर्ष पूर्व सन् १९१६ में वर्द्धमान योग एवं शुभ मुहूर्त के मंगलमय अवसर पर वसंत-पंचमी को, मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद एवं तदङ्गभूत सकल संस्कृत-वाङमय के साङ्गोपाङ्ग अध्यापन के साथ ही साथ अन्य लौकिक विद्याओं का भी परिपूर्ण ज्ञान जिसके द्वारा कराया जा सके, ऐसी प्राची प्रतीची के सुन्दर मेलवाली सर्व विद्या की राजधानी इस "काशी हिन्दू विश्वविद्यालय" का शिलान्यास वेदघोष के साथ सम्पन्न हुआ।

संस्कृत महाविद्यालय (प्राच्यविद्या धर्म विज्ञान संकाय)

'प्राञ्चं धर्मं प्रतिफलयितुम्' अपने इस प्रतिज्ञान को ध्यान में रखते हुए भारतीय-सकल संस्कृत-वाङमय का प्राचीन परिपाटी से प्रत्यक्षर प्रतिपंक्ति सम्प्रदायानुसार अध्ययन के सम्पादनार्थ महामनाजी ने इस विश्वविद्यालय के बीजभूत 'संस्कृत-महाविद्यालय' की स्थापना

की, जिसमें सन् १९१८ से पूर्ण रूपेण अध्ययनाध्यापन प्रारम्भ हुआ तथा जो वर्तमान समय में 'प्राच्यविद्या धर्मविज्ञान-संकाय' इस नाम से विख्यात है।

धार्मिक जनता ने मुख्यतया संस्कृत शास्त्रों एवं वैदिक साहित्य की शिक्षा के प्रचार-प्रसारार्थ ही महामनाजी को विपुल धनराशि प्रदान की थी। स्वयं महामनाजी भी आर्ष-परम्परा के अनन्य उपासक थे। अतः संस्कृत महाविद्यालय के प्रति उनका विशिष्ट प्रेम होना स्वाभाविक ही था। फलतः वे इस संस्कृत महाविद्यालय के संरक्षण-संवर्धन के लिए सर्वथा व सर्वदा सचेष्ट रहते थे। इस संकाय में योग्यतम उच्चकोटि के विद्वानों की नियुक्ति के लिए वे स्वयं यत्र तत्र ख्यातनामा पण्डितों का अन्वेषण करते रहते थे। जहाँ भी उन्हें योग्य विद्वान् श्रुतिगोचर या दृष्टिगोचर होते, वे उन्हें अपने इस प्राणप्रिय संकाय में ले आने के लिए लालायित हो उठते, तथा तदर्थ सभी सम्भव एवं उचित उपायों के समाश्रयण में पीछे नहीं रहते थे। महामनाजी के इस सत्प्रयत्न के कारण ही महामहोपाध्याय श्री रामावतार शर्मा, म० म० श्री प्रमथनाथ तर्कभूषण, म० म० श्री चिन्न स्वामी शास्त्री, म० म० श्री प्रभुदत्त शास्त्री गौड़, म० म० श्री विद्याधर शास्त्री गौड़, म० म० श्री जयदेव मिश्र एवं म० म० श्री बालकृष्ण मिश्र सरीखे उद्भट महाविद्वानों ने इस संकाय के प्रमुख पदों को यथासमय सुशोभित किया था।

साङ्गवेदाध्यापन-व्यवस्था

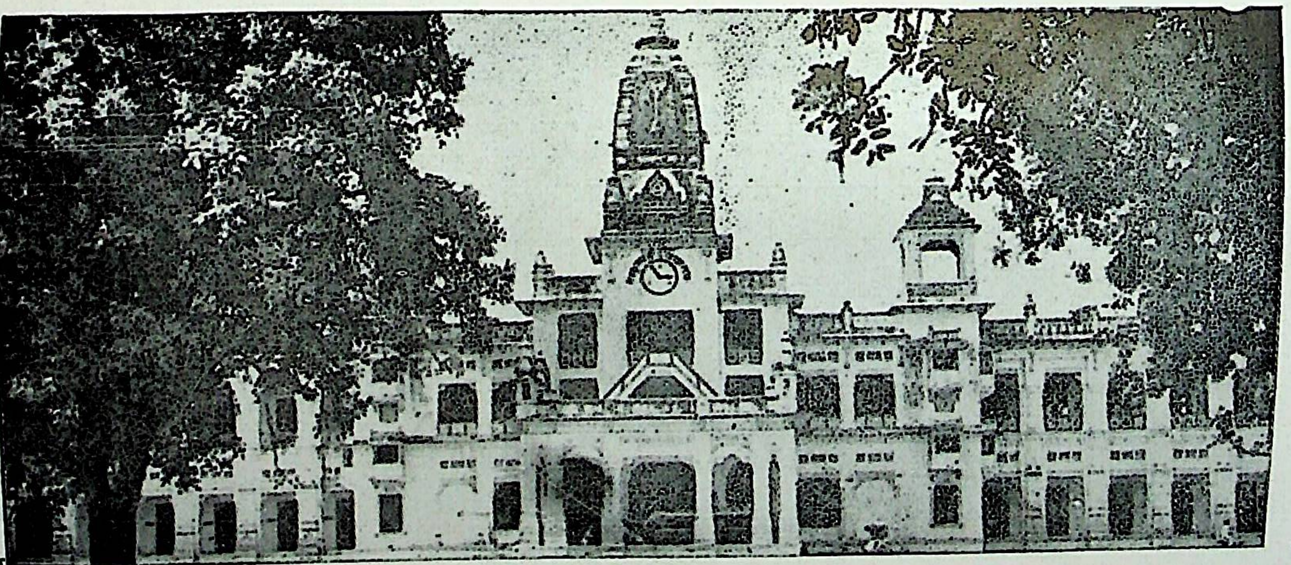
'तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते' इस शिक्षोक्ति के अनुसार इस संकाय में मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद तथा वेद के छहों अंग (१) व्याकरण (२) शिक्षा, (३) ज्योतिष (४) निरुक्त (५) कल्प (६) छन्द, एवं धर्मशास्त्र, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन, साहित्य, कर्मकाण्ड, पौरोहित्य आदि संस्कृत वाङ्मय की सभी शाखाओं का निःशुल्क अध्यापन अपने विषय के मूर्धन्य एवं ख्यातनामा विद्वानों द्वारा सम्पन्न होता है। वर्तमान समय में इस संकाय में तीन प्रोफेसर, बारह रीडर, सोलह लेक्चरार, दो पार्ट-टाईम-लेक्चरार एवं दो शोध सहायक तथा एक यू० जी० सी० प्रोफेसर, इस प्रकार कुल ३५ पद स्वीकृत हैं, तथा विद्वत्परिषद द्वारा प्रायः ३०० छात्रों के प्रवेश की अनुमति प्राप्त है।

छात्रवृत्ति व छात्रावास

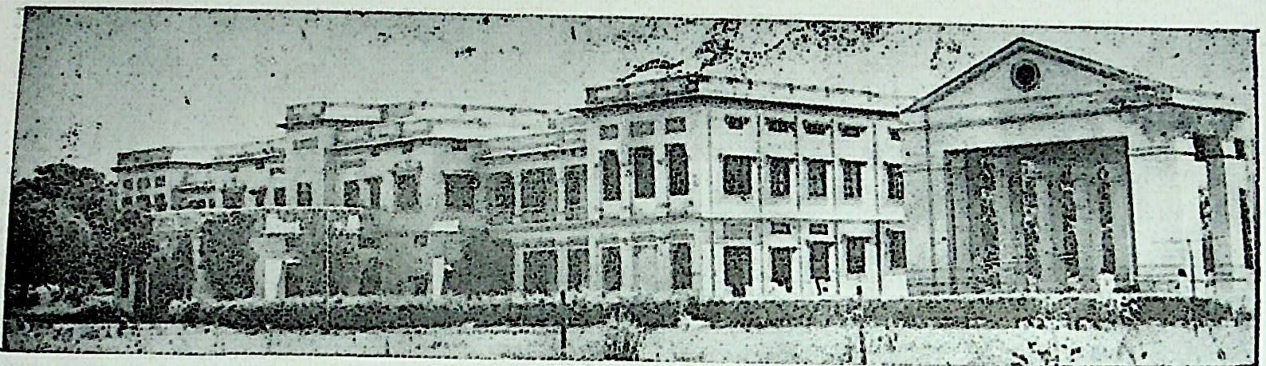
संकाय के परिश्रमशील मेधावी छात्रों को विपुलधन-छात्रवृत्ति प्रदान कर उन्हें संस्कृताध्ययनार्थ प्रोत्साहित किया जाता है तथा विश्वविद्यालय के इस सुरम्य परिसर में निःशुल्क उत्तम निवास सुविधा प्रदान की जाती है। छात्रों के शारीरिक विकास, स्वास्थ्य एवं मनोरंजन के लिए विविध व्यायाम, योगक्रिया, आसन एवं आधुनिक क्रीड़ाओं की विश्वविद्यालय स्तर पर सुन्दर व्यवस्था है।

परीक्षा व उपाधि

संकाय का पूर्वमध्यमा, उत्तरमध्यमा, शास्त्री, आचार्य परीक्षा सम्बन्धी विभिन्न-विषयक पाठ्यक्रम (२+२+३+२=९) कुल नौ वर्ष का है। चार वर्ष में सम्पन्न होने वाली पूर्वोत्तरमध्यमा परीक्षा में प्रतिवर्ष ६ प्रश्नपत्र होते हैं। छात्रों को वेद, व्याकरण, दर्शन, साहित्य, ज्योतिष इन वैकल्पिक एक मुख्य विषय के साथ हिन्दी-अंग्रेजी, गणित आदि



प्राच्यविद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय



महिला महाविद्यालय

आधुनिक विषय भी पाठ्यक्रमानुसार पढ़ने होते हैं। इसी प्रकार तीन वर्ष के 'शास्त्री' उपाधि के पाठ्यक्रम में भी बी० ए० स्तर की हिन्दी एवं अंग्रेजी के साथ अन्य आधुनिक विषय भी समाविष्ट हैं। आचार्य उपाधि का पाठ्यक्रम दो वर्ष का है। प्रतिवर्ष पाँच प्रश्न पत्रों में परीक्षा देनी होती है। अन्तिम वर्ष में छात्र को मौखिक परीक्षा में भी भाग लेना पड़ता है। वेद, व्याकरण, मीमांसा-धर्मशास्त्र, वेदान्त, न्याय वैशेषिक, सांख्ययोग, पुराणेतिहास, जैन-दर्शन, बौद्ध-दर्शन, साहित्य, ज्योतिष (फलित एवं गणित) इन विषयों में दो वर्ष के पाठ्यक्रम के आधार पर परीक्षा में सफलता प्राप्त करने वाले छात्रों को वेदाचार्य, व्याकरण-शास्त्राचार्य आदि स्नातकोत्तर आचार्य उपाधि प्रदान की जाती है। 'शास्त्री' उपाधि बी० ए० स्तर की एवं 'वेदाचार्य', 'शास्त्राचार्य' उपाधि एम० ए० स्तर की है।

चक्रवर्ती, वाचस्पति (शोध उपाधि)

आचार्योपाधि प्राप्त स्नातकों के लिए उपर्युक्त सभी संस्कृत विषयों में शोध सम्पादन कराने की भी इस संकाय में सर्वोत्तम व्यवस्था है। अनुसन्धान रुचि छात्रों के उत्साहवृध्यर्थ उत्तम छात्रवृत्ति एवं निवासार्थ, निःशुल्क छात्रावास प्रदान किया जाता है। शोध छात्रों को अपना शोध-प्रबन्ध संस्कृतभाषा में लिखना होता है। यथाविधि परीक्षणानन्तर स्वीकृत शोध-प्रबन्ध के आधार पर छात्र योग्यतानुसार चक्रवर्ती एवं वाचस्पति उपाधि से विभूषित किये जाते हैं। यहाँ की चक्रवर्ती उपाधि पी-एच० डी० स्तर की एवं वाचस्पति उपाधि डी० लिट्० स्तर की होती है।

संकाय के विभाग

प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान-संकाय में पूर्ण विकसित ६ विभाग हैं। यथा (१) वेद विभाग (२) मीमांसा-धर्मशास्त्र विभाग (३) व्याकरण विभाग (४) दर्शन विभाग (५) साहित्य विभाग (६) ज्योतिष विभाग, तथा इनके अतिरिक्त एक 'धर्मशिक्षा' नामक सप्तम विभाग भी है, जिसका पूर्ण विकास आवश्यक है।

वेद विभाग

वेद विभाग में चारों वेदों के मूल-संहिता भाष्य, निघन्टु आदि सभी वैदिक साहित्य के आवश्यक अंशों के वैदुष्यपूर्ण आलोचनात्मक अध्यापन की उत्तम व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त क्रियारूपेण ज्ञान प्रदानार्थ कर्मकाण्ड तथा पौरोहित्य कार्य की भी शिक्षा इस विभाग द्वारा सम्पादित होती है। प्राचीन यज्ञ, याग, 'मख' इष्टि आदि यज्ञों के स्वरूप-परिचयार्थ आवश्यक उपकरणों एवं यज्ञ पत्रों का भी यहाँ संग्रह है। इस विभाग में एक रीडर तीन लेक्चरार तथा एक पार्टटाइम लेक्चरार कुल पाँच पदस्वीकृत हैं।

मीमांसा-धर्मशास्त्र विभाग

वेदार्थ-निर्णय के लिए जैमिनी महर्षि द्वारा उपक्रान्त पूर्व मीमांसा ग्रन्थों एवं धर्मशास्त्र-ग्रन्थों के गहन तत्वों के सरल एवं सरस विवेचन द्वारा विषय को बुद्धिगम्य कराने में इस

विभाग की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका है। वर्तमान समय में इस विभाग में दो रीडर, तथा दो लेक्चरार कुल चार पद स्वीकृत हैं।

व्याकरण विभाग

"मुखं व्याकरणं स्मृतम्" इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार व्याकरणशास्त्र भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के मूलभूत मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद महापुरुष का 'मुख' रूप प्रधान अंग है। इस रूपक का तात्पर्य यह है कि जैसे मुख के विना मनुष्य वोल नहीं सकता उसी प्रकार व्याकरण शास्त्र के अध्ययन के विना वैदिक मन्त्रों का, श्लोकों का शुद्ध व सस्वर उच्चारण सम्भव नहीं है। महाभाष्यकार श्री पतंजलि ने भी व्याकरण शास्त्र के अध्ययन को प्राथमिकता दी है। अतः व्याकरण विभाग संकाय का एक प्रमुख एवं आवश्यक विभाग है जो कि संस्कृताध्येताओं को शुद्ध उच्चारण एवं साधु शब्द प्रयोग की विधि के ज्ञान के साथ ही साथ शुद्ध शब्दों के निर्माण के प्रकार का भी उपदेश करता है।

इस व्याकरण विभाग में योग्य विद्वानों द्वारा व्याकरण शास्त्र के महाभाष्यान्त आकर-ग्रन्थों का आलोचनात्मक शैली से तुलनात्मक अध्ययन कराया जाता है। छात्रों में भाषण-शक्ति शास्त्रार्थ कला के विकास हेतु प्रति त्रयोदशी को विभाग में पाक्षिक-सभा का आयोजन किया जाता है, जिसमें छात्रगण विभिन्न निर्धारित विषयों पर संस्कृत भाषा में व्याख्यान देकर एवं शास्त्रार्थ, सूत्रान्त्याक्षरी, श्लोकान्त्याक्षरी आदि प्रतियोगिता में भाग लेकर अपनी योग्यता वृद्धि का प्रदर्शन करते हैं।

इस विभाग में एक प्रोफेसर, दो रीडर, एक लेक्चरार तथा एक पार्टटाईम-लेक्चरार कुल पांच अध्यापक पद स्वीकृत हैं, जिनमें से दो रिक्त रीडर पदों पर अस्थांयी लेक्चरार कार्य कर रहे हैं।

दर्शन विभाग

न्याय वैशेषिक, वेदान्त, सांख्ययोग, पुराणेतिहास, बौद्ध-दर्शन एवं जैन-दर्शन, इन छः उपविभागों से सुसमृद्ध यह दर्शन विभाग विषय बाहुल्य एवं अध्यापक संख्या की दृष्टि से इस संकाय का सबसे बड़ा विभाग है। प्राच्य-पाश्चात्य, आस्तिक-नास्तिक आदि सभी दर्शनों का गम्भीर विवेचन, तुलनात्मक-व्याख्यान, तलस्पर्शी एवं हृदयग्राही अध्यापन इस विभाग की अपनी विशेषता है। इस विभाग में अपने-अपने विषय के पारंगत दस विद्वान (पाँच रीडर एवं पाँच लेक्चरार) छात्रों की दर्शन विषयक ज्ञान पिपासा को शांत करने के लिए सर्वदा सन्नद्ध रहते हैं। इस विभाग में यू० जी० सी० द्वारा सम्मानित एक विद्वान भी कार्य कर रहे हैं।

साहित्य विभाग

संस्कृत-साहित्य, हिन्दी-साहित्य एवं अंग्रेजी-साहित्य इन त्रिविध-साहित्य-ज्ञानधारा से विभूषित तीर्थराज प्रयाग के समान अज्ञान-महाकल्मशनाशक यह साहित्य विभाग इस संकाय का एक महत्वपूर्ण अंग है। इस विभाग के कवित्वशक्तिसम्पन्नमनीषी सभी विद्वान अध्ययनपरायण अपने छात्रों को गद्य-पद्य-रचना, नाटकाभिनय आदि सुललित-विद्या-कलाओं

से परिचित कराते हुए संस्कृत वाङ्मय के विशिष्ट विवेचक, उत्तम वाचक एवं पारदृश्वा सुधी बनाने एवं उनमें तलस्पर्शी वैदुष्याधान हेतु निरंतर क्रियाशील रहते हैं।

ज्योतिष विभाग

"ज्योतिषामयनं चक्षुः" ज्योतिष-विद्या वेद-महापुरुष के नेत्र हैं। इस सूक्ति के आधार पर त्रिस्कन्ध-ज्योतिष-विद्या की सर्वाङ्गीण सेवा में संलग्न यह ज्योतिष विभाग इस संकाय का भी नेत्र है, यह कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। शरीर में नेत्र का क्या महत्व है यह सर्वविदित है।

अपने अद्भुत भविष्य वक्ता विभागाध्यक्ष के निर्देशन में यह विभाग उन्नति पथ पर निरन्तर अग्रसर हो रहा है। गणित एवं फलित इन दोनों शाखाओं में विशिष्ट गम्भीर-ज्ञान प्राप्त कर यहाँ के छात्र भारतवर्ष में यत्र-तत्र सर्वत्र विपुल धन अर्जन कर सुखी जीवन विता रहे हैं। ज्योतिष-विद्या अर्थकारी एवं प्रत्यक्ष विज्ञान विद्या है। इसके अध्येता कभी परमुखापेक्षी नहीं होते हैं। 'पंचाङ्ग-उपविभाग' से प्रकाशित होने वाला 'विश्व पंचाङ्ग' इसी विभाग की अन्यतम महत्त्वपूर्ण कृति है। 'पंचाङ्ग-विभाग' इसी ज्योतिष विभाग का एक महत्वपूर्ण अंग है।

एक प्रोफेसर एक रीडर, एक लेक्चरार तथा दो शोध सहायक—इन पाँच विद्वानों द्वारा सेवित यह ज्योतिष विभाग अपने भविष्य वक्तव्यों के कारण अध्ययनशील छात्र एवं जनता का आकर्षण केन्द्र बना हुआ है।

उपर्युक्त इन पूर्ण विकसित छः विभागों के अतिरिक्त एक सप्तम विभाग 'धर्मशिक्षा-विभाग' भी है। महामनाजी का यह दृढ़मत था कि धार्मिक शिक्षा के विना युवक एवं युवतियों के चरित्र का निर्माण सम्भव नहीं है। विना चरित्र के राष्ट्र सबल एवं उन्नत नहीं हो सकता। अतः धर्मशिक्षा सभी संकाय के छात्रों के लिए आवश्यक मान कर यहाँ धर्मशिक्षा विभाग की स्थापना की गई। इस विभाग के विद्वान कला संकाय, महिला विद्यालय, विज्ञान संकाय आदि विभिन्न संकायों में जाकर छात्र एवं छात्राओं को धर्मशिक्षा प्रदान करते हुए उन्हें कर्तव्याकर्तव्य का बोध कराते हैं। इस विभाग का पुनर्गठन एवं उन्नयन आवश्यक हैं। वर्तमान समय में एक रीडर व एक प्रवक्ता इस विभाग की सेवा कर रहे हैं।

उपर्युक्त इन सात विभागों से समृद्ध सकल-संस्कृत-वाङ्मय-ज्ञानागार इस प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान-संकाय में अध्ययन कर शास्त्राचार्य आदि उच्चतम उपाधियाँ प्राप्त कर अनेकों ख्यातनामा विद्वान वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय-वाराणसी किं वा अन्यत्र देश भर में उच्चतम स्थानों पर नियुक्त होकर देश सेवा करते हुए इस संकाय की गौरव गाथा को दिगन्त व्यापी बना रहे हैं। इस अवसर पर हम इस संकाय के स्नातक के रूप में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० गोपाल त्रिपाठी, डा० राजबली पाण्डेय आदि महामनीषियों का नाम स्मरण करते हुए गौरव का अनुभव करते हैं।

इस संकाय के शास्त्राचार्य उपाधि धारी योग्य विद्वानों के अतिरिक्त विभिन्न विषयों में शोध उपाधि प्राप्त कर्ताओं की भी पर्याप्त संख्या है।

यहाँ के अध्यवसायी विद्वान अध्यापक छात्राध्यापन के अतिरिक्त अवशिष्ट समय में अपने-अपने विषय के उत्कृष्ट एवं मान्य ग्रन्थों को लिखकर संस्कृतवाङ्मय के भण्डार को सुसमृद्ध करते हुए अपने यशः शरीर को अमर बनाने में सर्वदा दत्तचित्त रहते हैं।

महामना मालवीय जी की तपोभूमि का यह प्राचीन एवं विशाल संस्कृत-संकाय-वटवृक्ष अज्ञान-घर्मार्त-छात्र-पथिकों को निर्मलाध्यात्म-विद्या-ज्ञान-सुखद-शीतल-छाया द्वारा अनन्त काल तक आप्यायित करता हुआ अपने शाखा-प्रशाखा-स्कन्ध-वितानों को सुपुष्ट एवं विश्वव्यापी बनाए, यही भूतभावन भगवान श्री विश्वनाथ से प्रार्थना है।

संस्थापितः प्रथममेव महामहिम्ना,
विद्यालयः सुरगिरः सुधियामुपास्यः।
शश्वत् समुन्नतिगिरेः शिखराधिरूढो,
जीयाच्चिरं समुदयं विदधन्नराणाम् ॥

संकाय प्रमुख,एवं व्याकरणविभागाध्यक्ष,
प्राच्यविद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

कला संकाय

श्री के० पी० मुखर्जी एवं डॉ० राम कीर्ति शुक्ल

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का कला संकाय अपने वर्तमान स्वरूप में १९७१ में आया जब सामाजिक विज्ञान विभागों को पुराने कला संकाय से अलग कर एक स्वतंत्र सामाजिक विज्ञान संकाय की स्थापना की गई। तभी से उन सारे विभागों को जो उदार शिक्षा और मानवीय शास्त्रों के अध्ययन अध्यापन से सम्बद्ध थे मिलाकर कला संकाय बनाया गया। इसके कदाचित नवीन स्वरूप के बावजूद इस संकाय के गौरव पूर्ण अतीत को विस्मृत नहीं किया जा सकता।

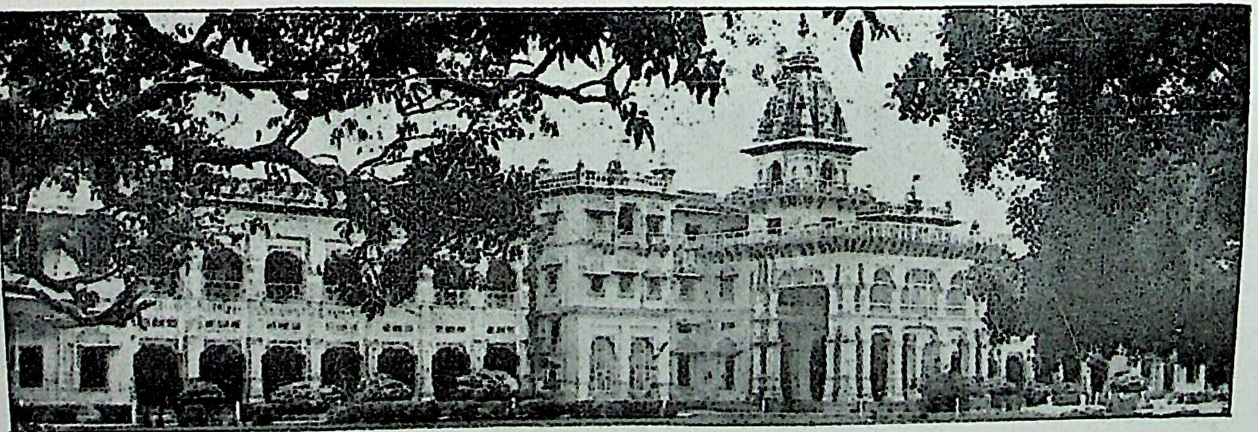
इस संकाय के साथ अत्यन्त समृद्ध, शक्तिदायी और स्फूर्तिदायक स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं। राष्ट्रीय शिक्षा के उच्चतम आदर्शों की ओर अपनी प्रगति यात्रा में इसकी गौरवशाली प्राचीन परंपरायें इसके लिए आज भी प्रेरणा स्रोत हैं। पीछे मुड़ कर देखने पर हमें स्मरण होता है कि इस संकाय वृक्ष की जड़ें पुण्य स्मरणीया श्रीमती एनी बेसेन्ट द्वारा सन् १८९८ में स्थापित केन्द्रीय हिन्दू कालेज में वर्तमान हैं। विश्व की प्राचीनतम और पवित्रतम नगरी काशी में इस संस्था की स्थापना करते समय वे ज्ञान और प्रकाश की प्राचीन भारतीय परंपरा के पुनरउन्नयन से प्रेरित हुईं थीं। उनका विश्वास था कि प्राचीन भारतीय परंपरा और आधुनिक योरोपीय विकास की सर्वोत्तम परंपराओं का सम्यक संश्लेषण संभव है और विस्तृत आचार युक्त राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के क्षेत्र में इस प्रयोग के लिए यदि कोई उपयुक्त स्थान हो सकता है तो वह काशी है—काशी जो एक भौगोलिक इकाई मात्र न होकर संस्कृति एवं सभ्यता के उदात्त मूल्यों का विश्व का प्राचीनतम प्राण केन्द्र है और साथ ही जो अनादिकाल से भारतीय मनीषा और आध्यात्म विद्या का पीठ रहा है। जिस प्रकार सीपी से मोती जैसा अनमोल रत्न निकलता है उसी प्रकार सेन्ट्रल हिन्दू कालेज से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का जन्म हुआ और विश्वविद्यालय के प्रगति रथ के चक्र के रूप में अद्यतन सेन्ट्रल हिन्दू कालेज अपनी अविस्मरणीय भूमिका निभाते हुए अपने महत्व और महानता में उत्तरोत्तर वृद्धि करता रहा है।

वेद के द्रष्टा ऋषि अविद्या से मुक्ति का आवाहन करते हैं और मनवचन, कर्म से उस विद्या की प्राप्ति का निर्देश करते हैं जो वास्तव में आत्मा के पूर्ण वैभव युक्त प्रकाश का ही पर्याय है। निषेध अथवा अकर्मण्यता पतन का मार्ग है जबकि कर्मचेतना पूर्णत्व की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करती है। यदि शिक्षा का उद्देश्य उस पूर्णता को प्राप्त करना है जिसकी संभावनायें मनुष्य की चेतना में सुसुप्तावस्था में विद्यमान रहती हैं तो यही नहीं आवश्यक है किहमारी शिक्षा का धरातल विस्तृत हो अपितु यह भी कि उसमें उन तत्वों का भी समावेश हो जो चरित्र और व्यक्तित्व के मूल गुणों को उत्प्रेरित एवं सम्बर्द्धित कर सकें। इस प्रकार कीशिक्षा आत्मोन्नति एवं इस जीवन में भौतिक लाभों की संकुचित सीमा का अतिक्रमण करती है। वास्तविक शिक्षा जिसका प्रकाश हमारे प्राचीन महर्षियों ने प्राप्त किया था अपने विस्तार में उन सभी तत्त्वों का समाहार कर लेती है जो मनुष्य के व्यतिक्तत्व के बहुमुखी विकास के लिए आवश्यक होते हैं तथा जो हमें असत्य से सत्य की ओर उन्मुख करते हैं। मानव जीवन में उदात गुणों को सम्बर्द्धित

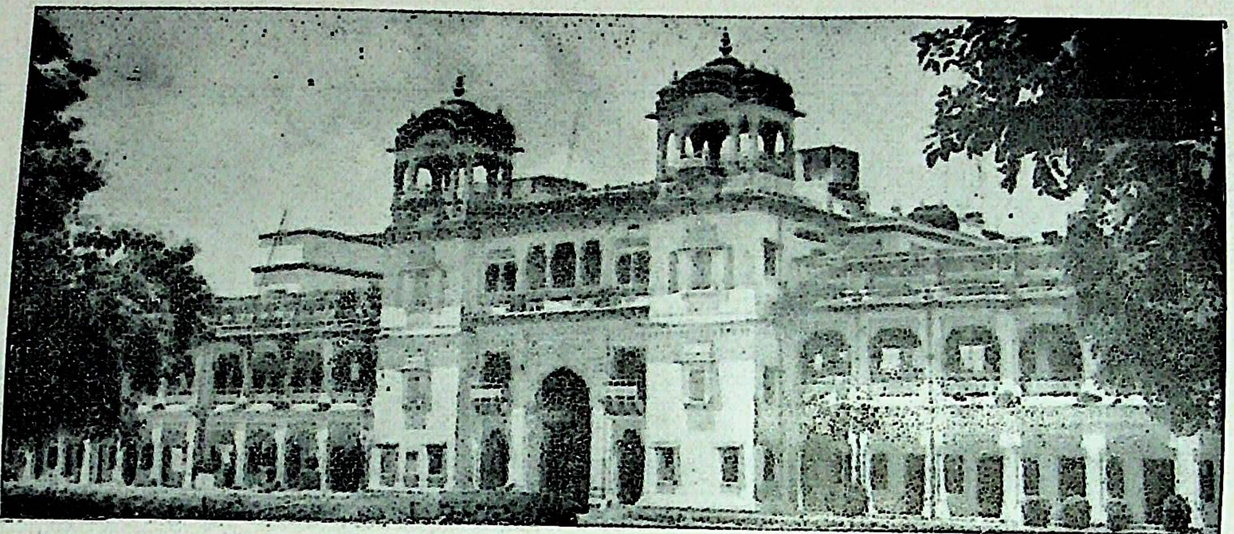
करने वाले सारे तत्वों का हमारे शैक्षणिक आदर्श में समाहार होना चाहिए। जिस व्यक्ति ने इन गुणों को पा लिया है वही विकास पथ पर चलने का अधिकारी होता है। भारतीय चिंतन में इन गुणों को अभय, अहिंसा और असंग कहा गया है। इन्हीं गुणों का विकास कर और अपने व्यक्तित्व में इन्हें आत्मसात् करने के पश्चात् ही हम ज्ञानार्जन के अधिकारी बन सकते हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अमर संस्थापक महामना मदनमोहन मालवीय और श्रीमती बेसेन्ट दोनों ने भारतीय परंपरा के इन आधार भूत तत्वों को समझा था। उनकी दूरदर्शिनी कल्पना, देश प्रेम की भावना, कर्म योगियों की सतत् कर्मठता, अपूर्व उत्साह और साहस के कारण ही सर्व विद्या की राजधानी में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसे महान ज्ञानपीठ का जन्म हो सका। वर्तमान विश्वविद्यालय की बीज संस्था केन्द्रीय हिन्दू महाविद्यालय इन दोनों विभूतियों के लिए विशेष महत्व रखता था और प्रत्येक वर्ष इस विद्या विटप से फूटने वाली अनेक शाखायें और उपशाखायें उसी के प्रकाश से मण्डित हैं।

कलासंकाय को अपनी विरासत पर गर्व है और वह इस विशाल विश्वविद्यालय के शैक्षणिक सांस्कृतिक जीवन में अपनी भूमिका के प्रति सचेष्ट भी है। इसे इस तथ्य का ज्ञान है कि इसकी स्थापना एक तप-स्थली के रूप में हुई थी जिसके निर्माण में देश के महान सपूतों की साधना और कल्पना का योगदान है जिन्होंने इसके उत्तरोत्तर विकास के लिए बड़ी निष्ठा और पवित्र भावना से कार्य किया था। १९६५ के उपरान्त जब विश्वविद्यालय ने केन्द्रीय हिन्दू महाविद्यालय को संकाय का नाम दिया तब से लेकर आज तक इसका निरंतर विकास होता आया है और कई क्षेत्रों में इसने आश्चर्यजनक उपलब्धियां अर्जित की हैं। लेकिन केन्द्रीय हिन्दू विद्यालय ने अपनी प्राचीन और पवित्र स्मृतियों की उपेक्षा नहीं की है। स्थानाभाव के कारण इस संक्षिप्त लेख में केवल अपेक्षाकृत नवीन उपलब्धियों का ही उल्लेख किया जा रहा है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कला संकाय १९६४ में अस्तित्व में आया। इसके अन्तर्गत वे सभी विभाग और उपविभाग आ गए जो पहले केन्द्रीय हिन्दू महाविद्यालय के संघटक अंग थे। १९६८ में भारती महाविद्यालय को समाप्त कर दिया गया और इसके सभी विभाग कला संकाय में शामिल कर लिये गए। १९७१ में एक नये संकाय की स्थापना के फलस्वरूप सामाजिक विज्ञान के विषयों के विभाग समाज विज्ञान संकाय में स्थानांतरित हो गए। इस समय कला संकाय के अन्तर्गत आने वाले विभाग हैं—(१) अरबी (२) उर्दू (३) फारसी (४) अंग्रेजी (५) दर्शनशास्त्र (६) बंगाली, (७) भारतीय भाषा (८) विदेशी भाषा (९) संस्कृत एवं पालि (१०) हिन्दी (११) पत्रकारिता (१२) कला इतिहास (१३) पुस्तकालय विज्ञान और (१४) शरीर शिक्षा। इन विभागों के अतिरिक्त प्राचीन कलाकृतियों के अपने अनूठे संग्रह के लिए विख्यात भारत कला भवन भी इसी संकाय में आ जाता है जो संग्रह शास्त्र में स्नातकोत्तरीय डिप्लोमा भी प्रदान करता है। भाषा विज्ञान, चीनी, नेपाली और सिंहली भाषा के उपविभागों का भी नियंत्रण कला संकाय द्वारा ही होता है। भाषा विज्ञान उपविभाग भाषा विज्ञान में स्नातकोत्तरीय डिप्लोमा के लिए अध्ययन की सुविधा भी प्रदान करता है। चीनी, नेपाली और सिंहली भाषाओं के अध्ययन के लिए अलग उपविभाग हैं जिनमें स्नातक पूर्व पाठ्यक्रम का अध्ययन होता है। उपरोक्त शैक्षणिक विभागों के अतिरिक्त शारीरिक शिक्षा विभाग एक वर्षीय पाठ्यक्रम चलाता है जो उस विषय में स्नातक



कलासंकाय का प्राचीन भवन (निर्माण १९२१)



बिरला छात्रावास

उपाधि के लिए विद्यार्थियों को तैयार करता है। यद्यपि पत्रकारिता विभाग का जन्म अभी हाल ही में हुआ है फिर भी इस विभाग ने काफी प्रगति की है और पांचवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान यह विभाग स्नातक और स्नातकोत्तर उपाधियों के लिए अध्ययन की सुविधा प्रदान करने लगेगा। भारतीय भाषा विभाग में तमिल, तेलगू, कन्नड़ और मराठी भाषाओं के अध्ययन की सुविधा उपलब्ध है। विदेशी भाषा विभाग में विभिन्न उपविभाग हैं जिनमें जर्मन, फ्रेंच, और रूसी भाषाओं तथा उनके साहित्य में स्नातकोत्तर स्तर तक के अध्ययन की व्यवस्था है। अन्य सभी विभागों में स्नातकोत्तर अध्ययन तथा शोध कार्यों के लिए व्यापक सुविधायें उपलब्ध हैं। सभी विभागों के अलग-अलग विवरण इस लेख में दिये जा रहे हैं जो संकाय की शैक्षणिक गतिविधियों और योजनाओं पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

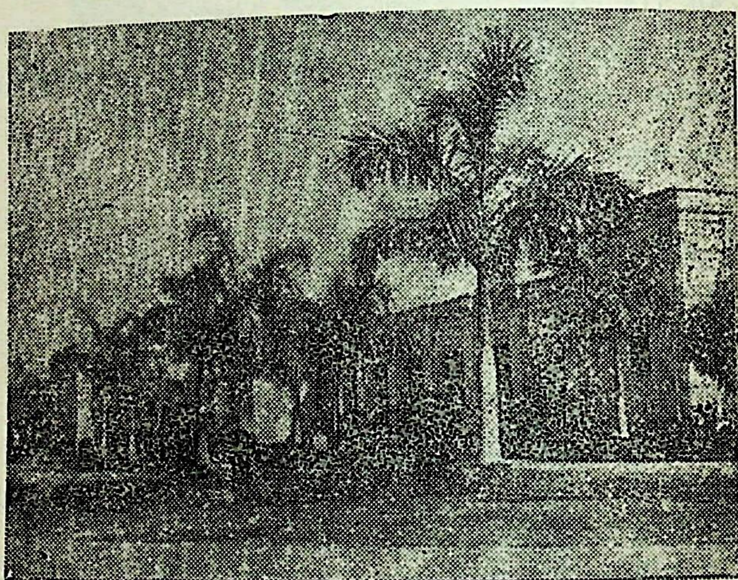
संकाय की वर्तमान छात्र संख्या का अनुमान निम्नलिखित तालिका से लग जायेगा जिसमें १९७६–७७ सत्र को आधार माना गया है––

१––स्नातकोत्तर (एम०ए० कक्षायें)––	
पुरुष छात्र	५०६
महिला छात्र	२६३
२––स्नातक पूर्व (बी०ए० कक्षायें)––	
पुरुष छात्र	८३२
महिला छात्र	१
३––शोध छात्र	
पुरुष	१६९
महिला	९७
४––शरीर शिक्षा विभाग (स्नातक)	
पुरुष	३१
महिला	०
५––पत्रकारिता में स्नातकोत्तर डिप्लोमा	
पुरुष	१०
महिला	३
६––ग्रंथालय विज्ञान विभाग (स्नातक पूर्व)	
पुरुष	२६
महिला	१०
७––ग्रंथालय विज्ञान विभाग (स्नातकोत्तर)	
पुरुष	६
महिला	१
अन्य स्नातक पूर्व डिप्लोमा पाठ्यक्रम	
कुल	२८१

संकाय में अध्यापकों की वर्तमान संख्या १५० है जिसमें १२४ पुरुष और २६ महिलायें हैं। विभिन्न श्रेणियों में अध्यापकों का वर्गीकरण इस प्रकार है––प्रोफेसर–१२, रीडर––३५,

लेक्चरर—१००, डिमान्स्ट्रेटर—१, पार्ट टाइम लेक्चरर—२। संकाय परिवार में ४८ तृतीय श्रेणी और ४४ चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी भी सम्मिलित हैं।

कला संकाय इस दृष्टि से भाग्यशाली रहा है कि इसके प्रमुखों में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के अनेक विद्वान रहे हैं जिनके संरक्षण में शैक्षणिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में संकाय ने उल्लेखनीय उपलब्धियां हासिल की हैं। हमारे वर्तमान प्रमुख प्रो० लल्लन जी गोपाल ने जहां एक ओर अपने वैदुष्य से संकाय के प्राध्यापकों के समक्ष एक अनुकरणीय व्यक्तित्व उपस्थित किया है वहीं दूसरी ओर संकाय के प्रशासन को पूर्वापेक्षा अधिक सक्षम और गतिशील बनाया है।



प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग

उन्होंने संकाय परिवार के वरिष्ठ सदस्य की हैसियत से ऐसी अनेक योजनाओं और कार्यक्रमों का शुभारंभ किया है जिनसे संकाय की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई है और शैक्षणिक वातावरण में एक नई स्फूर्ति का संचार हुआ है। प्रारंभ से लेकर आज तक निम्नलिखित विद्वानों ने संकाय प्रमुख के पद को गौरवान्वित किया है—

(१) प्रो० एन० के० देवराज, प्रोफेसर, दर्शन शास्त्र
(२) प्रो० ए० के० नारायण, प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व
(३) प्रो० एस० भटाचार्य, प्रोफेसर, संस्कृत एवं पाली,
(४) प्रो० विजयपाल सिंह, प्रोफेसर, हिन्दी
(५) प्रो० लल्लनजी गोपाल, प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व

संकाय के निरंतर विस्तार और संकाय में छात्रों की संख्या में निरन्तर वृद्धि के कारण संकाय के सामने स्थाभाव की समस्या गम्भीर होती जा रही है। प्राय: सभी विभाग अध्यापन कक्षों की कमी महसूस कर रहे हैं। प्राचीन केन्द्रीय हिन्दू महाविद्यालय भवन में वाणिज्य संकाय

और स्नातकोत्तर भवन में सामाजिक विज्ञान संकाय की साझेदारी में काम चलाना पड़ रहा है। नवनिर्मित विशाल हिन्दी भवन और भारत कला भवन के परिसर में विस्तार संकाय के लिए वरदान सिद्ध हुए हैं।

संकाय में विद्यार्थियों का शैक्षणिक स्तर संतोषजनक रहा है। शोध के लिए विद्यार्थियों को दी जाने वाली सुविधाओं में वृद्धि हुई है। महिला छात्रों की संख्या में वृद्धि एक उत्साह जनक लक्षण है। संकाय के प्राध्यापक अपनी भूमिका के प्रति सचेष्ट हैं और उनका यह विश्वास है कि विद्यार्थियों के शैक्षणिक स्तर को संतुलित रखने के लिए उन्हें भी कठिन श्रम करना पड़ेगा। संकाय के अधिकांश अध्यापक शोध एवं उच्च स्तरीय अध्ययन में लगे हुए हैं। अनेक प्राध्यापक ऐसे हैं जो अपनी योग्यताओं के लिए देश-विदेश में सम्मानित हो चुके हैं।

विद्यार्थियों के अध्ययन को अधिक सुविधापूर्ण बनाने और उनके नैतिक और बौद्धिक स्तर को ऊँचा करने के लिए संकाय द्वारा किये गए अनेक प्रयासों में दो का उल्लेख यहां अवश्य किया जाना चाहिए। प्रथम है स्नातक पूर्व ग्रंथालय और पुस्तक कोष की स्थापना जिनसे पर्याप्त संख्या में योग्य विद्यार्थी अपनी पाठ्य पुस्तकें प्राप्त करते हैं। उन्हें वह सारी सामग्री भी मिल जाती है जिससे वे अपने बौद्धिक क्षितिज को और अधिक विस्तृत कर सकें। दूसरा है विचार गोष्ठियों, व्याख्यानों और विचार-विनिमय के साधनों को उपलब्ध कराना जिसमें संकाय के अध्यापकों और अन्य विश्वविद्यालयों के विद्वानों को, अतिथि वक्ताओं के रूप में आमंत्रित किया जाता है।

संकाय में सांस्कृतिक एवं क्रीड़ा संबंधी गतिविधियों को व्यापक स्तर पर लोकप्रिय बनाने के लिए भी सतत् प्रयास किया जा रहा है। वाद विवाद और नाट्य संस्थाओं की स्थापना इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम है। इनकी क्रियाशीलता उत्तरोत्तर बढ़ रही है और अधिकाधिक संख्या में छात्र-छात्रायें इसमें शामिल हो रहे हैं।

गत कुछ वर्षों के दौरान संकाय के छात्र क्रीड़ा के क्षेत्र में विशेष रुचि ले रहे हैं और इस क्षेत्र में उन्होंने सम्मान अर्जित कर संकाय का मान बढ़ाया है।

रचनात्मक राष्ट्रीय कार्यों में कला संकाय के छात्र सम्पूर्ण विश्वविद्यालय में सदैव अग्रिम पंक्ति में रहे हैं और इस समय भी अनेक छात्र-छात्रायें ऐसे कार्यक्रमों से सम्बद्ध हैं।

अखिल भारतीय सेवाओं की ओर पिछले कुछ वर्षों में कला संकाय के छात्रों ने अपेक्षाकृत अधिक ध्यान देना आरंभ किया है और इस क्षेत्र में सफल होने वाले विद्यार्थियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है।

कला संकाय के समस्त विद्यार्थियों का लगभग पचास प्रतिशत छात्रावासों में निवास करता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए संकाय ने छात्रावासों में भोजन तथा अन्य सुविधाओं में सुधार करने की कई योजनाएँ बनाई हैं जिनके क्रियान्वयन के फलस्वरूप छात्रावासों में रहने वाले विद्यार्थियों को काफी लाभ हुआ है।

संकाय के भावी विकास के लिए हमारे पास कई योजनाएँ हैं। संकाय के सभी विभागों में एम०फिल० पाठ्यक्रम प्रारंभ करने की दिशा में पर्याप्त कार्य किया जा चुका है। इस

पाठ्यक्रम को राष्ट्रीय शिक्षा नीति की इस विचार धारा के आधार पर लागू किया जा रहा है कि एम०ए० और पी-एच०डी० के बीच एक उच्चस्तरीय पाठ्यक्रम अवश्य होना चाहिए। हमें आशा है कि आगामी सत्र से एम०फिल० पाठ्यक्रम प्रारंभ हो जायगा।

संकाय के शैक्षणिक कार्यक्रमों के भावी विकास एवं विस्तार की दिशा में प्रस्तावित भाषा संस्थान (स्कूल आफ लैंग्वेज) एक महत्वपूर्ण कदम होगा। यह संस्थान पेरिस और हारवर्ड के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के भाषा संस्थानों के अनुरूप होगा। इस दिशा में प्रारंभिक प्रयासों का श्रीगणेश हो चुका है और ऐसी आशा है कि वह दिन दूर नहीं जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का कला संकाय राष्ट्र को भाषा और साहित्य के क्षेत्र में अध्ययन और शोध का एक ऐसा केन्द्र देगा जो विश्व के चोटी के केन्द्रों में होगा।

संकाय ने इस बात का भरसक प्रयास किया है कि विद्यार्थियों को संकाय की नीति निर्धारण प्रक्रिया में शामिल किया जाय। विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता प्रदान करने की समिति में छात्र-प्रतिनिधियों ने अपने उत्तरदायित्व एवं रचनात्मक चिंतन का उत्साहजनक परिचय दिया है। इससे यह आशा बंधती है कि हमारे विद्यार्थी संकाय की समस्याओं और उपलब्धियों के प्रति जागरूक हैं और इसके भावी विकास एवं उन्नयन में अपनी भूमिका निभाने के लिए तत्पर हैं।

विश्वविद्यालय के हीरक जयन्ती वर्ष के दौरान कला संकाय को अपनी उपलब्धियों एवं सफलताओं पर गर्व है और विश्वविद्यालय के सर्वांगीण विकास में अपना योगदान देने और अपने अमर संस्थापक के आदर्शों और मूल्यों को अग्रसर करने के लिए वह एक बार पुनः अपनी प्रतिवद्धता दुहराता है। संकाय परिवार के सभी सदस्य विद्यार्थी, अध्यापक, अधिकारी और कर्मचारी—अपने इस संकल्प को जानते हैं कि विश्वविद्यालय की प्रगति के लिए परिश्रम, त्याग और एकाग्र सेवा की भावना की आवश्यकता है। हमारा अतीत गौरवशाली है, हमारा वर्तमान उपलब्धियों और सफलताओं से भरा है और भविष्य के प्रति हमारी आस्था है। विश्वविद्यालय की मान रक्षा और प्रतिष्ठा वृद्धि ही हमारा एकमात्र उद्देश्य है। कला संकाय और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय महान तपस्वी पंडित मदन मोहन मालवीय के स्वप्न का मूर्तरूप है। हम उस महान् विभूति के प्रति श्रद्धानत होते हुए यह प्रतिज्ञा करते हैं कि राष्ट्र जीवन के सभी क्षेत्रों में हम नये कीर्तिमान बनायेंगे और तभी हम उस महान विरासत के सुयोग्य उत्तराधिकारी बन पायेंगे जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में हमें प्राप्त हुई है।

अंग्रेजी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

विज्ञान संकाय

प्रो० एस० के० अग्रवाल

सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के विज्ञान विभागों की तीव्र प्रगति एवं विस्तार के फलस्वरूप एक पृथक विज्ञान महाविद्यालय की स्थापना की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस महाविद्यालय का उद्घाटन समारोह विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति पं० मदन मोहन मालवीय द्वारा १२ सितम्बर, सन् १९३५ को सम्पन्न हुआ। इस महाविद्यालय के प्रथम प्राचार्य स्वर्गीय प्रो० कृष्ण कुमार माथुर थे। उनके असामयिक निधन से विश्वविद्यालय ने एक ऐसे असाधारण आस्थावान एवं सच्चे कार्यकर्ता को खो दिया जो वास्तव में सबका प्रेरणास्रोत था।

तत्कालीन महाविद्यालय में भौतिकी, रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, जीव विज्ञान, भौमिकी, औद्योगिक रसायन, तथा भेषज रसायन विभाग थे। सन् १९३८ में औद्योगिक रसायन भेषज तथा ग्लास एवं सिरेमिक विभाग, प्रौद्योगिक महाविद्यालय में स्थानान्तरित हो गये। भौमिकी विभाग के अन्तर्गत सन् १९४४ से भूगोल का शिक्षण प्रारम्भ किया गया तथा पृथक भूगोल विभाग का गठन सन् १९४६ में हुआ। स्नातकोत्तर स्तर पर भूभौतिकी का अध्ययन भी भौमिकी विभाग के ही अन्तर्गत सन् १९४९ से प्रारम्भ कर दिया गया था तथा एक पृथक् विभाग फरवरी सन् १९६७ से अस्तित्व में आया। चालूसत्र (१९७६-७७) से भूभौतिकी में द्विवर्षीय कोर्स के स्थान पर एक त्रिवर्षीय एम० एस-सी० (टेक) कोर्स का समावेश किया गया है। स्पेक्ट्रोस्कोपी के एक अलग विभाग की स्थापना सन् १९५३ में हुई किन्तु पुनः उसका विलय सन् १९७०-७१ में भौतिकी विभाग में कर दिया गया। गणित विभाग (सांख्यिकी से संलग्न) का १९६७ में संकाय के अन्तर्गत स्थानान्तरण हुआ। महिला शिक्षार्थियों का स्नातक स्तर पर शिक्षण महिला महाविद्यालय में होता है तथा स्नातकोत्तर स्तर पर संकाय के तदर्थ विभागों में होता है। इस संकाय के अन्तर्गत गृह विज्ञान विभाग की भी स्थापना की गई है। मनोविज्ञान को बी० एस-सी० स्तर पर एक शैक्षणिक विषय के रूप में (भौतिकी, गणित एवं मनोविज्ञान ग्रुप) सत्र १९६८-६९ से मान्यता दी गई। एम० एस-सी० मनोविज्ञान का शिक्षण मनोविज्ञान विभाग में होता है। जैव रसायन में एम० एस-सी० का शिक्षण विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों के सहयोग से सन् १९६६-६७ में प्रारम्भ हुआ। संकाय के प्रायः सभी विभागों में स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं के अतिरिक्त उच्चतम शोध कार्य की सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

इस विज्ञान महाविद्यालय के प्राचार्य पद को प्रो० कृष्ण कुमार माथुर, प्रो० पी० दत्ता, प्रो० एस० एस० जोशी, प्रो० अवध बिहारी मिश्र, प्रो० राजनाथ तथा प्रो० रामलोचन सिंह जैसे ख्यातिलब्ध विद्वान एवं कर्मठ वैज्ञानिकों ने सुशोभित किया है। उनके श्रेष्ठ निर्देशन में महाविद्यालय का शैक्षणिक एवं शोध-कार्य फला फूला।

तत्कालीन विज्ञान महाविद्यालय सन् १९६८ में विज्ञान संकाय में बदल गया तथा इसके प्रथम संकाय प्रमुख प्रो० रामलोचन सिंह हुए। तदन्तर प्रो० रामदेव मिश्र, प्रो० गुरुबख्श सिंह,

प्रो० रत्नशंकर मिश्र तथा प्रो० हुकुम सिंह राठौर क्रमशः संकाय प्रमुख रहे। संकाय में स्नातक, स्नातकोत्तर तथा शोध-छात्रों की संख्या प्रायः २५०० है।

जीव विज्ञान विभाग

जीव विज्ञान की नींव प्राणि-विज्ञान विभाग की एक ईकाई के रूप में सन् १९१८ ई० में पड़ी। इसकी कक्षाएँ सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल कमच्छा में कुछ वर्षों तक चलीं तथा कालान्तर में यह विभाग, वनस्पतिविज्ञान विभाग से सन् १९२१ ई० में विलग हुआ और विश्वविद्यालय प्रांगण में स्थानान्तरित हुआ। प्रो० अवध बिहारी मिश्र सन् १९२६ में जीव विज्ञान के अध्यक्ष हुए। इन्होंने लगभग ३४ वर्ष की अवधि के पश्चात १ अप्रैल सन् १९६० को अवकाश ग्रहण किया। इस अवधि में शोध के मुख्य क्षेत्र थे—कीट विज्ञान, कोशिका विज्ञान, मत्स्यआकार तथा पक्षिप्रजनन।

प्रो० मिश्र के अवकाश ग्रहण के पश्चात प्रो० एस० पी० राय चौधरी सन् १९६० में विभागाध्यक्ष हुए। इनके ११ वर्ष के कार्यकाल में शिक्षण एवं अनेक शोध कार्य प्रगति पथ पर अग्रसर हुए तथा पाठ्यक्रम को नवीन रूप प्रदान किया गया।

प्रो० राय चौधरी नें ८ जुलाई १९७१ को अवकाश ग्रहण किया। तदुपरान्त प्रो० जे० पी० थपलियाल सितम्बर १९७४ तक इसके अध्यक्ष रहे। तत्पश्चात् प्रो० एम० एस० कानूनगो सितम्बर १९७४ से ३१-८-१९७६ तक विभागाध्यक्ष रहे। प्रो० कानूनगो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त नेशनल फेलो के रूप में इसी विभाग में कार्यरत रहे। सम्प्रति प्रो० सी० जे० डामनिक विभागाध्यक्ष हैं।

इस विभाग मे विशेष रूप से जैव रसायन, फिजियोलॉजी, एन्ड्रोक्राइनोलॉजी, हिस्टोलॉजी, हिस्टोकेमेस्ट्री, एक्सपेरिमेन्टल एम्ब्रोयालॉजी, इकोलॉजी, पैरासाइटोलॉजी, साइटोजेनेसिस, इवोल्यूशन, फील्ड वायालॉजी, सिस्टमेटिक्स, एन्टोमोलॉजी, फिशबायोलॉजी इत्यादि में शिक्षण कार्य एवं शोध कार्य होते हैं। साइटोजेनेसिस में ड्रोसोफिला पर विशेष ध्यान दिया जाता है। रिप्रोडक्टिव फीजियोलॉजी तथा एन्ड्रोक्राइनोलॉजी के क्षेत्र में स्तनपायी पक्षीगण, एवं सर्पजाति के प्राणियों पर विशेष वल दिया जाता है। जननिक नियंत्रण' अध्ययन पर पिछले कई वर्षों से जोर दिया जा रहा है। गोनाड एवं एड्रीनल ग्लैंड, स्टीरॉयड पर विशेष ध्यान पूर्वक अध्ययन किया जाता है। इनके अतिरिक्त श्वसन अंग, घाव की पूर्ति पर भी कार्य होता है। कीट विज्ञान में एनाटॉमी, प्रजनन अंग, कोशिका कार्यिकी, बाह्यअकार्यकीय आदि पर विशेष बल दिया जाता है तथा एन्ड्रोक्राइन नियन्त्रण (बाइटेलोजेनेसिस) तितली में, विशेष खोज की जा रही है।

वनस्पति एवं प्राणि-विज्ञान विभागों के संयोजन में पिछले कई वर्षों में 'समर इन्स्टीट्यूट' का आयोजन हुआ। सन् १९६७ में मेघावी विद्यार्थियों हेतु ट्रेनिंग की व्यवस्था की गई थी। १९७४ ई० में जन्तु-कार्यिकी पर भी विशेष 'समर इन्स्टीट्यूट' का आयोजन किया गया। तुलनात्मक एण्डोक्राइनोलाजी में १९६७ ई० में एक गोष्ठी का आयोजन हुआ। १९६४ ई०

में एन्डोक्राइनोलाजी एवं एम्ब्रेयोलाजी (सर्प जाति के प्राणियों में) एक गोष्ठी हुई जो फ्रांसीसी सरकार एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के तत्वाधान में सम्पन्न हुई।

इस विभाग को राकेफेलर फाउन्डेशन, फोर्डफाउन्डेशन, संयुक्त राज्य अमरीका का पाप्यूलेशन परिषद फील्ड फाउन्डेशन, से काफी आर्थिक सहायता प्राप्त होती रही। इनके अतिरिक्त पी० एल० ४८० के तत्वावधान में वार्धक्य के शोध कार्यहेतु विशेष आर्थिक सहायता मिली। भारत सरकार की सभी संस्थाएँ जैसे वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद, अणुशक्ति विभाग, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् इत्यादि द्वारा समय-समय पर शोध कार्य सम्पादन हेतु सहायता प्राप्त होती रही हैं। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा यह विभाग, 'विशेष सहायता कार्यक्रम' के अन्तर्गत मानित है तथा इसे पिछले ५ वर्षों से विशेष सहायता मिल रही है।



विज्ञान संकाय

विभाग के प्रो० एम० एस० कानूनगो को १९७१ में प्रो० शान्तिस्वरूप भटनागर पुरस्कार मिला तथा १९७३ में भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी का फेलो चुना गया। साथ ही ये ३ अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं के सम्पादक मंडल में भी हैं। डा० शमीम हैदर को १९७५ में भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी का 'युवावैज्ञानिक' शोध पुरस्कार प्राप्त हुआ।

विभाग के अनेक सदस्य अनेक विदेशी गोष्ठियों में निमन्त्रित किये गये। विदेशों से अनेक जीव वैज्ञानिकों को भी विभाग में व्याख्यान हेतु आमन्त्रण दिया गया।

भूगोल विभाग

इस विभाग का शुभारम्भ सन् १९४६ ई० में हुआ। इसके प्रथम अध्यक्ष थे स्व० प्रो० एच० एल० छिब्बर, जिन्होंने अपने दो सहयोगियों के साथ इस वृक्ष को पल्लवित, पुष्पित किया। उनके समय में भू-आकृति विज्ञान का विकास हुआ तथा राष्ट्रीय भूगोल परिषद् ने २१ शोध पत्र (Bulletin) प्रकाशित किये।

सन् १९५५ ई० में प्रो० रामलोचन सिंह ने अध्यक्ष पद ग्रहण किया। उनके निर्देशन में इस विभाग ने बहुत उन्नति की। प्रादेशिक, आर्थिक, मानव एवं नगरीय भूगोल का अभ्युदय हुआ तथा विभिन्न नये क्षेत्रों में अध्ययन एवं शोध-कार्य पूर्ण हुए।

इस विभाग में मृदा प्रयोगशाला, हवाई छायाचित्र प्रयोगशाला तथा आँकड़ा प्रक्रियात्मक प्रयोगशाला की भी स्थापना की गई है। मानचित्र पुस्तकालय स्थापना की दिशा में पर्याप्त मात्रा में विश्व स्तर पर मानचित्रों का संकलन किया गया है।

यह विभाग निम्नलिखित क्षेत्रों में विशेषरूप से अध्ययन एवं शोध करवाता है :— (१) क्षेत्रीय अध्ययन, (२) अधिवासीय (नगरीय एवं ग्रामीण) अध्ययन, (५) जनसंख्या एवं संसाधन, (४) भूमि उपयोग, (५) भू-आकृति विज्ञान, (६) जलवायुशास्त्र एवं जल, (७) ऐतिहासिक भूगोल (८) समन्वित क्षेत्रीय विकास नियोजन। इस विभाग में दो डिप्लोमा कोर्स भी हैं (१) मान चित्रण कला विज्ञान तथा (२) संसाधन परिस्थैतिकी, जो संकाय के अन्य विभागों की सहायता से संचालित होते हैं।

सुरक्षा मंत्रालय के शोध एवं विकास विभाग के सहयोग से धरातलीय विश्लेषण का अध्ययन कार्य सम्पादित किया गया। वाडिया इन्स्टिट्यूट के सहयोग से भू-आकृति अध्ययन, विश्वविद्यालय भू-विज्ञान विभाग द्वारा एवं कुछ अन्य विश्वविद्यालयों के सहयोग से डक्कन ट्रैप (Deccan Trap) पर अध्ययन कार्य चल रहा है।

इस विभाग में तीन अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठियों का आयोजन हो चुका है। (१) विकासशील देशों का नगरीय भूगोल, १९६८ में (२) दक्षिण पूर्व एशिया की ग्रामीण बस्तियाँ १९७१ म, एवं (३) अन्तर्राष्ट्रीय भौगोलिक संघ के तत्वावधान में 'मानसून संसार की ग्रामीण बस्तियाँ १९७५ में।

भारतीय राष्ट्रीय भूगोल परिषद् का मुख्य कार्यालय इसी विभाग में स्थापित है। इस परिषद् द्वारा प्रकाशित पत्रिका National Geographical Journal of India, इस समय विश्वविश्रुत पत्रिका है। इसका प्रकाशन सन् १९५५ ई० से प्रारम्भ हुआ है। तब से यह लगातार नियमित रूप से शोध कार्यों का प्रकाशन करती चली आ रही है। नेशनल जियोग्राफिकल सोसाइटी आफ इंडिया और भूगोल विभाग के रजत जयन्ती के अवसर पर सोसाइटी द्वारा India. A Regional Geography, Morphology of Indian Cities, Dholary Village Survey. आदि मौलिक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। इसके अतिरिक्त ११ अन्य पुस्तकें एवं शोध प्रबन्ध भी प्रकाशित हो चुके हैं।

सम्प्रति, भारतवर्ष में यह विभाग अग्रणी है तथा संसार के विश्वविद्यालय की सूची में प्रमुख स्थान रखता है। संसार के अन्य विश्वविद्यालयों से शोधकार्य में सहयोग प्राप्त हो रहा है।

भूभौतिकी विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सन् १९४९ में भौमिकी विभाग के अन्तर्गत भूभौतिकी विभाग की स्थापना हुई जो सन् १९६७ से एक पृथक् विभाग के रूप में कार्य कर रहा है। इस

विभाग के प्रथम अध्यक्ष प्रो० एच० एस० राठौर थे। इनके ३० नवम्बर १९७६ तक के कार्य काल में अन्वेषण (एक्सप्लोरेशन) भूभौतिकी में विशेष विकास हुआ। साथ ही साइसोमोलाजी, मीटीरियोलाजी इत्यादि विषयों में भी। यह विभाग भारतीय भूविज्ञान विभाग, तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग तथा भारतीय मौसम विज्ञान विभाग से भी सहयोग प्राप्त करता है। सम्प्रति विभाग में, भारतीय मौसम विज्ञान विभाग द्वारा संचालित ओजोन यूनिट, मौसम वेधशाला तथा भूकम्प वेधशाला कार्यरत हैं।

सन् १९७६–७७ के सत्र से विभाग में एक त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम एम०एस-सी० (टेक) भूभौतिकी प्रारम्भ किया गया है।

विभाग के अन्तर्गत सभी प्रकार के आधुनिक उपकरणों से सुसज्जित प्रयोगशाला है। गत ५ वर्षों में १७ शोध प्रबंध प्रस्तुत किये गये। लगभग ५० शोध पत्र राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं।

विभाग के अनेक प्राचीन छात्र देश के अनेक शैक्षणिक एवं सरकारी संस्थानों में उच्च पदों पर आसीन हैं।

भौमिकी विभाग

इस विश्वविद्यालय में भौमिकी का शिक्षण १९२०–२१ से ही प्रारम्भ हुआ। तथा स्वतंत्र रूप में एक भौमिकी विभाग की स्थापना सन् १९२३ में हुई जिसके प्रथम अध्यक्ष थे स्व० प्रो० कृष्ण कुमार माथुर। विश्वविद्यालय के जनक की भावनाओं से प्लावित प्रो० माथुर ने भौमिकी के शिक्षण तथा शोध की प्रमुख प्रशाखाओं को समान गुरुत्व (महत्व) प्रदान किया। उन्होंने क्षेत्रीय अध्ययन को उचित महत्व प्रदान कर देश के सुदूर दुर्गम एवं अभेद्य स्थानों जैसे साल्टरेंज (सम्प्रति पाकिस्तान में) कच्छ, जम्मू, तथा कश्मीर में स्वयं क्षेत्रीय टीमों का नेतृत्व किया। पराधीन भारत के उन दशकों में जब कि शैक्षणिक क्षेत्र में भी विचार स्वातंत्र्य निरंकुश नहीं था, प्रो० माथुर ने इस विभाग में विचार स्वातंत्र्य को बढ़ावा दिया और एक 'भौमिकी मत पद्धति' (जियालोजी स्कूल) की पुष्ट नींव डाली।

सन् १९३६ में प्रो० माथुर के असामयिक एवं दुखद निधन के पश्चात् विभाग का भार उनके शिष्य स्वर्गीय प्रो० राजनाथ पर आ पड़ा जिन्होंने अपने गुरु द्वारा प्रतिस्थापित आदर्शों एवं परम्पराओं का पालन किया। शिक्षण एवं शोध की सभी प्रधान शाखाओं को ठोस एवं पुष्ट करने के साथ-साथ उन्होंने उनके अनुप्रयुक्त महत्व पर बल दिया। फलस्वरूप इन्जीनियरिंग जियोलाजी, हाइड्रोजियोलाजी और ड्रेसिंग (अयस्क प्रसाधन), माइक्रोपेलिथोन्टालाजी तथा सेडिमेन्टरी जियोलाजी का समावेश स्नातकोत्तर स्तर पर हो गया।

प्रो० राजनाथ के सन् १९६७ में अवकाश ग्रहण के पश्चात् उन्हीं के एक शिष्य के रूप में प्रो० एस० के० अग्रवाल ने विभागाध्यक्ष का पद सँभाला। तत्काल ही देश की आवश्यकताओं के संभरण हेतु पाठ्यक्रम का परिमार्जन किया गया। शिक्षण के साथ-साथ शोध कार्य भी पर्याप्त गहन (तीव्र) हुआ है। १९७१–७६ के मध्य २१ शोध प्रबंध प्रस्तुत

किये गये। इनमें से एक राष्ट्र भाषा हिन्दी के माध्यम से प्रस्तुत किया गया जो कि हमारे देश में भौमिकी के क्षेत्र में प्रथम प्रयास था।

प्रारम्भ से ही विभाग का आदर्श भौमिकी की सभी शाखाओं का सार्वभौमिक विकास रहा है। तदनुरूप भौमिकी के सभी विषयों का प्रशिक्षण एवं शोध कार्य प्रगति पर है यथा आग्नेय एवं कायान्तरित शैलिकी, अवसादनी, संरचनात्मक भौमिकी, भूरसायन, पुराजैविकी, सूक्ष्म पुराजैविकी, आर्थिक भौमिकी आदि. . .। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् विज्ञान एवं प्रौद्योगिक राष्ट्रीय परिषद् (एन० सी०एस० टी०) की सहायता से कई शोध स्कीमों पर कार्य प्रगति पर है। इस हीरक जयंती वर्ष में सूक्ष्म पुराजैविकी एवं स्तर शास्त्र की छठी भारतीय संगोष्ठी आयोजित की गई।

विभाग ने, राष्ट्र की अमूल्य सेवा की है। इसके अनेक प्राचीन छात्र, विभिन्न विश्वविद्यालयों, सरकारी संगठनों तथा अन्य प्रतिष्ठानों में अनेक महत्वपूर्ण पदों पर सफलतापूर्वक कार्यरत रहे हैं, एवं हैं। विभाग के बारह प्राचीन विशिष्ट छात्रों ने भारतीय विज्ञान कांग्रेस की भौमिकी एवं भूगोल शाखा के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया है।

भौमिकी विभाग ने कई नए विभागों को भी जन्म दिया है, यथा सिरेमिक तथा ग्लास टेक्नालाजी (सम्प्रति सिरेमिक इन्जीनियरिंग), भूगोल तथा भूभौतिकी। भौमिकी विभाग में जन्मे एवं पोषित हुए ये विभाग कालान्तर में पृथक् विभाग के रूप में स्थापित हुए।

सम्प्रति विभाग में बीस शिक्षक हैं जो विभिन्न प्राशाखाओं में विशेषज्ञ हैं इनमें से बहुतों ने विदेशों में शोध कार्य कर प्रशिक्षण प्राप्त किया है। इस समय विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित अनेक शोध प्रयोजनाएँ चल रही हैं। कितने ही अध्यापकों एवं शोध छात्रों ने विभिन्न राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेसों तथा गोष्ठियों में भाग लेकर देश तथा विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व किया है।

रसायन विभाग

सन् १९१७ में रसायन विभाग की स्थापना सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के एक विभाग के रूप में हुई थी तब से ही यह विभाग उन्नति के पथ पर अग्रसर रहा और आज विज्ञान संकाय का एक महत्वपूर्ण विभाग है। इसमें स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं में १००० से अधिक छात्रों को रसायन की शिक्षा दी जाती है।

विभाग स्नातकोत्तर स्तर पर कार्बनिक, अकार्बनिक, भौतिक एवं विश्लेषण (एनेलेटिकल) रसायन में विशेष योग्यता की सुविधा प्रदान करता है। इसके साथ-साथ आधुनिक विषय जैसे न्यूक्लीय और रेडियो-रसायन, सैद्धान्तिक रसायन, यांत्रिक तकनीक, जैविक रसायन आदि को भी पाठ्यक्रम में समाविष्ट किया गया है। विभाग में जीव रसायन में एक द्विवर्षीय कोर्स की भी व्यवस्था है, जिसके संचालन में विज्ञान संकाय के वनस्पति विज्ञान एवं जीव विज्ञान विभाग तथा इन्सीटीट्यूट आफ मेडिकल साइंस के कुछ विभागों से सहायता प्राप्त होती है।

विभाग की प्रयोगशालाओं में शोध कार्य की पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध हैं। एक शीतताप नियंत्रित प्रयोगशाला भी है जिसमें एन०एम०आर०, आई०आर०, यू०वी०, स्पेक्ट्रोग्राफ,

गैस क्रोमेटोग्राफ आदि मूल्यवान यंत्र सुसज्जित हैं। विभाग के काँच धमनी सेक्शन में आवश्यकतानुसार विभिन्न प्रकार के उपकरण बनाने की भी सुविधा है और द्रव वायु और द्रव नाइट्रोजन उत्पादन के उपकरण भी।

विभाग के सदस्यों ने कोलाइडी रसायन, चुम्बक रसायन, वैद्युत रसायन, गैसों में से वैद्युत विसर्जन, (जोशी प्रभाव) ठोस अवस्था रसायन, उत्प्रेरण (कैटेलेसिस), एन्जाइमोलोजी, पृष्ठ रसायन, सैद्धान्तिक रसायन, स्पेक्ट्रोस्कोपी आदि क्षेत्रों में उच्च कोटि का शोध कार्य किया है।

सम्प्रति ७५ शोध छात्र शोध कार्य में लगे हैं। शोध छात्रों को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद्, इंडियन काउंसिल आफ मेडिकल रिसर्च तथा भारत सरकार के अणु शक्ति विभाग तथा सुरक्षा मंत्रालय से वित्तीय सहायता प्राप्त होती है।

वनस्पति विज्ञान विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में वनस्पति विज्ञान का अध्यापन माध्यमिक स्तर पर १९१५ से, बी० एससी० स्तर पर १९१८ से तथा एम०एससी० स्तर पर १९१९ से आरंभ हुआ। उस समय प्रो० बीरबल साहनी इस विभाग के अध्यक्ष थे, तदुपरान्त १९२० में प्रो० इनामदार ने यह पद भार ग्रहण किया जिनके नेतृत्व में प्लांट फिजियालॉजी का विकास हुआ और इसी से आगे चल कर कृषि संकाय का विकास हुआ। प्रो० इनामदार को १९३१ में लम्बी अस्वस्थता के कारण अवकाश लेना पड़ा।

सन् १९३३ में प्रोफेसर वाई० भारद्वाज विभागाध्यक्ष बने। उनके समय (१९३३–५५) में शैवाल विज्ञान (Algology) के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य हुआ तथा उनके कार्यकाल में ही डा० ए० सी० जोसी०, श्री एन० के० तिवारी द्वारा एन्जीयोस्पर्म में, डा० आर० मिश्र द्वारा परिस्थिति विज्ञान (Ecology) डा० के० आर० मेहता द्वारा पुरावनस्पति (Palaeobotany) में, तथा डा० आर० वाई० राय द्वारा कवक विज्ञान (Mycology) में महत्वपूर्ण शोध कार्य हुआ।

प्रोफेसर आर० मिश्र के १९५५ से १९७१ तक के कार्यकाल में विभाग में परिस्थिति विज्ञान विभाग तथा कवक विज्ञान के क्षेत्र में भी शोध कार्य प्रगति पथ पर अग्रसर रहा।

प्रो० मिश्र के अवकाश प्राप्त होने पर सन् १९७१ में प्रोफेसर आर० एन० सिंह विभागाध्यक्ष हुए, जिन्होंने सन् १९७६ तक इस पद को सुशोभित किया। इस काल में ब्लू ग्रीन ऐलगी पर किये गये शोध कार्य को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई।

सम्प्रति प्रो० वाई० एस० आर० के० शर्मा विभागाध्यक्ष हैं जो कि देश के जाने माने शैवाल कोशिका विज्ञानी हैं। कोशिका विज्ञान, कोशिका वर्गिकी, कोशिकानुवंशिकी, कायकीय एवं ऐल्गी के जैव रसायन क्षेत्रों में विभाग में प्रशंसनीय कार्य हो रहा है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से विभाग के सराहनीय कार्यों को बढ़ावा देने हेतु सम्प्रति १० लाख रुपये तथा अन्य सहयोग मिल रहा है। पी० एल० ४८० के अन्तर्गत दो मुख्य योजनाओं के पूर्ण होने के अतिरिक्त देश के वैज्ञानिक अनुसंधान संस्थानों द्वारा विभिन्न प्रकार की सहायता प्राप्त योजनाओं को आगे बढ़ाया जा रहा है।

विभाग 'मानव एवं जीव मंडल कार्यक्रम' के अन्तर्गत दो योजनाएँ चला रहा है तथा 'ट्रापिकल इकोलोजी' नामक पत्रिका यहाँ स्थित ISTE के मुख्यालय द्वारा प्रकाशित होती है।

विभाग के छात्रों अध्यापकों द्वारा १४ पुस्तकें, २५० से अधिक शोध पत्र तथा ७५ शोध प्रबन्ध गत वर्षों में प्रस्तुत हुए। हिन्दी ग्रंथ अकादमी उत्तर प्रदेश द्वारा हिन्दी में लिखी दो वैज्ञानिक पुस्तकों को पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

संकाय प्रमुख एवं विभागाध्यक्ष भौमिकी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

शिक्षा शास्त्र संकाय

डॉ० राजेश्वर उपाध्याय

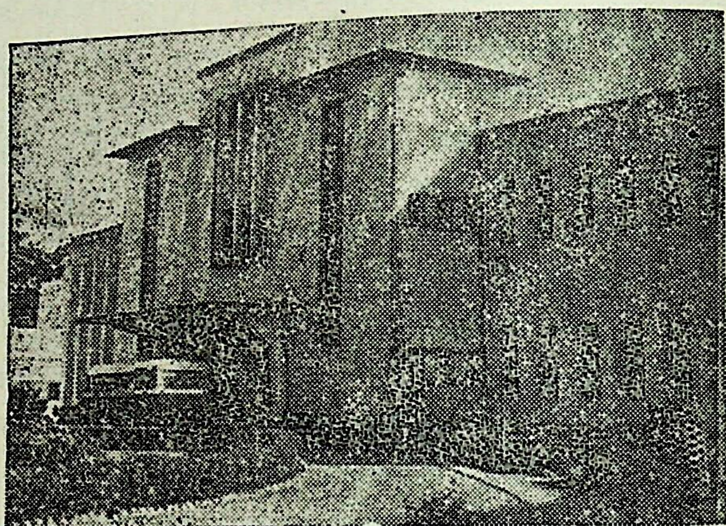
मालवीय जी की दृष्टि में अध्यापक प्रशिक्षण शिक्षा का एक महत्वपूर्ण अंग था। उस समय सम्पूर्ण देश में केवल चार नगरों (लाहौर, कलकत्ता, मद्रास और इलाहाबाद) में माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण महाविद्यालय थे। सन् १९१८ के प्रारंभ में मालवीय जी ने अध्यापक प्रशिक्षण की आवश्यकता महसूस की। १३ अगस्त १९१८ को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रशिक्षण महाविद्यालय की स्थापना हुई। प्रधानाचार्य समेत तीन मुख्य शिक्षक और चौदह छात्राध्यापकों से प्रशिक्षण का कार्य प्रारम्भ हुआ। इसमें सन् १९१८ से १९२८ तक एस०टी० की उपाख्या दी गई। १९२८ में एल०टी० को वी०टी० में परिवर्तित किया गया। १९४९ में वी०टी० की उपाधि को वी०एड० में बदल दिया गया। इसी वर्ष एम०एड० की कक्षा के साथ ही शोधकार्य प्रारम्भ हुआ।

वी०एड० के प्रशिक्षणार्थियों की सहायता के लिए उत्तर प्रदेश शासन ने आवर्तक अनुदान की स्वीकृति दी। महाविद्यालय विकास के पथ पर अग्रसर होतागया। प्रशिक्षणार्थियों की संख्या में वृद्धि होती गयी। पाठ्यक्रम विस्तृत और व्यावहारिक बनाये गए। शोध कार्य में प्रगति होने लगी।

अप्रैल १९६८ में शिक्षण प्रशिक्षण महाविद्यालय शिक्षा संकाय के रूप में परिवर्तित हुआ। शिक्षा-विभाग एवं शारीरिक शिक्षा विभाग को शिक्षा संकाय के अन्तर्गत रखा गया। डाक्टर प्रताप नारायण राजदान प्रथम संकायाध्यक्ष बनाये गये। डा० राजदान के अवकाश ग्रहण करने पर जुलाई १९६८ में डा० कुमारी सरोजिनी वार्ष्णेय प्रभारी संकायाध्यक्ष के रूप में कार्यरत हुईं। प्रसिद्ध शिक्षाविद् डा० सुबोध अदावल सितम्बर १९७१ में संकायाध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए। किन्तु मार्च १९७२ तक ही संकाय को उनका संरक्षण मिला। इस अवधि में डा० अदावल ने विभाग की उन्नति एवं विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। श्री राम कुंवर यादव १९७३ से प्रोफेसर एवं संकाय प्रमुख हैं। संकाय की नीतिगत आकांक्षा गुणात्मक बन गई है। अनुशासन को बल मिला है। आत्मालोचन की भावना बढ़ी है।

अध्यापक-प्रशिक्षण कार्य कमच्छा में तीन कमरों वाले भवन में शुरू हुआ। १९२१ में सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के विश्वविद्यालय परिसर में स्थानान्तरण से प्रशिक्षण महाविद्यालय को विशाल भवन मिला। महाविद्यालय की आवश्यकता और विस्तार के साथ ही यह कोल्हुआ में स्थानान्तरित हुआ। कुछ ही वर्षों में सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की आवश्यकता के कारण यह संस्कृत महाविद्यालय में स्थानान्तरित हो गया। जुलाई १९६२ से कमच्छा में द्वितीय पंचवर्षीय योजना में निर्मित नये भवन में प्रशिक्षण का कार्य चल रहा है। अधिकारियों की विशेष कृपा से शिक्षा संकाय के लिए विश्वविद्यालय परिसर में केन्द्रीय कार्यालय के निकट छात्रावास का निर्माण हुआ है। एम०एड० की कक्षाएँ यहीं चल रही हैं। शिक्षा के लिए नये भवन की योजना प्रस्तावित है। शिक्षा संकाय में योग्य और अनुभवी शिक्षाविद हैं। संकाय में दो

प्रोफेसर, सात रीडर, पन्द्रह व्याख्याता और दो प्रशिक्षक कार्यरत हैं। प्रसार सेवा विभाग में एक पद संयोजक का है जो समय-समय पर ९ पूर्वी जिलों के माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों के प्रशिक्षण तथा शैक्षिक गोष्ठियों की व्यवस्था करते हैं।



शिक्षाशास्त्र संकाय

चौदह छात्राध्यापकों से प्रशिक्षण महाविद्यालय का प्रारंभ हुआ था। १९२२ में पहली बार एक महिला को प्रशिक्षण मिला। १९२८ में चार अध्यापकों ने चौंतीस छात्राध्यापकों को प्रशिक्षित किया। १९५२ में प्राध्यापकों की संख्या १६ हो गई। सौ छात्रों ने वी०एड० प्रशिक्षणार्थ प्रवेश लिया। एम०एड० की शिक्षा के लिए छब्बीस छात्रों को प्रवेश मिला। १९६५–६६ के वर्ष में २२ अध्यापक थे। वी०एड० में प्रवेशार्थियों की संख्या १०७ और एम०एड० में तेरह रह गई। पी-एच०डी० के लिए छः छात्र पंजीकृत हुए। १९७५–७६ में अध्यापकों की संख्या छब्बीस हो गई। बी०एड० में १५४ और एम०एड० में २३ छात्रों को प्रवेश मिला। संकाय में शोध कार्य प्रगति पर है। ग्यारह व्यक्तियों को अब तक पी-एच०डी० की उपाधि मिल चुकी है। सम्प्रति बारह छात्र विभिन्न विभागीयनिर्देशकों के अन्तर्गत शोधकार्य में रत हैं।

शिक्षा संकाय के कमच्छा स्थित भवन में ११६३७ पुस्तकों से सम्पन्न पुस्तकालय है। वाचनालय का समुचित प्रबंध है जिसमें तीन हिन्दी और अंग्रेजी के दैनिक पत्रों के अतिरिक्त इकतालीस पत्र-पत्रिकायें आती हैं। टेक्स्ट वुक बैंक की व्यवस्था पुस्तकालय में है जिससे निर्धन छात्रों को नियमित रूप से सहायता मिलती है।

अक्टूबर १९६९ में शैक्षिक समस्याओं के चिन्तक प्रख्यात शिक्षाविद् डा० कालूलाल श्रीमाली के कुलपति नियुक्त होते ही शिक्षा संकाय के विकास की आशा बढ़ी। डा० श्रीमाली ने शिक्षासंकायको शिक्षा संस्थान के रूप में विकसित करने की योजना का सुझाव दिया। उन्होंने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से सम्पर्क स्थापित किया। आयोग ने सिद्धान्ततः इस योजना

पर अपनी स्वीकृति दे दी। देश और समाज के साथ ही विश्वविद्यालय की अनेक समस्याओं में उलझे रहने के बावजूद भी डा० श्रीमाली ने शिक्षा संकाय की आवश्यकताओं का ध्यान रखा है।

वर्तमान कुलपति डा० मोतीलाल धर एक सिद्धहस्त एवं प्रख्यात वैज्ञानिक हैं। क्रियात्मकता से गतिशील उनके कुशल नेतृत्व में यह संकाय शिक्षा संस्थान के रूप में परिवर्तित होकर शैक्षिक समस्याओं के अनुसन्धान एवं समाधान में तीव्रतर गति लायेगा ऐसा दृढ़ विश्वास है।

रीडर, शिक्षाशास्त्र संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाणिज्य एवं प्रबन्ध शास्त्र संकाय

राम अवध सिंह

विश्वविद्यालय के संस्थापक पूज्य पंडित मदनमोहन मालवीय विलक्षण दूरदर्शिता सम्पन्न मनीषी थे। विश्वविद्यालय की स्थापना से बहुत पहले ही देश के भावी विकास तथा उसके लिए आवश्यक शिक्षा व्यवस्था की एक स्पष्ट रूप रेखा की उन्होंने कल्पना कर ली थी। उनका यह दृढ़ मत था कि पौर्वात्य आध्यात्म के साथ-साथ पाश्चात्य ज्ञान, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की शिक्षा के बिना एक शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण असम्भव है। फलस्वरूप उन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय में अभियांत्रिकी तथा प्रौद्योगिकी की अनेक नयी विधाओं के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था की जिनमें दीक्षित इस विश्वविद्यालय के स्नातक देश की विकास योजनाओं के क्रियान्वयन में आज जो महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं उससे सभी सुपरिचित हैं। किन्तु यह बहुत कम व्यक्तियों को ज्ञात है कि राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए वाणिज्य एवं प्रबंध की उच्चस्तरीय शिक्षा के महत्व का अनुमान भी देश में सम्भवतः सर्वप्रथम मालवीय जी ने ही किया था। विश्वविद्यालय के १९०४ ई० में प्रकाशित प्रास्पेक्ट्स में मालवीयजी ने "वाणिज्य एवं प्रशासन महाविद्यालय" की स्थापना को उच्च वरीयता प्रदान की थी। यह स्मरणीय है कि भारत में प्रथम वाणिज्य महाविद्यालय की स्थापना १९१३ में हुई तथा प्रशासन का अध्ययन-अध्यापन उपर्युक्त प्रास्पेक्टस के प्रकाशन के लगभग आधी शताब्दी बाद प्रारम्भ हो सका। इस प्रकार यदि मालवीयजी की योजना समय से कार्यान्वित हो पाती तो देश में वाणिज्य एवं प्रशासन की भी उच्चस्तरीय शिक्षा प्रारम्भ करने का श्रेय हिन्दू विश्वविद्यालय को ही मिला होता।

मालवीयजी की प्रबल इच्छा के बावजूद अर्थाभाव के कारण उनके कार्यकाल में वाणिज्य महाविद्यालय की स्थापना नहीं हो पायी। फिर भी उनके प्रयत्नों से वाणिज्य शिक्षा के लिए बम्बई के सेठ मथुरादासजी बासनजी खीमजी तथा सेठ मूंगालाल बांकेलाल से एक लाख उनहत्तर हजार रुपये का दान विश्वविद्यालय को प्राप्त हुआ और १९४० ई० में डा० राधाकृष्णन के कुलपतित्व में अर्थशास्त्र विभाग के एक अंग के रूप में वाणिज्य विभाग की स्थापना की गयी। १९५० ई० में इसे एक स्वतंत्र विभाग का पद प्राप्त हुआ तथा १९६५ ई० में इसको एक पृथक संकाय बना दिया गया। १९६८ ई० में संकाय में प्रबंध शिक्षा की व्यवस्था की गयी तथा १९७६ ई० में विश्वविद्यालय की हीरक जयन्ती के अवसर पर इसे दो स्वतन्त्र विभागों-वाणिज्य विभाग तथा प्रबंध शास्त्र विभाग-में विभक्त कर दिया गया।

साधनों की कमी के बावजूद, जिसका उल्लेख हम बाद में करेंगे, इस संकाय ने पिछले साढ़े तीन दशकों मे देश की बहुमूल्य सेवा की है। प्रारम्भ से ही अध्यक्ष के रूप में इसे क्रमशः डा० बाबूराम मिश्र, डा० ए० के० दास गुप्त, प्रोफेसर ज्ञानेन्द्र नारायण दासगुप्त, डा० रमण लाल अग्रवाल, डा० श्रीकृष्ण राज भंडारी, प्रोफेसर श्याम मोहन तिवारी तथा श्री ए० के०

शाह सदृश मूर्धन्य विद्वानों की बहुमूल्य सेवाएँ प्राप्त रही हैं। इससे संकाय की यशः वृद्धि हुई है तथा देश के कोने-कोने से तथा नेपाल, थाइलैण्ड, मलेशिया, श्रीलंका, केनिया, प्रभृति देशों से भारी संख्या में छात्र यहां अध्ययनार्थ आते रहे हैं। इस संकाय के अनेक प्राचीन छात्र देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में वाणिज्य एवं प्रबंध शास्त्र विभागों के अध्यक्ष के रूप में कार्य कर रहे हैं। अनेक अन्य छात्र सरकारी विभागों तथा व्यावसायिक संस्थानों में उच्च पदों पर कार्यरत हैं। अनेक के अपने स्वयं के अच्छे व्यवसाय हैं जिनका वे सफलता पूर्वक संचालन कर रहे हैं। संकाय को अपने प्राचीन छात्रों की सफलता पर हर्ष एवं गर्व है।

संकाय के अध्यापकों ने योजना आयोग तथा अन्य संस्थाओं द्वारा प्रवर्तित लगभग आधा दर्जन शोध परियोजनाओं का संचालन किया है जिनमें "वाराणसी तहसील के ग्रामीण क्षेत्रों में आय, बचत एवं विनियोग का ढांचा", "केन्द्रीय एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश के १२ औद्योगिक उपक्रमों में औद्योगिक संबंध", तथा "उत्तर प्रदेश के इन्जीनियरिंग इकाइयों में क्षमता का उपयोग" प्रमुख हैं। उन्होंने शताधिक शोध प्रबंध भी प्रकाशित किये हैं। वाणिज्य में अबतक १९ एवं प्रबंध में एक शोध छात्र को पी-एच० डी० की उपाधि मिल चुकी है। संकाय के अनेक अध्यापकों ने विदेशों में जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त की है तथा देश के भीतर भी उच्च शिक्षा के अवसरों से वे अपने को लाभान्वित करते रहे हैं।

राज्य एवं राष्ट्रीय स्तर पर औद्योगिक विकास एवं वाणिज्य शिक्षा के अनुसन्धान के लिए भी संकाय ने महत्वपूर्ण प्रयत्न किये हैं। एतदर्थ उसने समय-समय पर जिन सम्मेलनों तथा विचार-गोष्ठियों का आयोजन किया है उनमें से कुछ प्रमुख ये हैं :—अखिल भारतीय वाणिज्य सम्मेलन (१९५३), उत्तर प्रदेश सरकार के सहयोग से "चतुर्थ योजनावधि में उत्तर प्रदेश के औद्योगिक विकास के निमित्त वित्तीय व्यवस्था" तथा उत्तर प्रदेश के संदर्भ में औद्योगीकरण की रूप रेखा" पर विचार-गोष्ठियां (१९६४ तथा १९६५), श्रम सम्बन्धी राष्ट्रीय आयोग एवं अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के सहयोग से आयोजित विचार गोष्ठियां (१९६६ तथा १९६८), खादी-ग्रामोद्योग आयोग के सहयोग से "ग्रामोद्योग तथा नवीन आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था (१९७३), पर आयोजित विचार गोष्ठी तथा प्रबंध विकास संबंधी भारतीय संघ एवं वाणिज्य शिक्षा एवं शोध संबंधी अन्तर्विश्वविद्यालयीय परिषद के सम्मेलन (१९७४) प्रमुख हैं।

छात्रों को उपयोगी शिक्षा प्रदान करने के प्रति भी संकाय सतत् जागरूक रहा है। एतदर्थ समय-समय पर पाठ्यक्रमों में आवश्यक संशोधन-परिवर्तन किये जाते रहे हैं। वाणिज्य शिक्षा को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने के लिए प्रारम्भ से ही यह व्यवस्था की गयी है कि एम० काम० के छात्र अपने अध्ययन काल के दौरान किसी प्रमुख औद्योगिक अथवा व्यावसायिक प्रतिष्ठान में प्रशिक्षण प्राप्त करें। उनसे सांख्यिकीय सर्वेक्षण भी कराया जाता रहा है ताकि वास्तविक जगत की समस्याओं के विश्लेषण की प्रतिभा का उनमें विकास हो सके। समय-समय पर पाठ्यक्रमों में नए विषयों का भी समावेश किया जाता रहाहै। इस दिशा में संकाय का एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम १९६८-६९ में द्विवर्षीय एवं त्रिवर्षीय 'मास्टर आफ बिजनेस

मैनेजमेन्ट" एवं त्रिवर्षीय 'बैचलर आफ विजनेस मैनेजमेण्ट' पाठ्यक्रमों का आरम्भ करना रहा है। दुर्भाग्यवश संकाय के बी०बी०एम० पाठ्यक्रम को सरकार का समर्थन न मिल सका और फलस्वरूप कुछ समय पश्चात यह पाठ्यक्रम बन्द कर देना पड़ा।

प्रारम्भ में प्रवन्ध पाठ्यक्रमों के लिए पर्याप्त शिक्षकों की व्यवस्था न हो पायी। साथ-साथ संकाय को वाणिज्य पाठ्यक्रमों में छात्रों की संख्या में होने वाली असाधारण वृद्धि का भी सामना करना पड़ा। इस विकट स्थिति में अनेक वर्षों तक शैक्षणिक कार्य तीन पारियों में चलाना पड़ा। विभाग के लगभग सभी अध्यापकों को दो पारियों में तथा कुछ को तीनों पारियोंमें कार्य करना पड़ा। स्पष्ट है कि इससे संकाय में होने वाले शोध कार्यों तथा उसके विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। संकाय का अपना निजी भवन न होने के कारण विद्यार्थियों को भी काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा और उनमें से अधिकांश शिक्षणेत्तर कार्यक्रमों में भाग लेने के अवसर से वंचित हो गये। इन प्रतिकूल परिस्थितियों का संकाय के छात्रों तथा अध्यापकों ने अच्छे भविष्य की आशा में धैर्यपूर्वक सामना किया। सौभाग्य से १९७५ ई० में प्रबंध शास्त्र विभाग के लिए एक नए भवन का निर्माण पूरा हो गया जिससे संकाय की स्थानाभाव संबंधी समस्या आंशिक रूप से हल हो गयी किन्तु वाणिज्य विभाग के लिए यह समस्या अभी तक बनी हुई है।

५ जनवरी, १९७६ से संकाय में दो स्वतंत्र विभाग कार्य कर रहे हैं। श्री अश्विनी कुमार शाह को प्रबंधशास्त्र विभाग एवं श्री राम अवध सिंह को वाणिज्य विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। श्री शाह ने संकाय प्रमुख का भी पद भार ग्रहण किया। जनवरी १९७७ से प्रबंध शास्त्र विभाग के अध्यक्ष एवं संकाय प्रमुख के पद पर प्रोफेसर श्याम मोहन तिवारी कार्य कर रहे हैं।

सम्प्रति प्रवंध शास्त्र विभाग में १० अध्यापक एवं लगभग १५० छात्र हैं। विभाग एम०बी०एम० पूर्णकालिक एवं अंश-कालिक दोनों ही पाठ्यक्रम चला रहा है। इस विभाग ने अपने वर्तमान पाठ्यक्रमों के सम्पूर्ण ढांचे को परिवर्तित करने की एक योजना बनाई है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक वर्ष मे तीन ट्रेमेस्टर होंगे। नये पाठ्यक्रमों में लोकोद्योगों की समस्याओं पर विशेष महत्व दिया जायगा। विभाग व्यावसायिक अधिकारियों के प्रशिक्षण एवं परामर्श की योजनाओं पर भी विचार कर रहा है। ऐसा भी प्रस्ताव है कि प्रबंध शास्त्र एवं वाणिज्य विभागों को दो स्वतंत्र संकायों का रूप प्रदान कर दिया जाय एवं अवश्यक साधन उपलब्ध होने पर इन्हें स्कूल के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय।

संकाय के वाणिज्य विभाग में इस समय लगभग ७५० छात्र-छात्रायें अध्ययन कर रही हैं तथा इसके अध्यापकों की स्वीकृत संख्या २५ है। जनवरी १९७६ में एक पृथक विभाग के रूप में संगठित होने के पश्चात से यह तीव्र गति से विकास के पथ पर अग्रसर है। जुलाई १९७६ में इसने अखिल भारतीय वाणिज्य सम्मेलन एवं एक अखिल भारतीय विचार गोष्ठी का आयोजन किया। विश्वविद्यालय के हीरक जयन्ती वर्ष में विभाग ने अपने को एक "स्कूल आफ कामर्स", के रूप में संगठित करने की योजना बनायी। प्रस्तावित स्कूल में बी०काम०

तथा एम०काम पाठ्यक्रमों के अतिरिक्त लेखाकर्म, अधिकोषण, बीमा, सहकारिता, औद्योगिक उद्यमशीलता, कराधान, श्रम, कानून एवं औद्योगिक संबंध, स्टोर-कीपिंग, प्रभृति विषयों में डिप्लोमा पाठ्यक्रमों को चलाने की भी योजना है ताकि वाणिज्य शिक्षा की ओर उमड़ती हुई छात्रों की विशाल भीड़ को सार्थक शिक्षा प्रदान की जा सके। स्कूल में एक शोध केन्द्र एवं अध्यापक विकास केन्द्र की स्थापना की भी योजना विचाराधीन है। स्कूल की कल्पना को साकार करने के लिए विभाग के अध्यक्ष तथा अन्य अध्यापकों के अथक परिश्रम से उसे २० लाख रुपये से अधिक के दान का आश्वासन प्राप्त हो चुका है। विभाग के लिए नये भवन का शिलान्यास भी वसन्त पंचमी, दिनांक २४ जनवरी, १९७७ ई० को भूतपूर्व कुलपति डा० कालूलाल श्रीमाली के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हो चुका है। आशा है कि निकट भविष्य में यह विभाग देश में वाणिज्य शिक्षा का एक अग्रणी केन्द्र बन जायेगा।

रीडर एवं विभागाध्यक्ष वाणिज्य विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

ग्रामीण विकास में अग्रसर कृषि संकाय

डॉ० गौरीशंकर लवानियाँ

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना पू० महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी ने राष्ट्र निर्माण तथा ग्रामीण विकास के उद्देश्य से प्रेरित होकर की थी। भारत के सुदूर गांवों में अज्ञान उन्मूलन एवं ज्ञान प्रसारण के महामना के स्वप्न को ध्यान म रखकर विश्वविद्यालय प्रांगण में अन्य शिक्षण संस्थाओं की भांति कृषि संकाय की स्थापना वर्ष १९३१ में तत्कालीन जोधपुर नरेश राजराजेश्वर श्री उम्मेद सिंह जी द्वारा प्रदत्त ४ लाख रूपये की धनराशि के परिणाम-स्वरुप 'कृषि अनुसधांन संस्थान' के रूप में हुई। इसी वर्ष से विज्ञान संकाय के सहयोग से स्नातकोत्तर स्तर पर मुख्य रूप से पादप कायिकी तथा गौण रूप से फसलों, अनुवंशन एवं पादप प्रजनन, कवक तथा पादप रोग विज्ञान में शिक्षण का श्रीगणेश हुआ। विश्वविद्यालय स्थित कृषि फार्म तथा दुग्धशाला को भी इसी संस्थान से सम्बद्ध कर दिया गया। उस समय तक यह संस्थान राष्ट्र के विभिन्न प्रदेशों के कृषि स्नातकों को कृषि प्रशिक्षण देने का कार्य करता रहा पर देश की अन्य शिक्षण संस्थाओं में कृषि स्नातकोत्तर कक्षाएं आरम्भ होने के साथ ही यहां भी पादप कायिकी पादप रोग विज्ञान, अनुवंशन एवं पादप प्रजनन, कृषि अर्थशास्त्र, सस्य विज्ञान, कृषि रसायन तथा उद्यान विज्ञान आदि विषयों में विश्वविद्यालय के अनुदान से विधिवत शिक्षण आरम्भ हो गया। वर्ष १९४५ में स्नातक कक्षाओं के आरम्भ होने के साथ ही इस संस्थान का नामकरण "कृषि महाविद्यालय" कर दिया गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात इस महाविद्यालय को प्रथम तथा द्वितीय योजनाओं में न के वरावर आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ परन्तु तीसरी योजना में दीवान कमेटी की संस्तुति के फलस्वरूप भवन निर्माण, प्रयोगशाला एवं पुस्तकों के लिए अनुदान मिला। इस संस्था के इतिहास में यह पहला अवसर था जव यहां प्रोफेसर, रीडर एवं प्रवक्ताओं के नये पदों की स्वीकृति प्राप्त हुई। सन् १९६३ में मृदा विज्ञान एवं कृषि रसायन तथा अनुवंशन एवं पादप प्रजनन में स्नातकोत्तर कक्षाओं का आरम्भ हुआ।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद कृषि मंत्रालय ने इस महाविद्यालय का आर्थिक उत्तरदायित्व अपने हाथों में लेना स्वीकार कर लिया और परिषद के तत्कालीन निदेशक डा० वी० पी० पाल के नेतृत्व में १९६३ में बनी एक कमेटी की संस्तुतियों के आधार पर लगभग ११.५९ लाख रुपये का अनुदान प्राप्त हुआ। कमेटी ने इस महाविद्यालय को कृषि विश्वविद्यालयों के समानान्तर विकसित करने की राय दी जिसे उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल क्षेत्र के कृषि विकास का उत्तरदायित्व सौंपा जा सके। सन् १९६३ में ही कृषि महाविद्यालय का स्तर जो पहले तकनीकी संकाय का ही एक भाग था, बढ़ाकर "कृषि संकाय" के रुप में कर दिया गया और जुलाई १९६९ में ६ विभागों-पादप कायिकी, सस्य विज्ञान अनुवंशन तथा पादप प्रजनन, मृदा विज्ञान तथा कृषि रसायन, पादप रोग एवं कृषि अर्थशास्त्र का गठन किया गया। दो अन्य विभाग—कृषि जंतु एवं कीट विज्ञान व उद्यान विज्ञान वर्ष १९७१ में प्रारम्भ कर दिये गये। इन्हीं वर्षों में कृषि संकाय के विकास हेतु एक विस्तृत योजना मा० कृ० अ० प० नई दिल्ली के समक्ष प्रस्तुत की गई और १९७२ में डा० गौतम कमेटी की संस्तुति पर इस संकाय

को २२ लाख रुपये की धनराशि स्वीकृत की गई परन्तु दुर्भाग्यवश २०० एकड़ फार्म की उपलब्धि के अभाव में इस अनुदान का अधिकांश भाग प्राप्त न हो सका।

भा० कृ० अ० प० की संस्तुतियों के आधार पर जुलाई १९७४ से स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं में क्रेडिट प्रणाली का शिक्षण प्रारम्भ किया गया और इन्हीं वर्षों में मिर्जापुर जनपद में स्थित २५०० एकड़ भूखण्ड का अधिग्रहण कृषि अनुसंधान को अधिक कारगर बनाने के उद्देश्य से किया गया। सन् १९७५ में दो विषयों—कृषि प्रसार तथा पशु पालन, दुग्ध विज्ञान एवं पशु रोग निदान में स्नातकोत्तर कक्षाओं का आरम्भ हुआ।

सम्प्रति स्नातक, स्नातकोत्तर तथा शोध कक्षाओं का शिक्षण इस संकाय में स्थित आठ विभागों तथा तीन प्रभागों में कार्यरत लगभग ६० अध्यापकों के सहयोग से प्रतिपादित हो रहा है। स्नातकोत्तर शिक्षा के लिए जैसा पहले कहा जा चुका है कृषि के मुख्य १० विषयों में शिक्षण की सुविधा है। इस संकाय में छात्रों की कुल संख्या लगभग ५०० है जिसमें करीब ३०० छात्र स्नातक कक्षाओं में, १२५ छात्र स्नातकोत्तर कक्षाओं में तथा ७५ छात्र शोध में कार्यरत हैं।

पठन-पाठन को गहन एवं सुविधाजनक बनाने के उद्देश्य से लगभग सभी विद्यार्थियों को छात्रावास की सुविधा है। संकाय तथा विभागों में आधुनिकतम प्रयोगशालाएँ तथा पुस्तकालय हैं तथा क्षेत्र प्रशिक्षण के लिए २५०० एकड़ का पर्याप्त भूखण्ड विश्वविद्यालय परिसर के भीतर तथा बाहर स्थित है। इसके उपरान्त छात्रों को गांवों में जाकर कृषकों के साथ मिलकर प्रशिक्षण प्राप्त करने की सुविधा है और इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि विद्यार्थियों को दिया जानेवाला शिक्षण एक व्यवसाय के रूप में ग्राह्य हो ताकि भविष्य में उन्हें आजीविका प्राप्त करने में सम्बन्धित शिक्षण का भरपूर लाभ मिल सके।

केन्द्रीय स्तर का विद्यालय होने से भारत के हर भाग से विद्यार्थी यहां आते हैं। कुलमिलाकर दक्षिण भारत से आए छात्रों की संख्या कुल छात्रों की एक तिहायी है। पिछली जानकारी में छात्रों के सामंजस्य तथा भाषा सम्बन्धी समस्याओं के निराकरण हेतु प्रारंम्भिक कक्षाओं में हिन्दी-अंग्रेजी भाषाओं का अध्ययन आवश्यक प्रतीत हुआ। प्रत्येक सेमेस्टर में कुल मिलाकर ९ परीक्षायें होती हैं और प्रत्येक परीक्षा की उत्तर पुस्तिकाएँ निरीक्षण के पश्चात् विद्यार्थियों को लौटाई जाती हैं, जिसमें वे अपने प्राप्तांकों तथा कापियों की सही जानकारी अन्य विद्यार्थियों की पुस्तिकाओं से मिलान करके प्राप्त कर सकें तथा उनमें सुधार कर सकें।

स्नातक कक्षाओं की भांति स्नातकोत्तर कक्षाओं में भी छात्र का अपने विभाग के अतिरिक्त अन्य विभागों के विषयों का अध्ययन करना पड़ता है। संक्षेप में किसी दिशा में ज्ञानवर्धन के लिए आवश्यक सभी विषयों को पढ़ना प्रत्येक विद्यार्थी को अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक छात्र के विषयों का चयन उसके लिए निर्मित एक कमेटी शुरु में ही कर लेती है। सम्बन्धित विषयों जैसे चिकित्सा विज्ञान, जीव विज्ञान, तकनीकी ज्ञान, भौतिकी आदि के यहां अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विभागों के कारण शिक्षण में विशेष सुविधा मिलती है। इसका उद्देश्य उस छात्र के भविष्य के लिए ज्ञानार्जन के लिए एक आधारशिला रखना है। पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर छात्रों के पठन सुविधा के लिए उपयुक्त पुस्तकों के लेखन में यहां के अध्यापकों ने महत्त्वपूर्ण

भूमिका निभायी है। गतवर्ष पशुपालन के क्षेत्र में अखिल भारतीय स्तर पर सर्वोत्कृष्ट मौलिक ग्रंथ लेखन हेतु डा० डी० एन० पाण्डेय को "डा० राजेन्द्र प्रसाद पुरस्कार" से सम्मानित होना इस क्षेत्र में एक उल्लेखनीय कदम है। डा० सन्त सिंह अध्यक्ष मृदा विज्ञान एवं कृषि रसायन विभाग के निर्देशन में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सहायता से इसी विषय से सम्वन्धित एक परियोजना चल रही है।

विद्यार्थियों द्वारा संचालित "कृषि परिषद" ने उनके शैक्षणिक तथा अन्य चारित्रिक एवं नैतिक, उत्थान में विशेष भूमिका निभाई है। देश के ख्याति प्राप्त वैज्ञानिकों की व्याख्यान माला तथा वाद विवाद प्रतियोगिताओं का प्रवन्ध इस परिषद का मुख्य कार्य है।

इसी वर्ष गोविन्द वल्लभ पन्त कृषि एवं तकनीकी विश्वविद्यालय पन्तनगर में आयोजित अखिल भारतीय वाद विवाद प्रतियोगिता में हिन्दी तथा अंग्रेजी में इस संकाय के दो छात्रों— क्रमशः श्री पी० के० पांडेय एवं श्री वी० एस० जार्ज ने प्रथम स्थान प्राप्त कर चल शील्ड अर्जित किया है। गत कई वर्षो से वसन्त पंचमी पर आयोजित विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध स्थापनोत्सव दिवस की झांकी प्रतियोगिता में इस संकाय को प्रथम स्थान प्राप्त करने का गौरव प्राप्त होता रहा है। अपने कृषि सम्वन्धी ज्ञान एवं उपलब्धियों को कृषकों तक पहुँचाकर लाभान्वित करने हेतु प्रायः हर वर्ष किसान मेले का सफल आयोजन होता रहा है।

जहां इस संकाय ने अपनी उत्कृष्ट ज्ञान एवं विज्ञान की प्रतिभा का प्रदर्शन किया है वहीं खेलकूद में भी इस संकाय की उल्लेखनीय उपलब्धियां रही हैं। सम्पूर्ण विश्वविद्यालय के छात्रों के लगभग ४% छात्र इस संकाय में शिक्षा पाते हैं परन्तु इनकी रचनात्मक, सामाजिक, शैक्षणिक तथा खेलकूद सम्वन्धी उपलब्धियां अपने आपमें एक रिकार्ड हैं। इस वर्ष १९७६–७७ में वार्षिक प्रतियोगिता में विश्वविद्यालय में संकाय ने १०२ अंक प्राप्त कर द्वितीय स्थान प्राप्त किया है।

हिन्दू विश्वविद्यालय का स्पोर्टस मैडल जो कि शैक्षणिक उपलब्धियों एवं खेलकूद में उत्तम स्थान अर्जित करने वाले छात्रों को मिलता है, इसी संकाय के श्री अनिल लवांनियाँ ने प्राप्त किया है। इसके अतिरिक्त इस संकाय के बहुत से प्रतिभाशाली छात्रों एवं अध्यापकों ने विश्वविद्यालय तथा राष्ट्रीय स्तर पर उल्लेखनीय उपलब्धियों से इसे गौरवान्वित किया है।

अंतर संकाय क्रीड़ा प्रतियोगिता :—

इस वर्ष इस संकाय की वास्केट वाल टीम न केवल जिला वास्केटवाल प्रतियोगिता में विजेता रही अपितु अन्तर संकाय वास्केट वाल प्रतियोगिता में भी सर्वजेता रही। हमारी कवड्डी टीम जो गत वर्ष उपजेता थी, अपने अथक प्रयास एवं अविरल अभ्यास से इस वर्ष विजेता स्थान प्राप्त करने में सफल रही।

अथलेटिक्स में इस वर्ष विद्यार्थियों ने उत्साह एवं अभ्यास के परिणाम स्वरूप उपजेता स्थान ग्रहण कर गौरव पाया। साथ ही श्री ज्ञानेश्वर सिंह ने व्यक्तिगत चैम्पियन शिप जीती है।

इस संकाय की ख्याति, यहां की शोध उपलब्धियों पर आधारित रही है। अध्यापकों, शोध छात्रों, एवं विशिष्ट परियोजनाओं में कार्यरत वैज्ञानिकों द्वारा मौलिक एवं यहां के

कृषकों के लिए प्रत्यक्ष रूप से लाभप्रद अन्वेषणों में इस संस्था का गौरवपूर्ण अतीत एवं वर्तमान है। लगभग चार दशक पूर्व इस संस्था ने अपने जीव विज्ञान सम्बन्धी अनुसंधान से भारत को ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया है, और देश में वैज्ञानिक कृषि की नींव रख इसे एक नई दिशा प्रदान की है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण १९३५ के लगभग संजोये एवं अब तक सुरक्षित कृषि संग्रहालय से मिलता है। यहां के शोध छात्रों एवं वैज्ञानिकों को भारत एवं विदेशों में नवीनतम शोधशालाओं में आसीन रहने का गौरव है।

ग्रामीण अंचल की कृषि सम्बन्धी समस्याओं से सम्वन्धित अनुसंधान का क्रम, जलवायु विशेष के लिए फसलों, सब्जियों, फलों की उन्नतिशील प्रजातियों की उत्पत्ति, उनको उगाने की वैज्ञानिक तकनीक, उत्पादन सम्बन्धी अवरोधों का निदान तथा उनके लागत एवं आय का आंकलन, फसलोत्पादन का आर्थिक विश्लेषण आदि प्रमुख क्षेत्रों के अनुसंधान उल्लेखनीय हैं फसलों की नवीन प्रजातियों का विकास कार्य भी प्रगति के पथ पर है। अन्य प्रयोगशालाओं से प्राप्त नई प्रजातियों का इस जलवायु में सम्भावित सफलता के लिए परीक्षण तथा अनुकूल परिणाम वाली प्रजातियों के सम्बर्धन कार्य भी इस संकाय के कार्यों के अभिन्न अंग हैं। मिट्टी में जल संरक्षण, शुष्क दशाओं में फसलोत्पादन, विभिन्न प्रजातियों के लिए तत्वों की आवश्यकता, भूमि के भौतिक एवं रासायनिक गुण इत्यादि में तथा रोगों के निदान में कृषकों को उचित सलाह देने मे हम अग्रणी भूमिका निभा रहे हैं। फसलोत्पादन के मध्य अथवा वाद में रोग नियंत्रण नियमावलियां हैं जिनसे आनाज को खेतों, खलिहानों तथा भंडारों में सुरक्षित रखने में सहायता प्रदान की जाती है। इस सम्बन्ध में अनुसंधान भी चल रहे हैं।

फसलोत्पादन के अतिरिक्त पशु पालन एवं सम्वन्धित क्षेत्र में भी अपने अनुसन्धानों की उल्लेखनोय उपलब्धियां हैं। जर्सी एवं फ्रीजर जाति के साड़ों से देशी गायों को गर्भाधान कराकर शंकर जातियों का विकास हाल के वर्षों में उल्लेखनीय रहा है। अपने सीमित साधनों से ही संकाय दुग्धशाला में दुग्धोत्पादन ४६३ लिटर से बढ़ कर ५२५ लिटर प्रतिदिन हुआ है जो अपने में एक रिकार्ड है। अपने मिर्जापुर स्थित कृषि फार्म पर भेड़ पालन की एक परियोजना की स्वीकृति मिल गई है।

हमारी शोध उपलब्धियों की कृषि जीवन में उपादेयता को देख कर प्रदेश सरकार ने वाराणसी मंडल के कृषि उत्पादन एवं प्रसार कार्य को पूर्णरूपेण इसीं संकाय को सौंपने का निर्णय किया है। इस क्रिया के प्रारम्भ होने पर यह संकाय कृषि विश्वविद्यालयों की भांति ही भूमिका निभा सकने में समर्थ होगा।

कृषि अनुसंधान एवं प्रसार के प्रोत्साहन हेतु गत वर्ष इस संकाय में, 'भारतीय कृषि एवं ग्राम्य विकास परिषद्' का उद्घाटन अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक डा० एम० एस० स्वामीनाथन, सचिव कृषि मंत्रालय भारत सरकार एवं महानिदेशक, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद ने सम्पन्न किया। इस परिषद् के तत्वावधान में एक उच्च कोटि की पत्रिका के प्रकाशन की व्यवस्था लगभग पूर्ण है। इसके अतिरिक्त पहले से ही संकाय, कृषि सम्बन्धी विशिष्ट लेखों से युक्त 'वसुधा' पत्रिका का प्रकाशन हर वर्ष करता है।

शोध कार्यों के लिए साधनों की उपलब्धि महत्वपूर्ण होती है। यद्यपि संकाय के पास साधन सीमित हैं परन्तु विश्वविद्यालय में स्थित ख्याति प्राप्त विभागों का होना अभाव-पूर्ति करता है। महामना की इस ज्ञान की नगरी में अनेक संस्थानों, संकायों, विभागों, एवं प्रभागों के आपसी सहयोग एवं सानिध्य में जो साधन एकत्र हैं अन्यत्र असम्भव प्रतीत होते हैं। गांवों में जाकर उनकी समस्याओं का एकीकरण, उन पर अनुसंधान, विचार तथा उनका समाधान भी संकाय की एक महत्वपूर्ण भूमिका है।

शोध कार्यों में संलग्न इस संस्थान के पास यद्यपि साधनों का अभाव है। परन्तु हमारा प्रयोजन शोध का निरंतर प्रयास है। राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय तथा विदेशी संगठनों से विभिन्न परियोजनाओं की प्राप्ति में हम निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं ताकि हम इस क्षेत्र की कृषि सम्बन्धी समस्याओं का समाधान प्राप्त कर सकें। संकाय में कई विभागों में कई परियोजनाएँ, यूनेस्को, आई० सी० ए० आर०, प्रदेश सरकार, कृषि मंत्रालय, पी० एल० ४८०, आदि के सहयोग से चल रही हैं। जिनमें मुख्य हैं :

'अ' अनुवंशन एवं पादप प्रजनन विभाग—

१. दालों के विकास पर सघन अनुसंधान हेतु राष्ट्र स्तरीय परियोजना।
२. गेहूँ के विकास हेतु राष्ट्र स्तरीय परियोजना।
३. धान के विकास हेतु राट्र स्तरीय परियोजना।
४. मक्का के विकास हेतु राष्ट्र स्तरीय परियोजना।
५. बर्रे (कुसुम) के विकास पर परियोजना।
६. जैविक नभजन प्रस्थापन।
६. संकर बाजरा प्रजातियों के सन्दर्भ में सन्तुलित टर्शियरा ट्राइसोमिक्स।

'ब' कीट एवं कृषि जन्तु विज्ञान विभाग—

१. "कृषि में प्रयुक्त विजों का अवशेष तथा उनका इलाहाबाद से पटना के बीच गंगा नदी में मिट्टी, पानी तथा कुछ जीवों के विघटन' पर मनुष्य और जैविक वातावरण, राष्ट्रीय अनुसंधान परियोजना।
२. भिंडी, बैंगन व पातगोभी में प्रयुक्त कुछ कीटनाशक विषों का अवशेष निर्धारण पर परियोजना।
३. पूर्वी उत्तर प्रदेश में कीटों द्वारा क्षति एवं उसके आंकलन पर परियोजना।
४. गन्ने के कीटों के नियंत्रण पर परियोजना।
५. धान के कीटों पर परियोजना।

'स' सस्य विज्ञान विभाग—

१. शुष्क कृषि पर अनुसंधान हेतु राष्ट्रस्तरीय परियोजना।
२. सस्य विज्ञान सम्बन्धी राष्ट्र स्तरीय परियोजना।
३. विभिन्न फसलों पर शोध कार्य।

'द' मृदाविज्ञान एवं कृषि रसायन विभाग—

१. वाराणसी की दोमट मिट्टी में यूरिया का दक्ष प्रयोग।

'ध' उद्यान विज्ञान विभाग—

१. अलंकारिक पौधों पर अनुसंधान हेतु राष्ट्र स्तरीय परियोजना।

'द' कृषि अर्थशास्त्र विभाग—

इस विभाग द्वारा निम्न शोध एवं परियोजनाएँ सफलता पूर्वक पूर्ण हो चुकी हैं।

१. उत्तर प्रदेश में यांत्रिक खेती पर आर्थिक अध्ययन।
२. वाराणसी में ग्रामीण खान-पान (उपभोग) की रुचि का अध्ययन।
३. वाराणसी कृषि पर लघु सिंचाई कार्यों का आर्थिक प्रभाव।
४. देवरिया जनपद में प्रक्षेत्र प्रबन्ध का आर्थिक अध्ययन।
५. मिर्जापुर में मछली पालन का आर्थिक अध्ययन।

कृषि में पारिवारिक मानवीय श्रम का उपयोग एवं उत्पादकता का अध्ययन (डाक्टरेट शोध प्रबन्ध जो कि विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है।)

'ल' पादप कायिकी विभाग—

१. खरपतवार को रोकने वाले रासायनिक पदार्थों का पौधों की कार्यकी पर प्रभाव।
२. प्लान्ट-हारमोन, ग्रोथ-इनहीबिटर्स एवं ग्रोथ रिटार्डेन्ट्स का पौधों की वृद्धि एवं विकास पर प्रभाव।
३. धान्य-फसलों में परिपक्वता की कायिकी अध्ययन।
४. खनिज-लवणों का पौधों की कायिकी पर प्रभाव।
५. परोपजीवी पौधों की कायिकी अध्ययन।
६. फसलों में अधिक उत्पादन क्षमता एवं उनकी कायिकी में अन्तरसम्बन्ध।
७. शुष्क वातावरण में पौधों की वृद्धि एवं विकास से सम्बन्धित कायिकी अध्ययन।
८. फसलों में फोटोरेस्पिरेशन के कुप्रभाव।

प्रसार सेवा—

'क्रेडिट' शिक्षण प्रणाली का मुख्य उद्देश्य, शिक्षा, अनुसंधान तथा प्रसार में एकबद्धता है। कृषि विकास में संलग्न किसी संस्था की उपर्युक्त उपलब्धि इसके पास उपलब्ध साधनों पर निर्भर करती है ताकि प्रयोगालाओं का सम्बन्ध कृषकों से स्थापित किया जा सके। इसमें प्रसार सेवा मुख्य भूमिका निभाती है। यद्यपि प्रसार सम्बन्धी साधनों का हमारे पास अभाव है, वे हमारी आकांक्षाओं के लिए अपर्याप्त हैं फिर भी हमारी उपलब्धियाँ साधनों के अनुरूप हैं। प्रसार विशेषज्ञों द्वारा सफल प्रदर्शनों की भूमिका महत्वपूर्ण है। अध्यापकों एवं प्रसार छात्रों द्वारा परामर्श भी देने की व्यवस्था है। कृषकों के यहां फसलोत्पादन बढ़ाने, उनकी समस्याओं के समाधान में उनकी रुचि के अनुसार विभिन्न सम्भावित प्रक्षेत्र योजनाओं सम्बन्धी परामर्श लाभदायक सिद्ध हुए हैं।

अपने संकाय में अपनी उपलब्धियों के प्रसारण तथा कृषकों को इसकी गहन जानकारी के उद्देश्य से प्रायः हर वर्ष संकाय में 'किसान मेला' का सफल आयोजन होता रहा है। इस मेले में विभिन्न विषय विशेषज्ञों द्वारा किसानों की समस्याओं का समाधान, कृषक गोष्ठियों का

आयोजन, नई किस्मों के बीजों का विक्रय, शोध प्रदर्शन मुख्य रूप से आकर्षण के विषय होते हैं। किसानों को भूमि की परीक्षण सुविधा भी उपलब्ध रहती है ताकि किसानों को खादों की आवश्यकता पता लग सके।

पूर्वांचल के सुदूर गांवों में स्थित कृषकों को आधुनिकतम तकनीकों का ज्ञान कराने में इस संकाय के वैज्ञानिकों ने आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र के 'कृषि जगत' कार्यक्रम को विशिष्ट माध्यम बनाया है। हर विषय के विशेषज्ञ, आधुनिक उपलब्धियों के विकास के लिए तथा समस्याओं के समाधान के लिए सदा तत्पर रहते हैं।

गत कई वर्षों से प्रसार सम्बन्धी कार्यों को व्यापक रूप देने में हम सभी प्रयत्नशील हैं तथा इस सम्बन्ध में संकाय की ओर से एक व्यापक योजना भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् को प्रेषित की गई है। हमें आशा है कि अगले कुछ वर्षों में यह संकाय पूर्वांचल के विकास का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर ले सकेगा। मिर्जापुर जनपद में २५०० एकड़ के फार्म की प्राप्ति इस दिशा में एक ठोस कदम है।

साधनों के अनुरूप हमारी उपलब्धियां रही हैं तथा ग्राम्य विकास एवं कृषि उत्पादन में सहयोग देने में संकाय सदैव से एक साधन रहा है। संकाय ने शिक्षण तथा शोध क्षेत्रों में उल्लेखनीय स्थान राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्राप्त किया है। प्रसार की सुविधाओं से हम ग्रामीण विकास में भी अग्रणी भुमिका निभा सकेंगे। इन सभी उपलब्धियों में अध्यापकों, छात्रों एवं कर्मचारियों का अविस्मरणीय एवं अटूट योगदान है। पू० महामना के स्वप्नों के अनुरूप कृषि संकाय को उत्कर्षोन्मुख करने में हम प्रयत्नशील हैं।

संकाय प्रमुख कृषि संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

विधि संकाय

अजय वर्मा

विधि संकाय विश्वविद्यालय परिसर की अनूठी इमारत है। इसे गर्व है अपने उन तमाम भूतपूर्व तथा वर्तमान छात्रों एवं अध्यापकों पर, जो आज जीवन के अनेकानेक क्षेत्रों में अग्रणी भूमिका निभाते हुए समाज कल्याण तथा न्याय के मंदिर के निर्माण में रत हैं। प्रतिवर्ष लगभग २०० कानून के स्नातकों को तैयार करने, उन्हें न्याय की भावना से परिपूर्ण कर सुसंस्कृत नागरिक में परिणित करने का श्रेय है विधि संकाय को जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय परिसर के दक्षिणी पूर्वी छोर के लगभग ४५ हजार वर्ग फुट के भूखण्ड पर शान से सिर ऊँचा किये खड़ा है।

इसका श्रेष्ठतम विधि ग्रंथालय २६ हजार से अधिक कानून संबंधी, पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों से युक्त है। यह अपनी पांच अनोखी इमारतों के संकुल द्वारा विधि की आधुनिकतम शिक्षण प्रणाली के सम्प्रेषण में रत है। विधि महाविद्यालय में उच्च ख्याति लब्ध विधि वेत्ताओं द्वारा शिक्षण की व्यवस्था है। यह देश की प्रथम विधि शिक्षण संस्था है जहां एल-एल०बी०, त्रिवर्षीय सेमेस्टर पाठ्य प्रणाली अपनायी गयी तथा छात्रों को जीवन्त वादों के अध्ययन का अवसर प्रदान किया गया। महाविद्यालय की निरन्तर चेष्टा रही है कि यहां के छात्र चरित्रवान अधिवक्ता एवं विधिवेत्ता हों तथा अपने अधिकार तथा दायित्वों को भली प्रकार समझते हुए वे देश में सामाजिक सम्बन्धों को न्याय पर आधारित करने का प्रयास करें और विधि व्यवस्था को समाज की आवश्यकताओं के समानुकूल प्रेरित करते हुए उसके प्रति विश्वास और आस्था उत्पन्न करें।

परिचय :

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का विधि संकाय हमारे देश की उन गिनी-चुनी विधि शिक्षण संस्थाओं में अग्रणी है जहां कानून का अध्ययन सामाजिक यथार्थता के संदर्भ में करने का प्रयास किया जाता है। कानून के ज्ञान के साथ ही जीवन की सामाजिक आर्थिक चुनौतियों का मुकावला करने की क्षमता प्रदान करना यहां के शिक्षा की विशेषता रही है। बीसवीं सदी के दूसरे दशक में स्थापित यह विधि संकाय उन इने-गिने विधि शिक्षण केन्द्रों में से एक है, जहां पूर्णकालिक शैक्षिक अधिवक्ताओं के महत्व को स्वीकार किया गया तथा जहां प्रारम्भ से ही अध्ययन का कार्य पूर्ण कालिक सुयोग्य अध्यापकों और लब्ध प्रतिष्ठित विधि वेत्ताओं के संरक्षण में होता रहा है। इसके साथ ही इलाहाबाद उच्च न्यायालय के बार-एसोसिएशन के प्रमुख सदस्यों सहित क्षेत्रीय विधि वेत्ताओं की सेवायें भी यहां प्राप्त की गयी हैं। यहां विधि शिक्षा मात्र कानून की जानकारी तक सीमित न होकर मुख्यतः उसके व्यावहारिक पक्ष पर केन्द्रित है।

सर रास विहारी घोष की अध्यक्षता में स्थापित विधि संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की चंद प्रारंभिक मूल संस्थाओं में से एक है। परन्तु विधि शिक्षण की वास्तविक व्यवस्था १९२३ में विधि महाविद्यालय की स्थापना के साथ ही संभव हो पायी। सर रास विहारी द्वारा स्थापित विधि संकाय सर तेज बहादुर सप्रू (१९१९–२१, १९२४–३९), विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना मदन मोहन मालवीय (१९२१–२४), प्रोफेसर एल० आर० सुब्रह्मनियम (१९३९–४६), प्रोफेसर जी० वी० जोशी (१९४६–५८), प्रोफेसर आनन्द जी (१९५९–७३) एवं प्रोफेसर धर्म प्रताप (१९७३–७६) जैसे अनेक प्रतिभा सम्पन्न एवं प्रख्यात विधि वेत्ताओं के संरक्षण में निरन्तर प्रगति करता गया।

विधि संकाय के समस्त सुविधाओं युक्त वर्तमान भवन के निर्माण की योजना का श्रेय भूतपूर्व संकाय प्रमुख प्रोफेसर आनन्द जी को जाता है, जिनके अथक परिश्रम के फलस्वरूप संकाय को विधि शिक्षण के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ है। उनके प्रयासों से श्रेष्ठतम अध्यापकों और विद्यार्थियों को विधि संकाय ने आकृष्ट किया है।

शैक्षणिक समुदाय :—

संकाय में उच्च शिक्षा प्राप्त सुयोग्य विधि वेत्ताओं और विशेषज्ञों द्वारा शिक्षण कार्य की सुविधा उपलब्ध है। इस समय संकाय में ३ प्रोफेसर, ८ रीडर तथा १९ लेक्चरर शिक्षण कार्य में संलग्न हैं। शिक्षक वृन्द के १० सदस्यों ने अपने-अपने क्षेत्रों में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की है। इनमें से ९ सदस्यों को विदेशों के ख्याति प्राप्त विश्वविद्यालयों से डाक्टरेट तथा एक सदस्य को लखनऊ विश्वविद्यालय से एल-एल०डी०की सम्मानित उपाधि प्राप्त हुई है। संकाय के चार सदस्य विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत विदेश जा चुके हैं। संकाय के दो सदस्य इस समय आस्ट्रेलिया तथा अमेरिका में पी-एच०डी०उपाधि के लिए शोध कार्य में रत हैं। संकाय के प्रोफेसर धर्म प्रताप का शोध प्रबंध आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने 'एडवाइजरी जूरिस्डिक्शन आफ इन्टरनेशनल कोर्ट आफ जस्टिस' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। इसी प्रकार प्रोफेसर आर० पी० ढकोलिया का शोध प्रबंध मानचेस्टर विश्वविद्यालय से 'कोडिफिकेशन आफ इन्टरनेशनल ला' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ है। मातृ भाषा हिन्दी में लिखित विधि की पुस्तक 'भारतीय भागिता विधि का इतिहास' पर संकाय के श्री सुरेन्द्र नाथ को केन्द्र सरकार द्वारा पुरस्कृत किया गया है।

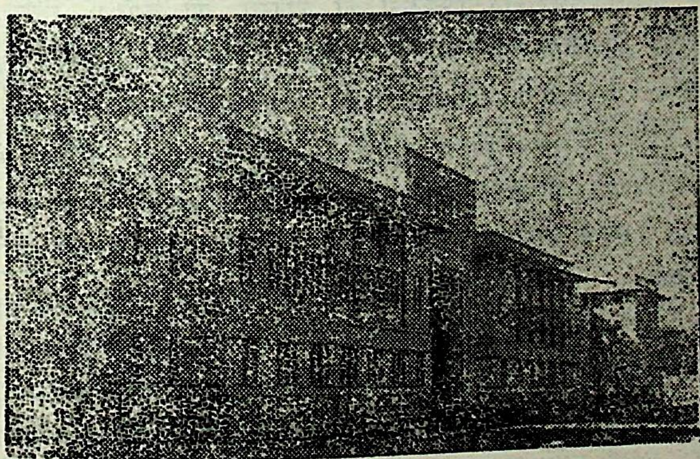
संकाय में फोर्ड फाउण्डेशन योजना के अन्तर्गत सुविख्यात अमरीकी विश्वविद्यालयों के पांच प्रोफेसरों ने विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में शिक्षण कार्य किया है तथा डा० नगेन्द्र सिंह जो भारत के राष्ट्रपति के सचिव और अब अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश हैं, इस संकाय को विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में अलंकृत कर चुके हैं। राजस्थान के एडवोकेट जनरल और सुप्रीम कोर्ट के प्रख्यात एडवोकेट डा० लक्ष्मीमल सिंघवी ने नेहरू व्याख्यान माला के अंतर्गत प्रथम व्याख्यान दिया है जो विश्वविद्यालय प्रकाशित कर रहा है। विधि संकाय के सदस्यों के लगभग २५० विद्वतापूर्ण लेख, वाद-सर्वेक्षण आदि देश-विदेश की सम्मानित पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। संकाय के सदस्यों की विधि क्षेत्र में प्रशंसित अनेक पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं और विभिन्न विश्वविद्यालयों में उन्हें व्याख्यान हेतु आमंत्रित किया जाता है।

शोध कार्य :—

विधि संकाय में सामाजिक समस्याओं के समाधान करने तथा परिवर्तन शील समाज की गतिविधियों से सामंजस्य रखने हेतु अनेकों शोध कार्य समय-समय पर किये जाते हैं। संकाय में शोध कार्य के लिए पांच शोध-सहायकों का भी प्रावधान है। वर्तमान में प्रोफेसर आर० पी० ढकोलिया के निर्देशन में 'विधि निर्माण में उच्चतम न्यायालय का योगदान', 'विधि तथा शिक्षा जगत' पर शोध कार्य चल रहा है जिनके प्रकाशन की योजना है। इसके साथ ही विधि क्षेत्र में अपनी ख्याति के अनुरूप ही संकाय से वर्ष १९६५ से 'बनारस ला जनरल' प्रकाशित हो रहा है। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि जगत में हो रही गतिविधियों की समीक्षा करने वाले इस जनरल के प्रतिदान में विश्व के अनेक विश्वविद्यालयों से प्रकाशित लब्ध प्रतिष्ठित जनरल विधि विद्यालय को प्राप्त होते हैं।

विधि पाठ्यक्रम —

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के विधि संकाय को अपनी वास्तविक स्थापना के ५३ वर्षों में कई हजार कानून-स्नातकों के निर्माण का श्रेय जाता है। स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के शुभारंभ के २५ वर्षों के भीतर संकाय को ६० से अधिक एल-एल० एम० की उपाधियाँ प्रदान करने का भी श्रेय है। आज यहां के स्नातक समाज के विभिन्न क्षेत्रों में उच्च पदों तथा व्यवसायों में उच्च शिखरों पर सुशोभित हो संकाय की गरिमा बढ़ा रहे हैं। संकाय में शिक्षण कार्य में रत ६ सुयोग्य अध्यापक अन्तर्राष्ट्रीय विधि, श्रम एवं औद्योगिक विधि, कराधान तथा व्यवसायिक



विधि संकाय

संगठन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण शोध कर रहे हैं। विधि के पी-एच०डी०, एल-एल०एम० तथा एल-एल०बी० पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए क्रमशः ६०, ६० तथा ४५ प्रतिशत अंकों से प्रवेश के लिए अनिवार्य न्यूनतम उपाधि प्राप्त करना आवश्यक है। विधि शिक्षा के पाठ्यक्रमों को समाज के लिए और उपयोगी बनाने के उद्देश्य से सन् १९६० में विस्तृत रूप से विचार विमर्श कर पाठ्यक्रम को अधिक व्यावहारिक बनाया गया। भगवती कमेटी की सिफारिश तथा विशिष्ट रूप से तत्कालीन संकाय प्रमुख प्रोफेसर आनन्द जी के सतत् प्रयासों से भारत में सबसे प्रथम

बार बी०एच०यू०, विधि संकाय ने ३ वर्षीय, ६ सत्रों के एल-एल०बी० तथा २ वर्षीय, ४ सत्रों के एल-एल०एम० पाठ्यक्रम को प्रारंभ करना स्वीकार किया और उसी वर्ष से इस प्रणाली को कार्यरूप दिया गया। इसके साथ ही छात्रों को विभिन्न वादों संबंधी निर्णय तथा सामग्री प्रदान करने की भी व्यवस्था की गयी। यहां विख्यात विधि वेत्ता, अधिवक्ता तथा न्यायाधीशों द्वारा छात्रों को क्रियात्मक ज्ञान प्रदान किये जाने का भी प्रबंध है।

सत्र १९७३-७४ में वर्तमान संकाय प्रमुख प्रोफेसर धर्म प्रताप के प्रयासों से विधि पाठ्यक्रम को पुनर गठित किया गया। इस समय विधि की स्नातक कक्षाओं में ५ स्किल पाठ्यक्रमों के अतिरिक्त ३१ अन्य विषयों के शिक्षण की व्यवस्था है। प्रयास किया जा रहा है कि आवश्यक साधन प्राप्त कर सभी ऐच्छिक विषयों में शिक्षण सुविधा उपलब्ध की जाय। इसी प्रकार स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम भी वर्ज १९७० में पूर्णतः पुनर्व्यवस्थित किये गये। एल-एल० एम० पाठ्यक्रम में १२ ऐच्छिक विषय समूह, २ अनिवार्य विषय तथा अनिवार्य लघु शोधप्रबन्ध (डिसरटेंशन) की व्यवस्था है। विधि शिक्षण, व्यापारिक, राष्ट्रीय गतिविधियों के लिए विशेषज्ञों को तैयार करने के उद्देश्य से स्नातकोत्तर तथा विशेष पाठ्यक्रमों को और भी विकसित करने के प्रयास किए जा रहे हैं तथा संकाय ने निर्णय किया है कि लाक्षणिक विधि शिक्षा को पाठ्यक्रम का अनिवार्य अंग बनाया जाय।

विधि शिक्षण की सुविधा :—

विधि संकाय में १९२१ से एल-एल० बी०, १९४० से एल-एल० एम० तथा १०६१ से पी-एच० डी० एवं एल-एल० डी० पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की गयी। विधि शिक्षा को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से पी-एच० डी० हेतु २५० रु० की ४ तथा एल एल०-एम० हेतु १०० रु० की ६ छात्रवृत्तियां योग्यताक्रम से प्रदान की जाती हैं। इसके साथही एल-एल० बी० पाठ्यक्रम में प्रतिवर्ष ७५ रु० की १२ छात्रवृत्तियां दी जाती हैं। प्रवेश लेने वाले २० प्रतिशत योग्य छात्रों को पूर्ण शुल्क मुक्ति प्रदान की जाती है। पूर्ण शुल्क मुक्ति, समय-समय पर दो छात्रों के बीच अर्ध शुल्क मुक्ति के रूप में बांटी जा सकती है। भविष्य में पी-एच० डी० की छात्रवृत्ति को २५० रु० से बढ़ाकर ५०० रु० करने तथा एल-एल० एम० की छात्रवृत्ति को १०० रुपये से बढ़ाकर २०० रु० कर देने की विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से सिफारिश की गयी है। इस प्रकार आर्थिक रूप से सहायता प्रदान कर छात्रों में रुचि जागृत कर उन्हें विधि शिक्षा के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। वाराणसी शहर के बाहर से आने वाले छात्रों की सुविधा के लिए विश्वविद्यालय के सर आसुतोष मुखर्जी तथा भगवान दास छात्रावासों में लगभग ३०० छात्रों के ठहरने की व्यवस्था है।

विधि-शिक्षण की आगामी योजनाएँ :—

समाज को आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का विधि-संकाय, कानून की शिक्षा को और व्यवहारिक बनाने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहा है। समाज में कानून की भूमिका के महत्व को देखते हुए नये पाठ्यक्रमों को प्रारंभ करने की योजना को मूर्त रूप देने के उद्देश्य से विश्वविद्यालय के हीरक जयंती वर्ष में विधि संकाय के तत्त्वावधान में "सामाजिक

परिवर्तन में कानून की भूमिका,'(Law as an instrument of charge indeveloping societies) विषयक एक अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित करने का प्रस्ताव है। संगोष्ठी मे विधि निर्माण द्वारा समाज में आये तथा भविष्य में संभव परिवर्तनों की समीक्षा की जायेगी। वर्ष १९६९ में मानव अधिकार संबंधी कानून को राष्ट्रीय, क्षेत्रीय तथा विश्वविद्यालय स्तर पर कार्यान्वित करने की संस्तुति की गयी थी। इसी संस्तुति के अनुरूप मानव अधिकार संबंधी कानून को विधि संकाय के पाठ्यक्रमों का अंग बनाया जा रहा है।

विधि संकाय में विश्वविद्यालय के हीरक जयंती वर्ष से ही लाक्षणिक विधिशिक्षा के पाठ्यक्रमों को प्रारंभ करने की दिशा में भी प्रोफेसर आर० पी० ढकोलिया के संयोजकत्व में गठित समिति तेजी से कार्य कर रही है। लाक्षणिक विधि शिक्षा के अन्तर्गत छात्र जिले की विभिन्न अदालतों में चल रहे जीवन्तवादों का सुयोग्य अधिवक्ताओं तथा शिक्षकों की देख रेख में अध्ययन कर सकेगें। इस पाठ्यक्रम के अन्तर्गत जनहित विधि परामर्श समिति जैसी संस्थाओं तथा विधि संकाय में भी छात्र विभिन्न मामलों पर अपनी राय व्यक्त कर सकेंगे। इससे छात्रों को व्यवहारिक रूप से अधिवक्ता के कार्य की जानकारी प्राप्त करने के साथ ही समाज के दलित तथा गरीब वर्ग की सहायता कर अपने सामाजिक दायित्व को निभाने की भी प्रेरणा मिलेगी।

अन्तर्राष्ट्रीय मानचित्र के विकास पथ पर तेजी से उभरते हुए हमारे देश में अभी अनेकानेक समस्याएँ अपने समाधान का इन्तजार कर रही हैं। सबसे बड़ी समस्या सुसंस्कृत नागरिकों के निर्माण की है। जहां एक ओर सर्व विद्या की राजधानी, हमारा यह गौरवशाली विश्वविद्यालय राष्ट्रनिर्माण के कार्यों के साथ चरित्र निर्माण में रत हैं वहीं विश्वविद्यालय का विधि संकाय अपने योग्य छात्रों, अध्यापकों तथा हजारों भूतपूर्व छात्रों के माध्यम से व्यक्ति को सुसंस्कृत नागरिक बनाने में प्रयत्नशील है। अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह करते हुए, विधि संकाय शैक्षणिक क्षेत्र में अपनी विशिष्टगरिमा को अक्षुण रखे हुए है। आशा है, विश्वविद्यालय के शताब्दि समारोह तक विधि संकाय विधि शिक्षा के क्षेत्र में विश्व की गिनी चुनी संस्थाओं का प्रतिनिधित्व कर सकेगा।

शोध सहायक, विधि संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रौद्योगिक संस्थान

डॉ० राम स्वरूप शर्मा एवं डॉ० लक्ष्मी शंकर शुक्ल

हिन्दू विश्वविद्यालय की हीरक जयन्ती के पुण्य पर्व पर इसके संस्थापक महामना पं० मदन मोहन मालवीय का श्रद्धा पूर्वक स्मरण अत्यन्त स्वाभाविक है, जो तकनीकी शिक्षा के महान शिल्पी भी रहे हैं। जिस समय में केवल 'सिविल इंजीनियरिंग' विषय को ही इंजीनियरिंग माना जाता था, उस समय सन् १९१९ में महामना मालवीय जी द्वारा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में मेकेनिकल एवं इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग में डिग्री एवं डिप्लोमा कोर्स प्रारंभ कराया गया। फिर उन्हीं के द्वारा सन् १९२६ ई० में इण्डस्ट्रियल केमेस्ट्री, जो अब केमिकल इंजीनियरिंग के नाम से ख्यात है, निर्मित हुआ। सन् १९२३ में माइनिंग एवं मेटलर्जी, सन् १९३६ में सिरेमिक एवं सन् १९३९ में फार्मास्यूटिक्स विभागों का क्रमशः विकास हुआ। इतने महान राष्ट्र-निर्माता, प्रबुद्ध शिक्षा शास्त्री को इस अवसर पर श्रद्धांजलि अर्पित करना अपना पुनीत एवं सहज कर्तव्य है।

सन् १९६८ ई० में, इंजीनियरिंग महा विद्यालय, माइनिंग एवं मेटलर्जी महाविद्यालय एवं टेक्नालाजी महाविद्यालय के एकीकरण द्वारा प्रौद्योगिक संस्थान का निर्माण हुआ। इसकी औपचारिकता में नाना प्रकार के व्यवधान आये, परन्तु सौभाग्य से संस्थान के प्रथम निदेशक, केमिकल इंजीनियरिंग के लब्ध प्रतिष्ठित प्रोफेसर, डा० गोपाल त्रिपाठी, की प्रगाढ़ कुशलता एवं निरन्तर प्रयास से 'विजिटर' द्वारा मार्च, १९७१ में 'प्रौद्योगिक संस्थान' की वैधानिक पुष्टि हो पायी। वर्तमान समय में इस संस्थान में निम्नलिखित विभाग एवं अनुभाग हैं :—

विभाग

१—सिरेमिक इंजीनियरिंग,
२—केमिकल इंजीनियरिंग एवं टेक्नालाजी,
३—सिविल इंजीनियरिंग,
४—इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग,
५—इलेक्ट्रानिक्स इंजीनियरिंग,
६—मेकेनिकल इंजीनियरिंग,
७—मेटलर्जिकल इंजीनियरिंग,
८—माइनिंग इंजीनियरिंग,
९—फार्मास्युटिक्स इंजीनियरिंग।

अनुभाग

१—प्रयुक्त रसायन,
२—प्रयुक्त गणित,
३—प्रयुक्त भौतिकी।

इन सभी विभागों एवं अनुभागों में स्नातक कक्षा, स्नातकोत्तर कक्षा एवं शोध कार्यों के हेतु सभी प्रकार की उत्तम सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

संस्थान ने अब तक १०,००० स्नातक, ७५० स्नातकोत्तर एवं १३० पी-एच०डी० उपाधियां वितरित कर राष्ट्र के उत्थान में सहयोग देने का एक सुन्दर कीर्तिमान स्थापित किया है।

आज भारत में महान इंजीनियरिंग एवं तकनीकी संस्थानों के महत्वपूर्ण पदों का इस संस्थान द्वारा उपाधि प्राप्त शिक्षार्थी कुशलता पूर्वक संचालन कर रहे हैं।

उदाहरणार्थ :—

डा० वाई० नायुडमा, प्रधान निदेशक, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद,
श्री के० एस० आर० चारी, सचिव, भारत सरकार, कोयला विभाग,
डा० पी० एल० अग्रवाल, जनरल मैनेजर, राउरकेला इस्पात उद्योग,
डा० पी० के० घोष, अध्यक्ष, कोयला परिषद,
डा० एस० आर० वलूरी, निदेशक, राष्ट्रीय वैमानकीय प्रयोगशाला,
डा० वी० अलटेकर, निदेशक, राष्ट्रीय धातुकर्म, प्रयोगशाला,
डा० एम० एन० दस्तूर, प्रबंधक निदेशक, दस्तूर एण्ड कंपनी,
श्री बी० एन० वालिगा, अध्यक्ष, उ० प्र० राजकीय विद्युत परिषद,
श्री० पी० जे० सिंह, विकास आयुक्त, पंजाब सरकार,
श्री एल० बी० तिवारी, सचिव, शक्ति विभाग, उ० प्र०।

यहां के उपाधि प्राप्त शिक्षार्थियों की सूची इतनी अधिक है, जिसकी पूरी जानकारी 'कौन क्या है' (who is who) देखने पर ही राष्ट्रीय स्तर पर विविध रूपों में पायी जा सकती है, जिससे यह स्पष्ठ होता है कि महामना मालवीय के स्वप्नों को साकार रूप प्रदान करने का महान कार्य इस संस्थान द्वारा किया गया है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा बनायी गई समिति एवं अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद द्वारा भारत के सभी तकनीकी संस्थाओं का उनके पिछले ५ वर्षों में प्रगति एवं शोध तथा विकास (Rasearch and Development) के आधार पर, चार श्रेणियों में विभाजन किया गया है। यह गौरव की बात है कि प्रौद्योगिक संस्थान को प्रथम श्रेणी म रखा गया है जो कि विश्वविद्यालय स्तर पर नहीं है, बल्कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का एक भाग है।

सन् १९७२ ई० के पूर्व विद्यार्थियों का प्रवेश उनके अंतिम परीक्षा के प्राप्तांक के आधार पर होता था, जिसके कारण कुछ भागों से विद्यार्थी अधिक संख्या में आ जाते थे, धीरे-धीरे संस्थान का अखिल भारतीय स्वरूप क्षीण होने लगा था।

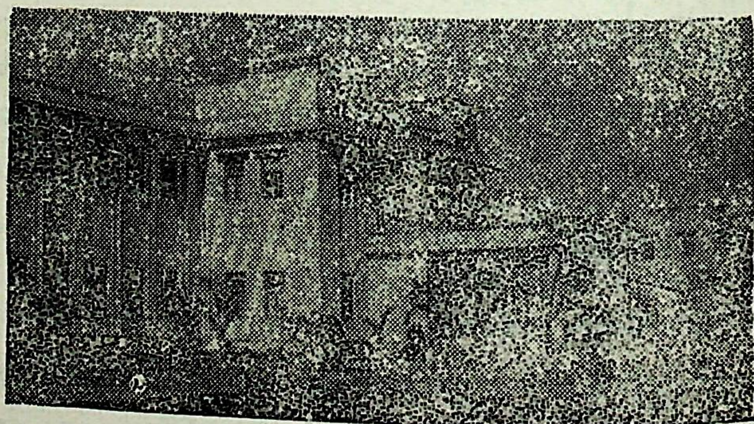
सन् १९७२ ई० में डा० कालूलाल श्रीमाली जी के प्रयत्न से संयुक्त प्रवेश परीक्षा के लिए इस संस्थान को अन्य भारतीय संस्थानों के साथ शामिल कर लिया गया। यह परीक्षा देश के २५० विभिन्न केन्द्रों पर ली जाती है। इस समय सभी स्नातकीय कक्षाओं में प्रतियोगिता द्वारा प्रवेश पाए हुए विद्यार्थी हैं। केवल फार्मास्युटिक्स विभाग में प्रवेश सीधा अर्हकारी परीक्षा के प्राप्तांक के आधार पर किया जाता है, क्योंकि इस विभाग में प्रवेश पाने के लिए "जीव विज्ञान" आवश्यक विषय रखा गया है।

प्रति वर्ष स्नातक कक्षाओं में ३१० शिक्षार्थी एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं में १५५ शिक्षार्थी लिए जाते हैं।

यह सर्व विदित है कि इस प्रकार से भरती हुए विद्यार्थी निश्चय ही अधिक प्रोत्साहित, अधिक अनुशासित एवं अधिक क्षमता वाले सिद्ध प्रतीत हो रहे हैं, जिसका अनुभव इस सत्र के अंत में औद्योगिक जगत में किया जायगा, जब इस प्रक्रिया से गुजरे विद्यार्थियों का पहला वैच निकलेगा।

संयुक्त प्रवेश परीक्षा के द्वारा प्रवेश लेने के साथ ही विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने स्नातक स्तर के २५% विद्यार्थियों को योग्यता एवं सुविधा (Merit Cum means) छात्रवृत्ति देना स्वीकार कर लिया। इस छात्रवृत्ति का मान १२५ रु० मासिक एवं पूर्ण शुल्क मुक्ति है। स्नातकोत्तर छात्रवृत्ति का मान १९७४–७५ सत्र से २५० रु० मासिक से बढ़ा कर ४०० रु० मासिक कर दिया गया है। वर्तमान में इस प्रकार की छात्रवृत्तियों की संख्या ३०८ है, जो कि स्नातकोत्तर की प्रस्तावित संख्या बढ़ने पर ४९० हो जायेगी। विभिन्न विभागों में शोध-छात्रवृत्ति की कमी के कारण अनुसंधान कार्य में बाधाएँ थीं अतः २० शोध-छात्रवृत्तियां विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत की गई हैं।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा पांचवीं पंचवर्षीय योजना के प्रथम वर्ष (१९७४–७५) में केवल ४ लाख रु० तथा योजना के द्वितीय वर्ष (१९७५–७६) में ५ लाख रु० ही मिलने से संस्थान में अत्यन्त कमी महसूस की गई। विजिटिंग कमेटी द्वारा हमारे विकास प्रस्तावों पर विचार करने के पूर्व ही सन् १९७६ ई० में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने संस्थान को पांचवीं योजना के अंतर्गत प्रथम अनुदान के रूप में ५०–५० लाख रुपये उपकरण एवं पुस्तकों के लिए प्रदान कर दिया है। जिससे प्राध्यापकों में कार्य के प्रति नए उत्साह एवं प्रेरणा का संचार हुआ है।



केमिकल टेकनॉलाजी विभाग (प्राद्यौगिक संस्थान)

पांचवीं योजना के अंतर्गत मौलिक अनुदान स्नातकोत्तर छात्र वृत्तियों के अतिरिक्त ४०० लाख रु० है। इसके अतिरिक्त ३ लाख रुपया प्रोटोटाइप डेवलपमेंट सेंटर के लिए मिला है तथा खनन अभियांत्रिकी के लिए ऊर्जा विभाग से ४० लाख रुपया मिला है। इस प्रकार कुल मिलाकर चतुर्थ योजना में १०६–५० लाख रुपया के मुकाबले पांचवीं योजना में ४४३ लाख रु० मिला है।

पांचवीं योजना के अंतर्गत संस्थान द्वारा निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किए गये हैं :—

(१) ऊँचे एवं महत्वपूर्ण स्तर के अनुसंधान तथा औद्योगिक प्रक्रियाओं में सहयोग देने वाले सुदृढ़ और सुप्रेरित संकाय का विकास।

(२) स्नातकोत्तर शिक्षा एवं अनुसंधान कार्यों पर अधिक बल।

(३) अन्तर-शैक्षिक अनुसंधान सुविधाओं का संस्थापन।

(४) समुचित तकनीक प्रयोगिक प्रयोजना (Alppropriate Technology Pilorprofect) का विकास।

(५) अन्तर संकाय एवं अन्तर शैक्षिक शिक्षण एवं अनुसंधान कार्यक्रम।

(६) उद्योगों के साथ घनिष्ठ सहयोग का संस्थापन।

(७) वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद तथा सुरक्षा प्रयोगशालाओं के साथ घनिष्ठ सहयोग का संस्थापन।

प्रौद्योगिक संस्थान के विकास उद्देश्यों की पूर्ति हेतु, इस पांचवीं योजना में दृढ़ी भूत होने के अलावा विकास के कार्यक्रमों में सक्रियता लाने के निम्नलिखित प्रस्ताव रखे हैं :—

(अ) निम्नलिखित अन्तर्शैक्षिक विद्यालय/केन्द्रों का संस्थान

(१) समुचित तकनीकी एवं प्रकृतस्थ (Proto type Development) केन्द्र।

(२) ऊर्जा-उच्च प्रशिक्षण केन्द्र।

(३) स्वचल यंत्रीकरण विद्यालय।

(४) वायु मण्डलीय अध्ययन केन्द्र।

(५) भू-यांत्रिकी केन्द्र।

(६) पदार्थ-तकनीकी विद्यालय।

(ब) निम्नलिखित प्रस्तावित एवं वर्तमान केन्द्रीय सुविधाओं का विकास एवं संस्थापन।

(१) निरंतर शिक्षा केन्द्र,

(२) कार्यकारी विकास केन्द्र,

(३) औद्योगिक परामर्श केन्द्र,

(४) पाठ्यक्रम विकास प्रकोष्ठ,

(५) फैकल्टी एक्सचेंज,

(६) केन्द्रीय उपकरण सेवा एवं निर्माण अनुभाग,

(७) तकनीकी संग्रहालय।

(स) निम्नलिखित अन्तर्संकाय/अन्तर्शैक्षिक पाठन एवं अनुसंधान कार्यक्रम भी प्रस्तावित किये गये हैं।

(१) जैविक अभियंत्रण,

(२) कृषि-अभियंत्रण।

औद्योगिक परामर्श का कार्य संस्थान के विभिन्न विभागों द्वारा प्रारंभ कर दिया गया है, यद्यपि परामर्श नियमों की स्वीकृति अगस्त, १९७६ में हुई है। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय

है कि कोल इंडिया लि० के लिए सिविल एवं माइनिंग विभागों द्वारा सिगरौली स्थित जयन्त तथा वीना कोयला क्षेत्र के बारे में कार्य प्रारंभ किया गया है। इस क्षेत्र का विकास रूसी सहायता द्वारा किया जा रहा है। कुछ समय पश्चात यह विश्व का सबसे बड़ा कोयला क्षेत्र बन जायेगा।

भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स लि०, हैदराबाद के लिए Tusin Tripler Type Saturable Reactor के विकास सम्बन्धी परामर्श कार्य लेने हेतु शीघ्र ही कार्यवाही पूरी होने जा रही है।

प्रौद्योगिक संस्थान में २५० पूर्ण योग्य शिक्षक हैं जिनमें ३० प्रोफेसर, ७५ रीडर एवं १४५ लेक्चरर हैं। कुछ तो इनमें राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपने- क्षेत्र-विशेष में पूर्ण रूप से अधिकृत विद्वान हैं। संस्थान के निदेशक, डा० सलूजा, राष्ट्रीय स्तर पर अनेक समितियों के सदस्य हैं, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग में ये ही केवल एक तकनीकी सदस्य हैं, भारत अल्यूमिनियम कम्पनी में भी आप एक डाइरेक्टर के रूप में मनोनीत होकर कार्य कर रहे हैं। प्रोफेसर डा० टी० आर० अनन्तरमन, विभागाध्यक्ष, धातुकर्म (मेटलर्जी) विभाग को औद्योगिक एवं वैज्ञानि अनुसंधान परिषद द्वारा शांति स्वरूप भटनागर पुरस्कार, एफ०आई०सी०सी०आई० पुरस्कार एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का होमी जे० भाभा पुरस्कार मिल चुका है। सरकार द्वारा भारतीय धातुकर्म दिवस पुरस्कार प्राप्त किये हुए कई लोग हैं। भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान शिक्षण द्वारा एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा नेशनल असोसिएशनशिप पाए हुए कई लोग हैं। भारत सरकार द्वारा कुछ अध्यापक विदेशों में नियुक्त होकर शिक्षण कार्य कर रहे हैं। राष्ट्र भाषा को प्रोत्साहन देने के कार्य में भी संस्थान पीछे नहीं है। हिन्दी में तकनीकी पुस्तकें लिखने के अतिरिक्त उल्लेखनीय उपलब्धि यह है कि संस्थान के व्याख्याता डा० लक्ष्मी शंकर शुक्ल ने अपना (केमिकल इंजीनियरिंग, पी-एच०डी०) शोध प्रबंध हिन्दी में प्रस्तुत कर डिग्री प्राप्त की, जो इंजीनियरिंग एवं टेक्नालाजी के क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रयास है।

संस्थान शिक्षकों की योग्यता वृद्धि के लिए सतत् प्रयास में रहता है। क्षमता अभिवृद्धि कार्यक्रम (Quality improvement programme) के अंतर्गत २० शिक्षक विदेश भेजे गए थे। कुछ उनमें से पी-एच०डी० लेकर वापस भी आ गये हैं, शेष इस सत्र के अंत तक वापस आ जायेंगे। इस प्रकार प्राध्यापक निश्चित ही शिक्षा एवं अनुसंधान के स्तर की वृद्धि में सहायक होंगे। इस संस्थान को भी क्षमता अभिवृद्धि में कार्यक्रम केन्द्र (Centre for Quality Improvement Programme) की मान्यता प्रदान करने हेतु शिक्षा मंत्रालय से बात-चीत चल रही है।

संस्थान में आधुनिक ढंग के अत्यन्त कुशल उपकरण अनुसंधान के लिए प्राप्य है, जैसे— फिलिप्स इ०एम०–३००, एलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी यंत्र, फील्ड आयन सूक्ष्मदर्शी यंत्र, ईस्ट्रान यूनिवर्सल परीक्षण यंत्र, एक्स-रे, विवर्तन उपकरण, टी०डी०सी० १२ डिजिटल कम्प्यूटर, एनालाग कम्प्यूटर, उच्च तापक्रम भट्ठियां, आधुनिक एवं स्थूल यांत्रिक परीक्षण उपकरण, प्रति रूप, भूमिगत खान जो २०० फीट गहरी है, मांस-बार-स्पेक्ट्रोमीटर, प्लाजमा जेनरेशन उपकरण इत्यादि।

आधुनिक उपकरणों में स्कैनिंग एलेक्ट्रान, सूक्ष्मदर्शी यंत्रों का विकास कार्य, डीजल इंजनों के लिए विदेशों से मंगाए जाने वाले स्पीड-गवर्नर के बनाने एवं विकास करने का कार्य, हिन्दुस्तान स्टील के साथ विशेष इस्पातों का विकास कार्य, लाखों डिग्री तापक्रम प्रति सेकेंण्ड की शीत क्रिया द्वारा द्रव धातुकीय पदार्थों को शीघ्र ठोस में परिवर्तन करने का एक मौलक तकनीकी कार्य तथा सूर्य एवं वायु शक्ति को व्यवहारिक प्रयोग में शक्ति स्त्रोत में उपयोग करने के कार्य संस्थान में तीव्र गति से चल रहे हैं।

संस्थान ने अध्यापन एवं अनुसंधान के साथ ही साथ औद्योगिक सेवाओं पर विशेष महत्व दिया है। डीजल लोको-मोटिव वर्क्स, भारत एल्यूमीनियम कम्पनी, हिन्दुस्तान स्टील लि० कोल इण्डिया लि०, हिन्दुस्तान अल्यूमिनियम कारपोरेशन, रेणकूट, आदि अनेक उद्योगों में संस्थान ने विशेष सहयोग एवं सेवायें अर्पित की हैं।

जिस प्रकार मेडिकल कालेज में अस्पताल का कार्य रहता है, वैसा इंजीनियरिंग में भी क्लीनिक प्रोटोटाइप विकास केन्द्र खोल कर विद्यार्थियों को उसमें प्रशिक्षित करने की योजना विचाराधीन है।

इस संस्थान को विदेशों के दूसरे संस्थानों में सहयोगी-कार्य करने के लिए चुना जा चुका है। धातु कर्म विभाग द्वारा ऐसे दो कार्य विदेशों से लिए जा चुके हैं, अन्य विभागों द्वारा भी इस प्रकार का प्रयास चल रहा है।

धातुकर्म विभाग का चयन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा विशेष सहायता कार्यक्रम के अंतर्गत उपकरणों को वढ़ाने एवं अनुसंधान को प्रगति में लाने के लिए, कर लिया गया है। आशा है कि भविष्य में अन्य विभाग भी इसी प्रकार आगे आने वाले हैं।

भारत सरकार के कोयला विभाग ने माईनिंग विभाग के विकास के लिए ४० लाख रुपये का विशेष अनुदान देना स्वीकृत किया है। इस अनुदान से खनिज परिष्करण के लिए प्रयोगिक प्रयोजना द्वारा अध्ययन कर सधारण खनिजों से जिसमें कोयला भी है, लाभ उठाया जा जा सकता है।

विभिन्न उद्योग एवं संस्थानों, राजकीय एवं व्यक्तिगत—से प्रयास करके, अंतिम वर्ष के छात्रों का साक्षात्कार यहीं पर करवा कर उन्हें उद्योग में प्रतिष्ठित किया जा रहा है। कुछ राजकीय क्षेत्रों से स्नातक स्तर पर छात्रवृत्ति भी प्राप्त हो रही है, जिनमें कोल इण्डिया लि०, हिन्दुस्तान कापर लि० के नाम उल्लेखनीय है। भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स लि० के साथ इस बात पर विचार चल रहा है कि वह उद्योग के लिए चतुर्थ वर्ष के छात्रों का साक्षात्कार कर चयन कर लें, तथा चयन किए छात्रों को ४००।५०० रु० प्रति माह छात्र वृत्ति देवें। ये छात्र वहां पर ट्रेनिंग लेंगे। इसी प्रकार दूसरे राजकीय उद्योग क्षेत्रों से भी प्रयास चल रहा है।

संस्थान के छात्रों को अन्य कार्यक्रमों में भी भाग लेने के लिए सदैव प्रोत्साहित किया जाता है। ताकि वे अपन जीवन में अधिक संतुलित मानव होकर व्यवहार करें।

आई० टी० सांस्कृतिक संघ का प्रारंभ १९७४ में हुआ। जिसमें संगीत, कला एवं ललित कलाओं में रुचि रखने वालों ने विशेष योगदान दिया। आई०आई०टी० खड़गपुर तथा आई०आई०टी० कानपुर द्वारा आयोजित होने वाले कार्यक्रमों में भाग लेकर प्रथम, द्वितीय, एवं तृतीय अनेक पुरस्कार इस संघ द्वारा प्राप्त किए गए हैं। इस वर्ष आई०आई०टी० कानपुर द्वारा आयोजित सांस्कृतिक उत्सव पर हमारे नाटक ने सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया। (Amateur Radio Club) की स्थापना १९७२–७३ ई० में हुई जिसके द्वारा उत्साही सदस्यों को तार-बेतार के संदेश प्राप्त करने तथा भेजने की प्रक्रिया में शिक्षित किया जाता है।

प्रौद्योगिक संस्थान द्वारा तीन बार सफलता पूर्वक प्रतिमा प्रदर्शनी (Model exhibition) का सफल आयोजन किया जा चुका है। संस्थान ने इसके ड्राइंग बोर्ड के कागज से आगे बढ़कर वास्तविक मशीन यंत्र बनाना विद्यार्थियों को सिखलाया है, जिससे वे आगे चल कर अपने स्वयं के उद्योग स्थापित करने का आतम विश्वास प्राप्त करेंगे जोकि अन्य लोगों को भी काम देने का माध्यम होगा।

खेलकूद के क्षेत्र में संस्थान के छात्रों ने अपना ऊँचा स्थान बनाए रखा है। मुक्का प्रतियोगिता ७४–७६ में विश्वविद्यालय एवं प्रदेश स्तर पर संस्थान की टीम ने चैम्पियनशिप प्राप्त की है। हमारे Judo exponents ने राष्ट्रीय स्तर पर प्रदेश का प्रतिनिधित्व किया है। आई०टी० की टेनिस टीम ने भी विश्वविद्यालय की तथा अन्य कई खुली प्रतियोगिताओं में चैम्पियनशिप जीती। नौका दौड़, एक नया कार्य जो पिछले वर्ष प्रारंभ किया गया, गति पकड़ रहा है तथा इस संस्थान की टीम ने इस वर्ष लखनऊ में आयोजित उ० प्र० रिगेटा में भाग लिया। हमारे चार विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय स्तर पर १९७६–७७ के लिए कैप्टेन मनोनीत किया गया है। आई०टी० मुक्केवाजी टुकड़ी के कैप्टेन ने प्रदेशीय जूनियर मुक्केवाजी टीम के कैप्टेन को हैसियत से पूना में आयोजित राष्ट्रीय स्तर की चैम्पियनशीप में भाग लिया। संस्थान के भविष्य के विकास कार्यक्रम में छात्रों के लिए जीमखाना खोलने का प्रस्ताव है। यदि यह स्वीकृत हो गया तो अथलेटिक असोसिएशन इस प्रकार की अतिरिक्त सुविधाएँ देने में समर्थ होगा, जैसे आच्छादित वैडमिण्टन कोर्ट, टेबिल टेनिस हाल और घिरे हुए टेनिस कोर्ट।

राष्ट्रीय सेवा योजना में भी संस्थान का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस कार्य में दो सौ से अधिक छात्र एवं दो प्राध्यापक सक्रिय रूप से लगे हुए हैं। इस योजना के अंतर्गत कैम्पस की सफाई, वृक्षा रोपण गांव के विभिन्न प्रकार के विकास के साथ-साथ तकनीकी क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण उपलब्धियां की जा रही हैं जो ग्रामीण जीवन में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगीं।

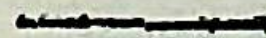
आई०टी०, कैफेटेरिया के लिए १९६२ में अनुदान स्वीकृत हुआ था किन्तु निर्माण लागत अत्यधिक बढ़ जाने के कारण १९७२ तक काम आरंभ न हो सका। १९७२ में नीचली मंजिल तैयार हुई। अब यह प्रस्ताव है कि पहली मंजिल बनाई जाय। जिसमें संस्थान के परीक्षकों तथा मेहमानों के लिए अतिथि कक्ष हों।

काफी प्रयास के बाद विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को इस बात के लिए राजी किया गया है कि वह मेकेनिकल, केमिकल तथा मेटलर्जी विभाग के भवन विस्तार के लिए चतुर्थ योजना

के अंतर्गत मंजूर अवरुद्ध अनुदान मुक्त करदे। हाल में स्थापित इलेक्ट्रानिक्स इंजीनियरिंग विभाग के विकास के लिए कुछ भाग का निर्माण पूरा किया जा चुका है।

इंजीनियरिंग कालेज का पुस्तकागार ही संस्थान के पुस्तकागार के रूप में वदल दिया गया था, किन्तु उसके फर्शी क्षेत्रफल तथा कर्मचारीगण में कोई वृद्धि नहीं की गई थी। प्रयोक्ताओं की संख्या में भारी वृद्धि के कारण पुस्तकागार सेवा अपर्याप्त हो गई। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से पुस्तकागार के लिए अतिरिक्त पदों की मांग की गई जो स्वीकृत हो गई है किन्तु अभी बहुत कुछकरना वाकी है।

एन०सी०सी० को दी गई पुरानी इमारत का जीर्णोद्धार करके उसमें पुस्तकागार को स्थापित करने की योजना है। यह भवन छात्रावासों के अधिक समीप है और आशा है कि विद्यार्थीगण पुस्तकागार का और अच्छा प्रयोग कर सकेंगे। पांचवीं योजना के अंतर्गत पुस्तकागार के लिए ५० से ६० लाख रुपये के अनुदान की आशा है।



संगीत एवं ललितकला संकाय

ओम प्रकाश चौरसिया

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का संगीत एवं ललित कला संकाय सम्प्रति संगीत एवं कला के क्षेत्र में राष्ट्र के लिए एक गौरवपूर्ण संस्था है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी इसका अपना विशिष्ट स्थान है। महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी की कल्पना-ज्योति का साकार रूप श्रीकला संगीत भारती (कालेज आफ म्यूजिक एण्ड फाइन आर्टस) के नाम से सन् १९५० में सामने आया जिसके संस्थापक प्रसिद्ध संगीतज्ञ पंडित ओंकार नाथ ठाकुर थे।

सन् १९६५–६६ में इस महाविद्यालय के दो प्रविभाग वन गये—१. संगीत प्रविभाग, २. ललित कला प्रविभाग। प्रत्येक प्रविभाग में ३–३ विभागों का सृजन हुआ। संगीत प्रविभाग के अंतर्गत—कण्ठ संगीत विभाग, वाद्य संगीत विभाग, संगीत शास्त्र विभाग तथा ललित कला प्रविभाग में चित्रकला विभाग, मूर्तिकला विभाग, व्यवहारिक कला विभाग हैं।

संगीत प्रविभाग

१. वाद्य संगीत विभाग—यह विभाग ख्यातिलब्ध 'विचित्र वीणा' के उपासक डा० लालमणि मिश्र के निर्देशन में प्रगति कर रहा है।

सम्प्रति डा० मिश्र ही इस विभाग के अध्यक्ष एवं संकाय प्रमुख के पद पर कार्यरत हैं। इसके अतिरिक्त २ रीडर एवं ८ प्रवक्ता भी इस विभाग में सेवारत हैं।

साथ ही इस विभाग में ४ तवला संगतकार, एक लिटरेरी असिस्टेंट, एक हिन्दी टाइपिस्ट तथा एक वाद्य निर्माता एवं मरम्मतकर्ता भी कार्यरत हैं।

डा० लालमणि जी के निर्देशन में सामगान तथा भक्ति संगीत ध्वन्यंकन योजना के अंतर्गत एक शोध सहायक भी कार्यरत हैं। उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत के वाद्यों का समन्वय इस विभाग की विशेषता का परिचायक है।

इस विभाग में दो प्रकार की डाक्टरेट की उपाधियाँ प्राप्त करने की सुविधा है जिससे बहुत से विद्वान और छात्र लाभान्वित होते रहते हैं।

विभाग में विभिन्न प्रकार के प्राचीन एवं अर्वाचीन वाद्यों का एक संग्रहालय है जिसे देखने के लिए देश-विदेश के शोधकर्ता आते रहते हैं। विभाग के विद्वानों द्वारा उच्च कोटि के प्रकाशन कार्य एवं शोध प्रबंध संगीत जगत में प्रशंसित हुए हैं। जिनमें डा० लालमणि मिश्र का 'भारतीय संगीत वाद्य' अद्वितीय है। छात्रों एवं विद्वानों के सुविधार्थ प्रायः दो सहस्त्र पुस्तकों का संकलन वाद्य विभाग के विभागीय पुस्तकालय में विद्यमान हैं। विभिन्न सांगीतिक पत्रिकायें और कुछ पाण्डुलिपियाँ भी हैं।

इस प्रकार वाद्य संगीत विभाग वाद्य एवं संगीत के क्षेत्र में अध्ययन एवं शोध-प्रवन्ध के लिए उत्तमोत्तम सुविधा प्रस्तुत कर रहा है। विद्यार्थियों, छात्रवृत्तियों, आधुनिकतम समृद्ध पुस्तकालय एवं योग्यतम अध्यापकों से अलंकृत वाद्य विभाग संगीत जगत् की प्रोन्नति में तत्पर एवं सेवारत है।

२. **कण्ठ संगीत विभाग**—इस विभाग में २ रीडर एवं ६ प्रवक्ता कार्यरत हैं। इसके अतिरिक्त इस विभाग में ४ तबला संगतकार भी हैं।

इस विभाग में भी दो प्रकार की डाक्टरेट की उपाधियां प्राप्त करने की सुविधा उपलब्ध है—१. सिद्धान्त पक्ष (पी-एच०डी०), २. व्यवहार पक्ष (डी०म्यूज०)। विभागीय पुस्तकालय में संगीत संबंधी लगभग १५०० पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं आदि का संकलन है।

३. **संगीत शास्त्र विभाग**

वर्तमान संगीत शास्त्र विभाग पूर्ववर्ती श्री कला संगीत भारती (College of music and Fine Arts) के तीन भिन्न-भिन्न विभागों में (कण्ठ, वाद्य संगीत एवं संगीत शास्त्र विभाग) विभक्त होने के फलस्वरूप सन् १९६६ में अस्तित्व में आया।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ही वास्तव में भारत में सबसे पहला विश्वविद्यालय रहा है जिसमें संगीत शास्त्र के सिद्धान्प पक्ष को पढ़ने-पढ़ाने और अनुसंधान के क्षेत्र में उसकी महत्ता स्वीकारते हुए एक स्वतंत्र विभाग स्थापित किया गया। इस गौरवमयी कल्पना का श्रेय मूलतः संस्था के संस्थापक स्वर्गीय पं० ओंकार नाथ ठाकुर की दूरदर्शिता को दिया जा सकता है जिन्होंने संगीत के प्राचीन सिद्धान्त एवं आधुनिक प्रयोग में बढ़ती हुई विषमता को पहिचानते हुए श्री कला संगीत भारती के अभिन्न अंग के रूप में एक शोध कक्ष की योजना सन् १९५० ई० से ही प्रो० एलैन डैनेल्यू के सहयोग से बनायी जिन्होंने सन् १९५३ तक इस दिशा में कार्य किया।

इस विभाग के दो अंग हैं एक शैक्षणिक और दूसरा अशैक्षणिक। शैक्षणिक कार्य के लिये दो अध्यापिकायें हैं—

(i) संगीत सिद्धान्त और शोध में रीडर

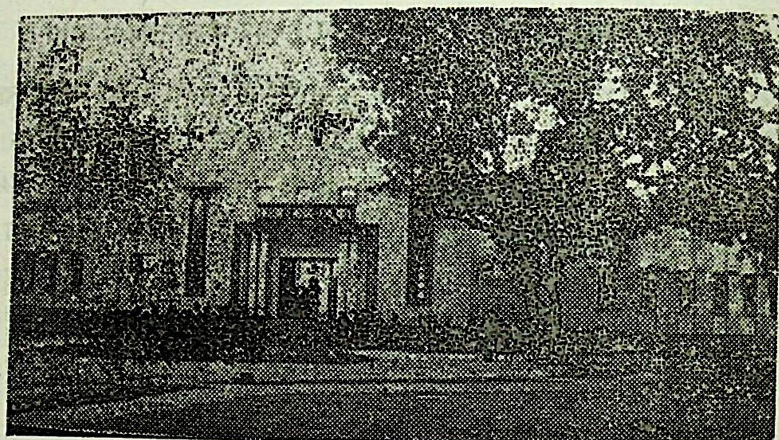
(ii) संस्कृत अध्यापिका

इनके अतिरिक्त दो शोध-सहायक, एक विशेष सहायक एवं एक वरिष्ठ लिपिक हैं जो अशैक्षणिक अङ्ग के सदस्य हैं। यह विभाग पी-एच० डी० के अतिरिक्त दो पाठ्यक्रम प्रस्तुत करता है एक पूर्व स्नातक स्तर पर दूसरा उत्तर स्नातक स्तर का जो क्रमशः डिप्लोमा इन म्यूजिक एप्रीसिएशन (दो वर्ष) तथा एम० म्यूज इन म्यूजिकोलोजी (दो वर्ष) का है। इस प्रकार के पाठ्यक्रम भारत के किसी भी अन्य विश्वविद्यालयों में उपलब्ध नहीं हैं। भारत में संगीत शिक्षा के क्षेत्र में ये दोनों पाठ्यक्रम अपने मूल संस्कार एवं बौद्धिक अनुशासन में विलक्षण हैं।

उक्त डिप्लोमा कोर्स श्रोत्र-निर्दिष्ट पाठ्यक्रम है जो विश्व-विद्यालय के विभिन्न संकायों के अन्तर्गत विविध विषयों के अध्येताओं तथा विश्वविद्यालय के सभी कार्यकर्त्ताओं को शास्त्रीय संगीत को सुनने-समझने और उसके रसास्वादन का महत्व बोध कराने के लिए रचा गया है। म्यूजिकोलाजी का मास्टर्स कोर्स भारतीय संगीत के क्षेत्र में संगीत शास्त्रियों (musicologist) को उत्पन्न करने के लिए परिकल्पित है। यह एक विशिष्ट पाठ्यक्रम है जो छात्रों को रिसर्च स्तर के अध्ययन के लिए तैयार करता है।

इस समय इस विभाग में पांच शोध-कर्त्ता विभिन्न विषयों पर कार्य कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त एक पुस्तकालय (शोध सामग्री संकलन व अप्राप्य अप्रकाशित ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों का संग्रह एवं इन्डैक्स आदि) का संग्रह भी है। भारत सरकार द्वारा उच्चस्तरीय पुस्तक लेखन योजना के अन्तर्गत श्री शार्ङ्गदेव के 'संगीत रत्नाकर' नामक ग्रन्थ का आलोचनात्मक टिप्पणी सहित अंग्रेजी अनुवाद का कार्य प्रगतिशील है और इसका प्रथम खण्ड मुद्रित हो रहा है। शोध कक्ष के नियन्त्रण में निम्नलिखित शोध प्रयत्न किये गये हैं :—

१—संगीत विषयक अप्रकाशित ग्रन्थों का संग्रह, उनका मूल ग्रन्थों से मिलान, शोध एवं प्रकाशन करना।



संगीत महाविद्यालय

२—संगीत के उच्च कोटि के मानक ग्रन्थों (Standard) का हिन्दी, अंग्रेजी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में अनुवाद।

३—शोध कार्यों के लिए प्रारम्भिक सामग्री संग्रह करना, विषय सूची, श्लोकानुक्रमणिका, शब्दानुक्रमणी (सन्दर्भिका Bibliography) इत्यादि आनुषंगिक कार्य तैयार करना।

इस विभाग के अन्तर्गत प्रकाशन कार्य—

१—शोधकक्ष में अब तक एक शोध पत्रिका नादरूप दो भागों में प्रकाशित हुई जिसका प्रथम भाग शोध कक्ष के शोध प्रयत्नों का परिचायक है, और दूसरा आंशिक रूप से।

२—इस विभाग का सबसे महत्वपूर्ण कार्य विभागाध्यक्षा डा० प्रेमलता शर्मा द्वारा सम्पादित महाराणा कुम्भकर्ण विरचित संगीतराज नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ का प्रकाशन है जिसका प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है और दूसरा भाग यन्त्रस्थ है जो शीघ्र ही ग्रन्थ रूप में सामने आयेगा।

विभाग में शोध कर्त्ताओं को प्रेरणा देने के लिए इधर एक नवीन योजना प्रारम्भ की गयी है जिसमें नियमित रूप से शोध पत्र पढ़ने का एक कार्यक्रम रखा गया है। इसके अतिरिक्त प्रति वर्ष उज्जैन में होने वाले 'कालिदास समारोह' में सन् १९७३-७४ और १९७५-७६ में

आयोजकों द्वारा आमन्त्रित 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' के दल के अङ्ग के रूप में इस विभाग के दल ने भाग लिया। प्रथम अवसर पर यह दल 'स्वर्ण कलश' से सम्मानित हुआ और १९७५-७६ के समारोह में 'मालविकाग्निमित्रम्' नामक नाटक का मंचन किया गया जिसको अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई और १९७७-७८ में संस्कृत अकादमी उत्तर प्रदेश के अनुरोध पर महाकवि भवभूति विरचित 'उत्तर रामचरितम्' का वाराणसी और लखनऊ में सफल मंचन करने में विभाग का विशिष्ट योगदान रहा। प्राचीन संगीत शास्त्रीय विधानों को प्रयोगात्मक रूप से प्रत्यक्ष करने की दिशा में गीत-प्रबन्धों का निर्माण तथा सम्पूर्ण पूर्वरङ्ग का उद्धार विभाग की नवीन गतिविधि है।

अपने अस्तित्व के अल्प काल में ही विभाग ने एक समृद्ध पुस्तकालय का निर्माण कर लिया है जिसमें लगभग दो हजार महत्व पूर्ण पुस्तकें एवं १०० के लगभग अमुद्रित हस्तलिखित पाण्डुलिपियां संग्रहीत हैं। संगीत सम्बन्धी पुस्तकों का ऐसा व्यापक एवं सुव्यवस्थित संग्रह अन्यत्र दुर्लभ है।

समय-समय पर देश के विभिन्न भागों से एवं विदेशों से भी विद्वान् एवं शोधार्थी इस विभाग में मार्ग दर्शन के लिए आते रहते हैं और आज भी आ रहे हैं। इस प्रकार संगीत शास्त्र विभाग म्युजिकॉलौजी के क्षेत्र में अध्ययन एवं शोध के लिए अद्वितीय सुविधायें प्रस्तुत कर रहा है। अधिकारी विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त छात्र वृत्तियां, आधुनिकतम समृद्ध पुस्तकालय, योग्यतम अध्यापक एवं व्यवस्थित शोध-कक्ष से सुसज्जित यह विभाग संगीत जगत् की सेवा में तत्पर है।

ललितकला प्रविभाग—

ललित कला के विकास का वह प्रारंभिक स्वरूप याद आता है जब रुइया छात्रावास (का० हि० वि० वि०) के एक छोटे से कमरे में इसकी शिक्षा दी जाती थी। इसका श्रीगणेश श्री एलेन दन्यालू (उर्फ श्रीशिवशरण) जी ने जो एक फ्रांसीसी थे किया। दो-चार विद्यार्थियों से यह विद्यालय शिशु रूप में चलता रहा। इसका स्वरूप मात्र सायंकालीन विद्यालय का था। पं० ओंकारनाथ ठाकुर ने १९५० में इसे एक विद्यालय का रूप दिया। वे इसके प्रथम आचार्य थे। संगीत के पुजारी होने के नाते उनके कार्यकाल में संगीत विद्यालय का विकास हुआ परन्तु ललित कला महाविद्यालय उपेक्षित सा अपनी लघुता में सिमटा भविष्य का प्रतीक्षक वना रहा। इसी समय इसके इंचार्ज के रूप में श्री जे० एम० अहिवासी आये और उन्होंने कुछ लोगों की नियुक्तियां इन्स्ट्रक्टर के रूप में की। कला शिक्षण की स्थिति पुरानी विचार धाराओं से ही सम्बद्ध थी फिर भी विद्यार्थी संघर्षरत रहे। अहिवासी जी के प्रयास से कला भवन के अहाते में चार कमरों का शेड बनाया गया जिसमें विद्यालय ने स्वतंत्र रूप से स्वांस लेना शुरू किया। उस समय डिग्री के स्थान पर जूनियर डिप्लोमा एवं सीनियर डिप्लोमा (दो-दो वर्षों का) दिया जाता था। व्यवसायिक कला को छोड़कर सभी कलायें पढ़ायी जाती थीं। डिप्लोमा केवल चित्र कला में दिया जाता था। बाद में अहिवासी जी के प्रयास से मूर्तिकला में भी डिप्लोमा खुला इस समय तक व्यवसायिक कला की शिक्षा शुरू हो गई थी। इसके डिप्लोमा की कोई व्यवस्था नहीं थी। डिप्लोमा का अस्तित्व १९६२ तक चला।

विद्यालय के भाग्य ने करवट ली और वरदान के रूप में गवर्मेन्ट का एक कमीशन विद्यालय के उद्धार के लिए आया जिसके इन्चार्ज देश के महत्वपूर्ण कलाकार श्री वेन्द्र थे। उसमें दो प्रमुख कलाकार और भी थे जैसे श्री शंखो चौधरी और श्री वी० आर० अम्बेडकर, साथ ही सरकार का एक प्रतिनिधि था। इस प्रकार चार व्यक्तियों के इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट सरकार को दी। इसे आल इण्डिया टेक्निकल बोर्ड से जोड़ा गया और उससे अनुदान की सिफारिश की गई।

विद्यालय के लिए सन् १९६६ का वर्ष बड़ा महत्वपूर्ण रहा। टेक्निकल वोर्ड ने अनुदान प्रदान किया जो लिखित रूप से फाइलों के बीच सिमट कर रह गया। पं० ओंकार नाथ जी के वाद श्री देवधर जी प्राचार्य के स्थान पर आये, इन्हीं के समय में विद्यालय तीन विभागों वाला बन गया। जिसमें (अ) व्यवहारिक कला (अप्लाइड आर्ट) (ब) चित्र कला (पेन्टिंग) (स) मूर्तिकला (स्कल्पचर) हैं। डिप्लोमा ने डिग्री का स्थान ग्रहण किया। श्री देवधर जी के समय में ही डिग्री का प्रथम बैच निकला। डिग्री में दो वर्षों तक तीनों विभागों में पढ़ना पड़ता है। तीसरे वर्ष में किसी एक विभाग का वरण करना पड़ता है और उसे तीन वर्षों तक स्पेशलाइजेशन करने के वाद डिग्री प्रदान की जाती है। देवधर जी की सेवा निवृत्ति के वाद संगीत एवं ललित कला के प्रशासनिक अधिकारी के रूप में श्री ज्योति भूषण गुप्त जी ने स्थान ग्रहण किया। इन्हीं के समय में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कलाकार प्रो० के० एस० कुलकर्णी चित्रकला विभाग में प्रो० के पद पर आये। दूसरे विभागों में भी नियुक्तियां हुईं। प्रो० कुलकर्णी के ही समय में संगीत एवं ललित कला दोनों मिल कर संकाय (फैकल्टी) में वदल गये और प्रो० कुलकर्णी इस फैकल्टी के सर्वप्रथम संकाय प्रमुख हुए। अनुदान मिल चुका था लेकिन पैसा लैप्स होने के कगार पर था। जरूरत थी एक विशिष्ट व्यक्तित्व वाले व्यक्ति की। कालेज भाग्यशाली था उसे ऐसा व्यक्ति मिल चुका था। ग्रान्ट लैप्स होने के पहले ही प्रो० कुलकर्णी के प्रयास से उसे बचा लिया गया। संगीत कालेज के बगल में वाटेनिकल गार्डेन में नींव पड़ चुकी थी परन्तु फिर से विचारबदल गया और सन् १९६८ में कला भवन के वगल में विद्यालय की नींव डलवायी गयी। भवन का निर्माण वड़ी तेजी में शुरू हुआ। प्रो० कुलकर्णी की कलात्मक अन्तर्दृष्टि विद्यालय के कण-कण में समायी हुई है। इस विद्यालय को वर्तमान स्वरूप देने में इन्होंने अथक परिश्रम किया है।

प्रो० कुलकर्णी का योगदान शैक्षणिक, प्रशासनिक एवं योजनाबद्ध रहा है। आपने ललित कला के विकास के हर पक्ष पर अपने अनुभव की छाप छोड़ी है। ललित कला महा-विद्यालय में स्वस्थ्य परंपराओं का सूत्रपात किया है। आज यहां का विद्यार्थी इनके प्रयास के कारण दुनियां का कला संवंधी किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर सकता है एवं दुनियां के किसी भी विद्यालय से पास होने का लाभ ले सकता है। पांच वर्षों के कोर्स को इन्टीग्रेटेड कर उन्होंने डिग्री का और महत्व वढ़ा दिया है। अर्से से चले आ रहे पारंपरिक शिक्षण पद्धति में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया गया है। अक्सर अध्यापकों एवं विद्यार्थियों की गोष्ठी बुलाना, कला शिक्षण पर विचार विनिमय करना, विद्यार्थियों को निर्भीक वनाना एवं उनके अन्दर छिपी कलात्मक शक्ति को जागृत कराने का प्रयास चलता रहता है।

ललित कला महाविद्यालय शिक्षण के दौड़ में पीछे न रहे यह बात संकाय प्रमुख, डा० लालमणि मिश्र के मन में सदैव विद्यमान रही है। चित्रकला में एम०एफ०ए० १९७३ म प्रारंभ हुआ और एम० एफ० ए० चित्रकला का प्रथम बैच १९७४ में निकला। चित्रकला की यह उपलब्धि बड़ी महत्वपूर्ण रही। श्री रवीन्द्रनाथ मिश्र को प्रथम नेशनल कल्चरल स्कालरशिप पेन्टिग में प्राप्त हुई जो विद्यालय के लिए गौरव की बात है। पूरे देश में इस प्रकार की ५ स्कालरशिप कलाकारों को प्राप्त हुई थी।

अन्य विभागों में एम०एफ०ए० किन्हीं कारणों वस दो वर्ष बाद खुला। इसके बीच में ही जब प्रो० कुलकर्णी विदेश में थे अप्लाइड आर्ट में डेपुटेशन पर श्री ज्योतिष भट्टाचार्यजी तीन वर्षों के लिए प्रो० के पद पर आये जिनका विद्यालय की प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में श्री शंखो चौधरी आये और प्रो० कुलकर्णी के सहयोग से मूर्तिकला विभाग को एक दिशा दी। प्रो० कुलकर्णी के प्रयास से तीन विभागों में लगभग २०–२१ लोगों का समुदाय अध्यापन रत है। लगभग १५० विद्यार्थियों का यह विद्यालय प्रगति की ओर बढ़ रहा है। यहां प्रति वर्ष ३० रेगुलर एवं ३ कैजुअल विद्यार्थियों की भर्ती होती है। दो वर्षों तक विद्यार्थी हर विभागों में अध्ययन करता है और तीसरे वर्ष किसी एक विभाग का वरण करता है। इस प्रकार बी० एफ० ए० की डिग्री प्रदान होती है। तीसरे वर्ष में १२ स्थान चित्रकला विभाग में जिसमें की विद्यालय के विद्यार्थियों के साथ ही चित्रकला से बी० ए० पास विद्यार्थियों की भर्ती होती है। १२ स्थान व्यवहारिक कला में एवं ६ स्थान मूर्तिकला विभाग में है। पोस्टग्रेजुएट कक्षाओं में हर विभाग में पांच विद्यार्थी लिए जाते हैं। लगभग ३ वर्षों तक सायंकालीन कक्षायें भी चालू की गयी थीं लेकिन अनुदान न मिलने से बन्द कर देनी पड़ी। इसका एक बैच भी निकल चुका है।

यहां के अध्यापक एवं विद्यार्थियों को देश तथा विदेशों के बहुत सारे महत्वपूर्ण पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं और भविष्य में भी बहुत आशायें हैं। किसी भी ललित कला विद्यालय में जितने भी प्रकार की शिक्षा संबंधी सुविधायें हो सकती हैं यहां विद्यमान हैं। मूर्तिकला विभाग के लिए बड़ी-बड़ी मशीनरियां, व्यवहारिक कला विभाग के लिए आवश्यक यंत्र पूरे विद्यालय के लिए पेपर, रंग आदि की सुविधायें अपना महत्व रखती हैं। यहां से प्रो० कुलकर्णी के प्रयास के कारण विद्यार्थियों को कला सामग्रियां प्रदान की जाती हैं। प्राध्यापकों के लिए भी सामाग्रियां कक्षाओं में डिमान्स्ट्रेशन एवं शोधकार्य के लिए प्रदान की जाती हैं। दुनियां की कला संबंधी बहुत सारी पत्रिकायें मंगाई जाती हैं, कला संबंधी फिल्म्स का प्रदर्शन किया जाता है। देश तथा विदेशों के महत्वपूर्ण ललित कला के विद्वानों का प्रवचन एवं डिमान्स्ट्रेशन कराया जाता है।

विद्यालय में वर्ष के अन्त में आर्ट-फेयर का आयोजन होता है जिसमें विद्यार्थियों के कार्यों को तथा प्राध्यापकों की कृतियों को बिकने के लिए रखा जाता है। इस प्रकार एक तरह से कला वस्तुओं की बिक्री का अवसर मिलता है एवं आगे के लिए प्रेरणा मिलती है साथ ही जन रुचि पैदा करने का अभिप्राय मिलता है। इस मेला से प्राप्त धनराशि का सदुपयोग गरीब विद्यार्थियों के हित में किया जाता है। फेयर से विद्यार्थियों को प्रोत्साहन मिलता है और

समाज में आर्ट के माध्यम से खड़े होने का साहस। रेखा-चित्र प्रदर्शिनयां भी लगाई जाती हैं जिसमें पुरस्कार के रूप में विजयी छात्रों को धनराशि की प्राप्ति होती ह और उन्हें प्रोत्साहन मिलता है।

ललित कला अकादमियाँ कलाकारों के लिए महत्व रखती हैं लेकिन बड़ी विडम्बना की बात है कि विद्यार्थियों को उसके संबंध में जानकारी नहीं रहती। फलस्वरूप वे उसके अधिकारिक लाभ से वंचित रह जाते हैं। प्रो० के० एस० कुलकर्णी ने ललित कला अकादमी (उ० प्र०) के अध्यक्ष होने के नाते अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करके अकादमी की वार्षिक प्रदर्शनी यहां लगवाई जिससे विद्यार्थी लाभान्वित हुए एवं अधिक संख्या में देश के प्रदर्शिनियों में भाग लेने को प्रवृत्त हुए। आज यहां का कला के प्रति इमानदार विद्यार्थी प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद बड़े साहस के साथ अपने कदमों पर खड़ा हो सकता है और कला के माध्यम से देश को लाभ पहुँचा सकता है। यह सब कुछ यहां के विशेष पद्धति का प्रतिफल है। यहां के उत्तीर्ण, विद्यार्थी अध्यापक से लेकर आर्ट विजुलाइजर, टेक्स्टाइल डिजाइनर, म्युरल पेन्टर एवं स्वतंत्र चित्रकार हैं और वह दिन दूर नहीं जब यहां के विद्यार्थी कला जगत में छा जायेंगे क्योंकि उन्हें कला के प्रति एक उचित दृष्टि दी जाती है।

इस प्रविभाग में विद्यार्थियों की सुविधाओं का बहुत ध्यान रखा जाता है जो अन्यत्र देखने में दुर्लभ है। एक वृहद् पुस्तकालय, प्रदर्शनी भवन, कामन रूम्स, खेलों की सुविधायें आदि उपलब्ध हैं।

संगीत एवं ललित कला संकाय इस विश्वविद्यालय का एक आकर्षण है। वर्ष भर जहां एक ओर संगीत के रंगारंग कार्यक्रम होते रहते हैं वहीं दूसरी ओर विभिन्न प्रकार की देश-विदेश की प्रदर्शनियां होती रहती हैं। इस संकाय के विद्यार्थी जहां एक ओर विद्यार्थी के रूप में शिक्षा अर्जित करते हैं वहीं दूसरी ओर व्यवसायिक स्तर पर भी संगीत एवं कला के क्षेत्र में आगे बढ़ रहे हैं।

शोध सहायक
वाद्य संगीत विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

चिकित्सा विज्ञान संस्थान

राम आधारलाल

यदि कभी मनुष्य जाति को मानसिक, शारीरिक एवं नैतिक उत्थान द्वारा ऊपर उठाया गया तो वह कार्य चिकित्सा विज्ञान सम्पन्न करेगा।

—डेसकार्टेस

संक्षिप्त इतिहास

आज का चिकित्सा विज्ञान संस्थान शुरू में कालेज आफ मेडिकल साइन्सेज के नाम से प्रारम्भ हुआ। महामना मालवीय जी के स्वप्नों के अनुसार कालेज आफ मेडिकल साइन्सेज का यह आदर्श था कि भारतीय चिकित्सा विज्ञान को योरोपीय चिकित्सा पद्धति के साथ-साथ पढ़ाया जाय ताकि भारतीय चिकित्सा पद्धति, आधुनिक चिकित्सा पद्धति एवं शल्य क्रिया से लाभान्वित हों।

प्रारम्भ में आयुर्वेदिक विभाग विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय का एक अंग था। सन् १९२४-२५ में आयुर्वेद कालेज ने स्वतंत्र रूप से प्राच्य विद्या संकाय के अन्तर्गत कार्य आरम्भ किया। तत्पश्चात् सन् १९२८ से मेडिसीन एवं सर्जरी (आयुर्वेद) का विकास हुआ।

आयुर्वेद कालेज के स्नातक पाठ्यक्रम को समाप्त कर उसके स्थान पर कालेज आफ मेडिकल साइन्सेज का प्रारम्भ १९६० में हुआ। परिणामतः देश भर के आयुर्वेदिक कालेज के विद्यार्थियों ने अपने अधिकारों के लिए आन्दोलन प्रारम्भ किया। आधुनिक चिकित्सा शिक्षा के उत्तरोत्तर वृद्धि से देश भर में अधिक से अधिक मेडिकल कालेज खुलने लगे। आयुर्वेद स्नातकों के लिए क्षेत्र संकुचित हो गया। पाठ्यक्रम में आधुनिक विषयों के समावेश का पूर्व प्रयास और तत्पश्चात् आयुर्वेदाचार्य एवं बैचलर आफ मेडिसिन एवं सर्जरी की डिग्रीप्रदान किया जाना लाभदायक सिद्ध नहीं हुआ यद्यपि शैक्षणिक दृष्टि से उनका प्रशिक्षण उच्चस्तर का था। अतः इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने स्नातक स्तर पर आधुनिक चिकित्सा पद्धति के आधार पर शिक्षा प्रदान करने हेतु काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सर्वतोमुखी मेडिकल कालेज की स्थापना की। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने जून सन् १९६० में इस विश्वविद्यालय में एक मेडिकल कालेज की स्थापना की अनुमति दी और सितम्बर १९६० में चिकित्सा विज्ञान कालेज की स्थापना हुई।

फिर भी स्नातकोत्तर स्तर पर भारतीय चिकित्सा पद्धिति के अध्ययन हेतु लोगों के मन में विचार उत्पन्न हुआ। अतः स्नातकोत्तर चिकित्सा विज्ञान संस्थान के स्थापना के विचार को कार्यान्वित किया गया और १९६३ में स्नातकोत्तर चिकित्सा विज्ञान संस्थान की स्थापना हुई। साथ ही साथ आयुर्वेदिक मेडिसिन में स्नातकोत्तर कोर्स (डी० ए० वाई० एम०) को प्रारम्भ किया गया। शल्य शालक्य (सर्जरी), काय चिकित्सा (मेडिसिन), प्रसूति तंत्र (आब्स्टेट्रिक्स एवं गायनेकोलाजी), द्रव्यगुण (वानस्पतिक, भैषज्य अध्ययन) एवं मौलिक सिद्धान्त

ये पांच विभाग आरम्भ किये गये। स्नातकोत्तर संस्थान में मेडिसिनल केमेस्ट्री कक्ष को भी विभागीय स्तर पर रक्खा गया।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की एक समिति की सिफारिस पर विश्वविद्यालय की कार्यकारणी समिति ने १९७१ में मेडिकल कालेज एवं आयुर्वेदिक मेडिसिन के समस्त विभागों को एक करके चिकित्सा विज्ञान संस्थान की स्थापना का निश्चय किया। स्नातकोत्तर आयुर्वेदीय संस्थान को समाप्त कर दिया गया एवं मेडिकल कालेज के प्रथम प्राचार्य डा० के० एन० उडुपा ने चिकित्सा विज्ञान संस्थान के प्रथम निदेशक के रूप में भार ग्रहण किया। विगत १५ वर्षों में कालेज (सम्प्रति संस्थान) को आशातीत उन्नति प्रो० के० एन० उडुपा के अथक परिश्रम का परिचायक है।

आवास

आरम्भ में आयुर्वेदिक कालेज के छोटे भवन में मेडिकल कालेज ने अपना कार्य आरम्भ किया। संस्कृत महाविद्यालय की पहली मंजिल में प्रशासनिक कार्यालय, पुस्तकालय, कला एवं छाया कक्ष तथा निवारक एवं सामाजिक मेडिसिन विभाग कार्य करता रहा। आयुर्वेदिक उद्यान के भवन के दो ब्लाकों में भैषज्य एवं शरीर क्रिया विभाग की स्थापना की गयी। लगे हुए समीपस्थ ब्लाक में शरीर रचना, बायोकेमेस्ट्री एवं बायोफिसिक्स और पैथालाजी विभाग रक्खे गये तथा क्लिनिकल विभागों को सर सुन्दर लाल चिकित्सालय में रक्खा गया। उस समय लेक्चर के लिए कमरे पर्याप्त न थे। शिक्षक गण एवं विद्यार्थियों को एक जगह से दूसरी जगह दौड़ना पड़ता था। इन अभावों के बावजूद कालेज उतरोत्तर वृद्धि करता गया एवं इसे भारतीय मेडिकल काउन्सिल से मान्यता प्राप्त हुई। इसने अपने शैशव काल में ही ब्रिटिश मेडिकल काउन्सिल द्वारा मान्यता प्राप्त की। यह उपलब्धि कालेज के शिक्षक एवं विद्यार्थियों के अथक प्रयास का फल है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा संस्थान को १·५० करोड़ रुपए का अनुदान भवन निर्माण, छात्रावास (लड़के एवं लड़कियों), शिक्षक आवास तथा औजार एवं पुस्तकों के क्रय करने के लिए स्वीकृत हुआ। कालेज का मुख्य भवन १९६७ में बनकर तैयार हुआ। १९६७ में वसंत पंचमी के अवसर पर कालेज पुस्तकालय के नए भवन में आ जाने से कालेज का कार्य शुरु हो गया। इसी वर्ष सबसे पहले नये भवन में बायोकेमेस्ट्री एवं बायोफिजिक्स विभाग आया और उसके अनन्तर अन्य विभाग आये। नवीन तीन मंजिले भवन में चार ब्लाक के अन्तर्गत संस्थान के सभी विभाग, विभिन्न प्रयोगशालाएँ, अध्यापन कक्ष, अजायब घर और पुस्तकालय सम्मिलित हैं। दूसरे सहायक ब्लाक जैसे गैसहाउस, एनिमल हाउस, वर्कशाप बाद में बने। मुख्य भवन के समीप ही नर्सिंग प्रशिक्षण केन्द्र, मेडिकल एनक्लेव (शिक्षक आवास) छात्र एवं छात्राओं हेतु छात्रावास, हाउस सर्जन एवं नर्स छात्रावास स्थित हैं। दूसरा मेडिकल एनक्लेव (शिक्षक आवास) विश्वविद्यालय परिसर से लगा हुआ बन कर तैयार हो गया है।

विभाग एवं कक्ष

विभाग—१ एनेसथिसियोलॉजी २ शरीर रचना ३ आयुर्वेद ४ मौलिक सिद्धान्त ५. बायोकेमेस्ट्री, ६. बायोफिजिक्स, ७. दन्त शल्य, ८. द्रव्य गुण, ९. कान, नाक

एवं गला, १०. फारेन्सिक मेडिसिन, ११. काय चिकित्सा, १२. मेडिसिनल केमेस्ट्री, १३. मेडिसिन, १४. माइक्रोबायोलाजी, १५. आब्स्टेट्रिक्स एवं गायनेकोलाजी, १६. आफ्थल्मोलाजी, १७. अस्थि, १८. पेडियाट्रिक्स, १९. पैथोलाजी, २०. फामकोलाजी, २१. शरीर क्रिया, २२. प्रसूति तंत्र, २३. प्रिवेन्टिव एवं शोसल मेडिसिन, २४. साइक्रियाट्री, २५. रेडियालॉजी, २६. रेडियो थेरापी एवं विकिरण, चिकित्सा केन्द्र २७. शल्य शालक्य, २८. सर्जरी।

कक्ष

१. कार्डियालाजी, २. कार्डियोथोरासिक सर्जरी, ३. इन्डोक्रिनोलाजी, ४. गैस्ट्रोएन्टेरोलाजी, ५. नेफ्रोलाजी, ६. न्यूरोलाजी, ७. न्यूरोसर्जरी, ८. पेडियाट्रिक सर्जरी, ९. प्लास्टिक सर्जरी, १०. चर्म, ११. ट्यूबरकुलोसिस एवं चेस्ट रोग, १२. यूरोलाजी।

पाठ्यक्रम

जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्रारम्भ में संस्थान (उस समय कालेज) में एम०बी०बी० एस० (बेचलर आफ मेडिसिन एवं बैचलर आफ सर्जरी) का स्नातक प्रशिक्षण शुरू हुआ। इस पाठ्यक्रम के अन्तर्गत विद्यार्थियों का प्रथम प्रवेश १९६० हुआ एवं ४० विद्यार्थियों का वार्षिक प्रवेश स्थिर किया गया। १९६२ में आपात स्थिति के समय विद्यार्थियों का प्रवेश ६० कर दिया गया और इसे पुनः बढ़ा कर ७० कर दिया गया जो कि १९६८–६९ तक चलता रहा। जुलाई १९६९ से एक समिति की सिफारिश पर कि संस्थान अधिक से अधिक स्नातकोत्तर प्रशिक्षण एवं अनुसंधान पर जोर दे इस कारण प्रवेश घटाकर ५० कर दिया गया। एम०बी०बी०एस० स्नातक विद्यार्थियों का प्रथम दल १९६५ में पास होकर निकला। अद्यावधि (अप्रैल १९७६ तक) एम०बी०बी०एस० के ६८१ स्नातक इस कालेज से उत्तीर्ण हो चुके हैं।

संस्थान (उस समय कालेज) ने १९६३–६४ से अपने 'सेवारत' अध्यापक वर्ग के लिए चुने हुए विशेषताओं में स्नातकोत्तर (एम०डी०/।एम०एस० पाठ्यक्रम) प्रशिक्षण कार्यक्रम आरम्भ किया। आने वाले वर्षों में अनेक स्पेसलिस्टों की सुविधा प्रदान की गई। साथ ही साथ कुछ स्नातकोत्तर डिप्लोमा पाठ्यक्रम शुरू किये गये। सितम्बर १९६८ में मेडिकल काउन्सिल आफ इंडिया के निरीक्षक ने स्नातकोत्तर शिक्षा के लिए सुविधाओं के आंकलन हेतु कालेज का निरीक्षण किया। तदुपरान्त भारतीय चिकित्सा परिषद् (मेडिकल काउन्सिल आफ इंडिया) के निरीक्षक महोदय ने भारतीय चिकित्सा परिषद् कानून के अन्तर्गत १९६९ में अनेक स्नातकोत्तर परीक्षाओं का निरीक्षण किया एवं डिग्रियों की मान्यता प्रदान की।

सम्प्रति एनेसथिसियोलाजी, बायोकेमेस्ट्री, बायोफिजिक्स, डर्मेटोलाजी, फोरेन्सिक मेडिसिन, मेडिसिन, माइक्रोबायोलाजी, पेडियाट्रिक्स, पैथोलाजी, फार्मेकोलाजी, फिजियोलाजी, प्रिवेन्टिव एवं सोशल मेडिसिन, साइकियाट्रि, रेडियोलाजी, रेडियोथेरापी, एवं ट्यूबरकुलोसिस एवं रेस्पिरेटरी डिजीसेस में एम०डी० पाठ्यक्रम लागू किया गया। एनाटामी, आब्स्टेट्रिक्स एवं गायनोकोलाजी, आफथलमोलाजीं, आर्थोपेडिक्स, आटोलैरिन्गोलाजी एवं सर्जरी में एम०एस० पाठ्यक्रम लागू किया गया। डेन्टल सर्जरी में एम०डी०सी० डिग्री का पाठ्यक्रम है। अभी तक इस संस्थान से (फरवरी १९७६ तक) ३६४ स्नातकोत्तर विद्यार्थी पास हो चुके हैं।

अधोलिखित स्पेशिलिटी में डिप्लोमा पाठ्यक्रम भी उपलब्ध है। एनेसथिसियोलाजी, शिशु स्वास्थ्य, लैरिन्गोलाजी एवं ओटोलॉजी, मेडिकल रेडियो डायगनासिस, मेडिकल रेडियो-थेरापी आफथल्मिक मेडिसिन, आर्थोपेडिक्स एवं क्षय और चेस्ट डिजिसेस। अक्टूबर १९६५ तक ७९ विद्यार्थियों ने डिप्लोमा प्राप्त किया। सम्प्रति डिप्लोमा पाठ्यक्रम स्थगित कर दिया गया है।

चालू सत्र से निम्नलिखित पाठ्यक्रम लागू किये गए हैं :—कार्डियोवैसकुलर एवं थोरासिक सर्जरी, न्यूरोसर्जरी, पेडियाट्रिक सर्जरी, प्लास्टिक सर्जरी एवं यूरोलाजी में मेजिस्टर चिरुगिये (एम०सीएच०) की उपाधि एवं कार्डियोलाजी, इन्डोक्रिनोलाजी, गेस्ट्रोइन्टेरोलाजी एवं न्यूरोलाजी में डाक्टोरेट्स मेडिसिनस (डी०एम०) की उपाधि।

अनुसंधान क्रियाकलाप

आधुनिक एवं आयुर्वेदिक मेडिसिन में अनुसंधान कार्य को संस्थान में स्नातकोत्तर प्रशिक्षण का एक अंग माना गया है। स्नातकोत्तर स्तर पर विद्यार्थियों को उन्हीं विषयों पर अनुसंधान कार्य करना होता है जिसे विभाग ने पहले से ही मौलिक रचना हेतु अनुसंधान कार्य प्रारम्भ किया है। इसके अतिरिक्त लगभग सभी विभागों में पी-एच०डी० उपाधि के लिए अनुसंधान प्रशिक्षण संबंधी सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

व्यक्तिगत रूप से भी संस्थान के अध्यापकगण अपने-अपने अनुसंधान कार्य में लगे हुए हैं। अनेक लोगों के पास अपनी-अपनी अनुसंधान योजनाएँ हैं जिन्हें वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद्, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, आणविक शक्ति विभाग एवं भारत सरकार के विज्ञान एवं तकनीकी विभाग से आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। औषधि परीक्षण हेतु अनेक समस्याओं को हल करने के लिए औषधि निर्माण फर्म सहायता देती है।

आयुर्वेदिक मेडिसिन में निम्नलिखित क्षेत्रों में अनुसंधान कार्य को लक्ष्य बानया गया है :—प्राचीन निदान एवं चिकित्सा पद्धति का विकास एवं जागृति, आधुनिक वैज्ञानिक तरीकों से आयुर्वेद के तथ्यों एवं विचारों का पुनर्मूल्यांकन एवं विश्लेषण, आयुर्वेदिक तथ्यों एवं विचारों का आधुनिक, वैज्ञानिक शब्दों से विश्लेषण ताकि विश्व के वैज्ञानिकों के लिए बोधगम्य हों एवं नवीन आयुर्वेदिक औषधि की खोज हो।

सर्जिकल रिसर्च लेबोरेटरी एवं योग अनुसंधान केन्द्र संस्थान के दो विशेष अनुसंधान कक्ष हैं। यहां एक विशिष्ट अनुसंधान फोरम है जो 'अनुसंधान क्लब के नाम से प्रसिद्ध है।

पुस्तकालयाध्यक्ष
चिकित्सा विज्ञान संस्थान
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

महिला महाविद्यालय

विद्या गुप्त

स्वप्न तो सभी देखते हैं किंतु क्या सभी के स्वप्न साकार भी होते हैं ? नहीं। अनेक स्वप्नजीवी तो कल्पना-प्रसूत अपने सुनहले मनोरम चित्रों को मृग-मरीचिका के सदृश केवल माया-जाल सा बिखरता देख मौन रह जाते हैं। अपने स्वप्नों को मूर्त रूप देने की सजग साधना, जागरूक निष्ठा, सतत प्रयास, भविष्य-द्रष्टा की कल्याण कामना युक्त अविराम, एवं जागरूक दृष्टि का ही सुफल हो सकता है। एक ऐसा ही सुखद स्वप्न काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में मूर्तिमान है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सन् १९२७ तक सह-शिक्षा थी। भारतीय-समाज सदियों से कन्याओं की शिक्षा के प्रति उदासीन था। आर्य-समाज एवं ब्रह्म-समाज जैसी संस्थाओं के फलस्वरूप स्त्री-शिक्षा के प्रति जागरूकता तो आयी किंतु सह-शिक्षा सशंक दृष्टि से देखी जाती थी। अनेक शिक्षा प्रेमी माता-पिता भी अपनी कन्याओं को उच्च स्तरीय शिक्षा के लिए सह-शिक्षा केन्द्रों में भेजने में झिझकते थे। अतः महिला विद्यालय की अनिवार्य आवश्यकता देश के शिक्षा-प्रेमियों के सम्मुख तीव्रतर होती गयी। महामना के सात्विक चरित्र, देशभक्ति, शिक्षानुराग और निस्पृह बलिदान से प्रभावित हो बम्बई के श्रेष्ठि कुल के उदार महानुभाव सेठ मूलराज खटाऊ एवं उनके भातृज त्रिकमदास गोवर्धनदास ने दो लाख चौरासी हजार के महत्वपूर्ण दान द्वारा इस अभाव की पूर्ति की और सन् १९२८ में महिला विद्यालय का सत्रारम्भ हुआ। कु० आशा अधिकारी इस विद्यालय की प्रथम प्राचार्या थीं। महात्मा गांधी के स्वातंत्र्य संग्राम सम्बन्धी योजनाओं में भाग लेने के लिए जब वे सन् १९३२ में पद-त्याग कर चली गयीं तो तत्कालीन अंग्रेजी की प्राध्यापिका श्रीमती कमला बाई तिलक ने विद्यालय के प्राचार्या पद को अपने सुदक्ष हाथों में लेकर १९३७ तक संभाला।

महिला छात्रावास के कुछ कक्षों में इण्टरमीडिएट कला की कक्षाएँ मात्र दो छात्राओं से आरम्भ हुई थीं। शिक्षिकाओं की निष्ठा, गंभीर अध्ययन, चारित्रिक गरिमा एवं सरल वेशभूषा ने अधिकाधिक छात्राओं को आकर्षित किया और १९२९ में ही छात्राओं की संख्या लगभग १५ तक पहुँच गयी। पाठ्य विषयों में संगीत एवं गार्हस्थ्य शास्त्र अभिभावकों एवं छात्राओं के विशिष्ट आकर्षण थे। यह पृथक शिक्षा के लाभ थे। संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी के अतिरिक्त अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र, नागरिक शास्त्र, इतिहास आदि के अध्ययन के लिए योग्यतम महिलाएँ अर्थ लाभ की दृष्टि से नहीं, एक महान उद्देश्य की पूर्ति की भावना से दूर-दूर से, देश के भिन्न-भिन्न कोनों से सहर्ष महामना के आवाहन पर आ गयीं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का महिला विद्यालय तीर्थवत् पवित्र भाव सौरभ से दिशाओं को सुगन्धित कर रहा था। इस सौरभ से छात्रा रूपी भ्रमरियां निरन्तर आकर्षित हो रही थीं। अभिभावक अपनी कन्याओं को यहां शिक्षा हेतु भेजकर पूर्णतः निश्चिन्त थे।

पृथक नारी शिक्षा के प्रति आग्रह बढ़ता गया और श्रीमती तिलक के निरीक्षण में १९३३-३४ के सत्र से बी०ए० की कक्षाएँ भी महिला विद्यालय में प्रारम्भ हो गयीं।

महिला विद्यालय में छात्राओं की प्रतिवर्ष बढ़ती संख्या ने छात्रावास में आवास की इच्छुक छात्राओं की समस्या को जटिल से जटिलतर कर दिया। महिला विद्यालय के स्वतंत्र भवन की आवश्यकता एक अनिवार्यता बन गयी। तिलोई की महारानी के उदार दान द्वारा महिला विद्यालय भवन का निर्माण-कार्य सरल हो गया और १९४० से महिला विद्यालय के स्वतन्त्र भवन में शिक्षण-कार्य होने लगा। श्रीमती तिलक १९३७– में पद-त्याग कर चुकी थीं और अब श्रीमती कमला वेंकटेश्वरन् प्राचार्या के पद पर थीं।

महिला विद्यालय में केवल चार शिक्षण कक्ष थे। एक प्राचार्या का कक्ष था, दो छोटे-छोटे कक्ष और थे जिनमें एक शिक्षिकाओं के लिए और एक कणिक के निमित्त था। केन्द्रीय कक्ष में विचार-सभाएँ और विद्वत्जनों के भाषण होते थे। इस समय तक विद्यालय में शिक्षिकाओं की संख्या लगभग १२ थी और छात्राओं की १०० के लगभग।

महिला महाविद्यालय की ख्याति बढ़ती गयी। सुदूर प्रान्तों से, आस-पास से आने वाली छात्राओं की संख्या अब इतनी बढ़ गयी थी कि छात्रावास के एक-एक कक्ष में तीन के स्थान पर चार-चार छात्राओं को स्थान देने पर भी अनेक को निराश होना पड़ता था। १९४८ में एक नया छात्रावास बन कर प्रस्तुत हुआ।

महिला विद्यालय में इस समय तक स्नातक परीक्षा के लिए अध्यापन विषयों में भी विस्तार हुआ। राजनीति, भूगोल, गणित जैसे विषयों का समावेश समय की मांग थी।

कला पक्ष के साथ ही विज्ञान की शिक्षा के लिए भी आग्रह बढ़ा। महिला विद्यालय में नए अध्यापन कक्ष बने। कणिकों की संख्या बढ़ी तो कणिक कक्ष भी बढ़े। विज्ञान की शिक्षा के लिए दूसरी मंजिल बनी और सन् १९४८ से इण्टरमीडिएट विज्ञान की कक्षाएँ प्रारम्भ हुईं। रसायन, जीव विज्ञान, भौतिकी एवं वनस्पति विज्ञान के अध्यापन की व्यवस्था हुई। महिला महाविद्यालय का महत्व बढ़ता गया।

सन् १९५७ में श्रीमती वेंकटेश्वरन् ने अवकाश ग्रहण किया और १९६० में डा० कु० पी० सी० धर्मा ने स्थायी रूप से प्राचार्या का पद भार संभाला। डा० पी० सी० धर्मा विद्यालय के पूर्णोत्कर्ष के लिए सतत प्रयासशील रहीं। अतः सन् १९६० से महिला विद्यालय में विज्ञान में भी बी०एस०सी० की कक्षाएँ आरम्भ हो गयीं जो शिक्षा-क्षेत्र में विशेष उपलब्धि थी।

महिला विद्यालय के पुस्तकालय के लिए भी अलग कक्ष बने। अब यह ग्रंथ समूह की दृष्टि से एवं छात्राओं के पढ़ने की सुविधा से बने विस्तार के कारण समृद्ध होते हुए भी अभी परिपूर्ण नहीं है एवं अधिक विस्तार की अपेक्षा रखता है।

विद्यालय के अन्य आकर्षणों में इसका जलपान-गृह भी है। छात्राओं के लिए तरह-तरह के खेल-कूदों की शिक्षा की सुविधा के साथ नृत्य-शिक्षा का भी प्रबन्ध है। अपने अवकाश के घंटों में विश्राम के लिए छात्रा-कक्ष (Common room) की सुविधा है।

अध्यापन विषयों में मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, प्राचीन भारतीय संस्कृति और इतिहास आदि द्वारा जो शिक्षा-क्षेत्र का विकास हुआ है उसने महिला विद्यालय को 'महिला महाविद्यालय' में परिणत कर दिया। आज महिला महाविद्यालय में अध्यापन हेतु स्वीकृत वैकल्पिक विषयों की संख्या १९ है और भाषा ज्ञान के लिए १३ विषय स्वीकृत हैं जिनमें कुछ विदेशी भाषाएँ भी सम्मिलित हैं।

जहाँ शिक्षा-विस्तार के लिए देश के धनिक वर्ग ने धन की अंकुठित वर्षा की थी वहां अर्थाभाव से किसी भी छात्रा की अध्ययन, की लालसा अतृप्त न रह जाये इस महत् उद्देश्य से अनेक छात्रवृत्तियें घोषित हुईं। ये वृत्तियें सम्पन्न महिलाओं द्वारा, संस्थाओं द्वारा एवं शासकीय छात्रवृत्तियों के द्वारा दी गयी जिनसे प्रतिवर्ष लगभग दस प्रतिशत छात्राएँ लाभान्वित होती हैं। इन वृत्तियों के अतिरिक्त २५% छात्राओं को निःशुल्क शिक्षा मिलती है। कुछ वृत्ति योग्यता के आधार पर दी जाती हैं। ३५० रु० प्रतिमास की दो वृत्तियां केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित हैं।

शिक्षिकाओं के द्वारा विपन्न छात्राओं की आर्थिक सहायता का जो स्वतंत्र आयोजन था उसके बढ़ते विस्तार को देखकर डा० कु० पद्मा मिश्र ने इसे वैधानिक स्वरूप दिया। महिला महाविद्यालय की भूतपूर्व आचार्या स्व० कु० कोल्हटकर के नाम से परीक्षा शुल्क देने में असमर्थ अथवा अन्य किसी कष्ट से संत्रस्त छात्राओं की सहायता इस कोष के द्वारा की जाती है। इस कोष में अन्य सम्मानित व्यक्तियों एवं संस्थाओं द्वारा भी आर्थिक सहायता का योगदान है।

महिला महाविद्यालय अपने अध्यापन विषयों के विस्तार की दृष्टि से, छात्राओं की संख्या-विस्तार की दृष्टि से एवं सुदूर देशों जैसे सिक्किम, थाइलैंड, जापान, मारीशस, सोमाली लैण्ड आदि से आने वाली छात्राओं के कारण प्रान्त के महिला विद्यालयों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

सन् १९६९ में डा० कुमारी सरोजिनी वार्ष्णेय की प्राचार्या पद पर नियुक्ति हुई। वे इस विद्यालय के अधिकाधिक विस्तार एवं उन्नति के लिए सतत प्रयत्नशील हैं। उनके प्रयत्न का ही फल है कि नृत्य शिक्षा के लिए उपाधि (Diploma) की योजना को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने स्वीकार कर लिया है। वे सचेष्ट हैं कि यहां स्नातकोत्तर परीक्षाओं की व्यवस्था हो सके, शिक्षाशास्त्र की कक्षाएँ प्रारम्भ की जावें और लिपिकीय विषय के अध्यापन की सुविधा हो।

इस वर्ष महिला वर्ष के उपलक्ष्य में जो अखिल भारतीय स्तर पर 'शिक्षा क्षेत्र में महिलाएँ और उनका पद' (Status and Education of Women in India) पर संगोष्ठी आयोजित हुई उसमें महिला महाविद्यालय की भूतपूर्व छात्राओं श्रीमती सत्यवती शाह, डा० श्रीमती राजेन्द्र कुमारी बाजपेयी एवं श्रीमती सुमित्रा कुलकर्णी को विद्यालय की ओर से विशेष सम्मान (Alumni Award) द्वारा विभूषित किया गया।

इस प्रकार १९२८ में नारी शिक्षा का जो छोटा-सा क्षुप आरोपित हुआ था, आज वह एक विशाल वृक्ष के रूप में अपना समुन्नत शीश गर्व से उठाए हुए है। आशा है कि महिला विद्यालय जो अपने विकास क्रम में महिला महाविद्यालय का पद प्राप्त कर सका है, वह निकट भविष्य में महिला विश्वविद्यालय की ख्याति प्राप्त कर सकेगा एवं महामना के स्त्री-शिक्षा के स्वप्न को सार्थक करेगा।

रीडर, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

महिला विद्यालय में छात्राओं की प्रतिवर्ष बढ़ती संख्या ने छात्रावास में आवास की इच्छुक छात्राओं की समस्या को जटिल से जटिलतर कर दिया। महिला विद्यालय के स्वतंत्र भवन की आवश्यकता एक अनिवार्यता बन गयी। तिलोई की महारानी के उदार दान द्वारा महिला विद्यालय भवन का निर्माण-कार्य सरल हो गया और १९४० से महिला विद्यालय के स्वतन्त्र भवन में शिक्षण-कार्य होने लगा। श्रीमती तिलक १९३७– में पद-त्याग कर चुकी थीं और अब श्रीमती कमला वेंकटेश्वरन् प्राचार्या के पद पर थीं।

महिला विद्यालय में केवल चार शिक्षण कक्ष थे। एक प्राचार्या का कक्ष था, दो छोटे-छोटे कक्ष और थे जिनमें एक शिक्षिकाओं के लिए और एक कर्णिक के निमित्त था। केन्द्रीय कक्ष में विचार-सभाएँ और विद्वत्जनों के भाषण होते थे। इस समय तक विद्यालय में शिक्षिकाओं की संख्या लगभग १२ थी और छात्राओं की १०० के लगभग।

महिला महाविद्यालय की ख्याति बढ़ती गयी। सुदूर प्रान्तों से, आस-पास से आने वाली छात्राओं की संख्या अब इतनी बढ़ गयी थी कि छात्रावास के एक-एक कक्ष में तीन के स्थान पर चार-चार छात्राओं को स्थान देने पर भी अनेक को निराश होना पड़ता था। १९४८ में एक नया छात्रावास बन कर प्रस्तुत हुआ।

महिला विद्यालय में इस समय तक स्नातक परीक्षा के लिए अध्यापन विषयों में भी विस्तार हुआ। राजनीति, भूगोल, गणित जैसे विषयों का समावेश समय की मांग थी।

कला पक्ष के साथ ही विज्ञान की शिक्षा के लिए भी आग्रह बढ़ा। महिला विद्यालय में नए अध्यापन कक्ष बने। कर्णिकों की संख्या बढ़ी तो कर्णिक कक्ष भी बढ़े। विज्ञान की शिक्षा के लिए दूसरी मंजिल बनी और सन् १९४८ से इण्टरमीडिएट विज्ञान की कक्षाएँ प्रारम्भ हुईं। रसायन, जीव विज्ञान, भौतिकी एवं वनस्पति विज्ञान के अध्यापन की व्यवस्था हुई। महिला महाविद्यालय का महत्व बढ़ता गया।

सन् १९५७ में श्रीमती वेंकटेश्वरन् ने अवकाश ग्रहण किया और १९६० में डा० कु० पी० सी० धर्मा ने स्थायी रूप से प्राचार्या का पद भार संभाला। डा० पी० सी० धर्मा विद्यालय के पूर्णोत्कर्ष के लिए सतत प्रयासशील रहीं। अतः सन् १९६० से महिला विद्यालय में विज्ञान में भी बी०एस०सी० की कक्षाएँ आरम्भ हो गयीं जो शिक्षा-क्षेत्र में विशेष उपलब्धि थी।

महिला विद्यालय के पुस्तकालय के लिए भी अलग कक्ष बने। अब यह ग्रंथ समूह की दृष्टि से एवं छात्राओं के पढ़ने की सुविधा से बने विस्तार के कारण समृद्ध होते हुए भी अभी परिपूर्ण नहीं है एवं अधिक विस्तार की अपेक्षा रखता है।

विद्यालय के अन्य आकर्षणों में इसका जलपान-गृह भी है। छात्राओं के लिए तरह-तरह के खेल-कूदों की शिक्षा की सुविधा के साथ नृत्य-शिक्षा का भी प्रबन्ध है। अपने अवकाश के घंटों में विश्राम के लिए छात्रा-कक्ष (Common room) की सुविधा है।

अध्यापन विषयों में मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, प्राचीन भारतीय संस्कृति और इतिहास आदि द्वारा जो शिक्षा-क्षेत्र का विकास हुआ है उसने महिला विद्यालय को 'महिला महाविद्यालय' में परिणत कर दिया। आज महिला महाविद्यालय में अध्यापन हेतु स्वीकृत वैकल्पिक विषयों की संख्या १९ है और भाषा ज्ञान के लिए १३ विषय स्वीकृत हैं जिनमें कुछ विदेशी भाषाएँ भी सम्मिलित हैं।

जहाँ शिक्षा-विस्तार के लिए देश के धनिक वर्ग ने धन की अंकुठित वर्षा की थी वहां अर्थाभाव से किसी भी छात्रा की अध्ययन, की लालसा अतृप्त न रह जाये इस महत् उद्देश्य से अनेक छात्रवृत्तियें घोषित हुईं। ये वृत्तियें सम्पन्न महिलाओं द्वारा, संस्थाओं द्वारा एवं शासकीय छात्रवृत्तियों के द्वारा दी गयी जिनसे प्रतिवर्ष लगभग दस प्रतिशत छात्राएँ लाभान्वित होती हैं। इन वृत्तियों के अतिरिक्त २५% छात्राओं को निःशुल्क शिक्षा मिलती है। कुछ वृत्ति योग्यता के आधार पर दी जाती हैं। ३५० रु० प्रतिमास की दो वृत्तियां केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित हैं।

शिक्षिकाओं के द्वारा विपन्न छात्राओं की आर्थिक सहायता का जो स्वतंत्र आयोजन था उसके बढ़ते विस्तार को देखकर डा० कु० पद्मा मिश्र ने इसे वैधानिक स्वरूप दिया। महिला महाविद्यालय की भूतपूर्व आचार्या स्व० कु० कोल्हटकर के नाम से परीक्षा शुल्क देने में असमर्थ अथवा अन्य किसी कष्ट से संत्रस्त छात्राओं की सहायता इस कोष के द्वारा की जाती है। इस कोष में अन्य सम्मानित व्यक्तियों एवं संस्थाओं द्वारा भी आर्थिक सहायता का योगदान है।

महिला महाविद्यालय अपने अध्यापन विषयों के विस्तार की दृष्टि से, छात्राओं की संख्या-विस्तार की दृष्टि से एवं सुदूर देशों जैसे सिक्किम, थाइलैंड, जापान, मारीशस, सोमाली लैण्ड आदि से आने वाली छात्राओं के कारण प्रान्त के महिला विद्यालयों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

सन् १९६९ में डा० कुमारी सरोजिनी वार्ष्णेय की प्राचार्या पद पर नियुक्ति हुई। वे इस विद्यालय के अधिकाधिक विस्तार एवं उन्नति के लिए सतत प्रयत्नशील हैं। उनके प्रयत्न का ही फल है कि नृत्य शिक्षा के लिए उपाधि (Diploma) की योजना को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने स्वीकार कर लिया है। वे सचेष्ट हैं कि यहां स्नातकोत्तर परीक्षाओं की व्यवस्था हो सके, शिक्षाशास्त्र की कक्षाएँ प्रारम्भ की जावें और लिपिकीय विषय के अध्यापन की सुविधा हो।

इस वर्ष महिला वर्ष के उपलक्ष्य में जो अखिल भारतीय स्तर पर 'शिक्षा क्षेत्र में महिलाएँ और उनका पद' (Status and Education of Women in India) पर संगोष्ठी आयोजित हुई उसमें महिला महाविद्यालय की भूतपूर्व छात्राओं श्रीमती सत्यवती शाह, डा० श्रीमती राजेन्द्र कुमारी बाजपेयी एवं श्रीमती सुमित्रा कुलकर्णी को विद्यालय की ओर से विशेष सम्मान (Alumni Award) द्वारा विभूषित किया गया।

इस प्रकार १९२८ में नारी शिक्षा का जो छोटा-सा क्षुप आरोपित हुआ था, आज वह एक विशाल वृक्ष के रूप में अपना समुन्नत शीश गर्व से उठाए हुए है। आशा है कि महिला विद्यालय जो अपने विकास क्रम में महिला महाविद्यालय का पद प्राप्त कर सका है, वह निकट भविष्य में महिला विश्वविद्यालय की ख्याति प्राप्त कर सकेगा एवं महामना के स्त्री-शिक्षा के स्वप्न को सार्थक करेगा।

रीडर, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सान्ध्य महाविद्यालय

जगदीश प्रसाद बाजपेयी

१—विद्या की राजधानी काशी के नागरिक जीवन में सांध्य महाविद्यालय का समारंभ ऐतिहासिक घटना है। इससे पहले दैनिक परिश्रम के उपरान्त सायंकाल ज्ञानार्जन की सुविधा की व्यवस्था काशी के अतीत में नहीं पाई जाती। इसका शुभारंभ २९ नवम्बर १९७१ को हुआ। उस समय सांध्य महाविद्यालय के पास प्राचार्य सहित छः अध्यापक और एक क्लर्क सुलभ थे। एक सप्ताह के भीतर अध्यापकों की नियुक्ति, छात्रों का प्रवेश, विषय चयन, समय सारणी, विद्युत व्यवस्था, स्थान व्यवस्था आदि पूरी की गई और ६ दिसम्बर १९७१ से अध्ययन कार्य प्रारंभ हो गया।

२—तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए सांध्य महाविद्यालय कमच्छा स्थित पुरातन सेन्ट्रल हिन्दू कालेज (अधुना सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल) भवन में प्रारंभ हुआ। नगर के हृदय में चालीस एकड़ भूमि में विस्तृत यह स्थान रमणीय और महत्वपूर्ण (कम्=अच्छा) है। यह भूखंड और यह भवन दोनों ऐतिहासिक हैं। प्राचीन वास्तु कला का यह जीवंत नमूना किसी समय काशी नरेश का प्रासाद था। उन्होंने इसे भारतीयता अनुरागी विदुषी ऐनी बेसेन्ट के आग्रह पर एक आदर्श विद्यालय स्थापित करने के लिए उदारतापूर्वक दान कर दिया था। उस समय मालवीय जी अपनी महान कल्पना को मूर्त बनाने के लिए साधनों का अन्वेषण कर रहे थे। ब्रिटिश सरकार ने उनकी योजना को हास्यापद बताकर लगभग अस्वीकार कर दिया था। साथ ही यह व्यंग किया कि जिसके पास एक विद्यालय या महाविद्यालय तक नहीं है, वह विश्वविद्यालय निर्माण का स्वप्न कैसे देखता है। मालवीय जी की व्यथा ऐनी बेसेन्ट को ज्ञात हुई। उन्होंने अविलम्ब इस भूमि भवन को मालवीय जी को सौंप दिया। उनकी इच्छा थी कि यहाँ की प्रतिभा के सुमन से ज्ञान का सौरभ संसार के देशों में फैले, उसकी गन्ध तथा पुष्टि से दुनिया के प्रबुद्ध मनीषियों के मानसिक परमाणु अधिक सक्रिय हों। महामना ने अपनी हिकमत से इस क्षेत्र की पार्श्व भूमि प्राप्त कर स्थान का विस्तार किया। भूमि प्राप्त करने की उनकी युक्ति आज कल्पनातीत लगती है। यह बड़े गौरव और प्रेरणा की बात है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्मारक जन्म भूमि पर सांध्य महाविद्यालय खड़ा है।

देश की आर्थिक स्थिति को देखते हुए विद्या के क्षेत्र में यह दूसरा महत्वपूर्ण चरण है। गत पचीस वर्षों से इस महानगरी में कोई नया महाविद्यालय नहीं जुड़ा। बढ़ती हुई शिक्षार्थी संख्या के सामने यह स्थिति असंतोषजनक रही। छात्रों ने इस समस्या की ओर विश्वविद्यालय प्राधिकारियों का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने इस प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार कर सांध्य महाविद्यालय प्रारम्भ करने का निश्चय किया। इसके शुभारंभ के साथ ही श्रम के उपासक असंख्य लोगों के भाग्य कपाट खुल गये। दिन की मेहनत के बाद दिवसावसान में ज्ञानार्जन के इच्छुक छात्रों की अभिलाषा पूरी हुई। वय की दृष्टि से प्रौढ़ तथा वयस्क इन दो प्रकार के छात्रों के समन्वय से शिक्षा के क्षेत्र में इस नवीन प्रयोग का श्री गणेश हुआ। कोई विद्या केन्द्र ईट-पत्थरों से महान नहीं होता। वह अपने कर्म तन्तुओं द्वारा अपनी प्रतिभा के बल पर शेष जगत में अपना विस्तार करता है। महाविद्यालय के पास न भूमि है, न भवन। केवल वह अतिरिक्त

समय में उपलब्ध साधनों का सदुपयोग करता है, स्थान को सीमित मान कर काल के आयाम में मानवता की सेवा करता है ।

३—इस महाविद्यालय के संस्थापक डॉ० के० एल० श्रीमाली के विषय में दो शब्द असंगत न होंगे। आप का पूरा जीवन देश सेवा तथा शिक्षण-संस्थाओं के निर्माण में घुला-मिला है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा अमेरीका से उच्च शिक्षा प्राप्त करने के वाद कर्म-क्षेत्र में उतरने के साथ ही आपके कर्म और प्रतिभा की किरण उदयपुर विद्या संस्थान में फैली। धीरे-धीरे दिल्ली से लेकर मैसूर और काशी तक आपका कर्म-सौंदर्य दिग्व्याप्त हुआ। सांध्य महाविद्यालय आपकी कल्पना तथा योग का नया पौधा है। इसे आप ने सींचा-संवारा है। दूसरे वार्षिकोत्सव के अवसर पर आपका अध्यक्षीय भाषण सांध्य महाविद्यालय की आपकी परिकल्पना को स्पष्ट करता है ।

"सांध्य महाविद्यालय हमारी भावी योजना के अनुकूल है । मनुष्य की शिक्षा उसके जन्म से लेकर उसकी मृत्यु तक चलती है। इसका क्रम अविछिन्न होता है और कभी समाप्त नहीं होता। जो व्यक्ति आर्थिक कठिनाइयों में पड़े हुए हैं और उन कठिनाइयों के वावजूद अपनी शिक्षा शृंखला को बनाए रखना चाहते हैं, ऐसे व्यक्तियों की शिक्षा को गति देने के लिए यह सांध्य महाविद्यालय बनाया गया है। जो व्यक्ति दिन में काम करते हैं और शिक्षा क्रम वनाये रखना चाहते हैं उनके लिए यह सांध्य महाविद्यालय विशेष अनुकूल सिद्ध हुआ है। अन्य देशों के सांध्य महाविद्यालयों में तकनीकी विषय भी पाठ्य क्रम में होते हैं। जो कार्य वे करते हैं, उस कार्य में और विशेषता प्राप्त करने के लिए वहाँ सांध्य महाविद्यालयों में विशेष योजनाएँ वनाई जाती हैं और तदनुसार पाठ्य क्रम का निर्धारण किया जाता है। सांध्य महाविद्यालय का तात्पर्य यह नहीं कि वहाँ केवल आर्टस् का पाठ्यक्रम हो, वल्कि उन सभी विषयों का प्रबन्ध हो, जो वहां पढ़ने वालों के कार्यों में सहायक हो सकें। अभी तो इसका वीज डाला गया है। काल-गति में इसकी सब शाखाओं की विशेष उन्नति होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

"सांध्य महाविद्यालय का दूसरा प्रयोजन यह है कि समाज से हमारा संबंध दृढ़ हो सके। विश्वविद्यालय में समाज-निर्माण का कार्य होता है। छात्र उन आदर्शों, मूल्यों तथा आस्थाओं को ग्रहण करते हैं, जिससे वे समाज का स्तर उत्तरोत्तर ऊपर उठा सकें। यही विश्वविद्यालय की स्थापना का उद्देश्य है। सत्य का अन्वेषण कर नए समाज की रचना छात्र करते हैं। हम अपने देश के समाज के स्तर को उठाना चाहते हैं। हमारे देश में लाखों-करोड़ों निवासी अभी भी अशिक्षित हैं। हम चाहते हैं कि हमारे छात्र जब विश्वविद्यालय से निकलें, तो ज्ञान और सत्य की तेजस्वी ज्योति से समाज को आलोकित कर दें। जब किसी फैक्टरी आदि में काम करने वालों का संबंध विश्वविद्यालय से होता है, तो वे अपनी फैक्टरी में ज्ञान के नूतन आविष्कारों का उपयोग कर उसे उन्नत बनाते हैं।

"समाज में स्वच्छता और सच्चाई तभी आयेगी, जब छात्र मानव मूल्यों से मंडित हो। जैसे एक दीपक अंधेरे कमरे को आलोकित कर देता है, वैसे ही एक शिक्षित व्यक्ति समाज को अपने सद् प्रयत्नों द्वारा उन्नत बनाने में समर्थ होता है। इस दृष्टि से सांध्य महाविद्यालय एक प्रत्यक्ष उदाहरण है जो कार्य से शिक्षा को जोड़ता है। ज्ञान के आदान-प्रदान से समाज

का स्तर ऊपर उठता है। लोकतंत्र को ऊपर उठाने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे समाज की संरचना आदर्शों और मूल्यों की भित्तियों पर हो।

"मैं आशा करता हूँ कि सांध्य महाविद्यालय का प्रभाव हमारे समाज और विश्वविद्यालय दोनों पर पड़ेगा। आप सबको जीवन में सफलता मिले यही मेरी आकांक्षा है।"

४. सम्प्रति महाविद्यालय में स्नातक स्तर तक हिन्दी, अंग्रेजी, समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र तथा इतिहास विषयों का अध्यापन होता है। प्राचार्य सहित कुल १४ अध्यापक हैं तथा ११ शिक्षणेत्तर कर्मचारी कार्य रत हैं। छः अध्यापक डाक्टरेट उपाधि प्राप्त कर चुके हैं, शेष अपने शोध-प्रवंघ की तैयारी में लगे हैं। ग्रंथ लेखन तथा शोध पत्र प्रकाशन में इस महाविद्यालय के अध्यापक पर्याप्त रुचि लेते हैं। महाविद्यालय में अध्यापन के साथ वे शोध निर्देशन भी करते हैं और महाविद्यालय के सांस्कृतिक तथा प्रवन्ध-कार्यों में यथाभाग सहायता करते हैं। वे अपने विषय की कांग्रेसों, अधिवेशनों तथा संगोष्ठियों में प्रतिनिधित्व करते हैं। इस वर्ष अपने विषय से संबंधित अखिल भारतीय संगोष्ठी में हमारे हिन्दी तथा अंग्रेजी के प्राध्यापकों ने भाग लिया।

महाविद्यालय के पास अपना स्वतंत्र ग्रंथालय है जिसमें लगभग पांच हजार पुस्तकें हैं। ग्रंथालय तदर्थ अनुदान पर चल रहा है - पुस्तकालय जड़ तत्व नहीं होता है। वह एक चिन्तन प्रवाह है। उसे गतिशील बनाए रखने के लिए आवर्तक अनुदान अत्यन्त वांछित है। महाविद्यालय के पुस्तक बैंक में एक हजार से अधिक ग्रंथ सुलभ हैं। पुस्तकालय की कार्य प्रणाली का संचालन एक प्रोफेशनल असिस्टेंन्ट, एक सेमिप्रोफेसनल असिस्टेन्ट तथा एक बुक अटेन्डेन्ट मिल कर करते हैं।

५. सांध्य महाविद्यालय में प्रवेश की स्थिति निम्न प्रकार रही है :

सत्र	कुल प्रविष्ट छात्र		कर्मचारी छात्रों का प्रतिशत
	बी०ए० भाग २	बी०ए० भाग ३	(बी०ए० भाग २)
१९७१–७२	३३१	—	—
१९७२–७३	३२५	३०९	१७ प्रतिशत
१९७३–७४	३२३	२४४	५० प्रतिशत
१९७४–७५	३३१	२६२	६३ प्रतिशत
१९७५–७६	३०४	२३७	५९ प्रतिशत
१९७६–७७	१६६	२८४	५१.८ प्रतिशत

प्रवेश का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि इस महाविद्यालय में अधिभार प्राप्त छात्रों के अतिरिक्त प्रथम श्रेणी तथा द्वितीय श्रेणी के छात्र प्रवेश पाते हैं। इन छात्रों की प्रवृत्ति का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वे ऐसे परिश्रमी स्वावलम्बी छात्र हैं या होने की कामंना रखते हैं जो दिन में अपनी जीविका के लिए श्रम करके सायंकाल अध्ययनरत होना चाहते हैं। वहुत से अभिभावक इसी प्रेरणा से अपने प्रतिपाल्यों को दाखिल कराते हैं। इस भावना का बहुत बड़ा प्रभाव महाविद्यालय के अनुशासन पर पड़ा है। श्रम के प्रति रुचि उत्पन्न होने से अनुशासनवद्ध चरित्र का विकास होने लगा है। इस उत्साह को देखते हुए महाविद्यालय ने सैद्धांतिक विषयों के साथ कम से कम एक व्यवसायिक विषय प्रारंभ करने की योजना बनाई है।

इतने अल्प समय में महाविद्यालय की महत्वपूर्ण शैक्षणिक उपलब्धि क्या हो सकती है। तथापि इस तथ्य को स्वीकार किया जा सकता है कि सामान्यतः इस महाविद्यालय के छात्र अपनी अन्तिम परीक्षा उत्तीर्ण कर स्नातकोत्तर कक्षाओं की प्रवेश प्रतियोगिता में पर्याप्त मात्रा में सफल हुए। हमारे कुछ छात्रों ने बी०ए० खण्ड तीन में प्रथम श्रेणी प्राप्त की तथा विषयवार सम्पूर्ण बी०ए० परीक्षार्थियों में प्रथम स्थान प्राप्त किया। यह तथ्य महाविद्यालय के गुणात्मक कार्य को प्रकट करता है। आशा है कर्तव्य निष्ठ अध्यापक तथा जिज्ञासु छात्र इस दिशा में और महत्वपूर्ण कार्य करेंगे।

कर्मचारी-छात्रों में अधिकतर बी०एच०यू०, केन्द्रीय सरकार के कर्मचारी, कारपोरेशन, बैंक, रेलवे, शिक्षण तथा प्रतिष्ठानों के कर्मचारी होते हैं। बी०ए० पास करते ही कर्मचारियों की उन्नति के मार्ग प्रशस्त हो जाते हैं तथा वे वेतन वृद्धि से लाभान्वित होते हैं।

६. महाविद्यालय में सांस्कृतिक कार्यक्रमों एवं प्रतियोगिताओं की शृंखला चलती है। इस दिशा में परम्परा के साथ कुछ नवीनता का समावेश करने का प्रयास हुआ। हर व्यक्ति अपने मानसिक संगठन के अनुसार भिन्न-भिन्न सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यों को अपनाता है। इन क्षेत्रों में प्रतिभा का अन्वेषण और पुरस्करण नितान्त आवश्यक है। इस दृष्टि से वाद-विवाद, निवंध, कहानी प्रतियोगिताओं के साथ-साथ संगीत प्रतियोगिता, वाद्य प्रति-योगिता का आयोजन किया गया। हम काव्य प्रतियोगिता तथा व्यंग विनोद प्रतियोगिता भी करना चाहते हैं क्योंकि स्वस्थ जीवन के लिए इनकी परम आवश्यकता है। इस वर्ष की मालवीय जयंती समारोह में हमारे महाविद्यालय के छात्र राकेश कुमार दीक्षित तथा जगदीश ने सम्पूर्ण विश्वविद्यालय वाद-विवाद प्रतियोगिता में द्वितीय तथा तृतीय स्थान प्राप्त किया।

७. क्रीड़ा क्षेत्र में इस महाविद्यालय के छात्र बड़े उत्साहित दिखाई पड़े। सी०एच०-सी० एथलेटिक एसोसिएशन की कबड्डी प्रतियोगिता में सांध्य महाविद्यालय की टीम सर्वजेता रही। महाविद्यालय की वार्षिक क्रीड़ा प्रतियोगिता में क्रीड़ा का स्तर संतोषजनक पाया गया। विश्वविद्यालय की विविध क्रीड़ा टीमों में महाविद्यालय के छात्र चुने गये हैं। श्री लल्लन प्रसाद विश्वविद्यालय वालीवाल टीम के तथा श्री विनोद कुमार विश्वकर्मा फुटबाल टीम के सदस्य चुने गए थे।

८. समाजसेवा के कार्यों में महाविद्यालय के छात्रों ने बड़ी अभिरुचि दिखाई। छात्रों के अलग-अलग दलों ने प्रौढ़ शिक्षा तथा वृक्षारोपण की दिशा में महत्वपूर्ण योग दिया। इस महाविद्यालय के अधिकतर छात्र कर्मचारी हैं, दिन भर श्रम के बाद ज्ञानार्जन कर समाज सेवा में यथाशक्ति योग देने का प्रयास करते हैं, इस दृष्टि से उनका स्वल्प कार्य भी उत्साह सूचक है। कुछ समाजसेवी छात्रों ने बी०ए० खण्ड ३ के छात्र विनोद कुमार सिंह की प्रेरणा से रोटरेक्ट क्लब की स्थापना की है। क्लब यथाशक्ति महाविद्यालय के निर्धन छात्रों की सहायता करता है तथा अन्य छात्रों को समाज सेवा के कार्यों में भाग लेने के लिए प्रेरित करता है। महाविद्यालय के छात्रों को टेक्स्ट बुक बैंक से पुस्तकीय सहायता प्रदान की जाती है।

९. हमारा विश्वविद्यालय महान अश्वत्थ वृक्ष है जिसमें ज्ञान विज्ञान की नित्य नई शाखाएँ-प्रशाखाएँ फूटती और पल्लवित होती रहती हैं। सांध्य महाविद्यालय ऐसी ही एक शाखा है। आज हम शिक्षा को श्रम के साथ जोड़ना चाहते हैं। शिक्षा के साथ श्रम का ठीक योग बैठाकर ही नई परम्पराओं का विकास किया जा सकता है। इस धारणा से पाँचवीं पंच वर्षीय योजना की विजिटिंग कमेटी के सामने कुछ योजनाएँ प्रस्तुत की गई। इसमें सुझाया गया था कि बी०ए० के तीन विषयों में कम से कम एक विषय व्यावसायिक हो ताकि बी०ए० पास करने के बाद छात्र स्वावलंबी हो सकें। विजिटिंग कमेटी ने इसे पर्याप्त महत्व दिया और स्वीकार किया है कि ऐसी योजना दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रचलित है। उक्त विश्वविद्यालय से परामर्श कर इस योजना का व्यापक अध्ययन किया जाए। दूसरी योजना है बी०ए० में अन्य विषयों के शुभारंभ हों ताकि छात्रों को अपने रुचि के अनुसार अन्य विषय लेने की सुविधा रहे, तथा श्रेणी सुधार की सम्भावना बढ़े। समिति ने केवल उर्दू के लिए एक व्याख्याता पद स्वीकार कर उर्दू विषय प्रारंभ करने की सिफारिश की है। तीसरी योजना है स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारंभ करने की। कर्मचारी छात्र दिन को स्नातकोत्तर कक्षाओं से लाभ नहीं उठा पाते, यह उनकी विवशता है, इसलिए वे स्नातकोत्तर कक्षाओं के शुभारंभ के लिए सदा लालायित रहते हैं। अभी इस कार्य के लिए साधन सुलभ नहीं हो पाये हैं। परन्तु इस महत्वपूर्ण समस्या की ओर विश्वविद्यालय प्राधिकारियों का ध्यान अवश्य ही जाएगा।

प्राचार्य
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सामाजिक विज्ञान संकाय

कृष्णदत्त द्विवेदी

बहुत दिनों से कला संकाय के अन्तर्गत कार्यरत सामाजिक विज्ञानों (इतिहास, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान तथा समाज विज्ञान) के पृथक संकाय कायम किये जाने की आवश्यकता महसूस की जा रही थी। इस सम्बन्ध में सामाजिक विज्ञानों के वरिष्ठ प्रोफेसर तथा विचारक विशेष रूप से प्रयत्नशील थे। अन्ततः सन् १९७१ ई० में प्रोफेसर सुरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव, प्रोफेसर एम० एम० सिन्हा तथा प्रो० हीरालाल सिंह आदि के सक्रिय प्रयास द्वारा इतिहास, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजविज्ञान तथा मनोविज्ञान को मिला कर पृथक सामाजिक विज्ञान संकाय का गठन किया गया। इसके प्रथम संकाय प्रमुख (डीन) मनोविज्ञान विभाग के निवर्तमान अध्यक्ष प्रो० एम० एम० सिन्हा हुए। यह विश्वविद्यालय का सबसे नवीन संकाय है। प्रो० सिंन्हा के बाद क्रमशः प्रो० हीरालाक सिंह (अध्यक्ष, इतिहास विभाग) प्रो० बी० कानूनगो (अध्यक्ष, इतिहास विभाग) तथा सम्प्रति प्रो० सुरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव (अध्यक्ष, समाज विज्ञान विभाग) इस संकाय के चतुर्थ प्रमुख हैं। इस संकाय में गोष्ठी कक्ष तथा पुस्तकालय की स्थापना का श्रेय आपको ही है। अबतक कई बार विभिन्न सामाजिक विज्ञानों की अन्तर्विभागीय विचारगोष्ठियों के आयोजन कराये जा चुके हैं। इन गोष्ठियों द्वारा विचार विनिमय की नवीन परंपरा का शुभारंभ हुआ है। इस संकाय के विभागों का विवरण निम्नलिखित है :—

समाजशास्त्र विभाग :—

सर्वप्रथम १० सितम्बर १९५५ ई० की विद्वत परिषद् ने समाजशास्त्र विभाग की स्थापना के लिए एक प्रस्ताव पारित किया। सन् १९६२ ई० में तृतीय पंचवर्षीय योजना के मध्य विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की वीक्षक समिति (विजिटिंग कमेटी) की संस्तुति पर समाज विज्ञान की स्नातकोत्तर कक्षाओं का अध्यापन कार्य आरम्भ हुआ।

३० अप्रैल १९६६ ई० को प्रोफेसर सुरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव के प्रयास से समाज विज्ञान विभाग को राजनीति विभाग से पृथक एक स्वतन्त्र विभाग के रूप में स्थापित किया गया और डॉ० श्रीवास्तव ही इसके प्रथम विभागाध्यक्ष नियुक्त हुए।

वमर्तान काल में समाज विज्ञान विभाग में एक प्रोफेसर, तीन रीडर तथा सात व्याख्याता अध्यापन रत हैं।

समाज विज्ञान विभाग में अबतक अनेक गवेषकों को पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की जा चुकी है।

विभाग के दो सदस्यों – डा० सत्येन्द्र त्रिपाठी एवं श्रीमती सुरेन्द्र जेटली को पाश्चात्य अध्ययन के लिए छात्रवृत्तियां भी प्रदान की गईं। डा० सत्येन्द्र त्रिपाठी को संयुक्त राष्ट्र की फेलोशिप योजना में यूरोप, अमेरिका तथा दक्षिणी पूर्व एशिया के विश्वविद्यालयों में व्याख्यान हेतु आमंत्रित किया गया और उन्हें अमेरिका की सरकार ने 'सर्टिफिकेट आफ मेरिट इन सोसल वेलफेयर एडमिनिस्ट्रेशन' भी प्रदान किया।

१९६९ ई० में हिन्दी माध्यम के अध्यापकों, गवेषकों तथा छात्रों की कठिनाइयों को देखते हुए समाज विज्ञान विभाग कीओर से प्रो० सुरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव ने प्रथम हिन्दी शोध पत्रिका "भारतीय समाज विज्ञान समीक्षा" का प्रकाशन कार्य आरम्भ कराया, जिसके अब तक कुल ९ अंक प्रकाशित हो चुके हैं तथा अंक १० एवं ११ प्रेस में है।

विभागीय हिन्दी माध्यम व्यवस्था में छात्रों की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुये डॉ० श्रीवास्तव ने समाजशास्त्र में उच्च कोटि की पुस्तकों के लेखन की योजना बनायी, जिसके अन्तर्गत विभागीय सदस्यों के सहयोग से "समाज विज्ञान के मूल विचारक" पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार की गयी और प्रकाशन हेतु उ० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी से अनुवन्ध किया गया। इसके साथ ही "समाज विज्ञान के आधुनिक विचारक" शीर्षक पुस्तक की पाण्डुलिपि भी लगभग तैयार हो गयी है। उक्त दोनों ही पुस्तकें समाज विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी माध्यम के छात्रां तथा गवेषकों के लिये अतीव उपयोगी सिद्ध होंगी। समाज विज्ञान विभाग इस बात के लिए कटिबद्ध है कि केवल हिन्दी माध्यम से अध्यापन कार्य आरम्भ कर देने से ही समस्या का सही निदान नहीं होगा, अपितु इसके लिए उच्चकोटि का विषय से सम्बद्ध साहित्य भी सुलभ किया जाना चाहिए। इस विभाग का उपर्युक्त कार्य इन्हीं विकासोन्मुख परम्पराओं का द्योतक है।

इतिहास विभाग

विश्वविद्यालय की स्थापना के साथ ही इतिहास विभाग को यह सौभाग्य था कि भारतीय इतिहासज्ञों में वरिष्ठ डा० यदुनाथ सरकार इसके विभागाध्यक्ष हुये। इनके बाद, क्रमशः प्रो० तैलंग और प्रो० एस० वी० पुणताम्बेकर ने इस पद को सुशोभित किया। प्रो० पुणताम्बेकर के बीस वर्षीय कार्यकाल के दौरान इतिहास के अध्ययन में विभाग ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। आगे भी डा० जी० सी० गांगुली, डा० परमात्माशरण और डा० राजबली पाण्डेय प्रभृति विद्वान इतिहासकारों ने भारतीय इतिास की विभिन्न शाखाओं का दायित्व भली प्रकार सम्पन्न किया।

सन् १९४६ ई० में प्रो० पुणताम्बेकर के जाने के पश्चात् डा० आर० एस० त्रिपाठी, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष के पद पर आसीन हुए और सन् १९६३ तक उनके कार्यकाल के दौरान प्रो० के० भट्टाचार्य, डा० ए० बी० पाण्डेय और डा० एच० एल० सिंह ने विभाग में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। डॉ० त्रिपाठी को सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के प्राचार्य पद को सुशोभित करने का गौरव भी प्राप्त हुआ था। उनकी असामयिक मृत्यु से विभाग को गहरा धक्का लगा क्योंकि इससे विभाग के अनुसंधान आदि क्षेत्र प्रभावित हुए।

डा० त्रिपाठी के कार्यों का अनुशीलन प्रोफेसर हीरालाल सिंह ने किया। डा० हीरालाल सिंह को इस विभाग का विद्यार्थी होने का गौरव भी प्राप्त था। डा० सिंह ११ वर्षों तक इस विभाग के अध्यक्ष रहे। अपने कार्यकाल में डा० सिंह ने इस विभाग का न केवल शैक्षणिक अपितु विविध क्षेत्रों में सर्वतोमुखी विकास किया। सम्प्रति इस विभाग में ५ के स्थान पर १३ अध्यापक कार्यरत हैं। डा० हीरालाल सिंह १९७४ में सामाजिक

विज्ञान संकाय के प्रमुख नियुक्त हुए थे। उनके पाश्चात् विभाग के वरिष्ठ व्याख्याता प्रोफेसर वी० कानूनगो इतिहास विभाग के अध्यक्ष नियुक्त किये गये, जिन्होंने प्रोफेसर सिंह द्वारा संस्थापित त्रिभागीय परम्पराओं को कायम रखते हुए अपने सक्रिय योगदान द्वारा इसे और भी उत्कर्षोंन्मुख किया है।

मनोविज्ञान विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में दर्शन शास्त्र के साथ मनोविज्ञान का अध्यापन कार्य सन् १९४९ ई० में आरम्भ किया गया। उसी वर्ष स्नातकोत्तर स्तर पर प्रयोगिक मनोविज्ञान की शिक्षा की व्यवस्था भी की गयी। सन् ६० तक मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र के साथ सम्मिलित रूप से एक ही विभाग के अधीन चलता रहा। इसके पश्चात् विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने मनोविज्ञान के पृथक अध्यापकों के पद की अपनी स्वीकृति प्रदान की। तदनुसार एक रीडर और तीन व्याख्याता नियुक्त किये गये। सन् १९६२ में इस विभाग को दर्शनशास्त्र से पृथक किया गया और एक प्रोफेसर, दो रीडर तथा ५ व्याख्याताओं की नियुक्ति की गयी। इसी वर्ष मनोविज्ञान विभाग पूर्णतया स्वतंत्र विभाग बन गया।

इस विभाग को इस बात का गौरव है कि डा० आत्रेय के अध्यक्ष काल सन् १९५१-५२ में विभाग के अन्तर्गत डिप्लोमा इन क्लिनिकल साइकोलाजी की ट्रेनिग आरम्भ की गयी जो सन् १९५४-५५ तक चलती रही। पश्चात् विभाग में अध्यापकों की कमी के कारण उपर्युक्त ट्रेनिंग बन्द करनी पडी।

वर्तमान समय में इस विभाग में तीन प्रयोगशालाएँ हैं, जिनमें अनुसंधान सुविधाएँ तथा स्नातकोत्तर शिक्षा की व्यवस्था हैं। यथा—सामान्य प्रयोगात्मक प्रयोगशाला, क्लिनिकल मनोविज्ञान प्रयोगशाला तथा पशु मनोविज्ञान की प्रयोगशाला। अनुसन्धान के मुख्य क्षेत्र हैं—चिकित्सा मनोविज्ञान, तुलनात्मक मनोविज्ञान, प्रयोगिक मनोविज्ञान और औद्योगिक मनोविज्ञान।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में विभाग द्वारा ३२ अनुसंधान प्रपत्र प्रकाशित किये गये तथा ४ अनुसंधान परियोजनाएँ भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा इण्डियन कौंसिल आफ मेडिकल रिसर्च के योगदान से चलायी गयीं। इस विभाग ने २५ मानसिक परीक्षण भी तैयार किए हैं।

इस विभाग से २२ छात्रों को पी-एच० डी० डिग्री प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त सन् १९७५ में विभाग द्वारा षष्टम अखिल भारतीय चिकित्सा मनोवैज्ञानिकों के सम्मेलन का आयोजन भी किया गया तथा एक अनुसंधान स्मारिका प्रकाशित की गयी। विभाग के अध्यापकों को देश विदेशों में भाषण आदि के लिए आमंत्रित किया गया।

राजनीति विज्ञान विभाग

भारत के विश्वविद्यालयों में राजनीति विज्ञान का अध्ययन एक स्वतन्त्र विषय के रूप में कुछ ही समय पूर्व आरम्भ हुआ। प्रारम्भ में यह विषय अर्थशास्त्र या इतिहास

अथवा दोनों ही विषयों के अन्तर्गत पढ़ाया जाता था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में १९१७ में राजनीतिक-अर्थशास्त्र एवं राजनीतिक-दर्शन शास्त्र का एक संयुक्त विभाग खोला गया। १९२९ में राजनीत-विज्ञान विभाग एक स्वतंत्र विभाग के रूप में स्थापित हुआ। प्रोफेसर गुरमुख निहाल सिंह, जिन्होंने तत्पश्चात् कई महत्त्वपूर्ण पदों पर कार्य किया, इसके प्रथम अध्यक्ष थे।

प्रोफेसर गुरुमुखनिहाल सिंह के पश्चात् क्रमशः प्रोफेसर मुकुट विहारी लाल, प्रोफेसर कन्हैयालाल वर्मा, श्री डी० एन० बोहरा, प्रोफेसर के० वी० राव, प्रोफेसर गणेश प्रसाद उनियाल और डा० आर० एच० शरण विभाग के अध्यक्ष रहे। जुजाई १९७४ से प्रोफेसर मनोरंजन झा राजनीति विज्ञान विभाग के अध्यक्ष हैं।

इस विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग ने आरम्भ से ही भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन, समाजवादी विचारधारा का इतिहास और समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के इतिहास के अध्ययन पर बल दिया। इन विषयों के साथ विभाग ने राजनीतिक-दर्शन, अन्तर्राष्ट्रीय संबन्ध एवं आधुनिक संविधानों के अध्ययन को भी प्रोत्साहित किया। विभाग, राजनीति विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में निरंतर विकासोन्मुख रहते हुए, पाठ्यक्रम के आधुनिकीकरण का भी प्रयास करता रहा है। उदाहरण के लिए अब पाठ्यक्रम में इन विषयों का समावेश है—राजनीतिक समाजशास्त्र, भारत का राजनीतिक समाजशास्त्र, आधुनिक शासन प्रणाली-सिद्धान्त और व्यवहार, भारतीय राज्यों की राजनीति एवं शासन प्रणाली, ग्राम्य-भारत की राजनीति एवं शासन प्रणाली, लोक-प्रशासन, सामाजिक एवं आर्थिक प्रशासन, शोध-विधि एवं राजनीतिक विश्लेषण, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और दक्षिण-पूर्व एशिया की राजनीति।

प्रारम्भ में विभाग ने स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं के लिए हिन्दी में पाठ्य-पुस्तकें लिखने पर विशेष ध्यान दिया। तत्पश्चात् शोध कार्य के साथ-साथ अध्यापन एवं पाठ्य-क्रम के आधुनिकीकरण पर बल दिया गया। विभाग में शोध के प्रमुख क्षेत्र हैं— राजनीतिक सिद्धान्त एवं चिंतन, लोक-प्रशासन, संविधान एवं शासन प्रणाली, भारतीय राजनीति और शासन, भारत के राज्यों में राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय संबन्ध और राष्ट्रीय आन्दोलन। १९६३-७६ की अवधि में विभाग के सदस्यों द्वारा १५ पुस्तकें एवं लेख तथा ६० शोध-लेख प्रकाशित किए गये, एवं आई० सी० एच० आर०, आई० सी० एस० एस० आर० आदि के अन्तर्गत ७ शोध-योजनायें ली गईं, तथा १८ डाक्टरेट की उपाधियाँ वितरित की गईं।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने चतुर्थ पंच-वर्षीय योजना के अंतर्गत विभाग को 'राज्य सरकार अध्ययन केन्द्र' स्थापित करने की अनुमति प्रदान की। 'अध्ययन केन्द्र' के लिए दो 'सीनियर रिसर्च फेलो', 'दो जूनियर रिसर्च फेलो', एक 'इनवेस्टिगेटर' और एक 'स्टेनोग्राफर-कम-आफिस असिस्टेन्ट' स्वीकृत किया गया। इसके अतिरिक्त – 'फील्ड कार्य के लिए कुछ स्थिर-अनुदान भी दिया गया। 'केन्द्र' के तत्त्वावधान में भारतीय राज्यों की शासन-पद्धति एवं राजनीति से संबन्धित विभिन्न विषयों पर अनेक अध्ययन किए गये,

जैसे—राजनीतिक प्रक्रिया, निर्वाचन एवं निर्वाचन-आचरण, नेतृत्व पद्धति, स्थानीय संस्थाओं की राजनीति, केन्द्र-राज्य संबन्ध, अन्तर्राज्यिक सीमा विवाद, संविद सरकारें, पुलिस प्रशासन इत्यादि। इनमें से कुछ अध्ययन लेख के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की 'विजिटिंग टीम' ने पंचम पंच-वर्षीय योजना के लिए 'केन्द्र' के कार्यों का मूल्यांकन किया और कहा कि केन्द्र ने अच्छा कार्य किया है उसे वर्तमान योजना की अवधि में जारी रखना चाहिए।

विश्वविद्यालय अनुसंधान आयोग की "क्षेत्रीय-अध्ययन योजना" के अन्तर्गत विभाग में 'नेपाल अध्ययन केन्द्र' की स्थापना की गई है। 'केन्द्र' का उद्देश्य नेपाल के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पहलुओं पर अन्तर्विषयी दृष्टिकोण से गहन अध्ययन एवं शोध-कार्य करना है। 'केन्द्र' का एक प्रमुख उद्देश्य नेपाल पर हुए सभी प्रकार के अध्ययनों का संग्रहीकरण करना तथा सम्बन्धित ग्रन्थ-सूची का नियमित प्रकाशन है।

विभाग के तत्त्वावधान में अनेक गोष्ठियाँ, व्याख्यान-मालाएँ एवं वाद-विवाद आयोजित किये जा चुके हैं। १९७५ में राजनीति-विज्ञान के पाठ्य-क्रम में आवश्यक संशोधन हेतु एक क्षेत्रीय 'वर्कशाप' का आयोजन भी हुआ। इसी वर्ष (१९७५) विभाग की मंत्रणा पर लीसेस्टर यूनीवर्सिटी के प्रोफेसर कीन्स सोपर ने "न्यू डाइरेक्शन्स इन डिप्लोमेसी" और "इन्टरनशनल इन्स्टाट्यूशन्स् एण्ड बैलेन्स आफ पावर" तथा आस्ट्रेलियन नेशनल यूनीवर्सिटी के प्रोफेसर हडले बुल ने "द न्यू बैलेन्स आफ पावर इन एशिया एण्ड द पेसफिक, द किसिन्जर माडेल" और "न्यू डाइरेक्शन्स इन द थ्यारी आफ इण्टरनेशनल रिलेशन्स" में विचार-गोष्ठियों का शुभारम्भ किया। इसके अतिरिक्त दिल्ली विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर रणधीर सिंह ने "रीसेंट ट्रेन्डस् इन पालिटिकल थ्योरी," इन्स्टीट्यूट आफ एडवान्स्ड स्टडीस, शिमला के विजिटिंग फेलो, प्रोफेसर आशा राम ने "गान्धीस्म एण्ड माओइस्म," श्री इन्द्रदीप सिन्हा, एम० पी०, ने "पोलिटिकल इनस्टेबिलिटी इन बिहार," एवं मास्को के लुमुम्बा यूनीवर्सिटी के वाइस-रेक्टर प्रोफेसर मोजोलिन ने "इन्डो-सोवियट रिलेशन्स" पर व्याख्यान दिए।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हीरक-जयन्ती के अवसर पर विभाग ने १९७६ में 'धर्म-निरपेक्षता, समाजवाद एवं प्रजातन्त्र' के संदर्भ में 'भारतीय-संविधान में संशोधन-प्रक्रिया' पर व्याख्यान-माला का आयोजन किया।

भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति की २५वीं वर्षगाँठ के अवसर पर विभाग के वर्तमान अध्यक्ष डा० मनोरंजन झा को भारत सरकार (शिक्षा मन्त्रालय) और इंडियन कौंसिल फार हिस्टोरिकल रिसर्च ने "रोल आफ सेन्ट्रल लेजिसलेचर्स इन द फ्रीडम स्ट्रगल" पर एक पुस्तक लिखने के लिए आमंत्रित किया। भारत के राष्ट्रपति ने १५ अगस्त १९७२ को इस पुस्तक का विमोचन किया। तत्पश्चात् डाक्टर झा, आई० सी० एच० आर०, नई दिल्ली के तत्त्वावधान में एक प्रोजेक्ट "फ्रीडम स्ट्रगल थ्रू स्टेट लेजिसलेचर्स" के डाइरेक्टर नियुक्त किए गए। वह इस संगठन के कुछ समय तक सेक्रेटरी भी रहे। डाक्टर एच० एन०

त्रिपाठी, जो इस समय विभाग में रीडर हैं को उनकी पुस्तक "प्राचीन भारत में राज्य और न्याय-पालिका" के लिए गोविन्द-वल्लभ पंत पुरस्कार तथा "संघवादी" के लिए मोतीलाल नेहरू-पुरस्कार मिले।

विभाग में बी० ए०, बी० ए० (आनंस), एम० ए० और पी-एच० डी० डिग्रियों के लिए शिक्षा दी जाती है।

शिक्षकों की संख्या इस प्रकार है :—प्रोफेसर : १ रीडर : ५ लेक्चरर : ८।

पंचम पंच-वर्षीय योजना के अंतर्गत विभाग को एक रीडर और प्रदान किया गया है।

अर्थशास्त्र विभाग

प्रारम्भ में अर्थशास्त्र और इतिहास एक ही विभाग था एवं इसके संयुक्त अध्यक्ष प्रो० गुरुमुख निहाल सिंह थे। सन् १९०७ में इतिहास विभाग की अलग स्थापना हुई। इस विभाग से आर्थिक विचार, आर्थिक भूगोल, सार्वजनिक प्रशासन और राजनीति शास्त्र पढ़ाया जाता था। विभाग में प्रो० एच० एल० चबलानी, डा० ज्ञानचन्द्र और डा० आर० एन० जे० शाह जैसे माने जाने विद्वान थे सन् १९२९ में एक अलग विभाग के रूप में राजनीतिशास्त्र की स्थापना हुई। अर्थशास्त्र विभाग में उस ससय डा० हंसराज सोनी, प्रो० बी० पी० अडारकर और प्रो० के० वी० रंगास्वामी जैसे अर्थशास्त्री थे।

सन् १९२४ में विभाग ने वाणिज्य कोर्स की एक योजना तैयार की थी किन्तु अर्थाभाव में यह कोर्स प्रारम्भ नहीं किया जा सका। सन् १९४० में कामर्स की कक्षायें प्रारम्भ की गयी। जुलाई सन् १९४० में इन्टरमीडिएट कक्षायें, १९४२ में स्नातक कक्षायें एवं सन् १९४४ में स्नातकोत्तर कक्षायें प्रारम्भ की गयीं। सन् १९४० से १९५१ तक अर्थशास्त्र एवं वाणिज्य एक ही विभाग थे जिसके अध्यक्ष क्रमशः डा० बी० आर० मिश्रा और डा० ए० के० दास गुप्ता थे।

सन् १९५१ में कामर्स विभाग अर्थशास्त्र से अलग हो गया। इसी बीच डा० दास गुप्ता 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' के पूर्वी क्षेत्र के क्षेत्रीय प्रमुख होकर वाशिंगटन चले गये और श्री टी० एन० रामास्वामी अर्थशास्त्र विभाग के कार्यवाहक अध्यक्ष हुए। वापस आने पर डा० दासगुप्ता १९५८ तक अर्थशास्त्र विभाग के विभागाध्यक्ष रहे। तदुपरान्त डा० ए० एस० रतूरी सन् १९६२ तक विभागाध्यक्ष रहे। इसी वर्ष डा० आर० एन० भार्गव, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष हो गये एवं कुछ ही महीनों बाद एक वर्ष के लिये (सन् १९६३-६४) अमेरिका के कोलोरेडो विश्वविद्यालय, बोल्डर मे विजिटिंग प्रोफेसर होकर चले गये। उनके बाद डा० उमेश प्रसाद कार्यवाहक विभागाध्यक्ष के पद पर कार्य करते रहे। सन् १९६४ में प्रो० आर० एन० भार्गव ने पुनः विभागाध्यक्ष का कार्यभार सम्भाला एवं सन् १९६४ से सितम्बर १९७४ तक विभागाध्यक्ष रहे। सन् १९७२ में कला संकाय दो संकायों अर्थात्—कला संकाय एवं सामाजिक विज्ञान संकाय में विभाजित हो गया और अर्थशास्त्र विभाग सामाजिक विज्ञान संकाय के पाँच विभागों में से एक विभाग के रूप में कार्य करने लगा।

सितम्बर सन् १९७४ में विभाग की रीडर डा० (श्रीमती) राधारानी चौधरी ने विभागाध्यक्ष का पद ग्रहण किया एवं ३ सितम्बर १९७६ तक विभागाध्यक्ष बनी रहीं।

सम्प्रति विभाग के अध्यापकों की संख्या इस प्रकार हैं—प्रोफेसर दो—(रिक्त) रीडर पांच तथा प्रवक्ता नौ।

विभाग में दो लिपिक एव दो चपरासी भी कार्यरत हैं।

अध्यापकों द्वारा विदेश भ्रमण

विभाग के रीडर डा० ए० एस० रतूरी दो सत्र हेतु (१९५३-५५) के लिए अमेरिका (हार्वर्ड यूनिवर्सिटी) गये थे।

सन् १९६५-६६ में एक सत्र के लिए विभाग की रीडर डा० (श्रीमती) राधारानी चौधरी, अमेरिकन विश्वविद्यालय, वाशिंगटन, डी० सी० में भ्रमणकारी प्रोफेसर होकर गयीं।

सन् १९७०-७१ में एक सत्र के लिए विभाग के रीडर डा० उमेश प्रसाद, जनांककीय केन्द्र (पापुलेशन सेन्टर) शिकागो विश्वविद्यालय में भ्रमणकारी प्रोफेसर होकर गये।

प्रशासकीय सेवा

विभाग के रीडर डा० ए० एस० रतूरी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के डीन आफ स्टूडेन्ट, चीफ प्राक्टर तथा रजिस्ट्रार रहे एवं वर्तमान में रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली के कुलपति पद पर सुशोभित हैं।

विभाग के रीडर डा० उमेश प्रसाद वर्तमान में विश्वविद्यालय के छात्र अधिष्ठाता (डीन आफ स्टूडेन्ट) के पद पर कार्यरत हैं तथा विभाग के भूतपूर्व प्रवक्ता श्री जे० पी० वाजपेयी, वर्तमान में सान्ध्य महाविद्यालय (कमच्छा), के प्राचार्य पद पर सुशोभित हैं।

विभाग के विद्यार्थी

विभाग द्वारा स्नातक एवं स्नातकोत्तर दोनों ही वर्गों के विद्यार्थियों का अध्यापन होता है। विभाग द्वारा प्रत्येक वर्ष स्नातकोत्तर कक्षा के एम० ए० (प्रथम वर्ष) में कुल निर्धारित ६० संस्थागत छात्रों का चयन किया जाता है।

शोध कार्य

विभाग के विभिन्न अध्यापकों की देख-रेख में अनेक छात्र शोध कार्य करते रहे हैं एवं वर्तमान में भी कार्य कर रहे हैं। अभी तक के शोध छात्रों का विवरण निम्न है :—डी० लिट् एवं पी-एच० डी० प्राप्त करने वाले छात्रों की संख्या :—डी० लिट्—३ एवं

पी० एच० डी०—३२ तथा वर्तमान शोध कार्यरत् छात्रों की संख्या ६२ है। इसमें दो वर्ष की शोध अवधि के ऊपर वाले छात्र भी सम्मिलित हैं।

शोध परियोजनायें

विभाग के गणमान्य अध्यापकों द्वारा अर्थशास्त्र विषयक भिन्न-भिन्न शोध परियोजनाओं का भी संचालन किया गया है।

सन् १९६६-६७ में प्रो० आर० एन० भार्गव के निदेशन में 'मोबिलाइजेशन आफ रिसोर्सिज थ्रू टैक्सेशन इन यू० पी० ड्यूरिंग फोर्थ प्लान' नामक परियोजना का संचालन किया गया जिसके उप-निदेशक डा० अयोध्या सिंह, रीडर अर्थशास्त्र, थे। यह परियोजना भारत सरकार के वित्त मन्त्रालय द्वारा संचालित की गयी थी।

सन् १९७१-७२ में विभाग के रीडर डा० अयोध्या सिंह के निदेशन में 'माडल ग्रोथ सेन्टर इन वाराणसी डिस्ट्रिक्ट १९७२' नामक परियोजना पूरी हुई। इस परियोजना का संचालन भारत सरकार के औद्योगिक विकास, आन्तरिक व्यापार एवं कम्पनी अफेयर्स मन्त्रालय द्वारा किया गया।

सितम्बर १९७२ से जून १९७६ तक डा० अयोध्या सिंह के ही निदेशन में 'मार्केटेबुल सरप्लस आफ मेजर फूड ग्रेन्स इन सेलेक्टेड रीजन्स आफ वाराणसी डिस्ट्रिक्ट' नामक परियोजना पूरी हुई। इस परियोजना का संचालन इण्डियन काउन्सिल आफ एग्रिकल्चरल रिसर्च, नई दिल्ली द्वारा किया गया।

प्रकाशन

विभाग के गणमान्य अध्यापकों द्वारा समय-समय पर देशी एवं विदेशी पत्र-पत्रिकाओं में अर्थशास्त्र के विभिन्न विषयों एवं समस्याओं से सम्बन्धित लेख प्रकाशित होते रहे हैं।

विभाग के अध्यापकों द्वारा अर्थशास्त्र विषयक बहुत सी पुस्तकों का भी प्रकाशन किया गया है जिससे स्नातक एवं स्नातकोत्त कक्षाओ के छात्रों को अध्ययन में अत्यधिक सहायता मिली है।

विभाग के शोध छात्रों द्वारा भी समय-समय पर देशी पत्र-पत्रिकाओं में अर्थशास्त्र विषयक लेख प्रकाशित होते रहें हैं।

सेमिनार का आयोजन

विभाग के स्नातकोत्तर कक्षाओं के छात्रों एवं शोध छात्रों को अर्थशास्त्र विषयक विभिन्न समस्याओं एवं भारत वर्ष की अन्य आर्थिक समस्याओं से भली-भाँति अवगत कराने हेतु विभाग में प्रत्येक महीने के प्रथम एवं तृतीय सप्ताह में सेमिनार आदि का आयोजन किया जाता है जिसमें छात्र अथवा अध्यापक अपनी इच्छानुसार अर्थशास्त्र

विषयक व्याख्यान देते हैं। विभागीय सेमिनार में स्नातकोत्तर कक्षा (अर्थशास्त्र) के समस्त छात्र, शोधछात्र एवं अध्यापक उपस्थित रहते हैं। इसके अतिरिक्त समय-समय पर देश और विदेश से आये विद्वानों का भी व्याख्यान विभाग में आयोजित किया जाता है जिससे देश एवं विदेश की आर्थिक नीतियों एवं आर्थिक स्थितियों का पूर्ण ज्ञान छात्रों को होता है।

राष्ट्रीय सेवा योजना का संचालन

सन् १९७३-७४ व १९७४-७५ में विभाग के रीडर ड.० अयोध्या सिंह एवं सन् १९७५-७६ में विभाग के ही प्रवक्ता श्री आर० सुब्राह्मण्यम ने सामाजिक विज्ञान संकाय की ओर से राष्ट्रीय सेवा योजना का संचालन अत्यधिक कुशलता से सम्पन्न किया जिसमें छात्रों द्वारा विश्वविद्यालय में एवं अन्य स्थानों पर सेवा कार्य सम्पन्न हुआ।

समाजशास्त्र विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अन्य महत्त्वपूर्ण विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ग्रन्थालय तंत्र

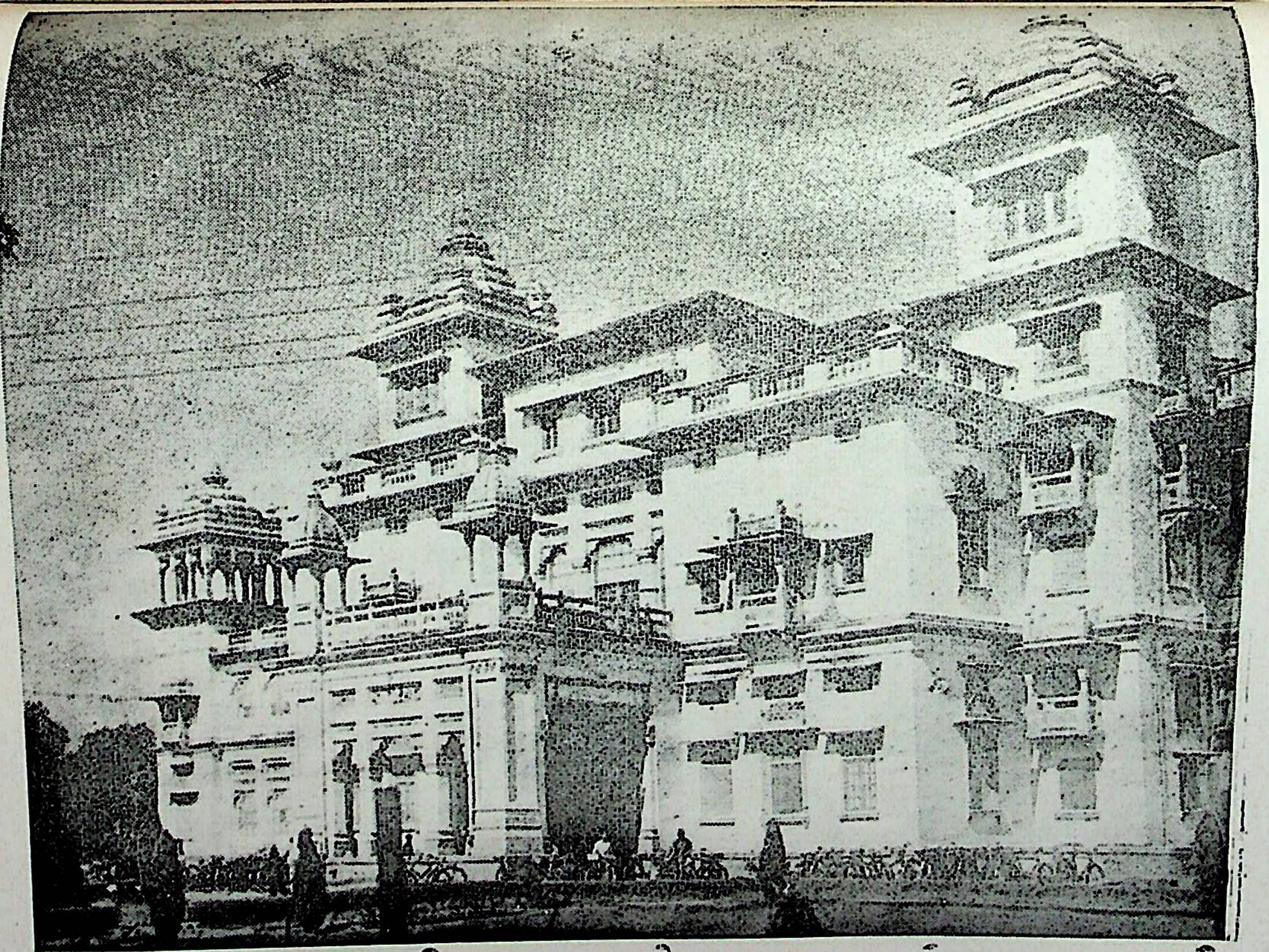
हरिदेव शर्मा

ग्रन्थालय का कार्य

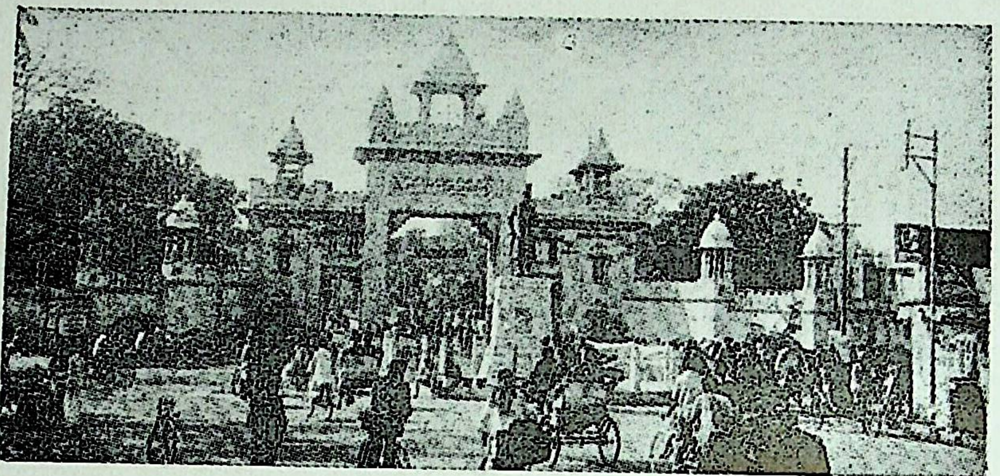
आज मनुष्य का ज्ञान इस द्रुत गति से बढ़ रहा है कि मानव बुद्धि को उसके साथ निरन्तर चल पाना असंभव हो गया है। मेधावी से मेधावी विद्वानों को भी अपने विषय का ज्ञान अद्यतन रखने के लिए नित्य बढ़ती हुई बृहद् ज्ञान राशि को एकत्रित कर संजोना एवं आवश्यकता पड़ने पर पाठकों को मुहैया करना अपने आप में एक जटिल कार्य हो गया है। इस विपुल ज्ञानराशि के संग्रहण, सज्जीकरण एवं उपयोगार्थ ग्रन्थालयों का उदय हुआ। समग्र ज्ञान राशि का अनवरत रूप से निरीक्षण, चयन, संग्रहण, भंडारण एवं उपयोगार्थ प्रस्तुतीकरण करते रहना ग्रन्थालय का अनवरत कार्य है।

आज की शिक्षा अथवा प्रशिक्षण कल पुराने पड़ जाते हैं। इन्हें अद्यतन रखने के लिए जीवन भर अपने विषय से सम्बद्ध नित्य नवीन साहित्य पढ़ते रहना होता है। अब शिक्षा केवल स्कूल, कालेज व विश्वविद्यालयों की कक्षाओं की चार दीवारी में ही सीमित नहीं रह गई है, वरन् उसने ये सारी सीमाएँ तोड़ दी हैं। अब शिक्षा जीवन को सतत सँवारने, निखारने एवं समृद्ध बनाने की ऐसी प्रक्रिया हो गई है जो जीवन भर चलती रहती है। अतः शिक्षा को अविराम बढ़ाते रहने के लिए सारे अनौपचारिक साधन काम में लाए जा रहे हैं। आज हर आयु के व्यक्ति को हर विषय की शिक्षा हर समय सहज प्राप्त है। ग्रन्थालय इस दुरूह कार्य को अपनी बहुविध सेवाओं द्वारा सुचारू रूप से सरअंजाम देने में सदा प्रयत्नशील रहता है।

शिक्षा ज्ञान-वर्द्धन एवं विवेक, तर्क तथा निर्णायक बुद्धि का विकास करने वाली प्रक्रिया है। साधारणतया स्कूल, कालेज एवं विश्वविद्यालय की कक्षाओं को ही शिक्षा का साधन माना जाता रहा है। परंतु कक्षाओं में जो शिक्षा दी जाती है, वह बहुत ही परिमित एवं औपचारिक है। कक्षाओं की शिक्षा आयु, देश-काल एवं विभिन्न स्तरों की सीमाओं में बंधी है। यह शिक्षा हर आयु के व्यक्ति को हर स्थान पर, हर समय नहीं प्राप्त हो सकती। अतः कक्षाओं की सीमित शिक्षा समग्र शिक्षा का एक अंश मात्र है। ज्ञान की अपार राशि ग्रंथालयों में संग्रहीत है। वहां आयु-देश-काल की सीमा नगण्य के बराबर है। कक्षाओं में दी गई शिक्षा को ठीक परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए ग्रन्थालयों में वांछित विषय के ज्ञान का सर्वेक्षण करना होता है। कहना न होगा कि ग्रन्थालय में भंडारित ग्रन्थ-राशि में समाहित ज्ञान निर्जीव है। दूसरी ओर पाठकगण वांछित ज्ञान पाने के लिए सतत प्रयत्नशील हैं—परन्तु उन्हें उस ग्रन्थ राशि से उनकी अभीसिप्त सामग्री पाने के लिए ऐसी वैयक्तिक सहायता दरकार है जो पाठक को अभीप्सित सामग्री से मिला दे। दूसरे शब्दों में ग्रन्थालयों में भंडारित ग्रन्थ-राशि में प्राण-प्रतिष्ठाकर उसको पाठकों से मिला दे। यह काम ग्रन्थालय-कर्मी करते हैं। इस पेचीदा कार्य को सरअंजाम देने के लिए ग्रन्थालय-कर्मियों को पहले तो अपने ग्रन्थालय को जानना होता है। दूसरे अपने पाठकों एवं उनकी आवश्यकताओं को जानना होता है। तब कहीं तीसरी



सयाजीराव गायकवाड़ ग्रन्थालय



विश्वविद्यालय का सिंह द्वार

प्रक्रिया पुस्तक से पाठक से मिलन की सम्पन्न होती है। इस प्रकार ग्रन्थालय-कर्मी केवल पाठकों का ही नहीं, ग्रन्थों का भी पथ-निर्देश करते हैं। निर्जीव ग्रन्थों में प्राण-प्रतिष्ठा करके उन्हें खोज रहे पाठकों से मिलाने में ग्रन्थालय कर्मियों की कुशलता ही व्यांवसायिक विशेषज्ञता की जननी है। वहीं उन्हें पथ प्रदर्शक का दर्जा प्रदान करती है। कहना न होगा कि ग्रन्थालय-कर्मी पथदर्शन का यह कार्य छात्रों, शोधार्थियों एवं अध्यापकों को समान रूप से करते हैं। इस प्रकार ग्रन्थालय में विश्वविद्यालय का मूर्तरूप प्रत्यक्ष होता है जो गणतंत्रात्मक भावना का सच्चा प्रतीक है।

संग्रह

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ग्रन्थालय तंत्र भारत का वृहत्तम विश्वविद्यालय ग्रन्थालय तंत्र है। इसकी समृद्धि में देश के मुख्य गण्यमान व्यक्तियों ने योगदान दिया है। मोतीलाल नेहरू, भगवान दास, लाला श्रीराम, गोयनका एवं अन्य विद्वानों ने अपने-अपने पुस्तक संकलन इस ग्रंथालय को दान देकर, इसके संग्रह को बढ़ाया। इस समय इसमें ६,५०,००० से ऊपर पुस्तकें हैं। इस बृहत् संग्रह में सभी भारतीय भाषाओं एवं कुछ विदेशी भाषाओं के अमूल्य ग्रन्थ रत्न हैं। क्योंकि कतिपय विद्वानों ने अपने जीवन भर के संग्रहीत संकलन यहां दान दे दिए हैं, इनमें वहुत से अलभ्य एवं दुर्लभ ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं। इन ग्रन्थों की विषय-व्यापकता इतनी विस्तीर्ण है कि ज्ञान क्षेत्र के किसी भी पहलू पर यहां प्रचुर मात्रा में सामग्री मिल जाती है। यही कारण है कि यहां देश भर के ही नहीं, अपितु विदेश के भी विश्वविद्यालयों से शोधार्थी आते रहते हैं।

पाण्डुलिपियाँ

यहां पाण्डुलिपियों का भी एक अच्छा संग्रह है। लगभग १०,००० पाण्डुलिपियां हैं। इन पाण्डुलिपियों की मुख्य भाषा संस्कृत है। इसके अलावा फारसी, अरबी, उर्दू, हिन्दी व बंगला भाषा की पाण्डुलिपियां भी यहां हैं। संस्कृत की वहुत सी पाण्डुलिपियां शारदा लिपि अथवा ग्रन्थ लिपि में हैं। इनमें से कई पाण्डुलिपियां अन्यत्र दुर्लभ हैं। यहां तिब्बती पवित्र ग्रन्थ तन्जूर-खंजूर का पूरा सेट विद्यमान है। इसकी फोटो कापी का भी एक पूरा सेट संरक्षित है।

दुर्लभ ग्रन्थ विभाग

यह ग्रन्थालय पुराना है। इसे कई मनीषियों ने अपने जीवन भर के संकलन दान कर दिये हैं। अतः दुर्लभ ग्रन्थों की संख्या पर्याप्त है। ऐसे सद्ग्रन्थों को अलग से सावधानी से सजा कर रखा गया है। इस कक्ष तथा पाण्डुलिपि कक्ष को वातानुकूलित होना चाहिए। आशा है नए भवन में ऐसा हो पाएगा। साथ ही विश्वविद्यालय के शोध प्रवन्ध भी सन्दर्भार्थ उपलब्ध कराये जाते हैं। वहुत से शोधार्थी इस संग्रह का उपयोग करते हैं।

पत्र-पत्रिकाएँ

इस ग्रन्थालय में सामयिक पत्र-पत्रिकाओं का विशाल संग्रह है। इन सामयिकों के पूरे सेट यहां विद्यमान हैं। इनमें से कई ऐसे सेट हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। स्वतंत्रतापूर्व के कई सामयिकों के सेट शोध कर्ताओं के लिए बहुत सहायक सिद्ध होते हैं। कई पुराने पत्र-

पत्रिकाओं की माइक्रोफिल्में मंगाई जा रही हैं। इन सामयिकों के लिए अन्यत्र के शोधार्थियों से भी तद्तद् ग्रन्थालयों के माध्यम से प्रार्थना आती रहती हैं।

इसके अतिरिक्त लगभग २,५०० सामयिक चन्दे पर नियमित रूप से आते रहते हैं। साथ ही बहुत से सामयिक विनिमय व्यवस्था के अन्तर्गत भी आते हैं। इनमें से बहुत से सामयिक उपहार स्वरूप भी आते हैं। इन सामयिकों में सारे विषय सम्मिलित हैं। इनमें से कई विदेशी सामयिक हवाई डाक से आते हैं। कई सामयिक विभिन्न विदेशी भाषाओं के हैं। इस प्रकार यह सामयिक संग्रह अतीत से लेकर अद्यतन ज्ञान की अजस्र धारा को दर्शाता है।

समाचार पत्र कटिंग

यहां १९२७ से १९६१ तक के कुछ प्रमुख समाचारत्रों की कटिंग रजिस्टरों में चिपकी है। इन कटिंगों की निर्देशी है। शोधार्थियों को ये कटिंग कई बार उस समय पूर्ण सूचना देती हैं जब कहीं भी सामग्री नहीं मिलती। ये कटिंग इस तैंतीस वर्ष की अवधि के लिए दर्पण के समान हैं। इनमें भारत की उन दिनों की तस्वीर प्रत्यक्ष सी लगती है।

माइक्रोफिल्म संग्रह

देश-विदेश के दुर्लभ ग्रन्थों एवं समाचार पत्रों के महत्त्वपूर्ण माइक्रोफिल्म सेटों का संग्रहण किया जा रहा है। अभी लीडर १९०९ से १९५०, नेशनल हेराल्ड १९३८–६०, अमृत बाजार पत्रिका १९०५–४० एवं हिन्दुस्तान टाइम्स १९२८–६५ के माइक्रोफिल्म इस संग्रह की प्रमुख निधि है। जीर्ण-शीर्ण पाण्डुलिपियों एवं दुर्लभ ग्रन्थों को भी माइक्रोफिल्म किया जा रहा है।

संघ सूचियाँ

इस ग्रन्थालय में अमरीकी नेशनल केटलाग, एवं ब्रिटिश म्यूजियम केटलाग संग्रहीत हैं। लायब्रेरी आफ कांग्रेस का केटलाग भी है। नेशनल लायब्रेरी कलकत्ता की सूची भी प्राप्य है। इस प्रकार किसी भी पुस्तक की सूच्यात्मक सूचना यहां से प्राप्त हो सकती है।

अपने विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों एवं संस्थानों में प्राप्त पुस्तकों की संघ-सूची निर्माणाधीन है। इससे विश्वविद्यालय के किसी भी विभाग में प्राप्य पुस्तक का पता चल सकेगा।

पुस्तकों एवं पाण्डुलिपियों का संरक्षण

पुस्तकों एवं पाण्डुलिपियों का कागज जीर्ण-शीर्ण होता रहता है। तरह-तरह के कीट, व मौसम कागज पर अपना खराब असर डालते रहते हैं। अतः दुर्लभ ग्रन्थों के संरक्षण के लिए विशेष प्रयत्न करने होते हैं। अद्यतन पुस्तक संरक्षण विधियों का प्रशिक्षण लेने के लिए स्टाफ को बाहर भेजा जाता है। कुछ ही दिनों में ग्रन्थ संग्रह संरक्षण अनुभाग सुचारु रूप से कार्य करने लगेगा।

पाठ्यपुस्तक कक्ष

छात्रों के पाठ्यक्रम की पुस्तकों पर पूरा ध्यान दिया जाता है। उनके सारे पाठ्यक्रम में निर्धारित व सहायक पुस्तकों का संग्रहण निरन्तर किया जाता है। पाठ्य पुस्तक कक्ष हर

समय इन पुस्तकों को उपलब्ध कराता है। किसी भी छात्र को पाठ्यक्रम अथवा सहायक पुस्तकों के अभाव के कारण अध्ययन में व्यवधान न पड़े, इस बात का सदैव ध्यान रखा जाता है। किसी पाठ्य पुस्तक का अभाव ज्ञात होते ही उसकी पूर्ति की जाती है। पाठ्य पुस्तकों के नवीनतम संस्करणों को खरीदकर इस कक्ष को अद्युनातम रखा जाता है। इस कक्ष की पुस्तकों का उपयोग परिचय-पत्र दिखा कर करने दिया जाता है।

उपयोक्ता

इस ग्रन्थालय के १५,००० से ऊपर सदस्य हैं। उन्हें प्रतिदिन १००० से ऊपर पुस्तकें निर्गत की जाती हैं। इनमें विश्वविद्यालय के छात्र, अध्यापक एवं अन्य कर्मचारी हैं। अवकाश प्राप्त कर्मचारीगण, यहां के स्नातक एवं बहुत से अन्य विद्यार्थी भी यहां के सदस्य हैं। ग्रन्थालय का उपयोग यहां के सदस्यों के अतिरिक्त विभिन्न विश्वविद्यालयों के शोधार्थी भी करते हैं। उनके शोध कार्य में भी यहां यथाशक्ति योगदान दिया जाता है।

शोध कक्ष

शोधार्थियों की आवश्यकताएँ स्नातकों से अलग प्रकार की होती हैं। इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए शोधार्थियों के लिए अलग से चार शोध कक्ष रखे हैं। इन कक्षों में शोधार्थियों के अध्ययन में किसी प्रकार की बाधा न पड़े, इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है। इनमें से एक कक्ष शोध छात्राओं के लिए है। दो कक्ष शोध छात्रों के लिए है। चौथा शोध कक्ष अध्यापकों के लिए है। इन कक्षों में अपने-अपने स्थान पर शोधार्थी अपने अपने संदर्भ के ग्रन्थ एकत्रित कर लेते हैं। इन ग्रन्थों को प्रायः यहां से इधर-उधर नहीं किया जाता। इस तरह शोधार्थी लम्बे अर्से तक इनका लाभ उठा सकते हैं।

सन्दर्भ विभाग

उपयोक्ताओं की सेवा एवं सहायता के लिए सन्दर्भ कार्य में प्रशिक्षित कार्यकर्तागण हर समय तत्पर रहते हैं। नए छात्रों एवं उपयोक्ताओं को ग्रन्थालय का उपयोग करने के लिए सभी सेवाओं से अवगत कराया जाता है। छोटे-छोटे समूहों में ये छात्र आते हैं। उन्हें ग्रन्थालय से लाभान्वित होने के लिए दिशा निर्देश दिये जाते हैं। जो सामग्री या पुस्तक तत्काल प्राप्त नहीं होती है, उसके लिए आरक्षण-पत्रक भर कर उसके मिलने पर उपयोक्ताओं को डाक द्वारा सूचित किया जाता है कि अमुक पुस्तक आपके लिए अमुक तारीख तक आरक्षित रहेगी।

अन्तर-ग्रन्थालय उद्धार

शोधार्थियों के लिए देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों से वांछित पुस्तकें मंगाई जाती हैं। शोधार्थी जब अपना काम खत्म कर लेते हैं ये पुस्तकें वापस कर दी जाती हैं। इन पुस्तकों के आने-जाने का डाक-खर्च ग्रन्थालय वहन करता है। शोधार्थी को एतदर्थ एक प्रपत्र भर कर उस पर गाइड की सिफारिश करवानी होती है। शेष सारा कार्य ग्रन्थालय करता है। बहुत से शोधार्थी एवं अध्यापकगण इस सुविधा का लाभ उठाते हैं। इस प्रकार हमारे शोधार्थियों एवं अध्यापकों को देश भर के ग्रन्थालयों की उपलब्ध ग्रन्थराशि अपनी शोध के लिए प्राप्त हो जाती है।

संयुक्त राष्ट्र एवं सरकारी प्रकाशन विभाग

यह ग्रन्थालय संयुक्त राष्ट्र संघ का डिपाजिटरी ग्रन्थालय है। एतदर्थ संयुक्त राष्ट्र

संघ के प्रकाशन यहां संग्रहीत हैं। इन प्रकाशनों का संग्रह बहुत बड़ा है। इसी प्रकार भारत एवं उतर प्रदेश सरकारों के प्रकाशन भी यहां आते हैं। यह कक्ष शोधार्थियों को आधारभूत सामग्री जुटाता है।

प्रतिकरण विभाग

पुराने ग्रन्थों अथवा सामयिकों के अभीप्सित अंशों के प्रतिकरण की सुचारु व्यवस्था है। हमारे इस विभाग में माइक्रोफिल्मिग व फोटो प्रतिकरण कार्य होता है। यहां माइक्रो-फिल्म पढ़ने के दो रीडर भी हैं। इस प्रकार यह विभाग बहुत कम शुल्क पर शोधार्थियों को दुर्लभ सामग्री की प्रतिलिपि यहां देकर उनकी सहायता करता है।

विभागीय ग्रन्थालय

विश्वविद्यालय विस्तृत क्षेत्र में है। अतः विभिन्न विभागों एवं संकायों के सुविधार्थ यहां भी विभागीय ग्रन्थालय हैं। परिसर में विभिन्न आकार प्रकार के ४० से ऊपर ग्रन्थालय हैं। इनमे से चिकित्सा विज्ञान, प्रौद्योगिकी, विधि, महिला महाविद्यालय के ग्रन्थालय प्रमुख हैं। कुछ अन्य विभागों के ग्रन्थालय भी सामग्री-संग्रह के लिहाज से काफी बड़े हैं। अन्यत्र अधिकतर विभागों में भी पुस्तक संग्रह एकत्र हैं। परन्तु स्थानाभाव एवं कर्मचारियों के अभाव में उन ग्रन्थालयों का पूरा उपयोग नहीं हो पाता। इन सब ग्रन्थालयों को एक शृंखला में लाकर इनको सेवाओं को अधिक उपयोगी बनाने का प्रयास किया जा रहा है।

प्रज्ञाचक्षुओं की सेवाएं

अपने प्रज्ञाचक्षु छात्रों को ग्रन्थालय सेवा से लाभान्वित करने के लिए ब्रेल पुस्तकों एवं टेप रिकार्ड पर पुस्तकों की व्यवस्था की गई है। ग्रन्थालय इन छात्रों के सहायतार्थ इनके लिए पुस्तकों के पठन की भी व्यवस्था करता है। इनके लिए दूसरों से अधिक पुस्तकें दी जाती हैं। इन सुविधाओं के अतिरिक्त भी इनकी सहायता का हर समय विशेष ध्यान रखा जाता है।

प्रौढ़ शिक्षा

ग्रन्थालय का मुख्य कार्य है ज्ञान का प्रसार। इसके लिए पढ़ना-लिखना अनिवार्य है। इसी बात को ध्यान में रखकर ग्रन्थालय में प्रौढ़ शिक्षा का प्रवन्ध किया गया है। ग्रन्थालय की प्रौढ़ शिक्षा की कक्षाएं सायं ४–३० से लगती हैं। हिन्दी, अंग्रेजी व संस्कृत के पढ़ाने के लिए पृथक्-पृथक् प्रवन्ध है। इन कक्षाओं में आकर प्रौढ़गण ज्ञानार्जन करते हैं। ग्रन्थालय की ओर से इन्हें निःशुल्क पुस्तकें दी जाती हैं।

यूनेस्को क्लब

ज्ञान स्वयं में सीमाहीन है। आज के समय में भौगोलिक दूरी निरन्तर घटती जा रही है। इस भौगोलिक दूरी के घटने के साथ-साथ मानसिक दूरी भी सतत घटती रहे और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की युक्ति चरितार्थ हो, इसके लिए ग्रन्थालय में यूनेस्को क्लब की स्थापना

की गई है। यह क्लब मानवीय एकता एवं सौहार्द्र बढ़ाने के लिए नित्य प्रयत्नशील रहता है। सारा संसार एक परिवार है, इस भावना को चरितार्थ करने के लिए इस क्लब की ओर से 'विश्व एक परिवार व्याख्यानमाला' चल रही है। इसमें हर विषय के विद्वान् 'विश्व एक परिवार' के आदर्श को समीप लाने के लिए भाषण देते हैं।

इस व्याख्यानमाला का श्रीगणेश श्री गिरजा कुमार, ग्रन्थालयी जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के भाषण से हुआ। प्रमुख व्याख्याताओं में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त प्रो० एम० एस० कानूनगो, प्रो० के० एन० उडुपा, प्रो० वी० वी० नार्लीकर, प्रो० अलैक्स वेमेन, प्रो० जीन० ए० कारपैन्ती, एवं प्रो० एस० एस० वार्लिगें हैं।

हर वर्ष मानवाधिकार दिवस पर एक वाद-विवाद प्रतियोगिता आयोजित की जाती है। यह वाद-विवाद प्रतियोगिता नित्य जनप्रिय होती जा रही है। यह प्रतियोगिता अपने तीन सफल वर्ष बिता चुकी है। इसमें सारे देश के विश्वविद्यालयों के छात्र आकर अपनी-अपनी वक्तृत्व कला का परिचय देते हैं। विजेता विश्वविद्यालय को चल वैजयन्ती दी जाती है। व्यक्तिगत पुरस्कार तीन होते हैं। प्रथम पुरस्कार ३०० रु०, द्वितीय पुरस्कार १५० रु० व तृतीय पुरस्कार ५० रु० का। विजेताओं को उपर्युक्त राशियों के उत्कृष्ट ग्रन्थ भेंट किए जाते हैं।

कैण्टीन

पाठकों को पढ़ने में थकान होने पर स्वल्पाहार की दरकार होती है। इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए ग्रन्थालय के कर्मचारियों के अंशदान से एक सहकारी कैण्टीन भी चल रही है। यह कैण्टीन अपनी सेवा के पांच सफल वर्ष पूरे कर चुकी है। इसमें लाभ उद्देश्य न होकर के सात्विक सेवा भाव ही प्रधान है। यह सेवा भावना ही इसकी सफलता का राज है। आस-पास के कालेजों के छात्र, अध्यापक व कर्मचारी यहां आकर इस कैण्टीन को गौरवान्वित करते हैं।

कल्याण कोष

ग्रन्थालय के कर्मचारियों को आवश्यकता पड़ने पर उनकी सहायतार्थ एक कल्याण कोष है। इसमें ग्रन्थालय कर्मचारी अपना-अपना योगदान देते हैं। यह स्वयं-सहायता का एक अच्छा उदाहरण है। कर्मचारीगण इस कल्याण कोष से आवश्यकतानुसार, जब-तब लाभ उठाते रहते हैं।

बौद्धिक विकास

यह ध्यान रखा जाता है कि कर्मचारियों का नित्य बौद्धिक एवं व्यवसायिक विकास हो। इसके लिए उन्हें पढ़ने को प्रोत्साहन दिया जाता है एवं प्रशिक्षार्थ भेजा जाता है। बाहर के ग्रन्थालयों की कार्य विधि निरीक्षणार्थ भी समय-समय पर कर्मचारियों को भेजा जाता है। समय-समय पर मुख्य समस्याओं पर आपस में चर्चा एवं विचार-विमर्श भी होता रहता है।

बहुमुखी प्रगति

पिछले पचास वर्षों में विश्वविद्यालय निरन्तर बढ़ता रहा है। छात्र बढ़ते रहे हैं, अध्यापक एवं विभाग बढ़ते रहे हैं। विश्वविद्यालय के इन अवयवों के विकास के अनुपात में ग्रन्थालय में नगण्य वृद्धि हुई है। अब विश्वविद्यालय प्रशासन ने इस कमी को पहचान लिया है। ग्रन्थालय के लिए नये भवन के निर्माण एवं इसके सर्वांगीण विकास के लिए कदम उठाए जा रहे हैं। नये भवन में स्नातकोत्तर व शोध विभाग चले जायेंगे। स्नातक कक्षाओं की सेवाओं का प्रबन्ध यहीं से होगा। इस प्रकार विश्वविद्यालय की ग्रन्थालय सेवा में एकता एवं समानरूपता लाकर इस ग्रन्थालय तंत्र को इस विश्वविद्यालय के अनुरूप बनाया जा सकेगा।

पुस्तकालयाध्यक्ष
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सरसुन्दरलाल चिकित्सालय

राम आधारलाल

"जो चिकित्सा में न तो लाभ के लिये और न तो इन्द्रियों के सुख के लिये बल्कि सर्वभूतदया से लगे हुए हैं वे सबसे उच्च हैं।"

चरक चिकित्सा

संक्षिप्त इतिहास

विश्वविद्यालय चिकित्सालय का शिलान्यास काशी नरेश सर प्रभु नारायण सिंह ने १९ जनवरी सन् १९२४ को किया था। विश्वविद्यालय के प्रथम उप-कुलपति की स्मृति में इसका नाम सरसुन्दरलाल चिकित्सालय रखा गया। इसमें अंतरंग रोगियों के लिए १०० शैय्याओं तथा वहिरंग विभाग में लगभग ३०० मरीजों के उपचार एवं १५०० मरीजों की प्रतिवर्ष शल्य क्रिया की व्यवस्था थी।

चिकित्सालय का वास्तविक विकास १९६० में मेडिकल कालेज की स्थापना के साथ ही हुआ। भारतीय चिकित्सा परिषद ने १९६४ में सर सुन्दरलाल चिकित्सालय को शैक्षणिक चिकित्सालय की मान्यता प्रदान की। चिकित्सालय भवन का निर्माण इस प्रकार हुआ कि आधुनिक एवं साथ ही साथ आयुर्वेदिक मेडिसिन के विद्यार्थियों की भी प्रशिक्षण संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहे। शनैः-शनैः शैय्या की संख्या ७०० पहुँच गई। चिकित्सालय में कई नये ब्लाक बनें एवं प्राचीन वहिरंग विभाग ने १९७५ से कार्य आरम्भ किया। नवीन ५५० शैय्या वाला भव्य चिकित्सालय लगभग तैयार हो चुका है। विश्वास है इसके उपयोग के पश्चात् अंतरंग रोगियों की चिकित्सा व्यवस्था एवं देखभाल में पर्याप्त सुधार संभव हो जाएगा।

भवन

शुरू में केवल १०० शैय्या का एक ही भवन था। प्राचीन चिकित्सालय के कई विस्तार हुए और शनैः शनैः ७०० शैय्या हो गई। निम्नलिखित नवीन भवनों का निर्माण हुआ।

१. नवीन मेडिकल वार्ड (२४ शैय्या वाला) १९६१–६२

२. ट्राउमेटिक सर्जरी ब्लाक १९६२

३. क्लिनीकल ब्लाक १९६३–६४

४. नेत्र चिकित्सालय १९६४

५. बाल चिकित्सालय १९६५

६. मैटर्नीटी वार्ड का विस्तार १९६६

७. ट्राउमेटिक वार्ड का विस्तार १९६७

८. आइसोलेशन वार्ड १९६७

९. रेडियोथैरापी एवं विकिरण केन्द्र १९६८

१०. स्पेशल वार्ड का विस्तार १९७५

पूर्व में चिकित्सालय को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, स्वास्थ्य मंत्रालय एवं उत्तर प्रदेश सरकार से आर्थिक सहायता मिलती थी, चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत चिकित्सालय की देख भाल का भार भारत सरकार ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के माध्यम से अपने ऊपर ले लिया। इस निमित्त २ करोड़ रुपये स्वीकृत हुए जिसमें—

१. नवीन चिकित्सालय भवन का निर्माण,

२. नवीन बहिरंग विभाग का निर्माण,

३. डाक्टरों एवं रेसीडेन्ट्स के लिए छात्रावास,

४. उपकरणों का क्रय भी सम्मिलित हैं।

इस नवीन योजना के अन्तर्गत बहिरंग विभाग बन कर पूर्ण हो चुका है और अक्टूबर १९७५ से उसका उपयोग किया जा रहा है। इस प्रकार प्राचीन भवन में जो संकीर्णता थी वह समाप्त हो गई है। ५५० शैय्या वाला चिकित्सालय (छः मंजिलाभवन) प्रायः बनकर तैयार है और आशा है कि चालू सत्र के अन्त तक यह कार्य करने लगेगा। बहिरंग विभाग एवं नवीन चिकित्सालय भवन को जोड़ने वाले सर्विस ब्लाक का भी निर्माण हो रहा है। इन सारे निर्माण की पूर्णता के साथ ही रोगयों की सुख-सुविधा की असीमित वृद्धि संभव हो पाएगी।

निम्नलिखित यूनिट एवं विशेष सेवाएँ चिकित्सालय का अंग है—

१. सेन्ट्रल स्टेरीलाइजेशन सप्लाई विभाग.

२. केन्द्रीय गैस एवं आक्सीजन पूर्ति यूनिट

३. चिकित्सालय मारचुअरी एवं इंसीनरेटर

४. रसोई घर

५. लान्ड्री

६. इन्टेन्सिव केयर यूनिट

७. कोरोनरी केयर यूनिट

८. वार्ड लेबोरेटरीज

९. चिकित्सालय फार्मेसी

१०. कैजुअल्टी यूनिट

११. कैनवलसेन्स वार्ड

कर्मचारीगण

चिकित्सालय प्रशासन, मेडिकल सुपरिन्टेन्डेन्ट के अधीन हैं। मेजर जनरल प्रो० एल० के० अनन्तनारायगन् मेडिकल अधीक्षक के योग्य प्रशासन में चिकित्सालय बहुत द्रुत गति

से आगे बढ़ रहा है। दो मेडिकल उप-अधीक्षक, सभी विभागाध्यक्ष तथा अनेक चिकित्सा अधिकारियों की सेवाएँ मेडिकल अधीक्षक के सहायतार्थ उपलब्ध हैं। एक समिति जिसमें अधीक्षक, दो उप-अधीक्षक एवं विभिन्न कक्षों के प्रशासनाध्यक्ष सम्मिलित हैं जिनके ऊपर चिकित्सालय प्रशासन संबंधी समस्त निर्णय लेने का भार है।

प्रशासन संबंधी मामलों में मेडिकल सुपरिन्टेन्डेन्ट को प्रशासनिक अधिकारी की सेवाएँ उपलब्ध हैं। ७०० चिकित्सालय कर्मचारियों के स्थापन संबंधी कार्यों के वे प्रशासनाध्यक्ष भी हैं। नर्सिंग की देखभाल मैट्रन करती हैं।

सांख्यिकी

अंतरंग एवं बहिरंग विभाग के मरीजों का विवरण चिकित्सालय का मेडिकल रेकार्ड सेक्शन रखता है। विभिन्न वहिरंग विभागों में १९७५ में ४,२९,३३० मरीजों की चिकित्सा हुई। इनमें से अनुमानतः $\frac{१}{३}$ स्त्रियाँ थीं। गत वर्ष चिकित्सालय में १६१८ बच्चे पैदा हुए। १९७५ में अंतरंग विभाग में १६४०५ मरीज भर्ती हुए जिनमें से १३१९ मरीजों की मृत्यु हुई। मरीजों के दिनों की संख्या २,३४,८८७ थी एवं चिकित्सालय में औसत ठहरने के १४.३१ दिन थे।

पुस्तकालयाध्यक्ष
चिकित्सा विज्ञान संस्थान
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भारत कला भवन-एक परिचय

सुरेन्द्र कुमार

भारतीय संग्रहालयों का इतिहास यद्यपि एक शताब्दी पुराना है किन्तु स्वतंत्रता से पूर्व संग्रहालयों ने शिक्षा के प्रचार में बहुत ही नगण्य भूमिका निभाई है। १९वीं शताब्दी में तो भारतीय संग्रहालयों की स्थिति कीमती गोदामों से अधिक न थी जिनमें नाना प्रकार की पुरातात्विक एवं प्रकृति विज्ञान की वस्तुओं का संग्रह किया जाता था। इन सामग्रियों के संग्रह करने में संग्रहालयों को न तो अधिक श्रम करना पड़ता था और न प्रदर्शन को अधिक प्रभावकारी बनाने के हेतु वैज्ञानिक विधियों का ही उपयोग किया जाता था। अधिकतर इन संग्रहालयों में पुरातत्व सम्बन्धी वस्तुयें संग्रहीत थीं जो मुख्य रूप से सरकारी पुरातत्व विभाग से प्राप्त की जाती थी। उस समय संग्रहालयों में चित्र, वसन तथा अन्य साज-सज्जा की वस्तुओं को शायद ही कभी स्थान दिया जाता था। यह अपने आपमें एक बड़ी कमी थी जिसको दूर करने की श्री राय कृष्णदास जी की हार्दिक इच्छा थी। संयोग से सन् १९१० में भारतीय कला इतिहास के मूर्धन्य विद्वान डा० आनन्द कुमार स्वामी ने प्रयाग में भारतीय चित्रों की प्रदर्शनी का आयोजन किया। राय साहब प्रदर्शनी से इतना अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने कला वस्तुओं को संग्रह करने का निश्चय किया। परन्तु इस समय अर्थाभाव एवं अन्य कठिनाइयों के कारण यह संग्रह बहुत मंथर गति से आगे बढ़ा। फिर भी उसकी प्रगति में बाधा नहीं पड़ी और जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया वैसे-वैसे राय साहब का प्रेम कला वस्तुओं के प्रति गाढ़ा होता गया और संग्रह की अभिवृद्धि होती गई।

इस संग्रह की पृष्ठभूमि में राय कृष्ण दास जी का एक मात्र उद्देश्य था कि उक्त संग्रह राष्ट्रीय सम्पत्ति का रूप धारण करे। इसी भावना से प्रेरित होकर आज से ५८ वर्ष पूर्व राष्ट्र की कला चेतना को उद्बुद्ध करने एवं कला के संरक्षण, प्रदर्शन, रसास्वादन, अध्ययन और और प्रचार के ध्येय को सामने रखकर उन्होंने अपने अथक प्रयास से भारत कला भवन काशी की स्थापना भारत कला परिषद के नाम से १ जनवरी १९२० को की। कवीन्द्र रवीन्द्र नाथ टैगोर और विख्यात कलागुरू आचार्य अवनीन्द्र नाथ टैगोर क्रमशः इसके सभापति और उपसभापति हुए। प्रारम्भिक वर्षों में संग्रहालय के साथ-साथ कला भवन में संगीत विभाग भी था, जिसमें संगीत शिक्षण, प्राचीन स्वर लिपियों के संग्रह और प्रकाशन का कार्य होता था। साथ ही, एक चित्र-शिक्षालय भी संचालित किया गया किन्तु, आगे चलकर गुरु रवीन्द्र नाथ के परामर्श पर कला भवन ने अपनी सारी शक्ति संग्रहालय की अभिवृद्धि में केन्द्रित कर दी और शेष विभाग बन्द कर दिए गए। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने यहां के संग्रह को तीन-तीन बार प्रेक्षण करके संग्रहालय को जो गौरव प्रदान किया है वह सम्भवतः कम ही संग्रहालयों को प्राप्त होगा। सुभाष चन्द्र बोस तथा अन्य कई नेताओं ने भी इस संग्रह की सराहना की है। सन् १९२९ में

गांधी जी ने 'यंग इन्डिया' में कला भवन की अपील के लिए स्थान दिया था और टिप्पणी भी लिखी थी।

यद्यपि कला भवन के संग्रह की सराहना चारो ओर हो रही थी किन्तु उसकी कठिनाईयां अभी तक दूर नहीं हो सकी थीं। आरम्भ में कला भवन एक किराए के मकान में था जहाँ पर स्थान का अभाव सदैव खलता था। इस अभाव को दूर करने की दृष्टि से सन् १९२९ में कला भवन काशी नागरी प्रचारिणी सभा में प्रदर्शित कर दिया गया। यद्यपि कला भवन की गतिविधि सभा में आकर काफी बढ़ गई, परन्तु आर्थिक समस्या और भी जटिल हो गई और ऐसा प्रतीत होने लगा कि शायद कला भवन की इति श्री हो जाय। किन्तु राय साहब के धैर्य से कला भवन ने उन कठिन क्षणों को पार कर लिया।

१९५० ई० में (स्व०) श्री ज्योतिभूषण गुप्त ने राय साहब को कला भवन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में ले चलने की सलाह दी जहां पर संग्रहालय अपने कार्य कलापों को सुचारु रूप से चलाकर समाज के एक विस्तृत भाग की आवश्यकता पूर्ति क र सकता था। इसी वर्ष आषाढ़ मास में रथयात्रा के दिन (स्व०) पं० जवाहर लाल जी नेहरू के कर-कमलों द्वारा वर्तमान संग्रहालय भवन की आधारशिला रखी गई और उन्हीं के द्वारा सन् १९६२ में भवन का उद्घाटन भी हुआ। तव से भारत कला भवन काशी हिंन्दू विश्वविद्यालय का एक अभिन्न अंग वन गया। आरम्भ में यह विश्वविद्यालय के मालवीय भवन मे स्थित था परन्तु शीघ्र ही विश्वविद्यालय के अधिकारियों की कृपा से वर्तमान भवन का बीच वाला भाग तैयार हो गया। कुछ दिनों पश्चात् सांस्कृतिक विभाग मंत्रालय एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की कृपा से इसका पार्श्व भाग भी वन कर तैयार हो गया। वाद में आल इंडिया हैन्डी क्राफ्ट वोर्ड के अनुदान से दो कक्ष ऊपर की मंजिल में भी तैयार कर दिय गए। इसका अर्थ यह नहीं है कि कला भवन में स्थान की समस्या का अन्त हो गया। अभी भी सम्पूर्ण सामग्री को ठीक से प्रदर्शित और उन्हें रखन के लिए समुचित कक्षों और गोदाम की आवश्यकता है।

आज के युग में संग्रहालय की उपादेयता इस वात म निहित है कि वह समाज के विभिन्न वर्गों को कितना अधिक शिक्षित कर पाता है। राय साहब ने इस दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर प्रारम्भ से ही कला भवन के हेतु ऐसे विषयों से सम्बन्धित सामग्री का संकलन किया जिससे समाज के सभी स्तर के लोग प्राचीन तथा अर्वाचीन भारतीय कला, इतिहास एवं संस्कृति के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकें। इस आदर्श को सामने रखकर उन्होंने चित्र, मुद्रा, पुरातत्व, प्रागैतिहासिक सामग्री, साहित्य, वसन, व्यवहारिक कला, अस्त्र-शस्त्र आदि से सम्बन्धित अनेक वस्तुओं का संग्रह किया जो इतिहास और सौन्दर्य की दृष्टि से बेजोड़ है।

भारत कला भवन का चित्रकला विभाग विश्व प्रसिद्ध है जिसमें भारत में प्रचलित प्रायः सभी शैलियों के चित्रों का संकलन किया गया है। बंगाल के पाल राजाओं के समय में तालपत्रों पर बने चित्र तथा पश्चिम भारत के जैन धर्म सम्बन्धी चित्र तो अत्यन्त प्राचीन और दुर्लभ हैं। मुगल कालीन चित्रों का भी यहां पर सुन्दर संग्रह है जिसमें हम्ज़ानामा

और अनवार-ए-सुहेली के चित्र अत्यन्त महत्व पूर्ण हैं। जहांगीर काल के उल्लेखनीय चित्रों में सन्त शेख फूल और प्रभु ईसा के चित्रों की कलम बहुत ही बारीक और अनुपम है। इसी प्रकार शाहजहां कालीन चित्रों में 'शाही दरबार' और 'मुलाकात' चित्र अपने समय के बहुत ही बहुमूल्य उदाहरण हैं।

राजस्थानी चित्रों का संग्रह भी बहुत विशिष्ट है। राजस्थान में बुंदी, कोटा, जयपुर मेवाड़, किशनगढ़, बीकानेर, नाथद्वारा आदि कई ऐसे केन्द्र थे जहां पर चित्रों का निर्माण किया जाता था। यहां के चित्रों का मुख्य विषय कृष्ण लीला है। १८वीं शती के उत्तरार्द्ध में जब मुगल साम्राज्य की नींव खोखली हो चली थी तब कलाकारों ने पहाड़ी रियासतों में आश्रय लिया और वहां पर एक नई शैली का जन्म हुआ जो पहाड़ी शैली के नाम से प्रसिद्ध है। कला भवन में इस शैली के कई-बेजोड़ चित्र संग्रहीत हैं।

इन सब शैलियों के अतिरिक्त यहां पर कम्पनी शैली के चित्र तथा लगभग सभी प्रमुख आधुनिक कलाकारों की कृतियां भी सुरक्षित है।

अत्यन्त विकसित होते हुए भी मुद्रा विभाग अपूर्ण है। भारत के प्राचीनतम आहत सिक्कों का यहां अच्छा संग्रह है। यहां के गुप्तकालीन सोने के सिक्के काफी प्रमुख हैं। मुगल कालीन ताम्र और रजत मुद्राओं का भी यहां अच्छा संग्रह है। इनमें अकबर का राम सीता की मूर्ति वाला चांदी का सिक्का संसार में अद्वितीय है। जहांगीर की शबीह तथा राशि वाले सिक्के भी बड़े दुर्लभ और सुन्दर हैं। इस विभाग के पूरक रूप भारतीय डाक टिकटों का संग्रह भी यहां किया जाता है।

यद्यपि पुरातत्व संग्रह चित्र और मुद्रा विभाग की भांति विशाल नहीं है किन्तु यहां पर उक्त विषयक जो सामग्री एकत्र की गई है वह उच्च कोटि की है और विभिन्न युगों की तक्षण कला पर सुन्दर प्रकाश डालती है। मौर्य कालीन ओपदार लाल चकियां एवं अन्य मूर्ति खण्ड तथा शुंग कालीन भरहुत से प्राप्त यक्षी मूर्ति और वेदिका खण्ड अपने आप में गौरवमय इतिहास हैं। इसी प्रकार कुषाण काल की प्रसाधिका और गुप्तकालीन कार्तिकेय, इन्द्राणी तथा विशाल गोवर्धनधारी कृष्ण की मूर्तियां तक्षण कला के सुन्दर उदाहरण हैं।

सन् १९३४ में कला भवन में मृणमूर्तियों का संग्रह प्रारम्भ किया गया। संयोगवश इसी समय राजघाट बनारस में रेलवे लाइन के लिए खुदाई हुई जिसमें बहुत बड़ी संख्या में गुप्त कालीन मृणमूर्तियां और मोहरें प्राप्त हुई। राय साहब ने इस अवसर का पूरा लाभ उठाया जिसके फलस्वरूप कला भवन को गुप्तकालीन मृणमूर्तियों के सुन्दर उदाहरण प्राप्त हो गये। इस समय इस विभाग में सिन्धु घाटी से लेकर मध्ययुग तक की विभिन्न उत्तरी क्षेत्रों से प्राप्त मृणमूर्तियों का संग्रह है जिसमें राजघाट के रंगीन खिलौने के उदाहरण तथा कौशाम्बी और मथुरा की मृणमूर्तियां विशेष दर्शनीय हैं।

संग्रहालय का प्रागैतिहासिक विभाग यद्यपि काफी छोटा है किन्तु संग्रह की ताम्र युगीन आकृतियां, हथियार और मोहनजोदड़ो की वस्तुएँ अत्यन्त दुर्लभ हैं।

कला भवन का साहित्य विभाग काफी समृद्धिशाली है। प्रत्येक वर्ष यहां पर शोध छात्र साहित्यिक सामग्रियों का उपयोग करने आते हैं। इस विभाग में १७२१ वि० की रामचरित मानस की एक अत्यन्त प्रामाणिक और अलभ्य हस्तलिखित प्रति है। मधुमालती और मृगावती की भी प्रामाणिक प्रतियां यहां संग्रहीत हैं। इनके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द सरस्वती, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, बाल मुकुन्द गुप्त, आ० महावीर प्रसाद द्विवेदी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी वर्मा आदि साहित्यिकों की पाण्डुलिपियां एवं पत्र सुरक्षित हैं। संग्रहालय ने सैकड़ों सामयिक पत्र पत्रिकाओं का भी संकलन किया है। इस विभाग में भारतेन्दु काल से आजतक के हिन्दी विकास की सुन्दर झांकी मिलती है।

मध्यकाल में भारतीय वस्त्र उद्योग काफी विकसित था। विभिन्न प्रकार के रेशमी, सूती और ऊनी वस्त्रों का प्रचलन था। अभाग्य से बहुत से प्राचीन वस्त्र लोगों की अज्ञानतावश और लालचवश जला डाले गए। भारत कला भवन ने प्राचीन वस्त्रों के सुन्दर उदाहरणों को संग्रहीत करने का सफल प्रयास किया है और इस समय यहां का वसन विभाग अपने विशाल संग्रह के लिए देश प्रसिद्ध है। इस संग्रह में जरी के तथा बहुरंगी बेल-बूटेदार महीन काम के बुने हुए कश्मीरी शाल हैं। रेशमी वस्त्रों में भांति-भांति के किमखाब, हेमरू, फूदलार साटन, कारचोवी, कामदानी तथा फूलकारी के वस्त्र विशेष उल्लेख्य हैं। इनके अतिरिक्त बंगाल की बालूचर, गुजराती पटोला, चिकन एवं जामदानी आदि के उदाहरण भी उल्लेखनीय हैं।

व्यवहारिक कला की भी कई महत्वपूर्ण वस्तुएँ यहां सुरक्षित हैं। इस विभाग में कौशाम्बी से प्राप्त विभिन्न पशु आकृतियों वाले मनके उल्लेखनीय हैं। राजघाट से प्राप्त शुंग कालीन स्फटिक मानव मुख अतीव सुन्दर है। १९वीं शताब्दी में वनारस अपने गुलाबी मीने के काम के लिए प्रसिद्ध था जिसके कुछ उदाहरण यहां संग्रहीत हैं। यशब की मूठें, जहांगीर की प्यालियां तथा उसके अंगुस्ताने किसी भी संग्रहालय के लिए गौरव की वस्तुएँ हो सकती हैं। इनके अतिरिक्त शुंग कालीन हाथी दांत की कंघी, सोने की यक्ष मर्ति तथा मुगलकालीन ज्योतिष यंत्र भी उल्लेखनीय हैं। मुगलकालीन कांच के वर्तन, फरमान और बीदरी के सामान भी सग्रहालय की दर्शनीय वस्तुएँ हैं।

उपरोक्त संग्रह का उपयोग देश-विदेश के विभिन्न विद्वान, शोध छात्र एवं कला विभाग के छात्र एवं छात्राएँ करते हैं। कला भवन समय-समय पर प्रदर्शिनियों का भी आयोजन करता है जिससे विभिन्न कक्षाओं के छात्र-छात्राएँ तथा अन्य लोग उनका अवलोकन कर ज्ञान प्राप्त कर सकें। अवसर मिलने पर यहां के कर्मचारी विभिन्न संस्थाओं में जाकर व्याख्यानों के माध्यम से कला भवन के संग्रह एवं उसके महत्व के बारे में भी जानकारी कराते हैं। इसके अतिरिक्त संग्रहालय शोध निबन्धों और प्रकाशित पुस्तकों के माध्यम से लोगों में जागृति उत्पन्न करने का प्रयाय करता है। हाल ही में 'छवि' नामक एक विशाल ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है जिसमें देश और विदेश के बहुत से विद्वानों ने शोध-निबन्ध लिखे हैं। कुछ समय पूर्व कला भवन से 'कला-निधि' नामक एक पत्रिका भी प्रकाशित की जाती थी, किन्तु अर्थाभाव के

कारण उसका प्रकाशन बन्द हो गया है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। संग्रहालय की उपादेयता के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने यहां संग्रहीत वस्तुओं का अधिक से अधिक प्रकाशन और प्रचार करें।

संग्रहालय को सुचारु रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके कर्मचारी संग्रहालय के कार्यों में प्रशिक्षित हों। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर सन् १९६८ में भारत कला भवन ने संग्रहालय शास्त्र में प्रशिक्षित करने का पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया है। इस दो वर्षीय प्रशिक्षण में छात्र संग्रहालय की विभिन्न कार्य विधियों और कला इतिहास की पूर्ण जानकारी प्राप्त करता है जो संग्रहालय के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

भारत कला भवन अपने वैभवशाली संग्रह के लिए देश के कुछ बड़े संग्रहालयों में अपना स्थान रखता है। किन्तु संग्रहालय अभी भी विपन्न स्थिति से गुजर रहा है। स्थान और आवश्यक साज सामान का अभाव, संरक्षण और प्रकाशन की कमी तथा समुचित अर्थ व्यवस्था सुलभ न होने के कारण कला भवन की प्रगति अभी भी धीमी है।

प्रवक्ता, भारत कला भवन
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

हिन्दी प्रकाशन समिति

डॉ० नन्दलाल सिंह

हिन्दी-प्रकाशन-समिति की स्थापना मालवीय जी ने सन् १९३० ई० में की थी। राष्ट्र-भाषा हिन्दी के महत्व तथा अभिनव राष्ट्र के नवनिर्माण में इसके योगदान की आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए महामना ने इस समिति की स्थापना विज्ञान एवं इंजीनियरिंग में उच्च कोटि के ग्रंथों की रचना तथा अन्य भाषाओं के मानक ग्रंथों के हिन्दी-भाषान्तर के प्रकाशन के लिए की थी। इस समिति ने अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किए। पारिभाषिक शब्दों के संकलन के संबंध में भी इस समिति ने उल्लेखनीय कार्य आरम्भ किया था। इसके क्रिया-कलापों से प्रेरित होकर कुछ हिन्दी-प्रेमी प्राध्यापकों ने हिन्दी-माध्यम से विज्ञान की शिक्षा देने का कार्य भी आरंभ किया था। कालान्तर में, महामना के दिवंगत हो जाने के बाद यह समिति अनाथ सी हो गई और धीरे-धीरे इसके क्रिया-कलाप लगभग बन्द हो गए।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश में राष्ट्र-भाषा के प्रति जनजीवन में एक नई चेतना आने लगी। शिक्षाविदों, समाज-सेवियों और राजनीतिज्ञों ने यह महसूस किया कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी की शिक्षा मातृभाषा में दी जानी चाहिए। किन्तु इस दिशा में सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि राष्ट्र-भाषा में विज्ञान की पुस्तकें उपलब्ध नहीं थीं, कुछ थोड़ी गिनी-चुनी पुस्तकें थीं भी तो उनमें पारिभाषिक शब्दों की एकरूपता नहीं थी।

अतएव राष्ट्र के सम्मुख माध्यम-परिवर्तन के लिए दो तात्कालिक समस्याएँ उपस्थित थीं : पहली यह कि सारे देश में एक स्तर पर एक समान पारिभाषिक शब्दावली तैयार कराई जाय और दूसरी यह कि विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विद्वानों से हिन्दी एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में पाठ्य पुस्तकें लिखवाई जायँ। इसी उद्देश्य से भारत सरकार ने "केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय" तथा "वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग" की स्थापना की। आयोग ने मौलिक विज्ञानों की एक प्राथमिक शब्दावली देश के गण्यमान विद्वानों, शिक्षा शास्त्रियों एवं भाषाविदों की सहायता से तैयार करवाई किन्तु पुस्तकें लिखवाने में उसे सफलता नहीं मिली। हमारे हिन्दी भाषी क्षेत्र के विद्वान अँगरेजी का मोह नहीं छोड़ सके। अनेक विद्वानों को यह कार्य सौंपा गया, किन्तु कई वर्षों की प्रतीक्षा के बाद भी विज्ञान के उच्चस्तरीय ग्रंथ नहीं लिखवाए जा सके, जबकि इसी बीच उत्तर भारत के चार पांच हिन्दी भाषी राज्यों में इंटरमीडिएट कक्षाओं तक विज्ञान की पढ़ाई पूर्ण रूपेण हिन्दी माध्यम से होने लगी और इस स्तर की पुस्तकें भी "प्राईवेट सेक्टर" में प्रचुरता से मिलने लगीं।

अंततः भारत सरकार को ग्रंथ-निर्माण के लिए अलग से योजना बनानी पड़ी। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय एवं शब्दावली आयोग की ओर से पूरे उत्तर भारत में, विज्ञान के विभिन्न विषयों में विश्वविद्यालय-स्तर का साहित्य तैयार करने के लिए लगभग २२ सेल खोले गए। यह कार्यक्रम शिक्षा मंत्रालय की योजना ("Production of Scientific Literature

in Hindi and Regional Languages for use as madia of instruction at the University stage") के अंतर्गत सन् १९६०–६१ में आरंभ हुआ।

सन् १९६३ ई० में भारत सरकार की उपर्युक्त योजना के कार्यान्वियन के अंतर्गत काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी-प्रकाशन-समिति का पुनर्गठन किया गया और हिन्दी भाषा में उच्च स्तरीय साहित्य तैयार करने के लिए समिति के अधीन तीन योजनाएँ स्वीकृत की गईं। ये योजनाएँ शिक्षा मंत्रालय द्वारा वैज्ञानिक एवम् तकनीकी शब्दावली आयोग के माध्यम से संचालित की गई :—

(१) भौतिकी कक्ष की स्थापना :—भौतिक विज्ञान की विश्वविद्यालय स्तर की मौलिक पुस्तकें लिखवाने तथा इस विषय की मानक पुस्तकों का अनुवाद कराने के लिए भौतिकी कक्ष की स्थापना हुई जिसमें एक निदेशक, दो उप-निदेशक (रीडर) चार सहायक निदेशक (लेक्चरर), एक भाषाविद्, एक प्रकाशन-सहायक, ड्राफ्ट्समैन, लिपिक तथा दो चपरासी नियुक्त किए गए। यह पूर्णकालिक कक्ष था, जिसका संपूर्ण व्यय शिक्षा मंत्रालय ने वहन करना स्वीकार किया।

(२) भौतिक विज्ञान के अतिरिक्त विज्ञान के अन्य विषयों का मौलिक एवं अनूदित साहित्य निर्मित कराने के लिए एक अन्य योजना स्वीकृत हुई जिसके अंतर्गत विश्वविद्यालय के अनुभवी प्राध्यापकों से पुस्तकें लिखवाने की व्यवस्था थी। पुस्तकों के प्रकाशन एवं पारिश्रमिक का शत-प्रतिशत व्यय शिक्षा मंत्रालय ने वहन करना स्वीकार किया।

(३) विज्ञानेतर विषयों में उच्चस्तरीय ग्रंथों की रचना के लिए एक तीसरी योजना भी स्वीकार हुई जिसका ५० प्रतिशत व्यय शिक्षा मंत्रालय ने तथा ५० प्रतिशत व्यय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने वहन करना स्वीकार किया।

विश्वविद्यालय की ओर से भौतिकी कक्ष के कार्यालय एवं भंडार के लिए निःशुल्क स्थान प्रदान किया गया।

समिति में कुल १४ सदस्य होते हैं, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय इस समिति के अध्यक्ष हैं। विश्वविद्यालय के उप-कुलपति (या कुलपति के सलाहकार), कुल सचिव (प्रशासन), कुल-सचिव (विकास), वित्त-अधिकारी, विज्ञान-संकाय-प्रमुख, कला-संकाय प्रमुख, अध्यक्ष हिन्दी विभाग इसके सदस्य हैं। केन्द्रीय हिन्दी-निदेशालय के अध्यक्ष एवं उन्हीं द्वारा चुने गए दो अन्य वरिष्ठ अधिकारी भी इस समिति के सदस्य होते हैं। इन सदस्यों के अतिरिक्त विश्वविद्यालय के विधि-संकाय, चिकित्सा-विज्ञान-संस्थान एवं प्रौद्योगिकी संस्थान से भी एक-एक सदस्य लिए जाते हैं। समिति की बैठक वर्ष में कम-से-कम दो बार अवश्य होती हैं जिसमें अनुवाद एवं मौलिक लेखन संबंधी विषयों पर विचार किया जाता है तथा भौतिकी-कक्ष की प्रगति की समीक्षा की जाती है और अन्य प्रशासनिक कठिनाइयों को भी सुलझाने का प्रयास किया जाता है।

हिन्दी-प्रकाशन-समिति के भौतिकी कक्ष की स्थापना के १४ वर्ष बीत चुके हैं। आरंभ के पाँच वर्षों में कक्ष द्वारा स्नातक स्तर की मौलिक पुस्तकें लिखी गई थीं। इस स्तर की भौतिक विज्ञान की वे सभी पुस्तकें प्रकाशित की गईं जिनकी बी०-एस०सी० के विद्यार्थियों को

आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त, पशु आयुर्विज्ञान, भैषजिक रसायन, चिकित्सा शास्त्र तथा विधि की अनेक पुस्तकों के अनुवाद भी प्रकाशित किए गए। आरभ में लेखकों की संख्या ६ थी तथा विश्वविद्यालय के कुछ अधिकारी विद्वानों द्वारा भी इस योजना में योगदान किया गया, अतः बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

सन् १९७० के लगभग तीन लेखक कम हो गए और पूर्णकालिक लेखकों के अतिरिक्त अन्य विद्वानों द्वारा पुस्तकें लिखवाने या अनूदित कराने की योजना समाप्त हो गई अतः प्रकाशन का कार्य कुछ मंद गति से चलने लगा। इतना ही नहीं, १९७३–७५ में भौतिकी कक्ष के जिम्मे केवल लेखन एवं पाण्डुलिपि तैयार करने का ही काम शेष रह गया था, प्रकाशन का काम प्रांतीय हिन्दी ग्रंथ अकादमियों को दे दिया गया, जिनकी प्रकाशन-गति बहुत ही मंद थी। फिर भी भौतिकी कक्ष द्वारा तैयार की गई कई विशिष्ट पुस्तकों का प्रकाशन हुआ।

सन् १९७६ में समिति को अपनी पाण्डुलिपियाँ प्रकाशित करने की स्वीकृति पुनः प्राप्त हो गई। इसी समय राष्ट्रीय पुस्तक न्यास ने हमारी चार उत्कृष्ट पुस्तकों को अपनी "सबसिडी" योजना में प्रकाशित करने के लिए चुना और उनके प्रकाशन का अधिकांश व्यय भी वहन किया। ये पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

अब तक समिति ने कुल ४३ पुस्तकें तैयार की हैं। इनमें से ३९ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और शेष मुद्रणाधीन हैं। इनमें से ७ भौतिकी की, २ गणित की तथा एक चिकित्सा विज्ञान की पुस्तकें मौलिक हैं। अन्य पुस्तकें अंगरेजी या रूसी भाषा की मानक पुस्तकों के हिंदी अनुवाद हैं। इनमें १५ पुस्तकें भौतिक विज्ञान की, २ रसायन शास्त्र की, २ गणित की, एक पशु आयुविज्ञान की तथा शेष राजनीति विज्ञान की हैं।

भौतिकी कक्ष की स्थापना का मूल उद्देश्य भौतिक विज्ञान की पुस्तकें प्रकाशित करना है। इस उद्देश्य में हम कितने सफल रहे हैं इस विषय में केवल यही कह सकते हैं कि यदि बी०एस-सी० स्तर तक भौतिकी का माध्यम हिंदी कर दिया जाय तो कक्ष द्वारा प्रकाशित पुस्तकें अध्यापकों एवं विद्यार्थियों की आवश्यकता की पूर्ति हेतु कम नहीं पाई जायँगी।

अब तक भौतिकी कक्ष को पुस्तकों के अनुवाद एवं लेखन का कार्य केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा सौंपा जाता रहा है। शिक्षा-नीति के भविष्य को ध्यान में रखते हुए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को इस संबंध में ध्यान देना चाहिए ताकि कक्ष और समिति की सेवाएँ इस विश्वविद्यालय की आवश्यकताओं की भी पूर्ति में अपना सहयोग दे सकें तथा विश्वविद्यालय के विभिन्न विषयों के हिन्दी प्रेमी विद्वानों की सेवाओं का भी लाभ उठाया जा सके। यह निवेदन करना भी सामयिक एवं आवश्यक होगा कि समिति ने जो वैज्ञानिक साहित्य तैयार किया है उसे छात्रों एवं अध्यापकों के समक्ष प्रस्तुत करने का कार्य आवश्यक है, ताकि शब्दावली एवं वैज्ञानिक हिन्दी भाषा का प्रचार-प्रसार तेजी से हो सके।

अवैतनिक निदेशक, हिन्दी प्रकाशन समिति
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

विश्वविद्यालय सेवायोजना सूचना एवं मन्त्रणा केन्द्र

नरसिंह लाल

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सेवायोजन सूचना एवं मन्त्रणा केन्द्र की स्थापना जून १९५९ में की गई थी। "छात्रों को शिक्षा तथा व्यवसाय सम्बन्धी सभी आवश्यक सूचना, सहायता तथा परामर्श सेवाएँ प्रांगण में ही उपलब्ध की जा सके" इस उद्देश्य के साथ इस केन्द्र का आविर्भाव हुआ। अपने इन विहित उद्देश्यों की पूर्ति में यह केन्द्र सतत् प्रयत्नशील रहा है। लगभग १७ वर्षों की सेवा अवधि में केन्द्र के विविध कार्यकलापों में उल्लेखनीय विकास हुआ है। व्यावसायिक मार्ग निर्देशन सेवाओं के क्षेत्र में केन्द्र का एक विशिष्ट स्थान है। देश में यह केन्द्र एक आदर्श संस्था (माडल ब्यूरो) के नाम से ख्याति प्राप्त कर चुका है।

केन्द्र की सेवायें

केन्द्र मुख्यतया निम्नलिखित सेवाएँ उपलब्ध करता है :—

क—व्यावसायिक मार्ग दर्शन एवं सेवायोजना मन्त्रणा :—

१—प्रार्थियों की रुचि, अभिरुचि, शारीरिक योग्यता, आर्थिक स्थिति आदि को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त विषयों, पाठ्यक्रमों एवं व्यवसाय के चुनाव में सहायता प्रदान करना।

२—व्यावसायिक एवं शैक्षणिक जानकारी उपलब्ध करने हेतु शिक्षा तथा कार्य जगत के विषय में सूचना एकत्रित एवं सन्दर्शित करना।

३—छात्रों में व्यावसायिक योजना बनाने की भावना को प्रेरित तथा उत्साहित करना।

४—विभिन्न पाठ्य विषयों में देश तथा विदेश में उच्चशिक्षा, प्रशिक्षण, छात्रवृत्ति अनुवृत्ति एवं आजीविका सम्बन्धी सूचना प्रदान करना।

ख—सेवायोजन सम्बन्धी सहायता :—

१—समस्त स्नातकोत्तर एवं व्यावसायिक स्नातकों का पंजियन करना।

२—विश्वविद्यालय के ऐसे छात्रों को, जो स्नातक अथवा उत्तर स्नातक कक्षाओं मे पढ़ रहे हैं, पंजियन में सहायता प्रदान करना।

३—केन्द्रीय सेवा योजना कार्यालय, नई दिल्ली तथा वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक शोध परिषद, नई दिल्ली द्वारा संचालित राष्ट्रीय पंजिका मे योग्य अभ्यर्थियों के पंजियन मे सहायता प्रदान करना।

४—नियोजकों एवं विशिष्ट व्यक्तियों को आमन्त्रित कर केन्द्र मे पंजीकृत अभ्यर्थियों के साक्षात्कार एवं चुनाव की व्यवस्था करना तथा केन्द्र की सेवाओं से अवगत कराना।

ग शोध, अध्ययन, सर्वेक्षण तथा व्यावसायिक साहित्य का प्रकाशन :—

१—शिक्षा एवं सेवायोजना के प्रयोजन से छात्रोपयोगी व्यवसाय योजना, विषय विज्ञान एवं व्यावसायिक मार्ग निर्देशन मूलक साहित्य का संकलन, सम्पादन एवं प्रकाशन करना।

२—छात्रों के प्राजिविकात्मक, पाठ्य विषय के चुनाव एवं शिक्षणोपरान्त सेवायोजन स्थिति से सम्बन्धित सर्वेक्षण का आयोजन करना।

३—शिक्षा, व्यवसाय, प्रशिक्षण छात्रवृत्ति आदि सम्बन्धी सूचनाएँ एकत्रित करना तथा वैज्ञानिक ढ़ंग से वर्गीकरण एवं सन्दर्शन करना।

४—शिक्षित वेरोजगारों को स्वयं उपयुक्त व्यवसाय ढ़ूढ़ने की दिशा में प्रेरित करना तथा अवसरों की जानकारी प्रदान करना।

सांख्यकीय विवरण

वर्ष १९७४ व १९७५ तथा जनवरी से जून, १९७६ के अन्तर्गत केन्द्र द्वारा किये गये विविध कार्यकलापों का सांख्यकीय विवरण निम्नलिखित है :—

कार्य विवरण	१९७४	१९७५	१९७६ (जनवरी से जून तक)
सेवायोजन सहायता :—			
१—पंजियन	७४६	८४४	५१०
२—सम्प्रेषण	११७८	१२५५	११४१
३—नियुक्तियां	४४	१५	१४
४—जीवित पंजिका	७२३	९५६	९२९
व्यावसायिक मार्ग निर्देशन :—			
१—सूचना कक्ष के आगन्तुक	८६०६	९६३०	५२१२
२—व्यक्तिगत सूचना			
(अ) काउन्टर से	१८२७	२१५९	१०९४
(ब) डाक माध्यम से	१२७४	१०३६	३१५
३—पंजियन के समय निर्देशन	७४६	८४४	४८१
४—सूचना साहित्य का एकत्रीकरण	२४५५	१७६१	५५६
५—आवेदन पत्र का वितरण	५८७	९०६	३७७
६—अतिरिक्त सूचना के लिये सम्पर्क किये गये स्थान	३२४	२९४	२५१
७—विशिष्ट आगन्तुक	३२	३५	४
८—व्यक्तिगत मार्ग निर्देशन	१७	२२	१६

व्यावसायिक सूचना कक्ष :—

व्यावसायिक मार्ग निर्देशन सेवाओं को अधिक से अधिक प्रभावशाली ढ़ंग से छात्रों तथा अभ्यर्थियों तक पहुँचाने के लिये विशेष कार्य क्रम बनाया गया है। केन्द्र में एक व्यावसायिक सूचना कक्ष की स्थापना की गई है जिसमे कुल २० विभिन्न अनुभाग हैं। जिनम विदेश शिक्षा, यात्रा एवं पर्यटन, राष्ट्रीय विकास, राष्ट्रीय सुरक्षा, आत्म रोजगार, लोक सेवा आयोग, अनुसूचित एवं पिछड़ी समुदाय, महिला, कला विज्ञान, कृषि, अभियांत्रिकी, चिकित्सा-

विज्ञान आदि उल्लेखनीय अनुभाग हैं। प्रत्येक अनुभागों मे शिक्षा, रोजगार, छात्रवृत्ति, प्रशिक्षण तथा सामान्य रुचि की सूचनाएँ विभिन्न पत्रावलियों के माध्यम से सन्दर्शित की गई हैं। जिनसे छात्र अभ्यर्थी तथा अभिभावक लाभान्वित होते हैं। केन्द्र का एक अपना पुस्तकालय भी है जिसमें उपयोगी साहित्य एकत्र किये गये हैं।

विदेश शिक्षा-सेवा :—

विदेशों मे उच्चशिक्षा और रोजगार के इच्छुक छात्रों तथा अभ्यर्थियों की सहायता करना हमारी सेवाओं का प्रमुख अंग है। सूचना कक्ष में ४ विभिन्न अनुभागों में आवश्यक सूचना सामग्री सन्दर्शित की गई है। अमेरिका, यूनाइटेड किंगडम, जापान, रूस, जर्मनी, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि देशों के विषय में शिक्षा, छात्रवृत्ति अधिवृत्ति, रोजगार सम्बन्धी जानकारी प्रस्तुत की गई है। विश्वविद्यालयों में प्रवेश, ऋण, छात्रवृत्ति, यात्रा-अनुदान आदि के लिये आवेदन पत्र भी उपलब्ध किये जाते हैं। पुस्तकालय में महत्वपूर्ण विश्वविद्यालयों की नियमावलियां तथा सन्दर्भ साहित्य भी उपलब्ध हैं। एयर इन्डिया, वी०ओ०ए०सी०, एयर फ्रांस आदि हवाई कम्पनियों के यात्रा सम्बन्धी साहित्य उपलब्ध हैं। साथ ही विदेशी विनिमय, पारपत्र तथा वीसा आदि के विषय में अद्यावधिक जानकारी उपलब्ध की जाती है।

साहित्य का प्रकाशन :—

अव तक केन्द्र ने विभिन्न प्रकाशन मालाओं के अन्तर्गत प्रकाशन का कार्य भी किया है। प्रकाशन का कार्य नियमित रूप से चल रहा है। विषय ज्ञानमाला के ५, व्यावसाय नियोजन माला के २३ एवं व्यवसाय निर्देशन माला के १७ ग्रंथों का प्रकाशन किया गया है।

पाक्षिक पत्रिका :—

केन्द्र 'दी स्टूडेन्ट वोकेशनल गाइड' नामक एक पाक्षिक पत्रिका भी प्रकाशित करता है जो माह के १० वीं तथा २५वीं तारीख को प्रकाशित होती है। इसमें शिक्षा, रोजगार, छात्र-वृत्ति, प्रशिक्षण आदि से सम्बन्धित अद्यावधिक सूचनायें प्रस्तुत की जाती हैं। यह छात्रों में बहुत लोक प्रियता प्राप्त कर चुकी है।

पुस्तकालय :—

केन्द्र का अपना एक पुस्तकालय भी है जिसमें छात्रो तथा रोजगार के इच्छुक अभ्यार्थियों के लाभार्थ विभिन्न प्रकार के साहित्य एकत्रित किये गये हैं। देश तथा विदेश के अभ्यर्थियों के महत्वपूर्ण शिक्षा संस्थाओं के पाठ्यक्रम, नियमावलियाँ, आत्मविकास, तकनीकी शिक्षा, स्वतः रोजगार, मार्ग निर्देशन, रोजगार मार्ग निर्देशन, प्रतियोगितात्मक परीक्षायें आदि सम्वन्धी उपयोगी सन्दर्भ साहित्य उपलब्ध किया गया है जिसका छात्र नियमित रूप से उपयोग करते ह।

केन्द्र अपने बिविध कार्यकलापों के माध्यम से लक्ष्यहीन छात्रों तथा रोजगार की तलाश करने वाले शिक्षित नवयुवकों की सहायता कर सही मार्ग प्रस्तुत करने की दिशा मे क्रियाशील है।

विश्वविद्यालय स्पोर्ट्स बोर्ड

नारायण सिंह

भारतीय सांस्कृतिक चेतना के अविनाशी केन्द्र काशी में विश्वविद्यालय की हीरक जयंती के शुभ अवसर पर यह बड़ा समयोचित है कि हम अपने कार्यों का हिंसावलोकन करें, आत्म साक्षातकार करें और स्थापित उद्देश्यों के प्रति अपने को अधिकाधिक ढ़ाललें। इस विश्वविद्यालय को स्थापित करने में युगद्रष्ट्रा संस्थापक पं. मदन मोहन मालवीय जी के दो स्पष्ट उद्देश्य थे।

(१) भारत को अंग्रेजों की आधीनता से छुटकारा दिलाना तथा (२) भावी भारत का निर्माण करना।

चूँकि इन दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राष्ट्र के युवा वर्ग को सबल और सुशिक्षित बनाना परम आवश्यक था अतः युग द्रष्ट्रा स्वयं युग स्रष्ट्रा भी बन गये। बाधाओं को मार्ग छोड़ना पड़ा और इस पुनीत विद्या मन्दिर की स्थापना हो गई। ज्ञान की ओलंपिक मशाल जल उठी। एक व्यक्ति के व्यक्तित्व और कृतृत्व पर लोक मंत्रमुग्ध था। देश के कोने कोने से मूर्धन्य विद्वान अपनी-अपनी समिधा लिए इस महायज्ञ में शामिल हो गये। आरम्भ हो गया अध्ययन अध्यापन का एक सिलसिला। एक ऐसा सिलसिला जिसमें पूर्ण व्यवतित्व—सामाजिक शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक— का विकास होता है। विश्व के तमाम शिक्षा शास्त्रियों प्लेटो, रूसो, पेस्टालाजी फ़्रबेल, हरवर्ट स्पेंशर इत्यादि ने एक स्वर से केवल यही नहीं स्वीकार किया है कि शिक्षा में क्रीड़ा और व्यायाम का एक विशेष महत्व है वल्कि यह भी कि क्रीड़ा और व्यायाम का एक शैक्षणिक उद्देश्य भी हुआ करता है।

भारतीय जीवनादर्श से आश्वस्त और पश्चिमी ज्ञान विज्ञान से सुपरिचित गुणग्राही मालवीय जी, सचमुच में महामना और प्रारंम्भ से ही समन्वयवादी थे। एक सम्यक समन्वय चाहते थे—आदर्श और यथार्थ में, पूर्व और पश्चिम में, शरीर-मन, व्यक्ति-समाज और राष्ट्र तथा विश्व प्रेम में। सूत्र और प्रतीकों की भाषा में अमूल्य ज्ञान का अथाह भंडार भरा पड़ा है परन्तु व्यक्ति जितना ऊँचा उठता जाता है उसकी वाणी उतनी ही सरलीकृ त रूप में फूटने लगती है। विद्यार्थियों को उनका उपदेश होता था

"दूध पियो कसरत करो, और जपो हरि नाम
मन लगाय विद्या पढ़ो, पूरेंगें सब काम"

उस दिन सचमुच में यह एक बड़ी मनोरंजक घटना घटी कि बिड़ला छात्रावास के सामने के मैदान में एक नीम के पेड़ के नीचे स्वयं भू की तरह एक अखाड़े का जन्म हो गया। चन्द्रमा की कला की तरह यह अखाड़ा दिनो दिन बढ़ता गया, विकास पाता गया। कभी किसी सरकस के कलाकार नंदलाल मास्टर साहब भी पता नहीं कब कहां से कैसे स्वयं उद्भूत, जुड़ गये इस नीम के नीचे के व्यायाम शाले से। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में व्यायाम के प्रथम आचार्य श्री नंद लाल मास्टर साहब ही थे। एंड़ी से एक बित्ता ऊँचा उठा हुआ पैजामा और खाकी कपड़े की दोनों तरफ जेब वाली, टीन के बटन से सुशोभित कमीज। विद्यार्थी गण प्रसन्न थे, क्योंकि

अब एक पैरललवार, एक हॉरिजेन्टलवार तथा पेड़ से लटकता हुआ एक रोमन रिंग भी उन्हें प्राप्त हो गया था। मालवीय जी के सामने केले के खंभे पर मलखम का प्रदर्शन करके इस व्यायाम शाले की शोभा बढ़ाने वाले द्वितीय अध्यापक श्री गणपत शास्त्री पटवर्धन जी हैं। घुटने तक की धोती, लम्बा कुर्ता, शिर पर पगड़ी और हाथ में एक लम्बा लट्ठा, दिव्य मुख पर भव्य महवीरी टीका, व्यायाम शाला चलती रही। १९३५ में वंगाल के विश्व प्रसिद्ध शारीरिक शिक्षक श्री विष्णु घोष जी का एक दल काशी आया। विश्वविद्यालय में इस दल के व्यायाम प्रदर्शन से एक सनसनी फैल गई। दल के एक सदस्य श्री मोनी राय जी के उत्कृष्ट प्रदर्शन से प्रभावित हो कर मालवीय जी ने उन्हें विश्वविद्यालय के लिए उपलब्ध करना चाहा। आदरणीय श्री सुखदेव पाण्डेय जी ने तालमेल मिलाया और श्री युगल किशोर बिड़ला जी सहर्ष आर्थिक सहायता देने के लिए तैयार हो गये। विद्यार्थियों की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। श्री मोनीराय जी उन्हें उपलब्ध थे। कुछ दिनों पश्चात् कुश्ती के प्रशिक्षण के लिए प्रसिद्ध मल्ल श्री राम सेवक जी नियुक्त कर लिए गये। १९३७ में श्री अतीन दास गुप्ता जी भी व्यायाम शिक्षक के रूप में विश्वविद्यालय में आ चुके थे योगासन प्रशिक्षक के रूप में श्री एम० वी देवनालकर जी वाद में आये। व्यायाम साधना चलती रही।

यहीं पर तीन बातें जान लेने योग्य हैं।

(१) अथलेटिक अशोसियेसन की स्थापना हो चुकी थी।

(२) महाराज कोल्हापुर के २५०००) रू० के दान से निर्मित वर्तमान शिवाजी हाल बन चुका था जिसमें ,,चिल्ड्रेन स्कूल ,, चलता था।

(३) श्रीजुगुल किशोर विड़ला जी आवश्यक रकम मालवीय जी को वर्तमान केन्द्रीय विद्यालय के पुराने भवन को बनाने के लिए दे चुके थे जिसमें चिल्ड्रेन स्कूल को स्थानान्तरित कर शिवाजी हाल को व्यायाम शाला के उपयोग के लिए खाली करना था।

श्री सुखदेव जी पाण्डेय तथा श्री जुगुल किशोर विड़ला तथा श्री मोनीराय जी के सत्प्रयत्नों से, कुछ विलंब से ही सही, परन्तु अन्ततोगत्वा शिवाजी हाल एक व्यायामशाला के उपयोग के लिए प्राप्त हो गया। अब विद्यार्थी साल भर अबाध रूप से व्यायाम कर सकते थे। व्यायाम करने के कई नये उपकरण भी उन्हें श्री जुगुल किशोर विड़ला जी द्वारा प्राप्त हो गये। श्री हनुमान जी तथा मालवीय जी के तैल चित्र जो आज भी शिवाजी हाल में लगे हुए हैं कलकत्ते के श्री वी० के० पोद्दार जी की भेंट है। समय-समय पर स्वयं मालवीय जी शिवाजी हाल में पधारते थे और विद्यार्थियों का उत्साह वर्धन किया करते थे। श्री जुगुल किशोर विड़ला जी प्रायः शिवाजी हाल में घुस जाया करते थे और दो चार सौ रुपया बांट दिया करते थे। प्रसिद्ध राममूर्ती जी ने शिवाजी हाल में विद्यार्थियों को व्यायाम का अभ्यास कराया था। प्रसिद्ध मल्ल श्री शान्ति स्वरूप आत्रेय (महात्मा) जी फिजिकल सुपरिन्टेंडेन्ट के रूप में कई वर्षों तक शिवाजी हाल में व्यायाम साधना में लीन रहे। विश्व प्रसिद्ध गामा तथा मथुरा के बलदेव चौबे का यहां पदार्पण भी एक उल्लेखनीय घटना है। विश्वनाथ मन्दिर के बगल में बने, स्वीमिंग पूल में संतरण का कार्य होता था। वर्ष भर कुश्ती अबाध चले इसके लिए शिवाजी हाल के अन्दर ही एक विशाल अखाड़ा बना हुआ था।

इस प्रकार जहां एक ओर शिवाजी हाल उन्नतिकरता जा रहा था दूसरी ओर हाकी फुटवाल,क्रिकेट,वाक्सिग,स्विमिंग इत्यादि के क्रिया कलाप वढ़ते जा रहे थे। इनकी देख रेख के लिए अथलेटिक अशोसियेसन का एक मानित मंत्री होता था जिसके अन्तरगंत कई चेयर मैन अपने अपने खेलों की देख रेख करते थे। प्रारंभ में मंत्री का घर ही उसका आफिस भी होता था परन्तु कालान्तर में शिवाजी हाल के बगल में अथलेटिक असोसियेशन का एक आफिस बना। इस असोसियेशन के मानित मंत्री के पद को सुशोभित करने वालों में श्री सुखदेव पाण्डेय, मेजर चन्द्रवल, प्रो० गैरोला, श्री भी० एल० पवार, श्री जी० पी० सिंह, श्री त्रिलोचन पंत, डा० आइ० सी० पाण्डेय, डा० जी० के० दास तथा डा० महेशचन्द्र विजावत आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री विजावत जी के समय में ही अथलेटिक आफिस शिवाजी हाल के बगल के छोटे से कमरे से हट कर एम्फीथियेटर मैदान में स्थित वर्तमान भवन में आ पाया था।

अथलेटिक असोसियेशन के इतिहास में उपर्युक्त मानित मंत्रियों का काल कई दृष्टियों से वड़े महत्व का रहा है। इसका वर्तमान रूप और रंग इन्हीं के अथक परिश्रम का फल है। १९४८ में प्रथम अन्तर विश्वविद्यालय कुस्ती प्रतियोगिता यहीं हुई थी। चलित विजय चिन्ह बी० एच० यू० द्वारा प्रदत्त है। इन्हीं के काल में मन्मथ मिश्र, श्री शिव मूरत पाण्डेय, रामजनम, राधेश्याम मिश्र, दाऊ जी तिवारी, घनश्याम दास तथा अनंत राम भार्गव (ओलंपिक खिलाड़ी) जैसे कुस्ती गीर, नायडू व्रदर्स जैसे चमत्कारिक खेलों के खिलाड़ी, आर० मुगम०, वाई० डी० काने, पोहनकर, केटकर जैसे जिमनास्ट; श्री घांडेकर, नारायण सिंह, अमरनाथ सेठ जैसे मलखम के खिलाड़ी; फंसालकर, गुर्दाचार्य, आइ० एम० गुप्त जैसे क्रिकेट के खिलाड़ी; मि० विमान जैसा भारोत्तोलक; डा० पी०जे० देश पान्डे, सैन्डिस जैसे वाक्सिग के खिलाड़ी; रामप्रताप सिंह, मन्मथ मिश्र जैसे शरीर सौष्ठव के प्रतीक; रवि किचलू जैसा सर्वतोमुखी खिलाड़ी; निर्मल सेन जैसा शाट पट का खिलाड़ी; श्री गोपाल जी तथा अरुण प्रसाद जैसा हाकी खिलाड़ी; जौहरी हमन जैसा फुटवाल का खिलाड़ी और आनंद चन्दोला जैसा वैडमिन्टन खिलाड़ी इस विश्वविद्यालय में पैदा हुए।

उपर्युक्त विद्यार्थियों तथा और अन्य विद्यार्थियों को अनेकानेक विधियों से प्रारंभ से ही विश्वविद्यालय ने समय समय पर पुरस्कृत, प्रोत्साहित और सम्मानित किया है। श्री जुगुल किशोर बिड़ला जी प्रायः खिलाड़ियों को नगद रूपया वांटा करते थे तथा स्वर्ण पदक प्रदान किया करते थे। श्री निर्मल सेन को एकवार १२००) रू० का पुरस्कार प्राप्त हुआ था। श्री सेन को स्वर्ण पदक भी प्रदान किया गया था। श्री राम प्रताप सिंह को श्री ज्योतिभूषण जी ने स्वर्ण पदक प्रदान किया था। श्री अर्जुन सिंह तथा श्री नारायण सिंह को जिम्नास्टिकस में स्वर्ण पदक प्रदान किया गया था। उदीयमान खिलाड़ियों की फीस सदा से ही माफ होती रही है। अच्छे खिलाड़ियों को 'कलर' तथा ब्लू, (विश्वविद्यालय ब्लू से भिन्न) प्रदान किया जाता रहा है।

खेल कूद में विश्वविद्यालय का सर्वोच्च सम्मान 'विश्वविद्यालय ब्लू' पाने वाले महानुभाव मेजर चन्द्रवल जी, प्रो० गैरोला, मि० फंसालकर, मि० भी० एल० पवार, मि० रवि किचलू तथा महाराज कुमार विजयानगरम्, आनंद चंदोला तथा अनंतराम भार्गव आदि हैं।

सत्र ६५-६६ से इस विश्वविद्यालय में कला संकाय के अन्तरगंत डिप्लोमा इन फिसिकल एजूकेशन की पढ़ाई भी आरंभ कर दी गई। १६ फरवरी १९७० को रीडर के पद पर भारत के प्रसिद्ध अथलेटिक प्रशिक्षक श्री कर्ण सिंह जी की नियुक्ति हुई और कालान्तर में अथलेटिक असोसियेशन के मानित मंत्री का भार भी आपके ही कंधों पर विश्वविद्यालय ने रख दिया। इस विद्या मन्दिर में खेल कूद तथा व्यायाम के समस्त क्रिया कलापों को एक सुसंगठित, सुनियोजित और सुसंबद्ध रूप देने के उद्देश्य से ही संभवतः आपको कालान्तर में शारीरिक शिक्षा निदेशक के रूप में भी कार्य करने का आदेश दिया गया। क्रीड़ा नीति में एक नया परिवर्तन आया। संविधान में आवश्यक संशोधन किया गया और नई नीति को प्रभावकारी ढ़ंग से क्रियान्वित करने के लिए स्वयं कुलपति जी ने क्रीड़ा-संघ के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया।

विश्वविद्यालय में "स्पोर्टस् बोर्ड" खेल कूद तथा व्यायाम की एक सर्वोच्च समिति है। कुलपति जी ने इसके अध्यक्ष पद को स्वीकार करने की महती कृपा की है। स्पोर्टस् बोर्ड के अन्तर्गत् एक "स्टैंडिंग कमेटी" भी है। क्रीड़ा संघ के तत्वावधान में अन्तर विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त प्रत्येक खेल के लिए एक चेयर मैन (अध्यापक) के अंतर्गत एक उपसमिति है। क्रीड़ा संघ का मानित मंत्री वर्ष भर के क्रिया कलापों का उचित तालमेल बैठाता है तदनुरूप ही प्रत्येक संकाय में भी व्यायाम का एक संगठन है।

विश्वविद्यालय में एक चयन समिति है जो अन्तर विश्वविद्यालय खेलों के लिए स्तर को ध्यान में रख कर टीमों का चयन करती है।

विश्वविद्यालय में एक "एवार्ड कमेटी" भी है जो विभिन्न खेल समितियों द्वारा अग्रसारित अच्छे खिलाड़ियों को कलर, मेडल, स्कालरशिप तथा ब्लू आदि प्रदान करने के प्रश्न पर विचार करती है।

अपने गौरवमय अतीत के साथ उज्ज्वल भविष्य की ओर विकासोन्मुख क्रीड़ा संघ सुनिश्चित एवं स्थायी प्रभाव वाले नियोजित क्रियाकलापों के मध्य द्विगुणित उत्साह से विश्वविद्यालय के हीरक जयंती वर्ष (७६–७७) में अपने विशेष कार्यक्रमों के साथ प्रवेश कर रहा है। अन्तर विश्वविद्यालय के चारो क्षेत्रों की चार चैम्पियन फुटवाल टीमों का शानदार मुकावला नवम्बर के दूसरे सप्ताह में यहीं आयोजित है। यहीं अखिल भारतीय स्तर की कुश्ती प्रतियोगिता भी आपको दिसम्बर माह में देखने को मिलेगी। दिसम्बर के चौथे सप्ताह में अखिल भारतीय अन्तर विश्वविद्यालय अथलेटिक प्रतियोगिता का भी आयोजन किया जा रहा है जिसमे विभिन्न विश्वविद्यालयों के करीब १००० खिलाड़ी भाग ले रहे हैं। इन प्रदर्शनों तथा कार्यक्रमों के माध्यम से जहां हम अपने विद्यार्थियों में नया जोश और नव जागरण भरने का प्रयत्न कर रहे हैं वहीं उनके उपयोग, उपभोग के लिए आवश्यक सुविधाओं को वृद्धिमान बनाये हुए हैं।

भारतीय विश्वविद्यालयों के सर्वोत्तमों में से एक सिन्डर ट्रैक सदुपयोग के लिए अब खिलाड़ियों को प्राप्त है। तरण ताल और स्क्वैश रैकट हाल जिसके लिए अन्य अनक लोग तरसते रह जाते हैं इस विश्वविद्यालय के खिलाड़ियों के लिए सुलभ है। लकड़ी के फर्श वाला बैडमिन्टन हाल तथा प्रदेश का सर्वोत्तम समझा जाने वाला पूर्ण प्रकाशित वास्केट वाल कोर्ट उन्हे

उपलब्ध हैं। हाकी तथा फुटवाल की पूर्ण और समुचित व्यवस्था है। टेनिस और लान टेनिस जो जब चाहे खेल सकता है। क्रिकेट के लिए कई मैदान उपलब्ध हैं। शिवाजी हाल व्यायाम शाला को आधुनिक बनाया जा रहा है जहां कुश्ती जिम्नास्टिक्स, मलखम आसन तथा भारोत्तोलन के लिए अलग अलग प्रशिक्षक नियुक्त हैं। स्विमिंग, वालीवाल, फुटवाल आदि के लिए भी प्रशिक्षकों की समुचित व्यवस्था है। कुछ और भी प्रशिक्षकों के नियुक्त होने की पूर्ण सम्भावना है। यही नहीं कि यहां प्रशिक्षकों और उपकरणों की सुविधायें प्राप्त हैं बल्कि हम विभिन्न तरीकों से विद्यार्थियों के प्रति उनके उत्तम खेल के लिए सम्मान भी प्रदर्शित कर रहे हैं। १० सर्वोत्तम खिलाड़ियों को प्रतिवर्ष ७५०।– रु० की स्कालरशिप दी जा रही है, करीब १२५ खिलाड़ियों की फीस प्रतिवर्ष माफ रहती है। प्रादेशिक राष्ट्रीय तथा अन्तर विश्वविद्यालयीय प्रतियोगिताओं में टीमों को भेजा जाता है। प्रतिवर्ष विशेष प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन किया जा रहा है जिनमें उनके खाने पीने इत्यादि की पूर्ण व्यवस्था की जा रही है। नयी कक्षाओं में प्रवेश के समय खिलाड़ियों को प्राथमिकता दिये जाने की भी व्यवस्था है। टीम के खिलाड़ियों को उनकी आवश्यक वेष भूषा भी प्रदान की जाती है। जन्माष्टमी के दिन पुरष्कार वितरण द्वारा खिलाड़ियों की सहायता की जाती है। अच्छे खिलाड़ियों को कलर, स्वर्ण पदक तथा विश्वविद्यालय ब्लू प्रदान किया जाता है। यहां तक कि हम खिलाड़ियों को ओलिंपिक में भी भेजने की बात को सहानुभूति पूर्वक विचार करते हैं और भेजते हैं। बालकिसुन इसी योजना के अंतर्गत मलखम प्रदर्शन करने म्यूनिख गया था।

उपर्युक्त सुविधाओं के प्रकाश में यह बड़ा स्वाभाविक है कि हम अपने खिलाड़ियों से भी कुछ उम्मीद करें, उनसे कुछ आशा रखें। हम यह नहीं कहते कि हम विकास नहीं कर रहे हैं परन्तु आज के प्रतियोगितात्मक युग में हमें अपने विकास की गति को उत्तरोत्तर बढाते जाना है तभी हम क्रियात्मक रूप से यह कह सकेंगे कि क्रीड़ा संघ हमारी साझा सपत्ति है और हम उसके प्रति सह दायित्व रखते हैं।



नगर छात्र निकाय

डॉ० त्रिभुवन सिंह

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से विशेष संबन्ध न रखने वालों के लिए निःसंदेह 'नगर छात्र निकाय' शब्द कुछ नया-नया होगा, परन्तु जिनका इस विश्वविद्यालय से निकट का लगाव है, उनके लिए छात्र निकाय भी छात्र संघ की तरह चिर परिचित है। छात्रों का लगाव जितना निकाय से रहता है उतना छात्र संघ से नहीं है। इसका कारण है इस संस्था का नगर से संवन्धित होना। नगर छात्र निकाय ने अभिभावकों एवं छात्रों के संबन्ध को निकटस्थ एवं दृढ़ बनाया है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय यद्यपि अवासीय विश्वविद्यालय ह तथापि यहां पर्याप्त संख्या में छात्रावास नहीं हैं तथा वाराणसी नगर की जन संख्या अधिक होने के कारण नगर वासी छात्रों की संख्या लगभग ८००० है। इतने छात्रों की देखरेख एवं उनपर अनुशासन रखने के लिए यह अनुभव किया गया कि एक संस्था होनी चाहिए। इसी उद्देश्य से नगर छात्र निकाय की स्थापना हुई। तकनीकी, मेडिकल संस्थानों को छोड़ कर सभी संस्थान के आधे से अधिक छात्र नगर में रहते हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का छात्र छात्रावास में न रहने के कारण कुछ सुविधाओं से वंचित रह जाता है जैसे क्रीड़ा, पुस्तकालय, व्यायाम एवं चिकित्सा।

नगर छात्र निकाय की स्थापना सन् १९३३ ई० में हुयी थी। उस समय उसके चेयरमैन श्री मुकुट विहारी लाल जी थे। इन्होंने इसकी शुरूआत की। इसके पश्चात् डा० सुवोध चन्द्र दास गुप्त के संरक्षण में यह नगर छात्र निकेतन के रूप में परिणित हो गया। छात्रों की संख्या ज्यों-ज्यों वढ़ती गई इसका रूप वदलता गया। १९६१ में श्री राम अवध सिंह के संरक्षण में इसने नगर छात्र निकाय का वर्तमान रूप ले लिया और अनावासीय छात्रों को वे सभी सुविधायें प्राप्त होने लगीं जिनसे वे अभी तक वंचित थे। इसके बाद वरिष्ट संरक्षक पद का कार्यभार डा० भोलाशंकर व्यास ने संभाला, उस समय नगर छात्र निकाय चार भागों में चल रहा था, नगर को चार भागों —पूर्वी निकाय, पश्चिमी निकाय, उत्तरी निकाय एवं दक्षिणी निकाय में बांटा गया। कुछ वर्षों तक इसी प्रकार चलने के बाद डा० त्रिभुवन सिंह ने कार्यभार संभाला और आज तक वे वरिष्ठ संरक्षक पद पर नगर छात्र निकाय को उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर लेकर चल रहे हैं। इस समय नगर छात्र निकाय ६ भागों में विभक्त है, पूर्वी निकाय, पश्चिमी निकाय, उत्तरी निकाय, दक्षिणी निकाय, राम नगर निकाय एवं मडुवाडीह निकाय। इन ६ निकायों के लिए ५ संरक्षक हैं सर्वश्री डा० विन्ध्यवासिनी प्रसाद (पूर्वी निकाय), डा० कमलिनी मेंहता (पश्चिमी निकाय), डा० झारखण्डे चौवे (उत्तरी निकाय), डा० रवीन्द्र कुमार बैनर्जी (दक्षिणी निकाय) एवं डा० रवीन्द्र वहादुर सिंह (मडुवाडीह एवं रामनगर निकाय)। जिनके संरक्षण में ये ६ निकाय अपने कार्य कर रहे हैं। इन कार्यों में संरक्षक गण को सहायता करने के लिए हर निकायों के अलग-अलग छात्र पदाधिकारी हैं।

नगर छात्र निकाय के अन्तर्गत नगर के हर निकाय में क्रीड़ा केन्द्र खोले गये है जहां छात्र लाभ उठाते हैं एवं उन केन्द्रों पर समाचार-पत्र एवं पत्रिकाओं की भी सुविधा दी जाती है। इस

समय चार निकायों में अध्ययन केन्द्र खोले गये हैं जहां पाठ्य पुस्तकें छात्रों के अध्ययन हेतु उपलब्ध हैं। अन्य दो निकायों के हेतु अध्ययन केन्द्र के लिए विश्वविद्यालय से मांग की गई है जो विचाराधीन है। नगर छात्र निकाय समय-समय पर क्रीड़ा प्रतियोगिताएँ, साहित्यिक प्रतियोगिताएँ कराता रहता है एवं पुरस्कार भी वितरित होते हैं जिससे छात्रों के अन्दर प्रतिभा का विकास होता है। नगर छात्र निकाय विना विशेष सहायता एवं कर्मचारियों के हर वर्ष 'निकाय' पत्रिका सम्पादित करता है जिससे नगर वासी छात्रों के भीतर छिपी हुयी प्रतिभा विकसित हो सके। इस वर्ष निकाय पत्रिका का भारतेन्दु अंक प्रकाशित हुआ है। इसके पहले नगर छात्र निकाय ने काफी वड़े पैमाने पर मानस चतुश्शती समारोह मनाया था जिसमें देश के वड़े-वड़े विद्वनगण एकत्र हुए थे, इसी उपलक्ष में एक मानस चतुश्शती अंक भी निकाला गया था। मानस चतुश्शती समारोह का समापन राम नवमी के अवसर पर तुलसी शोध संस्थान की स्थापना के साथ सम्पन्न हुआ। इस कार्य क्रम के संरक्षक डा० कालूलाल श्री माली तथा अध्यक्ष डा० रामलोचन सिंह थे। विश्वविद्यालय के निकाय एवं छात्र संघ के पदाधिकारीगण इसकी कार्यकारिणी के सदस्य थे।

इस वर्ष नगर छात्र निकाय ने व्यापक पैमाने पर प्रतियोगिता का संचालन किया, पहले हर निकायों को अलग-अलग प्रतियोगिताएं हुई, फिर अन्तर्निकाय प्रतियोगिताएं हुई। इन प्रतियोगिताओं में काफी संख्या में छात्र एवं छात्राओं ने भाग लिया। हर वर्ष की अपेक्षा इस वर्ष अच्छे पुरस्कार का वितरण हुआ।

निकाय के पदाधिकारियों के प्रयास से नगरवासी छात्रों को सस्ते दर पर खाद्य सामग्री दिलवाने की व्यवस्था राज्य सरकार द्वारा की गयी जिसका संचालन डा० उमेश प्रसाद, छात्र अधिष्ठाता करते हैं। इससे लाजों में रहने वाले छात्रों को विशेष सुविधा हुयी। अगले सत्र में नगर छात्र निकाय की योजना "काशी ६० वर्ष के आइने में", हीरक जयंती अंक सम्पादित करने की है।

नगरवासी छात्रों का सम्पर्क हमेंशा नगर छात्र निकाय से वना रहता है एवं निकाय द्वारा उनकी परेशानियों को दूर करने का प्रयास किया जाता है पर साधन सीमित होने के कारण कुछ कार्य हम नहीं कर पाते हैं और समस्याएँ वनी हुयी हैं—जैसे दो अध्ययन केन्द्र और चिकित्सालय, क्रीड़ा स्थल एवं व्यायामशाला में प्रशिक्षक की नियुक्ति एवं लाजों में रहने वाले छात्रों के लिए सहकारी संघ जहां से वे सस्ते दामों में आवश्यक सामान ले सकें। सबसे प्रमुख एवं पुरानी समस्या चिकित्सालय की रही है जो आज तक नहीं हल हो पायी फिर भी नगर निकाय का प्रयास इस ओर है। आशा है सभी समस्याओं का हल भविष्य में हो जायेगा।

इस प्रकार नगर छात्र निकाय नगरवासी छात्रों का मार्ग प्रदर्शित करते हुए उन्हें संरक्षण प्रदान करता है जिससे वे अपने भीतर छिपी प्रतिभा को विकसित कर सकें।

वरिष्ट संरक्षक नगर छात्र निकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

विश्वनाथ मंदिर

खेलाड़ी पाठक

आदि काल से सुख-शान्ति की खोज मानव की मौलिक अभिलाषा रही है। देश-काल-पात्र के अनुसार ऋषि-मुनि, तत्त्वदर्शी, विचारक, महापुरुष सुख-शान्ति की उपलब्धि के लिए मार्गदर्शन करते रहे हैं। इसी खोज के परिणाम स्वरूप विभिन्न पौर्वात्य-पाश्चात्य, आस्तिक-नास्तिक दर्शनों की उत्पत्ति-अन्त्येष्टि हुआ करती है। यह प्रपञ्चात्मक विश्व गतिमान परिवर्तनशील तथा त्रिगुणात्मक है। विश्व का केन्द्र विन्दु परमात्मा ही एकमात्र अनादि, अनन्त, चिरन्तन शाश्वत तत्त्व है। परमात्मा के सिवा किसी अन्य वस्तु अथवा तत्त्व को अनन्तत्त्व प्रदान करने की चेष्टा बालू की भीत बनाना है।

अणु चालित इस वैज्ञानिक युग में कल्पनातीत भौतिक उपलब्धियों के बावजूद आज का समृद्धिशाली मानव अपने को सुख-शान्ति की परिधि के बाहर पाकर तड़प रहा है, विलख रहा है। "धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे" के अनुसार जन-जन का कल्याण करने के लिए, विज्ञान को ब्रह्मज्ञान से मिलने के लिए, अखिल विश्व को एक इकाई में परिवर्तित करने के लिए, दुःख से पीड़ित प्राणियों का कष्ट दूर करने के लिए शिव और कृष्ण की परम्परा में महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय ने महासंभूति के रूप में प्रकट होकर मानव-मानव को शाश्वत सुख-शान्ति प्रदान करने के लिए 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' की संस्थापना की है।

आज के इस जर्जर, अशान्त व पीड़ित संसार की आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सभी मानवीय समस्याओं का समाधान एक मात्र 'वैदिक सनातनधर्म' और 'महामना का जीवन-दर्शन' ही है।

पूँजीवाद कालातीत हो चुका है, साम्यवाद निष्प्राण हो रहा है क्योंकि आध्यात्म रहित भौतिकवाद को ही वह सर्वस्व समझता है। धार्मिक ठेकेदारी अपने अन्तिम दिन गिन रही है। आस्तिकता समाप्त प्राय हो रही है और उसका स्थान ग्रहण करने में नैतिकता अपने को असमर्थ पा रही है। महापुरुष भी इन समस्याओं का समाधान करने में एक के बाद एक असफल होते जा रहे हैं। इसीलिए व्यक्तिगत तथा विश्वगत सुख-शान्ति की चाह रखने वालों को 'वैदिक सनातन-धर्म' और 'महामना के जीवन-दर्शन' के कल्याण-पथ पर अग्रसर होने की आवश्यकता है। "आत्मक्षार्थं जगत् हिताय च" वैदिक धर्म साधना का मूलमंत्र है। आध्यात्मवाद और भौतिकवाद का सुखद सामञ्जस्य वैदिक-धर्म का लक्ष्य है। ज्ञान-विज्ञान तथा आत्मज्ञान का सुन्दर समन्वय वैदिक मार्ग की अलौकिक देन है। "मानव-मानव एक है" वैदिक मार्ग का उद्घोष है। तार्किकता, मनोवैज्ञानिकता तथा वैज्ञानिकता वैदिक धर्म के योग-साधना की विलक्षणता है।

अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दुओं के कल्याण के लिए, हिन्दू-शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार कर प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा के लिए, प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था,

उसके निदर्शन के लिए, कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए, भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-संपदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि संबंधी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करने के लिए, धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करने के लिए 'महामना' द्वारा 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' की स्थापना की गई है।

यदि काशी नगरी भगवान् शङ्कर के त्रिशूल पर बसी है तो 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' उनके हृदय पर बसा है। यदि काशी में देह त्यागने पर मुक्ति मिलती है तो विश्वविद्यालय में सदेह मुक्ति और भुक्ति मिलती है। इसी कारण देश के कोने-कोने से लोग यहाँ आकर रहने लगते हैं। यहाँ प्रत्येक प्रदेश के निवासी हैं। यह शिक्षा का केन्द्र है। यहाँ सभी सम्प्रदाय के लोग रहते हैं। काशी में शंकर का विश्वनाथ नामक ज्योतिर्लिङ्ग है। मन्दिरों की यहाँ गिनती ही नहीं की जा सकती, गली-गली में मन्दिर हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के केन्द्र में स्थित दो सौ बावन फीट ऊँचा 'श्री विश्वनाथ-मन्दिर' भारत की सबसे विशाल एवं भव्य इमारत है। जो कि अपने धवल, उन्नत मस्तक को उठाये अपनी कीर्ति-कौमुदी का आध्यात्मिक प्रसारण कर रहा है। यह विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय की हार्दिक इच्छा की पूर्ति है।

'महामना' ने कहा था—"..........यूरोप में मैंने जो देखा और जिस पर आश्चर्य किया वह मेरे हृदय की तंत्री को न छू सके, केवल भवन मुझे आकर्षित न कर सके मेरी आत्मा किसी और गंभीर वस्तु को ढूंढ रही थी। वह गम्भीर वस्तु वास्तव में आदर्श और सुन्दर थी। यहाँ प्राचीन काशी में पुनीत गंगा के तट पर मुझे आन्तरिक तृप्ति मिली। गम्भीर आनन्द और दैवी उल्लास प्राप्त हुआ। यहाँ पर अपनी जाति के इतिहास और परम्परागत विश्वास की अभिव्यक्ति वह इच्छित वस्तु मिल गई। यह कला, यह शिल्प और यह स्वरुप इतना भावमय और इतना पवित्र था कि इसने मेरी आत्मा को प्रसन्न कर दिया। यहां मैं आनन्द में स्नान करता हूँ। इस हिन्दू उत्साह के पीछे मुझे एक दृश्य दिखाई पड़ता है। मैं एक कार्यक्रम, एक दैवी उद्देश्य देखता हूँ। शुभ सूर्यालोकित गुम्बजों से सुशोभित ये सुन्दर भवन ऐसे प्रतीत होते हैं मानों चुनार की शिलाओं में सुन्दर छोटी-छोटी कविताएँ लिखी गयी हों। कहीं है सम्पूर्ण एशिया और योरोप में विद्यार्थियों के योग्य ऐसा सुन्दर स्थान? कहाँ है ऐसा उदार धनुषाकार नीलाकाश? कहाँ है वह दिव्य स्थल जहां मनुष्य पवित्र गंगा की मधुर कोमल कल-कल निनाद निरन्तर सुनता रहे? क्या संसार में संस्कृति का कोई ऐसा केन्द्र है जिसके साथ इतना प्राचीन इतिहास लगा हो। जिसके साथ अक्षय स्मृतियां—बुद्ध, शंकर, रामानुज, तुलसीदास और कबीर आदि की लगी हुई हों? हिन्दू विश्वविद्यालय की गौरवमय भूमि में भक्तिमय विचारों की एक धारा है, एक अखण्ड राग है। समय के परिवर्तन की ओर देखो, सभ्यता की उषा की ओर देखो और संसार के प्रातःकाल की ओर देखो। वहाँ प्राचीन ऋषियों के स्वर सुनाई पड़ते मालूम होंगे। पृथ्वी भले ही उपजाऊ स्थलों, हरियाली भूमि, घनी प्रदेशों का गर्व करे किन्तु जैसा रमणीय स्थल यहाँ है ऐसा अमूल्य, ऐसा पवित्र और ऐसा दिव्य प्रदेश कहीं ढूँढ़े नहीं मिलेगा। यहाँ सुपुष्पित फलवती और पक्षीकूजित कुंजों के बीच से भव्य भवन

निकलते चले आ रहे हैं। उन कुंजों से प्रसन्नता, आशा और अमरत्व की हँसी फूट रही है। अनन्त काल के लिए यही संसार की संस्कृति का केन्द्र है। यही मेरी मातृभूमि की पिटारी है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय संसार में एक विशेष उद्देश्य और निश्चित कार्यक्रम लेकर उत्पन्न हुआ है। अपने मन्दिर के ज्ञानमय स्तम्भों से अंधकार में पड़े हुए संसार को प्रकाश देने और मनुष्यमात्र को परम ज्योतिर्मय परमेश्वर की झाँकी दिखाने के लिए यह पैदा हुआ है"

सादगी, त्याग, देशभक्ति, उदारता और विश्व व्यापी प्रेम तथा तीर्थ स्वरूप मालवीय जी का एक ओर १२ नवम्बर सन् १९४६ को पार्थिव शरीरावसान हुआ था और दूसरी ओर अपने अवसान को भी निर्माण का रूप देकर 'श्री विश्वनाथ मंदिर' का निर्माण किया था। मानो यह उन 'महात्मा' का ही नूतन जन्म हुआ हो। इसीलिए मैं इस मन्दिर को जड़ नहीं सजीव-चेतन समझता हूँ। मंदिर के विशाल विग्रह में भी भूतभावन भगवान् शिव और महामना मदन मोहन का एक ही रूप में साक्षात् दर्शन करता हूँ।

यह मंदिर लगभग सत्तर लाख रूपयों से, जो कि सम्पूर्ण भारत के विभिन्न स्रोतों से प्राप्त हुआ, निर्मित हुआ है। इसका निर्माण-कार्य सन् १९४६ में प्रारम्भ कर सन् १९६६ में समाप्त किया गया जिसमें कुल बीस वर्षों का समय लगा।

भगवान् विश्वनाथ की स्थापना सन् १९५८ में, श्री पंचमुखी महादेव, गणेश-अम्बिका एवं हनुमान जी की मूर्तियों के साथ, निचले हिस्से में हुई थी। दो साल बाद ऊपर (द्वितीय मंजिल) की मूर्तियां लक्ष्मी-नारायण, योगिराज महादेव तथा महामाया स्थापित हुयीं।

यह देवालय समस्त जाति, धर्म, हिन्दू, मुस्लिम तथा इसाइयों के लिए उन्मुक्त रहता है। जिसके कारण प्रतिदिन लगभग दस हजार दर्शनार्थी आते हैं, जिनमें लगभग एक हजार विदेशी भक्त भी होते हैं।

मंदिर प्रातः चार बजे से रात्रि नव बजे तक अर्थात् सोलह घंटे प्रत्येक दिन सम्पूर्ण वर्ष खुला रहता है। दिन के दोपहर में बारह बजे से एक बजे तक बन्द रहता है। यह मंदिर घंट-घड़ियालों से दिशा-विदिशा को निनादित करता हुआ, अपने पवित्र सौरभ से धरती-आकाश को सुरभित करता हुआ, स्तुति परक वेद-मन्त्रों से जड़-चेतन में आध्यात्मिक-स्फूर्ति पैदा करता मधुर, सुगन्धित, दिव्य-ज्योति-प्रकाश से मानव जगत् का बाह्य एवं आभ्यान्तर आलोकित करता प्रातः की 'आरती' के साथ खुलता है तथा प्रातः का पूरा पाठ दुहराता हुआ रात्रि की आरती के बाद बन्द हो जाता है।

मैं काशी विश्वनाथ मंदिर को मंदिर नहीं बल्कि पतित-पावन, भूत-भावन भगवान आशुतोष का गगनचुम्बी श्वेत-धवल कैलाश पर्वत मानता हूँ जहाँ जगज्जननी भवानी और भोलेनाथ सदैव विराजमान रहते हैं। अथवा इसे मंदिर नहीं बल्कि मंदिर के समूचे विग्रह को ही चन्द्रशेखर का साक्षात् विग्रह मानता हूँ। श्री विश्वनाथ मंदिर की दीवारें जड़ नहीं सजीव-चेतन हैं। यहाँ के कण-कण में अमर-स्पन्दन एवं दिव्य-ज्योति और आध्यात्मिक गूँज है जिसे शान्त एवं समाहित मन से देखा और सुना जा सकता है। इसका एक कारण यह भी है कि महामना' की चैतन्य आत्मा की प्रखर ऊर्जाशक्ति कण-कण में गहराई हुई है।

उनके मन में जो कोई संकल्प पैदा हुआ उसे साकार रूप लेना था क्योंकि वे सत्य-संकल्पी थे। यह शक्ति उनके सदाचरण की चमत्कारिक शक्ति थी, आध्यात्मिक शक्ति थी।

मंदिर में प्रत्येक सोमवार को रुद्राभिषेक पर्व मनाया जाता है। श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, श्रावणी, नवरात्र-शरद एवं चैत्र (पूर्णाहुति के साथ), दीपावली, महारास पूर्णिमा, महाशिवरात्रि (पूर्णाहुति के साथ) आदि पर्व बड़ी अगाध श्रद्धा-भक्ति और धूमधाम से मनाए जाते हैं।

यह श्री विश्वनाथ मंदिर और विश्वविद्यालय 'काशी' की चिन्मय प्रतिमा हैं। मंदिर की ओर से प्रत्येक सोमवार को रुद्राभिषेक की पावन क्रिया सप्रेम सम्पादित की जाती है। वैसे लगभग प्रतिदिन ही पर्व का साकार रूप मंदिर में देखा जा सकता है। श्री कृष्ण जन्माष्टमी के पवित्र पर्व पर भगवान् कृष्ण का सन्देश—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूमा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ गीता २।४७ ॥

गीता के माध्यम से जन-जन के मन में गूंज उठता है। भाद्रपद कृष्णाष्टमी की घनघोर काली अंधेरी अर्धरात्रि तक व्रती भक्त-मण्डली के भजन कीर्तनादि की सुमधुर ध्वनि वाद्ययंत्रों के साथ समरस हो धरती-आकाश में दिव्य स्पन्दन पैदा कर देती है।

आश्विन शुक्ल पक्ष में शरद ऋतु की 'नवरात्र' के नव दिनों तक महामाया चरित्र 'दुर्गा सप्तशती' के माध्यम से ब्रह्मचारी ब्राह्मण तपस्वियों के ओजस्वी स्वरों से धरती का कण-कण गूँज उठता हैं। दुर्गाष्टमी के दिन दुर्गापूजा का समारोह अपनी विशिष्ट दिव्य-छटा के साथ सम्पन्न होता है। विजयादशमी के रूप में यह पर्व अपना चरम-संदेश देता हुआ समाप्त हो जाता हैं और अपनी गूँज को चैत्र शुक्ल पक्ष के वसन्त ऋतु की 'नवरात्र' के नव दिनों तक अमिट रखता हैं। शारदीय और वासन्तीय वातावरण में नवरात्र-पर्व की प्राकृतिक छटा का आध्यात्मिक प्रवाह जन-जन के मन पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाता है।

कार्तिक की अमावस्या की सघन अंधेरी रात्रि में संग-मरमरी इमारतों पर पंक्तिबद्ध प्रज्वलित प्रदीपों की भव्य छटा सौन्दर्य की पूर्ण निखार को प्राप्त होती है। इस दिन की रात्रि-सुन्दरी की रूप-छवि का वर्णन नहीं किया जा सकता। इस दिन की प्रकाश-ज्योति वर्ष भर तक हृदय में घर किए रहती है। विभिन्न पर्वों की तरह महारास पूर्णिमा का पर्व भी मंदिर के रसिक भक्तों की ओर से अत्यन्त हाव-भाव से मनाया जाता है।

फाल्गुन कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी के दिन सरस शिशिर ऋतु के शीतातप मिश्रित वातावरण में 'महाशिवरात्रि व्रत' का पर्व तपस्वी भक्तों द्वारा सोत्साह मनाया जाता है। काफी धूम-धाम से सजधज कर क्षेत्रीय तथा वाहरी 'वृद्ध युवान जरठ नर नारी' समुदाय मनमोहक कलशों में गंगाजल और थालों में पूजन-सामग्री आदि लेकर 'शिव-पूजन' हेतु मंगल गानों से धरती-आकाश को रसमय करता हुआ मंथर गति से राजपथ से मंदिर की ओर जाता हुआ दर्शकों के पवित्र मन को दिव्य अनुभूति से स्पन्दित कर देता है।

मंदिर की ओर से विभिन्न पर्वों के वाह्य एवं आन्तरिक स्वरूपों का परिचय भी आत्म-निष्ठ, ब्रह्मवेत्ता, अनुभवी महापुरुषों के उपदेशों के माध्यम से कराया जाता है। इस प्रकार विभिन्न पर्वों के वाह्य एवं आभ्यान्तर दोनों मूल्यों की सार्थकता का प्रतिपादन देखा जा सकता

हैं। महाशिवरात्रि पर्व के नव दिन तक की अपूर्व भव्य सजावट विसरायी नहीं जा सकती। निविड़तर तमसावृत धरती-आकाश में बिजली के रंग-विरंगे खिले हुए फूलों की मनोहर छटा, मंदिर की भूमि में अगणित खिले हुए फूलों की मधुर मादक सुगन्ध मिश्रित मदिर पवन के हल्के झोंके, गगन चुम्बी विशाल प्रभावशाली मंदिर को धवल प्रतिमा, असंख्य पंक्तियुक्त द्रुमों के बद्ध पल्लव-कर-कमलों की माला, आदि की समवेत प्रतिभा सुख-शान्ति की एक अमर ज्योति जला देती हैं। इस पर्व पर भूत भावन परम कृपालु भोलेबाबा अपने चिन्मय-स्वरूप का साक्षात् दर्शन देते हैं।

उपर्युक्त पर्वों के अतिरिक्त पूरे श्रावण मास 'श्रावणी' के उपलक्ष्य में मंदिर की सजावट शिव की सजावट के रूप में की जाती है। पूरे मास पर्यन्त काफी चहल-पहल रहती है। और भक्तों को दर्शन के अत्यधिक अवसर सुलभ हो जाते हैं। दर्शनार्थियों के दल धूमधाम से सजधज कर गाते-बजाते प्रतिदिन अगणित संख्या में आते हैं। इन पंक्तियों का लेखक जब कभी मंदिर में प्रवेश करता है उसके मन की सारी हलचल शान्त हो जाती है और वहाँ के परिवेश में दिव्य-शान्ति लाभ करता है। ऐसा होना भी स्वाभाविक है क्योंकि जिसे शिव के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है उसे सहज ही सुख-शान्ति प्राप्त हो जाती है। जैसा कि 'शंकर' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी 'शांति प्रदान करनेवाला' होता है। वलाहकों की छाया में हरे-भरे मनमोहक 'तृण-तुराई' पर बैठे नर नारियों को देख अनायास मन प्रमुदित हो उठता है, हृदय गद्‌गद् हो जाता है, तन रोमांचित हो जाता है और आंखों में प्रेमाश्रु छलछला उठते हैं। मंदिर में विश्वनाथ की प्रतिमा के सम्मुख समस्त जाति, धर्म के भक्त नर-नारियों के बद्ध कर कमलों की माला, हृदय में प्रवाहित असीम श्रद्धा-भक्ति की उमड़, घंटे-घड़ियालों की ध्वनि-फल-फूल-पत्र एवं पवित्र जल सहित भक्तिमयी माताओं का आत्म समर्पण आदि हृदय को अपार्थिव शान्ति एवं आह्लाद प्रदान करता है।

मंदिर के बगीचों का रख-रखाव उद्यान विशेषज्ञों द्वारा होता है। इसके उपवन और पुष्प वाटिकाओं में विविध रूप-रंग के खिले सुगन्धित फूलों की मालाएँ, वृक्षों की पुष्प डालियों पर बैठे, फुदकते, चहचहाते पक्षियों के सरस संगीत की सुरीली तान सम्मोहक जादू सा हृदय पर अप्रतिम प्रभाव डालती है।

मंदिर का प्रबंध विश्वविद्यालय के अधीन सन् १९६३ से ही हो रहा है। 'मंदिर समिति' में नौ सदस्य हैं। यह विश्वविद्यालय की 'कार्यकारिणी समिति' की एक उप-समिति है। इसके अध्यक्ष माननीय कुलपति महोदय तथा कुल-सचिव, सचिव हैं। मंदिर के निर्माण में भारत के परम सौभाग्यशाली जिन महान पुरुषों ने आर्थिक योगदान दिया है, उनका नाम और देय धनराशि मंदिर की संगमरमरी दिवालों पर अंकित है। मंदिर की दीवालों पर सम्पूर्ण वेद, शास्त्र, पुराण, रामायण, महाभारत, रामचरित मानस आदि के सर्वोत्कृष्ट वचनों को अंकित किया गया है। इसके अतिरिक्त विश्व के समस्त धर्मों के महापुरुषों के सचित्र उपदेश अंकित किए गए हैं। सात सौ श्लोकों वाली 'गीता' का सम्पूर्ण पाठ मंदिर की दीवालों पर अंकित है। जिसे देख कर लगता है कि समस्त विश्व वाङ्मय तथा महापुरुष अपना चिन्मय साकार रूप धारण कर दर्शनार्थियों को उपदेश कर रहे हैं।

'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' की स्थापना की पूर्णता के लिए 'श्री विश्वनाथ मंदिर' की महती आवश्यकता का रहस्य महामना के हृदय में विद्यमान था । उसके मूल स्वरूप का मर्म 'महामना' की ही स्वरचित निम्नलिखित कविता में समझा जा सकता है ।

"जयतु विश्वविद्यालय काशी ।
मातु गंग पय जाहि पियावत, मूलधमं सुखराशी ।
पालत विश्वन.थ विद्यागुरु, शंकर अज अविनाशी ।।
ज्ञान-विज्ञान-प्रकाशी
जयतु विश्वविद्यालय काशी ।।१।।

गंगा-जमुन-संगम बिच देवी गुप्त रही चपला-सी ।
ईश-कृपा ते सोई सरस्वतीं, वाराणसी प्रकाशी ।।
तिमिर-अज्ञान-बिनाशी ।
जयतु-विश्वविचालय काशी ।।२।।

ऋषि-मुनि-संग नृप-मंडल सोहत, उत्सव परम हुलासी ।
देत असीस फलहु अरु फूलहु सब विधि भारत बासी ।।
लहहु विद्याधन राशी ।
जयतु विश्वविद्यालय काशी ।।३।।

अर्थात्, यह काशी विश्वविद्यालय जो ज्ञान-राशि की सजीव मूर्ति है, विश्व का कल्याण करने वाला है । जिसे भक्ति स्वरुपा गंगा राम की कीर्तिरूपी जल से सिंचित करती हुई हरा-भरा रखती है । यह भक्ति स्वरूपा गंगा धर्म की मूल और सुख की राशि है । अथवा यह विश्वविद्यालय धर्म के मूल को सुरक्षित रखने वाला और सुख की खान है । इस विश्वविद्यालय के संस्थापक, संरक्षक, पिता 'विश्वनाथ' है जो कि आज, अविनाशी, विद्यागुरू और 'शंकर' है । (विश्वनाथ के लिए 'पालत' और 'विद्यागुरु' शब्दों का प्रयोग साभिप्राय और विचारणीय है।) जिससे कि ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश हुआ ।

ज्ञान रूपी सरस्वती देवी भक्ति रूपी गंगा और कर्म रूपी यमुना के संगम में, मेघ में छिपी चपला की तरह गुप्त थीं । परन्तु विश्वनाथ की कृपा से वही ज्ञान रूपी सरस्वती विश्व-विद्यालय के रूप में मूर्तिमान हो उठी हैं जो कि अन्धकार रूपी अज्ञान को विनष्ट करने वाली हैं ।

यहां द्रष्टव्य है कि 'ज्ञान-विज्ञान प्रकाशी' और 'तिमिर-अज्ञान विनाशी' पंक्तियाँ क्रमश: विश्वनाथ और सरस्वती के लिए प्रयुक्त हुई हैं जिन दोनों का कार्य परिणाम एक ही है— ज्ञान-विज्ञान प्रदान करना । इसीलिए कहता हूँ कि विश्वविद्यालय और 'श्री विश्वनाथ मंदिर' दोनों का लक्ष्य एक ही वस्तु की प्राप्ति करना है । यदि हमें शिव-तत्त्व या आत्म-तत्त्व का ज्ञान हो जाय तो संसार की समस्त विद्याओं और वस्तुओं का ज्ञान हो जाय ।

"आत्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या, विज्ञाने नेदं सर्वं विज्ञातं भवति।" (बृहदारण्य-कोपनिषद् २।४।५) ।

आगे की पंक्तियों में 'महामना' के विशाल, व्यापक और उदार हृदय का दर्शन मिलता है। जहां ब्राह्मण ऋषि-मुनियों के साथ राजर्षि-मण्डली भी आत्म साक्षात्कार में रत है, जिसका उन्हें परम आनन्द है। ऋषि-मुनि तथा राज-ऋषियों सहित 'महामना' भारतवासियों को शुभाशीर्वाद देते हैं कि वे सर्व भांति फूलें-फलें, समृद्धि का लाभ करें और साथ ही साथ विद्या-रुपी धन को प्राप्त होवें। इस प्रकार यह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जो कि ज्ञान-राशि की साकार प्रतिमा है विश्व का मंगल करे।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को जहाँ संसार के समस्त मानवों के कल्याण करने के मूल उद्देश्य से स्थापित किया गया था वहीं श्री विश्वनाथ मंदिर की स्थापना का भी वही मूल लक्ष्य रखा गया था। क्योंकि शिव का समस्त विश्व के लिए कल्याणकारी रुप प्रकट ही है।

मुक्ति जन्म महि जानि ग्यान खानि अघ हानि कर।
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइअ कस न॥
जरत सकल सुर बृंद बिषम गरल जेंहि पान किय।
तेहि न भजसि मन मंद को कृपाल संकर सरिस॥

(रामचरित मानस)

श्री विश्वनाथ मंदिर की स्थापना का रहस्य है 'शिव तत्त्व' का बोध होना, आत्म-साक्षात्कार होना और विश्वविद्यालय का भी उद्देश्य है ज्ञान-तत्त्व अर्थात् शिव-तत्त्व का साक्षात्कार कराना यानी दोनों का लक्ष्य एक है।

मंदिर के एक मानित दूरदर्शी, कुशल, धर्म परायण, 'व्यवस्थापक' हैं जिनकी मंदिर के प्रति अगाध श्रद्धा-भक्ति रहती है। वे इसके संरक्षण में तन-मन से लगे रहते हैं। मंदिर की सुन्दर व्यवस्था हेतु एक 'कार्यालय-सहायक' की भी नियुक्ति की गई है। इसकी महिमामयी गरिमा के अनुकूल ही छः कर्मनिष्ठ, ब्राह्मण, 'पुजारी' की व्यवस्था की गई है जो विश्वनाथ जी का षोडशोपचार विधि से पूजन आदि प्रतिदिन नियमित समय से किया करते हैं। मंदिर की व्यवस्था को सशक्त बनाने के लिए दो 'जमादार' तथा दो कर्मठ, कार्य-कुशल, स्वस्थ 'चौकीदार' एवं एक पवित्र सदाचारी 'भण्डारी' की नियुक्ति की गई है। मंदिर के वाह्य सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने हेतु पाँच कलाचार 'फर्राश' तथा एक 'स्वीपर' की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार से माननीय व्यवस्थापक सहित कुल उन्नीस भक्त-गणों को मंदिर की सुन्दर व्यवस्था एवं सुरक्षा हेतु अपना-अपना, अलग-अलग कार्य स्थाई रूप से सौंपा गया है।

पूर्व कथनानुसार सन् १९६३ से श्री विश्वनाथ मंदिर पूर्ण रूप से विश्वविद्यालय के 'रेवन्यू बजट' द्वारा संचालित होता है। 'मंदिरसमिति' के अनुरोधपर 'वित्त समिति' तथा कार्य-कारिणी समिति' के द्वारा "श्री विश्वनाथ मंदिर" के नाम से एक कोष का सृजन इकतीस मार्च सन् १९७५ को किया गया जिसमें मंदिर में दिए समस्त प्रकार के दान, मंदिर परिसर में स्थित दुकानों का किराया, मंदिर कालोनी से प्राप्त आय जमा होती है। मंदिर के सर्वाङ्गीण विकास के लिए इस कोष का उपयोग किया जाता है।

वेदों ने भगवान शिव को तीनों लोकों का गुरु कहा है। इस रहस्य को पामर प्राणी नहीं जानते। शिव धर्म रूपी वृक्ष के मूल, विवेक रूपी समुद्र को आनन्द देने वाले पूर्ण चन्द्र, वैराग्य रुप कमल के विकसित करने वाले सूर्य, पाप रुपी घोर अन्धकार को निश्चय ही मिटाने वाले, तीनों तापों को हरने वाले, मोह रूपी बादलों के समूह को छिन्न-भिन्न करने की विधि में आकाश से उत्पन्न पवन स्वरूप, ब्रह्मा जी के वंशज तथा कलंक नाशक महाराज श्री रामचन्द्र जी के प्रिय हैं। जिनकी गोद में हिमांचलसुता पार्वती जी, मस्तक पर गंगा जी, ललाट पर द्वितीया का चन्द्रमा, कण्ठ में हलाहल विष और वक्षःस्थल पर सर्पराज शेष जी सुशोभित हैं, वे भस्म से विभूषित, देवताओं में श्रेष्ठ, सर्वेश्वर, संहार कर्त्ता, भक्तों के पाप नाशक, सर्वव्यापक, कल्याण रुप, चन्द्रमा के समान शुभ्र वर्ण और भक्तों की सदा रक्षा करने वाले हैं। कुन्द के फूल, चन्द्रमा और शंख के समान सुन्दर गौर वर्ण, जगज्जननी श्री पार्वती जी के पति, वाञ्छित फल के देन वाले, दुखियों पर सदा दया करने वाले, सुन्दर कमल के समान नेत्र वाले, कामदेव से छुड़ाने वाले, तथा सदा कल्याणकारी हैं। शंख और चन्द्रमा की-सी कान्ति के अत्यन्त सुन्दर शरीर वाले, व्याघ्र चर्म के वस्त्र वाले, काल के समान भयानक सर्पों का भूषण धारण करने वाले, गंगा और चन्द्रमा के प्रेमी, काशीपति, कलियुग के पाप समूह का नाश करन वाले, कल्याण के कल्पवृक्ष, गुणों के निधान और कामदेव को भस्म करने वाले पार्वतीपति वन्दनीय श्री शंकर जी को मैं नमस्कार करता हूँ। जो सत्पुरुषों को अत्यन्त दुर्लभ कैवल्यमुक्ति तक दे डालते हैं और जो दुष्टों को दण्ड देने वाले हैं, वे कल्याणकारी श्री शम्भु समस्त प्राणियों के कल्याण का विस्तार करें। जिनका कुन्द के पुष्प और चन्द्रमा के समान गौर शरीर है, जो पार्वती जी के प्रियतम और दया के धाम हैं और जिनका दीनों पर स्नेह है, वे कामदेव का मर्दन करने वाले शंकर जी समस्त प्राणी मात्र पर सर्वदा कृपा करें।

शोध छात्र, हिन्दी विभाग।

"काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस"

'भरत नारायण गुप्त'

शताब्दियों से दासता की बेड़ियों में जकड़े रहने के कारण जब भारतवर्ष की मूलजातियों की अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं बौद्धिक चेतना कुण्ठित ही नहीं विलुप्तप्राय हो चुकी थी, ऐसी परिस्थिति में उक्त चेतना के रक्षण एवं विकास के लिए ईश्वर ने ऐहिक पुनर्निर्माण की क्षमता से पूर्ण एक ऐसी महाविभूति को जन्म दिया जिसने समस्त भारतवर्ष की बौद्धिक चेतना को न केवल पुनर्जागृत किया अपितु उसके उत्कर्ष का मार्ग भी प्रशस्त किया। हिन्दू प्राण महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय ने अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु प्राची तथा प्रतीची की समस्त विद्याओं के संगम रूप में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना सन् १९१६ में विद्या के अधिष्ठातृ देव भूतभावन भगवान विश्वनाथ की रम्य पुण्यस्थली काशी में चिरन्तनकाल से प्रवाहित होने वाली कल-कलनिनादिनी मन्दाकिनी के पावन तट पर की।

चतुर्दिक ऊँचे प्रकार से आवृत इस महती संस्था के विशाल-प्रांगण में अनेक गगन चुम्बी विद्या-भवनों का यथा क्रम निर्माण भी हुआ। किसी भी महती संस्था के कार्यों के अव्यवहित सम्पादन के लिए अनेक साधनों की आवश्यकता पड़ती है तथा वह संस्थान भी उन साधनों को अपने भीतर समाहित रखती है। इस विश्वविद्यालय में भी अपनी आवश्यकतानुसार अनेकानेक संस्थाओं एवं उपसंस्थाओं की विधिवत् स्थापना हुयी।

उसी क्रम में विश्वविद्यालय स्थापना के बीस वर्षों बाद महामना जी ने अप्रैल सन् १९३६ में "विश्वविद्यालय प्रेस" का शुभारम्भ किया। इस विचार को दृष्टिकोण में रखकर कि 'प्रेस' विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों को मुद्रणकार्य, कागज, एवं स्टेशनरी की आपूर्ति कर सके और इसके साथ ही विश्वविद्यालय के शिक्षकों द्वारा लिखित पुस्तकों का मुद्रण हो सके।

प्रेस के शैशव-काल में मुद्रण के थोड़े साधनों एवं थोड़े से कर्मचारियों को लेकर कार्य प्रारम्भ किया गया था। उस समय व्यवस्थापक का कार्यभार मुद्रण कार्य के मर्मज्ञ एवं कर्मठ व्यक्ति श्री प्यारेलाल जी भार्गव के हाथ में था। उन्होंने इस प्रेस को सँवारा और सुधारा। भार्गव जी ने प्रेस की सेवा लगभग १९५१ तक की। उनके सहायक श्री रामकृष्ण जी दास को उनसे प्रेस सम्बन्धी कार्यों को सीखने का लम्बा सुअवसर प्राप्त हुआ। इन सोलह-सत्रह वर्षों के बीच प्रेस का क्रमशः विकास हुआ। मुद्रण सम्बन्धी साधनों के साथ-साथ कर्मचारियों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। प्रेस के प्रारम्भ में कर्मचारियों की संख्या ५-७ से अधिक न थी किन्तु १९५१ तक उनकी संख्या ५०-५५ हो गयी।

भार्गव जी के सेवा मुक्ति के बाद १९५२ से लगभग १९५९ तक श्रीरामकृष्ण जी दास के हाथ इस प्रेस की व्यवस्था रही। इस अवधि में मुद्रणालय के विकास की स्थिति सामान्य रही।

सन् १९५९ में कुछ कारणवश श्री रामकृष्ण जी दास का स्थानान्तरण हो गया। अतः प्रेस के व्यवस्थापक पद पर श्री लक्ष्मीदास जी केन्द्रीय कार्यालय से स्थानान्तरित होकर आये। उन्होंने अपने सात-आठ वर्षों के सेवा काल में प्रेस का द्विगुणित विकास किया। दासजी ने मुद्रण सम्बन्धी साधनों को ही नहीं बढ़ाया, अपितु कर्मचारियों की संख्या भी पचास से एक सौ के ऊपर कर दी साथ ही प्रेस भवन में भी उचित विस्तार हुआ।

मुद्रण कार्यों को, जिन्हें प्रेस पिछले दसकों में पूरा नहीं कर पाता था और अधिकाधिक कार्य बाहर के विभिन्न प्रेसों में जाते थे उन्हें उन्होंने अपनी कार्य क्षमता से बाहर जाने से रोका। यही नहीं उन्होंने उत्तर प्रदेश सरकार के हिन्दी अनुवाद विभाग की कई पुस्तकें विश्वविद्यालय प्रेस में मुद्रित की।

श्री लक्ष्मीदास जी की कार्यावधि में मुद्रण कार्य के विकास एवं सम्पादन हेतु एक "मुद्रणालय समिति" का गठन कार्यकारिणी परिषद् के प्रस्ताव संख्या ५३ दिनांक १०-७-६१ द्वारा सम्पन्न हुआ, जिसके आजीवन सदस्य हमारे प्रेस के प्रथम योग्य व्यवस्थापक श्री प्यारेलाल जी भार्गव रहे।

दुर्भाग्यवश १९६६ में श्री लक्ष्मीदास जी का निधन असमय में हो गया। अतः कुछ दिनों तक प्रेस की व्यवस्था अस्थायी रूप से सूचना एवं जनसम्पर्क-अधिकारी श्री त्रिपाठी तथा श्री भरतनारायण गुप्त के हाथों रही। इस अवधि में कर्मचारियों के वेतनमान में अंशतः वृद्धि का श्रीगणेश हुआ।

इस अस्थायी व्यवस्था के पश्चात् श्री रवीन्द्र कुमार बेरी ने स्थायी व्यवस्थापक का कार्यभार संभाला।

कुछ विशेष कारणों से इस वर्ष श्री बेरी को विश्वविद्यालय प्रकाशन का कार्यभार सौंपा गया है तथा श्री भरतनारायण गुप्त को प्रेस का विशेष-कार्याधिकारी नियुक्त किया गया है।

इस समय प्रेस कर्मचारियों की कुल संख्या १०० से ऊपर है तथा मुद्रण सम्बन्धी मशीनें दर्जन से कुछ कम हैं। एक लघु आपसेट मशीन, दो मोनो आपरेटिंग मशीन तथा तीन मोनो कास्टिंग मशीन एवं बाईंडिंग सम्बन्धी मशीनें प्राचीनतम हैं।

प्रेस के मानचित्र, जिसे मालवीय जी ने बनवाया था, को देखते हुए प्रेस भवन का एक चतुर्थांश भी अभी नहीं बन पाया है। अतः प्रेस में मुद्रण की सामग्री एवं कर्मचारियों की संख्या उस अनुपात में चतुर्थांश ही है। एतदर्थ महामना के महान स्वप्न को साकार रूप प्रदान करने हेतु भविष्य में प्रेस का पूर्णरूपेण विकास हो यही प्रेस के संपूर्ण परिवार की कामना है।

विश्वविद्यालय के अंगीभूत विद्यालय

सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल

सी० एन० तिवारी

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत के आकाश मंडल में दो महान पुरुष उदीयमान हुए जिनका ज्ञान प्रकाश पृथ्वी मंडल के असंख्य जन समूह के अज्ञान से आवृत्त हृदय को आलोकित कर उसे आदर्श सुखमय जीवन-पथ पर अग्रसारित कर रहा है। प्रथम स्वातन्त्र्य युद्ध की विफलता के पश्चात् देश की प्राचीन ज्ञान सम्पदा को अपने अप्रतिम त्याग एवं तपस्या के अवदान द्वारा पुनरुज्जिवित करने वाली महान विभूतियों में स्वनाम धन्य, पुण्य-श्लोक महामना मालवीय जी तथा माता डा० एनीबेसेन्ट का नाम अग्रगण्य है।

तत्कालीन उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा विद्यालयों में शुल्क वृद्धि की साधारण घटना से कतिपय उत्साही युवकों ने पंडित मुरलीधर के नेतृत्व में नगर में सनातन धर्म की शिक्षा के प्रवर्तन हेतु माडल सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की संस्थापना की परिकल्पना की। थियोसोफिकल सोसाइटी की भारतीय शाखा के सचिव श्री उपेन्द्र नाथ बसु एवं बाबू गोविन्द दास के माध्यम से प्रातः स्मरणीय डा० एनीबेसेन्ट से इन युवकों ने सहयोग की अभ्यर्थना की। परिणामतः १९९६ में राजा माधो लाल के सभापतित्व में राय बहादुर पं० महाराज नारायण शिवपुरी, डा० छन्नू लाल, बाबू इन्द्र नारायण सिंह, शिरीश चन्द्र बसु प्रभृति महानुभावों द्वारा गठित समिति ने का० से० हि० कालेजीएट स्कूल नाम करण कर शिक्षा की आधार शिला रखी जिसका निम्नलिखित लक्ष्य पारित किया गया——

१——पौर्वात्य एवं पाश्चात्य शिक्षा का अभियोजन,
२——धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा,
३——संस्कृत की अनिवार्य शिक्षा,
४——अकिंचन विद्यार्थियों को अल्पतम व्यय से शिक्षा सुलभ कराना।

७ जुलाई १८९८ की पुण्य वेला के शुभ मुहूर्त में हवन एवं वैदिक मंत्रों से पूत वातावरण के मध्य टाउन हाल के निकट कर्णघंटा स्थित लघु कार्य भवन में सेन्ट्रल हिन्दू कालेजिस्ट स्कूल की स्थापना हुई। डा० अर्थर रिचर्डसन एवं प्रोफेसर रामसे अवैतनिक प्रधानाचार्य हुए। प्रारम्भ में एफ० ए० प्रथम वर्ष एवं ९वीं तथा १०वीं कक्षाएँ खोली गई। शीघ्र ही म० म० पंडित महेश चन्द्र न्यायरत्न, राय बहादुर प्रमद दास मित्र, डा० थाइबाट, उपेन्द्र नाथ वसु, न्यायमूर्ति प्रमद चरन बनर्जी, न्यायमूर्ति सर सुब्रमण्यम एयर, सरदार उमराव सिंह तथा न्यायमूर्ति ऐकमन के प्रयास एवं सद्भाव से ३००००) स्थायीकोष निहित होने पर प्रयाग विश्वविद्यालय की सिंडीकेट ने ६ अगस्त १८९८ को कालेज को मान्यता प्रदान की। उसी वर्ष डा० एनी बेसेन्ट ने दुर्गाकुन्ड के दास बन्धु, चौखम्भा के वसु और मित्रा बन्धु, जी० एम० चक्रवर्ती के साथ हिन्दू-संस्कृति के प्राण महाराज प्रभु नारायण सिंह जी से कमच्छा स्थित क्रीडांगन तथा भवन का दान पत्र प्राप्त किया। कालेज ठठेरी बाजार स्थित भवन में कुछ मास बना रहा पुनः कमच्छा स्थित भवन में मार्च १८९९ में स्थानान्तरित हो गया।

महर्षि रिचर्डसन के परम त्यागमय जीवन एवं आदर्श तथा सेवा से आकर्षित हो काशी के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान डा० भगवान दास जी ने डिप्टी कलक्टरी त्याग कर संस्था का मंत्री पद स्वीकार किया एवं इसकी अभिवृद्धि के लिए श्री वेनजरी स्कूल के प्रधान हुए। श्री जेम्स स्काट वार-एट-ला, मिस विलसन मिस अरडल, मिस लिलियन एडगर, श्री वरट्राम किटले, हरि कृष्ण परांजये, मि० कालिन्सा पं० रामअवतार पाण्डेय, जैसे त्यागी एवं उद्यमी विद्वान अध्यापन कार्य करने लगी। कालेज में बी०ए०, एम०ए० एवं स्कूल में पांचवीं-छठी कक्षाएँ खोल दी गयीं। फरवरी १९०३ में लंदन स्थित करोड़पति श्री जार्ज सिडनी अरडेल ने माता एनी बेसेन्ट की प्रेरणा से हिन्दू जाति का सेवा व्रत ग्रहण किया। सन् १९०४ में स्कूल के अवैतनिक प्राचार्य के रूप में वे तन, मन, धन से अपने कर्तव्य पालन में संलग्न हो गये। इसी बीच भारतीय राष्ट्र की आशा एवं विजय के मूर्तीरूप महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी ने भारतीय संस्कृति के उत्थान हेतु काशी में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के सन्दर्भ में अप्रैल १९११ में प्रयाग में डा० एनी बेसेन्ट से परामर्श किया और अपने आदर्श चरित्र त्याग और तपस्या से शीघ्र ही ८७ लाख रुपये का दान भी प्राप्त कर लिया। इस कार्य में श्री इकवाल नारायण गुर्टू, दरभंगा नरेश महाराज रामेश्वर सिंह, गंगा प्रसाद वर्मा, गोवर्धन नाथ मिश्र एवं प्रयाग के श्री ईश्वर नारायण का प्रभूत सहयोग प्राप्त हुआ। काशी राज महाराज प्रभु नारायण सिंह जी ने इस पुण्य कार्य हेतु एक लाख मुद्रा तथा नगवा पर तीन मील लम्बी एक मील चौड़ी भूमि महामना जी को अर्पण कर दी।

तत्कालीन वाइसराय लार्ड हार्डिंग की सहमति प्राप्त होते ही महामना मालवीय जी, महाराज दरभंगा नरेश, डा० एनीबेसेन्ट, सर सुन्दर लाल तथा शिक्षा मंत्री हार्टकोर्ट बटलर, के पारस्परिक विचार विमर्श के उपरान्त से० हि० कालेज के सारे ट्रस्टियों को हिन्दू यूनिवर्सिटी सोसाइटी का सदस्य बना लिया गया। ७ दिसम्बर १९१३ को दरभंगा कौंसिल प्रयाग में हि० यू० काउंसिल तथा से० हि० कालेज बोर्ड आफ ट्रस्टीज के सम्मिलित अधिवेशन में पारित प्रस्तावानुसार २८ लाख रुपये की हैसियत सहित से० हि० कालेज प्रबन्ध समिति के हाथ से निकल कर माननीय मालवीय जी की हिन्दू सोसाइटी के हाथ में निम्नलिखित आधार पर हस्तांतरित हो गया :—

That the Hindu University Society keep up and mantain the present central Hindu College with the Ranvir Sanskrit Pathsala and C. H. Collegiate school to serve as the nucleus of the Hindu University proposed to be established.

सन् १९१५ में हिन्दू विश्वविद्यालय एक्ट बनने के पूर्व काशी में स्थान निरीक्षण हेतु आये शिक्षाध्यक्ष सर हार्टकाट बटलर के मंत्री मि० शार्प के परामर्श पर राजा बलदेव दास बिड़ला ने कोल्हुआ स्थित वर्तमान से० हि० बालिका विद्यालय के शिशु विभाग के भवन का निर्माण ३५ दिनों में करवाया। १ अक्टूबर १९१५ को गवर्नर जेनरल की स्वीकृति प्राप्त हुई। परिणामत: ४ फरवरी १९१६ को देश के गण्यमान राजा महाराजा, गवर्नर महा-महोपाध्याय शमशुलउलमा काउंसिल के सदस्य राष्ट्र नेताओं, प्रधानाचार्यों, संस्थाओं के ट्रस्टी

एवं दाताओं के समक्ष वास्तुपूजा, रुद्रयाग, गायत्री जप ब्राह्मणों द्वारा वेद पाठ एवं शान्ति पाठ के मध्य लार्ड हार्डिंग ने नगवा के इस विशाल अंचल में हिन्दू विश्वविद्यालय की नींव रखी और महामना मालवीय जी का स्वप्न साकार हुआ। स्कूल विभाग कोल्हुआ स्थित भवन में चला गया तथा कालेज की कक्षाएँ कमच्छा स्थित भवन में चलने लगीं। इस प्रकार हिन्दू विश्वविद्यालय का श्रीगणेश इस पवित्र-भूमि पर हुआ। १३ दिसम्बर १९२१ को प्रिंस आफ वेल्स द्वारा विश्वविद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर कमच्छा स्थित आर्ट्स कालेज, साइंस कालेज तथा ओरिएन्टल कालेज, नगवा में निर्मित विश्वविद्यालय परिसर भवन में स्थानान्तरित हो गए तथा से० हिं० स्कूल पुनः कोल्हुआ से कमच्छा भवन में आ गया।

वस्तुतः से० हि० स्कूल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की मातृ संस्था रही है। इसका इतिहास विकासोन्मुख परिवर्तनशील रहा है। सेन्ट्रल हिन्दू कालेजिएट १८९८, सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल १९१६ एवं विश्वविद्यालय इण्टरमीडिएट १९४९, पी०यू०सी० १९७० सान्ध्य कालीन बी०ए० १९७२ उसी शृंखला की कड़ियां मात्र हैं। सम्प्रति प्रातः स्मरणीय महामना एवं डा० एनी बेसेन्ट द्वारा संस्थापित यह विद्यालय भारतीय ज्ञान के अतीत एवं हिन्दू संस्कृति के परिपोषण द्वारा बालकों के सर्वांगीण उन्नति में सतत सजग है। छात्रों की बौद्धिक शिक्षा तथा चारित्र निर्माण हेतु पाठ्यक्रम तथा पाठ्येत्तर शिक्षा की व्यवस्था की गई है। शर्गा भवन में सामूहिक प्रार्थना एवं भजन के दैनिक शिक्षण का प्रारम्भ, धर्म की शिक्षा, सन्ध्या एवं गीता पाठ परीक्षा, धार्मिक पदों पर विद्वानों के व्याख्यानों द्वारा धार्मिक भावनाओं को जागृत करना तथा हिन्दू संस्कृति से अवगत कराना, अभिनय कला एवं प्रतिभा तथा कल्पना शक्ति को अक्षुण बनाये रहने हेतु कविता पाठ, संस्कृत-हिन्दी, सुभाषित प्रतियोगिताओं के आयोजन आदि की व्यवस्था है। इतिहास विभाग के भूतपूर्व अवैतनिक अध्यक्ष जी० वी० पढ़ारी नाथ तेलंग की तपस्या का मूर्त रूप तैलंग पुस्तकालय है जहां छात्रों के ज्ञान वर्धन हेतु १४००० पुस्तकों का संग्रह एवं निर्धन छात्रों के लिए बुक बैंक की सुविधा है। छात्रों के शारीरिक विकास हेतु विशाल क्रीड़ांगन, व्यायामशाला तथा पौर्वात्य-पाश्चात्य खेलकूद की शिक्षा की व्यवस्था है। आवासीय स्वाध्याय हेतु निर्मित चोर महल, श्रद्धानन्द हरिजन छात्रावास, डा० राजेन्द्र प्रसाद एवं डा० एनीबेसेन्ट छात्रावास हैं। जीवनोपयोगी काष्ठकला, चित्रकला, संगीत कला एवं प्रायोगिक कृषि शिक्षा हेतु ५–५५ एकड़ कृषि क्षेत्र, केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत सैनिक शिक्षा हेतु जूनियर एवं सीनियर डीविजन एन० सी० सी० की कम्पनियां, छात्रों के चतुर्दिक विकास की ओर सदैवसंलग्न हैं।

सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल के संस्थापकों द्वारा निर्धारित चार आधार शिलाओं में से समाज के प्रत्येक वर्ग को शिक्षा उपलब्ध कराने की दिशा में इस विद्यालय का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। भारत जैसे विशाल देश में प्राकृतिक साधनों के रहते हुए भी समाज के वहु संख्यक वर्ग को अर्थाभाव वश जीवन में उन्नति के अवसर नहीं मिलते, फलस्वरूप कितने ही प्रतिभा सम्पन्न विद्यार्थी व्यक्तिगत विकास के क्षेत्र में पीछे छूट जाते है। अतः समाज का यह प्राथमिक कर्तव्य है कि वह प्रत्येक वालक के सर्वांगीण विकास, उसकी अभिवृद्धि एवं फलने-फूलने का उचित अवसर प्रदान करे।

एतदर्थ १८९९ में देशभक्त शिव प्रसाद गुप्त एवं मंगला प्रसाद जी अग्रवाल जैसे उदार-जनों के सहयोग से से० हि० कालेजीएट में छात्रनिधि की स्थापना की गई। इसके प्रथम मंत्री वाबू कृष्ण प्रसाद जी दूबे निर्वाचित हुए। इस कोष से निर्धन छात्रों की सहायता की जाती थी।

सन् १९०२ के वार्षिकोत्सव के अवसर पर डा० एनीबेसेन्ट के आह्वान पर देश एवं विदेश में धन संग्रह किया जाने लगा। वरवा रिचर्डसन, डा० भगवानदास, श्री जार्ज सिडने अरंडेल जैसे महान त्यागी मनीषीयों ने अवैतनिक कार्य भार ग्रहण किया। श्री इकवाल नरायण गुर्टू जी सदा सर्वदा निर्धन छात्रों की पुस्तकों, वस्त्र एवं धन से सहायता करते रहते थे। इसी समय १९०५ में श्री अरंडेल ने छात्रों की सहायता हेतु पूर्व छात्र निधियों को विद्यार्थी सहायक सभा के रूप में संस्थापित किया। उस समय संस्थापकों ने १९२३ तक राजकीय सहायता नहीं स्वीकार की प्रत्युत्त दानवीरों के महान दान से संस्था का कार्य चलता रहा। कालेज की फीस २ रुपये एवं स्कूल की फीस १ रुपया मात्र थी। २० जुलाई १९२३ को महामना मालवीय जी ने मंगल मूर्ति श्री राम नारायण मिश्र जी को प्रधानाध्यापक के पद पर आसीन कराया। करुणा वरुणालय महामना की हार्दिक इच्छा थी कि ज्ञान पिपासु एक भी विद्यार्थी धनाभाव वश विद्यालय से वापस न जाय। उनके संकेत मात्र से ही राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वाले कितने ही छात्रों को छात्रावास में स्थान, भोजन वस्त्र एवं पुस्तकों की सहायता दी जाती थी।

१९१६ में कालेज एवं स्कूल के पृथक हो जाने पर १९२२ तक सभा की आर्थिक स्थिति दयनीय हो गयी थी एवं इसके कोष में केवल ५०० रुपये मात्र शेष रह गये थे। परन्तु १९२३ में सौभाग्य से श्री रामनारायण मिश्र जी के प्रधानाध्यापक होते ही इस निधि की वृद्धि पर ध्यान दिया गया एवं १९३७ तक ५६०.०० रुपया जमा हो गए। उन्होंने १९३४ में सभा के संविधान का निर्माण कर दी सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल विद्यार्थी सहायक सभा इन डाउमेन्ट ट्रस्ट बनारस सिटी नाम से इसका पंजीकरण कराया। सम्प्रति सभा के पास नब्बे हजार रुपये सरकार के पास न्यस्त हैं तथा ८००० रुपया सैलरी आनर्स कोआपरेटिव सोसाइटी से० हि० स्कूल के पास तथा २०३५९.८५ पै० पोस्ट आफिस में निहित है। इस निधि से प्राप्त ब्याज, प्रतिमास छात्रों से प्राप्त धन तथा अन्य साधनों से प्राप्त राशि से लगभग २५०'०।– रुपये की सहायता विद्यार्थियों को दी जाती है। यह सहायता मासिक शुल्क, एडमिशन परीक्षा में विशेष सहायता छात्रवृत्ति एवं पुरस्कार तथा अन्य विशेष प्रकार की सहायता के रूप में दी जाती है। सभा का संचालन छात्रों द्वारा निर्वाचित सभापति एवं उप सभापति, संरक्षक कुलपति महोदय, कोषाध्यक्ष एवं प्रशासक प्रधानाचार्य तथा अध्यापकों एवं छात्रों द्वारा निर्वाचित मंत्री एवं साहयक मंत्री तथा अन्य ८ सदस्यों से गठित प्रबन्धकारिणी द्वारा होता है। विश्वास किया जाता है कि सम्भवतः यही एक ऐसा विद्यालय है जहां उच्चादर्शों का पालन करते हुए लगभग ५० प्रतिशत छात्रों की फीस माफ रहती है और साथ ही ऐसी अनूठी सभा भी किसी विद्यालय में न होगी जहां विद्यार्थियों द्वारा विद्यार्थियों की सहायता के लिए संग्रहित १,१८,३५९.८५ पै० स्थायी

कोष में निहित हैं। अधिकारियों की उत्कृष्ट अभिलाषा है कि दानवीरों के महादान से निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था कर देश में अनुपम आदर्श रखा जा सकता है।

आज महामना मालवीय जी की अक्षय कीर्ति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय रूपी वट वृक्ष की कमच्छा तक विस्तृत विशाल शाखा की शीतल सुगन्धमय छाया में असंख्य ज्ञान पिपासु छात्र जीवन के कुछेक वर्षों में ज्ञान का नवीन सम्बल ले उत्कर्ष के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। उन सेवाव्रती त्याग एवं तपस्या की दिव्य विभूतियों के पावन स्पर्श से विद्यालय का कंण-कंण पवित्र है। इस विद्या मंदिर के लक्ष-लक्ष उपकृत स्नातकों के कंठ से निःसृत कुलगीत— 'मधुर मनोहर अतीव सुन्दर यह सर्व विद्या की राजधानी' अनन्त काल तक प्रज्ञा का पथ आलोकित करता रहेगा।

मंत्री, सेंट्रल हिन्दू स्कूल, कमच्छा,
वाराणसी।

सेन्ट्रल हिन्दू गर्ल्स स्कूल

सुधामाडवेल

सन् १९०३ में मूर्धन्य विदुषी स्वर्गीया डा० एनी बेसेन्ट की प्रेरणा से सेन्ट्रल हिन्दू गर्ल्स कालेज के सम्मानित सदस्यों ने इस पावन विद्या मन्दिर के नन्हें से पौधे का रोपण किया। तदुपरान्त वह प्रातः स्मरणीय महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी द्वारा सिंचित, परिवर्धित, पुष्पित एवं सुवासित होता रहा। ऐसी महान् विभूतियों के आशीर्वाद से फलीभूत यह नन्हा पौधा आज एक हरे-भरे सुदृढ़ और सशक्त वृक्ष के रूप में विद्यमान है। जिन आदर्शों को लेकर इसकी स्थापना हुई महामना के उन शाश्वत स्वप्नों को और अधिक सक्षम बनाना हम सब का सात्विक धर्म और कर्तव्य है।

अपनी प्राचीन भारतीय संस्कृति को सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित करने के लिए इस विद्या संस्थान में आधुनिक प्रणाली द्वारा बालिकाओं को शिक्षा दी जाती है। बालिकाओं के ज्ञान वर्धन के साथ-साथ उनके सर्वांगीण विकास के निमित्त विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा उनके उत्साह तथा शक्ति का सदुपयोग करके उनकी अभिरुचि, संस्कार एवं योग्यता का उचित मार्गदर्शन किया जाता है। उनके चारित्रिक, मानसिक एवं शारीरिक विकास पर विशेष ध्यान रखते हुए उनमें भावनात्मक एकता स्थापित करने का निरन्तर प्रयास किया जाता है, क्योंकि आज की हमारी ये बालिकायें ही देश की भावी गौरवमयी नारियां होंगी। उनके जीवन में शील एवं लज्जा के भाव के साथ ही कर्मठता एवं विनम्रता का आविर्भाव हमारे विद्यालयीय शिक्षा की विशिष्टता है। हम अपन लक्ष्य की ओर कितनी द्रुत गति से बढ़ रहे हैं, इस संदर्भ में अग्रांकित विवरण द्रष्टव्य है।

सत्र १९७५–७६ में एडमिशन परीक्षा में विद्यालय की १३१ छात्राएँ प्रविष्ट हुईं, जिनका गौरवमय परीक्षाफल ९६.१८% रहा। प्रथम श्रेणी म ४५ छात्राएँ, द्वितीय श्रेणी मे ६७ तथा तृतीय श्रेणी में ९ एवं ५ छात्राएँ पूरक परीक्षा में उत्तीर्ण हुईं। विशेष योग्यता के विषय : संस्कृत में २३, गणित में १५, बंगला में ५, वाद्य संगीत में १, कंठ संगीत में १, भौतिक शास्त्र में १२, रसायनशास्त्र में १२, जीव-विज्ञान में १ छात्रा ने स्थान प्राप्त किया।

कक्षा ११ (पी०यू०सी०) विज्ञान वर्ग का परीक्षा फल ७८.५७% रहा। प्रथम श्रेणी में २४, द्वितीय श्रेणी में ५६ तथा तृतीय श्रेणी में ८ छात्राएँ उत्तीर्ण हुईं। विशेष योग्यता के विषय : साधारण नेपाली में ७, साधारण हिन्दी में ३१, साधारण बंगाली में १०, साधारण मराठी में २, साधारण जर्मन में ४, साधारण उर्दू में १, साधारण तेलगू में १, साधारण फ्रेंच में २, अनिवार्य अंग्रेजी में १२, अनिवार्य बंगाली में १, जीव-विज्ञान में ५, भौतिक विज्ञान में १, रसायन विज्ञान में ३, गणित में १, तथा साधारण पंजाबी में १ छात्रा ने स्थान प्राप्त किया।

कक्षा ११ (पी०यू०सी०) साहित्यिक वर्ग की परीक्षा में २०९ छात्राएँ प्रविष्ट हुईं। प्रथम श्रेणी में २८, द्वितीय श्रेणी में ११९, तथा तृतीय श्रेणी में ४१ रहीं, इस प्रकार परीक्षा फल

८९·९५% रहा। विशेष योग्यता के विषय : साधारण हिन्दी में १६, साधारण बंगाली में २९, साधारण नेपाली में १०, फ्रेंच में १, साधारण मराठी में ६, साधारण पंजाबी में १४, साधारण जर्मन में १, साधारण तेलूगू में १, अनिवार्य अंग्रेजी में ६, अनिवार्य बंगाली में ४, अनिवार्य संस्कृत में ३, अनिवार्य उर्दू में १, वैकल्पिक संस्कृत में ५, कंठ संगीत में ५, वाद्य संगीत में ५ तथा तर्कशास्त्र में ४ छात्राओं ने स्थान प्राप्त किया।

बालिकाओं के बौद्धिक एवं मानसिक विकास के साथ-साथ उनकी कला एवं कल्पना शक्तियों के विकास की ओर भी ध्यान दिया जाता है। इस वर्ष विद्यालय में समय-समय पर महान् पुरुषों की जयन्ती एवं विशेष समारोह आयोजित हुए जिनमें बाहर से अनेक शिक्षाविद् साहित्यकार विद्वान पधारे। समय-समय पर आयोजित विभिन्न अन्तरविद्यालयीय प्रतियोगिताओं में हमारे विद्यालय की छात्राएँ विजयी रहीं। इस वर्ष जुलाई '७५ से लेकर अभी तक कुल पच्चीस शील्ड एवं कप विद्यालय को प्राप्त हुए।

हिन्दी निबन्ध प्रतियोगिता में कु० रवी मजूमदार को प्रथम पुरस्कार मिला। बंगाली टोला कालेज में आयोजित अंग्रेजी, संस्कृत, सितार, शास्त्रीय संगीत एवं भजन प्रतियोगिताओं में पांचों शील्ड हमारे विद्यालय को मिले। नागरी नाटक मण्डली वाराणसी द्वारा आयोजित नाटक प्रतियोगिता में तथा बाल-दिवस पर हमारी छात्राओं ने नाटक में भाग लिया। १४–११–७६ को छात्राओं द्वारा अभिनित पादुकाभिषेक नाटक वाराणसी रेडियो द्वारा प्रसारित किया गया।

इनर ह्वील क्लब वाराणसी द्वारा आयोजित लोक नृत्य प्रतियोगिता एवं पेन्टिंग प्रतियोगिता में भी हमारी बालिकाओं ने शील्ड्स प्राप्त किया।

विपिन बिहारी चक्रवर्ती गर्ल्स इण्टर कालेज एवं अग्रसेन कन्या इंण्टर कालेज द्वारा आयोजित वाद्य संगीत, शास्त्रीय संगीत एवं भजन में भी इन्हें तीन शील्ड्स प्राप्त हुए।

हमारी बालिकाओं का एक मोहक लोक नृत्य, वाराणसी मण्डल की ओर से लखनऊ रवीन्द्रालय में प्रस्तुत किया गया। गणतन्त्र दिवस के अवसर पर अपने विश्वविद्यालय में हमारी छात्राओं ने एन०सी०सी० परेड, सामूहिक पी०टी० एवं लोकनृत्य में भाग लिया जिनमें उन्हें उत्तम पुरस्कार एवं शील्ड्स प्राप्त हुए। वसन्त पंचमी के अवसर पर विश्वविद्यालय की अन्य झांकियों के साथ इस वर्ष पहलीबार हमारे विद्यालय की झांकी भी प्रस्तुत हुई।

विगत वर्षों की भांति बालिकाओं ने इस वर्ष जनपदीय, मण्डलीय एवं प्रादेशिक स्तर तक विभिन्न खेलों में भाग लेकर शील्ड्स एवं प्रथम तथा द्वितीय स्थान प्राप्त किए। अत्यन्त हर्ष एवं गौरव का विषय है कि इस वर्ष हमारे विद्यालय की छः छात्राओं ने बैडमिण्टन, हाकी, वालीबाल, तथा वास्केटबाल के नेशनल गेम्स में भाग लिया एवं बैडमिण्टन की टीम का द्वितीय स्थान रहा।

बैडमिण्टन में कुमारी राधा पाण्ड्या ने इस मण्डल का प्रतिनिधित्व प्रदेशीय स्तर पर किया एवं इस प्रान्त की उत्कृष्ट खिलाड़ी घोषित हुईं। जलन्धर में आयोजित नेशनल विन्टर गेम्स में भी पण्ड्या ने प्रान्त का प्रतिनिधित्व किया एवं द्वितीय स्थान प्राप्त किया।

टेबुल टेनिस में हमारे विद्यालय की टीम जनपद एवं मण्डल में विजयी हुई तथा कुमारी मधु दीक्षित एवं कु० माला वोहरा ने वाराणसी मण्डल का प्रतिनिधित्व स्टेट रैली मेरठ में किया।

वालीवाल टीम में कु० साधना अहलुवालिया तथा कु० अनिता सिंह को प्रान्तीय स्तर पर मेरठ में खेलने का सौभाग्य मिला। इन दोनों छात्राओं ने गोरखपुर में आयोजित ओपन कम्पीटीशन के नेशनल गेम्स में भी भाग लिया।

वास्केटवाल में कु० तनुजा वक्शी एवं कु० राधा पाण्ड्या को इस प्रान्त के राष्ट्रीय प्रतियोगिता हेतु चुना गया। कु० अनुजा वक्शी एवं कु० अप्सरा ढकोलिया को दिल्ली में आयोजित विमेन वास्केट वाल 'इन्वीटेशन नेशनल चैम्पियनशिप' में इस प्रान्त की ओर से खेलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

विद्यालय की हाकी टीम ने प्रान्तीय महिला हाकी प्रतियोगिता में अपने मण्डल का प्रतिनिधित्व मेरठ में किया तथा कु० इन्दर जीत कोहली ने इस प्रान्त की उत्कृष्ट खिलाड़ी होने के कारण जलन्धर में आयोजित हाकी के 'नेशनल गेम्स' में भाग लिया।

हमारी क्रिकेट टीम ने, कानपुर में आयोजित प्रान्तीय महिला क्रिकेट चम्पियनशिप में भाग लिया तथा ५ छात्राओं ने इस प्रान्त का प्रतिनिधित्व, सेण्ट्रल जोन चैम्पियनशिप झांसी में किया। कु० रागिनी मेहता राष्ट्रीय स्तर की श्रेष्ठ 'वालचर' घोषित हुई, कु० रागिनी मेहता एवं कु० राधा पण्ड्या ने शिमला में राष्ट्रीय स्तर के प्रगाढ़ प्रशिक्षण में भाग लिया।

विद्यालय की खो-खो टीम को प्रान्तीय स्तर पर खेलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तथा कवड्डी में हमारी छात्रा कु० रूपा मुन्शी ने प्रदेशीय स्तर पर मेरठ में अपने मण्डल का प्रतिनिधित्व किया।

अथलेटिक्स में इस विद्यालय की जूनियर टीम, अन्तरविद्यालयीय खेलकूद प्रतियोगिता में जनपद में विजेता रही एवं सीनियर टीम उप-विजेता रही। हमारी तीन छात्राओं कु० तनुजा वक्शी, कु० रूपा मुन्शी एवं साधना ने प्रदेशीय प्रतियोगिता में प्रान्त का प्रतिनिधित्व किया एवं पुरस्कृत हुईं।

विद्यालय में रेडक्रास की सात यूनिट हैं। रेडक्रास की जनपदीय, मण्डलीय एवं प्रदेशीय तीनों रैली में हमारी छात्राओं को शील्ड्स मिला। इसमें हमारे प्राइमरी विभाग के बच्चों का विशेष योगदान रहा। जूनियर रेडक्रास की प्राइमरी टीम प्रथम एवं सीनियर टीम द्वितीय रही। मेकेन्जी स्कूल कोर्स में दो टीमें प्रथम एवं द्वितीय रहीं। माडल एलवम एवं चार्ट में भी हमारी प्राइमरी की नन्हीं वालिकाओं को प्रथम स्थान मिला एवं सीनियर छात्राओं को द्वितीय स्थान। प्रादेशिक जू० रे० क्रा० प्रतियोगिता जो अभी फरवरी माह में लखनऊ में हुई थी उसमें वालिकाओं की टीमों में प्रथम स्थान पाने पर हमारी प्राइमरी की नन्हीं मुन्नी वालिकाओं को शील्ड मिली तथा सीनियर छात्राओं को सेन्ट जान एम्बुलेन्स कैडेट विग्रेड प्रतियोगिता में द्वितीय पुरस्कार मिला।

गाईडिंग के अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष के उपलक्ष में इलाहाबाद में आयोजित प्रादेशिक गाइड रैली में हमारी छात्राओं ने सर्वोत्तम पताका प्राप्त की।

विद्यालय की सीनियर तथा जूनियर एन०सी०सी० डिविजन हैं। कैडेट ने इस वर्ष एडवान्स लीडरशिप कैम्प नैनीताल तथा प्री-रिपब्लिक डे कैम्प लखनऊ में भाग लिया। दिसम्बर ७५ में कोल्हुआ स्थित प्राइमरी विभाग के मैदान पर एन०सी०सी० के सीनियर तथा जूनियर डिविजन की कैडेट्स का कैम्प हुआ जिसमें हमारी कैडेट्स ने भी भाग लिया। अपने विश्व-विद्यालय के गणतन्त्र दिवस परेड में हमारी सीनियर व जूनियर कैडेट्स ने भाग लिया जिसमें डिविजन को सर्वोत्तम ड्रिल के लिए प्रथम पुरस्कार मिला।

विद्यालय की छात्राओं एवं शिक्षिकाओं ने विहार के बाढ़ सहायता कोष के लिए स्टाल्स लगाए, धन एकत्रित किया तथा अपना एक दिन का वेतन दिया, इस प्रकार कुल २,०००।– विश्वविद्यालय को भेजे।

दशम् कक्षा की कु० रेखा मायर विद्यालय की सर्वश्रेष्ठ छात्रा घोषित हुईं। अपनी ओर से इस वर्ष से विद्यालय की सर्वश्रेष्ठ कक्षा के लिए एक पुरस्कार रनिंग शील्ड प्रारम्भ हुआ जो इस वर्ष प्राइमरी कक्षा १ के सेक्शन ए को मिला। शिक्षा विभाग द्वारा प्रदत्त एकीकृत छात्रवृत्ति एवं अन्य विभिन्न छात्रवृत्तियां हमारी छात्राओं को योग्यतानुसार निरन्तर मिलती रही हैं।

विद्यालय में नर्सरी से लेकर कक्षा ११ तक कुल १३५३ छात्राएँ हैं। इस वर्ष छात्रावास में छात्राओं की कुल संख्या ४३ तक हो गई है।

प्राचार्या–
सेन्ट्रल हिन्दू गर्ल्स स्कूल, कमच्छा
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

श्री रणवीरसंस्कृत विद्यालय

कृष्ण मोहन ठाकुर

जम्मू कश्मीर के "राजकीय धर्मार्थ आइन" के द्वारा ज्ञात होता है कि सन् १८८४ में तत्कालीन महाराज रणवीर सिंह ने जम्मू कश्मीर हाउस, दशाश्वमेध रोड पर एक संस्कृत पाठशाला स्थापित की। यहां चारो वेद, षड्दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष, साहित्य एवं चिकित्सा विषयों के विद्वान अध्यापक नियुक्त किये गये तथा विभिन्न प्रान्तीय लगभग २०० छात्रों के स्थान भोजन-वस्त्र आदि का प्रवन्ध हुआ। काशी में जम्मू कश्मीर पाठशाला नाम से इसकी प्रसिद्धि हुई, एवं प्रथमा से आचार्य तक अध्यापन का विधिवत प्रवन्ध कर दिया गया। उस समय संस्कृत में राजकीय संस्कृत कालेज के बाद महाविद्यालय के रूप में इसी का दूसरा स्थान था।

सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल के १९४१ ई० के स्वर्ण जयंती अंक से ज्ञात होता है कि स्व० डा० एनी वेसेन्ट ने सन् १९०२ ई० में नए सत्र से इस संस्कृत कालेज को तत्कालीन महाराजा रणवीर सिंह जी के सुपुत्र प्रताप सिंह जी से प्राप्त कर अपने सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की प्रवन्ध समिति के अन्तर्गत रखकर प्राच्य विद्या एवं धर्म विज्ञान महाविद्यालय के रूप में इसका संचालन किया इसका नाम बदल कर रणवीर संस्कृत पाठशाला रख दिया। पाठशाला नाम में इसमें कोई हीन भाव न समझना चाहिए, क्योंकि उस समय वर्तमान संस्कृत विश्वविद्यालय का नाम भी राजकीय संस्कृत पाठशाला ही था। कमच्छा स्थित शिलालेख द्वारा ज्ञात होता है कि सन् १९०२ ई० में इस महाविद्यालय के प्रधानाचार्य विद्वद्वर न्यायमूर्ति चन्द्रकिशोर तर्कतीर्थजी थे। उस समय डा० एनी वेसेन्ट ने देश के विभिन्न धनी-मानी संस्कृत प्रेमियों द्वारा इस संस्था के सम्वर्वनार्थ अनेक लक्ष की चल-अचल सम्पत्ति भी प्राप्त की थी।

स्वनाम-धन्य मनीषी मूर्धन्य महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री जी एवं डा० एनी वेसेन्ट के हस्ताक्षर से यहाँ से परीक्षा में उत्तीर्ण छात्रों को प्रमाण-पत्र भी दिये जाते थे। इन प्रमाण-पत्रों के आधार पर लोग अन्यत्र अध्यापन कार्य भी करते थे। यही इसकी प्रमुख विशेषता थी।

सन् १९०५ ई० में ही महामना मालवीय जी ने काशी में एक विश्वविद्यालय स्थापित करने के लिए देश के शिक्षा प्रेमियों से प्रचुर धन राशि एकत्र का कार्य आरम्भ किया और सन् १९११ ई० में एक हिन्दू विश्वविद्यालय सोसायटी की स्थापना की। इसके वाद महामना जी एवं डा० एनीवेसेन्ट में मतैक्य होने पर से० हि० कालेज प्रबन्ध समिति ने हिन्दू विश्वविद्यालय सोसायटी के हाथ में अपने से० हि० कालेज, रणवीर संस्कृत पाठशाला, एवं कालिजियेट स्कूल की सभी चल-अचल संपत्ति सौंप दी।

सन् १९१३ ई० में १ अप्रैल १९१६ ई० तक उस सोसायटी द्वारा अन्य संस्थाओं की तरह इस विद्यालय का संचालन किया गया। बाद में सोसायटी को अपने में विलीन कर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने इसको भी अपने अन्तर्गत ले लिया।

सन् १९१६ ई० से १९१८ ई० तक हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा यहां प्रवेशिका से आचार्य तक की कक्षाओं का अध्ययन अध्यापन चलता रहा।

सन् १९१८ ई० के जुलाई से महामना जी ने इस विद्यालय की मध्यमा से आचार्य तक की कक्षाओं को अलग कर संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना कर दी, और यहां केवल प्रवेशिका कक्षा तक की पढ़ाई की व्यवस्था कराकर इसे से० हि० स्कूल बोर्ड द्वारा संचालित होने का निर्णय कर लिया।

काशी के अनेक मूर्धन्य विद्वानों में स्वनामधन्य व्याकरण शिरोमणि सूर्य नारायण तिवारी रामअवध शास्त्री, गणपति शास्त्री, यहीं से पढ़ाने के बाद राजकीय संस्कृत कालेज (वर्तमान सं० सं० वि० वि०') में अध्यापन कार्य करने लगे। वर्तमान पण्डित राज राजेश्वर शास्त्री जी के पिता विद्वद्वर लक्ष्मण शास्त्री जी वहीं पढ़ाकर बाद में कलकत्ता राजकीय महाविद्यालय में अध्यापन कार्य करने के लिए गये। सर्वप्रथम रणवीर पाठशाला के प्रधानाचार्य महामहोपाध्याय अम्बादास शास्त्री थे।

उस समय पोर बन्दर गुजरात से इस विद्यालय के २०० छात्रों को पूरी आर्थिक सहायता दी जाती थी। से० हि० स्कूल के स्वर्ण जयंती अंक में लिखा है कि "इस पाठशाला में ३०० छात्र हैं, उन्हें रखने के लिए ३ छात्रावास हैं। बाद में प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण करने वालों का आयुर्वेद महाविद्यालय में प्रवेश बन्द हो गया, तब से यहां के छात्रों का धीरे-धीरे ह्रास होता गया।

सन् १९५७ ई० में जब कश्मीर के महाराज कर्ण सिंह जी की ओर से आर्थिक सहायता एवं छात्रों के रहने के लिए स्थान मिलने का निश्चय किया गया तो विश्वविद्यालय ने सन् १९५९ ई० में इसे क्रमशः बन्द करने का भी निश्चय कर लिया। किन्तु जम्मू कश्मीर के "धर्मार्थ ट्रस्ट" कौंसिल के सेक्रेटरी द्वारा वार्षिक रूप में आंशिक अनुदान एवं छात्रों के रहने के स्थान मिलने एवं विश्वविद्यालय के अन्तर्गत इसके आंशिक वास्तविक रूप से आने की स्थिति जान कर उसने सन् १९६१ ई० में इसे पुनः संचालित करने का निर्णय कर लिया। विश्वविद्यालय की संस्तुति पर अनुदान आयोग द्वारा यहां के अध्यापकों का वेतनमान १ अप्रैल १९६४ ई० से स्वीकार कर लिया गया है।

विश्वविद्यालय के अधिकारियों द्वारा इसको प्रोन्नति के लिए सन् १९६८ ई० के जुलाई से मध्यमा कक्षाओं को संचालन आरम्भ करवा दिया गया है। इस समय यहां वेद, व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, आदि विषयों के साथ साथ आधुनिक विषय हिन्दी, अंग्रेजी, गणित, साइन्स आदि विषयों का अध्यापन कार्य भी हो रहा है। वर्तमान समय में संस्कृत भाषा के प्रचार एवं प्रसार में यह विद्यालय अद्वितीय है।

इस प्रकार धीरे-धीरे यह विद्यालय उन्नति करता जा रहा है। विश्वविद्यालय के अधिकारी गण भी विद्यालय की पूर्ण व्यवस्था में सहयोग देकर इसे उन्नतिशील बनाने में प्रयत्नशील हैं।

अध्यक्ष, रणवीर पाठशाला
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

विश्वविद्यालय से सम्बद्ध महाविद्यालय

दयानन्द महाविद्यालय

डा० शितिकंठ मिश्र

दयानन्द महाविद्यालय का जो स्वरूप आज दिखलाई पड़ रहा है इसके पीछे ३८ वर्षों का लम्बा कर्ममय इतिहास रहा है। सन् १९३८ में इस महाविद्यालय की स्थापना कुछ आदर्शों और सिद्धान्तों को लेकर हुई थी। विस्तार पूर्वक उनकी चर्चा करने का अवसर तो यहां नहीं है किन्तु इतना अवश्य कहना है कि इसकी स्थापना के पीछे भी वे आदर्श थे जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के मूल में थे। सच कहा जाय तो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक स्वनामधन्य महामना मदन मोहन मालवीय की प्रेरणा ही इस महाविद्यालय के रूप में साकार हुई। नगर के मध्य में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की शाखाएं स्थापित करने के महामना के शिव संकल्प के प्रतिफलन की एक अनिवार्य श्रृंखला के रूप में इस महाविद्यालय का अभ्युदय हुआ।

उल्लेखनीय है कि १९३८ में इस महाविद्यालय में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की इन्टर मीडिएट कला परीक्षा के अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था हुई। तत्पश्चात् इन्टरमीडिएट वाणिज्य का अध्यापन प्रारंभ हुआ। सन् १९४७ से बी० ए० और बी० काम के अध्यापन की व्यवस्था हुई। महाविद्यालय के संस्थापक स्व० बाबू गौरी शंकर प्रसाद जी और उनके अनन्य सहयोगी पं० रामनारायण मिश्र की रुचि शिक्षा संस्था की स्थापना मात्र तक सीमित होती तो वे कदापि इस महाविद्यालय की नींव न रखते क्योंकि बोर्ड द्वारा संचालित इन्टर मीडिएट स्तर के विद्यालयों की इस महाविद्यालय के आस-पास कमी नहीं थी। इस प्रांगण में डी० ए० वी० इन्टर कालेज स्थित है। महाविद्यालय के संस्थापकों की एक ही इच्छा थी और वह थी महामना के आदेश की पूर्ति और उनके आदर्शों पर एक कदम आगे बढ़ने की बलवती कामना।

इसीलिए इस महाविद्यालय में प्रारम्भ से आज तक कभी विस्तार की नीति नहीं अपनायी गयी। महाविद्यालय में छात्रों और अध्यापकों की संख्या पर नहीं, बल्कि संस्थापकों का ध्यान केवल इस बात पर था कि योग्यतम और कर्मनिष्ठ, सच्चरित्र और निष्ठावान देश भक्त नागरिक इस शिक्षा मन्दिर से निकलें। यही कारण है कि वाराणसी और आस पास के महाविद्यालयों में इस महाविद्यालय का एक विशिष्ट स्थान रहा है। यद्यपि तुलनात्मक विस्तार की दृष्टि से देखने पर यह यह महाविद्यालय बहुत अग्रगामी नहीं प्रतीत होता क्योंकि वाराणसी में इसके बाद स्थापित महाविद्यालयों में अनेक स्नातकोत्तर कक्षाएं चल रही हैं, विज्ञान, कृषि, शिक्षा शास्त्र और विधि आदि अनेक विषयों में अध्यापन की व्यवस्था हुई है, जबकि यह महाविद्यालय केवल कला और वाणिज्य की स्नातक कक्षाओं तक ही सीमित है, फिर भी शिक्षा दीक्षा, अनुशासन, शिक्षेतर क्रियाकलाप आदि की दृष्टि से इस महाविद्यालय का स्थान अन्यतम है। सबसे बड़ी बात यह है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध यह अकेला पुरुष महाविद्यालय है। महाविद्यालय किसी प्रकार के विस्तार की कामना न करते हुए इसी गौरव को अक्षुण बनाये रखने

के प्रयास में निरन्तर लगा रहा है और उसे इस बात का सन्तोष है कि अनेक कठिनाइयों और विघ्नबाधाओं की कसौटी पर सीमित साधनों और सुविधाओं के बावजूद अनेक अवसरों पर यह खरा उतरा है। अभी इसे विश्वविद्यालय के आंगिक महाविद्यालय का स्वरूप नहीं मिल पाया है पर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति पद्मभूषण कालूलाल श्रीमाली ने इस ओर ध्यान दिया था और अपनी संस्तुति विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के पास विचारार्थ प्रेषित की थी। विश्वास है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय विधेयक पास होते ही इस लक्ष्य की पूर्ति हो जायगी और महाविद्यालय के भावी विकास का मार्ग प्रशस्त हो जायगा।

महाविद्यालय में स्नातकोत्तर कक्षाओं के संचालन की आवश्यकता का अनुभव भी बहुत दिनों से किया जा रहा है। विधि, शिक्षाशास्त्र और विज्ञान विषयों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था भी महाविद्यालय में बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती है। यदि यह व्यवस्था हो जाय तो नगर वासी छात्रों को सुविधा तो होगी ही, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पर छात्रों का भार भी कुछ कम हो जायगा। आगामी सत्रों में इस दिशा में सक्रिय प्रयत्न अपेक्षित है।

महाविद्यालय की भावी अपेक्षाओं को देखते हुए भवन के विस्तार की आवश्यकता भी अनुभव की जा रही है। महाविद्यालय के क्रीड़ा क्षेत्र से वाहर की जमीन का इस हेतु सरलतापूर्वक उपयोग किया जा सकता है। साथ ही छात्रावास के विस्तार, अध्यापक आवास के निर्माण और पुस्तकालय भवन के विस्तार की योजनाएँ भी विचाराधीन हैं।

इन योजनाओं को दृष्टि में रखते हुए आगामी सत्र परिश्रम के हैं। सबके सम्मिलित प्रयास और सहयोग से इन लक्ष्यों की पूर्ति संभावित है।

महाविद्यालय में सम्प्रति ११वीं कक्षा, बी०ए० भाग १, २, ३ और बी०काम० भाग १, २, ३ की कक्षाएँ चल रही है। इन सभी कक्षाओं में छात्रों की संख्या निरन्तर बढ़ती गई ह और महाविद्यालय को प्रति वर्ष हजारों छात्रों को प्रवेश न दे पाने का खेद रहा है। महाविद्यालय की लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सत्र १९७४–७५ में विभिन्न कक्षाओं में इसकी छात्र संख्या ११७३ थी जबकि सत्र १९७५–७६ में प्रवेश संबंधी प्रतिबन्धों के बावजूद कुल छात्र संख्या प्रायः १५०० हो गई।

इस समय महाविद्यालय में बी० ए० कक्षाओं में अनिवार्य भाषा के रूप में हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू और बंगला के शिक्षण की व्यवस्था है तथा वैकल्पिक विषयों में संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास, दर्शनशास्त्र और प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति विषयों के अध्यापन की व्यवस्था है।

वाणिज्य में सभी अनिवार्य विषयों के अतिरिक्त निम्नलिखित वैकल्पिक विषयों के अध्यापन की व्यवस्था की गयी है—(क) विशिष्ट लेखा कर्म, (ख) बैंकिंग और बीमा, (ग) भारतीय कृषि एवं उद्योग।

चाहते हुए भी महाविद्यालय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत अनेक विषयों जैसे, भूगोल और गणित के अध्ययन की व्यवस्था नहीं कर पाया है जिससे अनेक छात्र प्रतिवर्ष महाविद्यालय से लाभान्वित नहीं हो पाते।

महाविद्यालय का परीक्षा फल, विभिन्न परीक्षाओं में कितना उत्तम रहा है, इस विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। इसका प्रमाण हमारे छात्र और उनके अभिभावक समय-समय पर देते रहते हैं। यद्यपि इस महाविद्यालय में अधिकांशतः वे छात्र आते हैं, जो कम, प्राप्तांकों के कारण विश्वविद्यालय में प्रवेश का अवसर नहीं प्राप्त कर पाते, फिर भी अध्ययन अध्यापन की तत्परता के कारण यहां के छात्रों ने समय-समय पर विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में कीर्तिमान स्थापित किया है।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
दयानन्द महाविद्यालय,
वाराणसी

वसन्त महिला महाविद्यालय (राजघाट)

श्रीमती सरोज बिसारिया

भारत में नारी शिक्षा की ज्योति जगाने वाली शिक्षाविद् पूज्या एनीबेसेन्ट के संरक्षण म सन् १९१३ में वसन्त विद्यालय का शुभारम्भ हुआ। सन् १८६० के समिति अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत, कृष्णमूर्ति फाउन्डेशन इण्डिया द्वारा संचालित, वसन्त महिला महाविद्यालय गंगा-वरुणा के संगम के निकट प्राकृतिक सुषमा से विभूषित, अत्यन्त ही रमणीय एवं मनोरम स्थान पर स्थित है, जो पहले काशी क्षेत्र कहलाता था। इसी क्षेत्र के मध्य से जाता है पंचक्रोशी मार्ग, वह मार्ग जिस पर होकर कहा जाता है महात्मा बुद्ध सारनाथ के मृगदाव में अपना प्रथम उपदेश देने गए थे। पूज्या एनीबेसेन्ट, विश्व दार्शनिक जे० कृष्णमूर्ति एवं अन्यान्य उच्चस्तरीय शिक्षाविदों से समय-समय पर उत्प्रेरित होकर यह संस्था बालिकाओं का सर्वांगीण विकास करने के लिए निरन्तर प्रगतिपथ पर अग्रसर है। यहां बालिकाओं को जीवन की विविध समस्याओं का सामना करने की योग्यता प्राप्त कराई जाती है, बुद्धि एवं विविध कला-कौशल की निपुणता देकर ही नहीं प्रत्युत ऐसे जीवन-मूल्यों का सर्जन कर जो पूर्णतः कर्म-निरपेक्ष होते हुए भी, धार्मिक तत्व से ओत-प्रोत हैं, शिक्षक छात्र सम्बन्धों एवं विचारों के उचित आदान-प्रदान द्वारा श्री जे० कृष्णमूर्ति के उपदेशों में निहित शिक्षा के गम्भीर, महत्वपूर्ण एवं व्यापक अर्थ को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया जाता है।

१९१३ में, शिशु विद्यालय के रूप में स्थापित वसन्त विद्यालय १९२० में हाई स्कूल हो गया और १९२२ में इण्टरमीडिएट कक्षाओं का आरम्भ हुआ। सतत् विकासशील वसन्त विद्यालय १९४८ में स्नातकीय कक्षाओं का सत्रारम्भ कर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध होकर, महाविद्यालय की गरिमा से मंडित हुआ। आरम्भ में वसन्त विद्यालय कमच्छा में स्थित था, किन्तु १९५४ में यह अपने वर्तमान परिसर राजघाट में स्थापित होकर गतिशील हुआ।

१९६२ में इस विद्यालय में हाई स्कूल कक्षाएँ स्थगित कर दी गई। इसी समय से यहां केवल ४ कक्षाओं का अध्ययन होता है। आरम्भ में दो कक्षाएँ माध्यमिक शिक्षा परिषद् से सम्बद्ध थीं और दो स्नातकीय कक्षाएँ बी०ए० प्रथम एवं द्वितीय वर्ष काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से। १९७५ में माध्यमिक शिक्षा परिषद् से सम्बन्ध विच्छेद कर पूर्णतः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से संस्था सम्बद्ध हो गई।

नवम्बर १९७३ से इस विद्यालय को बी०ए० कक्षा के शुभारम्भ का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस कक्षा में ५० छात्राओं के अध्ययन की व्यवस्था है। शत-प्रतिशत परीक्षाफल से स्पष्ट है कि कक्षा सफलता पूर्वक गतिमान है।

इस विद्यालय का परीक्षाफल सदा ही ९० प्रतिशत से अधिक ही रहा है। समय-समय पर छात्राओं को विविध विषयों में स्वर्णपदक एवं योग्यता क्रम में स्थान उपलब्ध हुआ है। इस वर्ष की स्नातकीय परीक्षा में इस विद्यालय की छात्राओं को ही विश्वविद्यालय में

प्रथम एवं द्वितीय स्थान प्राप्त हुआ है। साथ ही प्राप्त हुआ है उच्चशिक्षार्थ १००० रु० का पारितोषिक।

विद्यालय के अथक प्रयास एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सहायता से इस समय विद्यालय प्रांगण में पुस्तकालय का भव्य भवन अपनी पूर्ण गरिमा के साथ स्थित है। इस पुस्तकालय में विविध विषयों की उच्चस्तरीय १२००० से भी अधिक पुस्तकें हैं। साथ ही वाचनालय भी है जिसमें एक साथ लगभग ८० छात्राएँ अध्ययन कर सकती हैं। लगभग सभी उच्चस्तरीय पत्र पत्रिकाएँ (देशी और विदेशी प्रकाशन) वाचनालय के वैभव हैं। पुस्तकालय कार्य सुचारु एवं सुदक्ष रूप में सम्पन्न होता है।

वसन्ताश्रम वसन्त विद्यालय से सम्बद्ध छात्रावास है। इसमें लगभग १०० छात्राओं के निवास की व्यवस्था है। यहां छात्राओं को भयरहित वातावरण में व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का अवसर प्रदान किया जाता है, आत्म-निर्भरता एवं सृजनतात्मकता की प्रवृत्ति उत्पन्न की जाती है।

छात्राओं की सृजनात्मकता को प्रश्रय देने के लिए हस्तलिखित पत्रिका लेखन एवं पत्रिका-प्रकाशन का कार्य छात्राओं के सक्रिय सहयोग से प्रति वर्ष सम्पन्न होता है। छात्राओं द्वारा लिखित, चित्रित, हस्तलिखित पत्रिकाएँ देश की महान विभूतियों—सुश्री महादेवी वर्मा, श्री कमला पति त्रिपाठी, डा० त्रिगुण सेन, श्री भगवती, महाराजा विभूति नारायण सिंह आदि द्वारा विशेष प्रशंसित रही हैं।

विद्यालय छात्राओं के बहुमुखी विकास हेतु विविध पाठ्येतर कार्य-कलापों की आयोजना हुआ करती हैं। संगीत, नृत्य, नाटक, चित्रकला, शिल्पकला एवं व्यायाम, क्रीड़ा, आदि यहां शिक्षा के अंग हैं। गत वर्ष वाराणसी में प्रथम बार मुक्त आकाशीय नाटक प्रस्तुत कर विद्यालय ने रंगमंच की दिशा में नूतन अध्याय आरम्भ किया है। प्रत्येक शनिवार को वसन्त संघ होता है। इस सभा में छात्राओं द्वारा, वाद-विवाद, परिचर्चा, परिसंवाद, लघु नाटिका, लोकगीत, लोक नृत्य आदि प्रस्तुत किए जाते हैं। चिन्तनिका के अन्तर्गत विविध विद्वानों को आमंत्रित कर उनके भाषण द्वारा ज्ञान लाभ का अवसर प्रदान किया जाता है। "प्रत्यक्ष दर्शन से ज्ञान" के सिद्धान्त को शैक्षणिक भ्रमण द्वारा कार्यान्वित किया जाता है।

महिमामयी एनीबेसेन्ट ने शिक्षा की जो शिखा प्रज्ज्वलित की थी उस शिखा की ज्योति को, युग-युग तक अक्षय प्रकाश विकीर्ण करने के लिए वसन्त विद्यालय अपनी कर्मनिष्ठा, श्रद्धा और विश्वास का स्नेह दान कर निरन्तर प्रगति-पथ पर अग्रसर है।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
बसंत महिला महाविद्यालय, राजघाट, काशी

वसन्त कन्या महाविद्यालय (कमच्छा)

श्रीमती लीला शर्मा

नगर के कोलाहल से दूर शान्त और स्निग्ध परिवेश में माँ वसन्त के आदर्शों का दीप-स्तम्भ लिए यह विद्यालय अपनी आयु के तेइसवें सोपान पर चढ़ चुका है। जन्म के साथ ही इसकी कीर्ति-सुरभि दिन प्रतिदिन परिपुष्टि और उत्कर्ष की ओर अग्रसर है। शिक्षा का अर्थ केवल बौद्धिक ज्ञान न होकर शिक्षार्थियों के आध्यात्मिक, नैतिक, भावात्मक एवं शारीरिक विकास से है। इस आदर्श का अनुपालक यह विद्यालय है, जहां छात्राओं के सर्वतोमुखी विकास के लिए एक ओर पाठ्यक्रमानुसार पठन-पाठन और दूसरी ओर शिक्षणेतर कार्यक्रमों की व्यवस्था है। यही कारण है कि यहां की छात्राएँ केवल उत्कृष्ट परीक्षाफलों के कारण ही नहीं बल्कि विविध क्रीड़ा प्रतियोगिताओं और साहित्यिक प्रतियोगिताओं में भी निरन्तर उत्कृष्ट स्थान प्राप्त करती रही हैं। गत वर्ष १९७६ की परीक्षा में १३० छात्राएँ सम्मिलित हुईं जिनमें १०५ उत्तीर्ण हुईं। हमारा परीक्षाफल ९० प्रतिशत रहा तथा ७ छात्राओं ने प्रथम श्रेणी की योग्यता अर्जित की।

इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की क्रीड़ा प्रतियोगितायें आयीजित की जाती हैं जिनमें बैडमिन्टन, वालीबाल, और बास्केटवाल प्रमुख हैं। साथ ही वाद-विवाद के लिए छात्राओं को प्रोत्साहित किया जाता है। महाविद्यालय में प्रतिवर्ष महापुरुषों के पुण्य दिवस एवं राष्ट्रीय उत्सवों पर विविध कार्यक्रम प्रस्तुत किए जाते हैं।

महाविद्यालय के पास अपना एक समृद्ध पुस्तकालय है जिसमें कुल १०५६२ पुस्तकें हैं। कुल ४८ पत्र-पत्रिकाएँ नियमित रूप से मंगायी जाती हैं। प्रधानाचार्या सहित प्राध्यापक, प्राध्यापिकाओं की कुल संख्या २० है।

इन कार्यक्रमों के अतिरिक्त प्रतिदिन के शिक्षण कार्य का प्रारम्भ थियोसाफिकल शैली की विशिष्ट प्रार्थना सभा से होता है जिसमें प्रतिदिन किसी लघु आध्यात्मिक प्रवचन के पश्चात् प्रार्थना और मौन प्रार्थना को विशिष्ट स्थान दिया जाता है। इसके साथ ही राष्ट्रीयता के विकासार्थ प्रति शनिवार को राष्ट्रीय संगीत, सामूहिक व्यायाम, सामूहिक प्रतिज्ञा और राष्ट्रगान की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त वृक्षारोपण, बुक बैंक और अल्प बचत योजना का कार्य भी किया गया है।

विद्यालय में प्रगति की इसी विविधता के परिणाम स्वरूप इण्टर कक्षाओं को निरन्तर १२ वर्षों से और डिग्री कक्षाओं को भी कई वर्षों तक दक्षता अनुदान प्राप्त हुआ। इस प्रकार अपनी लघुपरिधि में महान उद्देश्यों को समेटे यह विद्यालय निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर है।

प्राचार्या
बसन्त कन्या महाविद्यालय

आर्य महिला महाविद्यालय

सुन्दरी बाई पाई

श्री आर्य महिला हितकारिणी महापरिषद् अखिल भारतीय महिला कल्याणकारी संस्था ने आर्य महिला डिग्री कालेज की स्थापना सन् १९५६ में की। इस शिक्षा संस्थान में शिशु कक्षाओं से लेकर बी०एड० तक के शिक्षण की व्यवस्था है और कुल लगभग ३०००० छात्राएँ अध्ययन रत हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आर्य महिला डिग्री कालेज को सन् १९५८ में कला संकाय की मान्यता प्राप्त हुई। वर्तमान सत्र में एक हजार छात्राएँ स्नातक कक्षाओं में ज्ञानार्जन कर रही हैं। इस संस्था का परीक्षाफल सर्वदा ९० प्रतिशत से लेकर १०० प्रतिशत तक रहता है।

सन् १९७४ में दीक्षा विभाग की मान्यता काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त हुई। इसमें केवल ५० छात्राध्यापिकाओं के प्रविष्ट करने का प्रतिबन्ध है। सन् १९७६-७७ का यह तृतीय सत्र पूर्ण हो रहा है। इसका परीक्षाफल शत प्रतिशत है।

यह संस्था अनुशासन की दृष्टि से अभिभावकों और शान्तिप्रिय अध्येताओं के लिए विशेष आकर्षण का केन्द्र है। इसमें छात्राओं के नैतिक उत्कर्ष एवं प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक-निष्ठा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है।

प्राचार्या
आर्य महिला डिग्री कालेज, वाराणसी।

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

१—अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दुओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उनके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।

२—साधारणतः कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोमुखी उन्नति करना।

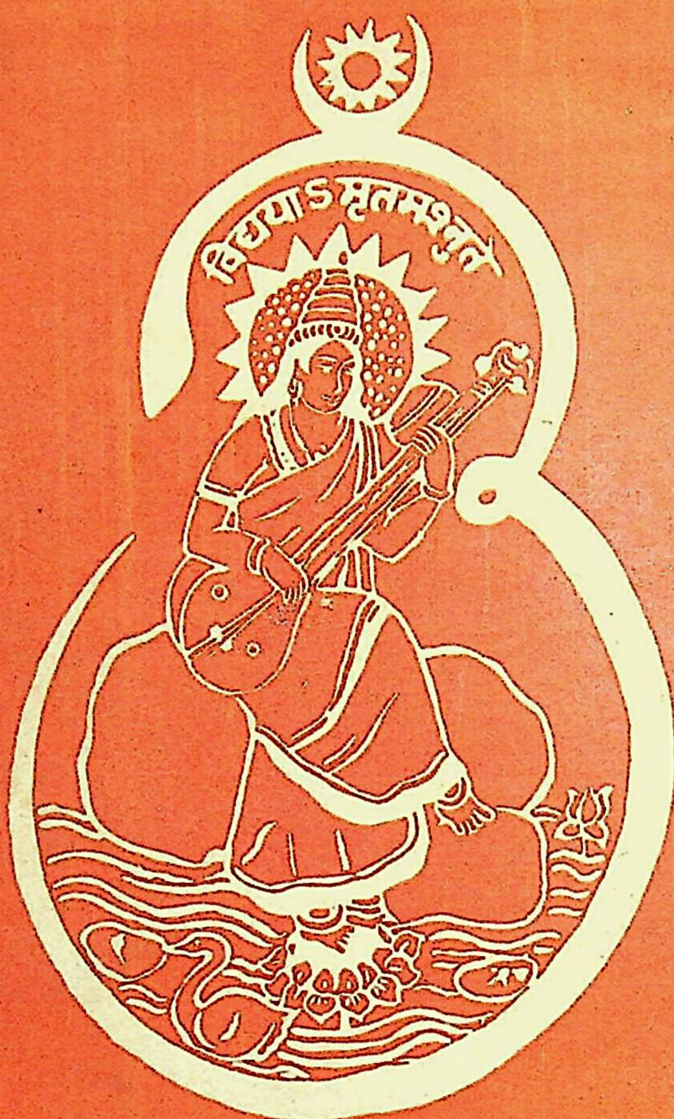
३—भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-सम्पदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि संबंधी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।

४—धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

OBJECTS OF THE UNIVERSITY

1. To promote the study of the Hindu shastras and of Samskrit Literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India,
2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches,
3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country: and
4. To promote building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.

मुद्रक—बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, वाराणसी।



वीणापाणि सरस्वती—कलाकार श्री स्नेह धीर